कथासरित्सागर

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित

कथासरित्सागर

(प्रथम खण्ड)

[मूल संस्कृत के साथ प्रथम लम्बक से षष्ठ लम्बक तक]

अनुवादक

स्व० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

प्रथम संस्करण, २०००; शकाब्द १८८२; खृष्टाब्द १९६०
द्वितीय संस्करण, २०००; शकाब्द १८९६; खृष्टाब्द १९७४
तृतीय संस्करण—११००; शकाब्द १९१९; खृष्टाब्द—१९९७

मूल्य : ३५०.००

मुद्रक : तरुण प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

सोहन शर्मा

वक्तव्य

"कथासरित्सागर" नामक प्रस्तुत कालजयी कृति के रचयिता सोमदेव, ग्यारहवीं शती के कश्मीर नरेश अनन्त के सभा कवि थे। उन्होंने इसका प्रणयन महाराज अनन्त की पत्नी सूर्यमती के मनोरंजनार्थ किया था।

यह पहली-दूसरी शती के महान कथाकार गुणाढ्य रचित वृहत्कथा का श्लोकबद्ध संस्कृत रूपान्तर है। सोमदेव का कथन है–

"मूल वृहत्कथा में जो कुछ है, उसी का संग्रह इस ग्रंथ में किया गया है। मूल ग्रंथ से इसमें तनिक भी अंतर नहीं है। हां, विस्तृत कथाओं को संक्षिप्त किया गया है और भाषा का भी भेद है।

मैंने यथासंभव मूल ग्रंथ की औचित्य-परम्परा की रक्षा की है और कुछ नवीन काव्यांशों की योजना करते हुए भी मूल कथा के रस का विघात नहीं होने दिया है।" लेकिन मानना होगा कि सोमदेव ने कथा-प्रस्तुति, चयन और वर्णन-संक्षेप में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है तथा अपने देश-काल और वातावरण के मान-मूल्यों को इसमें अनुस्यूत किया है।

कथासरित्सागर वास्तव में कथा रूपी सरिताओं से निर्मित सागर है जिसमें जीवन की यथार्थता अपनी पूरी सरसता के साथ प्रस्तुत हुई है। सोमदेव ने जीवन-व्यापारों के उज्ज्वल-अनुज्ज्वल पक्षों को जैसा देखा है, वैसा कहने का साहस दिखाया है। कुलटा स्त्रियों, धूर्त पुरुषों तथा कामरस लोलुप नायक-नायिकाओं की चित्र-विचित्र कथाएं हमारा मनोरंजन ही नहीं करती हैं, अपितु जीवन की वास्तविकता के प्रति गंभीर रूप से सोचने को विवश भी करती हैं।

वृहत्कथा को संस्कृत कथा साहित्य में कई कथाकारों ने अपनी रुचि, धर्मभावना और युगबोध के अनुरूप पल्लवित किया है। इनमें एक परम्परा बुधस्वामी की है। इन्होंने "वृहत्कथा श्लोक संग्रह" में गुप्तकालीन संस्कृति को उकेरने का प्रयत्न किया है। दूसरी

परम्परा संघदासगणि की कृति "वसुदेवहिंडी" में मिलती है। इसमें नरवाहनदत्त की कथा को कृष्ण के पिता वसुदेव की पर्यटन कथा के रूप में विकसित कर जैन धर्म के अनुरूप बनाने की चेष्टा की गई है। तीसरी परम्परा कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र की है जिन्होंने एक लाख श्लोकों वाली वृहत्कथा को मात्र ७५०० श्लोकों में निबद्ध किया है। उनकी कृति का नाम "वृहत्कथामंजरी" है। चौथी परम्परा सोमदेव की है। उन्होंने मूल की रक्षा करते हुए २२००० श्लोकों में "कथासरित्सागर" की रचना की है।

स्वदेशी-विदेशी अनेक पण्डितों ने इस ग्रंथ की विषयवस्तु और प्रस्तुति-पद्धति की प्रशंसा करते हुए इसके महत्त्व पर प्रकाश डाला है। ब्लूमफील्ड नामक विद्वान ने इसकी कथा-सम्पत्ति एवं कथा-प्रणाली की भूरिशः प्रशंसा करते हुए इसे विश्व का अद्वितीय कथा-साहित्य माना है। पैंज की दृष्टि में यह भारतीय कल्पना-जगत का दर्पण है। विंटरनित्ज का कहना है कि हमारा भारतीय संस्कृति का ज्ञान बहुत हद तक सोमदेव के कथासरित्सागर पर निर्भर है। इस ग्रंथ से भारतीय तथा प्राचीन भारत में स्त्रियों के स्थान के विषय में जानकारी मिलती है। जाति-व्यवस्था, नृतत्त्वविद्या, कला-शिल्प, द्यूत एवं भारतीय जनजीवन से सम्बन्धित अन्य बहुत-सी सूचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल की दृष्टि में कथासरित्सागर अनेकविध कहानियों का महार्णव है।

सारांशतः, केवल प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं, साहित्यिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से भी कथासरित्सागर का महत्त्व असंदिग्ध है।

कथासरित्सागर का तृतीय संस्करण रसमर्मज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए परिषद् अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रही है। संस्करण की शृंखला राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रस्तुत अनुवाद की उपयुक्तता और लोकप्रियता का भी प्रमाण है। आशा है, पूर्व की भाँति इस संस्करण को भी सुधी पाठकों का समादर प्राप्त होगा।

शुक्रवार, चैत्र शुक्ल एकादशी,
१८ अप्रैल, १९९७

(डॉ.) महेन्द्र प्रसाद यादव
निदेशक

भूमिका

कथासरित्सागर कहानी-साहित्य का शिरोमणि ग्रन्थ है। इसे कश्मीर में पण्डित सोमदेव ने त्रिगर्त्त या कुल्लू-काँगड़ा के राजा की पुत्री, कश्मीर के राजा अनन्त की रानी सूर्यमती के मनोविनोद के लिए ई० १०६३ और १०८१ के बीच में लिखा। ग्रन्थ में २१,३८८ पद्य हैं और लेखक ने उसे १२४ तरंगों में बाँटा है। इसका एक दूसरा विभाग लम्बकों में है, जिनकी संख्या १८ है। यह ग्रन्थ अपने वर्त्तमान रूप में अनेक छोटी-बड़ी कहानियों का संग्रह है। सोमदेव ने यथार्थ ही इसे कथा-रूपी नदियों का सागर कहा है। अपने ग्रन्थ के आरम्भ में उन्होंने मूल्यवान् सूचना के रूप में लिखा है :

बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्।

(प्रथम तरंग, श्लोक तीन)

इसी सूचना को अन्तिम प्रशस्ति में इस प्रकार विशद रूप से कहा है :

नानाकथामृतमयस्य बृहत्कथायाः सारस्य सज्जनमनोम्बुधिपूर्णचन्द्रः।
सोमेन विप्रवरभूरिगुणाभिरामरामात्मजेन विहितः खलु संग्रहोऽयम्॥

अर्थात्, कथासरित्सागर अनेक कथाओं के अमृत की खान बृहत्कथा नामक ग्रन्थ का सार है। बृहत्कथा पैशाची भाषा का ग्रन्थ था, जिसकी रचना गुणाढ्य ने सातवाहन राजाओं के समय में प्रथम-द्वितीय शती के लगभग की थी। आन्ध्र-सातवाहन-युग में स्थल-जल-मार्गों पर अनेक सार्थवाह, पोताधिपति एवं सांयात्रिक व्यापारी रात-दिन चहल-पहल रखते थे। टकटक करते तारों से भरी हुई लम्बी रातों में उनके मनोविनोद के लिए अनेक कहानियों की रचना स्वाभाविक थी, जिनमें उन्हीं के देशान्तर-भ्रमण से उत्पन्न अनुभवों का अमृत निचोड़ा जाता था। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक के पहाड़ों और जंगलों एवं गाँवों और नगरों की तिल-तिल भूमि को अपने पैरों से खूँदते हुए उनके शकट सदा रेंगते रहते थे। इसी प्रकार, पूर्व और पश्चिम के समुद्रों पर उनके प्रवहण सरपट छूटते थे। सातवाहन-नरेशों की मुद्राओं पर अंकित जलयानों के चित्र उस काल के सामुद्रिक व्यापार और द्वीपान्तर-सन्निवेश की सूचना देते हैं। उन्हीं के प्रयत्नों से बृहत्तर भारत का वह रूप सम्पन्न हो पाया, जिसे मत्स्यपुराण के लेखक ने बारह द्वीपों और एकादश पत्तनों से निर्मित 'नारायणमहार्णव' कहकर प्रणाम किया है (द्वादशार्कमयो द्वीपः रुद्रैकादशपत्तनः, मत्स्य० २४८।२२—२६)। उन्हीं उद्यमी सार्थों और नाविकों के अनुभवों की बहुमुखी सामग्री को गुणाढ्य ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से बृहत्कथा के साँचे में ढाल दिया था। गुणाढ्य के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज में पूर्व के महोदधि और पश्चिम

के रत्नाकर समुद्रों के इस पार और उस पार के भूखण्डों की अनेक कथाएँ सम्मिलित थीं, इसकी सूचना बृहत्कथा की कई उत्तरकालीन वाचनाओं से प्राप्त होती है। बृहत्कथा के रूप में गुणाढ्य ने ,जो साहित्यिक सत्र विक्रमीय प्रथम शती के लगभग आरम्भ किया था, वह वाङमय का सहस्र संवत्सर सत्र बन गया और संस्कृत-प्राकृत के कई प्रतिभाशाली रचयिताओं ने उसमें भाग लिया। सोमदेव का कथासरित्सागर बृहत्कथा के विकास की अन्तिम कड़ी है। वह बृहत्कथा की काश्मीरी वाचना है, जिसमें सोमदेव की प्रतिभाशालिनी लेखनी ने यथेष्ट परिवर्तन किये हैं।

कथासरित्सागर के स्वरूप के यथार्थ परिचय के लिए बृहत्कथा और उसकी वाचनाओं के विषय में जानना आवश्यक है। उद्योतन सूरि (७७९ ई०) द्वारा विरचित कुवलयमालाकहा प्राकृत-भाषा का अति उत्कृष्ट कथा-ग्रन्थ अभी प्रकाश में आया है। उसके आरम्भ में बृहत्कथा को 'बड्डकथा' कहते हुए लिखा है :

सयलकलागमणिलया सिक्खावियकइयणस्स मुहयंदा ।
कमलासणो गुणड्ढो सरस्सई जस्स वड्डकहा ॥

(कुवलयमाला, पृ० ३, पंक्ति २२)

'बृहत्कथा क्या है, साक्षात् सरस्वती है। गुणाढ्य स्वयं ब्रह्मा हैं। यह बृहत्कथा सब कलाओं की खान है। कविजन इसे पढ़कर शिक्षित बनते हैं।' उस समय बृहत्कथा की प्रशंसा में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता था ? उद्योतन सूरि से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व बाण ने लिखा था :

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना ।
हरलीलेव लोकस्य विस्मयाय बृहत्कथा ॥

बाण के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि उसके समय तक बृहत्कथा कामकथा के रूप में ही सुरक्षित थी। वही उसका मूल रूप था। 'कृतगौरीप्रसाधना' से सूचित होता है कि बृहत्कथा का आरम्भिक पाठ शिव-पार्वती के संवाद के रूप में था, अर्थात् पार्वती ने शिवजी से कथा सुनाने की प्रार्थना की और उत्तर में शिवजी ने जो कथा सुनाई। वही बृहत्कथा हुई। सोमदेव ने कथासरित्सागर के प्रथम तरंग में इस भूमिका का उल्लेख किया है। तिलकमंजरी के कर्त्ता धनपाल (११वीं शती) ने बृहत्कथा की उपमा उस समुद्र से दी है, जिसकी एक-एक बूँद से अन्य कितनी ही कथाओं की रचना हुई :

सत्यं बृहत्कथाम्भोधेर्बिन्दुमादाय संस्कृताः ।
तेनेतरकथाकन्थाः प्रतिभान्ति तदग्रतः ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की स्वोपज्ञवृत्ति में कथाओं के भेद बताते हुए बृहत्कथा का उल्लेख किया है (लम्भाङ्किताद्भुतार्था नरवाहनदत्तचरित्रवद् बृहत्कथा, अ० ८, सू० ८)।

गुणाढ्य-कृत मूल बृहत्कथा अब प्राप्य नहीं है। ज्ञात होता है, सोमदेव के बाद उस महान् ग्रन्थ का लोप हो गया। किन्तु, कालक्रम से बृहत्कथा के जो रूपान्तर बने, उनमें चार अबतक प्राप्त हैं। पहला बुधस्वामी-कृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह है। इसकी रचना संस्कृत में लगभग पाँचवीं शती में हुई। इसमें २८ सर्ग हैं, पर ग्रन्थ अपूर्ण रहा। इसके कर्त्ता बुधस्वामी ने गुप्तकालीन स्वर्ण-युग की संस्कृति के साँचे में बृहत्कथा को ढालने का यत्न किया। विद्वान् इसे बृहत्कथा की नैपाली वाचना मानते हैं। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह का देवनागरी-लिपि में मूल संस्करण और फ्रेंच-अनुवाद श्रीलाकोत ने पेरिस से प्रकाशित कराया था।

बुधस्वामी के प्रायः साथ ही या सम्भवतः १०० वर्ष के भीतर बृहत्कथा का एक प्राकृत-संस्करण जैन परम्परा में संघदासगणि ने वसुदेवहिण्डी के नाम से तैयार की। मूल बृहत्कथा में नरवाहनदत्त नायक था। वह वत्सराज उदयन का पुत्र था। कालिदास ने मेघदूत में लिखा है कि मालवा के गाँवों में वहाँ के बड़े-बूढ़े उदयन की कहानी कहने में चतुर थे। उदयन से सम्बद्ध यह कहानी केवल वासवदत्ता और उदयन की प्रेम-कहानी तक सीमित न रही होगी। उतना अंश तो कथासरित्सागर के आरम्भ में ही है, किन्तु उदयन की कहानी का पूरा चक्र था। उसके ही पेटे में उसके पुत्र नरवाहनदत्त के विवाह की अनेक कथाएँ भी थीं। पुत्र ने पिता के पद-चिह्नों पर चलते हुए अपने जीवन में अनेक प्रेम-परिणयों का ठाट विकसित किया। नरवाहनदत्त के अनेक विवाहों के वर्णन करने के कारण मूल बृहत्कथा का स्वरूप कामकथा या शृंगारकथा जैसा था। नरवाहनदत्त देशान्तरों का भ्रमण करते हुए, जहाँ जाता, वहाँ उसकी यात्रा का पर्यवसान एक विवाह के रूप में होता था। जैसे व्यापारी धन कमाकर सकुशल लौट आने पर सिद्ध यात्री बनते हैं, वैसे ही नरवाहनदत्त के चरित्र में द्वीपान्तर-पर्यटन की सिद्ध यात्रा एक नई रानी के साथ विवाह के रूप में होती है।

कथासरित्सागर में जहाँ एक ओर अपने नाम के अनुसार १२४ तरंगों का विभाग है, वहीं उसके १८ लम्बक भी हैं। यह लम्बक शब्द अपने मूल स्रोत की ओर संकेत करता है। लम्बक का मूल संस्कृत रूप लम्भक था। एक विवाह द्वारा एक स्त्री की प्राप्ति 'लम्भ' कहलाती थी और उसी की कथा के लिए लम्भक शब्द प्रयुक्त हुआ। तदनुसार ही अलंकारवती लम्बक, शशांकवती लम्बक इत्यादि अलग-अलग कथाओं के नाम पड़े होंगे। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन की टीका में स्पष्ट शब्दों में बृहत्कथा को लम्भों में विभक्त कहा है। वही लम्बक का मूल रूप ज्ञात होता है। वादीभसिंह-कृत गद्य-चिन्तामणि में नायक द्वारा पत्नी की प्राप्ति का वर्णन करनेवाले कथाखण्डों को लम्ब कहा है। स्मरण रखने की बात है कि वसुदेवहिण्डी के विभागों में तो लम्बक शब्द है, किन्तु बुधस्वामी-कृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में ग्रन्थ का विभाग सर्गों में हुआ है, अर्थात् वह एक सर्गबद्ध रचना है, पर वहाँ भी प्रत्येक कथा के अन्त में लाभ शब्द आया है। ज्ञात होता है कि लम्भ या उसी के प्राकृत रूप लम्ब का प्रयोग गुप्तकाल में होने लगा था। सुबन्धु-कृत वासवदत्ता में, जिसकी रचना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कुछ बाद पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई, बृहत्कथा को लम्बों से युक्त कहा है—'बृहत्कथालम्बैरिव शालभञ्जिकानिवहैः' अर्थात् बृहत्कथा के लम्बों या परिच्छेदों में शालभञ्जिका या स्त्रियों

की कथाएँ थीं। दशरूपक के कर्त्ता धनंजय ने, जो मालवराज मुंज का सभासद था, रामायण के साथ बृहत्कथा का उल्लेख किया है। इससे यह अनुमान किया गया है कि शायद रामायण की रचना भी सर्गों में हुई हो; पर इस अनुमान के लिए पर्याप्त कारण नहीं है, और यही सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि मूल पैशाची बृहत्कथा में ही कथाओं के विभाग को, लम्भ या लम्बक जैसे मिलते-जुलते शब्द से सूचित किया गया था, और उसी परम्परा में बना लम्बक शब्द सुबन्धु के समय में प्रयुक्त होने लगा था।

बृहत्कथा के मूल स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए संघदासगणि-कृत वसुदेवहिण्डी की प्राप्ति उल्लेखनीय घटना है। 'हिण्डी' शब्द का अर्थ परिभ्रमण या पर्यटन है। संघदासगणि ने जो वसुदेवहिण्डी लिखी, उसमें उन्होंने यद्यपि बृहत्कथा को ही आधार बनाया था; किन्तु ग्रन्थ के ठाट और उद्देश्य में काफी परिवर्त्तन किये। जहाँ बृहत्कथा लौकिक कामकथा थी, वहाँ संघदास ने वसुदेवहिण्डी को धर्मकथा का रूप दिया और जैनधर्म की प्रभावना करनेवाले कितने ही प्रसंगों को उसमें यथास्थान सम्मिलित किया। इससे भी अधिक महत्त्व का परिवर्त्तन कथा के नायक को बदल डालना था। पैशाची बृहत्कथा में वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के विवाहों की कहानियाँ थीं; किन्तु संघदास ने अन्धकवृष्णि-वंश के प्रसिद्ध पुरुष वसुदेव को अपना नायक बनाया।

वसुदेवहिण्डी में २९ लम्बक हैं और वह महाराष्ट्री-प्राकृत भाषा में गद्य-शैली में है, जिसमें कुल मिलाकर लगभग ११ हजार श्लोक-प्रमाण की सामग्री है। वसुदेवहिण्डी के भी जैन परम्परा में दो रूप मिलते हैं। पहला ग्रन्थ तो यही संघदासगणि का रचा हुआ है। इसे प्रथम खण्ड कहते हैं। किन्तु, इसी का एक दूसरा खण्ड उपलब्ध है, जो मध्यम खण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी रचना धर्मदासगणि ने अपने पूर्ववर्त्ती संघदासगणि की रचना को आगे बढ़ाते हुए लगभग दो शती बाद की। उसकी भूमिका में धर्मदास ने कहा है—'कृष्ण के पिता वसुदेव ने १०० वर्ष तक परिभ्रमण किया और अनेक विद्याधरों एवं राजाओं की कन्याओं से विवाह किया। संघदासगणि ने वसुदेव के केवल २९ विवाहों का वर्णन किया था। शेष ७१ विवाहों की कथा उसने विस्तार-भय से छोड़ दी थी। उसे मध्यम या बीच के लम्बकों के साथ कथासूत्र मिलाते हुए मैं कह रहा हूँ।'[1]

धर्मदासगणि-कृत मध्यम वसुदेवहिण्डी में ७१ लम्बक १७,००० श्लोकों में पूर्ण हुए हैं। यह बड़ा ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है, इसलिए इसकी कहानियों के विषय में विशेष कुछ नहीं

---

१. सुव्वइ य किर वसुदेवेणं वाससतंपरिभमंतेणं इमम्मि भरहे विज्जाहरिंदणरवतिवाणरकुलवंससंभवाणं कण्णाणं सतं परिणीतं, तत्थ य सामाविययमादियाणं रोहिणीपज्जवसाणाणं एगुणतीस लभता संघदासवायएणं उवणिवद्धा। एगसत्तरिं च वित्थारभीरुणा कहामज्झे छड्डिता। ततो हं भो लोइयसिंगारकहापसंसणं असहमाणो आयरियसयासे अवधारेऊणं पवयणाणुरागेणं आयरियनिओएण य तेसिं मज्झिल्ललंभाणं गंथणत्थे अब्भुज्जओ हे। तं सुणह इतो पुव्वकहाणुसारेण चेव।

कहा जा सकता। किन्तु, अनुमान के आधार पर वसुदेव के पहले विवाह के ढंग पर ही जितनी और कथाएँ मिल सकीं या गढ़ी जा सकीं, उन्हें जोड़-बटोरकर धर्मदास ने परिशिष्ट-रूप में एक नये ग्रन्थ का ठाट खड़ा किया। इससे यह अनुमान करना उचित नहीं कि मूल वसुदेवहिण्डी में या उससे पहले की बृहत्कथा में विवाहों की कहानियों का ऐसा ही विस्तार था।

धर्मदासगणि की वसुदेवहिण्डी को मध्यम खण्ड कहा जाता है। इसका कारण यह है कि संघदास के ग्रन्थ का २६वाँ लम्भक जहाँ समाप्त होता था, उससे आगे धर्मदास ने अपना कथासूत्र नहीं चलाया, बल्कि उसने पहली वसुदेवहिण्डी की १८वीं कथा पियंगुसुन्दरी लम्भक के साथ अपने ७१ लम्भकों का सन्दर्भ जोड़ा है और इस तरह संघदास की वसुदेवहिण्डी के पेटे में अपने ग्रन्थ को भरा है। इसी से इसे वसुदेवहिण्डी का मध्य भाग या मध्यम खण्ड कहते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि संघदासगणि ने अपना ग्रन्थ अलग बनाया और चतुराई से उसे अपने पूर्ववर्त्ती ग्रन्थ की एक खूँटी पर टाँग दिया।

संघदास की वसुदेवहिण्डी की रचना में इस समय छह प्रकरण पाये जाते हैं: १. कथोत्पत्ति, २. धम्मिलहिण्डी, ३. पीठिका (प्राकृत पेढिया), ४. मुख, ५. प्रतिमुख और ६. शरीर। इसमें शरीर के अन्तर्गत २६ लम्भकों की कहानियाँ हैं, जिनमें से अन्तिम इस समय त्रुटित है और बीच के १९वें और २०वें दो लम्भकों की कथाएँ भी नहीं हैं। १८वें प्रियंगुसुन्दरी लम्भक के बाद २१वें केतुमती लम्भक की कथा शुरू होती है। यहीं १८वें लम्भक की समाप्ति पर धर्मदासगणि ने अपने मध्यम खण्ड का पेबन्द जोड़ा है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कथोत्पत्ति नामक पहले प्रकरण के बाद ५० पृष्ठों में धम्मिलहिण्डी नाम का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण उपलब्ध होता है। किन्तु, स्पष्ट है कि वह अपने किसी अज्ञात मूल स्थान से छिटककर यहाँ वसुदेवहिण्डी में लटकन्त रूप में ही रखा गया है। इस धम्मिलहिण्डी प्रकरण में धम्मिल नामक किसी सार्थवाह पुत्र की कथा है, जिसने देश-देशान्तरों में जाकर ३२ विवाह किये। मूल ग्रन्थ में इसे धम्मिलचरित्र कहा गया है और धम्मिल शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि गर्भ के समय उसकी माता को धर्माचरण के विषय में दोहद उत्पन्न हुआ था। अतएव, पुत्र का नाम धम्मिल रखा गया। बृहत्कथा के दूसरे रूपान्तरों में, जैसे बृहत्कथामंजरी या कथासरित्सागर में, धम्मिलचरित्र की गन्ध भी नहीं है। धम्मिलहिण्डी का वातावरण सार्थवाहों के संसार से लिया गया है। इसे अपने-आप में एक स्वतन्त्र रचना माना जा सकता है, जिसके मूल ठाट की कुंजी नरवाहनदत्त या वसुदेवहिण्डी की तरह ही कई विवाहों की कहानियों पर आश्रित है। धम्मिल शब्द का प्रयोग पहले-पहल गुप्तकालीन संस्कृत-भाषा में पाया जाता है। एक प्रकार के केशबन्ध को धम्मिल केश कहते थे, जिसमें बालों का एक जूड़ा बनाकर सिर के अग्रभाग या मध्य भाग में बाँधा जाता था। इस शब्द की व्युत्पत्ति द्रमिल या तमिल से सम्भाव्य है। हो सकता है कि दक्षिण भारत के किसी प्रसिद्ध सार्थवाह का नाम इसके मूल में रहा हो और शिलप्पदिकारम् नामक तमिल-काव्य में व्यापार का जो वातावरण है, उसकी पृष्ठभूमि में धम्मिल की कथाओं की रचना हुई हो। वस्तुतः, धम्मिलहिण्डी में

धनवती सार्थवाह के पुत्र धनवसु के विषय में उल्लेख है कि उसने जहाज लेकर यवन विषय या यवन देश की व्यापारिक यात्रा की थी और अपने साथ बहुत-से सांयात्रिक व्यापारियों को ले गया था। शिलप्पदिकारम् के अनुसार यवन-देश के व्यापारियों का घनिष्ठ सम्बन्ध पुहार या कावेरीपत्तन के व्यापारियों के साथ था। बृहत्कथा की किसी दूसरी वाचना में धम्मिलहिण्डी जैसा कोई अंश नहीं पाया जाता। कम-से-कम बुधस्वामी-कृत बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह, क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी और सोमदेव-कृत बृहत्कथासरित्सागर में इस तरह का अनमिल पेवन्द नहीं है।

वसुदेवहिण्डी में धम्मिलहिण्डी के अलावा छह विभाग थे, अर्थात् कथा की उत्पत्ति, पीठिका, मुख, प्रतिमुख, शरीर और उपसंहार। कथोत्पत्ति, पीठिका और मुख इनमें कथा का प्रस्ताव हुआ है। प्रतिमुख में वसुदेव आत्मकथा का आरम्भ करते हैं। सत्यभामा के पुत्र सुभानु के लिए १०८ कन्याएँ इकट्ठी की गई थीं। किन्तु, उनका विवाह रुक्मिणी के पुत्र साम्ब से कर दिया गया। इसपर प्रद्युम्न ने वसुदेव से कहा—'देखिए, साम्ब ने अन्तःपुर में बैठे-बैठे १०८ बहुएँ पा लीं, जब कि आप १०० वर्ष तक उनके लिए घूमते फिरे।' इसके उत्तर में वसुदेव ने कहा—'साम्ब तो कुएँ का मेढक है, जो सरलता से प्राप्त भोग से सन्तुष्ट हो गया। मैंने तो पर्यटन करते हुए अनेक सुख और दुःखों का अनुभव किया। मैं मानता हूँ कि दूसरे किसी पुरुष के भाग्य में इस तरह का उतार-चढ़ाव न आया होगा।' वस्तुतः, वसुदेव के इस छोटे-से सटीक वाक्य में उस महान् युग की हलचल का बीज समाया हुआ है। उस समय के बेचैन हृदय पश्चिम के यवनदेश से पूर्व के यवद्वीप और सुवर्णभूमि तक के विशाल क्षेत्र को रात-दिन खूँदते रहते थे। बाण के शब्दों में कहा जाय, तो उनके पैरों में मानों कोई द्वीपान्तरसंचारी पादलेप लगा हुआ था। वे यह मानते थे कि द्वीपान्तरों की यात्रा किये विना लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती (अभ्रमणेन श्रीसमाकर्षणं भवति)। मत्स्यपुराण के लेखक ने समुद्र को ललकारते हुए कहा है—'हे उत्ताल तरंगोंवाले महार्णव, आजतक लंका आदि द्वीपों में निवास करनेवाले राक्षस ही तुम्हारे जल में आते-जाते रहे हैं, जिसके कारण उसमें कीच उठ खड़ी हुई है। अब अपने उस जल को शिलाओं से जड़े हुए प्रांगण में बदल डालो; क्योंकि देवाधिदेव, शिव अपने परिवार के साथ तुम्हारा सन्तरण करना चाहते हैं :

महार्णवाः कुरुत शिलोपमं पयः सुरद्विषागमनमहातिकर्दमम्!

(मत्स्यपुराण, १५४—४५५)

जैसा सभापर्व में आया है, पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व की समुद्र-यात्राओं का ताँता उस समय लगा रहता था (सभा० ४६।१६)। दिव्यावदान में तो यहाँतक कहा है कि महासमुद्र की यात्रा किये विना अर्थोपार्जन की आशा ऐसी है, जैसे ओस की बूँदों से घड़ा भरने का प्रयत्न।

वसुदेव ने प्रद्युम्न को जो उत्तर दिया, वह मानव-हृदय के इन भावों के सर्वथा अनुकूल था। निरन्तर पर्यटन और दूर-दूर के देशों में परिभ्रमण यही गुप्तों के स्वर्णयुग में जीवन की टेक बन गई थी। एक बार नहीं, कई-कई बार लोग जोखिम उठाकर भी समुद्रों की

यात्रा करते थे। शूरपारक-निवासी पूर्ण नाम के सार्थवाह के कथन से यह बात सूचित होती है—'भाइयो, महासमुद्र की यात्रा में दुःख बहुत है, सुख थोड़ा है। बहुत-से जाते हैं, पर थोड़े ही लौट पाते हैं। क्या आपने ऐसे किसी का-नाम सुना है, जो छह बार महासमुद्र की यात्रा से सफलता के साथ अपने जहाजों को लेकर लौट आया हो ?'[१] अवश्य ही सातवाहन-युग की सामुद्रिक यात्राओं के वातावरण में जिन कहानियों का ठाट रचा गया और बृहत्कथा के रूप में गुणाढ्य ने जिनका संग्रह किया, उनकी मूल भावना इसी प्रकार की जल-थल-सम्बन्धी हलचलों से पोषित थी। उसका भरपूर प्रभाव वसुदेवहिण्डी और बृहत्कथा की दूसरी उत्तरकालीन वाचनाओं पर पड़ा। सोमदेव के कथासरित्सागर में भी उत्तर-पच्छिम की ओर अपरगान्धार की राजधानी पुष्पकलावती तक का उल्लेख है। जहाँ उत्तरापथगामी वणिक्पुत्र म्लेच्छभूयसी भूमि को पार करते हुए पहुँचते थे और उनकी इस यात्रा में महाव्रतिक नामक शैव योगी भी उनके साथी के रूप में वितस्ता के उस पार के देशों में चक्कर लगाते थे। दूसरी ओर समुद्रशूर वणिक् की कथा है, जो पूर्व दिशा में कटाहद्वीप, कर्पूरद्वीप और स्वर्णद्वीप तक पहुँचकर लौटते हुए नारिकेलद्वीप में आया और फिर सिंहलद्वीप में उतरा। इनमें से नारिकेलद्वीप वर्त्तमान निकोबार का पुराना नाम था, जिसे राजेन्द्र चोल के लेखों में 'निक्कवरं' कहा गया है। सुवर्णद्वीप सुमात्रा की संज्ञा थी, जहाँ आठवीं शती में शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जो लगभग तीन शती तक विजयशाली रहा। सोमदेव के कानों में अवश्य ही शैलेन्द्रों के यश की भनक पड़ी होगी; क्योंकि दो कहानियों में उन्होंने स्वर्णद्वीप का उल्लेख किया है। (तरंग ५४, श्लोक १००; तरंग ५६, श्लोक ६२)। एक कहानी में चन्द्रस्वामी नाम का सार्थवाह अपने खोए हुए पुत्रों को ढूँढ़ने के लिए पहले नारिकेलद्वीप में जाता है (कथा० ५५।५६) और फिर जहाज पर बैठकर समुद्रमार्ग से कटाहद्वीप पहुँचता है (५६।६०) और वहाँ से आगे बढ़कर कर्पूरद्वीप तक चला जाता है। कर्पूरद्वीप से स्वर्णद्वीप और स्वर्णद्वीप से सिंहलद्वीप लौटकर वहाँ से चित्रकूट या चित्तौड़ की यात्रा करता है (कथा० ५६।६१,६२, ६३)। कटाहद्वीप मलयप्रायद्वीप का एक भाग था, जिसे इस समय केडा कहते हैं और राजेन्द्र चोल के लेखों में उसे 'कडारं' कहा गया है। कुमारदास के जानकीहरण-काव्य में भी कटाहद्वीप का उल्लेख आया है।[२] कटाहद्वीप की यात्रा में नारिकेलद्वीप एक पड़ाव के समान था। उसके वर्णन में सोमदेव ने लिखा है :

अस्ति मध्ये महाम्भोधेः श्रीमद्द्वीपवरं महत्।
यन्नारिकेलद्वीपाख्यं ख्यातं जगति सुन्दरम्॥ (५४।१४-१५)

---

१. भ्रातः महासमुद्रो बह्वादीनवोऽल्पास्वादः बहवोऽवतरन्ति, अल्पान्युत्तिष्ठन्ति। भवन्तोऽस्ति कश्चित् युष्माभिर्दृष्टः श्रुतो वा षट्कृत्वो महासमुद्रात् संसिद्धयानपात्रश्च प्रत्यागतः॥ —(दिव्यावदान, पूर्णावदान, पृ० ३४-३५।

२. समुद्रमुल्लङ्घ्य गतस्तदीयस्तेजोऽभिधानो गुरुरग्निराशिः।
नितान्तसन्तापितपूर्व्वकाष्ठः प्रोत्स्वेदयामास नृपं कटाहे॥ (१।१७)

कटाहद्वीप से आगे जिस कर्पूरद्वीप का वर्णन है, वह हिन्देशिया का कोई द्वीप होना चाहिए और सम्भव है, वह बरास नामक कपूर की जन्मभूमि आजकल का बरोस नामक द्वीप हो, जिसे गुप्तयुग में वारुषक द्वीप कहते थे। कथासरित्सागर में द्वीपान्तर के मलयपुर का भी उल्लेख है, जहाँ के राजा की पुत्री मलयवती के साथ विक्रमादित्य ने विवाह किया था।[1]

गुणाढ्य से लेकर सोमदेव के समय तक भारतीय कहानियों के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज का उल्लेख पहले किया गया है। उसमें चतुर्दिक् परिभ्रमण के लिए लोकभाषा में 'हिण्डी' इस छोटे सार्थक शब्द का निर्माण किया गया। उसी के अनुसार संघदास ने गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा की शैली को तो अपनाया, किन्तु अपने ग्रन्थ का नाम बदलकर वसुदेवहिण्डी कर दिया। प्रद्युम्न ने कुछ शरारत से बूढ़े वसुदेव को जिस प्रकार छेड़ दिया था, उससे वसुदेव के मन में आप-बीती सुनाने के लिए एक फुरहरी-सी उत्पन्न हो गई और २१ लम्भकों के रूप में उन्होंने अपने २९ विवाहों की कहानियाँ सुना डालीं। इन्हीं से वसुदेवहिण्डी ग्रन्थ का 'शरीर' बना है। ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार नाम का अन्तिम भाग भी था, जो इस समय प्राप्त नहीं है।

बृहत्कथा के प्राचीनतम रूपान्तर वसुदेवहिण्डी के विषय में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् आल्सडोर्फ ने बहुत अनुसन्धान के बाद जो इस प्रकार लिखा है, वह ध्यान देने योग्य है— "गुणाढ्य की बृहत्कथा निस्सन्देह प्राचीन भारतीय साहित्य का एक रसमय और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस लुप्त ग्रन्थ के ठीक प्रकार पुनःगठन का कार्य अत्यन्त रोचक है। सोमदेव-कृत कथासरित्सागर और क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी के रूप में काश्मीरी लेखकों की दो कृतियाँ जबतक विदित थीं, तबतक बृहत्कथा के स्वरूप का अनुमान करना सरल था। किन्तु, जब उससे आश्चर्यजनक रीति से भिन्न बृहत्कथा का नैपाली रूपान्तर बुधस्वामी के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह के रूप में प्राप्त हुआ, तब यह समस्या कुछ कठिन हो गई। फ्रेंच विद्वान् लाकोत ने 'गुणाढ्य एवं बृहत्कथा' नामक सन् १९०८ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक में इस क्लिष्ट प्रश्न को विलक्षण निपुणता से सुलझाने का प्रयत्न किया और वे इस निर्णय पर पहुँचे—'अपने दो काश्मीरी रूपान्तरों (कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी) में गुणाढ्य की मूल बृहत्कथा अत्यन्त भ्रष्ट एवं अव्यवस्थित रूप में उपलब्ध है। इन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर मूल ग्रन्थ का संक्षिप्त सारोद्धार कर दिया गया है और इनमें मूल के कई अंश छोड़ भी दिये गये हैं एवं कितने ही नये अंश प्रक्षेप रूप में जोड़ दिये गये हैं। इस तरह मूल ग्रन्थ की वस्तु और आयोजना में बेढंगे फेरफार हो गये। फलस्वरूप, इन काश्मीरी कृतियों में कई प्रकार की असंगतियाँ आ गईं और जोड़े हुए अंशों के कारण मूल ग्रन्थ का स्वरूप पर्याप्त भ्रष्ट हो गया। इस स्थिति में बुधस्वामी के ग्रन्थ में वस्तु की आयोजना द्वारा मूल प्राचीन बृहत्कथा का सच्चा चित्र प्राप्त होता है। किन्तु, खेद है कि यह चित्र पूरा नहीं है; क्योंकि बुधस्वामी के ग्रन्थ का केवल चतुर्थांश ही उपलब्ध है। इसलिए, केवल उसी अंश का काश्मीरी कृतियों के साथ तुलनात्मक मिलान शक्य है।'

१. दृष्टं मया तन्मलयपुरं नाम महापुरम्।
भ्रमता भुवनुत्तीर्य वारिधिं द्वीपमध्यगम्॥ (१२२।७९)

"लाकोत के उपर्युक्त मत के साथ श्रीविण्टरनित्स सहमत हैं (हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग ३)। किन्तु, आजतक मिले हुए रूपान्तरों के आधार से मूल ग्रन्थ की पुनर्घटना करने के प्रयत्न को वे व्यर्थ मानते हैं। उनके मतानुसार लाकोत का मत सन्दिग्ध है और अपर्याप्त सामग्री की सहायता से प्रतिपादित किया गया है। विण्टरनित्स के इस कथन में इतना ही यथार्थ है कि जबतक और अधिक सामग्री न मिले, तबतक लाकोत के निर्णयों में बहुत सुधार की गुंजायश नहीं। जब सन् १९०८ ई० में लाकोत ने अपना ग्रन्थ लिखा था, उसके साथ बृहत्कथा की कठिन समस्या को सुलझाने के लिए कोई उपयोगी सामग्री न मिली थी।

"अब जैनों के पास काश्मीरी और नैपाली इन दोनों रूपान्तरों से विस्तृत बृहत्कथा का एक रूपान्तर प्राप्त हुआ है, जो ध्यान खींचता है और आश्चर्यजनक है। नरवाहनदत्त के पराक्रम को जैनों ने कृष्ण के पिता वसुदेव पर आरोपित कर दिया है। वसुदेवहिण्डी (वसुदेव का परिभ्रमण) यह जैनों की पुरानी कथाओं में एवं विश्व के प्राचीन कथाओं में एवं विश्व के प्राचीन कथा-साहित्य में एक महत्त्व का ग्रन्थ है। वर्षों पहले प्रकाशित हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में श्रीनेमिनाथचरित्र के अन्तर्गत वसुदेव का चरित्र भी आया है। उसमें जैन बृहत्कथा की रूपरेखा दिखाई पड़ती है। उसमें एवं श्रीकृष्ण की प्राचीन कथाओं से सम्बद्ध जैनग्रन्थों में इसका संक्षिप्त सार प्राप्त होता है। किन्तु कुछ वर्ष हुए, भारतवर्ष में संघदासगणि-कृत वसुदेवहिण्डी नामक जो ग्रन्थ ज्ञात हुआ है, वह अपने विस्तार और विषय के कारण जैनबृहत्कथा में हुए परिवर्त्तनों को जान लेना सम्भव करता है। आवश्यकचूर्णि में तीन बार वसुदेवहिण्डी का उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि ६०० ईसवी के आसपास इसकी रचना की अन्तिम मर्यादा थी। ग्रन्थ की अत्यन्त प्राचीन भाषा से भी उसका रचना-काल प्राचीन सूचित होता है। लगता है कि इस नये मिले हुए प्राकृत-ग्रन्थ में बृहत्कथा का प्राचीनतम रूपान्तर प्राप्त हो गया है। किन्तु, इस ग्रन्थ में बृहत्कथा की वस्तु को श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा के आधार पर गूँथ दिया गया है, जो कृष्णकथा, श्रीयाकोबी के मतानुसार, जैनों में ईसवी-सन् से ३०० वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। श्रीयाकोबी मानते हैं कि ईसवी-सन् के प्रारम्भ तक जैन पुराण-कथा सम्पूर्ण बन चुकी थी। जिस समय जैनों ने बृहत्कथा को अपनी पुराण-कथा के कलेवर में शामिल किया, उस समय वह एक सुप्रसिद्ध कवि की कृति होने के अतिरिक्त देव-कथा की भव्यता से प्रकाशमान प्राचीनतर युग की रचना मानी जाने लगी थी, जिसकी महत्ता पुराण एवं महाकाव्यों की कथाओं के समान हो गई थी। इसका अर्थ यह हुआ कि बृहत्कथा के जैन रूपान्तर से मूल बृहत्कथा का रचनाकाल कई शती प्राचीनतर मानना पड़ता है। श्रीबूलर ने गुणाढ्य का समय ईसवी-सन् की पहली या दूसरी शती में और लाकोत ने तीसरी शती में माना था। उसके बदले यदि बहुत प्राचीन समय में नहीं, तो उसे ईसवी-सन् की पहली या दूसरी शती पूर्व में मानना चाहिए।

"लाकोत के मत के अनुसार नष्ट हुई बृहत्कथा की आयोजना इस प्रकार थी— प्रास्ताविक भाग में उदयन और उनकी रानी वासवदत्ता एवं पद्मावती की सुविदित कथा थी।

वासवदत्ता का पुत्र नरवाहनदत्त जब युवा राजकुमार की अवस्था को प्राप्त हुआ, तब उसका गणिकापुत्री मदनमंचुका से प्रेम हो गया। उसने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह कर लिया। एक विद्याधर राजा मदनमंचुका को हर ले गया। मदनमंचुका की खोज करते हुए नरवानदत्त ने विद्याधर-लोक और मनुष्य-लोक में नये-नये पराक्रम किये। दीर्घ पराक्रम के बाद मदनमंचुका से उसका मिलन हुआ, वह स्वयं विद्याधर-चक्रवर्ती बना और मदनमंचुका उसकी पटरानी हुई। इससे पूर्व उसके पराक्रमों की सूची में वह हर बार एक स्त्री से विवाह करता है। इस प्रकार के प्रत्येक पराक्रम के अन्त में गुणाढ्य ने उसका 'लम्भ' यह नाम रखा। इस रीति से नरवाहनदत्त की कथा वेगवती लम्भ, अजिनावती लम्भ, प्रियदर्शना लम्भ इत्यादि प्रकरणों में विभक्त थी।

"जैन परम्परा के अनुसार (वसुदेवहिण्डी में) श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा की आयोजना इस प्रकार हुई—वसुदेव अपने बड़े भाई के साथ अनबन होने के कारण घर छोड़कर चले गये और पीछे लम्बे परिभ्रमण के दरम्यान नरवाहनदत्त की तरह पराक्रम करते रहे और अन्त में अपनी अन्तिम पत्नी के रूप में उन्होंने रोहिणी को प्राप्त किया। इस समय अकस्मात् वसुदेव का अपने बड़े भाई के साथ मेल हो गया और वे अपने कुटुम्ब के साथ मिलकर रहने लगे। मदनमंचुका से मिलने और राज्याभिषेक के प्रसंग इस कथा में छोड़ दिये गये हैं; क्योंकि कृष्ण की कथा के प्रसंग में उनकी संगति न थी। पर, मदनमंचुका के साथ प्रणय-प्रसंग का जो विस्तृत वर्णन अन्तिम विवाह में आता था, उसे श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब के साथ जोड़ दिया गया, यह कुछ समझ में नहीं आता। मदनमंचुका के अपहरण का प्रसंग भी वसुदेव के पराक्रमों के वर्णन में छोड़ दिया गया है। कथा के मूलभूत पात्र मदनमंचुका के स्थान में यहाँ दो पात्र हो गये हैं—गणिकापुत्री सुहिरण्या और राजकन्या सोमश्री।

"इस तरह मूल बृहत्कथा की वस्तु और उसकी आयोजना की कई एक अनावश्यक घटनाएँ इसमें होने से नष्ट हुए मूल ग्रन्थ के स्वरूप के विषय में जैन रूपान्तर की प्राप्ति से कई महत्त्वपूर्ण तथ्य ज्ञात होते हैं।

"इससे आगे उल्लेखनीय बात यह है कि काश्मीरी रूपान्तर (कथासरित्सागर) में १८ लम्बकों में कथा विभक्त है। यहाँ भ्रष्ट रूप में प्राप्त लम्बक शब्द की बात हम नहीं कहते। 'भ' के बदले 'ब' यह शब्द लाकोत के अनुसार स्वाभाविक रीति से मूल ग्रन्थ का नहीं है। लम्बक (लम्भक) का अर्थ वह प्रकरण हो सकता है, जिसमें नरवाहनदत्त एक पत्नी प्राप्त करता है। पर, उदयन की कथा में और ग्रन्थ के आरम्भिक भाग में भी यह शब्द आता है। तो मानना पड़ेगा कि गुणाढ्य के कथा लिखने तक उसके अर्थ का विस्तार नहीं हुआ था। बुधस्वामी का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह काव्यों के समान सर्गों में विभक्त है और उसके उपलब्ध अंश में २८ सर्ग हैं। सब नहीं तो अनेक सर्गों के अन्त में 'लम्भ' शब्द के बदले उसका पर्याय 'लाभ' शब्द मिलता है और जान-बूझकर नियम के रूप में एक लाभ में कई संख्याबद्ध सर्गों का समावेश कर दिया जाता है। लाकोत मानते हैं कि गुणाढ्य की

कृति रामायण की तरह अलग-अलग काण्डों में विभक्त थी एवं मुख्य कथा-भाग लम्भों के सहित काण्डों में रचा गया था। जैन रूपान्तर में लम्भ का प्रयोग अपने मूल अर्थ में, अर्थात् नरवाहनदत्त की (यहाँ वसुदेव की) विजय के वर्णनपरक मुख्य कथा-भाग के प्रकरणों के नामकरण के लिए हुआ है। इस मुख्य कथा-भाग को 'शरीर' कहा गया है और ग्रन्थ के छह अधिकारों में यह पाँचवाँ है। कथा की उत्पत्ति, पीठिका, मुख और प्रतिमुख ये चार अधिकार उससे पहले आते हैं। 'शरीर' के पीछे उपसंहार होना चाहिए था, पर ग्रन्थ का अन्तिम भाग त्रुटित होने से वह नहीं मिलता। मुख्य कथाभाग-रूप 'शरीर' की अपेक्षा से लम्भों का समूह सम्भवतः गौण था। मूल प्राचीन बृहत्कथा में आमूलचूल विभागीकरण नहीं था। प्रस्तावित कथा प्रकरण के बाद दूसरे नामकरण के साथ संख्याबद्ध लम्भ थे और उसके बाद उपसंहार था। संस्कृत-रूपान्तरों में केवल बृहत्कथामंजरी में उपसंहार का निर्देश है, पर लाकोत उपसंहार को मूलकथा का गौण अंग गिनते हैं। वसुदेवहिण्डी से सिद्ध होता है कि मूल बृहत्कथा में उपसंहार था। सोमदेव ने अपने कथासरित्सागर में उपसंहार निकाल दिया है, पर उसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र में प्राप्त कुछ प्रकीर्ण बातें देने के बाद सोमदेव ने नरवाहनदत्त के तमाम लम्भकों की एक सूची अपने ग्रन्थ के आरम्भ में दी है। उससे ज्ञात होता है कि बृहत्कथामंजरी के आरम्भ में भी मूलग्रन्थ की विषय-सूची थी, जो अब नष्ट हो गई है।

"अपने ग्रन्थ में कथा-उत्पत्ति यह शुद्ध जैन कथाभाग है, पर पीठिका और मुख की बाबत ऐसा नहीं। बुधस्वामी की कृति में 'कथामुख' यह तीसरे सर्ग का नाम है; पर पहले बेनाम के दो सर्ग भी कथामुख के ही प्रारम्भिक भाग हैं। अर्थ-संगति की दृष्टि से कथामुख में जो होना चाहिए, वह उसमें है, अर्थात् कथा कहनेवाले का परिचय। कथा कहने का प्रसंग किस रीति से उपस्थित हुआ, यह उसमें बताया गया है। नरवाहनदत्त अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त उत्तमपुरुष में कहते हैं। काश्मीरी लेखकों ने दूसरे लम्बक का नाम कथामुख लम्बक रखा है। इसमें उदयन की कथा आती है। बुधस्वामी के कथामुख में जो भाग आता है, वह (कथामुख के लेखकों ने) उस ग्रन्थ के अन्त में रखा है; और नरवाहनदत्त आत्मवृत्तान्त कहते हैं, ऐसा भी स्पष्ट उल्लेख स्वयं नहीं किया। इतना ही नहीं, कथा का वर्णन प्रथमपुरुष में तटस्थ रीति से किया है। नैपाली रूपान्तर की सचाई और काश्मीरी रूपान्तर की भ्रष्टता सिद्ध करने में लाकोत का यही मुख्य प्रमाण है। इस अनुमान को जैन रूपान्तर से भी समर्थन मिलता है। इसमें भी वसुदेव अपना सब वृत्तान्त आत्मकथा के रूप में उत्तमपुरुष में ही कहते हैं। 'कथामुख' अथवा उससे तैयार किये हुए प्रतिमुख द्वारा बताया गया है कि आत्मकथा किस प्रकार कही गई।

"काश्मीरी लेखक सोमदेव और क्षेमेन्द्र ने कथापीठ को पहला लम्बक कहा है। गुणाढ्य कवि-सम्बन्धी कथानक उसका विषय है। उसके देखने से ज्ञात होता है। गुणाढ्य कवि-सम्बन्धी कथानक का मूल कथा में होना सम्भव न था। बुधस्वामी के रूपान्तर में कथापीठ शीर्षक देखने में नहीं आता। किन्तु, जैसा ऊपर कहा है, बुधस्वामी का आरम्भिक

भाग ही कथामुख है। इस आधार से लाकोत निश्चित रूप से मानते हैं कि गुणाढ्य के मूल ग्रन्थ में ही कथापीठ अंश नहीं था; पर वसुदेवहिण्डी में पीठिका (पेढिया) भाग के होने से मानना पड़ता है कि बृहत्कथा में भी कथापीठ नामक भाग था। इस कथापीठ का विषय क्या था, यह एक प्रश्न है। गुणाढ्य-सम्बन्धी कथानक तो इसमें न रहा होगा और वसुदेवहिण्डी की पीठिका में कृष्ण-सम्बन्धी कथा का जो भाग है, वह भी उसमें न होगा। नैपाली रूपान्तर में तो कथापीठ है ही नहीं; पर काश्मीरी रूपान्तरों में पीठ, अर्थात् कथापीठ है। इससे यह सम्भावित है कि नैपाली रूपान्तर, अर्थात् बुधस्वामी-कृत बृहत्कथाश्लोक-संग्रह में मूल कथापीठ के कुछ अंश मिल-जुल गये हैं। काश्मीरी रूपान्तरों में उदयन, वासवदत्ता और पद्मावती की सम्पूर्ण कथाएँ हैं; पर बुधस्वामी में वे नहीं हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि बुधस्वामी के ग्रन्थ का आरम्भिक भाग शायद खण्डित है। दूसरी ओर मूल प्राचीन बृहत्कथा के एक भाग के रूप में उदयन की कथा के होने के विषय में कुछ विद्वानों ने शंका उठाई है (दे० विण्टनित्स, भारतीय साहित्य का इतिहास, भाग ३)। इस प्रकार की मिली हुई कथा-घटनाओं का विवरण यहाँ सम्भव नहीं, तो भी वसुदेवहिण्डी के आधार पर मैं निश्चयपूर्वक यह मानता हूँ कि प्राचीन बृहत्कथा में उदयन-सम्बन्धी कथाएँ कथामुख से पूर्व कथापीठ नामक भाग में सम्मिलित थीं। बुधस्वामी ने विना कारण इन कथाओं का समावेश किया है। मूल प्राचीन बृहत्कथा की वस्तु-आयोजना के परिणामस्वरूप उत्पन्न कुछ कालानुक्रमविषयक कठिनाइयों से बचने के लिए काश्मीरी लेखकों ने कथापीठ में समाविष्ट वर्ण्य विषय का अलग रीति से प्रयोग किया। मूल प्राचीन बृहत्कथा में वस्तु की आयोजना इस प्रकार होनी चाहिए थी :

१. कथापीठ—उदयन और उसकी रानियों की कथाएँ;
२. कथामुख—कथा कहनेवाले के रूप में नरवाहनदत्त का परिचय;
३. नरवाहनदत्त द्वारा वर्णित लम्भों की शृंखला और
४. उपसंहार।

"बुधस्वामी के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह द्वारा बृहत्कथा का जो नैपाली रूपान्तर प्राप्त हुआ है, उसके अनेक कथा-प्रसंगों का वसुदेवहिण्डी के साथ साम्य है। काश्मीरी रूपान्तरों के मुकाबले नैपाली रूपान्तर, मूल बृहत्कथा का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है। लाकोत का यह मत पूरी तरह मान्य है। उदाहरण के लिए, वसुदेवहिण्डी की गणिकापुत्री सुहिरण्या की तरह ही बृहत्कथाश्लोकसंग्रह की मदनमंचुका भी एक वारांगना की पुत्री है, पर काश्मीरी रूपान्तरों में मदनमंचुका एक बौद्ध राजा की दौहित्री है। वसुदेव की पत्नी गन्धर्वदत्ता एक वणिक् की दत्तक पुत्री है। बुधस्वामी में भी यह प्रसंग इसी प्रकार है; पर काश्मीरी रूपान्तर में गान्धार देश का राजा दोनों का स्वामी है। गन्धर्वदत्ता के पालन करनेवाले पिता की आत्मकथा समुद्री यात्रा में पराक्रम करने की अत्यन्त रसपूर्ण कथा है एवं इसका यह अंश अलिफलैला की कहानियों जैसा है। यह पूरी कथा काश्मीरी रूपान्तरों में छोड़ दी गई है। वसुदेवहिण्डी का कथानक इस अंश में बुधस्वामी से मिलता है।

उससे भी इसमें कुछ अंश अधिक रसपूर्ण हैं। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह के कई बड़े और आवश्यक अंश काश्मीरी रूपान्तरों में लुप्त हैं। वे वसुदेवहिण्डी में देखने को मिलते हैं। दूसरी ओर यह भी स्मरण रखने योग्य है कि काश्मीरी रूपान्तर के जिन अंशों को लाकोत ने मूल प्राचीन बृहत्कथा की अपेक्षा सन्दिग्ध और प्रक्षिप्त माना था और ऐसे अंश काश्मीरी रूपान्तरों में [१] जितने हैं—उनके साथ मिलनेवाले कई अंश वसुदेवहिण्डी में भी नहीं हैं, अर्थात् अबतक जो बिलकुल सम्भावित जान पड़ते थे, पर बृहत्कथाश्लोकसंग्रह के पूर्ण होने के कारण जो सिद्ध नहीं किये जा सकते थे, वे भी अब साबित हो गये हैं। एक तरफ प्राचीन मूल बृहत्कथा का एक बड़ा भाग काश्मीरी रूपान्तरों में लुप्त हो गया है, दूसरी ओर काश्मीरी रूपान्तरों का एक बड़ा अंश मूल बृहत्कथा से उत्पन्न नहीं हुआ। अन्त में, यह भी साबित होता है कि काश्मीरी लेखकों के सामने बृहत्कथा का अस्थिपंजर-मात्र था। किन्तु, वसुदेवहिण्डी और बृहत्कथाश्लोकसंग्रह इन दो रूपान्तरों के रचयिताओं के सामने मूल बृहत्कथा का एक अत्यन्त रसपूर्ण जीवन्त और अतीत की सामग्री से भरा हुआ स्वरूप था। काश्मीरी रूपान्तरों की ऊपर कही हुई त्रुटियों के कारण अब इसकी छानबीन होना कठिन है कि बुधस्वामी में गुणाढ्य के मूल ग्रन्थ की वस्तु-संघटना और उसकी प्राणवत्ता का किस हद तक उत्तराधिकार सुरक्षित है। किन्तु, यहाँ बुधस्वामी के विषय में अपना विश्वास बहुत अंश में दृढ़ होता है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह एवं वसुदेवहिण्डी के बीच में संख्या-सम्बन्धी भेदों के कारण यह कहना कठिन है कि इन दोनों ग्रन्थों में कौन किसका आधार था। पर, जिन अंशों के सम्बन्ध में विचार हो सकता है, उनसे ज्ञात होता है कि बृहत्कथाश्लोकसंग्रह और वसुदेवहिण्डी के बीच में छोटी-से-छोटी बातों में एवं वर्णन की सम्पूर्ण कला में इतना रोचक साम्य है कि यह मानने में सन्देह नहीं रहता कि दोनों के लेखकों के सम्मुख कवि गुणाढ्य का मूल रूप कम-से-कम अन्तर के साथ विद्यमान था। अन्त के कथाभागों में तो वसुदेवहिण्डी प्राचीन बृहत्कथा का विशिष्ट रसप्रद और लाक्षणिक नमूना है एवं सर्वांश में अवलोकन करने से भी यह जान पड़ता है कि मूल बृहत्कथा की लाक्षणिकता एवं गुणाढ्य की काव्यशक्ति अपने अधिकांश जीवन्त रूप में वसुदेवहिण्डी में विद्यमान है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह के आधार पर विण्टरनित्स ने जो बुधस्वामी की भारी प्रशंसा की है, उसका अधिकांश श्रेय गुणाढ्य को ही मिलना चाहिए।"[१]

गुणाढ्य की बृहत्कथा किसी समय व्यास-कृत महाभारत के समान अपने देश के काव्य और कथा-साहित्य पर छाई हुई थी। आज वह काल के विशाल अन्तराल में न जाने कहाँ विलीन हो गई है। इसलिए, उसके विषय में उसके उत्तरकालीन रूपान्तर एवं

---

१. द्र० श्रीभोगीलाल जे० साण्डेसरा-कृत वसुदेवहिण्डी का गुजराती-भाषान्तर, पृ० ६–१३। आल्सडोर्फ के Eine neve Version der Verlorenen Brhatkatha des Gunadhya (A new version of the lost Brhatkatha of Gunadhya) नामक जर्मन-निबन्ध का गुजराती-अनुवाद श्रीरसिकलाल पारिख ने किया था।

वाचनाओं से ही अनुमान की कुछ कड़ियाँ जोड़नी पड़ती हैं। जिस महती कथा के विषय में कालिदास, सुबन्धु, बाण, दण्डी, धनिक, गोवर्धन आदि आचार्यों ने इस प्रकार प्रशंसा के शब्द लिखे हैं, सचमुच वह भारतीय वाङमय की कोई अद्‌भुत रचना थी। कोल्लार-क्षेत्र के गुम्मा रेड्‌डीपुर से प्राप्त एक ताम्रपत्र में जो राजा दुर्विनीत के चालीसवें वर्ष (छठी शती के पूर्वारम्भ) में दिया गया, कहा है कि राजा दुर्विनीत ने एक व्याकरण, किरातार्जुनीय के पन्द्रह सर्गों की टीका और बृहत्कथा का संस्कृत में एक रूपान्तर किया था।[1] न केवल भारतवर्ष, वरन् बृहत्तर भारत के द्वीपान्तरों में भी गुणाढ्य का यश छा गया था। कम्बोज के महाराज यशोवर्मन् के लेखों में तीन बार गुणाढ्य का उल्लेख आया है, वहाँ उसे प्राकृतप्रिय विशेषण दिया गया है। बारहवीं शती तक यह ग्रन्थ विद्यमान था और उसके बाद उसका कोई चिह्न शेष न रहा, यह आश्चर्य की बात है। हो सकता है कि सोमदेव की अद्‌भुत सफलता ने गुणाढ्य को नामशेष करा दिया। क्षेमेन्द्र के अनुसार, गुणाढ्य का जन्म गोदावरी के किनारे प्रतिष्ठान नगर में हुआ था। सोमदेव से भी इसका समर्थन होता है। यह सातवाहन-वंश के सम्राट् हाल या शालिवाहन की राजधानी थी। विद्वानों के अनुसार शालिवाहन या सातवाहन प्रथम शती ईसवी में हुए। लाकोत का अनुमान है कि गुणाढ्य का जन्म मथुरा में हुआ था, बाद में वे उज्जयिनी या कौशाम्बी में जाकर रहने लगे थे।

बुधस्वामिन् का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह बृहत्कथा की नैपाली वाचना कहलाती है। इसमें अट्‌ठाईस सर्गों में लगभग ४५३९ श्लोक हैं। या तो मूल में ही यह ग्रन्थ अधूरा रह गया या इस समय त्रुटित मिला है। इसमें नरवाहनदत्त अपने अट्‌ठाईस विवाहों में केवल छह की कथा कह पाया है। यदि इसी ढर्रे पर सारी कथा कही जाती, तो लगभग २९ हजार श्लोकों में पूरी कहानी का फैलाव होता और नरवाहनदत्त के राज्य-विस्तार और अभिषेक की कथा मिलाकर इसमें लगभग २५ सहस्र श्लोकों का विस्तार बैठता और सर्गों की संख्या भी १०० से कम न होती।

काव्य के आरम्भ में उज्जयिनी की प्रशंसा और वहाँ के शासक महासेन प्रद्योत की मृत्यु का उल्लेख है। उसके बाद उसका पुत्र गोपाल गद्दी पर बैठा, किन्तु पितृहन्ता होने के अपयश से उसने राज्य छोड़ दिया और उसका भाई पालक राजा हुआ। उसने भी राज्य त्याग दिया और गोपाल का पुत्र अवन्तिवर्द्धन् सिंहासन पर बैठा। उसके उपरान्त सुरसमंजरी के साथ उसके प्रेम की कथा आती है और चौथे सर्ग से नरवाहनदत्त की प्रेम-कहानियाँ ग्रन्थ में स्थान घेरती हैं। बुधस्वामिन् भी कोई कम प्रतिभाशाली लेखक न था। उसने लगभग पाँचवीं शताब्दी में अपने ग्रन्थ की रचना की और गुप्तयुग की स्वर्ण-संस्कृति की अनेक संस्थाओं के वातावरण में प्रवाहमयी संस्कृत-शैली में ग्रन्थ का निर्माण किया।

---

१. **शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धकथेन किरातार्जुनीये पञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन,** [मैसूर पुरातत्त्व-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, १९१२, पृष्ठ ३५—६९; Indian Antiquary ४२।२०४; JRAS १९१३, ३८९।]

बुधस्वामिन् के बाद संस्कृत-वाचना की प्राप्ति न होकर संघदासगणि-कृत वसुदेव-हिण्डी की प्राकृत-वाचना ही अबतक प्राप्त हुई है, जिसके सम्बन्ध में आवश्यक विवरण ऊपर दिया जा चुका है और जिसने बृहत्कथा के ढके हुए पर्दों का उद्घाटन करने में पर्याप्त योग दिया है।

उसके अनन्तर क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी का स्थान आता है। क्षेमेन्द्र कश्मीर के राजा अनन्त (१०२९—१०६४) की सभा के सभासद थे। उनका दूसरा नाम व्यासदास था। उन्होंने रामायण और महाभारत का संक्षेप भी रामायणमंजरी और भारतमंजरी नामक ग्रन्थों में किया। उनका अवदानकल्पलता ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। कला-विलास, देशोपदेश, नर्ममाला और समयमातृका ग्रन्थों में क्षेमेन्द्र की प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है। क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी में १८ लम्बक हैं और उनके नाम भी सोमदेव के लम्बकों से मिलते हैं।

बृहत्कथा की अन्तिम वाचना सोमदेव-कृत कथासरित्सागर है। सोमदेव ने अपनी आरम्भिक प्रतिज्ञा में कहा है :

"मेरे सामने जैसा मूल था, वैसा ही मैंने यह ग्रन्थ रचा है। तनिक-सा फेरफार भी नहीं किया। हाँ, केवल औचित्य और एक दूसरे के साथ अन्वय या जोड़ मिलाने का ध्यान यथाशक्ति रखा गया है। इसमें काव्य का अंश मैंने उतना ही जोड़ा है, जितने से कहानी के रस का विघात न हो। पाण्डित्य के यश के लोभ से मेरा यह प्रयत्न नहीं है। मेरा उद्देश्य यह है कि अनेक कथाओं का समूह सरलता से स्मृति में रखा जा सके।"[1]

कथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सोमदेव ने लिखा है—'एक बार शिव ने पार्वती से सात विद्याधर-चक्रवर्त्तियों की आश्चर्यमयी कथाओं का वर्णन किया। यद्यपि शिव की वार्त्ता एकान्त में हुई थी, किन्तु उनके अनुचर पुष्पदन्त ने वे कहानियाँ सुन लीं और अपनी पत्नी जया को उन्हें सुना दिया। जया ने उन कहानियों को अपनी सहेलियों से कहा। जब यह बात पार्वतीजी के कान में पड़ी, तब उन्होंने रुष्ट होकर पुष्पदन्त को मर्त्यलोक में जन्म लेने का शाप दिया। पुष्पदन्त के भाई माल्यवान् ने उसकी ओर से क्षमायाचना की, तो उसे भी वैसा ही दण्ड मिला। पुष्पदन्त की पत्नी जया पार्वतीजी की परिचारिका थी। जब पार्वतीजी ने अपनी सखी को शोक से दुःखी देखा, तब उन्हें करुणा आ गई और उन्होंने अपने शाप का परिहार करते हुए कहा कि 'पुष्पदन्त का विन्ध्यपर्वत पर काणभूति नामक एक पिशाच से मिलन होगा। उसे अपने पूर्वजन्मों की स्मृति बनी रहेगी और जब वह काणभूति को ये कथाएँ सुनायगा, तब उसकी शाप-मुक्ति होगी। माल्यवान् भी

---

१. यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते ॥
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना ॥
वैदग्ध्यख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः।
किन्तु नानाकथाजालस्मृतिसौकर्यसिद्धये ॥ —कथासरित्सागर, १।१०–१२।

जब काणभूति से इन बृहत्कथाओं को सुनकर लोक में इनका प्रचार कर चुकेगा, तब वह पुनः स्वर्ग में लौट आयगा।' इस विधान के अनुसार पुष्पदन्त ने कौशाम्बी में वररुचि कात्यायन के रूप में जन्म लिया और वह महान् वैयाकरण एवं नन्द-वंश के अन्तिम राजा राजा योगानन्द का मन्त्री हुआ। अन्त में, वह वनवासी हो गया और विन्ध्याचल की विन्ध्यवासिनी देवी की यात्रा में काणभूति से उसकी भेंट हुई। तब उसे अपने पूर्वजन्म की स्मृति हुई और उसने काणभूति को वे सात बृहत्कथाएँ सुनाईं। इतना करने के बाद वह शापमुक्त होकर स्वर्ग चला गया। उसके भाई माल्यवान् ने भी मृत्युलोक में प्रतिष्ठान-पुरी में गुणाढ्य के रूप में जन्म लिया और वह वहाँ के राजा सातवाहन का मन्त्री बना। गुणदेव और नन्दिदेव उसके दो शिष्य थे। उन्हें लेकर वह काणभूति के पास आया। वहाँ काणभूति से उसे पिशाच-भाषा में सात बृहत्कथाएँ प्राप्त हुईं, और उसने प्रत्येक को एक-एक लाख श्लोकों में अपने रक्त से लिखा। अपने शिष्यों की सलाह से उसने उन्हें राज सातवाहन के पास इस विचार से भेजा कि राजा उनकी रक्षा करेगा। पर, पिशाचों की भाषा में लिखी हुई कहानियों को राजा ने पसन्द नहीं किया। इस समाचार से गुणाढ्य को बहुत दुःख हुआ और उसने अपनी छह कहानियाँ जला डालीं। अपने शिष्यों का अनुरोध मानकर केवल सातवीं कहानी बची रहने दी। उस कथा को सुनकर जंगल के जीव भी मोहित हो गये। जब राजा सातवाहन को यह ज्ञात हुआ, तब उसे पश्चात्ताप हुआ, और उसने गुणाढ्य के स्थान पर जाकर बचे हुए कथाभाग को उससे ले लिया। उसने गुणदेव और नन्दिदेव की सहायता से उसका अध्ययन किया और कथा की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाला अंश स्वयं उसमें जोड़ा।[1]

नैपाल-माहात्म्य (अध्याय २७-२९) में इसी कहानी का रूप थोड़ा भिन्न है। आरम्भ में शिव-पार्वती के संवाद का उल्लेख है। पार्वती ने शिव से नई कहानी सुनाने की प्रार्थना की। शिव एकान्त में सब द्वार बन्द करके सुनाने लगे। पर, उनके भृंगी नामक गण ने भौंरे का रूप रखकर और भीतर आकर वे कहानियाँ सुन लीं, और अपनी पत्नी विजया को उन्हें सुना दिया। किसी दिन जब पार्वती वे कहानियाँ अपनी सखियों को सुनाने लगीं, तो विजया को वे पहले से ज्ञात थीं। पार्वती ने यह जानना चाहा कि किसने यह अपराध किया था। शिव ने ध्यान धरकर देखा और भृंगी को शाप दिया। भृंगी ने क्षमा-याचना की। तब शिव ने क्षमा करते हुए कहा—इसे मर्त्यलोक में जन्म लेना होगा और सुनी हुई कथाओं को नौ लाख श्लोकों में लिखना होगा। फिर, उसे एक लिंग की प्रतिष्ठा करनी होगी और तब वह कैलास लौटने का अधिकारी होगा। इस उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि बृहत्कथा मूल में एक शृंगार-कथा थी। पर, नैपाल-माहात्म्य के इस उल्लेख में कथा का सुननेवाला भृंगी नामक गण था। भृंगी ने गुणाढ्य के रूप में मथुरा में जन्म लिया। वह बालपन में अनाथ हो गया और तब उज्जयिनी चला आया। उज्जयिनी में मदन नामक राजा राज्य करते थे। उनकी रानी लीलावती

---

१. कृष्णमाचार्य, संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ४१४-४१५।

गौडदेश के राजा की पुत्री थी। उज्जयिनी में शर्ववर्मन् नाम के महान् पण्डित राजसभा में थे। वे गुणाढ्य की प्रतिभा से प्रभावित हुए और उन्होंने उसे भी राजा की सभा का सदस्य बनवा दिया। एक दिन राजा अपनी रानियों के साथ जल-विहार कर रहा था। तब उसने 'मोदक' शब्द का अशुद्ध प्रयोग किया। गुणाढ्य ने १२ वर्ष में उसे व्याकरण की शिक्षा देने की बात कही। पर, शर्ववर्मन् ने केवल दो ही वर्षों में उसे व्याकरण में पण्डित बना देने को कहा। गुणाढ्य और शर्ववर्मन् में इसके लिए स्पर्द्धा हुई, और शर्ववर्मन् ने कलाप-व्याकरण की रचना करके दो ही वर्षों में राजा को व्याकरण का ज्ञान करा दिया। गुणाढ्य को संस्कृत-भाषा में न बोलने का आदेश हुआ। वह ऋषि के आश्रम में जाकर रहने लगा। वहाँ उसे पुलस्त्य ऋषि ने पैशाची भाषा में अपनी कथाएँ लिख डालने का परामर्श दिया, और यह भी कहा कि ग्रन्थ-समाप्ति के बाद वह नैपाल में शिवलिंग की स्थापना करके शाप-विमुक्त होकर मर्त्य-योनि से छूटेगा। गुणाढ्य गेरू से पेड़ की पत्तियों पर कथा लिखने लगा। वह उन्हें उच्च स्वर में पढ़ता जाता था, जिसे सुनकर जंगल के पशु-पक्षी मोहित हो गये। यह बात राजा ने सुनी और जंगल में जाकर सब कुछ अपनी आँखों से देखा। उसने गुणाढ्य से सभा में लौट आने का अनुरोध किया; पर गुणाढ्य ने उसे स्वीकार न किया और कहा—'मैंने नौ लाख श्लोकों में पैशाची-भाषा में इस कथा की रचना की है। आप इसकी रचना संस्कृत में करायें। मैं तो अब नैपाल जाऊँगा।' तब उसने नैपाल जाकर पशुपतिनाथ शिव के दर्शन किये। वहाँ रहनेवाले मुनियों को एकत्र करके उसने भृंगीश्वर शिव की स्थापना की और वहाँ से वह कैलास चला गया।

कथासरित्सागर के आरम्भ में सोमदेव ने उसके स्वरूप और वर्ण्य विषयों का अच्छा परिचय दिया है :

"मैं बृहत्कथा के सार का संग्रह कर रहा हूँ। इसमें पहला लम्बक कथापीठ है। उसके बाद दूसरा कथामुख है। तीसरे लम्बक का नाम लावाणक है। चौथे लम्बक में नरवाहनदत्त का जन्म है। उसके बाद पाँचवें लम्बक का नाम चतुर्दारिका है। छठा लम्बक मदनमंचुका और सातवाँ रत्नप्रभा नाम का है। आठवें लम्बक का नाम सूर्यप्रभा है। नवाँ अलंकारवती लम्बक है। दसवाँ शक्तियशस् लम्बक और ग्यारहवाँ वेला लम्बक है। बारहवाँ शशांकवती और तेरहवाँ मदिरावती लम्बक है। उसके बाद पंच नामक चौदहवाँ लम्बक और पन्द्रहवाँ महाभिषेक लम्बक है। उसके बाद १६वाँ सुरतमंजरी लम्बक, सत्रहवाँ पद्मावती लम्बक और अट्ठारहवाँ विषमशील लम्बक है।"

कथाओं को कहने की दृष्टि से सोमदेव का अपना पद है। उसकी प्रवाहमयी शैली की रोचकता को दूसरा कोई नहीं पहुँच पाता। सी० एच्० टॉनी (C. H. Tawney)-कृत कथासरित्सागर के अँगरेजी-अनुवाद की भूमिका में पैंजर ने सोमदेव के ग्रन्थ की प्रशंसा में लिखा है :

"जब हम इस ग्रन्थ को देखते हैं, तब इसमें आई हुई हर प्रकार की कथाओं को देखकर मन आश्चर्य से भर जाता है। ईसवी-सन् से सैकड़ों वर्ष पहले की जीवजन्तु-कथाएँ

इसमें हैं। द्युलोक और पृथ्वी के निर्माण-सम्बन्धी ऋग्वेदकालीन कथाएँ भी यहाँ हैं। उसी प्रकार रक्तपान करनेवाले वेतालों की कहानियाँ, सुन्दर काव्यमयी प्रेम-कहानियाँ और देवता, मनुष्य एवं असुरों के युद्धों की कहानियाँ भी इस संग्रह में हैं। यह न भूलना चाहिए कि भारतवर्ष कथा-साहित्य की सच्ची भूमि है, जो इस विषय में ईरान और अरब से बढ़-चढ़कर है। भारत के इतिहास की कथा भी तो उसी प्रकार की एक कहानी है। इसका अतिशयोक्तिपूर्ण रूप इन आख्यानों से कम रोचक नहीं है।

"इन कहानियों का संग्रह करनेवाला लेखक सोमदेव विलक्षण प्रतिभाशाली पुरुष था। कवियों में उसकी प्रतिभा कालिदास से दूसरे स्थान पर आती है। स्पष्ट, रोचक और मन को खींच लेनेवाले ढंग से कहानी कहने की उसमें वैसी ही अद्भुत शक्ति थी, जैसी कहानियों के विषयों की व्यापकता और विभिन्नता है। मानवी प्रकृति का परिचय, भाषा-शैली की सरलता, वर्णन का सौन्दर्य और शक्ति एवं चातुर्य-भरी उक्तियाँ, इन सबकी रचना अत्यन्त प्रभावपूर्ण है।

"दूसरी ओर जैसा कि प्रायः पूर्वी (विशेषतः भारतीय) कहानियों में मिलता है, यहाँ एक विशेषता यह भी है कि नई-नई कहानियाँ पहली कहानियों के पेटे में समाई हुई है और आश्चर्यजनक वेग से एक के बाद दूसरी कहानी उभरती हुई सामने आती चली जाती है। तब पाठक अभिलाषा करता है कि कोई सूत्र सहायक बनकर उसे कथाओं के इस भूल-भुलैये से उसका उद्धार करे। इस संस्करण के सम्पादक ने इस प्रकार का एक सहायक सूत्र सावधानी के साथ तैयार किया है और कहानियों पर संख्याओं के अंक डाल दिये गये हैं।

"कथासरित्सागर अलिफलैला की कहानियों से प्राचीनतर ग्रन्थ है और अलिफ-लैला की अनेक कहानियों के मूल रूप इसमें हैं। उनके द्वारा, न केवल ईरानी और तुर्की लेखकों को, बल्कि बोकैशियो, चौसर एवं लॉ फॉन्तेन एवं अन्य अनेक लेखकों के द्वारा पश्चिमी संसार को भी अनेक कल्पनाएँ प्राप्त हुई हैं। सोमदेव ने सोचा कि जैसे हिमालय से आई हुई अनेक धाराएँ आगे-पीछे बहती हुई समुद्र में ही पहुँच जाती हैं, वैसे ही छोटी-बड़ी सभी कहानियाँ उनके इस महान् ग्रन्थ में इकट्ठी हो जायँ और यह सच्चे अर्थ में कहानी-रूपी नदियों का सागर बन जाय। कथासरित्सागर के रूप में कल्पना ने एक ऐसे महान् कथा-सागर की सृष्टि की है कि उसमें अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों, राजाओं और नगरों, राजतन्त्र एवं षड्यन्त्र, जादू और टोने, छल और कपट, हत्या और युद्ध, रक्तपायी वेताल, पिशाच, यक्ष और प्रेत, पशु-पक्षियों की सच्ची और गढ़ी हुई कहानियाँ एवं भिखमंगे, साधु, पियक्कड़, जुआरी, वेश्या, विट और कुट्टनी इन सभी की कहानियाँ एकत्र हो गई हैं। ऐसा यह कथासरित्सागर भारतीय कल्पना-जगत् का दर्पण है, जिसे सोमदेव भविष्य की पीढ़ियों के लिए छोड़ गए हैं।"

कथासरित्सागर की वर्त्तमान संघटना और लम्बकों के क्रम की तात्त्विक आलोचना करते हुए श्रीकीथ ने जो लिखा है, वह भी ध्यान देने योग्य है :

"कथासरित्सागर में मूल ग्रन्थ के कथा-क्रम में परिवर्त्तन किया गया है और इस परिवर्तन का अभिप्राय कथा के रस की रक्षा करना है। यह बात ग्रन्थ के क्रम की वस्तु-स्थिति के बिलकुल अनुकूल है। पहले पाँच लम्बकों में कोई परिवर्तन नहीं है। शेष लम्बकों में सोमदेव पर काव्य के प्रभाव की रक्षा करने की अभिलाषा की प्रधानता थी। स्पष्टतया इसी कारण ने सोमदेव को पंच और महाभिषेक नामक लम्बकों के मध्य की खाई को दूर करने के लिए विवश किया। उनके ग्रन्थ में उक्त दोनों लम्बकों का संक्रमण निर्दोष है। पंच नामक लम्बक का अन्त राजकुमार के इस निर्णय से होता है कि उसे एक भावी सम्राट् के राज्याभिषेक के लिए आवश्यक रत्नों को प्राप्त करना है। अगले लम्बक में यह प्रस्ताव आगे बढ़ता है। यह कुछ ऐसे आकस्मिक ढंग से होता है, जिसे सोमदेव बिलकुल मिटा नहीं सके हैं। परन्तु, इससे सोमदेव रत्नप्रभा, अलंकारवती और शक्तियशस् नामक तीन लम्बकों को यथास्थान रख सके। साथ ही, इससे काव्य के प्रारम्भिक भाग में, इस दृष्टि से कि वह अत्यधिक भारी न हो जाय, पूर्णतः आमूल परिवर्त्तन भी स्पष्टतः आवश्यक हो गया। इसके लिए जिस समाधान का आश्रय लिया गया, वह इन तीन लम्बकों को, जिनका सम्बन्ध राजकुमार के सम्राट् होने से पहले के वृत्तान्तों से है, पंच नामक लम्बक के प्रथम रखने में, तथा पद्मावती और विषमशील नामक दो लम्बकों को, जिनका सम्बन्ध नायक से न होकर केवल उन कथाओं से था, जो उसको सुनाई गई थीं और इसी कारण जिनको औचित्य के साथ एक परिशिष्ट के रूप में रखा जा सकता था, ग्रन्थ के प्रारम्भिक विषय से हटा देने में था। पंच नामक लम्बक के पहले आनेवाले विषय का क्रम कलापूर्ण ढंग से रखा गया है; क्योंकि उसमें मुख्यतया प्रासंगिक उपकथाओं से सम्बन्ध रखनेवाले लम्बकों को नायक के, आकस्मिक होते हुए भी, महत्त्वयुक्त कार्यों को देनेवाले लम्बकों के बीच-बीच में रखने का प्रयत्न किया गया है। जैसा कि पाँचवें लम्बक के अनन्तर, जिसका सम्बन्ध प्रासंगिक कथाओं से है, मदनमंचुका (६) नामक महत्त्व का लम्बक दिया गया। इसके अनन्तर रत्नप्रभा (७) है। अलंकारवती (६) से पहले आनेवाला लम्बक सूर्यप्रभ (८) मूलतः केवल उपकथाओं से सम्बन्ध रखता है। आकस्मिक कथाओं से सम्बद्ध शक्तियशस् (१०) सहज ही अलंकारवती के अनन्तर आता है। तदनन्तर वेला (११), शशांकवती (१२), मदिरावती (१३) और पूर्णतः महत्त्वयुक्त पंच तथा महाभिषेक (१४ और १५) आते हैं। तदनन्तर, परिशिष्ट रूप में, सुरतमंजरी, पद्मावती और विषमशील (१६—१८) दिये हुए हैं। एक लम्बक के वास्तविक विषय में एक परिवर्त्तन आवश्यक था। क्षेमेन्द्र में और सम्भवतः मूल ग्रन्थ में भी वेला का सम्बन्ध केवल प्रासंगिक उपकथाओं से ही नहीं था, उसके अन्त में मदन-मंचुका के तिरोहित होने का आवश्यक अंश सम्मिलित था। उसी के आधार पर हम अगले लम्बकों में सूचित राजा के शोक को समझ सकते हैं। परन्तु, इस प्रकार का वर्णन रत्नप्रभा, अलंकारवती और शक्तियशस् इन लम्बकों के सम्बन्ध में सोमदेव की योजना से मेल नहीं खाता था, इसी कारण उक्त आवश्यक अंश को हटा देना पड़ा, तो भी सोमदेव के लिए अपने क्रम में पंच से पहले के लम्बकों में मदनमंचुका के पहले से ही तिरोहित हो जाने के यत्र-तत्र चिह्नों को हटा देना सम्भव नहीं था।"[१]

जैसा श्रीकीथ ने लिखा है कि "प्रयत्न करने पर भी सोमदेव एक सुसंघटित ग्रन्थ की रचना में सफल नहीं हुए, परन्तु कथासरित्सागर के उत्कर्ष का आधार उसके वस्तु की संघटना पर नहीं है। उसका आधार इस ठोस वस्तुस्थिति पर है कि सोमदेव ने सरल और अकृत्रिम रहते हुए आकर्षक और सुन्दर रूप में ऐसी कथाओं की बड़ी भारी संख्या

१. कीथ, संस्कृत-साहित्य का इतिहास, श्रीमंगलदेव शास्त्री-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० ३३४-३५।

को प्रस्तुत किया है, जो नितरां विभिन्न रूपों में--मनोविनोदकारक अथवा भयानक, अथवा प्रेम-सम्बन्धी, अथवा जल और थल के अद्भुत दृश्यों के प्रति हममें अनुराग उत्पन्न करने के लिए आकर्षक, अथवा बाल्यकाल की परिचित कहानियों का सादृश्य उपस्थित करनेवाले रूपों में--हमारे लिए अत्यन्त रुचिकर हैं। क्षेमेन्द्र में कहीं अत्यधिक संक्षेप और कहीं अस्पष्टता के कारण कहानियों का सारा आकर्षण और रोचकता ही नष्ट हो जाती है। ठीक इसके विपरीत पंचतन्त्र के लेखक की तरह सोमदेव प्रतिभा के धनी हैं। वे पाठक के मन को थकाये विना सावधानी से अभीष्ट अर्थ का प्रकाशन कर सकते हैं। उनकी कहानियों का रुचिकर रूप कभी नहीं छीजता।" (कीथ, वही, पृ० ३३५)

कथासरित्सागर में कहानियों का एक बढ़िया गुच्छा वेतालपंचविंशति नामक पच्चीस कहानियों का है (कथासरित्सागर, तरंग ७५-९९)। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी में भी ये कहानियाँ हैं (९।२।१९-१२२१)। सोमदेव की अपेक्षा क्षेमेन्द्र का वर्णन संक्षिप्त और अलंकार-रहित है। क्षेमेन्द्र में जहाँ केवल १२०६ श्लोक हैं, वहाँ सोमदेव में २१९५।[1] प्रश्न होता है कि वेताल-विक्रम की ये कहानियाँ मूल बृहत्कथा में थीं या नहीं। इस विषय में हर्टेल और एजर्टन का मत है, जो सम्भाव्य है कि मूल बृहत्कथा में वेतालपंचविंशति की कहानियाँ विद्यमान न थीं। नरवाहनदत्त के उपाख्यान से स्पष्टतः उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। कीथ के अनुसार, वेतालपंचविंशति के उपाख्यानों पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है।

पंचतन्त्र की भी बहुत-सी कहानियाँ कथासरित्सागर में बिखरी हुई हैं। क्षेमेन्द्र ने उनको पंचतन्त्र के अनुसार एक साथ ही कर दिया है। इनमें से कम-से-कम आधी कहानियाँ चार सौ पचास ईसवी से पूर्व बने हुए एक ऐसे संग्रह में विद्यमान थीं, जिसका उपयोग आर्यसेनसंघ नाम के एक भिक्षु ने अपने ग्रन्थ में किया था, और जिसका चीनी-भाषान्तर उसके शिष्य गुणवृद्धि ने ४९२ ई० में किया था। सोमदेव ने मूर्खों की कहानियाँ कहने में बड़ा रस लिया है। इसके अतिरिक्त चोर, जुआरी, धूर्त्त, वेश्यागामी, चालबाज, हँसोड़, कपटी, बदमाश, ठग, लुच्चे, रँगीले भिक्षु आदि की कहानियों की तह जमाने में सोमदेव को अद्भुत सफलता मिली है। उनकी दृष्टि में समाज का अर्धांग चित्र नहीं, पूरा चित्र समाया हुआ है। भले और बुरे, ऊँच और नीच, धनी और कंगाल, धर्मात्मा और गुण्डे सभी के उभरे हुए चित्र उनके ग्रन्थ में पाये जाते हैं। जैसे समुद्र सब रत्नों की खान है, वैसे ही मानव-स्वभाव का जितना वैचित्र्य है, उसका पूरा अंकन सोमदेव ने अपने ग्रन्थ में किया है। सोमदेव ने स्त्रियों के स्वभाव के विश्लेषण में बहुत रुचि ली है। स्त्री-चरित्र की अनेक कहानियाँ उनके संग्रह में हैं। उनके स्वभाव के गुण-दोषों का चित्रण वे खुलकर करते हैं। ग्यारहवीं शती का कश्मीर स्त्रियों के विषय में कुछ अधिक सम्मानसूचक भाव से प्रभावित नहीं था। चरित्र-सम्बन्धी हीनता और अमर्यादित उच्छृंखलता प्रायः स्त्री-चरित्र के ऐसे पक्ष को सामने रखती हैं, जो किसी प्रकार भव्य नहीं कहा जा सकता। सोमदेव का गुण इतना ही है कि वे कुछ भी कहने में खुटक का अनुभव नहीं करते। जैसे बरसाती नदियों की मटमैली धाराओं के ऊपर चारों ओर का खर-पतवार आकर बहने लगता है, वैसे ही सोमदेव की कथाओं की शैली बुराइयों को समेटकर सामने ले आती है। मानव-स्वभाव जैसा है, वैसा ही उसे दिखाना, यह महान् लेखक

१. सुशीलकुमार डे : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ४२१, पादटिप्पणी।

की विशेषता होती है, और सोमदेव इसमें पिछड़े हुए नहीं हैं। सोमदेव की अनेक कहानियाँ मन पर एक बार छप जाने के बाद फिर नहीं भुलाई जा सकतीं। कहानी के विस्तार और संक्षेप की कला में सोमदेव सिद्धहस्त थे। वे उतने ही परिमित शब्दों का प्रयोग करते हैं, जितनों से पाठकों की रुचि का विघात न हो और कहानी का रस भी अच्छी तरह अनुभव में आ सके। जब ११वीं शती में समासबहुल शैली का बोलबाला था, उस समय सोमदेव ने जिस शैली का प्रयोग किया, उसे देखकर आश्चर्य होता है। उन्होंने मानों विना समासों के सरल वाक्यों का धड़ल्ले से निर्माण किया है, जैसे :

बबन्ध मेखलां मूर्ध्नि हारं च जघनस्थले ।
नूपुरौ करयोस्तस्याः कर्णयोरपि कङ्कणौ ॥ (६१।२६)

कहानियों के सम्पुट को वे कितना छोटा बना सकते थे, इसका एक नुकीला उदाहरण तूलिक या रूई बेचनेवाले मूर्ख की कहानी है :

उक्तोलङ्करणो देव शृणु वच्म्यथ तूलिकम् ।
मूर्खः कश्चित्पुमांस्तूलविक्रयायापणं ययौ ॥
अशुद्धमिति तत्तस्य न जग्राहात्र कश्चन ।
तावद्ददर्श तत्राग्नौ हेमनिष्टप्तशोधितम् ॥
स्वर्णकारेण विक्रीतं गृहीतं ग्राहकेण च ।
तद्दृष्ट्वापि स तत्तूलमिच्छञ्शोधयितुं जडः ॥
अग्नौ चिक्षेप दग्धे च तस्मिल्लोको जहास तम् ।
अतोऽयं तूलिको देव खर्जूरीछेदकं शृणु ॥ (६१।२८–३१।)

'हे देव ! गहनों के सम्बन्ध में मूर्ख की कहानी कह चुका, अब रूईवाले की कहानी सुनिए। कोई मूर्ख रूई बेचने बाजार में गया, पर साफ न होने से उसे किसी ने लिया नहीं। तब उसने देखा कि सुनार सोने को आग में तपाकर शुद्ध कर रहा है। उस सोने को सुनार ने बेचा और ग्राहक ने खरीद लिया। यह देखकर उसने भी अपनी रूई को साफ करने के लिए आग में डाल दिया। इससे सब लोग उस उल्लू पर हँसने लगे। यह तूलिक की कहानी हुई, अब खजूर काटनेवाले मूर्ख की कहानी सुनें।'

इस प्रकार की तरंगित शैली में सोमदेव की छोटी कहानियाँ बड़ी कहानियों के सम्पुट में कटहल के कोयों की तरह भरी हुई हैं। इसी प्रकार, गँवार गो-दोहक की कहानी है। उसकी गाय प्रति दिन पच्चीस सेर दूध देती थी। उसके यहाँ कोई उत्सव होने को हुआ। उसने सोचा कि एक ही बार में उत्सव के लिए सारा दूध दुह लूँगा और महीने भर तक गाय नहीं दुही। उत्सव आने पर जब दुहने बैठा, तब उसे दूध की बूँद भी न मिली (६१।४४––४७)। पंचतन्त्र के हिरण्यक चूहे, लघुपतनक कौए, चित्रग्रीव कबूतर और मन्थरक कछुए की कहानी भी दसवें लम्बक की ६१वीं तरंग में है, जिसे सोमदेव ने प्रज्ञानिष्ठ या व्यावहारिक बुद्धिमानी की कहानी कहा है।

सोमदेव ने अपने वर्णन के बीच-बीच में नीति-सम्बन्धी अनेक सूक्तियाँ डाली हैं। जैसे :

अर्थो हि यौवनं पुंसां तदभावश्च वार्धकम् ।
तेनास्यौजो बलं रूपमुत्साहश्चापि हीयते ॥ (६१।११६)
अवृत्तिके प्रभुं भृत्या अपुष्पं भ्रमरास्तरुम् ।
अजलं च सरो हंसा मुञ्चन्त्यपि चिरोषितम् ॥ (६१।११८)
गुणिनो न विदेशोऽस्ति न सन्तुष्टस्य चासुखम् ।
धीरस्य च विपन्नास्ति नासाध्यं व्यवसायिनः ॥ (६१।१२१)

इस प्रकार, नीति-सम्बन्धी सूक्तियों की छौंक वर्णन के स्वाद को बढ़ा देती है और इस युक्ति से सोमदेव ने पूरा लाभ उठाया है।

एक बार नरवाहनदत्त समुद्र के बीच में स्थित नारिकेलद्वीप से श्वेतद्वीप में जाता है। यह श्वेतद्वीप क्षीरोद समुद्र के पास था, जिसे आजकल कास्पियन सागर कहते हैं। इस श्वेतद्वीप का उल्लेख महाभारत के नारायणीय पर्व में, हर्षचरित में तथा अन्य पुराणों में बहुधा आता है। सोमदेव ने यह संकेत वहीं से अपनाया। श्वेतद्वीप में निवास करनेवाले नारायण की जो स्तुति सोमदेव ने दी है, वह स्तोत्र-विषय में भी उनकी सफलता की सूचक है (५४।२९—३८)। स्तोत्र-साहित्य का यह चमकता हुआ नग है।

साहित्य की कितनी ही शैलियों और अभिप्रायों के अंकन में बढ़ी हुई निपुणता सोमदेव का गुण था। कथासरित्सागर अनेकविध कहानियों का महार्णव है। उसके पूरे स्वरूप की कल्पना कठिनाई से ही की जा सकती है। इस ग्रन्थ का पठन और प्रचार अधिक होना चाहिए। भारतीयों का विश्वास था कि कहानी सुनने से पाप नष्ट होता है। इसका अभिप्रय यही है कि अच्छी कहानी मन के तनाव को दूर करती है और मनुष्य को फिर अपनी स्वाभाविक स्थिति में पहुँचा देती है। यह नमक की उस चुटकी के समान है, जो सारे भोजन को स्वादिष्ट बनाती है। ऐसे ही जीवन के अनेक व्यवहारों को करते हुए कहानी की उचित मात्रा से हम जीवन को अधिक रसपूर्ण बना सकते हैं। सोमदेव का ग्रन्थ वसुधान-कोशों का समूह है, अर्थात् उसमें रत्नों से परिपूर्ण अनेक डिब्बे भरे हुए हैं। चाहे जहाँ से अपनी रुचि के अनुसार हम उन्हें चुन सकते हैं।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का यह प्रयत्न अभिनन्दन के योग्य है। इसमें कथासरित्सागर का न केवल हिन्दी-अनुवाद, बल्कि मूल संस्कृत-पाठ भी दिया गया है। इस अनुवाद का श्रेय पं० केदारनाथजी सारस्वत को है। पहले भाग में छह लम्बकों का अनुवाद उनका किया हुआ है। अब वे नहीं रहे; पर आशा है कि परिषद् इसी प्रकार से शेष लम्बकों को भी मूल और अनुवाद के साथ प्रकाशित करेगी?

काशी-विश्वविद्यालय
शनिवार, ज्येष्ठ कृष्ण ४, सं० २०१७
१४-५-१९६०

वासुदेवशरण अग्रवाल

विषयानुक्रमणी

[प्रस्तुत विषयानुक्रमणी हिन्दी-अनुवाद के अनुसार है।]

कथापीठ नामक प्रथम लम्बक १–११७

प्रथम तरंग १–११

मंगलाचरण ३; प्रस्तावना ३; शिव और पार्वती का संवाद ५; पार्वती के पूर्वजन्म की संक्षिप्त कथा ७; पार्वती का प्रणय-कोप ६; पुनः कथा का उपक्रम ६; पुष्पदन्त और माल्यवान् को पार्वती का शाप ११; शापान्त की घोषणा ११।

द्वितीय तरंग १३–२५

वररुचि (पुष्पदन्त) की कथा १३; वररुचि की जन्म-कथा १७; व्याडि की कथा १६; वर्ष का चरित्र १६।

तृतीय तरंग २५–३५

पाटलिपुत्र के निर्माण की कथा २५; राजा ब्रह्मदत्त की कथा २६।

चतुर्थ तरंग ३७–५५

उपकोशा की कथा ३७; पाणिनि की कथा ३६; उपकोशा की कथा (क्रमागत) ४१; वररुचि का प्रत्यागमन ४६।

पंचम तरंग ५५–७३

वररुचि की कथा (क्रमशः) : वररुचि का वैराग्य ५५; राजा योगनन्द का अन्तःपुर : मरी मछली का हँसना ५७; सुन्दर कौन ? ६१; राजा आदित्यवर्मा और मन्त्री शिववर्मा की कथा ६३; मित्रद्रोह का फल ६५; वररुचि का वैराग्य और महाप्रस्थान ६६; चाणक्य की कथा ६६; शाहाकारी मुनि की कथा ७३।

षष्ठ तरंग ७५–६७

गुणाढ्य की कथा ७५; चूहे से धनी बने सेठ की कथा ७७; मूर्ख सामवेदी ब्राह्मण की कथा ८१; देवी-उद्यान की कथा ८३; राजा सातवाहन की कथा ८७।

सप्तम तरंग ६७–११३

शर्ववर्मा की कथा (कातन्त्र—कालापक व्याकरण की उत्पत्ति) ६७; पुष्पदन्त की पूर्वकथा १०३; राजा शिबि की कथा १०६; माल्यवान् की पूर्वकथा १११।

अष्टम तरंग ११३–११७

कथामुख नामक द्वितीय लम्बक ११६–२३७

प्रथम तरंग ११६–१३१

राजा सहस्रानीक की कथा ११६; रानी मृगावती के विवाह की कथा १२१; उदयन के जन्म की कथा १२७।

द्वितीय तरंग १३१–१६१

श्रीदत्त और मृगांकवती की कथा १३३ ।

तृतीय तरंग १६१–१७१

राजा उदयन की कथा १६१; राजा चण्ड महासेन की कथा १६५ ।

चतुर्थ तरंग १७१–१९९

वत्सराज उदयन की कथा (क्रमशः) १७१; लोहजंघ की कथा १८३ ।

पंचम तरंग १९९–२२५

उदयन की कथा : वासवदत्ता-हरण १९९; गुहसेन और देवस्मिता की कथा २०५; सिद्धि की कथा २११; सेठ समुद्रदत्त और शक्तिमती की कथा २२१; समुद्रदत्त की कथा (क्रमशः) २२१ ।

षष्ठ तरंग २२५–२३७

वत्सराज की कथा २२५; बाल विनष्टक की कथा २३१; रुद्र और प्रमद्वरा की कथा २३५ ।

लावाणक नामक तृतीय लम्बक २३९–४०७

प्रथम तरंग २३९–२५९

वत्सराज उदयन की कथा (क्रमशः) २३९; निपुण वैद्य की कथा २४१; धूर्त्त साधु की कथा २४३; राजा देवसेन और उन्मादिनी की कथा २४७; यइल्लक सेठ की कथा २५१; राजा पुण्यसेन की कथा २५३; सुन्द और उपसुन्द की कथा २५७ ।

द्वितीय तरंग २६१–२७७

राजा उदयन और पद्मावती के विवाह की कथा २६१; वासवदत्ता के जलने की कथा २६१; कुन्ती और दुर्वासा की कथा २६५; पद्मावती का विवाह २६९ ।

ततीय तरंग २७७–३०१

वत्सराज की कथा (क्रमशः) २७७; पुरूरवा और उर्वशी की कथा २७७; विहितसेन और तेजोवती की कथा २८१; सोमप्रभा और गुहसेन की कथा २८५; इन्द्र और अहल्या की कथा २९५ ।

चतुर्थ तरंग ३०१–३५७

वत्सराज का कौशाम्बी में पुनरागमन ३०१; ग्वालों की कथा ३०५; वत्सराज को खजाना और सिंहासन की प्राप्ति ३०७; वत्सराज का दिग्विजय के लिए विचार ३०९; वीर विदूषक ब्राह्मण की कथा ३११ ।

पंचम तरंग ३५७–३७५

वत्सराज के द्वारा शिव की आराधना ३५७; देवदास वैश्य की कथा ३५९; वत्सराज का दिग्विजय के लिए प्रयाण ३६५; वत्सराज के दिग्विजय की कथा ३६९ ।

षष्ठ तरंग ३७५-४०७

वत्सराज की कथा (क्रमशः) ३७५; फलभूति की कथा ३७५; रानी कुवलयावली द्वारा कही गई कथा ३८१; गणपति की कथा ३८३; स्वामी कार्त्तिकेय की उत्पत्ति ३८५; कालरात्रि की कथा ३९१।

नरवाहनदत्त-जनन नामक चतुर्थ लम्बक ४०९-४७९

प्रथम तरंग ४०९-४२९

राजा उदयन की कथा (क्रमशः) ४०९; वत्सराज का मृगया-वर्णन ४११; वत्सराज को नारदजी का उपदेश ४११; राजा पाण्डु की कथा ४११; पिंगलिका ब्राह्मणी की कथा ४१५; राजा देवदत्त और उसकी वेश्या-पत्नी की कथा ४१७; पिंगलिका की आत्मकथा ४२३।

द्वितीय तरंग ४२९-४६५

वत्सराज की कथा : पुत्रजन्म ४२९; जीमूतवाहन की कथा ४३३; जीमूतवाहन के पूर्वजन्म की कथा ४३७; जीमूतवाहन और मलयवती का विवाह ४५३; कद्रू और विनता की कथा ४५५; नागों के लिए जीमूतवाहन का आत्मसमर्पण ४५७।

तृतीय तरंग ४६५-४७९

वासवदत्ता का स्वप्न ४६५; सिंहविक्रम और उसकी कलहकारिणी भार्या की कथा ४६९; मन्त्रियों के पुत्रों की उत्पत्ति ४७३; नरवाहनदत्त का जन्म ४७३।

चतुर्दारिका नामक पंचम लम्बक ४८१-५९७

प्रथम तरंग ४८१-५१५

वत्सराज की सभा में शक्तिवेग का आगमन ४८१; कनकपुरी और शक्तिवेग की कथा ४८३; शिव और माधव नामक धूर्त्तों की कथा ४९३; हरस्वामी की कथा ५११।

द्वितीय तरंग ५१५-५५७

शक्तिदेव का कनकपुरी देखने के लिए जाना ५१५; अशोकदत्त और राक्षसराज कपालस्फोटक की कथा ५२५; अशोकदत्त और विद्युत्प्रभा की विवाह-कथा ५४१।

तृतीय तरंग ५५७-५९७

शक्तिदेव का कनकपुरी के लिए प्रस्थान ५५७; शक्तिदेव का पुनः वर्द्धमान नगर में आगमन ५६९; बिन्दुमती की कथा ५७९; देवदत्त ब्राह्मण की कथा ५८३; शक्तिदेव द्वारा विद्याधरत्व की प्राप्ति ५९१; शक्तिदेव का विद्याधरियों के साथ विवाह ५९५।

मदनमंचुका नामक षष्ठ लम्बक ५९९-८१५

प्रथम तरंग ५९९-६२१

नरवाहनदत्त की युवावस्था ५९९; राजा कलिंगदत्त की कथा ६०१; सुरभिदत्ता अप्सरा की कथा ६०७; राजा धर्मदत्त की कथा ६११; सात ब्राह्मणों की कथा ६१५; एक ब्राह्मण और एक चाण्डाल की कथा ६१७; राजा विक्रमसिंह और दो ब्राह्मणों की कथा ६१९।

द्वितीय तरंग ६२६–६५७

कलिगसेना के जन्म की कथा ६२६; सात राजकुमारियों की कथा ६३१; एक विरक्त राजकुमार की कथा ६३१; एक तपस्वी और राजा की कथा ६३३; राजा सुषेण और सुलोचना की कथा ६३७; कलिंगसेना के पास सोमप्रभा का आगमन ६४३; राजपुत्र और वैश्यपुत्र की कथा ६४५; पिशाच और ब्राह्मण की कथा ६५१।

तृतीय तरंग ६५७–६८३

कलिंगसेना का वृत्तान्त (क्रमशः) ६५७; सोमप्रभा की कथा ६५६; कीर्त्तिसेना और देवसेन की कथा ६६७।

चतुर्थ तरंग ६८५–७०३

मदनवेग विद्याधर की कथा ६८५; कलिंगसेना के विवाह की कथा ६८७; वत्सराज की संक्षिप्त कथा ६८६; तेजस्वती की कथा ६६३; हरिशर्मा ब्राह्मण की कथा ६६७।

पंचम तरंग ७०५–७१७

कलिंगसेना और सोमप्रभा की कथा (क्रमशः) ७०५; उषा और अनिरुद्ध की कथा ७०५; कलिंगसेना की कौशाम्बी-यात्रा ७०६; यौगन्धरायण की कूटनीति ७१३।

षष्ठ तरंग ७१७–७४५

कलिंगसेना की कथा (क्रमशः) : मन्त्री यौगन्धरायण का कूटनीतिक प्रपंच ७१७; विष्णुदत्त और उसके सात साथियों की कथा ७२३; ऋषिकन्या कदलीगर्भा की कथा ७३१; नाई और राजा की कथा ७३७।

सप्तम तरंग ७४५–७७५

वत्सराज उदयन और कलिंगसेना की कथा (क्रमशः) ७४५; राजा श्रुतसेन की कथा ७४६; विद्युद्द्योता और राजा श्रुतसेन की कथा (क्रमशः) ७५३; उन्मादिनी और राजा देवसेन की कथा ७५५; मन्त्री यौगन्धरायण का राजनीतिक प्रपंच (क्रमशः) ७५७; उल्लू, नेवला, बिल्ली और चूहे की कथा ७६१; राजा प्रसेनजित् की कथा ७६५।

अष्टम तरंग ७७७–८१५

वत्सराज की कथा (अनुक्रमशः) ७७७; पतिव्रता वैश्यपत्नी की कथा ७७७; मदनमंचुका के जन्म की कथा ७८१; नरवाहनदत्त और मदनमंचुका का बाल्य-विलास ७८६; नरवाहनदत्त का यौवराज्याभिषेक ७६१; शत्रुघ्न और उसकी दुष्टा स्त्री की कथा ८०१; राजनीति का सार ८०१; राजा शूरसेन और उसके मन्त्रियों की कथा ८०५; नरवाहनदत्त और मदनमंचुका का विवाह ८११।

कथासरित्सागर
(प्रथम खण्ड)

कथापीठं नाम प्रथमो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना—
तपुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ।।

कथापीठ नामक प्रथम लम्बक[1]

नगेन्द्र-नन्दिनी पार्वती के प्रबल प्रणय-मन्दराचल के मन्थन द्वारा शिवजी के मुखरूपी समुद्र से निकले हुए इस कथारूपी अमृत का जो लोग आदर और आग्रहपूर्वक पान करते हैं; वे शिवजी की कृपा से निर्विघ्न सिद्धियों को प्राप्त कर, दिव्यपद लाभ करते हैं ।

---

१. लम्बक शब्द का पैशाची भाषा में मूल रूप लम्भक है । यह विश्रामस्थान के लिए प्रयुक्त किया गया है । प्रथम लम्बक में बृहत्कथा के प्रसार के लिए, राजा सातवाहन ने कथापीठ की स्थापना की थी और गुणाढ्य के शिष्यों—गुणदेव और नन्दिदेव—द्वारा इसका व्याख्यान किया गया । इसलिए, यह लम्बक कथापीठ है । कुछ लोगों का मत है कि यह लम्बक मूल लेखक गुणाढ्य द्वारा नहीं लिखा गया । इनकी रचना उनके शिष्यों या राजा सातवाहन ने की । विस्तृत विवरण भूमिका में देखिए ।—अनु०

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

श्रियं दिशतु वः शम्भोः श्यामः कण्ठो मनोभुवा ।
अङ्कस्थपार्वतीदृष्टिपाशैरिव विवेष्टितः ॥ १ ॥
सन्ध्यानृत्तोत्सवे ताराः कणोरेद्धूय विघ्नजित् ।
सीत्कारसीकरैरन्याः कल्पयन्निव पातु वः ॥ २ ॥
प्रणम्य वाचं निःशेषपदार्थोद्योतदीपिकाम् ।
बृहत्कथायाः सारस्य सङ्ग्रहं रचयाम्यहम् ॥ ३ ॥

प्रस्तावना

आद्यमत्र कथापीठं कथामुखमतः परम् ।
ततो लावानको नाम तृतीयो लम्बको भवेत् ॥ ४ ॥
नरवाहनदत्तस्य जननं च ततः परम् ।
स्याच्चतुर्दारिकाख्यश्च ततो मदनमञ्चुका ॥ ५ ॥
ततो रत्नप्रभा नाम लम्बकः सप्तमो भवेत् ।
सूर्यप्रभाभिधानश्च लम्बकः स्यादथाष्टमः ॥ ६ ॥
अलङ्कारवती चाथ ततः शक्तियशा भवेत् ।
वेलालम्बकसंज्ञश्च भवेदेकादशस्ततः ॥ ७ ॥
शशाङ्कवत्यपि तथा ततः स्यान्मदिरावती ।
महाभिषेकानुगतस्ततः स्यात्पञ्चलम्बकः ॥ ८ ॥
ततः सुरतमञ्जर्यप्यथ पद्मावती भवेत् ।
ततो विषमशीलाख्यो लम्बकोऽष्टादशो भवेत् ॥ ९ ॥
यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः ।
ग्रन्थविस्तरसङ्क्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते ॥१०॥
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते ।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना ॥११॥
वैदग्ध्यख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः ।
किन्तु नानाकथा-जाल-स्मृति-सौकर्य-सिद्धये ॥१२॥

प्रथम तरंग [1]

मंगलाचरण [2]

शिवजी की गोद में बैठी हुई पार्वती के दृष्टिपाशों से मानों कामदेव द्वारा वेष्टित शिवजी का श्यामवर्ण कण्ठ आपको सम्पत्ति प्रदान करे ।।१।।

सन्ध्याकालीन नृत्य के समय आकाश में बिखरी हुई प्राचीन तारिकाओं को सूँड़ के हटाकर, सीत्कार के बिन्दुओं से मानों नवीन तारिकाओं की सृष्टि करते हुए गणेशजी आपकी रक्षा करें ।।२।।

मैं समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए दीपशिखा (लौ) के समान सरस्वती भगवती को प्रणाम करके बृहत्कथा के सार का संग्रह करता हूँ ।।३।।

प्रस्तावना

इस संग्रह के प्रथम लम्बक का नाम कथापीठ, उसके अनन्तर दूसरे का नाम कथामुख लम्बक और तीसरे का नाम लावान(ण)क लम्बक[3] है ।।४।।

इसके अनन्तर नरवाहनदत्त नामक चतुर्थ लम्बक है। चतुर्दारिका लम्बक पाँचवाँ और मदनमंचुका लम्बक छठा है ।।५।।

इसके बाद रत्नप्रभा लम्बक सातवाँ और सूर्यप्रभा लम्बक आठवाँ है ।।६।।

इसके बाद नवाँ अलंकारवती लम्बक, दसवाँ लम्बक शक्तियशा और इसके अनन्तर ग्यारहवाँ वेला नामक लम्बक है ।।७।।

इसके पश्चात् बारहवाँ शशांकवती लम्बक, तेरहवाँ मदिरावती लम्बक, चौदहवाँ महाभिषेकवती लम्बक और पन्द्रहवाँ पंच लम्बक है ।।८।।

इसके अनन्तर सोलहवाँ सुरतमंजरी लम्बक, सत्रहवाँ पद्मावती लम्बक तथा अट्ठारहवाँ विषमशील नामक लम्बक है ।।९।।

मूल बृहत्कथा में जो कुछ है, उसी का इस ग्रन्थ में संग्रह किया गया है। मूलग्रन्थ से इसमें तनिक भी अन्तर नहीं है। हाँ, विस्तृत कथाओं को संक्षिप्तमात्र किया गया है और भाषा का भेद है, (उसकी भाषा पैशाची थी और इसकी संस्कृत है) ।।१०।।

मैंने यथासम्भव मूलग्रन्थ की औचित्य-परम्परा की रक्षा की है और कुछ नवीन काव्यांशों की योजना करते हुए भी मूलकथा के रस का विघात नहीं होने दिया है ।।११।।

मुझसे यह ग्रन्थ-निर्माण-प्रयत्न, पाण्डित्य-प्रसिद्धि के लोभ से नहीं किया गया है; किन्तु अनेक लम्बी कथाओं के जाल को स्मरण रखने की सुविधा से किया गया है ।।१२।।

---

१. तरंगों की रचना कथासरित्सागर के रचयिता श्रीसोमदेवभट्ट ने अवान्तर कथाओं के विभाग के लिए की है। मूल कथा में तरंग नाम का विभाग नहीं था; क्योंकि तरंग शब्द का समन्वय सागर के साथ उपयुक्त होता है।

२. कथासरित्सागर में कामदेव के अवतार नरवाहनदत्त का चरित्र और उसका विजय वर्णित है। अतः, कवि ने मंगलाचरण में ही काम की विजय की सूचना दी है।

३. सोमदेव ने लम्बकों का जो क्रम प्रदर्शित किया है, वह मूल बृहत्कथा के ही अनुसार है या स्वतन्त्र, इसका निर्णय नहीं है। इसके पूर्व महाकवि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी के नाम से बृहत्कथा का जो भावान्तर किया है, उसमें लम्बकों का क्रम सागर से भिन्न है। इसका विवरण भूमिका में देखिए।—अनु०

शिवपार्वतीसंवादः

अस्ति किन्नर-गन्धर्व-विद्याधर-निषेवितः ।
चक्रवर्त्ती गिरीन्द्राणां हिमवानिति विश्रुतः ॥१३॥
माहात्म्यमियतीभूमिमारूढं यस्य भूभृताम् ।
यद्भवानी सुताभावं त्रिजगज्जननी गता ॥१४॥
उत्तरं यस्य शिखरं कैलासाख्यो महागिरिः ।
योजनानां सहस्राणि बहून्याक्रम्य तिष्ठति ॥१५॥
मन्दरो मथितेऽप्यब्धौ न सुधा-सिततां गतः ।
अहं त्वयत्नादिति यो हसतीव स्वकान्तिभिः ॥१६॥
चराचरगुरुस्तत्र निवसत्यम्बिकासखः ।
गणैर्विद्याधरैः सिद्धैः सेव्यमानो महेश्वरः ॥१७॥
पिङ्गोत्तुङ्ग-जटाजूट-गतो यस्याश्नुते नवः ।
सन्ध्यापिशङ्ग-पूर्वाद्रि-शृङ्ग-सङ्ग-सुखं शशी ॥१८॥
येनान्धकासुरपतेरेकस्यार्पयता हृदि ।
शूलं त्रिजगतोऽप्यस्य हृदयाच्चित्रमुद्धृतम् ॥१९॥
चूडामणिषु यत्पादनखाग्रप्रतिमाङ्किताः ।
प्रसादप्राप्तचन्द्रार्धा इव भान्ति सुरासुराः ॥२०॥
तं कदाचित्समुत्पन्न-विस्रम्भा रहसि प्रिया ।
स्तुतिभिस्तोषयामास भवानी पतिमीश्वरम् ॥२१॥
तस्याः स्तुतिवचोहृष्टस्तामङ्कमधिरोप्य सः ।
किं ते प्रियं करोमीति बभाषे शशिशेखरः ॥२२॥
तत प्रोवाच गिरिजा प्रसन्नोऽसि यदि प्रभो ।
रम्यां काञ्चित्कथां ब्रूहि देवाद्य मम नूतनाम् ॥२३॥
भूतं भवद् भविष्यद् वा किं तत्स्याज्जगति प्रिये ।
भवती यन्न जानीयादिति शर्वोऽप्युवाच ताम् ॥२४॥
ततः सा वल्लभा तस्य निर्बन्धमकरोत्प्रभोः ।
प्रियप्रणयहेवाकि यतो मानवतीमनः ॥२५॥
ततस्तच्चाटुबुद्ध्यैव तत्प्रभावनिबन्धनताम् ।
तस्याः स्वल्पां कथामेवं शिवः सम्प्रत्यवर्णयत् ॥२६॥
अस्ति मामीक्षितुं पूर्वं ब्रह्मा नारायणस्तथा ।
महीं भ्रमन्तो हिमवत्पादमूलमवापतुः ॥२७॥

शिव और पार्वती का संवाद

किन्नर, गन्धर्व और विद्याधरों की निवासभूमि तथा समस्त कुलपर्वतों का सम्राट् हिमालय पर्वत प्रसिद्ध है ।।१३।।

पर्वतों में इस हिमालय का माहात्म्य इतना बढ़ा-चढ़ा है कि साक्षात् त्रिजगज्जननी पार्वती, उसकी पुत्री बनीं ।।१४।।

इस हिमालय का उत्तर शिखर कैलास नाम से प्रसिद्ध है, जो सहस्रों योजन के भू-भाग को आक्रान्त करके फैला है ।।१५।।

यह कैलास-शिखर, अपनी अमल-धवल कान्ति से मन्दराचल को हँसता है कि उसके द्वारा क्षीर-समुद्र का मन्थन होने पर भी वह मेरे समान सुधा-धवल न हो सका और मैं विना प्रयत्न से ही शुभ्र हूँ ।।१६।।

उस कैलास-शिखर पर, स्थावर-जंगम सृष्टि के स्वामी, विद्याधरों और सिद्धों से सेवित, महेश्वर शिव, पार्वती के साथ निवास करते हैं ।।१७।।

जिस शिवजी के पीतवर्ण एवं ऊँचे जटाजूट पर स्थित अभिनव चन्द्रमा उदयाचल के सन्ध्याकालीन पीतवर्ण की शोभा धारण करता है ।।१८।।

जिन शिवजी ने अन्धकासुर के हृदय में शूल भोंकते हुए एक साथ ही तीनों लोकों के हृदय से, शूल को, सदा के लिए निकाल दिया ।।१९।।

जिस शिव के चरणों में प्रणाम करने के कारण मुक्तामणियों में नख के अग्रभाग के प्रतिबिम्बित होने के कारण सुर और असुरराज ऐसे मालूम होते हैं कि उन्हें प्रसाद-रूप में अर्धचन्द्र प्राप्त हुआ हो ।।२०।।

किसी समय लोकनाथ स्वामी को एकान्त में बैठे देखकर उनकी प्राणवल्लभा पार्वती ने, उन्हें स्तुतियों से प्रसन्न किया ।।२१।।

पार्वती के स्तुति-वचनों से प्रसन्न होकर, अतः उसे गोद में बैठाकर चन्द्रशेखर शिवजी ने पूछा, 'कहो, मैं तुम्हारे लिए कौन-सा प्रिय कार्य करूँ' ।।२२।।

तब पार्वती ने कहा—'स्वामिन्, हे देव, यदि तुम मुझपर प्रसन्न हो, तो कोई नवीन कथा सुनाओ' ।।२३।।

यह सुनकर शिवजी ने कहा—'प्रिये, संसार में भूत, वर्त्तमान और भविष्य की कौन-सी ऐसी बात है, जिसे तुम न जानती हो' ।।२४।।

इतना कहने पर भी शिववल्लभा पार्वती ने, स्वामी से पुनः कथा सुनाने का आग्रह किया; क्योंकि मानिनी स्त्रियों का मन, सदा ही प्रियपति के प्रणय की अभिलाषा रखता है ।।२५।।

शिवजी ने पार्वती का आग्रह देखकर उसे प्रसन्न करने की दृष्टि से उसी (पार्वती) के सम्बन्ध की स्वल्प कथा का वर्णन किया ।।२६।।

एक बार ब्रह्मा और नारायण मेरे दर्शन के लिए निकले और सारी पृथ्वी पर घूमते हुए हिमालय की उपत्यका में आये ।।२७।।

ततो ददृशतुस्तत्र ज्वाला-लिङ्गं महत्पुरः ।
तस्यान्तमीक्षितुं प्रायादेक ऊर्ध्वमधोऽपरः ॥२८॥
अलब्धान्तौ तपोभिर्मां तोषयामासतुश्च तौ ।
आविर्भूय मया चोक्तौ वरः कोऽप्यर्थ्यतामिति ॥२९॥
तच्छ्रुत्वैवाब्रवीद् ब्रह्मा पुत्रो मेऽस्तु भवानिति ।
अपूज्यस्तेन जातोऽसावत्यारोहेण निन्दितः ॥३०॥
ततो नारायणो देवः स वरं मामयाचत ।
भूयासं तव शुश्रूषापरोऽहं भगवन्निति ॥३१॥
अतः शरीरभूतोऽसौ मम जातस्त्वदात्मना ।
यो हि नारायणः सा त्वं शक्तिः शक्तिमतो मम ॥३२॥
किं च मे पूर्वजायात्वमित्युक्तवति शङ्करे ।
कथं ते पूर्वजायाहमिति वक्ति स्म पार्वती ॥३३॥

पार्वत्याः पूर्वजन्मकथा

प्रत्युवाच ततो भर्गः पुरा दक्षप्रजापतेः ।
देवि ! त्वं च तथान्याश्च बह्व्योऽजायन्त कन्यकाः ॥३४॥
स मह्यं भवतीं प्रादाद्धर्मादिभ्यो पराश्च ताः ।
यज्ञे कदाचिताहूतास्तेन जामातरोऽखिलाः ॥३५॥
वर्जितस्त्वहमेवैकस्ततोऽपृच्छ्यत स त्वया ।
किं न भर्त्ता ममाहूतस्त्वया तातोच्यतामिति ॥३६॥
कपालमाली भर्त्ता ते कथमाहूयतां मखे ।
इत्युवाच गिरं सोऽथ त्वत्कर्ण-विष-सूचिकाम् ॥३७॥
पापोऽयमस्माज्जातेन किं देहेन ममामुना ।
इति कोपात्परित्यक्तं शरीरं तत्प्रिये ! त्वया ॥३८॥
स च दक्षमखस्तेन मन्युना नाशितो मया ।
ततो जाता हिमाद्रेस्त्वमब्धेश्चन्द्रकला यथा ॥३९॥
तथ स्मर तुषाराद्रिं तपोऽर्थमहमागतः ।
पिता त्वां च नियुङ्क्ते स्म शुश्रूषायै ममातिथेः ॥४०॥
तारकान्तक-मत्पुत्र-प्राप्तये प्रहितः सुरैः ।
लब्धावकाशोऽविध्यन्मां तत्र दग्धो मनोभवः ॥४१॥

हिमालय की तटवर्त्ती भूमि में उन्होंने अपने सामने एक महान् ज्वालामय लिंग को देखा। उसे देखकर और उसका अन्त देखने के लिए उन दोनों में से एक ऊपर की ओर और दूसरे नीचे की ओर चले ॥२८॥

जब वे दोनों ओर-छोर का पता न पा सके, तक श्रान्त होकर तपस्या द्वारा उन्होंने मुझे प्रसन्न किया और मैंने भी उसके सामने प्रकट होकर कहा कि 'वर माँगो' ॥२९॥

ऐसा सुनकर ब्रह्मा ने कहा कि 'आप मेरे पुत्र हों', इसी कारण (ऐसा ऊँचा वर माँगने के कारण) निन्दित होकर ब्रह्मा अपूज्य हो गये ॥३०॥

तब विष्णु ने मुझसे वर माँगा कि 'हे भगवन्! मैं सदा तुम्हारी सेवा में तत्पर रह सकूँ', ऐसा वर दीजिए ॥३१॥

तभी से वे नारायण तुम्हारे रूप में उत्पन्न होकर मेरे अर्धांग बने। शक्तिमान् मेरी शक्ति स्वयं नारायण हैं ॥३२॥

और तुम पूर्वजन्म की मेरी पत्नी हो, शंकरजी के ऐसा कहने पर पार्वती ने पूछा—'मैं पूर्वजन्म में तुम्हारी स्त्री कैसे हुई, यह बतलाओ' ॥३३॥

पार्वती के पूर्वजन्म की संक्षिप्त कथा

तब शिव ने उत्तर दिया—"देवि, प्राचीनकाल में दक्ष प्रजापति की तुम और अनेक कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥३४॥

दक्ष ने तुम्हें मेरे लिए दिया और धर्म आदि अन्य देवताओं को दूसरी कन्याएँ प्रदान कीं। एक बार उसने अपने यज्ञ में अपने सभी जामाताओं को निमन्त्रित किया ॥३५॥

जब उसने मुझे नहीं बुलाया, तब तुमने उससे पूछा कि 'हे पिता! तुमने मेरे पति को क्यों नहीं बुलाया?' ॥३६॥

तब दक्ष ने कहा—'मुण्डों की माला पहननेवाले (अपवित्र) तुम्हारे पति को पवित्र यज्ञ में कैसे बुलाया जाय'। उनके यह शब्द तुम्हारे कानों में जहरीली सुई के समान चुभे ॥३७॥

पिता का उत्तर सुनकर 'इस पापी शरीर से क्या लाभ'—ऐसा सोचकर तुमने क्रोध से उस शरीर का परित्याग कर दिया ॥३८॥

हे देवि, तुम्हारे शरीर-त्याग करने पर मैंने क्रुद्ध होकर उस दक्षयज्ञ को नष्ट कर दिया और उसके पश्चात् तुम हिमालय के घर में इस तरह उत्पन्न हुई, जैसे क्षीर-समुद्र से चन्द्रकला उत्पन्न हुई थी ॥३९॥

देवि, स्मरण करो, उसके अनन्तर मैं हिमालय पर्वत पर तप करने के लिए आया और तुम्हें तुम्हारे पिता ने, मुझ अतिथि की सेवा के लिए नियुक्त किया ॥४०॥

त्रिपुरासुर को मारने के लिए मेरे द्वारा पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से देवताओं द्वारा प्रेरित कामदेव उस अवसर पर मुझसे दग्ध किया गया था ॥४१॥

ततस्तीव्रेण तपसा क्रीतोऽहं धीरया त्वया ।
तच्च तत्सञ्चयायैव मया सोढं तव प्रिये! ॥४२॥
इत्थं मे पूर्वजाया त्वं किमन्यत्कथ्यते तव ।
इत्युक्त्वा विरते शम्भौ देवी कोपाकुलाब्रवीत् ॥४३॥

पार्वत्याः प्रणयकोपः

धूर्तस्त्वं न कथां हृद्यां कथयस्यर्थितोऽपि सन् ।
गङ्गां वहन्नमन्सन्ध्यां विदितोऽसि न किं मम ॥४४॥
तच्छ्रुत्वा प्रतिपेदेऽस्या विहितानुनयो हरः ।
कथां कथयितुं दिव्यां ततः कोपं मुमोच सा ॥४५॥
नेह कैश्चित्प्रवेष्टव्यमित्युक्तेन तया स्वयम् ।
निरुद्धे नन्दिना द्वारे हरो वक्तुं प्रचक्रमे ॥४६॥

पुनरपि कथोपक्रमः

एकान्तसुखिनो देवा मनुष्या नित्यदुःखिताः ।
दिव्यमानुषचेष्टा तु परभागे न हारिणी ॥४७॥
विद्याधराणां चरितमतस्ते वर्णयाम्यहम् ।
इति देव्या हरो यावद् वक्ति तावदुपागमत् ॥४८॥

कथावसरे पुष्पदन्तप्रवेशः

प्रसादवित्तकः शम्भोः पुष्पदन्तो गणोत्तमः ।
न्यषेधि च प्रवेशोऽस्या नन्दिना द्वारि तिष्ठता ॥४९॥
निष्कारणं निषेधोऽद्य ममापीति कुतूहलात् ।
अलक्षितो योगशक्त्या प्रविवेश स तत्क्षणात् ॥५०॥
प्रविष्टः श्रुतवान् सर्वं वर्ण्यमानं पिनाकिना ।
विद्याधराणां सप्तानामपूर्वं चरिताद्भुतम् ॥५१॥
श्रुत्वाथ गत्वा भार्यायै जयायै सोऽप्यवर्णयत् ।
विद्याधराणां सप्तानामपूर्वं चरिताद्भुतम् ॥५२॥
सापि तद्विद्ययाविष्टा गत्वा गिरिसुताग्रतः ।
जगौ जया प्रतीहारी स्त्रीषु वाक्संयमः कुतः ॥५३॥
ततश्चुकोप गिरिजा नापूर्वं वर्णितं त्वया ।
जानाति हि जयाप्येतदिति चेश्वरमभ्यधात् ॥५४॥

कामदहन के उपरान्त धैर्यशालिनी तुमने कठोर तप करके मुझे खरीद लिया और तुम्हारी प्राप्ति के लिए ही मैंने उसे सहन किया ॥४२॥

इस प्रकार पूर्व जन्म में तुम मेरी पत्नी थीं। अब और क्या कहूँ ?" इतना कहकर शिवजी के चुप हो जाने पर क्रुद्ध पार्वती बोली ॥४३॥

पार्वती का प्रणय-कोप

'तुम धूर्त्त हो, मेरी प्रार्थना पर भी मनोहर कथा नहीं सुना रहे हो। तुम, एक ओर गंगा को धारण किये हो और दूसरी ओर सन्ध्या को नमस्कार करते हो, यह मैं जानती हूँ' ॥४४॥

पार्वती के व्यंग्य-वचन सुनकर शिवजी ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और दिव्य कथा सुनाने का वचन दिया। इससे पार्वती प्रसन्न हुई ॥४५॥

शिवजी को उद्यत देखकर पार्वती ने स्वयं आज्ञा दी की यहाँ कोई न आये। आज्ञानुसार, नन्दी के द्वारा प्रवेश बन्द कर देने पर शिवजी ने कथा कहना प्रारम्भ किया ॥४६॥

पुनः कथा का उपक्रम

शिवजी कहने लगे—'हे देवि, देवता सदा सुखी रहते हैं और मनुष्य नित्य दुःखित रहते हैं। इसलिए उनके चरित्र उत्कृष्ट रूप से मनोहर नहीं होते। अतः, मैं दिव्य और मानुष दोनों प्रकृतियों से मिश्रित विद्याधरों का चरित्र तुम्हें सुनाता हूँ।' शिवजी यह कह ही रहे थे कि उसी समय उनका एक परम कृपापात्र, उनका मनोरंजन करनेवाला गण पुष्पदन्त आ गया और द्वार पर बैठे हुए नन्दी ने उसे रोका ॥४७, ४८, ४९॥

'विना करण ही मेरे ऐसे अन्तरंग व्यक्ति का भी निषेध किया जा रहा है' इस कौतूहल के कारण पुष्पदन्त योगशक्ति द्वारा तुरन्त अन्दर पहुँच गया ॥५०॥

उसने अन्दर प्रवेश कर शिवजी द्वारा वर्णन किये जाते हुए सात विद्याधरों के अपूर्व और अद्भुत चरित्र सुने ॥५१॥

पुष्पदन्त ने शिवजी के मुख से सुनकर सात विद्याधरों के उस अद्भुत चरित्रों को, जाकर अपनी पत्नी जया को सुनाया ॥५२॥

पुष्पदन्त की पत्नी तथा पार्वती की सखी जया ने पति (पुष्पदन्त) से सुने हुए सात विद्याधरों के चरित्र को पार्वती को सुनाया। भला स्त्रियों में वाणी का संयम कहाँ सम्भव है ! ॥५३॥

जया से यह कथा सुनकर पार्वती ने क्रोधपूर्वक शिवजी से कहा—'तुमने कोई अपूर्व कथा मुझे नहीं सुनाई, इस कथा को तो जया भी जानती है' ॥५४॥

प्रणिधानादथ ज्ञात्वा जगादेवमुमापतिः ।
योगी भूत्वा प्रविश्येमां पुष्पदन्तस्तथाशृणोत् ॥५५॥

पुष्पदन्तं प्रति पार्वतीशापः

जयायै वर्णितं तेन कोऽन्यो जानाति हे प्रिये !
श्रुत्वेत्यानाययद् देवी पुष्पदन्तमिति क्रुधा ॥५६॥
मर्त्यो भवाविनीतेति विह्वलं तं शशाप सा ।
माल्यवन्तं च विज्ञप्तिं कुर्वाणं तत्कृते गणम् ॥५७॥

शापान्तकथनम्

निपत्य पादयोस्ताभ्यां जयया सह बोधिता ।
शापान्तं प्रति शर्वाणी शनैर्वचनमब्रवीत् ॥५८॥
विन्ध्याटव्यां कुबेरस्य शापात्प्राप्तः पिशाचताम् ।
सुप्रतीकाभिधो यक्षः काणभूत्याख्यया स्थितः ॥५९॥
तं दृष्ट्वा संस्मरन् जातिं यदा तस्मै कथामिमाम् ।
पुष्पदन्त ! प्रवक्तासि तदा शापाद् विमोक्ष्यसे ॥६०॥
काणभूतेः कथां तां तु यदा श्रोष्यसि माल्यवान् ।
काणभूतौ तदा मुक्ते कथां प्रख्याप्य मोक्ष्यसे ॥६१॥
इत्युक्त्वा शैलतनया व्यरमत्तौ च तत्क्षणात् ।
विद्युत्पुञ्जाविव गणौ दृष्टनष्टौ बभूवतुः ॥६२॥
अथ जातु याति काले गौरी पप्रच्छ शङ्करं सदया ।
देव मया तौ शप्तौ प्रमथवरौ कुत्र भुवि जातौ ॥६३॥
अवदच्च चन्द्रमौलिः कौशाम्बीत्यस्ति या महानगरी ।
तस्यां स पुष्पदन्तो वररुचिनामा प्रिये ! जातः ॥६४॥
अन्यच्च माल्यवानपि नगरवरे सुप्रतिष्ठिताख्ये सः ।
जातो गुणाढ्यनामा देवि ! तयोरेष वृत्तान्तः ॥६५॥
एवं निवेद्य स विभुः सततानुवृत्त-
भृत्यावमानन-विभावन-सानुतापाम् ।
कैलासशैल-तट-कल्पित-कल्पवल्ली-
लीलागृहेषु दयितां रमयन्नुवास ॥६६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके प्रथमस्तरङ्गः ।

शिवजी ने समाधि द्वारा वस्तुस्थिति को समझकर पार्वती से कहा—'जब मैं तुम्हें कथा सुना रहा था, उस समय पुष्पदन्त ने योग द्वारा अलक्षित रूप से अन्दर जाकर उसे सुना था, अन्यथा जया कैसे जानती ?' ॥५५॥

पुष्पदन्त और माल्यवान् को पार्वती का शाप

प्रिये ! उसी पुष्पदन्त ने सारी कथा अपनी पत्नी जया को सुना दी। अन्यथा इस कथा को कौन जानता है। यह सुनकर पार्वती ने अत्यन्त क्रोध के साथ पुष्पदन्त को बुलवाया ॥५६॥

व्याकुल हुए पुष्पदन्त को तथा उसे क्षमा करने की प्रार्थना करते हुए माल्यवान् नामक गण को पार्वती नें शाप दिया की तुम लोग मनुष्य-योनि में उत्पन्न हो ॥५७॥

शापान्त की घोषणा

जब वे दोनों गण जया के साथ पार्वती के चरणों में गिरकर, क्षमा-प्रार्थना करने लगे, तब पार्वती ने शाप के अन्त की घोषणा करते हुए कहा—॥५८॥

"सुप्रतीक नाम का यक्ष, कुबेर के शाप से विन्ध्यारण्य में पिशाच बनकर रहता है, जो काणभूति के नाम से प्रसिद्ध है ॥५९॥

हे पुष्पदन्त, जब तुम उस काणभूति को देखकर अपने पूर्वजन्म का स्मरण करोगे और यह कथा उसे सुनाओगे, तब शाप से मुक्त हो जाओगे ॥६०॥

यह माल्यवान् जब काणभूति से इस कथा को सुनकर प्रसारित करेगा, तब काणभूति के मुक्त होने पर यह भी मुक्त हो जायगा" ॥६१॥

ऐसा कहकर नग-नन्दिनी पार्वती चुप हो गई और वे दोनों गण, उसी क्षण देखते-देखते ही अन्तर्धान हो गये ॥६२॥

तदनन्तर, कुछ समय बीतने पर पार्वती ने करुणायुक्त होकर शिव से पूछा कि—'देव ! मुझसे शापित हो वे दोनों गण कहाँ उत्पन्न हुए ? ॥६३॥

तब चन्द्रशेखर शिव ने कहा —"प्रिये ! कौशाम्बी[1] नाम की जो महानगरी है, उसमें पुष्पदन्त वररुचि के नाम से उत्पन्न हुआ है ॥६४॥

और, वह माल्यवान् गण भी, सुप्रतिष्ठित नाम के नगर में, गुणाढ्य नाम से उत्पन्न हुआ है—यही उन दोनों का वृत्तान्त है" ॥६५॥

भगवान् शिव, इसप्रकार कहकर, निरन्तर सेवा-निरत सेवकों के अपमान से सन्तप्त पार्वती का मनोविनोद करते हुए, कैलास-तट पर बने हुए कल्प-लता कुंज के गृहों में निवास करने लगे ॥६६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर का कथापीठ लम्बक नामक प्रथम तरंग समाप्त ।

---

१. पाण्डव-वंश के राजाओं ने हस्तिनापुर को छोड़कर 'कौशाम्बी' को अपनी राजधानी बनाया था। उस नगरी की स्थिति के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है। किन्तु, आजकल यह सिद्धान्त प्रायः स्थिर है कि प्रयाग से पश्चिम १४ मील की दूरी पर स्थित 'कोसम' गाँव ही प्राचीन कौशाम्बी है। यहाँ एक महानगर के अनेक ध्वंसावशेष मिले हैं। महात्मा बुद्ध ने भी यहाँ निवास किया था। पुरातत्त्वविभाग द्वारा खुदाई करने पर प्राचीन नगरी के तथा बुद्ध-सम्बन्धी अवशेष प्राप्त हुए हैं।—अनु०

द्वितीयस्तरङ्गः

वररुचेर्विन्ध्यवासिनीं प्रति गमनम्

ततः स मर्त्यवपुषा पुष्पदन्तः परिभ्रमन् ।
नाम्ना वररुचिः किञ्च कात्यायन इति श्रुतः ॥ १ ॥
पारं सम्प्राप्य विद्यानां कृत्वा नन्दस्य मन्त्रिताम् ।
खिन्नः समाययौ द्रष्टुं कदाचिद् विन्ध्यवासिनीम् ॥ २ ॥
तपसाराधिता देवी स्वप्नादेशेन सा च तम् ।
प्राहिणोद् विन्ध्यकान्तारं काणभूतिमवेक्षितुम् ॥ ३ ॥
व्याघ्रवानरसङ्कीर्णं निस्तोयपरुषद्रुमे ।
भ्रमंस्तत्र च स प्रांशुं न्यग्रोधतरुमैक्षत ॥ ४ ॥

वररुचेः काणभूतिना समागमः

ददर्श च समीपेऽस्य पिशाचानां शतैर्वृतम् ।
काणभूतिं पिशाचं तं वर्ष्मणा सालसन्निभम् ॥ ५ ॥
स काणभूतिना दृष्ट्वा कृतपादोपसंग्रहः ।
कात्यायनो जगादैनमुपविष्टः क्षणान्तरे ॥ ६ ॥
सदाचारो भवानेवं कथमेतां गतिं गतः ।
तच्छ्रुत्वा कृतसौहार्दं काणभूतिस्तमब्रवीत् ॥ ७ ॥

काणभूतिर्वर्णिता शिवोक्ता कथा

स्वतो मे नास्ति विज्ञानं किं तु शर्वान्मया श्रुतम् ।
उज्जयिन्यां श्मशाने यच्छृणु तत्कथयामि ते ॥ ८ ॥
कपालेषु श्माशानेषु कस्माद्देव ! रतिस्तव ।
इति पृष्टस्ततो देव्या भगवानिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥
पुरा कल्पक्षये वृत्ते जातं जलमयं जगत् ।
मया ततो विभिद्योरुं रक्तबिन्दुर्निपातितः ॥१०॥
जलान्तस्तदभूदण्डं तस्माद्द्वेधाकृतात्पुमान् ।
निरगच्छत्ततः सृष्टा सर्गाय प्रकृतिर्मया ॥११॥
तौ च प्रजापतीनन्यान् सृष्टवन्तौ प्रजाश्च ते ।
अतः पितामहः प्रोक्तः स पुमान्जगति प्रिये ! ॥१२॥
एवं चराचरं सृष्ट्वा विश्वं दर्पमगादसौ ।
पुरुषस्तेन मूर्धानमथैतस्याहमच्छिदम् ॥१३॥

द्वितीय तंरग

वररुचि (पुष्पदन्त) की कथा

मानव-शरीर धारण किये हुए पुष्पदन्त नामक गण वररुचि[१] एवं कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१॥

समस्त विद्याओं का पूर्ण अध्ययन तथा सम्राट् नन्द का मन्त्रित्व करके वह (कात्यायन) एक बार खिन्न होकर विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन करने के लिए आया ॥२॥

तपस्या से आराधित विन्ध्यवासिनी देवी ने स्वप्न में वररुचि को एक आदेश दिया। उस आदेश के अनुसार वह काणभूति को देखने के लिए विन्ध्यारण्य में गया ॥३॥

बाघ और वानरों से भरे हुए, जल-रहित एवं रूखे वृक्षों से व्याप्त उस विन्ध्यारण्य में उसने अत्यन्त ऊँचे और विस्तृत बरगद-वृक्ष को देखा ॥४॥

पुष्पदन्त ने उस वटवृक्ष के पास सैकड़ों पिशाचों से घिरे हुए सालवृक्ष के समान लम्बे काणभूति को देखा ॥५॥

काणभूति ने कात्यायन को देखकर उसके चरण छूकर प्रणाम किया और कुछ समय के उपरान्त विश्राम कर लेने पर कात्यायन ने काणभूति से पूछा ॥६॥

'हे काणभूते ! ऐसे सदाचारी होकर तुम ऐसी हीन गति को कैसे प्राप्त हुए ?' कात्यायन के स्नेहपूर्ण प्रश्न को सुनकर काणभूति ने कहा ॥७॥

मुझे स्वयं यह ज्ञात नहीं है कि मैं इस गति को कैसे प्राप्त हुआ, किन्तु उज्जयिनी नगरी में—श्मशान में—शिवजी से जो मैंने सुना है, वह तुम्हें कहता हूँ, सुनो ॥८॥

एक बार पार्वती के यह पूछने पर कि 'भगवन्! कपाल-मुण्डों से और श्मशानों से तुम्हें अधिक प्रेम क्यों हैं ?' शिवजी ने उत्तर दिया ॥९॥

'प्राचीनकाल में प्रलय उपस्थित होने पर सारा संसार जलमय हो गया था। उस समय मैंने अपनी जाँघ को चीरकर उस जल में रक्त की एक बूँद डाल दी ॥१०॥

वह रक्त-बिन्दु जल के भीतर अण्डे के रूप में परिणत हो गया। उसे फोड़ने पर उसमें से एक पुरुष निकला। उस पुरुष को देखकर सृष्टि के लिए मैंने प्रकृति की रचना की ॥११॥

इस प्रकार, उन दोनों ने अन्यान्य प्रजापतियों को उत्पन्न किया और उन प्रजापतियों ने अन्य प्रजाओं का उत्पादन किया। इसलिए, हे देवि ! वह प्रथम पुरुष सबसे पुराना होने के कारण जगत् में पितामह के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१२॥

इस प्रकार, चर और अचर विश्व का सर्जन कर उस पुरुष को यह दर्प हो गया कि 'मैंने इतनी बड़ी रचना कर डाली।' उसके दर्प से क्रुद्ध होकर मैंने उस पुराण-पुरुष का सिर काट डाला ॥१३॥

---

१. वररुचि, प्राचीन महावैयाकरण है। उसका दूसरा नाम कात्यायन भी हैं, जो उसके गोत्र से सम्बन्ध रखता है। इस नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं। इसका विवेचन परिशिष्ट प्रकरण में किया गया है।—अनु०

ततोऽनुतापेन मया महाव्रतमगृह्यत ।
अतः कपालपाणित्वं श्मशानप्रियता च मे ॥१४॥
किं चैतन्मे कपालात्म जगद्देवि ! करे स्थितम् ।
पूर्वोक्ताण्डकपाले द्वे रोदसी[1] परिकीर्त्तिते ॥१५॥
इत्युक्ते शम्भुना तत्र श्रोष्यामीति सकौतुके ।
स्थिते मयि ततो भूयः पार्वती पतिमभ्यधात् ॥१६॥
स पुष्पदन्तः कियता कालेनास्मानुपैष्यति ।
तदाकर्ण्याब्रवीद्देवीं मामुद्दिश्य महेश्वरः ॥१७॥
पिशाचो दृश्यते योऽयमेष वैश्रवणानुगः ।
यक्षो मित्रमभूच्चास्य रक्षः स्थूलशिरा इति ॥१८॥
सङ्गतं तेन पापेन निरीक्ष्यैनं धनाधिपः ।
विन्ध्याटव्यां पिशाचत्वमादिशद् धनदेश्वरः ॥१९॥
भ्रात्रास्य दीर्घजङ्घेन पतित्वा पादयोस्ततः ।
शापान्तं प्रति विज्ञप्तो वदति स्म धनाधिपः ॥२०॥
शापावतीर्णादाकर्ण्य पुष्पदन्तान्महाकथाम् ।
उक्त्वा माल्यवते तां च शापात्प्राप्ताय मर्त्यताम् ॥२१॥
ताभ्यां गणाभ्यां सहितः शापमेनं तरिष्यति ।
इतीह धनदेनास्य शापान्तो विहितस्तदा ॥२२॥
त्वया च पुष्पदन्तस्य स एवेति स्मरप्रिये ।
एतच्छ्रुत्वा वचः शम्भोः सहर्षोऽहमिहागतः ॥२३॥
इत्थं मे शापदोषोऽयं पुष्पदन्तागमावधिः ।
इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् काणभूतौ च तत्क्षणम् ॥२४॥
स्मृत्वा वररुचिर्जातिं सुप्तोत्थित इवावदत् ।
स एव पुष्पदन्तोऽहं मत्तस्तां च कथां शृणु ॥२५॥
इत्येवं ग्रन्थलक्षाणि सप्त सप्त महाकथाः ।
कात्यायनेन कथिताः काणभूतिस्ततोऽब्रवीत् ॥२६॥
देव ! रुद्रावतारस्त्वं कोऽन्यो वेत्ति कथामिमाम् ।
त्वत्प्रसादाद् गतप्रायः स शापो मे शरीरतः ॥२७॥

---

१. द्यावापृथिव्यौ रोदस्यौ—इत्यमरः ।

उस हत्या के लिए मुझे पश्चात्ताप हुआ और तब मैंने यह महान् व्रत धारण किया कि सर्वदा कपाल धारण करूँगा और श्मशान में निवास करूँगा ।।१४।।

हे देवि ! दूसरी बात यह भी है कि यह कपाल-रूपी समस्त संसार सदा मेरे हाथ में रहता है। पहले कहा हुआ अण्डा और यह कपाल दोनों ही आकाश और पृथ्वी कहे जाते हैं ।।१५।।

शिवजी के इस प्रकार कहने पर फिर 'मैं भी कौतूहल से सुनूँगा'—ऐसा सोच ही रहा था कि —पार्वती ने पुनः शंकरजी से कहा ।।१६।।

'वह पुष्पदन्त गण कितने दिनों में लौटकर हमारे पास आयगा ?'—पार्वती का यह प्रश्न सुनकर महादेव ने मुझे लक्ष्य करके कहा ।।१७।।

यहाँ कुबेर का अनुचर, जो यह पिशाच दीख रहा है, उसका मित्र स्थूलशिरा नामक राक्षस है ।।१८।।

धनपति कुबेर ने उस यक्ष (काणभूति) को इस पापी राक्षस (स्थूलशिरा) की संगति में देखकर शाप दिया कि 'तू विन्ध्यारण्य में पिशाच बनेगा' ।।१६।।

इसके बड़े भाई दीर्घजंघ ने जब कुबेर के चरणों में पड़कर शाप का अन्त करने की प्रार्थना की, तब कुबेर ने कहा ।।२०।।

'शाप से पृथ्वी पर अवतीर्ण पुष्पदन्त गण के द्वारा जब यह महाकथा को सुनेगा और इसी प्रकार शाप से मनुष्यता को प्राप्त कर माल्यवान् की समस्त कथा प्रदान करेगा (सुनायगा) ।।२१।।

तब उन दोनों शाप-मुक्त गणों के साथ इस काणभूति का भी शाप-मोचन होगा ।' इस प्रकार कुबेर ने शाप का अन्त किया ।।२२।।

"हे प्रिये ! काणभूति से मिलते ही पुष्पदन्त के शाप का अन्त हो जायगा, ऐसा तुमने कहा था, इसे स्मरण करो ।" शिव के इस वचन को सुनकर मैं हर्ष के साथ यहाँ आया ।।२३।।

इस प्रकार मेरा शापदोष पुष्पदन्त के मिलने तक था । ऐसा कहकर काणभूति के मौन होने पर उसी समय पूर्वजन्म का स्मरण करके वररुचि मानों नींद से जगा और बोला — 'मैं वही पुष्पदन्त हूँ । मुझसे वह कथा सुनो ।' ।।२४-२५।।

इस प्रकार कात्यायन ने सात लाख श्लोकों में सात महाकथाएँ काणभूति से कहीं । उन्हें सुनकर काणभूति ने कहा ।।२६।।

हे देव ! तुम सचमुच रुद्र के अवतार हो। उनके अतिरिक्त इन कथाओं को अन्य कौन जानता है । तुम्हारी कृपा से मेरे शरीर से पिशाचत्व का शाप निकल रहा है ।।२७।।

तद् ब्रूहि निजवृत्तान्तं जन्मनः प्रभृति प्रभो ।
मां पवित्रय भूयोऽपि न गोप्यं यदि मादृशे ॥२८॥
ततो वररुचिस्तस्य प्रणतस्यानुरोधतः ।
सर्वमाजन्मवृत्तान्तं वितरादिदमब्रवीत् ॥२९॥
कौशाम्ब्यां सोमदत्ताख्यो नाम्नाग्निशिख इत्यपि ।
द्विजोऽभूत्तस्य भार्या च वसुदत्ताभिधाभवत् ॥३०॥
मुनिकन्या च सा शापात्तस्यां जातावबातरत् ।
तस्यां तस्माद् द्विजवरादेष जातोऽस्मि शापतः ॥३१॥
ततो ममातिबालस्य पिता पञ्चत्वमागतः ।
अतिष्ठद् वर्द्धयन्ती तु माता मां कृच्छ्रकर्मभिः ॥३२॥
अथाभ्यगच्छतां विप्रौ द्वावस्मद्गृहमेकदा ।
एकरात्रिनिवासार्थं दूराध्वपरिधूसरौ ॥३३॥
तिष्ठतोस्तत्र च तयोरुदभून्मुरजध्वनिः ।
तेन मामब्रवीन्माता भर्त्तुः स्मृत्वा सगद्गदम् ॥३४॥
नृत्यत्येष पितुर्मित्रं तव नन्दो नटः सुत !
अहमप्यवदन्मातर्द्रष्टुमेतद्व्रजाम्यहम् ॥३५॥
तवापि दर्शयिष्यामि सपाठं सर्वमेव तत् ।
एतन्मद्वचनं श्रुत्वा विप्रौ तौ विस्मयं गतौ ॥३६॥
अवोचतौ च मन्माता हे पुत्रौ ! नात्र संशयः ।
सकृच्छ्रुतमयं बालः सर्वं वै धारयेद्धृदि ॥३७॥
जिज्ञासार्थमथाभ्यां मे प्रातिशाख्य[1]मपठ्यत ।
तथैव तन्मया सर्वं पठितं पश्यतोस्तयोः ॥३८॥
ततस्ताभ्यां समं गत्वा दृष्ट्वा नाट्यं तथैव तत् ।
गृहमेत्याग्रतो मातुः समग्रं दर्शितं मया ॥३९॥
एकश्रुतधरत्वेन मां निश्चित्य कथामिमाम् ।
व्याडिनामा[2] तयोरेको मन्मातुः प्रणतोऽब्रवीत् ॥४०॥

---

१. वैदिकं व्याकरणम् । २. व्याडिरयं संग्रहाख्यस्य ग्रन्थस्य प्रणेता एतद् विषये परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

इसलिए, हे देव ! तुम जन्म से लेकर आजतक का अपना समस्त वृत्तान्त यदि मुझ-जैसे व्यक्ति से, गोपनीय न हो तो, कहो और मुझे पुनः पवित्र करो ।।२८।।

इसके अनन्तर नम्रतापूर्वक अनुरोध करते हुए काणभूति से वररुचि ने विस्तारपूर्वक अपना वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया ।।२९।।

वररुचि की जन्म-कथा

कौशाम्बी नगरी में सोमदत्त नाम का एक ब्राह्मण था । उसे अग्निशिख भी कहते थे । उसकी पत्नी का नाम वसुदत्ता था ।।३०।।

वसुदत्ता पूर्वजन्म में मुनि-कन्या थी, जो शाप के कारण मानव-जाति में उत्पन्न हुई थी । उसी वसुदत्ता के गर्भ से मेरी उत्पत्ति हुई ।।३१।।

मेरे शैशव में ही मेरे पिता परलोकवासी हो गये । अतः, मेरी माता ने बड़े ही क्लेश के साथ मेरा पालन-पोषण किया ।।३२।।

एक बार हमारे घर में लम्बे मार्ग-श्रम से श्रान्त दो ब्राह्मण एक रात निवास के लिए आये ।।३३।।

उनके हमारे यहाँ रहत हुए एक बार मृदंग की ध्वनि हुई । उसे सुनकर मेरी मात अपने पति का स्मरण करके गद्गद स्वर में बोलीं ।।३४।।

'बेटा! तुम्हारे पिता का मित्र नन्द नाम का नट नाच रहा है ।' मैंने भी कहा 'माता ! मैं उसका नाच देखने जाता हूँ' ।।३५।।

मैं उसका नाच देखकर उसके अक्षरशः कथोपकथन के साथ अभिनय करते हुए तुम्हें भी दिखाऊँगा । मेरी यह बात सुनकर वे दोनों ब्राह्मण अति आश्चर्यान्वित हुए ।।३६।।

उन्हे चकित देखकर मेरी माता बोलीं—'हे पुत्रो ! यह बालक एक बार जो कुछ सुन लेता है, उसे हृदय में धारण कर लेता है, इसमें कोई संशय नहीं' ।।३७।।

उन्होंने मेरी परीक्षा के लिए प्रातिशाख्य[1] (वैदिक व्याकरण) पढ़ाया और मैंने उनके सामने ही उसे यथावत् सुना दिया ।।३८।।

इसके अनन्तर मैंने उन दोनों के साथ जाकर नन्द नट का नाच देखा और घर आकर माता के सामने सम्पूर्ण नाटक वैसा ही दिखा दिया, जैसा देखा था ।।३९।।

एक बार सुनकर स्मरण रखनेवाला मुझे जानकर उन दोनों अतिथियों में एक व्याडि[2] नामक ब्राह्मण मेरी माता को प्रणाम करके बोला ।।४०।।

---

१. वैदिक व्याकरण का एक ग्रन्थ, जिसमें उच्चारण-सम्बन्धी वैदिक व्याकरण के नियम लिखे है ।

२. व्याडि ने व्याकरण-शास्त्र पर 'संग्रह' नामक महाग्रन्थ लिखा है । इसका विवेचन, परिशिष्ट प्रकरण में देखिए ।—अनु०

व्याडेः कथा

वेतसाख्ये पुरे मातर्देवस्वामिकरम्भकौ ।
अभूतां भ्रातरौ विप्रावतिप्रीतौ परस्परम् ॥४१॥
तयोरेकस्य पुत्रोऽयमिन्द्रदत्तो[1]ऽपरस्य च ।
अहं व्याडिः समुत्पन्नो मत्पितास्तं गतस्ततः ॥४२॥
तच्छोकादिन्द्रदत्तस्य पिता यातो महापथम् ।
अस्मज्जनन्योश्च ततः स्फुटितं हृदयं शुचा ॥४३॥
तेनानाथौ सति धनेऽप्यावां विद्याभिकाङ्क्षिणौ ।
गतौ प्रार्थयितुं स्वामिकुमारं तपसा ततः ॥४४॥
तपःस्थितौ च तत्रावां स स्वप्ने प्रभुरादिशत् ।
अस्ति पाटलिकं नाम पुरं नन्दस्य भूपतेः ॥४५॥
तत्रास्ति चैको वर्षाख्यो[2] विप्रस्तस्मादवाप्स्यथः ।
कृत्स्नां विद्यामतस्तत्र युवाभ्यां गम्यतामिति ॥४६॥
अथावां तत्पुरं यातौ पृच्छतोस्तत्र चावयोः ।
अस्तीह मूर्खो वर्षाख्यो विप्र इत्यवदज्जनः ॥४७॥
ततो दोलाधिरूढेन गत्वा चित्तेन तत्क्षणम् ।
गृहमावामपश्याव वर्षस्य विधुरस्थिति ॥४८॥
मूषकैः कृतवल्मीकं भित्तिविश्लेषजर्जरम् ।
विच्छायं छदिषा हीनं जन्मक्षेत्रमिवापदाम् ॥४९॥
तत्र ध्यानस्थितं वर्षमालोक्याभ्यन्तरे तदा ।
उपागतौ स्वस्तत्पत्नीं विहितातिथ्यसत्क्रियाम् ॥५०॥
धूसरक्षामवपुषं विशीर्णमलिनाम्बराम् ।
गुणरागागतां तस्य रूपिणीमिव दुर्गतिम् ॥५१॥
प्रणामपूर्वमावाभ्यां तस्यै सोऽथ निवेदितः ।
स्ववृत्तान्तश्च तद्भर्तृमौर्ख्यवार्त्ता च या श्रुता ॥५२॥
पुत्रौ युवां मे का लज्जा श्रूयतां कथयामि वाम् ।
इत्युक्त्वा सावयोः साध्वी कथामेतामवर्णयत् ॥५३॥

वर्ष-चरित्रम्

शङ्करस्वामिनामात्र नगरेऽभूद्द्विजोत्तमः ।
मद्भर्त्ता चोपवर्षश्च तस्य पुत्राविमावुभौ ॥५४॥

---

१. इन्द्रदत्तविषयेऽपि परिशिष्टेऽवलोकनीयम् । २. वर्षोऽयं पाणिनेरुपाध्याय इति प्रवादः । तद्विषयेऽपि परिशिष्टे विवरणं द्रष्टव्यम् ।

व्याडि की कथा

हे माता ! वेतस नामक नगर में देवस्वामी और करम्भक नाम के दो ब्राह्मण भाई थे, वे परस्पर अत्यन्त प्रेमपूर्वक रहते थे ।।४१।।

उन दोनों में एक का पुत्र यह इन्द्रदत्त और दूसरे का पुत्र व्याडि नामक मैं हूँ । मेरे जन्म के पश्चात् मेरे पिता का देहान्त हो गया ।।४२।।

भाई के शोक से इन्द्रदत्त के पिता भी स्वर्ग को प्रयाण कर गये । पतियों के शोक से हम दोनों की माताओं के हृदय भी विदीर्ण हो गये, अर्थात् वे मर गईं ।।४३।।

इस प्रकार, हम दोनों अनाथ हो गये । धन होने पर भी विद्या-प्राप्ति की अभिलाषा से हमलोग तपस्या द्वारा स्वामी कार्त्तिक को प्रसन्न करने गये ।।४४।।

तपस्या करते हुए हमलोगों को स्वप्न में स्वामी कार्त्तिक ने आदेश दिया कि राजा नन्द का पाटलिपुत्र नामक एक नगर है ।।४५।।

उस नगर में 'वर्ष' नाम का एक ब्राह्मण है । उसके समीप जाकर तुमलोग समस्त विद्याओं को प्राप्त कर सकते हो, अतः तुम दोनों वहीं जाओ ।।४६।।

ऐसा जानकर हम दोनों पाटलिपुत्र गये । वहाँ पूछने पर ज्ञात हुआ कि यहाँ, 'वर्ष' नाम का एक मूर्ख रहता है । ऐसा आश्चर्यजनक समाचार लोगों ने दिया ।।४७।।

तब भी, संशयान्वित मन से उसी समय हमलोगों ने जाकर वर्ष के जीर्ण-शीर्ण और पुराने घर को देखा ।।४८।।

वर्ष का घर चूहे के बिलों और सन्धिविहीन भित्तियों के कारण टूटे-फूटे छप्परों से भी हीन ऐसा लगता था, मानों आपत्तियों का जन्मस्थान हो ।।४९।।

उस मकान के भीतर हमलोगों ने ध्यानमग्न वर्ष को देखा । उसके पश्चात् हम आतिथ्य-सत्कार करनेवाली उसकी स्त्री के समीप गये ।।५०।।

भूरे और रूखे शरीरवाली, फटे-पुराने और मलिन वस्त्र पहिने हुई मूर्त्तिमती दुर्गति के समान उसकी स्त्री थी ।।५१।।

उसकी पत्नी को प्रणाम कर हमलोगों ने अपने आने का कारण और समाचार कहा और यह भी कह दिया कि सारे नगर में आपके पति मूर्ख-रूप में कुख्यात हैं ।।५२।।

हमारी बातें सुनकर वर्ष की पत्नी ने कहा--'पुत्रो ! तुम मेरे पुत्र के समान हो । तुमसे लज्जा या संकोच करने की क्या आवश्यकता है । ऐसा कहकर उस पतिव्रता ने हमें यह कथा सुनाई ।।५३।।

वर्ष का चरित्र

इस पाटलिपुत्र नगर में शंकरस्वामी नाम का एक ब्राह्मण था । उसके दो पुत्र हुए, एक मेरा पति वर्ष और दूसरा उपवर्ष ।।५४।।

अयं मूर्खो दरिद्रश्च विपरीतोऽस्य चानुजः ।
नेन चास्य नियुक्ताभूत् स्वभार्या गृहपोषणे ॥५५॥
कदाचिदथ सम्प्राप्ता प्रावृट् तस्यां च योषितः ।
सगुडं पिष्टरचितं गुह्यरूपं जुगुप्सितम् ॥५६॥
कृत्वा मूर्खाय विप्राय ददत्येव कृते हि ताः ।
शीतकाले निदाघे च स्नानक्लेशक्लमापहम् ॥५७॥
दत्तं न प्रतिपद्यन्त इत्याचारो हि कुत्सितः ।
तद्देवरगृहिण्या मे दत्तमस्मै सदक्षिणम् ॥५८॥
तद्गृहीत्वायमायातो मया निर्भर्त्सितो भृशम् ।
मूर्खभावकृतेनान्तर्मन्युना पर्यतप्यत ॥५९॥
ततः स्वामिकुमारस्य पादमूलं गतोऽभवत् ।
तपस्तुष्टेन तेनास्य सर्वा विद्याः प्रकाशिताः ॥६०॥
सकृच्छ्रुतधरं विप्रं प्राप्यैतास्त्वं प्रकाशयेः ।
इत्यादिष्टः स तेनैव सहर्षोऽयमिहागतः ॥६१॥
आगत्यैव च वृत्तान्तं सर्वं मह्यं न्यवेदयत् ।
तदा प्रभुत्यविरतं जपन्ध्यायंश्च तिष्ठति ॥६२॥
अतः श्रुतधरं कञ्चिदन्विष्यानयतं युवाम् ।
तेन सर्वार्थसिद्धिर्वां भविष्यति न संशयः ॥६३॥
श्रुत्वैतद्वर्षपत्नीतस्तूर्णं दौर्गत्यहानये ।
दत्वा हेमशतं चास्यै निर्गतौ स्वस्ततः पुरात् ॥६४॥
अथावां पृथिवीं भ्रान्तौ न च श्रुतधरं क्वचित् ।
लब्धवन्तौ ततः श्रान्तौ प्राप्तावद्य गृहं तव ॥६५॥
एकश्रुतधरः प्राप्तो बालोऽयं तनयस्तव ।
तदेनं देहि गच्छावो विद्याद्रविण[1]-सिद्धये ॥६६॥
इति व्याडिवचः श्रुत्वा मन्माता सादराऽवदत् ।
सर्वं सङ्गतमेवैतदस्त्यत्र प्रत्ययो मम ॥६७॥
तथाहि पूर्वं जातेऽस्मिन्नेकपुत्रे मम स्फुटा ।
गगनादेवमुदभूदशरीरा सरस्वती ॥६८॥

---

१. विद्यारूपं यद् द्रविणं—धनं, तस्य लाभायेत्यर्थः ।

उन दोनों में बड़ा पुत्र मूर्ख और दरिद्र था। छोटा उपवर्ष इसके विपरीत विद्वान् और धनी हुआ। उस उपवर्ष ने प्रारम्भ में वर्ष के घर की व्यवस्था करने के लिए अपनी पत्नी को नियुक्त किया था ॥५५॥

इसी क्रम से रहते हुए एक बार वर्षा-ऋतु आ गई, जिसमें स्त्रियाँ गुड़ के साथ आटे से निर्मित गुह्य का रूप बनाकर निन्दनीय रूप से मूर्ख ब्राह्मणों को दान देती हैं। इसी प्रकार, शीत और ग्रीष्म-ऋतु में क्रमशः स्नान और पसीने के कष्ट को हरण करनेवाली वस्तुएँ दान करती हैं। इस प्रकार के दान को नहीं लिया जाता। यह अत्यन्त कुत्सित आचार है। वह दान तो मेरे देवर की पत्नी ने दक्षिणा-सहित मेरे पति वर्ष को मूर्ख समझकर दिया ॥५६—५८॥

उसे लेकर जब वे घर आये, तब मैंने उन्हें खूब फटकारा। अपनी मूर्खता के कारण होनेवाले सन्ताप से वे अत्यन्त सन्तप्त हुए ॥५९॥

इसके पश्चात् वर्ष तपस्या से स्वामी कार्त्तिक को प्रसन्न करने चले गये। प्रसन्न होकर स्वामि कार्त्तिक ने उन्हें वरदान द्वारा समस्त विद्याएँ प्रदान कीं ॥६०॥

और स्वामी कार्त्तिक ने आदेश दिया कि एक बार सुनकर स्मरण रखनेवाले ब्राह्मण को प्राप्त कर तुम इन विद्याओं को प्रकट करना। इस प्रकार कार्त्तिकेय से वरदान प्राप्त कर वर्ष हर्षपूर्वक यहाँ आ गये ॥६१॥

वहाँ से आकर उन्होंने समस्त वृत्तान्त मुझे बताया और तभी से वे निरन्तर जप और ध्यान में मग्न रहते हैं ॥६२॥

इसलिए, आपलोग एक बार ही सुनकर स्मरण रखनेवाले किसी छात्र को ढूँढ़ें। इससे तुम दोनों की मनस्कामना पूर्ण होगी, इसमें सन्देह नहीं ॥६३॥

वर्ष की पत्नी से इस प्रकार सुनकर हम दोनों ने उसकी तात्कालिक दरिद्रता दूर करने के लिए उसे एक सौ स्वर्ण-मुद्राएँ दीं और उस नगर से चले गये ॥६४॥

तदनन्तर, हम दोनों सारी पृथ्वी पर घूमे, किन्तु कहीं भी एक श्रुतधर नहीं मिला। अतः, थककर आज तुम्हारे घर विश्राम के लिए रुक गये ॥६५॥

आज इस बालक को, जो तुम्हारा पुत्र है, प्राप्त किया। जो श्रुतधर है। तुम इसे हमें दे दो। हमलोग विद्या-धन की सिद्धि के लिए जायँ ॥६६॥

इस प्रकार व्याडि के वचन सुनकर मेरी माता ने आदर के साथ कहा—यह सब ठीक है। मुझे आपकी बातों पर विश्वास है ॥६७॥

और भी कारण है। जब यह एकमात्र पुत्र मुझसे उत्पन्न हुआ था, उस समय आकाश से देववाणी हुई थी ॥६८॥

एष श्रुतधरो जातो विद्यां वर्षादवाप्स्यति ।
किञ्च व्याकरणं लोके प्रतिष्ठां प्रापयिष्यति ।।६९।।
नाम्ना वररुचिश्चायं तत्तदस्मै हि रोचते ।
यद्यद्वरं भवेत्किञ्चिदित्युक्त्वा वागुपारमत् ।।७०।।
अतएव विवृद्धेऽस्मिन्बालके चिन्तयाम्यहम् ।
क्व स वर्ष उपाध्यायो भवेदिति दिवानिशम् ।।७१।।
अद्य युष्मन्मुखाज्ज्ञात्वा परितोषश्च मे परः ।
तदेनं नयतं भ्राता युवयोरेष का क्षतिः ।।७२।।
इति मन्मातृवचनं श्रुत्वा तौ हर्षनिर्भरौ ।
व्याडीन्द्रदत्तौ तां रात्रिमबुध्येतां क्षणोपमाम् ।।७३।।
अथोत्सवार्थमम्बायास्तूर्णं दत्वा निजं धनम् ।
व्याडिनैवोपनीतोऽहं वेदार्हत्वं ममेच्छता ।।७४।।
ततो मात्राभ्यनुज्ञातं कथञ्चिद्रुद्धबाष्पया ।
मामादाय निजोत्साहशमिताशेषतद्व्यथम् ।।७५।।
मन्यमानौ च कौमारं[1] पुष्पितं तदनुग्रहम् ।
व्याडीन्द्रदत्तौ तरसा नगर्याः प्रस्थितौ ततः ।।७६।।
अथ क्रमेण वर्षस्य वयं प्राप्ता गृहं गरोः ।
स्कन्दप्रसादमायान्तं मूर्त्तं मां सोऽप्यमन्यत ।।७७।।
कृत्वास्मानग्रतोऽन्येद्युरुपविष्टः शुचौ भुवि ।
वर्षोपाध्याय ओङ्कार[2]मकरोद्दिव्यया गिरा ।।७८।।
तदनन्तरमेवास्य वेदाः साङ्गा उपस्थिताः ।
अध्यापयितुमस्मांश्च प्रवृत्तोऽभूदसौ ततः ।।७९।।
सकृच्छ्रुतं मया तत्र द्विःश्रुतं व्याडिना तथा ।
त्रिःश्रुतं चेन्द्रदत्तेन गुरुणोक्तमगृह्यत ।।८०।।
ध्वनिमथ तमपूर्वं दिव्यमाकर्ण्य सद्यः
सपदि विलसदन्तर्विस्मयो विप्रवर्गः ।
किमिदमिति समन्ताद्द्रष्टुमभ्येत्य वर्षं
स्तुतिमुखरमुखश्रीरर्चति स्म प्रणामैः ।।८१।।

---

१. स्वामिकार्त्तिकसम्बन्धि । २. ओङ्कारोच्चारणम् ।

यह श्रुतधर बालक उत्पन्न हुआ है और वर्ष उपाध्याय से विद्या प्राप्त कर संसार में व्याकरण की प्रतिष्ठा करेगा ।।६९।।

यह बालक नाम से वररुचि होगा । संसार में जो भी अच्छा होगा, वह इसे अच्छा लगेगा; इसीलिए इसका नाम वररुचि होगा । इतना कहकर आकाशवाणी समाप्त हो गई ।।७०।।

इसीलिए जैसे-जैसे यह बालक बड़ा हो रहा था, वैसे-ही-वैसे मुझे रात-दिन यह चिन्ता सता रही थी कि वह वर्ष उपाध्याय कहाँ होगा ।।७१।।

आज तुमलोगों के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ । अतः, तुम दोनों इसे वर्ष के समीप ले जाओ । यह तुम्हारा भाई है । कोई हानि नहीं ।।७२।।

मेरी माता के ऐसे वचन को सुनकर प्रफुल्लित व्याडि और इन्द्रदत्त ने वह रात एक क्षण के समान व्यतीत की ।।७३।।

प्रातःकाल व्याडि ने उत्सव करने के लिए अपना धन मेरी माता को दे दिया और मुझे वेदाध्ययन के योग्य बनाने के लिए स्वयं ही मेरा उपनयन-संस्कार किया, जिससे मैं योग्य बनकर विद्याध्ययन कर सकूँ ।।७४।।

तब किसी प्रकार आँसुओं को रोककर मेरी माता ने मुझे आज्ञा दी । साथ ही, मेरे अत्यन्त उत्साह को देखकर मेरी माता का शोक कम हो गया ।।७५।।

मेरी कुमारावस्था को माता का अनुग्रह समझकर व्याडि और इन्द्रदत्त मुझे लेकर उस कौशाम्बी नगरी से शीघ्र चल पड़े ।।७६।।

इसके पश्चात् यथासमय हमलोग वर्ष गुरु के घर पहुँचे और उन्होंने भी मूर्त्तिमान् स्कन्द के प्रसाद के समान मुझे आते हुए समझा ।।७७।।

एक शुभ दिन को वर्ष उपाध्याय ने पवित्र भूमि में बैठकर और हमलोगों को आगे बैठाकर दिव्य वाणी से ओंकार का उच्चारण किया ।।७८।।

ओंकार का उच्चारण करते ही कार्त्तिकेय की कृपा से सांगोपांग वेद उपस्थित हो गये और तब उपाध्याय हम लोगों को पढ़ाने को उद्यत हुए ।।७९।।

गुरु जो एक बार कहते थे, उसे मैं स्मरण कर लेता था, दूसरी बार के कहने पर व्याडि और तीसरी बार के कहने पर इन्द्रदत्त ग्रहण करते थे ।।८०।।

अध्ययन प्रारम्भ होने पर, वर्ष के मुख से निकलती हुई उस अपूर्व दिव्य ध्वनि को सुनकर फिर 'यह क्या है' इस प्रकार आश्चर्य के साथ वर्ष उपाध्याय के घर पर चारों ओर से आकर एकत्र एवं स्तुति करते हुए ब्राह्मणगण प्रणामों से उसकी अर्चना करने लगे ।।८१।।

किमपि तदवलोक्य तत्र चित्रं
प्रमदवशान्न परं तदोपवर्षः ।
अपि विततमहोत्सवः समग्रः
समजनि पाटलिपुत्रपौरलोकः ॥८२॥

राजापि तं गिरिशसूनुवरप्रभाव—
मालोक्य तस्य परितोषमुपेत्य नन्दः ।
वर्षस्य वेश्म वसुभिः स किलादरेण
तत्कालमेव समपूरयदुन्नतश्रीः ॥८३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

पाटलिपुत्रस्य निर्माणकथा

एवमुक्त्वा वररुचिः श्रृण्वत्येकाग्रमानसे ।
काणभूतौ वने तत्र पुनरेवेदमब्रवीत् ॥१॥
कदाचिद्याति कालेऽथ कृते स्वाध्यायकर्मणि ।
इति वर्ष उपाध्यायः पृष्टोऽस्माभिः कृताह्निकः ॥२॥
इदमेवंविधं कस्मान्नगरं क्षेत्रतां गतम् ।
सरस्वत्याश्च लक्ष्म्याश्च तदुपाध्याय कथ्यताम् ॥३॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीदस्माञ्छृणु चैतत्कथामिमाम् ।
तीर्थं कनखलं[1] नाम गङ्गाद्वारे[2]ऽस्ति पावनम् ॥४॥
यत्र काञ्चनपातेन जाह्नवी देवदन्तिना ।
उशीनरगिरिप्रस्थाद् भित्वा तमवतारिता ॥५॥
दाक्षिणात्यो द्विजः कश्चित्तपस्यन्भार्यया सह ।
तत्रासीत्तस्य चात्रैव जायन्ते स्म त्रयः सुताः ॥६॥
कालेन स्वर्गते तस्मिन् सभार्ये ते च तत्सुताः ।
स्थानं राजगृहं[3] नाम जग्मुर्विद्यार्जनेच्छया ॥७॥

---

१. हरद्वारसमीपे कनखल तीर्थं प्रसिद्धं यत्र दक्षप्रजापतिना यज्ञोऽनुष्ठित इति ख्यातम् । २. गङ्गाद्वारमिदानीं हरद्वारेति प्रसिद्धम् । ३. राजगृहं साम्प्रतं विहारप्रान्ते 'राजगीर' नाम्ना प्रसिद्धं स्थानमस्ति ।

आचार्य वर्ष के घर में इस आश्चर्यजनक दृश्य को देखकर उनके कनिष्ठ भ्राता उपवर्ष को अत्यन्त प्रसन्नता ही नहीं हुई; बल्कि समूचे पाटलिपुत्र के निवासियों ने सारे नगर में महान् आनन्दोत्सव मनाया ।।८२।।

राजा नन्द[1] ने भी स्वामी कार्तिक के उस अद्भुत प्रभाव को देखकर अत्यन्त सन्तोष प्रकट किया और उसी क्षण उपाध्याय वर्ष के घर को आवश्यक सामग्री से परिपूर्ण कर दिया ।।८३।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के प्रथम लम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त ।

तृतीय तरंग

पाटलिपुत्र के निर्माण की कथा

इतना कहने पर, उस वन में काणभूति के एकाग्रचित होकर सुनने के कारण, वररुचि ने पुनः कहना प्रारम्भ किया ।।१।।

कुछ समय पश्चात् एक दिन अध्यापन-कार्य समाप्त होने पर दैनिक कार्य से निवृत्त हुए उपाध्याय वर्ष से हमलोगों ने पूछा ।।२।।

'गुरुदेव, यह पाटलिपुत्र[2] नगर इस प्रकार लक्ष्मी और सरस्वती—दोनों का क्षेत्र कैसे बना ? यह कृपा कर कहिए' ।।३।।

यह सुनकर उपाध्याय वर्ष ने हमलोगों से कहा कि इस नगर (पाटलिपुत्र) की कथा सुनो—"गंगाद्वार[3] (हरद्वार) में कनखल नाम का पवित्र तीर्थ है ।।४।।

उस कनखल तीर्थ में देवगज ऐरावत ने उशीनर नामक पर्वत के शिखर को तोड़कर गंगा को उतारा है ।।५।।

वहाँ (कनखल में) दक्षिण देश का निवासी एक ब्राह्मण अपनी पत्नी के साथ तपस्या कर रहा था । इसी बीच वहीं पर उसके तीन पुत्र उत्पन्न हुए ।।६।।

कालक्रम के उस सपत्नीक ब्राह्मण के स्वर्ग सिधारने पर उसके वे तीनों बालक विद्याध्ययन करने के लिए राजगृह चले गये ।।७।।

---

१. राजा नन्द, मगध का इतिहास-प्रसिद्ध सम्राट् था । वह विद्वानों का सम्मान-कर्त्ता, वीर और अत्यन्त गुणग्राही था । प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त इसी का उत्तराधिकारी था । इसका विस्तृत विवेचन परिशिष्ट-प्रकरण में किया गया है ।

२. प्राचीन पाटलिपुत्र नगर वर्तमान 'पटना' नगर का नाम है । यह नगर, अनेक बार उजड़ा और बसा । उसके सम्बन्ध में परिशिष्ट-प्रकरण में विस्तृत विवेचन किया गया है ।

३. गंगाद्वार, वर्तमान हरद्वार का ही दूसरा नाम है । उसे गंगा का द्वार माना जाता है ।—अनु०

तत्र चाधीतविद्यास्ते त्रयोऽप्यानाध्यदुःखिताः ।
ययुः स्वामिकुमारस्य दर्शने दक्षिणापथम् ॥८॥
तत्र ते चिञ्चिनीं नाम नगरीमम्बुधेस्तटे ।
गत्वा भोजिकसंज्ञस्य विप्रस्य न्यवसन्गृहे ॥९॥
स च कन्या निजास्तिस्रस्तेभ्यो दत्वा धनानि च ।
तपसेऽनन्यसन्तानो गङ्गां याति स्म भोजिकः ॥१०॥
अथ तेषां निवसतां तत्र श्वशुरवेश्मनि ।
अवग्रहकृतस्तीव्रो दुर्भिक्षः समजायत ॥११॥
तेन भार्याः परित्यज्य साध्वीस्तास्ते त्रयो ययुः ।
स्पृशन्ति न नृशंसानां हृदयं बन्धुबुद्धयः ॥१२॥
ततस्तु मध्यमा तासां सगर्भाभूत्ततश्च ताः ।
भवनं यज्ञदत्तस्य पितृमित्रस्य शिश्रियुः ॥१३॥
तत्र तस्थुर्निजान्भर्तॄन्ध्यायन्त्यः क्लिष्टवृत्तयः ।
आपद्यपि सतीवृत्तं किं मुञ्चन्ति कुलस्त्रियः ॥१४॥
कालेन मध्यमा चात्र तासां पुत्रमसूत सा ।
अन्योन्यातिशयात्तस्मिन्स्नेहश्चासामवर्धत ॥१५॥
कदाचिद् व्योममार्गेण विहरन्तं महेश्वरम् ।
अङ्कस्था स्कन्दजननी तं दृष्ट्वा सदयावदत् ॥१६॥
देव पश्य शिशावस्मिन्नेतास्तिस्रोऽपि योषितः ।
बद्धस्नेहा दधत्याशामेषोऽस्माञ्जीवयेदिति ॥१७॥
तत्तथा कुरु येनायमेता बालोऽपि जीवयेत् ।
इत्युक्तः प्रियया देवो वरदः स जगाद ताम् ॥१८॥
अनुगृह्णाम्यमुं पूर्वं सभार्येणामुना यतः ।
आराधितोऽस्मि तेनायं भोगार्थं निर्मितो भुवि ॥१९॥
एतज्जाया च सा जाता पाटली नाम भूपतेः ।
महेन्द्रवर्मणः पुत्री भार्यास्यैव भविष्यति ॥२०॥
इत्युक्त्वा स विभुः स्वप्ने साध्वीस्तिस्रो जगाद ताः ।
नाम्ना पुत्रक एवायं युष्माकं बालपुत्रकः ॥२१॥
अस्य सुप्तप्रबुद्धस्य शीर्षान्ते च दिने दिने ।
सुवर्णलक्षं भविता राजा चायं भविष्यति ॥२२॥

वहाँ पर (राजगृह में) विद्योपार्जन करके वे तीनों अनाथ और दुःखी बालक, स्वामी कार्त्तिक के दर्शन के लिए वहाँ से दक्षिण देश को गये ।।८।।

वे दक्षिण-देश में, समुद्र-तट पर स्थित चिञ्चिनी नामक नगरी में पहुँचे और जहाँ भोजिक नामक ब्राह्मण के घर में निवास करने लगे ।।९।।

उस भोजिक ब्राह्मण के तीन कन्याओं के अतिरिक्त और कोई सन्तान न थी । अतः, वह अपनी तीनों कन्याओं को तीनों ब्राह्मणों को दान कर और साथ ही अपना धन भी उन्हें देकर गंगाद्वार (हरद्वार) की ओर चला गया ।।१०।।

कुछ काल के अन्तर श्वशुर-गृह में रहते हुए उन तीनों ब्राह्मणों को वर्षाभाव के कारण होनेवाले भीषण अकाल का अनुभव करना पड़ा ।।११।।

अकाल की भीषणता से व्याकुल होकर वे तीनों ब्राह्मण अपनी पतिव्रता पत्नियों को छोड़कर भाग गये । क्रूर व्यक्तियों के हृदयों में बन्धुत्व की भावना स्पर्श भी नहीं करती ।।१२।।

उन तीनों में बिचली बहन गर्भवती थी । अतः, वे तीनों इस विपत्ति में अपने पिता के मित्र यज्ञदत्त के घर में शरण लेने चली गईं और वहाँ जाकर अपनी-अपनी पतियों का ध्यान करती हुई कठिनाई से जीवन व्यतीत करने लगीं । कुलीन स्त्रियाँ विपत्ति में भी अपनी सती-चरित्र का परित्याग नहीं करतीं ।।१३-१४।।

उस बिचली बहन ने समयानुसार पुत्र उत्पन्न किया और तीनों बहनें उस शिशु के प्रति एक दूसरी से अधिक स्नेह करने लगीं ।।१५।।

किसी समय आकाश में भ्रमण करते हुए शिवजी की गोद में बैठी हुई स्कन्दमाता (पार्वती) उस बालक को देखकर दयापूर्वक कहने लगीं ।।१६।।

'देव, देखिए । इस बालक पर ये तीनों स्त्रियाँ समान रूप से स्नेह करती हैं और आशा करती हैं कि यह बड़ा होने पर हमलोगों का पालन-पोषण करेगा ।।१७।।

इसलिए भगवन् ! आप ऐसी कृपा करें कि यह बालक, इन तीनों का जीवन-निर्वाह कर सके ।' पार्वती के इतना कहने पर वरदानी शिवजी ने कहा—।।१८।।

'मैं तो इसे पहले ही अनुगृहीत कर चुका हूँ; क्योंकि इसने पूर्वजन्म में पत्नी के साथ मेरी आराधना की थी । उसी का फल भोगने के लिए इसे संसार में जन्म दिया गया है ।।१९।।

पाटली नाम की इसकी पत्नी, राजा महेन्द्रवर्मा की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई है । वही इसकी पत्नी बनेगी' ।।२०।।

पार्वती से ऐसा कहकर शिवजी ने उन तीनों पतिव्रताओं से स्वप्न में कहा कि 'यह तुम्हारा शिशु नाम से भी पुत्रक ही रहेगा, पुत्रक नाम से प्रसिद्ध होगा । यह जब सोकर उठेगा, तब प्रतिदिन इसके सिरहाने में एक लाख स्वर्ण-मुद्रा मिला करेगी और आगे चलकर यह राजा होगा' ।।२१-२२।।

ततः सुप्तोत्थिते तस्मिन्बाले ताः प्राप्य काञ्चनम् ।
यज्ञदत्तसुताः साध्व्यो ननन्दुः फलितव्रताः ॥२३॥
अथ तेन सुवर्णेन वृद्धकोपोऽचिरेण सः ।
बभूव पुत्रको राजा तपोऽधीना हि सम्पदः ॥२४॥
कदाचिद्यज्ञदत्तोऽथ रहः पुत्रकमब्रवीत् ।
राजन्दुर्भिक्षदोषेण क्वापि ते पितरो गताः ॥२५॥
तत्सदा देहि विप्रेभ्यो येनायान्ति निशम्य ते ।
ब्रह्मदत्तकथां चैतां कथयामि च ते शृणु ॥२६॥
वाराणस्यामभूत्पूर्वं ब्रह्मदत्ताभिधो नृपः ।
सोऽपश्यद्धंसयुगलं प्रयातं गगने निशि ॥२७॥
विस्फुरत्कनकच्छायं राजहंसशतैर्वृतम् ।
विद्युत्पुञ्जमिवाकाण्डसिताभ्रपरिवेष्टितम् ॥२८॥
पुनस्तद्दर्शनोत्कण्ठा तथास्य ववृधे ततः ।
यथा नृपतिसौख्येषु न बबन्ध रतिं क्वचित् ॥२९॥
मन्त्रिभिः सह सम्मन्त्र्य ततश्चाकारयत्सरः ।
स राजा स्वमते कान्तं प्राणिनां चाभयं ददौ ॥३०॥
ततः कालेन तौ प्राप्तौ हंसौ राजा ददर्श सः ।
विश्वस्तौ चापि पप्रच्छ हैमे वपुषि कारणम् ॥३१॥
व्यक्तवाचौ ततस्तौ च हंसौ राजानमूचतुः ।
पुरा जन्मान्तरे काकावावां जातौ महीपते ॥३२॥
बल्यर्थं युद्ध्यमानौ च पुण्ये शून्ये शिवालये ।
विनिपत्य विपन्नौ स्वस्तत्स्थानद्रोणिकान्तरे ॥३३॥
जातौ जातिस्मरावावां हंसौ हेममयौ ततः ।
तच्छ्रुत्वा तौ यथाकामं पश्यन् राजा तुतोष सः ॥३४॥
अतोऽनन्यादृशादेव पितृन्दानादवाप्स्यसि ।
इत्युक्तो यज्ञदत्तेन पुत्रकस्तत्तथाकरोत् ॥३५॥
श्रुत्वा प्रदानवार्तां तामाययुस्ते द्विजातयः ।
परिज्ञाताः परां लक्ष्मीं पत्नीश्च सह लेभिरे ॥३६॥
आश्चर्यमपरित्याज्यो दृष्टनष्टापदामपि ।
अविवेकान्धबुद्धीनां स्वानुभावो दुरात्मनाम् ॥३७॥

दूसरे दिन, उस बालक के सोकर उठने पर, उसके सिरहाने में सुवर्ण पाकर यज्ञदत्त की पतिव्रता पुत्रियाँ अपने व्रत को सफल समझकर अत्यन्त आनन्दित हो उठीं ।।२३।।

इस प्रकार प्रतिदिन एकत्र होते हुए सोने से खजाना बढ़ जाने पर धीरे-धीरे पुत्रक राजा बन गया । सच है, 'सिद्धियाँ तप के अधीन होती हैं' ।।२४।।

एक बार एकान्त में यज्ञदत्त ने पुत्रक से कहा—'हे राजन् ! तुम्हारे पितर दुर्भिक्ष के कारण यहाँ से कहीं चले गये हैं । इसलिए, तुम ब्राह्मणों को सदा दान दिया करो । वे भी तुम्हारी उदारता सुनकर आ जायेंगे । मैं इस विषय में ब्रह्मदत्त राजा की एक कथा सुनाता हूँ, सुनो' ।।२५-२६।।

राजा ब्रह्मदत्त की कथा

प्राचीन समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त नाम का राजा था । उसने एक बार रात्रि के समय आकाश में उड़ते हुए हंसों की जोड़ी को देखा, जिसके चारों ओर बिजली के समान चमकती हुई, सोने के पंखों की प्रभा छिटक रही थी । उसके चारों ओर श्वेत हंस ऐसे उड़ रहे थे, जैसे अकाल में ही श्वेत मेघ-खण्डों से व्याप्त विद्युत्पुंज हों ।।२७-२८।।

उस हंस-युगल को देखने की राजा की लालसा ऐसी तीव्र हुई कि वह राज्य के सुखों से भी विरक्त रहने लगा ।।२९।।

तब राजा ने मन्त्रियों के साथ सम्मति करके एक सुन्दर सरोवर बनवाया और अपने राज्य में समस्त प्राणियों को अभयदान दिया ।।३०।।

कुछ समय के पश्चात् वे हंस पुनः उस सरोवर पर आये और उनके विश्वस्त होने पर राजा ने उनके स्वर्ण के शरीर होने का कारण पूछा ।।३१।।

तब वे हंस स्पष्ट वाणी में राजा से बोले—'हे राजन् ! पहले जन्म में हम कौए थे ।।३२।।

बलि (भोजन) के लिए लड़ते हुए हम दोनों एक शून्य और पवित्र शिवालय में गये और वहाँ जाकर जल के कुण्ड में गिरे और मर गये ।।३३।।

इसी कारण इस जन्म में हमलोग सुवर्णमय हंस हुए ।' राजा इस प्रकार सुनकर और आँखें-भर उन्हें देखकर प्रसन्न हुआ ।।३४।।

अतः, तुम भी असाधारण रूप से दान करते हुए अपने पितरों को प्राप्त करोगे । ऐसा सुनकर पुत्रक ने असाधारण रूप से दान करके ख्याति प्राप्त की ।।३५।।

इस प्रकार पुत्रक के दान की ख्याति सुनकर वे ब्राह्मण वहाँ आये और पहचाने जाने पर अतुल सम्पत्ति और अपनी पत्नियों को प्राप्त कर सुखी हुए ।।३६।।

यह आश्चर्य है कि अविवेक से अन्ध बुद्धिवाले दुष्ट आपत्तियों को आते और नष्ट होते देखकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते ।।३७।।

कालेन राज्यकामास्ते पुत्रकं तं जिघांसवः ।
निन्युस्तद्दर्शनव्याजाद्द्विजा विन्ध्यनिवासिनीम् ॥३८॥

वधकान्स्थापयित्वा च देवी गर्भगृहान्तरे ।
तमूचुः पूर्वमेकस्त्वं पश्य देवीं व्रजान्तरम् ॥३९॥

ततः प्रविष्टो विश्वासात्स दृष्ट्वा हन्तुमुद्यताम् ।
पुरुषान् पुत्रकोऽपृच्छत्कस्मान्निहथ मामिति ॥४०॥

पितृभिस्ते प्रयुक्ताः स्मः स्वर्णं दत्वेति चाब्रुवन् ।
ततस्तान्मोहितान्देव्या बुद्धिमान्पुत्रकोऽवदत् ॥४१॥

ददाम्येतदनर्घं वो रत्नालङ्करणं निजम् ।
मां मुञ्चत करोम्यत्र नोद्भेदं यामि दूरतः ॥४२॥

एवमस्त्विवति तत्तस्माद्गृहीत्वा वधका गताः ।
'हतः पुत्रक' इत्यूचुस्तत्पितृणां पुरो मृषा ॥४३॥

ततः प्रतिनिवृत्तास्ते हता राज्यार्थिनो द्विजाः ।
मन्त्रिभिर्द्रोहिणो बुद्ध्वा कृतघ्नानां शिवं कुतः ॥४४॥

अत्रान्तरे स राजापि पुत्रकः सत्यसङ्गरः ।
विवेश विन्ध्यकान्तारं विरक्तः स्वेषु बन्धुषु ॥४५॥

भ्रमन्ददर्श तत्रासौ बाहुयुद्धैकतत्परौ ।
पुरुषौ द्वौ ततस्तौ स पृष्टावान्कौ युवामिति ॥४६॥

मयासुरसुतावावां तदीयं चास्ति नौ धनम् ।
इदं भाजनमेषा च यष्टिरेते च पादुके ॥४७॥

एतन्निमित्तं युद्धं नौ यो बली स हरेदिति ।
एतत्तद्वचनं श्रुत्वा हसन् प्रोवाच पुत्रकः ॥४८॥

कियदेतद्धनं पुंसस्ततस्तौ समवोचताम् ।
पादुके परिधायैते खेचरत्वमवाप्यते ॥४९॥

यष्ट्या यल्लिख्यते किञ्चित्सत्यं सम्पद्यते हि तत् ।
भाजने यो य आहारश्चिन्त्यते स स तिष्ठति ॥५०॥

तच्छ्रुत्वा पुत्रकोऽवादीत्किं युद्धेनास्त्वयं पणः ।
धावन्बलाधिको यः स्यात्स एवैतद्धरेदिति ॥५१॥

कुछ समय आनन्द का उपभोग करते हुए भी वे ब्राह्मण पुत्रक को मारकर उसका राज्य हड़पने की इच्छा से उसे विन्ध्यवासिनी के दर्शन के बहाने वहाँ ले गये ।।३८।।

वहाँ पर देवी के मन्दिर के भीतरी भाग में वध करनेवालों को रखकर उन्होंने पुत्रक से कहा कि 'पहले तुम अकेले ही देवी के दर्शन करो। भीतर जाओ' ।।३९।।

उनके विश्वास पर मन्दिर के अन्दर प्रवेश करते ही पुत्रक ने, प्रहार के लिए उद्यत वधकों को देखकर पूछा कि 'तुमलोग मुझे क्यों मारते हो ?' ।।४०।।

उन्होंने कहा कि 'तुम्हारे पितरों ने सोना देकर हमें मारने के लिए प्रेरित किया है'। भगवती की कृपा से भ्रष्ट बुद्धिवाले उन वधिकों से पुत्रक ने कहा ।।४१।।

'मैं तुम्हें अपने अमूल्य जवाहिरातों के आभूषण देता हूँ। तुमलोग मुझे छोड़ दो, मैं यह बात किसी से न कहूँगा और दूर चला जाता हूँ' ।।४२।।

ऐसा कहने पर वधिक लोग उसे छोड़कर चले गये और उसके पितरों से जाकर झूठ कह दिया कि पुत्रक को मार दिया ।।४३।।

इस प्रकार, पाप-कर्म करके राज्य पाने की इच्छावाले ब्राह्मण लौटकर घर गये, तो उन्हें राजद्रोही समझकर पुत्रक के मन्त्रियों ने मार डाला। भला, कृतघ्नों का कल्याण किस प्रकार हो सकता है ।।४४।।

इसी बीच राजा पुत्रक भी अपने सम्बन्धियों से विरक्त होकर विन्ध्याचल के गहन वन में चला गया ।।४५।।

वन में घूमते हुए उसने दो असुर-युवकों को बाहुयुद्ध के लिए तैयार खड़े देखा और उनसे पूछा कि 'तुम दोनों कौन हो ?' ।।४६।।

वे कहने लगे—'हम दोनों मयासुर के लड़के हैं। हमारे पास यह पैतृक धन है—एक पात्र, एक लाठी और दो खड़ाऊँ' ।।४७।।

इस पैतृक धन के लिए हमलोगों का युद्ध हो रहा है 'कि जो बलवान् हो, वह इसे प्राप्त करे।' उनकी इन बातों को सुनकर पुत्रक ने हँसकर कहा ।।४८।।

'पुरुष के लिए यह कितना धन है, जिसके लिए तुमलोग युद्ध कर रहे हो।' तब वे दोनों बोले—'इस खड़ाऊँ को पहनने से मनुष्य आकाशचारी हो जाता है ।।४९।।

छड़ी से जो कुछ भी लिखा जाता है, वह सत्य होता है और इस पात्र में जिस भोजन का ध्यान करें, वही भोजन रखा हुआ मिलता है' ।।५०।।

यह सुनकर पुत्रक ने कहा—'इन वस्तुओं के लिए युद्ध की शर्त्त उचित नहीं है। दौड़ने में जो अधिक बलवान् हो, वही इन्हें ले ले'[1] ।।५१।।

---

१. इस कथा से मिलती-जुलती कहानी 'अरेबियन नाइट्स' में है, जिसमें शाहजादा मुहम्मद और परीबानू की कहानी में ऐसा प्रसंग आता है कि तीन शाहजादे, नूर निहार से शादी करने के लिए ऐसी ही तीन चीजें लाये थे, उसका फैसला करने के लिए तीर फेंके गये थे।—अनु०

एवमस्त्विति तौ मूढौ धावितौ सोऽपि पादुके ।
अध्यास्योदपतद् व्योम गृहीत्वा यष्टिभाजने ॥५२॥

अथ दूरं क्षणाद् गत्वा ददर्श नगरीं शुभाम् ।
अकर्षिकाख्यां तस्यां च नभसोऽवततार सः ॥५३॥

वञ्चनप्रवणा वेश्या द्विजा मत्पितरो यथा ।
वणिजो धनलुब्धाश्च कस्य गेहे वसाम्यहम् ॥५४॥

इति सञ्चिन्तयन्प्राप स राजा विजनं गृहम् ।
जीर्णं तदन्तरे चैकां वृद्धां योषितमैक्षत ॥५५॥

प्रदानपूर्वं सन्तोष्य तां वृद्धामादृतस्तया ।
उवासालक्षितस्तत्र पुत्रकः शीर्णसद्मनि ॥५६॥

कदाचित्साथ सम्प्रीता वृद्धा पुत्रकमब्रवीत् ।
चिन्ता मे पुत्र यद्भार्या नानुरूपा तव क्वचित् ॥५७॥

इह राज्ञस्तु तनया पाटलीत्यस्ति कन्यका ।
उपर्यन्तःपुरे सा च रत्नमित्यभिरक्ष्यते ॥५८॥

एतद्वृद्धावचस्तस्य दत्तकर्णस्य शृण्वतः ।
विवेश तेनैव पथा लब्धरन्ध्रो हृदि स्मरः ॥५९॥

द्रष्टव्या सा मयाद्यैव कान्तेति कृतनिश्चयः ।
निशायां नभसा तत्र पादुकाभ्यां जगाम सः ॥६०॥

प्रविश्य सोऽद्रि-शृङ्गाग्र-तुङ्ग-वातायनेन ताम् ।
अन्तःपुरे ददर्शाथ सुप्तां रहसि पाटलीम् ॥६१॥

सेव्यमानामविरतं चन्द्रकान्त्याङ्गलग्नया ।
जित्वा जगदिदं श्रान्तां मूर्त्तां शक्तिं मनोभुवः ॥६२॥

कथं प्रबोधयाम्येतामिति यावदचिन्तयत् ।
इत्यकस्माद् बहिस्तावद्यामिकः पुरुषो जगौ ॥६३॥

आलिङ्ग्य मधुरहुङ्कृतिमलसोन्मिषदीक्षणां रहः कान्ताम् ।
यद्बोधयन्ति सुप्तां जन्मनि यूनां तदेव फलम् ॥६४॥

श्रुत्वैवैतदुपोद्घातमङ्गैरुत्कम्पविप्लवैः ।
आलिलिङ्ग स तां कान्तां प्राबुध्यत ततश्च सा ॥६५॥

यही ठीक है, ऐसा कहकर वे दोनों मूर्ख असुर-पुत्र दौड़ पड़े और पुत्रक उस छड़ी एवं पात्र को लेकर खड़ाऊँ पहनकर आकाश में उड़ गया और वे दोनों मूर्ख बन गये[1] ॥५२॥

खड़ाऊँ के प्रभाव से क्षण-भर में ही लम्बी यात्रा करके पुत्रक ने आकर्षिका नाम की सुन्दर नगरी देखी और आकाश से उतर गया ॥५३॥

उतरकर उसने सोचा—'वेश्याएँ ठगने में लगी रहती हैं। ब्राह्मण मेरे पितरों के समान विश्वासघाती और लोभी हैं, बनिये धन के लोभी होते ही हैं। अतः, मैं किसके घर पर निवास करूँ!' ॥५४॥

ऐसा सोचते-सोचते राजा ने एक एकान्त पुराने और टूटे-फूटे मकान तथा उसके भीतर जाकर एक वृद्धा स्त्री को देखा ॥५५॥

उसने उस बूढ़ी स्त्री को कुछ धन देकर सन्तुष्ट किया और उस वृद्धा के आदर-सत्कार करने पर वह उसी मकान में छिपकर रहने लगा ॥५६॥

किसी समय प्रसन्न होकर उस वृद्धा ने कहा—'पुत्रक, मुझे केवल एक ही चिन्ता है कि तुम्हारे अनुरूप कहीं कोई भार्या नहीं है' ॥५७॥

लेकिन इस राज्य के राजा की पाटली नामक कन्या है। उसे अन्तःपुर के ऊपर रत्न के समान सुरक्षित रखा गया है ॥५८॥

वृद्धा के वचनों की ओर कान दिये हुए पुत्रक के हृदय में उसी (कान के) मार्ग से कामदेव ने प्रवेश किया ॥५९॥

'उस कन्या को मैं आज ही देखूँगा'—ऐसा निश्चय करके पुत्रक रात को खड़ाऊँ पहनकर आकाश-मार्ग से उसके पास पहुँच गया ॥६०॥

पर्वत की चोटी के समान ऊँचे महल की खिड़की से प्रवेश कर उसने एकान्त में सोई हुई पाटली को देखा ॥६१॥

अंगों पर निरन्तर पड़ते हुए चाँदनी के प्रकाश से वह पाटली इस प्रकार सुशोभित हो रही थी, मानों समस्त संसार को जीतकर, अतएव थककर सोई हुई कामदेव की मूर्त्तिमती शक्ति हो ॥६२॥

'इसे कैसे जगाऊँ—यह जबतक पुत्रक सोच ही रहा था कि तभी कमरे के बाहर से पहरेदार ने आर्या पढ़ी ॥६३॥

'मधुर हुंकार करती हुई और अलसाई हुई, अतएव अधखुली आँखोंवाली प्रेमिका का आलिंगन कर उसे जगाना ही युवकों के जन्म की सफलता है' ॥६४॥

इस भूमिका को सुनकर कुछ काँपते हुए अंगों से पुत्रक ने पाटली का आलिंगन किया और वह जाग उठी ॥६५॥

---

१. इसी प्रकार की कथा, 'दशकुमारचरित', 'बहारे दानेस' और ग्रीम्स के 'फेरीटेल्स' में आती है। उनमें कुछ परिवर्त्तन अवश्य किया गया है।

पश्यन्त्यास्तं नृपं तस्या लज्जाकौतुकयोर्दृशि ।
अभूदन्योन्यसंमर्दो रचयन्त्यां गतागतम् ॥६६॥
अथालापे कृते वृत्ते गान्धर्वोद्वाहकर्मणि ।
अवर्धत तयोः प्रीतिर्दम्पत्योर्न तु यामिनी ॥६७॥
आमन्त्र्याथ वधूं मुक्तां तद्गतेनैव चेतसा ।
आययौ पश्चिमे भागे तद्वृद्धावेश्म पुत्रकः ॥६८॥
इत्थं प्रतिनिशं तत्र कुर्वाणेऽस्मिन्गतागतम् ।
सम्भोगचिह्नं पाटल्या रक्षिभिर्दृष्टमेकदा ॥६९॥
तैस्तदावेदितं तस्याः पितुः सोऽपि नियुक्तवान् ।
गूढमन्तःपुरे तत्र निशि नारीमवेक्षितुम् ॥७०॥
तया च तस्य प्राप्तस्य तत्राभिज्ञानसिद्धये ।
पुत्रकस्य प्रसुप्तस्य न्यस्तं वासस्यलक्तकम् ॥७१॥
प्रातस्तया च विज्ञप्तो राजा चारान्व्यसर्जयत् ।
सोऽभिज्ञानाच्च तैः प्राप्तः पुत्रको जीर्णवेश्मनि ॥७२॥
आनीतो राजनिकटं कुपितं वीक्ष्य तं नृपम् ।
पादुकाभ्यां खमुत्पत्य पाटलीमन्दिरेऽविशत् ॥७३॥
विदितौ स्वस्तदुत्तिष्ठ गच्छावः पादुकावशात् ।
इत्यङ्के पाटलीं कृत्वा जगाम नभसा ततः ॥७४॥
अथ गङ्गातटनिकटे गगनादवतीर्य स प्रियश्रान्ताम् ।
पात्रप्रभावजातैराहारैर्नन्दयामास ॥७५॥
आलोकितप्रभावः पाटल्या पुत्रकोऽर्थितश्च ततः ।
यष्ट्या लिलेख तत्र स नगरं चतुरङ्गबलयुक्तम् ॥७६॥
तत्र राजा भूत्वा महाप्रभावे च सत्यतां प्राप्ते ।
नमयित्वा तं श्वशुरं शशास पृथ्वीं समुद्रान्ताम् ॥७७॥
तदिदं दिव्यं नगरं मायारचितं सपौरमत एव ।
नाम्ना पाटलिपुत्रं क्षेत्रं लक्ष्मीसरस्वत्योः ॥७८॥
इति वर्षमुखादिमामपूर्वां वयमाकर्ण्य कथामतीव चित्राम् ।
चिरकालमभूम काणभूते विलसद्विस्मयमोदमानचित्ताः ॥७९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे प्रथमे कथापीठलम्बके
तृतीयस्तरङ्गः ।

उस राजा पुत्रक को देखकर पाटली की आँखों में लज्जा और आश्चर्य का संमर्द होने लगा । परपुरुष को देखकर लज्जा और उसका ऐसे अवसर पर वहाँ उपस्थित होना आश्चर्य का कारण था ।।६६।।

इसके अनन्तर वार्त्तालाप और गन्धर्व-विवाह हो जाने पर दोनों में परस्पर प्रीति बढ़ने लगी; किन्तु रात नहीं बढ़ी, अर्थात् रात समाप्त हो गई ।।६७।।

रात्रि के अन्तिम प्रहर में वह राजा पुत्रक, उत्कण्ठित वधू (पाटली) से कहकर तल्लीन भाव से उस वृद्धा के पुराने घर पर लौट आया ।।६८।।

इस प्रकार, पुत्रक प्रत्येक रात्रि में पाटली के यहाँ यातायात करता रहा । किन्तु, एक बार पाटली के रक्षकों ने उसके सम्भोग-चिह्नों को देख लिया ।।६९।।

रक्षकों (पहरेदारों) ने सारी परिस्थिति राजा से बता दी । राजा ने पाटली के भवन में रात्रि को देखने के लिए एक स्त्री-जासूस को नियुक्त कर दिया ।।७०।।

इस प्रकार, एक दिन उस गुप्त स्त्री ने, पहचान के लिए, सोये हुए पुत्रक के वस्त्र में पाटली की महावर लगा दी ।।७१।।

प्रातःकाल उस जासूस स्त्री ने राजा को बताया और राजा ने भी अपने दूतों को उसे पकड़ने के लिए भेज दिया । दूतों ने उस पुराने घर से महावर में सने कपड़े के सूत्र से उसकी पहचान करके वृद्धा के घर पर पुत्रक को पकड़ लिया ।।७२।।

दूत पुत्रक को पकड़कर उसे राजा के पास ले आये । किन्तु, पुत्रक ने जब राजा को क्रुद्ध होते हुए देखा, तब खड़ाऊँ के प्रभाव से वह आकाश-मार्ग से पाटली के घर में पहुँच गया ।।७३।।

उसने पाटली से कहा—'हमलोग पकड़े गये ! तुम उठो, खड़ाऊँ के प्रभाव से निकल भागते हैं ।' ऐसा कहकर और पाटली को गोद में उठाकर पुत्रक आकाश-मार्ग से निकल गया ।।७४।।

तदनन्तर, गंगातट के समीप आकाश-मार्ग से उतरकर पुत्रक ने थकी हुई पाटली को उस पात्र के प्रभाव से मिलनेवाले विविध भोजन से प्रसन्न किया ।।७५।।

पाटली ने पुत्रक के प्रभाव को देखकर प्रार्थना की और उसके प्रार्थनानुसार पुत्रक ने उस छड़ी से चतुरंगिणी सेना-सहित जमीन पर एक नगर का नक्शा बनाया ।।७६।।

छड़ी से लिखे गये और सचमुच बने हुए उस प्रभावशाली नगर में वह पुत्रक राजा बनकर बैठा और अपने प्रभाव से श्वशुर (पाटली के पिता) को वश में करके समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी का शासक बन गया ।।७७।।

इस प्रकार, यह दिव्य नगर पुरवासियों-सहित माया से रचा गया, जो पाटलीपुत्र नाम से लक्ष्मी और सरस्वती का क्षेत्र हुआ" ।।७८।।

वररुचि ने कहा—'हे काणभूते, इस प्रकार उपाध्याय वर्ष के मुख से यह अपूर्व और विचित्र कथा सुनकर हम सब आश्चर्य से आनन्दित हुए' ।।७९।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के प्रथम लम्बक का तृतीय तरंग समाप्त ।

चतुर्थस्तरङ्गः

इत्याख्याय कथां मध्ये विन्ध्यान्तः काणभूतये ।
पुनर्वररुचिस्तस्मै प्रकृतार्थमवर्णयत् ॥१॥
एवं व्याडीन्द्रदत्ताभ्यां सह तत्र वसन् क्रमात् ।
प्राप्तोऽहं सर्वविद्यानां पारमुत्क्रान्तशैशवः ॥२॥
इन्द्रोत्सवं कदाचिच्च प्रेक्षितुं निर्गता वयम् ।
कन्यामेकामपश्याम कामस्यास्त्रमसायकम् ॥३॥
इन्द्रदत्तो मया पृष्टस्ततः केयं भवेदिति ।
उपवर्षसुता सेयमपकोशेति सोऽब्रवीत् ॥४॥
सा सखीभिश्च मां ज्ञात्वा प्रीतिपेशलया दृशा ।
कर्षन्ती मन्मनः कृच्छ्रादगच्छद् भवनं निजम् ॥५॥
पूर्णचन्द्रमुखी नीलनीरजोत्तमलोचना ।
मृणालनालललितभुजा पीनस्तनोज्ज्वला ॥६॥
कम्बुकण्ठी प्रवालाभरदनच्छदशोभिनी ।
स्मरभूपतिसौन्दर्यमन्दिरे वेन्दिरापरा ॥७॥
ततः कामशरापातनिर्भिन्ने हृदये न मे ।
निशि तस्यामभून्निद्रा तद् बिम्बोष्ठपिपासया ॥८॥
कथञ्चिल्लब्धनिद्रोऽहमपश्यं रजनीक्षये ।
शुक्लाम्बरधरां दिव्यां स्त्रियं सा मामभाषत ॥९॥
पूर्वभार्योपकोशा ते गुणज्ञा नापरं पतिम् ।
कञ्चिदिच्छत्यतश्चिन्ता पुत्र कार्यात्र न त्वया ॥१०॥
अहं सदा शरीरान्तर्वासिनी ते सरस्वती ।
त्वद्दुःखं नोत्सहे द्रष्टुमित्युक्त्वान्तर्हिताऽभवत् ॥११॥
ततः प्रबुद्धो जातास्थो गत्वाऽतिष्ठमहं शनैः ।
दयिता-मन्दिरासन्न-बालचूत-तरोरधः ॥१२॥
अथागत्य समाख्यातं तत्सख्या मन्निबन्धनम् ।
उद्गाढमुपकोशाया नवानङ्गविजृम्भितम् ॥१३॥
ततोऽहं द्विगुणीभूततापस्तामेवमब्रवम् ।
अदत्तां गुरुभिः स्वेच्छमुपकोशां कथं भजे ॥१४॥

चतुर्थ तरंग

उपकोशा की कथा

विन्ध्यारण्य में इस प्रकार वररुचि ने काणभूति को कथा सुनाकर पुनः प्रासंगिक विषय का वर्णन प्रारम्भ किया ॥१॥

इसी क्रम से व्याडि और इन्द्रदत्त के साथ पाटलिपुत्र में रहते हुए बाल्यावस्था के समाप्त होते-होते मैं समस्त विद्याओं का पारगामी पण्डित हो गया ॥२॥

एक बार इन्द्रोत्सव देखने के लिए हम लोग, नगर में निकले, तो वहाँ हम लोगों ने एक कन्या देखी; जो मानों कामदेव के सायक (बाण)-विहीन अस्त्र (धनुष) के समान थी ॥३॥

उसे देखकर मैंने अपने सहपाठी इन्द्रदत्त से पूछा कि 'यह कौन होगी ?' उत्तर में उसने मुझसे कहा कि 'उपवर्ष की कन्या उपकोशा है' ॥४॥

उसने भी अपनी सखियों से मेरा परिचय प्राप्त किया और प्रेमपूर्ण दृष्टि से मेरे मन को खींचती हुई किसी तरह अपने घर को चली गई ॥५॥

उस उपकोशा का मुख, पूर्णचन्द्र के समान गोल और आकर्षक था। आँखें, नील-कमल के समान सुन्दर थीं। भुजाएँ, कमलनाल के समान कोमल तथा सुन्दर थीं और पीन स्तनों से वह अधिक आकर्षक हो रही थी ॥६॥

उसका गला, शंख के समान था, और प्रवाल या मूँगे के समान रक्ताभ ओठों से उसकी शोभा और बढ़ रही थी। इस प्रकार, वह मानों काम-रूपी महीपति के सौन्दर्य-मन्दिर की दूसरी गृहलक्ष्मी के समान थी ॥७॥

उसके देखने के अनन्तर काम-बाण से मेरे हृदय के बिंध जाने से, अतएव उसके बिम्बाधरों की पिपासा के कारण व्याकुल मुझे उस रात को नींद नहीं आई ॥८॥

किसी प्रकार रात्रि के व्यतीत होने पर प्रातःकाल मुझे निद्रा आई। उस समय स्वप्न में श्वेतवस्त्रधारिणी किसी दिव्य स्त्री ने मुझसे कहा—॥९॥

'उपकोशा, तुम्हारी पूर्वजन्म की पत्नी है। वह तुम्हारे गुणों पर अनुरक्त है और वह दूसरे को पति नहीं बनाना चाहती। इसलिए हे पुत्र! तुम उसकी चिन्ता न करो ॥१०॥

मैं तुम्हारे शरीर के अन्दर सदा रहनेवाली सरस्वती हूँ, इसलिए मैं तुम्हारा कष्ट नहीं देख सकती'। इतना कहकर वह अन्तर्हित हो गई ॥११॥

प्रात.काल जगकर मैं विश्वस्त हो गया और धीरे-धीरे उपकोशा के मकान के समीप आम के छोटे वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गया ॥१२॥

कुछ समय के पश्चात् उपकोशा की सखी ने आकर उसकी गम्भीर काम-पीडा की शुभ सूचना दी ॥१३॥

उसकी अवस्था को जानकर, दूना सन्तप्त होकर मैंने उसकी सखी से कहा—'गुरुजनों के दान के विना मैं उपकोशा को स्वच्छन्दतापूर्वक कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ?' ॥१४॥

वरं हि मृत्युर्नाकीर्त्तिस्तत्सखीहृदयं तव ।
गुरुभिर्यदि बुध्येत तत्कदाचिच्छिवं भवेत् ॥१५॥

तदेतत्कुरु भद्रे त्वं तां सखीं मां च जीवय ।
तच्छ्रुत्वा सा गता सख्या मातुः सर्वं न्यवेदयत् ॥१६॥

तया तत्कथितं भर्त्तुरुपवर्षस्य तत्क्षणम् ।
तेन भ्रातुश्च वर्षस्य तेन तच्चाभिनन्दितम् ॥१७॥

विवाहे निश्चिते गत्वा व्याडिरानयति स्म ताम् ।
वर्षाचार्यनिदेशेन कौशाम्ब्या जननीं मम ॥१८॥

अथोपकोशा विधिवत्पित्रा मे प्रतिपादिता ।
ततो मात्रा गृहिण्या च समं तत्रावसं सुखम् ॥१९॥

अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत् ।
तत्रैकः पाणिनिर्नाम[1] जडबुद्धितरोऽभवत् ॥२०॥

स शुश्रूषापरिक्लिष्टः प्रेषितो वर्षभार्यया ।
अगच्छत्तपसे खिन्नो विद्याकामो हिमालयम् ॥२१॥

तत्र तीव्रेण तपसा तोषितादिन्दुशेखरात् ।
सर्वविद्यामुखं तेन प्राप्तं व्याकरणं नवम् ॥२२॥

ततश्चागत्य मामेव वादायाह्वयते स्म सः ।
प्रवृत्ते चावयोर्वादे प्रयाताः सप्त वासराः ॥२३॥

अष्टमेऽह्नि मया तस्मिञ्जिते तत्समनन्तरम् ।
नभस्थेन महाघोरो हुङ्कारः शम्भुना कृतः ॥२४॥

तेन प्रणष्टमैन्द्रं तदस्मद्व्याकरणं भुवि ।
जिताः पाणिनिना सर्वे मूर्खीभूता वयं पुनः ॥२५॥

अथ सञ्जातनिर्वेदः स्वगृहस्थितये धनम् ।
हस्ते हिरण्यगुप्तस्य विधाय वणिजो निजम् ॥२६॥

उक्त्वा तच्चोपकोशायै गतवानस्मि शङ्करम् ।
तपोभिराराधयितुं निराहारो हिमालयम् ॥२७॥

---

१. अप्रामाणिकमश्रद्धेयञ्चैतत्। एतद्विवरणं परिशिष्टे विशदीकृतम् ।

"निन्दा होने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ है। इसलिए, उपकोशा के माता-पिता तुम्हारी सखी के मनोभाव को यदि समझ लें, तो कल्याण हो सकता है ।।१५।।

इसलिए, तुम ऐसा करके अपनी सखी और मुझे दोनों को जिलाओ, तुम्हारा कल्याण हो।" यह सुनकर वह घर गई और उपकोशा की माता से सारा वृत्तान्त कह सुनाया ।।१६।।

उपकोशा की माता ने यह सब वृत्तान्त अपने पति उपवर्ष से कहा। उपवर्ष ने अपने बड़े भाई वर्ष से कहा और वर्ष ने उसका अनुमोदन किया ।।१७।।

इस प्रकार, विवाह का निश्चय हो जाने पर आचार्य वर्ष की आज्ञा से व्याडि कौशाम्बी से मेरी माता को लिवा लिया ।।१८।।

तदनन्तर, उसके पिता उपवर्ष ने, विवाह-तिथि पर विधिपूर्वक उपकोशा मुझे प्रदान कर दी और मैं भी माता तथा पत्नी के साथ पाटलिपुत्र में सुखपूर्वक रहने लगा ।।१९।।

पाणिनि की कथा[1]

कुछ समय के अनन्तर उपाध्याय वर्ष के शिष्यों की संख्या बढ़ी। उसमें पाणिनि नाम का एक शिष्य अत्यन्त जडबुद्धि था ।।२०।।

उसे गुरु-गृह में सेवा करते हुए अत्यन्त क्लेश-युक्त और खिन्न देखकर गुरु-पत्नी ने विद्या-प्राप्ति की कामना से तपस्या करने के लिए हिमालय जाने को कहा और वह चला गया ।।२१।।

तब वहाँ उसने अपनी कठोर तपस्या स प्रसन्न हुए शिवजी से सब विद्याओं के मुख-स्वरूप नवीन व्याकरण को प्राप्त किया ।।२२।।

हिमालय से लौटने पर पाणिनि ने मुझे शास्त्र-विचार के लिए ललकारा। फलतः, हम लोगों का शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ और सात दिन व्यतीत हो गये ।।२३।।

आठवें दिन मेरे द्वारा शास्त्रार्थ में पाणिनि को जीत लेने पर आकाश से शिवजी ने भयंकर हुंकार किया ।।२४।।

इस विवाद में हमारा पढ़ा हुआ ऐन्द्र व्याकरण पृथ्वी से नष्ट हो गया। तब पाणिनि ने हम लोगों को जीत लिया और हम सब फिर मूर्ख हो गये ।।२५।।

इस शास्त्र-विचार में पाणिनि से पराजित होने के कारण मुझे अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ और घर का खर्च चलाने के लिए कुछ धन, हिरण्यगुप्त को देकर और यह बात उपकोशा को बताकर तपस्या से शंकरजी को प्रसन्न करने के लिए मैं निराहार होकर हिमालय को चला गया ।।२६-२७।।

---

१. इसमें वर्णित पाणिनि की कथा ऐतिहासिक, श्रद्धेय और प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। पाणिनि और वररुचि के समय में पर्याप्त अन्तर है। परिशिष्ट-प्रकरण में 'पाणिनि' देखिए।

उपकोशा हि मे श्रेयः काङ्क्षन्ती निजमन्दिरे ।
अतिष्ठत्प्रत्यहं स्नान्ती गङ्गायां नियतव्रता ॥२८॥
एकदा सा मधौ प्राप्ते क्षामा पाण्डुर्मनोरमा ।
प्रतिपच्चन्द्रलेखेव जनलोचनहारिणी ॥२९॥
स्नातुं त्रिपथगां यान्ती दृष्टा राजपुरोधसा ।
दण्डाधिपतिना चैव कुमारसचिवेन च ॥३०॥
तत्क्षणात्ते गताः सर्वे स्मरसायकलक्ष्यताम् ।
सापि तस्मिन्दिने स्नान्ती कथमप्यकरोच्चिरम् ॥३१॥
आगच्छन्तीं च सायं तां कुमारसचिवो हठात् ।
अग्रहीदथ साप्येनमवोचत्प्रतिभावती ॥३२॥
अभिप्रेतमिदं भद्र यथा तव तथा मम ।
किं त्वहं सत्कुलोत्पन्ना प्रवासस्थितभर्त्तृका ॥३३॥
कथमेवं प्रवर्त्तेय पश्येत्कोऽपि कदाचन ।
ततश्च ध्रुवमश्रेयस्त्वया सह भवेन्मम ॥३४॥
तस्मान्मधूत्सवाक्षिप्तपौरलोके गृहं मम ।
आगन्तव्यं ध्रुवं रात्रेः प्रथमे प्रहरे त्वया ॥३५॥
इत्युक्त्वा कृतसन्धा सा तेन क्षिप्ता विधेर्वशात् ।
यावत्किञ्चिद् गता तावन्निरुद्धा सा पुरोधसा ॥३६॥
तस्यापि तत्रैव दिने तद्वदेव यथा निशि ।
सङ्केतकं द्वितीयस्मिन् प्रहरे पर्यकल्प्यत ॥३७॥
मुक्ता कथञ्चित्तेनापि प्रयातां किञ्चिदन्तरम् ।
दण्डाधिपो रुणद्धि स्म तृतीयस्तां सुविह्वलाम् ॥३८॥
अथ तस्यापि दिवसे तस्मिन्नेव तथैव सा ।
सङ्केतकं त्रियामायां तृतीये प्रहरे व्यधात् ॥३९॥
दैवात्तेनापि निर्मुक्ता सकम्पा गृहमागता ।
कर्त्तव्यां सा स्वचेटीनां संविदं स्वैरमब्रवीत् ॥४०॥
वरं पत्यौ प्रवासस्थे मरणं कुलयोषितः ।
न तु रूपारमल्लोकलोचनापातपात्रता ॥४१॥
इति सञ्चिन्तयन्ती च स्मरन्ती मां निनाय सा ।
शोचन्ती स्वं वपुः साध्वी निराहारैव तां निशाम् ॥४२॥

उपकोशा की कथा[1] (क्रमागत)

मेरे तपस्या के लिए चले जाने पर मेरी कल्याण-कामना करती हुई उपकोशा भी नियमित व्रत लेकर प्रतिदिन गंगा-स्नान करती थी ।।२८।।

एक बार मेरे विरह में दुर्बल, पीली, अतएव मनोहर और प्रतिपदा के चन्द्र के समान जन-लोचनों के लिए आकर्षक उपकोशा, वसन्त-समय में, गंगा-स्नान के लिए जा रही थी। मार्ग में उस नयन-मधुर आकृति को राजपुरोहित, नगरपाल तथा युवराज के मन्त्री ने देखा ।।२९-३०।।

उसे देखकर वे तीनों काम-बाण के लक्ष्य बन गये । उनकी अवस्था को समझकर उपकोशा ने भी स्नान करने में जान-बूझकर विलम्ब किया ।।३१।।

सायंकाल गंगा-स्नान से लौटकर आती हुई उपकोशा को कुमार सचिव ने बलपूर्वक रोका, किन्तु प्रतिभावती उपकोशा ने उससे कहा ।।३२।।

'भले आदमी ! यह ठीक है । जो तुम चाहते हो; वही मैं भी चाहती हूँ । किन्तु, मैं उच्च कुल में उत्पन्न हुई हूँ और प्रोषितभर्त्तृका हूँ ।।३३।।

अतः, इस प्रकार का कार्य ही क्यों किया जाय । यदि कदाचित् कोई देख ले, तो तुम्हारे साथ मेरा भी कल्याण नहीं होगा ।।३४।।

इसलिए, वसन्तोत्सव की धूमधाम में नागरिकों के व्यस्त रहने पर तुम रात के पहले पहर मेरे घर पर आओ' ।।३५।।

ऐसा कहकर उससे प्रतिज्ञा करके उपकोशा उससे छूटकर जब कुछ आगे बढ़ी, तब दैवयोग से उसे पुरोहित ने आ घेरा ।।३६।।

उपकोशा ने उससे भी उसी दिन, उसी प्रकार, रात के दूसरे पहर आने का निश्चय किया ।।३७।।

पुरोहित से किसी प्रकार छूटकर वह विह्वल उपकोशा ऐसे ही कुछ दूर गई थी कि नगरशासक (शहर-कोतवाल) ने भी उसी प्रकार उसे रोका ।।३८।।

इसके बाद उपकोशा ने, उसे भी, उसी प्रकार, उसी दिन, उसी रात के तीसरे पहर में, घर पर आने का संकेत किया ।।३९।।

विधिवशात् उससे भी छूटी हुई उपकोशा काँपती हुई अपने घर पहुँची और अपनी दासियों को बुलाकर स्वतन्त्रतापूर्वक कर्त्तव्य-निर्धारण करते हुए बोली ।।४०।।

'पति के प्रवास में रहने पर कुलस्त्री का मर जाना अच्छा है; किन्तु रूप पर मरने-वालों की आँखों पर चढ़ना अच्छा नहीं' ।।४१।।

इस प्रकार सोचती हुई तथा मुझे स्मरण करती हुई उस पतिव्रता उपकोशा ने निराहार रहकर उस रात्रि को व्यतीत किया ।।४२।।

---

१. इस कथा से मिलती-जुलती कहानी, बर्टन के अरेबियन नाइट्स में एक मिस्री स्त्री और उसके चार यारों की कहानी में है । अँगरेजी के उपन्यासों में भी परियों की कहानी में ऐसा प्रसंग मिलता है ।—अनु०

प्रातर्ब्राह्मणपूजार्थं व्यसर्जि वणिजस्तया ।
चेटी हिरण्यगुप्तस्य किञ्चिन्मार्गयितुं धनम् ॥४३॥
आगत्य सोऽपि तामेवमेकान्ते वणिगब्रवीत् ।
भजस्व मां ततो भर्त्तृस्थापितं ते ददामि तत् ॥४४॥
तच्छ्रुत्वा साक्षिरहितां मत्वा भर्त्तृधनस्थितिम् ।
वणिजं पापमालोक्य खेदामर्षकदर्थिता ॥४५॥
तस्यामेवात्र सङ्केतं रात्रौ तस्यापि पश्चिमे ।
शेषे पतिव्रता यामे साकरोदथ सोऽगमत् ॥४६॥
ततः साकारयद् भूरि चेटीभिः कुण्डकस्थितम् ।
कस्तूरिकादिसंयुक्तं कज्जलं तैलमिश्रितम् ॥४७॥
तल्लिप्ताश्चैलखण्डाश्च चत्वारो विहितास्तया ।
मञ्जूषा कारिता चाभूत्स्थूला सबहिर्गला ॥४८॥
अथ तस्मिन्महावेषो वसन्तोत्सववासरे ।
आययौ प्रथमे यामे कुमारसचिवो निशि ॥४९॥
अलक्षितं प्रविष्टं तमुपकोशेदमब्रवीत् ।
अस्नातं न स्पृशामि त्वां तत्स्नाहि प्रविशान्तरम् ॥५०॥
अङ्गीकुर्वन्स तन्मूढश्चेटिकाभिः प्रवेशितः ।
अभ्यन्तरगृहं गुप्तमन्धकारमयं ततः ॥५१॥
गृहीत्वा तत्र तस्यान्तर्वस्त्राण्याभरणानि च ।
चैलखण्डं तमेकं च दत्त्वान्तर्वाससः कृते ॥५२॥
आशिरःपादमङ्गेषु ताभिस्तत्तैलकज्जलम् ।
अभ्यङ्गभङ्ग्या पापस्य न्यस्तं घनमपश्यतः ॥५३॥
अतिष्ठन्मर्दयन्त्यस्तत्प्रत्यङ्गं यावदस्य ताः ।
तावद् द्वितीये प्रहरे स पुरोधा उपागमत् ॥५४॥
मित्रं वररुचेः प्राप्तः किमप्येष पुरोहितः ।
तदिह प्रविशेत्युक्त्वा चेट्यस्तास्तं तथाविधम् ॥५५॥
कुमारसचिवं नग्नं मञ्जूषायां ससम्भ्रमम् ।
निचिक्षिपुरथाबध्नन्नर्गलेन बहिश्च ताम् ॥५६॥
सोऽपि स्नानमिषान्नीतस्तमस्यन्तः पुरोहितः ।
तथैव हृतवस्त्रादिस्तैलकज्जलमर्दनैः ॥५७॥
चैलखण्डधरस्तावच्चेटिकाभिर्विमोहितः ।
यावत्तृतीये प्रहरे दण्डाधिपतिरागमत् ॥५८॥

सवेरे उठकर उसने ब्राह्मणों को भोजन कराने तथा उनकी पूजा करने के लिए कुछ धन लाने के लिए हिरण्यगुप्त बनिये के पास दासी को भेजा ।।४३।।

वह बनिया भी एकान्त में आकर उससे (उपकोशा से) बोला कि 'यदि तुम मेरी सेवा करो, तो मैं तुम्हारे पति का रखा हुआ धन तुम्हें दे दूँगा' ।।४४।।

ऐसा सुनकर और पति के रखे हुए धन में किसी की पक्की साक्षी न होने के कारण उपकोशा दुःख और क्रोध से अधीर हो गई और उसने बनिये को भी उसी दिन, उसी रात के चतुर्थ प्रहर में, आने का निमन्त्रण दिया; जिसे सुनकर प्रसन्न बनिया चला गया ।।४५-४६।।

तब उसने तेल मिलाकर कुँड़ों में रखा हुआ बहुत-सा अलकतरा सखियों (दासियों) से मँगाया और उसमें कस्तूरी आदि अनेक सुगन्धित द्रव्य मिलाये ।।४७।।

उसने उस कोलतार से सने हुए चार छोटे-छोटे कपड़े के टुकड़े (कमर में लपेटने के लिए) तैयार कराये और एक बड़ा भारी सन्दूक बनवाया, जिसमें बाहर से बन्द करने की अर्गला (कुण्डी) लगी हुई थी ।।४८।।

कुछ समय के अनन्तर उस वसन्तोत्सव के दिन रात के पहले प्रहर के समय कुमारसचिव, सुन्दर वेष धारण किये हुए सजधज के साथ आया ।।४९।।

चुपचाप घर में आये हुए उस कुमारसचिव से उपकोशा ने कहा—'विना स्नान किये मैं तुम्हारा स्पर्श न करूँगी ?' अतः, पहले अन्दर जाकर स्नान करो ।।५०।।

उस मूर्ख ने स्नान करना स्वीकार किया, तो उसे दासियों ने अन्धकारमय स्नानागार में प्रवेश करा दिया ।।५१।।

उसे अन्दर ले जाकर दासियों ने उसके गहने, कपड़े उतार लिये और कमर में लपेटने के लिए (काजल से सना) कपड़े का एक टुकड़ा दे दिया ।।५२।।

घने अन्धकार में कुछ न देखते हुए उस पापी के मालिश करने के बहाने सिर से पैर तक के सभी अंगों को उन सखियों (दासियों) ने तेल मिले हुए उस अलकतरे से काला कर दिया ।।५३।।

दासियाँ जबतक उसके एक-एक अंग को काजल से मल रही थी, तबतक दूसरे पहर में पुरोहित आ गया ।।५४।।

तब दासियों ने कहा अरे ! वररुचि का मित्र राजपुरोहित आ गया । अतः, तुम ऐसे ही जाकर इस सन्दूक में छिप जाओ । इस प्रकार उन्होंने, घबराहट के साथ उस नंगे कुमार-सचिव को, उस सन्दूक में घुसाकर बाहर से अर्गला लगाकर बन्द कर दिया ।।५५-५६।।

दासियाँ पुरोहित को भी स्नान कराने के बहाने अँधेरे स्नानागार में ले गईं और उसके कपड़े उतारकर तेल मिले हुए काजल से उसकी भी मालिश करने लगीं । इस प्रकार, एक कपड़े का टुकड़ा लपेटा हुआ वह पुरोहित भी दासियों द्वारा मूर्ख बनाया गया । इतने में तीसरे पहर कोतवाल भी आ गया ।।५७-५८।।

तदागमनजाच्चैव चेटीभिः सहसा भयात् ।
आद्यवत्सोऽपि निक्षिप्तो मञ्जूषायां पुरोहितः ॥५९॥
तस्य दत्त्वार्गलं ताभिः स्नानव्याजात्प्रविश्य सः ।
दण्डाधिपोऽपि तत्रैव तावत्कज्जलमर्दनैः ॥६०॥
अन्यवद् विप्रलब्धोऽभूच्चैलखण्डैककर्पटः ।
यावत्स पश्चिमे यामे वणिक्तत्रागतोऽभवत् ॥६१॥
तद्दर्शनभयं दत्त्वा क्षिप्तो दण्डाधिपोऽप्यथ ।
मञ्जूषायां स चेटीभिर्दत्तं च बहिरर्गलम् ॥६२॥
ते च त्रयोऽन्धतामिस्रवासाभ्यासोद्यता इव ।
मञ्जूषायां भियान्योन्यं स्पर्शं लब्ध्वापि नालपन् ॥६३॥
दत्वाथ दीपं गेहेऽत्र वणिजं तं प्रवेश्य सा ।
उपकोशावदद्देहि तन्मे भर्त्रार्पितं धनम् ॥६४॥
तच्छ्रुत्वा शून्यमालोक्य गृहं सोऽप्यवदच्छठः ।
उक्तं मया ददाम्येव यद् भर्त्रा स्थापितं धनम् ॥६५॥
उपकोशाऽपि मञ्जूषां श्रावयन्ती ततोऽब्रवीत् ।
एतद्धिरण्यगुप्तस्य वचः शृणुत देवताः ॥६६॥
इत्युक्त्वा चैव निर्वाप्य दीपं सोऽप्यन्धवद् वणिक् ।
लिप्तः स्नानापदेशेन चेटीभिः कज्जलैश्चिरम् ॥६७॥
अथ गच्छ गता रात्रिरित्युक्तः स निशाक्षये ।
अनिच्छन्गलहस्तेन[1] ताभिर्निर्वासितस्ततः ॥६८॥
अथ चीरैकवसनो मषीलिप्तः पदे पदे ।
भक्ष्यमाणः श्वभिः प्राप लज्जमानो निजं गृहम् ॥६९॥
तत्र दासजनस्यापि तां प्रक्षालयतो मषीम् ।
नाशकत्सम्मुखे स्थातुं कष्टो ह्यविनयक्रमः ॥७०॥
उपकोशाप्यथ प्रातश्चेटिकानुगता गता ।
गुरूणामनिवेद्यैव राज्ञो नन्दस्य मन्दिरम् ॥७१॥
वणिग्घिरण्यगुप्तो मे भर्त्रा न्यासीकृतं धनम् ।
जिहीर्षतीति विज्ञप्तस्तत्र राजा तया स्वयम् ॥७२॥

---

१. अर्धचन्द्रं दत्त्वेत्यर्थः ।

उसके आते ही दासियों ने घबराकर उस पुरोहित को भी पहलेवाले सन्दूक में बन्द कर दिया ॥५६॥

पुरोहित के सन्दूक को अर्गला में बन्द कर देने के पश्चात् दासियों ने कोतवाल को भी स्नान के बहाने स्नानागार में ले जाकर उसी प्रकार काजल की मालिश की ॥६०॥

पहले दोनों के समान उन दासियों द्वारा यह कोतवाल भी एक कपड़े का टुकड़ा पहनाकर मूर्ख बनाया गया। इतने में रात्रि के अन्तिम पहर में वह हिरण्यगुप्त नामक बनिया आ पहुँचा ॥६१॥

कोतवाल को, वह देख लेगा, इस प्रकार का भय दिखाकर दासियों ने उसे भी उसी सन्दूक में बन्द करके बाहर से अर्गला चढ़ा दी ॥६२॥

उस एक ही सन्दूक में, वे तीनों, मानों अन्धतामिस्र नरक में वास करने का अभ्यास करते हुए-से, परस्पर अंगस्पर्श होते हुए भी बोलते न थे ॥६३॥

उपकोशा ने दिया जलाकर और उस बनिये को स्नानागार में ले जाकर कहा—'मेरे पति का दिया हुआ धन मुझे लौटा दो' ॥६४॥

उपकोशा की बातें सुनकर और एकान्त घर को देखकर वह धूर्त बनिया बोला—'मैंने कह दिया कि तुम्हारे पति का रखा हुआ धन मैं अवश्य दे दूँगा' ॥६५॥

उपकोशा ने बन्द सन्दूक को सुनाते हुए कहा—'हे देवताओ। हिरण्यगुप्त का वचन सुनो' ॥६६॥

ऐसा कहकर उपकोशा ने दिया बुझा दिया और दासियों ने, उस बनिये को भी अन्य तीनों के समान, स्नान के बहाने से अलकतरे का लेप किया ॥६७॥

मर्दन में विलम्ब के कारण प्रातःकाल होते ही दासियों ने उससे कहा कि 'अब जाओ, रात समाप्त हो गई'। जब उसने जाने में आनाकानी की, तो दासियों ने गलहस्त (गर्दनिया) देकर उसे घर से बाहर निकाल दिया ॥६८॥

एक फटा चिथड़ा लपेटे हुए घर से निकाले जाने पर काजल से पुता हुआ, अतएव कुत्तों से काटा जाता हुआ बनिया, अत्यन्त लज्जा के साथ अपने घर पहुँचा ॥६९॥

घर जाकर जब उसके सेवक, उसके शरीर की कालिमा छुड़ाने लगे, तब तो वह उनके सामने भी मुँह न कर सका। सच है, बुरी बातों का परिणाम बुरा ही होता है ॥७०॥

इसके उपरान्त प्रातःकाल दासी को साथ लेकर उपकोशा भी अपने माता-पिता की आज्ञा के विना ही राजा नन्द के भवन को चली गई ॥७१॥

राजभवन में जाकर उसने राजा से स्वयं निवेदन किया कि हिरण्यगुप्त नामक बनिया, मेरे पति द्वारा उसके पास रखे हुए धन को, हड़प लेना चाहता है ॥७२॥

तेन तच्च परिज्ञातुं तत्रैवानायितो वणिक् ।
मद्धस्ते किञ्चिदप्यस्या देव नास्तीत्यभाषत ॥७३॥
उपकोशा ततोऽवादीत्सन्ति मे देव ! साक्षिणः ।
मञ्जूषायां गतः क्षिप्त्वा भर्त्ता मे गृहदेवताः ॥७४॥
स्ववाचा पुरतस्तासामनेनाङ्गीकृतं धनम् ।
तामानाय्येह मञ्जूषां पृच्छ्यन्तां देवतास्त्वया ॥७५॥
तच्छ्रुत्वा विस्मयाद्राजा तदानयनमादिशत् ।
ततः क्षणात्सा मञ्जूषा प्रापिता बहुभिर्जनैः ॥७६॥
अथोपकोशा वक्ति स्म सत्यं वदत देवताः ।
यदुक्तं वणिजानेन ततो यात निजं गृहम् ॥७७॥
नो चेद्दहाम्यहं युष्मान्सदस्युद्घाटयामि वा ।
तच्छ्रुत्वा भीतभीतास्ते मञ्जूषास्था बभाषिरे ॥७८॥
सत्यं समक्षमस्माकमनेनाङ्गीकृतं धनम् ।
ततो निरुत्तरः सर्वं वणिक्तत्प्रत्यपद्यत ॥७९॥
उपकोशामथाभ्यर्थ्य राज्ञा त्वतिकुतूहलात् ।
सदस्युद्घाटिता तत्र मञ्जूषा स्फोटितार्गला ॥८०॥
निष्कृष्टास्तेऽपि पुरुषास्तमःपिण्डा इव त्रयः ।
कृच्छ्राच्च प्रत्यभिज्ञाता मन्त्रिभिर्भूभृता तथा ॥८१॥
प्रहसत्स्वथ सर्वेषु किमेतदिति कौतुकात् ।
राज्ञा पृष्टा सती सर्वमुपकोशा शशंस तत् ॥८२॥
अचिन्त्यं शीलगुप्तानां चरितं कुलयोषिताम् ।
इति चाभिननन्दुस्तामुपकोशां सभासदः ॥८३॥
ततस्ते हृतसर्वस्वाः परदारैषिणोऽखिलाः ।
राज्ञा निर्वासिता देशाद्दशीलं कस्य भूतये ॥८४॥
भगिनी मे त्वमित्युक्त्वा दत्त्वा प्रीत्या धनं बहु ।
उपकोशाऽपि भूपेन प्रेषिता गृहमागमत् ॥८५॥
वर्षोपवर्षौ तद्बुद्ध्वा साध्वीं तामभ्यनन्दताम् ।
सर्वश्च विस्मयस्मेरः पुरे तत्राभवज्जनः ॥८६॥
अत्रान्तरे तुषाराद्रौ कृत्वा तीव्रतरं तपः ।
आराधितो मया देवो वरदः पार्वतीपतिः ॥८७॥

राजा ने, इस बात को जानने के लिए, बनिये को वहीं बुलवाया, तो बनिये ने राजा से कहा—'महराज ! मेरे पास इसका कुछ भी नहीं है' ।।७३।।

तब उपकोशा ने कहा—'महाराज ! इसके साक्षी मेरे गृह के देवता हैं, जिन्हें मेरे पति सन्दूक में बन्द कर गये हैं ।।७४।।

इस बनिये ने उन देवताओं के आगे अपने मुँह से धन स्वीकार किया है । आप उस सन्दूक को मँगाकर उन देवताओं से पूछिए ।।७५।।

ऐसा सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ और उसने सन्दूक लाने की आज्ञा दी और कुछ ही समय में बहुत व्यक्ति मिलकर उस सन्दूक को राजा के सामने ले आये ।।७६।।

सन्दूक आ जाने पर उपकोशा ने कहा—'हे देवताओ ! सच बोलो । जो इस बनिये ने कहा है—बताओ और फिर घर को जाओ ।।७७।।

'यदि तुम न बोलेगे, तो तुम्हें सन्दूक के साथ ही जला दूँगी या राजसभा में सन्दूक खोलकर तुम्हारा प्रदर्शन करूँगी ।' यह सुनकर सन्दूक के अन्दर से वे लोग भयभीत होकर बोले ।।७८।।

'सच है, इसने हम लोगों के सामने धन स्वीकार किया है ।' तब बनिये ने निरुत्तर होकर उसका धन स्वीकार किया ।।७९।।

इसके अनन्तर अत्यन्त कुतूहलवश राजा के साग्रह प्रार्थना करने पर उपकोशा ने, अर्गला तोड़कर उस सभा में सन्दूक खोल दिया ।।८०।।

सन्दूक खोलने पर अन्धकार के पिण्ड के समान वे तीनों पुरुष, उसमें से निकले, तो बड़ी कठिनता के साथ उन्हें राजा और मन्त्रियों ने पहचाना ।।८१।।

उन्हें देख सभी सभासदों के हँसने पर राजा ने आश्चर्य के साथ उपकोशा से पूछा कि 'यह क्या है ?' तब उपकोशा ने सारा वृत्तान्त सभा में सुना दिया ।।८२।।

'चरित्र की रक्षा करनेवाली कुलीन स्त्रियों के चरित्र अचिन्तनीय होते हैं ।' इस प्रकार सभी सभासद, उपकोशा के चरित्र की प्रशंसा करने लगे ।।८३।।

राजा ने समस्त वृत्तान्त सुनकर परदाराभिगामी उन तीनों की सम्पत्ति का हरण करके उन्हें देश से निकाल दिया । सच है, दुश्चरित्र किसके लिए कल्याणकारक होता है ।।८४।।

'तू मेरी बहिन है'—ऐसा कहकर तथा प्रसन्नता के साथ बहुत-सा धन देकर राजा ने उपकोशा को वापस भेज दिया । वह अपने घर आ गई ।।८५।।

वर्ष और उपवर्ष भी इस समाचार को जानकर उस पतिव्रता स्त्री का अभिनन्दन करने लगे और सभी नगर-निवासी इस समाचार से आश्चर्यचकित हो, मुस्कराने लगे ।।८६।।

इसी बीच मैंने हिमालय में कठोर तपस्या करके वरदानी महादेव की आराधना की ।।८७।।

तदेव तेन शास्त्रं मे पाणिनीयं प्रकाशितम् ।
तदिच्छानुग्रहादेव मया पूर्णीकृतं च तत् ॥८८॥
ततोऽहं गृहमागच्छमज्ञाताध्वपरिश्रमः ।
निशाकरकलामौलिप्रसादामृतनिर्भरः ॥८९॥
अथ मातुर्गुरूणां च कृतपादाभिवन्दनः ।
तत्रोपकोशावृत्तान्तं तमश्रौषं महाद्भुतम् ॥९०॥
तेन मे, परमां भूमिमात्मन्यानन्दविस्मयौ ।
तस्यां च सहजस्नेहबहुमानावगच्छताम् ॥९१॥
वर्षोऽथ मन्मुखादैच्छच्छ्रोतुं व्याकरणं नवम् ।
ततः प्रकाशितं स्वामिकुमारेणैव तस्य तत् ॥९२॥
ततो व्याडीन्द्रदत्ताभ्यां विज्ञप्तो दक्षिणां प्रति ।
गुरुर्वर्षोऽब्रवीत् स्वर्णकोटिर्मे दीयतामिति ॥९३॥
अङ्गीकृत्य गुरोर्वाक्यं तौ च मामित्यवोचताम् ।
एहि राज्ञः सखे नन्दाद्याचितुं गुरुदक्षिणाम् ॥९४॥
गच्छामो नान्यतोऽस्माभिरियत्काञ्चनमाप्यते ।
नवाधिकाया नवतेः कोटीनामधिपो हि सः ॥९५॥
वाचा तेनोपकोशा च प्राग्धर्मभगिनी कृता ।
अतः श्यालः स ते किञ्चित् त्वद्गुणैः समवाप्यते ॥९६॥
इति निश्चित्य नन्दस्य भूपतेः कटकं वयम् ।
अयोध्यास्थमगच्छाम त्रयः सब्रह्मचारिणः ॥९७॥
प्राप्तमात्रेषु चास्मासु स राजा पञ्चतां गतः ।
राष्ट्रे कोलाहलं जातं विषादेन सहैव नः ॥९८॥
अवोचदिन्द्रदत्तोऽथ तत्क्षणं योगसिद्धिमान् ।
गतासोरस्य भूपस्य शरीरं प्रविशाम्यहम् ॥९९॥
अर्थी वररुचिर्मेऽस्तु दास्याम्यस्मै च काञ्चनम् ।
व्याडी रक्षतु मे देहं ततः प्रत्यागमावधि ॥१००॥
इत्युक्त्वा नन्ददेहान्तरिन्द्रदत्तः समाविशत् ।
प्रत्युज्जीवति भूपे च राष्ट्रे तत्रोत्सवोऽभवत् ॥१०१॥
शून्ये देवगृहे देहमिन्द्रदत्तस्य रक्षितुम् ।
व्याडौ स्थिते गतोऽभूवमहं राजकुलं तदा ॥१०२॥

वररुचि का प्रत्यागमन

शिवजी ने मुझे उसी पाणिनीय शास्त्र (व्याकरण) का प्रकाश दिया और उन्हीं की कृपा से मैंने (वार्त्तिक बनाकर) उसे पूर्ण किया ॥८८॥

तब मैं चन्द्रमौलीश्वर (महादेव) की कृपा के अमृत से तृप्त होकर मार्ग के श्रम को कुछ भी न समझते हुए अनायास ही घर चला आया ॥८९॥

घर आकर माता और गुरुजनों का चरणस्पर्श करके मैंने उपकोशा के अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त को सुना ॥९०॥

इस समाचार से मेरे आश्चर्य और आनन्द की सीमा न रही और उपकोशा के प्रति स्वाभाविक स्नेह और सम्मान की भावना भी असीम हो गई ॥९१॥

उपाध्याय वर्ष ने, मेरे मुख से, इस नवीन व्याकरण को, सुनने की इच्छा प्रकट की; किन्तु स्वामिकुमार ने उपाध्याय के हृदय में उसे स्वयं ही प्रकाशित कर दिया ॥९२॥

तब व्याडि और इन्द्रदत्त ने गुरु वर्ष से गुरु-दक्षिणा के लिए प्रार्थना की। उत्तर में गुरु वर्ष ने कहा कि 'एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा मुझे दो' ॥९३॥

गुरु वर्ष की आज्ञा को स्वीकार कर व्याडि और इन्द्रदत्त दोनों ने मुझसे कहा—'आओ मित्र ! राजा नन्द से गुरु-दक्षिणा माँगने के लिए चलें ॥९४॥

अन्य किसी से इतना सुवर्ण नहीं प्राप्त हो सकता; क्योंकि राजा नन्द इस समय निन्यानब्बे करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं का स्वामी है ॥९५॥

उसने कुछ समय पहले (तुम्हारी धर्मपत्नी) उपकोशा को धर्म की बहिन भी माना है। अतः, वह तुम्हारा साला होता है। इस नाते भी तुम्हारे चलने पर धन मिल सकता है' ॥९६॥

ऐसा निश्चय करके हम तीनों सहपाठी, अयोध्या में लगे हुए नन्द के शिविर में गये ॥९७॥

हम लोगों के वहाँ पहुँचते ही राजा नन्द का देहान्त हो गया और हमारे दुःख के साथ सारे राष्ट्र में कोलाहल मच गया ॥९८॥

इसी समय योग की सिद्धियों को जानने वाला इन्द्रदत्त बोला—'मैं इस मृत राजा के शरीर में (परकाय-प्रवेश[1]-विद्या द्वारा) प्रवेश करता हूँ ॥९९॥

वररुचि अर्थी बने, मैं इसे धन दूँगा और मेरे पुनः लौटने तक व्याडि मेरे वास्तविक शरीर की रक्षा करे ॥१००॥

ऐसा कहकर इन्द्रदत्त, अपनी विद्या के प्रभाव से राजा नन्द के शव में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार राजा के पुनर्जीवित होने पर सारे राष्ट्र में उत्सव मनाया गया ॥१०१॥

एकान्त देव-मन्दिर में, इन्द्रदत्त के शरीर की रक्षा के लिए व्याडि बैठ गया और मैं राजा के समीप गया ॥१०२॥

---

१. योग के द्वारा परकाय-प्रवेश किया जाता था। इसका रहस्य अगले खण्ड में मय दानव के द्वारा प्रकट किया गया है। —अनु०

प्रविश्य स्वस्तिकारं च विधाय गुरुदक्षिणाम् ।
योगनन्दो मया तत्र हेमकोटिं स याचितः ॥१०३॥
ततः स शकटालाख्यं सत्यनन्दस्य मन्त्रिणम् ।
सुवर्णकोटिमेतस्मै दापयेति समादिशत् ॥१०४॥
मृतस्य जीवितं दृष्ट्वा सद्यश्च प्राप्तिमर्थिनः ।
स तत्त्वं ज्ञातवान्मन्त्री किमज्ञेयं हि धीमताम् ॥१०५॥
देव ! दीयत इत्युक्त्वा स च मन्त्रीत्यचिन्तयत् ।
नन्दस्य तनयो बालो राज्यं च बहुशत्रुमत् ॥१०६॥
तत्सम्प्रत्यत्र रक्षामि तस्य देहमपीदृशम् ।
निश्चित्यैतत्स तत्कालं शवान्सर्वानदाहयत् ॥१०७॥
चारैरन्विष्य तन्मध्ये लब्ध्वा देवगृहात्ततः ।
व्याडिं विधूय तद्दग्धमिन्द्रदत्तकलेवरम् ॥१०८॥
अत्रान्तरे च राजानं हेमकोटिसमर्पणे ।
त्वरमाणमथाह स्म शकटालो विचारयन् ॥१०९॥
उत्सवाक्षिप्तचित्तोऽयं सर्वः परिजनः स्थितः ।
क्षणं प्रतीक्षतामेष विप्रो यावद्ददाम्यहम् ॥११०॥
अथैत्य योगनन्दस्य व्याडिनाक्रन्दितं पुरः ।
अब्रह्मण्यमनुत्क्रान्तजीवो योगस्थितो द्विजः ॥१११॥
अनाथशव इत्यद्य बलाद्दग्धस्तवोदये ।
तच्छ्रुत्वा योगनन्दस्य काप्यवस्थाभवच्छुचा ॥११२॥
देहदाहात्स्थिरे तस्मिञ्जाते निर्गत्य मे ददौ ।
सुवर्णकोटिं स ततः शकटालो महामतिः ॥११३॥
योगनन्दोऽथ विजने सशोको व्याडिमब्रवीत् ।
शूद्रीभूतोऽस्मि विप्रोऽपि किं श्रिया स्थिरयापि मे ॥११४॥
तच्छ्रुत्वाश्वास्य तं व्याडिः कालोचितमभाषत ।
ज्ञातोऽसि शकटालेन तदेनं चिन्तयाधुना ॥११५॥
महामन्त्री ह्ययं स्वेच्छमचिरात्त्वां विनाशयेत् ।
पूर्वनन्दसुतं कुर्याच्चन्द्रगुप्तं हि भूमिपम् ॥११६॥
तस्माद् वररुचिं मन्त्रिमुख्यत्वे कुरु येन ते ।
एतद्बुद्धया भवेद्राज्यं स्थिरं दिव्यानुभावया ॥११७॥

राजभवन में जाकर राजा को आशीर्वाद देकर मैंने उस योगनन्द से गुरुदक्षिणा के लिए एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा की याचना की ।।१०३।।

तब योगनन्द ने शकटाल नामक पूर्वनन्द के मन्त्री को आज्ञा दी कि 'तुम इसे एक करोड़ की स्वर्ण-मुद्रा दिला दो' ।।१०४।।

मृत राजा का तुरन्त जीवित हो उठना और उसी समय याचक का उपस्थित हो जाना देखकर वह मन्त्री सच्ची बात को ताड़ गया । सच है, बुद्धिमानों के लिए कौन-सी बात अज्ञेय है ।।१०५।।

'राजन् ! देता हूँ'—ऐसा कहकर उस मन्त्री ने सोचा कि नन्द का लड़का अभी बालक है और राज्य के शत्रु भी बहुत हैं । अतः, इस (नकली) राजा के शरीर की अभी रक्षा करनी चाहिए । (कहीं कार्य होने पर यह भाग न जाय) यह निश्चय करके उसने तत्काल राज्य के सभी मुरदों को जलवा दिया ।।१०६-१०७।।

राज्य के गुप्तचरों ने ढूँढ-ढूँढकर मुरदों को जलाना शुरू किया । इसी प्रसंग में देवालय में पड़े हुए इन्द्रदत्त के शव को भी व्याडि से छीनकर हठात् जला दिया गया ।।१०८।।

इस बीच राजा को स्वर्ण देने में शीघ्रता करते हुए देख कर चतुर शकटाल बोला ।।१०९।।

महाराज ! सारे राज-कर्मचारी उत्सव के कार्यों में व्यस्त हैं । इसलिए, यह ब्राह्मण क्षण-भर प्रतीक्षा करे । तबतक मैं अभी देता हूँ ।।११०।।

इसी अवसर पर व्याडि ने आकर राजा के सामने रोना प्रारम्भ किया कि आपके इस शुभ उदयकाल में अत्यन्त पाप हो गया । प्राणों के शेष रहने पर भी योग-समाधि में स्थित ब्राह्मण के शव को—अनाथशव कहकर—तुम्हारे नौकरों ने जला डाला । यह सुनकर शोक के कारण योगनन्द[१] की कुछ अद्भुत एवं विचित्र-सी दशा हो गई ।।१११-११२।।

शरीर के दग्ध हो जाने पर नन्द के शरीर में इन्द्रदत्त की आत्मा को स्थिर समझकर महाबुद्धिमान् शकटाल ने उठकर मुझे एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ प्रदान कीं ।।११३।।

इसके अनन्तर वह योगनन्द, एकान्त में, खेद के साथ व्याडि से बोला—अब मैं ब्राह्मण होकर भी शूद्र हो गया । इसलिए मुझे इस स्थिर राज्यलक्ष्मी से भी क्या लाभ ।।११४।।

यह सुनकर व्याडि ने राजा को कालोचित आश्वासन देते हुए कहा—'तुम्हारा रहस्य शकटाल को मालूम हो गया है । इसलिए अब पहले इसकी चिन्ता करो ।।११५।।

यह महामन्त्री है । अपनी इच्छा से शीघ्र ही यह तुम्हारा नाश करके पूर्वनन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बनायेगा ।।११६।।

इसलिए, तुम वररुचि को अपना प्रधान मन्त्री बनाओ, उसकी दिव्य और प्रतिभाशाली बुद्धि से तुम्हारा राज्य स्थिर रहेगा ।।११७।।

---

१. योग के द्वारा पुनः जीवित होने के कारण इसका नाम योगनन्द पड़ा था । असली नन्द का नाम सत्यनन्द या पूर्वनन्द था । इस विषय में विस्तृत विवेचन परिशिष्ट में किया गया है ।—अनु०

इत्युक्त्वैव गते व्याडौ दातुं तां गुरुदक्षिणाम् ।
तदैवानीय दत्ता मे योगनन्देन मन्त्रिता ॥११८॥
अथोक्तः स मया राजा ब्राह्मण्ये हारितेऽपि ते ।
राज्यं नैव स्थिरं मन्ये शकटाले पदस्थिते ॥११९॥
तस्मान्नाशय युक्त्यैनमिति मन्त्रे मयोदिते ।
योगनन्दोऽन्धकूपान्तः शकटालं तमक्षिपत् ॥१२०॥
किं च पुत्रशतं तस्य तत्रैव क्षिप्तवानसौ ।
जीवन् द्विजोऽमुनादग्ध इति दोषानुकीर्त्तनात् ॥१२१॥
एकः शरावः सक्तूनामेकः प्रत्यहमम्भसः ।
शकटालस्य तत्रान्तः सपुत्रस्य न्यधीयत ॥१२१॥
स चोवाच ततः पुत्रानमीभिः सक्तुभिः सुताः ।
एकोऽपि कृच्छ्राद्वर्त्तेत बहूनां तु कथैव का ॥१२३॥
तस्मात्संभक्षयत्वेकः प्रत्यहं सजलानमून् ।
यः शक्तो योगनन्दस्य कर्त्तुं वैरप्रतिक्रियाम् ॥१२४॥
त्वमेव शक्तो भुङ्क्ष्वैतदिति पुत्रास्तमब्रुवन् ।
प्राणेभ्योऽपि हि धीराणां प्रिया शत्रुप्रतिक्रिया ॥१२५॥
ततः स शकटालस्तैः प्रत्यहं सक्तुवारिभिः ।
एक एवाकरोद् वृत्तिं कष्टं क्रूरा जिगीषवः ॥१२६॥
अबुद्ध्वा चित्तमप्राप्य विस्रम्भं प्रभविष्णुषु ।
न स्वेच्छं व्यहर्त्तव्यमात्मनो भूतिमिच्छता ॥१२७॥
इति चाचिन्तयत्तत्र शकटालोऽन्धकूपगः ।
तनयानां क्षुधार्त्तानां पश्यन्प्राणोद्गमव्यथाम् ॥१२८॥
ततः सुतशतं तस्य पश्यतस्तद्व्यपद्यत ।
तत्करङ्कैर्वृतो जीवन्नतिष्ठत्स च केवलः ॥१२९॥
योगनन्दश्च साम्राज्ये बद्धमूलोऽभवत्ततः ।
व्याडिरभ्याययौ तं च गुरवे दत्तदक्षिणः ॥१३०॥
अभ्येत्यैव च सोऽवादीच्चिरं राज्यं सुखेऽस्तु ते ।
आमन्त्रितोऽसि गच्छामि तपस्तप्तुमहं क्वचित् ॥१३१॥
तच्छ्रुत्वा योगनन्दस्तं बाष्पकण्ठोऽभ्यभाषत ।
राज्ये मे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वं मुक्त्वा मां मास्म गा इति ॥१३२॥

ऐसा कहकर व्याडि गुरु-दक्षिणा देने के लिए चला गया और योगनन्द ने मुझे बुलाकर मन्त्रिपद समर्पित किया ।।११८।।

मन्त्रिपद ग्रहण कर लेने पर मैंने राजा से कहा कि 'तुम्हारा ब्राह्मणत्व तो गया । परन्तु, उसके जाने पर भी जबतक शकटाल मन्त्री है, तबतक राज्य भी स्थिर नहीं रह सकता ।।११९।।

इसलिए नीति के साथ इसका नाश करो । इस प्रकार मेरी सम्मति से योगनन्द ने शकटाल को अँधेरे कुएँ में डाल दिया ।।१२०।।

शकटाल के साथ राजा ने उसके सौ पुत्रों को भी उसी अँधेरे कुएँ में डलवा दिया । उसका अपराध यह घोषित किया गया कि उसने जीवित ब्राह्मण को जलवा दिया था ।।१२१।।

मिट्टी के एक पात्रविशेष में सत्तू और ऐसे ही एक पात्र में पानी शकटाल और उसके पुत्रों के लिए कुएँ में रख दिया जाता था ।।१२२।।

शकटाल ने लड़कों से कहा कि 'इस सत्तू और पानी से एक का भी जीवन कठिन है, बहुतों की तो बात ही क्या ? ।।१२३।।

इसलिए जल के सहित इस सत्तू को वही प्रतिदिन खाया करे, जो योगनन्द से बदला लेने की शक्ति रखता हो ।।१२४।।

लड़कों ने शकटाल से कहा कि 'राजा से बदला लेने के लिए आप ही समर्थ हैं । अतः, आप ही इसे खाया करें ।' सच है, महान् लोगों के लिए शत्रु से बदला लेना प्राणों से भी प्यारा होता है ।।१२५।।

यह निर्णय होने पर वह अकेला शकटाल ही उस सत्तू और पानी से जीवन-निर्वाह करने लगा । सच है, शत्रु से बंदला लेनेवाले अत्यन्त क्रूर प्रकृति के होते हैं ।।१२६।।

अपने कल्याण की कामना करनेवाले या उन्नतिशील व्यक्ति को चाहिए कि अपने मालिक की चित्तवृत्ति को बिना समझे और बिना उसका विश्वास प्राप्त किये उसके साथ व्यवहार न करे ।।१२७।।

भूख से प्राण त्यागते हुए बच्चों की पीड़ा देखकर अन्ध-कूप में पड़ा शकटाल इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगा ।।१२८।।

उसके देखते-देखते ही सौ-के-सौ पुत्र मर गये । उनके कंकालों से घिरा हुआ एकमात्र शकटाल ही जीवित रह गया ।।१२९।।

इतने में योगनन्द भी धीरे-धीरे साम्राज्य में स्थिर हो गया, तो व्याडि गुरु-दक्षिणा देकर उसके पास आया ।।१३०।।

व्याडि ने आते ही योगनन्द से कहा—'मित्र ! मेरी बताई नीति के अनुसार तुम चिरकाल तक राज्यभोग करो । मैं अब कहीं तपस्या करने जाता हूँ' ।।१३१।।

व्याडि की बातें सुनकर गद्गद कण्ठ से राजा ने कहा—'तुम मेरे राज्य में रहकर सांसारिक भोगों को भोगो । मुझे छोड़कर न जाओ' ।।१३२।।

व्याडिस्ततोऽवदद्राजञ्छरीरे क्षणनश्वरे ।
एवं प्रायेष्वसारेषु धीमान्को नाम मज्जति ॥१३३॥
नहि मोहयति प्राज्ञं लक्ष्मीर्मरुमरीचिका ।
इत्युक्त्वैव स तत्कालं तपसे निश्चितो ययौ ॥१३४॥
अगमदथ योगनन्दः पाटलिपुत्रं स्वराजनगरं सः ।
भोगाय काणभूते ! मत्सहितः सकलसैन्ययुतः ॥१३५॥
तत्रोपकोशापरिचर्यमाणः समुद्वहन्मन्त्रिधुरां च तस्य ।
अहं जनन्या गुरुभिश्च सार्कमासाद्य लक्ष्मीमवसं चिराय ॥१३६॥
बहु तत्र दिने दिने द्युसिन्धुः कनकं मह्यमदात्तपःप्रसन्ना ।
वदसि स्म शरीरिणी च साक्षान्मम कार्याणि सरस्वती सदैव ॥१३७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः ।

पञ्चमस्तरङ्गः

एवमुक्त्वा वररुचिः पुनरेतदवर्णयत् ।
कालेन योगनन्दोऽथ कामादिवशमाययौ ॥१॥
गजेन्द्र इव मत्तश्च नापैक्षत स किञ्चन ।
अकाण्डपातोपनता कं न लक्ष्मीर्विमोहयेत् ॥२॥
अचिन्तयं ततश्चाहं राजा तावद् विशृङ्खलः ।
तत्कार्यचिन्तयाक्रान्तः स्वधर्मो मेवऽसीदति ॥३॥
तस्माद् वरं सहायं तं शकटालं समुद्धरे ।
क्रियेत चेद् विरुद्धं च किं स कुर्यान्मयि स्थिते ॥४॥
निश्चित्यैतन्मयाभ्यर्थ्य राजानं सोऽन्धकूपतः ।
उद्धृतः शकटालोऽथ मृदवो हि द्विजातयः ॥५॥
दुर्जयो योगनन्दोऽयं स्थिते वररुचावतः ।
आश्रये वैतसीं वृत्ति कालं तावत्प्रतीक्षितुम् ॥६॥
इति सञ्चिन्त्य स प्राज्ञः शकटालो मदिच्छया ।
अकरोद्राजकार्याणि पुनः सम्प्राप्य मन्त्रिताम् ॥७॥
कदाचिद्योगनन्दोऽथ निर्गतो नगराद् बहिः ।
श्लिष्यत्पञ्चाङ्गुलिं हस्तं गङ्गामध्ये व्यलोकयत् ॥८॥

तब व्याडि ने कहा—'हे राजन् ! यह शरीर क्षण-भर में नष्ट हो जानेवाला है । अतः, कौन बुद्धिमान् इस अनित्य सुख-भोगों में डूबता है ।।१३३।।

लक्ष्मी की मृगतृष्णा, किस धीर पुरुष को मोहित नहीं कर लेती' ? ऐसा कहकर तपस्या के लिए निश्चय किये हुए वह व्याडि, उसी समय चला गया ।।१३४।।

वररुचि कहता गया—हे काणभूते ! इसके अनन्तर योगनन्द, अयोध्या-शिविर से, समस्त सेना के सहित मेरे साथ चलकर प्रधान 'राजधानी पाटलिपुत्र में राजभोग करने के लिए आ गया ।।१३५।।

इस प्रकार, पाटलिपुत्र में आकर उपकोशा द्वारा मेरी सेवा होती रही । और, साथ ही राजा नन्द के मन्त्रित्व-भार को वहन करता हुआ मैं माता और गुरुजनों के साथ समृद्धि का उपभोग करने लगा ।।१३६।।

पाटलिपुत्र में तपस्या से प्रसन्न होकर गंगाजी, मुझे प्रतिदिन बहुत-सा सुवर्ण देती थीं और साक्षात् शरीरधारिणी सरस्वती मेरे कार्यों में सर्वदा स्वयं सम्मति देती रहती थीं ।।१३७।।

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथापीठ लम्बक का चतुर्थ तरंग समाप्त ।

पंचम तरंग

वररुचि की कथा (क्रमशः) : वररुचि का वैराग्य

ऐसा कहकर वररुचि ने फिर कहना प्रारम्भ किया कि कुछ समय के अनन्तर योगनन्द काम, क्रोध आदि के वशीभूत हो गया ।।१।।

वह योगनन्द गजेन्द्र के समान उन्मत्त हो गया और उसे कुछ भी न सूझता था । आकस्मिक रूप से प्राप्त हुई लक्ष्मी किसे उन्मत्त नहीं बना देती ।।२।।

तब मैंने सोचा कि राजा अनियन्त्रित स्थिति में हो रहा है । इसके कार्यों की चिन्ता से आक्रान्त होकर मेरा कर्त्तव्य, भ्रष्ट हो रहा है । अतः, अपनी सहायता के लिए क्यों न शकटाल का उद्धार करूँ ? यदि वह राजा के विरुद्ध आक्रमण करेगा भी, तो मेरे रहते क्या कर सकता है ।।३-४।।

इसलिए, मैंने प्रार्थना करके शकटाल को अन्धकूप से निकलवाया । कारण यह कि ब्राह्मण-जाति स्वभावतः कोमल होती है ।।५।।

'वररुचि के रहते हुए योगनन्द पर विजय नहीं किया जा सकता । अतः, इस समय बेंत के समान नम्र नीति धारण करके कुछ समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए' ।।६।।

ऐसा सोचकर शकटाल मेरी सम्मति से पुनः मन्त्रिपद प्राप्त कर राज्यकार्य करने लगा ।।७।।

किसी समय योगनन्द नगर से बाहर गया और पाँचों अँगुलियों से मिले हुए हाथ को उसने गंगाजी में घूमते हुए देखा ।।८।।

किमेतदिति पप्रच्छ मामाहूय स तत्क्षणम् ।
अहं च द्वे निजाङ्गुल्यौ दिशि तस्यामदर्शयम् ॥९॥
तेन तस्मिंस्तिरोभूते हस्ते राजातिविस्मयात् ।
भूयोऽपि तदपृच्छन्मां ततश्चाहं तमब्रवम् ॥१०॥
पञ्चभिर्मिलितैः किं यज्जगतीह न साध्यते ।
इत्युक्तवानसौ हस्तः स्वाङ्गुलीः पञ्च दर्शयन् ॥११॥
ततोऽस्य राजन्नङ्गुल्यावेते द्वे दर्शिते मया ।
ऐकचित्ये द्वयोरेव किमसाध्यं भवेदिति ॥१२॥
इत्युक्ते गूढविज्ञाने समतुष्यत्ततो नृपः ।
शकटालो व्यषीदच्च मद्बुद्धिं वीक्ष्य दुर्जयाम् ॥१३॥
एकदा योगनन्दश्च दृष्टवान्महिषीं निजाम् ।
वातायनाग्रात्पश्यन्तीं ब्राह्मणातिथिमुन्मखम् ॥१४॥
तन्मात्रादेव कुपितो राजा विप्रस्य तस्य सः ।
आदिशद्वधमीर्ष्या हि विवेकपरिपन्थिनी ॥१५॥
हन्तुं वध्यभुवं तस्मिन्नीयमाने द्विजे तदा ।
अहसद्गतजीवोऽपि मत्स्यो विपणिमध्यगः ॥१६॥
तदैव राजा तद् बुद्ध्वा वधं तस्य न्यवारयत् ।
विप्रस्य मामपृच्छच्च मत्स्यहासस्य कारणम् ॥१७॥
निरूप्य कथयाम्येतदित्युक्त्वा निर्गतं च माम् ।
चिन्तितोपस्थितैकान्ते सरस्वत्येवमब्रवीत् ॥१८॥
अस्य तालतरोः पृष्ठे तिष्ठ रात्रावलक्षितः ।
अत्र श्रोष्यसि मत्स्यस्य हासहेतुमसंशयम् ॥१९॥
तच्छ्रुत्वा निशि तत्राहं गत्वा तालोपरि स्थितः ।
अपश्यं राक्षसीं घोरां बालैः पुत्रैः सहागताम् ॥२०॥
सा भक्ष्यं याचमानांस्तानवादीत्प्रतिपाल्यताम् ।
प्रातर्वो विप्रमांसानि दास्याम्यद्य हतो न सः ॥२१॥
कस्मात्स न हतोऽद्येति पृष्टा तैरब्रवीत्पुनः ।
तं हि दृष्ट्वा मृतोऽपीह मत्स्यो हसितवानिति ॥२२॥
हसितं किमु तेनेति पृष्टा भूयः सुतैश्च सा ।
अवोचद्राक्षसी राज्ञः सर्वा राज्ञोऽपि विप्लुताः ॥२३॥

राजा ने, उसी समय मुझे बुलाकर पूछा कि 'यह क्या है ?' मैंने भी उसी दिशा की ओर अपनी दो अँगुलियाँ दिखा दीं और हाथ अन्तर्हित हो गया ॥६॥

इस प्रकार, उस हाथ के तिरोहित हो जाने पर राजा ने अत्यन्त विस्मय के साथ मुझसे फिर पूछा, तब मैंने कहा—॥१०॥

पाँचों अँगुलियों को दिखाते हुए उस हाथ ने कहा कि पाँच के मिलने पर कौन-सा काम सिद्ध नहीं हो सकता ॥११॥

इसीलिए, मैंने उसे दो अँगुलियाँ दिखाईं कि यदि दो का एकचित्त हो, तो संसार में असाध्य क्या है ? ॥१२॥

राजा योगनन्द का अन्तःपुर मरी मछली का हँसना

इस प्रकार गूढ विज्ञान बतलाने पर राजा अति प्रसन्न हुआ और शकटाल मेरी बुद्धि को दुर्जेय समझकर दुःखी हुआ ॥१३॥

एक बार राजा योगनन्द ने, ऊपर मुँह किये हुए एक ब्राह्मण अतिथि को झरोखे से देखती हुई अपनी महारानी को देखा ॥१४॥

राजा ने ब्राह्मण को दुराचारी जानकर उसके वध की आज्ञा दे दी। क्योंकि, ईर्ष्या विवेक की विरोधिनी होती है ॥१५॥

राजाज्ञानुसार जब ब्राह्मण वध्यभूमि में ले जाया जा रहा था, तब बाजार में रखा हुआ मृत मत्स्य उसे देखकर हँसने लगा ॥१६॥

जब राजा को यह मालूम हुआ, तब उसने ब्राह्मण का वध रोक दिया और मुझसे मछली के हँसने का कारण पूछा ॥१७॥

'सोचकर कहूँगा', ऐसा कहकर मैं राजभवन से चला गया। जब एकान्त में मैंने सरस्वती का ध्यान किया, तब सरस्वती ने उपस्थित होकर यह कहा ॥१८॥

इस ताल के पेड़ पर रात को छिपकर बैठो, तब यहाँ मछली के हँसने का कारण निश्चय ही सुनोगे ॥१९॥

यह जानकर मैं रात में वहाँ जाकर ताल-वृक्ष पर बैठा और रात को छोटे-छोटे बालकों के साथ आई हुई एक भीषण राक्षसी को देखा ॥२०॥

बच्चों के भोजन माँगने पर वह राक्षसी बोली कि अभी प्रतीक्षा करो। प्रातःकाल तुम्हें ब्राह्मण का मांस दूँगी। आज वह मारा नहीं गया ॥२१॥

बच्चों ने पूछा कि आज वह क्यों नहीं मारा गया ? तब राक्षसी ने कहा कि उसे देखकर मरा हुआ मत्स्य भी हँसने लगा, इसलिए नहीं मारा गया ॥२२॥

बालकों के यह पूछने पर कि 'वह मृत मत्स्य क्यों हँसा ?' राक्षसी बोली कि 'राजा की सभी रानियाँ भ्रष्ट हो गई हैं' ॥२३॥

सर्वत्रान्तः पुरे ह्यत्र स्त्रीरूपाः पुरुषाः स्थिताः ।
हन्यतेऽनपराधस्तु विप्र इत्यहसत्तिमिः ॥२४॥
भूतानां पार्थिवात्यर्थनिर्विवेकत्वहासिनाम् ।
सर्वान्तश्चारिणां ह्येता भवन्त्येव च विक्रियाः ॥२५॥
एतत्तस्या वचः श्रुत्वा ततोऽपक्रान्तवाहनम् ।
प्रातश्च मत्स्यहासस्य हेतुं राज्ञे न्यवेदयम् ॥२६॥
प्राप्य चान्तःपुरेभ्यस्तान्स्त्रीरूपान्पुरुषांस्ततः ।
बह्वमन्यत मां राजा वधाद् विप्रं च मुक्तवान् ॥२७॥
इत्यादि चेष्टितं दृष्ट्वा तस्य राज्ञो विशृङ्खलम् ।
खिन्ने मयि कदाचिच्च तत्रागाच्चित्रकृन्नवः ॥२८॥
अलिखत्स महादेवीं योगनन्दं च तं पटे ।
सजीवमिव तच्चित्रं वाक्चेष्टारहितं त्वभूत् ॥२९॥
तं च चित्रकरं राजा तुष्टो वित्तैरपूरयत् ।
तं च वासगृहे चित्रपटं भित्तावकारयत् ॥३०॥
एकदा च प्रविष्टस्य वासके तत्र सा मम ।
सम्पूर्णलक्षणां देवीं प्रतिभाति स्म चित्रगा ॥३१॥
लक्षणान्तरसम्बन्धादभ्यूह्य प्रतिभावशात् ।
अथाकार्षमहं तस्यास्तिलकं मेखलापदे ॥३२॥
सम्पूर्णलक्षणां तेन कृत्वैनां गतवानहम् ।
प्रविष्टो योगनन्दोऽथ तिलकं तं व्यलोकयत् ॥३३॥
केनाऽयं रचितोऽत्रेति सोऽपृच्छच्च महत्तरान् ।
ते च न्यवेदयंस्तस्मै कर्त्तारं तिलकस्य माम् ॥३४॥
देव्या गुप्तप्रदेशस्थमिमं नान्यो मया विना ।
वेत्ति तज्ज्ञातवानेवमसौ वररुचिः कथम् ॥३५॥
छन्नः कृतोऽमुना नूनं ममान्तःपुरविप्लवः ।
दृष्टवानतएवायं स्त्रीरूपांस्तत्र तान्नरान् ॥३६॥
इति सञ्चिन्तयामास योगनन्दः क्रुधा ज्वलन् ।
जायन्ते बत मूढानां संवादा अपि तादृशाः ॥३७॥
ततः स्वैरं समाहूय शकटालं समादिशत् ।
त्वया वररुचिर्बध्यो देवीविध्वंसनादिति ॥३८॥

राजा के रनिवास में अनेक पुरुष, स्त्रियों के रूप में भरे[1] हैं, किन्तु यह बेचारा ब्राह्मण विना अपराध ही मारा जा रहा है—ऐसा सोचकर मत्स्य हँसा था ॥२४॥

राजा की अत्यन्त निर्विवेकता पर हँसनेवाले सब के अन्तर में रहनेवाले प्राणियों को ऐसे विकार होते हैं ॥२५॥

राक्षसी की इन बातों को सुनकर मैं वहाँ से भाग आया और प्रातःकाल मैंने राजा से मछली के हँसने का कारण बता दिया ॥२६॥

मेरे कथनानुसार राजा ने खोज करने पर रनिवास में रहनेवाले स्त्रीवेषधारी अनेक पुरुषों को पकड़ा। तब से मुझे अत्यधिक मानने लगा और ब्राह्मण को भी वध से मुक्त कर दिया ॥२७॥

इस प्रकार की राजकीय अव्यवस्थाओं को देखकर मैं खिन्न हो रहा था कि एक बार राजा के पास एक नया चित्रकार आया ॥२८॥

उसने एक चित्रपट पर महादेवी और योगनन्द का चित्र ऐसा सजीव बनाया कि जो केवल बोलने की चेष्टा से ही रहित था ॥२९॥

राजा ने चित्रकार पर प्रसन्न होकर उसे भरपूर धन दिया और चित्र को अपने निजी भवन (कमरे) की दीवार पर लटकवा दिया ॥३०॥

एक बार जब मैं राजा के शयन-कक्ष में गया, तब उस चित्र में महारानी के सम्पूर्ण लक्षणों को देखा ॥३१॥

अन्यान्य लक्षणों के सम्बन्ध में मैंने अपनी प्रतिभा के बल से यह जान लिया कि इसकी कमर में तिल का चिह्न होना चाहिए। मैंने चिह्न बना दिया और महारानी को सम्पूर्ण लक्षण से युक्त कर दिया ॥३२॥

कुछ समय के अनन्तर राजा जब उस भवन में आया, तब उसने मेरे बनाये हुए तिल-चिह्न को देखा ॥३३॥

राजा ने उस तिल को देखते ही वासगृह के रक्षकों से पूछा कि 'यह चिह्न किसने बनाया?' उन्होंने मेरा नाम बता दिया ॥३४॥

'महारानी के गुप्त-प्रदेश के इस चिह्न को मेरे विना दूसरा नहीं जानता, इसे वररुचि ने कैसे जान लिया?' ॥३५॥

अतः, वररुचि ने गुप्त रूप से अवश्य ही मेरी महारानी को भ्रष्ट किया है और इसीलिए इसने रनिवास में स्त्रियों का रूप धारण किये हुए पुरुषों को भी देखा होगा[2] ॥३६॥

ऐसा सोचकर योगनन्द क्रोध से जलने लगा। सच है, मूर्खों की सभी बातें मूर्खतापूर्ण ही होती हैं ॥३७॥

तब महाराज ने, शकटाल को स्वतन्त्र रूप से बुलाकर कहा कि 'वररुचि ने महारानी का सतीत्व-भंग किया है। अतः, तुम उसे मार डालो' ॥३८॥

---

१. 'अरेबियन नाइट्स' में शहरयार के अन्तःपुर में इसी प्रकार स्त्री-वेषधारी पुरुषों के रहने की चर्चा आती है।

२. शेक्सपियर के नाटक 'सिम्बेलाइन' में ऐसी सी शंका का उत्पन्न होना दीखता है।

यथाऽज्ञापयसीत्युक्त्वा शकटालोऽगमद् बहिः ।
अचिन्तयच्च शक्तिः स्याद्धन्तु वररुचि न मे ॥३९॥
दिव्यबुद्धिप्रभावोऽस्याबुद्धर्त्ता च ममापदः ।
विप्रश्च तद्वरं गुप्तं सम्प्रति स्वीकरोमि तम् ॥४०॥
इति निश्चित्य सोऽभ्येत्य राज्ञः कोपमकारणम् ।
वधान्तं कथयित्वा मे शकटालोऽब्रवीत्ततः ॥४१॥
अन्यं कञ्चित्प्रवादाय हन्म्यहं त्वं च मद्गृहे ।
प्रच्छन्नस्तिष्ठ मामस्माद्रक्षितुं कोपनान्नृपात् ॥४२॥
इति तद्वचनाच्छन्नस्तद्गृहेऽवस्थितोऽभवम् ।
स चान्यं हतवान्कञ्चिन्मद्वधाख्यातये निशि ॥४३॥
एवं प्रयुक्तनीतिं तं प्रीत्याऽवोचमहं तदा ।
एको मन्त्री भवान्येन हन्तुं मां न कृता मतिः । ॥४४॥
नहि हन्तुमहं शक्यो राक्षसो मित्रमस्ति मे ।
ध्यातमात्रागतो विश्वं ग्रसते स मदिच्छया ॥४५॥
राजा त्विहेन्द्रदत्ताख्यः सखा वध्यो न मे द्विजः ।
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीन्मन्त्री रक्षो मे दर्श्यतामिति ॥४६॥
ततो ध्यातागतं तस्मै तद्रक्षोऽहमदर्शयम् ।
तद्दर्शनाच्च वित्रस्तो विस्मितश्च बभूव सः ॥४७॥
रक्षस्यन्तर्हिते तस्मिन् शकटालः स मां पुनः ।
कथं ते राक्षसो मित्रं सञ्जात इति पृष्टवान् ॥४८॥
ततोऽहमवदं पूर्वं रक्षार्थं नगरे भ्रमन् ।
रात्रौ रात्रौ क्षयं प्रापदेकैको नगराधिपः ॥४९॥
तच्छ्रुत्वा योगनन्दो मामकरोन्नगराधिपम् ।
भ्रमंश्चापश्यमत्राहं भ्रमन्तं राक्षसं निशि ॥५०॥
स च मामवदद् ब्रूहि विद्यते नगरेऽत्र का ।
सुरूपा स्त्रीति तच्छ्रुत्वा विहस्याहं तमब्रवम् ॥५१॥
या यस्याभिमता मूर्ख ! सुरूपा तस्य सा भवेत् ।
तच्छ्रुत्वैव त्वयैकेन जितोऽस्मीत्यवदत्स माम् ॥५२॥
प्रश्नमोक्षाद् वधोत्तीर्णं मां पुनश्चाब्रवीदसौ ।
तुष्टोऽस्मीति सुहृन्मे त्वं संनिधास्ये च ते स्मृतः ॥५३॥

'जो आज्ञा'—ऐसा कहकर शकटाल अपने घर आकर सोचने लगा कि मुझमें वररुचि को मारने की शक्ति नहीं है ।।३६।।

उसका बुद्धि-प्रभाव अलौकिक है। उसने मुझे मृत्यु से बचाया है। फिर, वह ब्राह्मण है। अतः, इस समय इसे गुप्त रखकर (वध की आज्ञा) स्वीकार कर लेता हूँ ।।४०।।

ऐसा सोचकर उसने राजा के अकारण क्रोध और मेरी वधाज्ञा मुझे सुनाकर कहा ।।४१।।

'मैं हल्ला मचाने से लिए किसी और को मारकर तुम्हारे वध की घोषणा कर देता हूँ। तुम मेरे घर में छिपकर रहो और इस क्रोधी राजा से मेरी रक्षा करो' ।।४२।।

इस प्रकार, शकटाल के कहने पर मैं गुप्त रूप से उसके घर में रहने लगा। उसने मेरा वध प्रचारित करने के लिए रात में किसी अन्य का वध करा दिया ।।४३।।

इस प्रकार, नीति-प्रयोग करनेवाले शकटाल को मैंने एक दिन प्रेमपूर्वक कहा कि 'एक मन्त्री तुम हो, जिसने मेरे मारने का विचार नहीं किया ।।४४।।

मैं मारा भी नहीं जा सकता; क्योंकि मेरा मित्र राक्षस है। जो स्मरण करते ही उपस्थित होकर क्षण-भर में मेरी इच्छा से सारे विश्व का ग्रास कर सकता है ।।४५।।

राजा नन्द, मेरा इन्द्रदत्त नामक मित्र है और ब्राह्मण है। अतः, वह भी मेरे लिए वध्य नहीं है।' शकटाल ने कहा कि 'उस राक्षस को मुझे दिखाओ' ।।४६।।

तब स्मरण करते ही आये हुए राक्षस को मैंने उसे दिखा दिया, जिसे देखकर शकटाल आश्चर्य-चकित और भयभीत हुआ ।।४७।।

सुन्दर कौन है?

राक्षस के अन्तर्धान होने पर शकटाल मुझसे फिर बोला कि 'यह राक्षस, तुम्हारा मित्र कैसे हुआ?' ।।४८।।

तब मैंने कहा, कुछ दिन पहले ऐसा हुआ कि रात को भ्रमण (गश्त) करते हुए प्रतिदिन एक-एक नगररक्षक (शहर-कोतवाल) मारा जाता था ।।४९।।

सुनकर घबराते हुए योगनन्द ने एक बार मुझे भी नगर-रक्षक (कोतवाल) बना दिया। रात को घूमते हुए (गश्त लगाते हुए) मैंने एक राक्षस को देखा। उसने मुझे देखकर कहा कि बताओ 'इस नगर में सबसे सुन्दरी स्त्री कौन है?' तब मैंने हँसकर उससे कहा ।।५०-५१।।

'अरे मूर्ख, जो स्त्री जिसे पसन्द है; वही उसके लिए सुन्दरी है।' इस प्रश्न का उत्तर दे देने के कारण हत्या से छूटे हुए मुझे वह फिर बोला—मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, तुम मेरे मित्र हो। तुम जब भी याद करोगे; मैं तुम्हारे पास उपस्थित हो जाऊँगा ।।५२-५३।।

इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन्यथागतमगामहम् ।
एवमापत्सहायो मे राक्षसो मित्रतां गतः ॥५४॥
इत्युक्तवानहं भूयः शकटालेन चार्थितः ।
गङ्गामदर्शयं तस्मै मूर्त्तां ध्यानादुपस्थिताम् ॥५५॥
स्तुतिभिस्तोषिता सा च मया देवी तिरोदधे ।
बभूव शकटालश्च सहायः प्रणतो मयि ॥५६॥
एकदा च स मन्त्री मां गुप्तस्थं खिन्नमब्रवीत् ।
सर्वज्ञेनापि खेदाय किमात्मा दीयते त्वया ॥५७॥
किं न जानासि यद्राज्ञामविचाररता धियः ।
अचिराच्च भवेच्छुद्धिस्तथा चात्र कथां शृणु ॥५८॥
आदित्यवर्मनामात्र बभूव नृपतिः पुरा ।
शिववर्माभिधानोऽस्य मन्त्री चाभून्महामतिः ॥५९॥
राज्ञस्तस्यैकदा चैका राज्ञी गर्भमधारयत् ।
तद्बुद्ध्वा स नृपोऽपृच्छदित्यन्तःपुररक्षिणः ॥६०॥
वर्षद्वयं प्रविष्टस्य वर्त्ततेऽन्तःपुरेऽत्र मे ।
तदेषा गर्भसम्भूतिः कुतः सम्प्रति कथ्यताम् ॥६१॥
अथोचुस्ते प्रवेशोऽत्र पुंसोऽन्यस्यास्ति न प्रभो ।
शिववर्मा तु ते मन्त्री प्रविशत्यनिवारितः ॥६२॥
तच्छ्रुत्वाचिन्तयद्राजा नूनं द्रोही स एव मे ।
प्रकाशं च हते तस्मिन्नपवादो भवेन्मम ॥६३॥
इत्यालोच्य स तं युक्त्या शिववर्माणमीश्वरः ।
सामन्तस्यान्तिकं सख्युः प्राहिणोद् भोगवर्मणः ॥६४॥
तद्वधं तस्य लेखेन सन्दिश्य तदनन्तरम् ।
निगूढं स नृपस्तत्र लेखहारं व्यसर्जयत् ॥६५॥
याते मन्त्रिणि सप्ताहे गते भीत्या पलायिता ।
सा राज्ञी रक्षिभिर्लब्धा पुंसा स्त्रीरूपिणा सह ॥६६॥
आदित्यवर्मा तद्बद्ध्वा सानुतापोऽभवत्तदा ।
किं मया तादृशो मन्त्री घातितोऽकारणादिति ॥६७॥
अत्रान्तरे स च प्राप निकटं भोगवर्मणः ।
शिववर्मा स चोपागाल्लेखमादाय पूरुषः ॥६८॥

इस प्रकार, कहकर राक्षस के अन्तर्धान हो जाने पर मैं अपने रास्ते से चला गया। इस प्रकार यह राक्षस मेरा मित्र बना ॥५४॥

ऐसा कहकर शकटाल द्वारा पुन. प्रार्थना किये जाने पर मैंने ध्यान से उपस्थित मूर्तिमती गंगा को दिखाया ॥५५॥

मुझसे स्तुति द्वारा सन्तुष्ट की गई गंगा देवी तिरोहित हो गई। यह सब देख-सुनकर शकटाल मुझे प्रणाम करता हुआ मेरा सहायक बन गया ॥५६॥

एक बार मन्त्री शकटाल ने, छिपे हुए और खिन्न मुझे देखकर कहा--"तुम अपनी आत्मा में खेद क्यों कर रहे हो। क्या तुम नहीं जानते कि 'राजाओं की बुद्धि अविचार-पूर्ण होती है', इसलिए शीघ्र ही तुम्हारी शुद्धि हो जायगी। मैं इस सम्बन्ध में एक कथा सुनाता हूँ, सुनो" ॥५७-५८॥

राजा आदित्यवर्मा और मन्त्री शिववर्मा की कथा

पूर्वकाल में आदित्यवर्मा नामक एक राजा था। शिववर्मा नामक उसका महा बुद्धिमान् मन्त्री था ॥५९॥

इस राजा की एक रानी एक बार गर्भवती हुई, यह सुनकर राजा ने रक्षकों से पूछा 'मुझे रनिवास में गये हुए दो वर्ष हो गये; फिर भी रानी को यह गर्भ-धारण कैसे हुआ—यह बताओ' ॥६०-६१॥

रक्षकों ने कहा—'महाराज आपके इस अन्तःपुर में किसी पुरुष का प्रवेश असम्भव है; किन्तु आपका मन्त्री शिववर्मा बे-रोक-टोक अन्दर आता-जाता है' ॥६२॥

यह सुनकर राजा ने सोचा कि अवश्य यह मन्त्री मेरा द्रोही है, किन्तु इसे प्रकट रूप में मार देने पर मेरी निन्दा होगी ॥६३॥

ऐसा सोचकर राजा ने शिववर्मा को, अपने मित्र सामन्त राजा भोगवर्मा के पास भेज दिया ॥६४॥

उसके जाने के अनन्तर राजा ने गुप्त रूप से मन्त्री का वध करने के लिए पत्र लिखकर छिपे तौर पर पत्रवाहक को भेजा ॥६५॥

मन्त्री के चले जाने पर एक सप्ताह व्यतीत होने के अनन्तर वह गर्भवती रानी भय से भाग गई और सिपाहियों ने उसे स्त्री-रूप धारण किये हुए पुरुष के साथ पकड़ा ॥६६॥

यह समाचार जानकर आदित्यवर्मा शोक से पश्चात्ताप करने लगा कि मैंने ऐसे भले मन्त्री को विना कारण ही मार डाला ॥६७॥

इसी बीच, शिववर्मा भोगवर्मा के पास पहुँचा, किन्तु राजाज्ञा का पत्र लेकर पत्रवाहक भी तबतक न पहुँचा ॥६८॥

वाचयित्वा च तं लेखमेकान्ते शिववर्मणे ।
शशंस वधनिर्देशं भोगवर्मा विधेर्वशात् ॥६९॥
शिववर्माऽप्यवोचत्तं सामन्तं मन्त्रिसत्तमः ।
त्वं व्यापाद मां नो चेन्निहन्म्यात्मानमात्मना ॥७०॥
तच्छ्रुत्वा विस्मयाविष्टो भोगवर्मा जगाद तम् ।
किमेतद् ब्रूहि मे विप्र ! शापितोऽसि न वक्षि चेत् ॥७१॥
अथ वक्ति स्म तं मन्त्री हन्येयं यत्र भूपते ।
तत्र द्वादश वर्षाणि देशे देवो न वर्षति ॥७२॥
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिभिः सार्धं भोगवर्मा व्यचिन्तयत् ।
दुष्टः स राजा देशस्य नाशमस्माकमिच्छति ॥७३॥
किं हि तत्र न सन्त्येव वधका गुप्तगामिनः ।
तस्मान्मन्त्री न वध्योऽसौ रक्ष्यः स्वात्मवधादपि ॥७४॥
इति संमन्त्र्य दत्वा च रक्षकान्भोगवर्मणा ।
शिववर्मा ततो देशात्प्रेषितोऽभूत्ततः क्षणात् ॥७५॥
एवं प्रत्याययौ जीवन्स मन्त्री प्रज्ञया स्वया ।
शुद्धिश्चास्यान्यतो जाता नहि धर्मोऽन्यथा भवेत् ॥७६॥
इत्थं तवापि शुद्धिः स्यात्तिष्ठ तावद् गृहे मम ।
कात्यायन नृपोऽप्येष सानुतापो भविष्यति ॥७७॥
इत्युक्तः शकटालेन च्छन्नोऽहं तस्य वेश्मनि ।
प्रतीक्षमाणोऽवसरं तान्यहान्यत्यवाहयम् ॥७८॥
तस्याथ योगनन्दस्य काणभूते कदाचन ।
पुत्रो हिरण्यगुप्ताख्यो मृगयायै गतोऽभवत् ॥७९॥
अश्ववेगात्प्रयातस्य कथञ्चिद्दूरमन्तरम् ।
एकाकिनो वने तस्य वासरः पर्यहीयत ॥८०॥
ततश्च तां निशां नेतुं वृक्षमारोहति स्म सः ।
क्षणात्तत्रैव चारोहदृक्षः सिंहेन भीषितः ॥८१॥
स दृष्ट्वा राजपुत्रं तं भीतं मानुषभाषया ।
मा भैषीर्मम मित्रं त्वमित्युक्त्वा निर्भयं व्यधात् ॥८२॥
विस्रम्भादृक्षवाक्येन राजपुत्रोऽथ सुप्तवान् ।
ऋक्षस्तु जाग्रदेवासीदधः सिंहोऽथ सोऽब्रवीत् ॥८३॥

दैववश भोगवर्मा ने पत्र को पढ़कर एकान्त में शिववर्मा से उसके वध की आज्ञा सुना दी ।।६६।।

मन्त्रिप्रवर शिववर्मा ने, भोगवर्मा से कहा कि 'तुम निर्देश के अनुसार मुझे मारो। यदि नहीं मारोगे, तो मैं स्वयं आत्मघात कर लूँगा' ।।७०।।

यह सुनकर आश्चर्यचकित भोगवर्मा ने शिववर्मा से कहा कि 'हे विप्र ! यह क्या रहस्य है, मुझे बताओ। यदि नहीं बताओगे, तो मैं तुम्हें शपथ देता हूँ' ।।७१।।

राजा के आग्रह करने पर मन्त्री ने कहा कि 'हे राजन् ! मैं जिस देश में मारा जाऊँगा, वहाँ बारह वर्षों तक वृष्टि न होगी—अकाल पड़ेगा' ।।७२।।

यह सुनकर भोगवर्मा चकित होकर अपने मन्त्रियों के साथ सोचने लगा कि आदित्यवर्मा दुष्ट है। वह हमारे देश का विनाश चाहता है ।।७३।।

क्या उसके यहाँ गुप्त हत्या करनेवाले वधिक नहीं हैं। इसलिए मन्त्री की रक्षा करनी चाहिए। भले ही आत्महत्या हो जाय; किन्तु इसका वध कदापि न किया जायगा ।।७४।।

इस प्रकार, मन्त्री शिववर्मा अपनी बुद्धि से जीवित ही लौट आया, उसकी निर्दोषता दूसरे प्रकार से सिद्ध हो गई। धर्म कभी विपरीत नहीं होता, सदा सहायक ही होता है ।।७५-७६।।

कात्यायन ! इसी प्रकार तुम्हारी भी शुद्धि होगी। अर्थात्, निर्दोषता प्रमाणित हो जायगी और राजा पश्चात्ताप करेगा ।।७७।।

शकटाल से इस प्रकार कहा हुआ मैं उसी घर में छिपा रहा और अवसर की प्रतीक्षा करता रहा। वे दिन मैंने अत्यन्त कठिनता से व्यतीत किये ।।७८।।

मित्रद्रोह का फल

एक बार उस योगनन्द का पुत्र हिरण्यगुप्त शिकार खेलने के लिए जंगल में गया। घोड़े की तेज दौड़ान के कारण राजपुत्र अति दूर गहन वन में पहुँच गया। उसे अकेले भ्रमण करते-करते दिन समाप्त हुआ ।।७९।।

राजपुत्र उस रात को बिताने के लिए एक उपयुक्त पेड़ पर चढ़ गया। कुछ ही समय के अनन्तर सिंह से डराया हुआ एक भालू भी उसी वृक्ष पर आ चढ़ा ।।८०।।

भालू राजपुत्र को घबराया हुआ देखकर मनुष्य की भाषा में बोला—'राजपुत्र, तू मेरा मित्र है। डर मत। मैं मारूँगा नहीं।' ऐसा कहकर उसने राजपुत्र के हृदय पर अपना विश्वास जमा दिया और उसे निर्भय कर दिया ।।८१-८२।।

भालू की बातों से निर्भय होकर राजपुत्र सो गया और भालू जागता रहा। इतने में नीचे से सिंह बोला—।।८३।।

ऋक्ष मानुषमेतं मे क्षिप यावद् व्रजाम्यहम् ।
ऋक्षस्ततोऽब्रवीत्पाप ! न मित्रं घातयाम्यहम् ॥८४॥
क्रमादृक्षे प्रसुप्ते च राजपुत्रे च जाग्रति ।
पुनः सिंहोऽब्रवीदेतमृक्षं मे क्षिप मानुष ॥८५॥
तच्छ्रुत्वात्मभयात्तेन सिंहस्याराधनाय सः ।
क्षिप्तोऽपि नापतच्चित्रमृक्षो दैवप्रबोधितः ॥८६॥
मित्रद्रोहिन्भवोन्मत्त इति शापमदाच्च सः ।
तस्य राजसुतस्यैतद् वृत्तान्तावगमावधिम् ॥८७॥
प्राप्यैव स्वगृहं प्रातरुन्मत्तोऽभून्नृपात्मजः ।
योगनन्दश्च तद्दृष्ट्वा विषादं सहसागमत् ॥८८॥
अब्रवीच्च स कालेऽस्मिञ्जीवेद् वररुचिर्यदि ।
इदं ज्ञायेत तत्सर्वं धिङ मे तद्वधपाटवम् ॥८९॥
तच्छ्रुत्वा वचनं राज्ञः शकटालो व्यचिन्तयत् ।
हन्त कात्यायनस्यायं लब्धः कालः प्रकाशने ॥९०॥
न सोऽत्र मानी तिष्ठेच्च राजा मयि च विश्वसेत् ।
इत्यालोच्य स राजानमब्रवीद्याचिताऽभयः ॥९१॥
राजन्नलं विषादेन जीवन्वररुचिः स्थितः ।
योगनन्दस्ततोऽवादीद्द्रुतमानीयतामिति ॥९२॥
अथाहं शकटालेन योगनन्दान्तिकं हठात् ।
आनीतस्तं तथाभूतं राजपुत्रं व्यलोकयम् ॥९३॥
मित्रद्रोहः कृतोऽनेन देवेत्युक्त्वा तथैव सः ।
सरस्वतीप्रसादेन वृत्तान्तः कथितो मया ॥९४॥
ततस्तच्छापमुक्तेन स्तुतोऽहं राजसूनुना ।
त्वया कथमिदं ज्ञातमित्यपृच्छत्स भूपतिः ॥९५॥
अथाहमवदं राजँल्लक्षणैरनुमानतः ।
प्रतिभातश्च पश्यन्ति सर्वं प्रज्ञावतां धियः ॥९६॥
तद्यथा तिलको ज्ञातस्तथा सर्वमिदं मया ।
इति मद्वचनात्सोऽभूद्राजा लज्जानुतापवान् ॥९७॥
अथानादृतसत्कारः परिशुद्ध्यैव लाभवान् ।
स्वगृहं गतवानस्मि शीलं हि विदुषां धनम् ॥९८॥

हे ऋक्ष, तुम इस मनुष्य को पेड़ से नीचे फेंक दो। मैं इसे लेकर चला जाऊँ। भालू बोला—'रे पापी ! यह मेरा मित्र है। मैं मित्र को मरवाना नहीं चाहता' ।।८४।।

क्रमशः भालू के सोने और राजपुत्र के जगाते रहने पर सिंह ने राजपुत्र से कहा—'हे मनुष्य, तुम इस भालू को मेरे लिए पेड़ से नीचे फेंक दो' ।।८५।।

यह सुनकर भय के कारण सिंह को प्रसन्न करने के लिए राजपुत्र ने भालू को नीचे फेंकने का यत्न किया। आश्चर्य है कि दैवयोग से तत्काल जगा हुआ भालू, उसके यत्न करने पर भी नीचे न गिर सका ।।८६।।

भालू ने राजपुत्र को शाप दिया कि 'हे मित्रद्रोहिन् ! जबतक यह वृत्तान्त प्रकट न होगा, तबतक पागल बना रहेगा' ।।८७।।

प्रातःकाल राजकुमार राजभवन पहुँचते ही पागल हो गया। योगनन्द, उसकी यह दशा देखकर अकस्मात् अत्यन्त दुःखी हुआ ।।८८।।

राजा ने कहा—'यदि इस समय वररुचि जीवित होता, तो इस पागलपन का कारण मालूम होता। उसके मारने में जो मैंने चातुर्य किया, इसके लिए मुझे धिक्कार है' ।।८९।।

राजा की बातें सुनकर मन्त्री शकटाल ने सोचा कि यह अवसर वररुचि को प्रकट करने का है ।।९०।।

उसने सोचा कि वररुचि मानी है। अब वह यहाँ मन्त्री बनकर न रह सकेगा और मैं ही एकमात्र सर्वेसर्वा रहूँगा। राजा मुझपर विश्वास करेगा। (तब मैं अपना बदला निश्शंक होकर ले सकूँगा) ऐसा सोचकर उसने राजा से अभय की प्रार्थना करके बोला।—।९१।।

'हे राजन् ! विषाद करना व्यर्थ है; क्योंकि वररुचि जीवित है।' शकटाल की बात सुनकर योगनन्द ने कहा—'वररुचि को शीघ्र यहाँ ले आइए' ।।९२।।

इसके अनन्तर शकटाल ने हठपूर्वक मुझे योगनन्द के पास पहुँचाया और मैंने उन्मत्त राजपुत्र को देखा ।।९३।।

उसे देखकर मैंने राजा से कहा—'इसने मित्रद्रोह किया है' और सरस्वती की कृपा से वन की रात का सारा वृत्तान्त कह दिया ।।९४।।

मेरे वृत्तान्त कहने पर राजपुत्र शाप से मुक्त होकर मेरी स्तुति करने लगा और राजा ने पूछा कि तुमने इस वृत्तान्त को कैसे जान लिया ? ।।९५।।

तब मैंने कहा—'राजन् ! बुद्धिमानों की बुद्धि, लक्षणों से, अनुमान से तथा प्रतिभा से सब कुछ जान लेती है। जैसे मैंने रानी की कमर के तिल को जान लिया था।' यह सुनकर राजा पश्चात्ताप करने लगा ।।९६-९७।।

तदनन्तर, राजा के द्वारा किये गये सम्मान, दान आदि की उपेक्षा करके निर्दोषता को बहुत बड़ा लाभ समझकर मैं अपने घर चला गया। कारण यह कि चरित्र की पवित्रता ही विद्वानों का धन है ।।९८।।

प्राप्तस्यैव च तत्रत्यो जनोऽरोदीत्पुरो मम ।
अभ्येत्य मां समुद्भ्रान्तमुपवर्षोऽब्रवीत्ततः ॥९९॥
राजा हतं निशम्य त्वामुपकोशाग्निसाद्वपुः ।
अकरोदथ मातुस्ते शुचा हृदयमस्फुटत् ॥१००॥
तच्छ्रुत्वाभिनवोद्भूतशोकवेगविचेतनः ।
सद्योऽहमपतं भूमौ वातरुग्ण इव द्रुमः ॥१०१॥
क्षणाच्च गतवानस्मि प्रलापानां रसज्ञताम् ।
प्रियबन्धुविनाशोत्थः शोकाग्निः कं न तापयेत् ॥१०२॥
आसंसारं जगत्यस्मिन्नेका नित्या ह्यनित्यता ।
तदेतामैश्वरीं मायां किं जानन्नपि मुह्यसि ॥१०३॥
इत्यादिभिरुपागत्य वर्षेण वचनैरहम् ।
बोधितोऽथ यथातत्त्वं कथञ्चिद्धृतिमाप्तवान् ॥१०४॥
ततो विरक्तहृदयस्त्यक्त्वा सर्वं निबन्धनम् ।
प्रशमैकसहायोऽयं तपोवनमशिश्रियम् ॥१०५॥
दिवसेष्वथ गच्छत्सु तत्तपोवनमेकदा ।
अयोध्यात उपागच्छद् विप्र एको मयि स्थिते ॥१०६॥
स मया योगनन्दस्य राज्यवार्त्तामपृच्छ्यत ।
प्रत्यभिज्ञाय मां सोऽथ सशोकमिदमब्रवीत् ॥१०७॥
श्रृणु नन्दस्य यद्वृत्तं तत्सकाशाद् गते त्वयि ।
लब्धावकाशस्तत्राभूच्छकटालश्चिरेण सः ॥१०८॥
स चिन्तयन्वधोपायं योगनन्दस्य युक्तितः ।
क्षितिं खनन्तमद्राक्षीच्चाणक्याख्यं द्विजं पथि ॥१०९॥
किं भुवं खनसीत्युक्ते नते विप्रोऽथ सोऽब्रवीत् ।
दर्भमुन्मूलयाम्यत्र पादो ह्येतेन मे क्षतः ॥११०॥
तच्छ्रुत्वा सहसा मन्त्री कोपनं क्रूरनिश्चयम् ।
तं विप्रं योगनन्दस्य वधोपायममन्यत ॥१११॥
नाम पृष्ट्वाब्रवीत्तं च हे ब्रह्मन् दापयामि ते ।
अहं त्रयोदशीश्राद्धं गृहे नन्दस्य भूपतेः ॥११२॥
दक्षिणातः सुवर्णस्य लक्षं तव भविष्यति ।
भोक्ष्यसे धुरि चान्येषामेहि तावद् गृहं मम ॥११३॥

मेरे घर पहुँचते ही वहाँ के सभी मनुष्य मेरे सामने आकर रोने लगे। इस प्रकार, व्याकुल मुझे उपवर्ष (श्वसुर) ने कहा—॥९९॥

'राजा के द्वारा तुम्हारे मारे जाने का समाचार सुनकर उपकोशा ने शरीर को अग्नि में दग्ध कर दिया और तुम्हारी माता का हृदय शोक से फट गया' ॥१००॥

यह सुनकर अभिनव शोक के आक्रमण से मूर्च्छित होकर मैं हवा से गिराये हुए वृक्ष के समान भूमि पर गिर पड़ा ॥१०१॥

मूर्च्छित होने के अनन्तर पागलों की भाँति प्रलाप करने लगा। प्रियतम बन्धु के विनाश से उत्पन्न शोक-अग्नि किसे उत्तप्त नहीं करती ॥१०२॥

'इस अनन्त संसार में अनित्यता ही एकमात्र नित्य वस्तु है, इस बात (ईश्वरी माया) को जानते हुए भी तुम साधारण मनुष्यों के समान क्यों मोहित हो रहे हो?' आचार्य वर्ष ने आकर ऐसे वचनों से जब मुझे प्रतिबोधित किया, तब किसी प्रकार मुझे धैर्य प्राप्त हुआ ॥१०३-१०४॥

वररुचि का वैराग्य और महाप्रस्थान

तदनन्तर, विरक्तहृदय होकर और सांसारिक सभी बन्धनों को छोड़कर मैं शान्तिपूर्वक तपोवन की शरण में गया ॥१०५॥

कुछ दिनों के अनन्तर मेरे तपोवन में रहते ही वहाँ एक ब्राह्मण अयोध्या से आया ॥१०६॥

मैंने उस ब्राह्मण से योगनन्द की राज्य-स्थिति के सम्बन्ध में पूछा। उसने मुझे पहचान कर शोक के साथ कहा—॥१०७॥

सुनो, मन्त्रिपद त्यागकर तुम्हारे चले जाने पर धीरे-धीरे शकटाल को चिरकाल के बाद अवसर मिला ॥१०८॥

शकटाल ने युक्ति द्वारा नन्द के वध का उपाय सोचते-सोचते मार्ग में पृथ्वी को खोदते हुए चाणक्य नाम ब्राह्मण कोदेखा ॥१०९॥

शकटाल के यह पूछने पर कि 'तुम भूमि क्यों खोद रहे हो?' उस ब्राह्मण ने कहा 'मैं कुशाग्रों का उन्मूलन कर रहा हूँ; क्योंकि इसने मेरे पैरों में व्रण (घाव) कर दिया' ॥११०॥

चाणक्य[1] की कथा

शकटाल ने उस ब्राह्मण का नाम पूछकर कहा—'हे ब्राह्मण, मैं तुम्हें राजा नन्द के घर में त्रयोदशी तिथि को श्राद्ध का निमन्त्रण देता हूँ ॥१११॥

भोजन की दक्षिणा में तुम्हें एक लाख सोने की मुहरें प्राप्त होंगी एवं और भी ब्राह्मणों से ऊँचे बैठकर भोजन करोगे। आओ मेरे घर पर' ॥११२-११३॥

---

१. विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में इस वार्त्ता को प्रकारान्तर से लिया गया है, किन्तु मुद्राराक्षस की कथा का आधार यही है। चाणक्य के विषय में विस्तृत और ऐतिहासिक विवेचन परिशिष्ट में देखिए।—अनु०

इत्युक्त्वा शकटालस्तं चाणक्यमनयद् गृहम् ।
श्राद्धाहेऽदर्शयत्तं च राज्ञे स श्रद्दधे च तम् ॥११४॥
ततः स गत्वा चाणक्यो धुरि श्राद्ध उपाविशत् ।
सुबन्धुनामा विप्रश्च तामैच्छद्धुरमात्मनः ॥११५॥
तद्गत्वा शकटालेन विज्ञप्तो नन्दभूपतिः ।
अवादीन्नापरो योग्यः सुबन्धुर्धुरि तिष्ठतु ॥११६॥
आगत्यैतां च राजाज्ञां शकटालो भयानतः ।
न मेऽपराध इत्युक्त्वा चाणक्याय न्यवेदयत् ॥११७॥
सोऽथ कोपेन चाणक्यो ज्वलन्निव समन्ततः ।
निजां मुक्त्वा शिखां तत्र प्रतिज्ञामकरोदिमाम् ॥११८॥
अवश्यं हन्त नन्दोऽयं सप्तभिर्दिवसैर्मया ।
विनाश्यो बन्धनीयश्च ततो निर्मन्युना शिखा ॥११९॥
इत्युक्तवन्तं कुपिते योगनन्दे पलायितम् ।
अलक्षितं स्वगेहे तं शकटालो न्यवेशयत् ॥१२०॥
तत्रोपकरणे दत्ते गुप्तं तेनैव मन्त्रिणा ।
स चाणक्यो द्विजः क्वापि गत्वा कृत्यामसाधयत् ॥१२१॥
तद्वशाद्योगनन्दोऽथ दाहज्वरमवाप्य सः ।
सप्तमे दिवसे प्राप्ते पञ्चत्वं समुपागमत् ॥१२२॥
हत्वा हिरण्यगुप्तं च शकटालेन तत्सुतम् ।
पूर्वनन्दसुते लक्ष्मीश्चन्द्रगुप्ते निवेशिता ॥१२३॥
मन्त्रित्वे तस्य चाभ्यर्थ्य बृहस्पतिसमं धिया ।
चाणक्यं स्थापयित्वा तं स मन्त्री कृतकृत्यताम् ॥१२४॥
मन्वानो योगनन्दस्य कृतवैरप्रतिक्रियः ।
पुत्रशोकेन निर्विण्णः प्रविवेश महद् वनम् ॥१२५॥
इति तस्य मुखाच्छ्रुत्वा विप्रस्य सुतरामहम् ।
काणभूते ! गतः खेदं सर्वमालोक्य चञ्चलम् ॥१२६॥
खेदाच्चाहमिमां द्रष्टुमागतो विन्ध्यवासिनीम् ।
तत्प्रसादेन दृष्ट्वा त्वां स्मृता जातिर्मया सखे ॥१२७॥
प्राप्तं दिव्यं च विज्ञानं मयोक्ता ते महाकथा ।
इदानीं क्षीणशापोऽहं यतिष्ये देहमुज्झितुम् ॥१२८॥
त्वं च सम्प्रति तिष्ठेह यावदायाति तेऽन्तिकम् ।
शिष्ययुक्तो गुणाढ्याख्यस्त्यक्तभाषात्रयो द्विजः ॥१२९॥

ऐसा कहकर शकटाल उस चाणक्य ब्राह्मण को अपने घर ले गया, श्राद्ध के दिन उसे राजा के पास ले गया और राजा ने उसे स्वीकार किया ॥११४॥

तदनन्तर, श्राद्ध के अवसर पर जाकर चाणक्य सबसे उपर बैठ गया, किन्तु सुबन्धु नामक ब्राह्मण उस स्थान को अपने लिए चाहता था ॥११५॥

शकटाल ने राजा नन्द के पास जाकर ऊपर बैठने का झगड़ा सुनाया। नन्द ने कहा—'सुबन्धु ही सबसे ऊपर बैठेगा। दूसरा योग्य नहीं है" ॥११६॥

भय से नीचे मुँह किये हुए शटकाल ने, श्राद्ध-स्थान से आकर, चाणक्य को वह राजाज्ञा सुना दी और कहा कि इसमें मेरा अपराध नहीं है, यह राजाज्ञा है ॥११७॥

राजाज्ञा को अपना अपमान समझते हुए क्रोध से जलकर चाणक्य ने, अपनी शिखा खोलकर यह प्रतिज्ञा की ॥११८॥

सात दिनों के भीतर राजा नन्द को अवश्य मार डालूँगा। तभी मैं क्रोध-रहित होकर शिखा को बाँधूँगा ॥११९॥

ऐसा कहते हुए चाणक्य पर योगनन्द के कुपित होने के कारण वह वहाँ से भागा और शकटाल ने गुप्त रूप उसे अपने घर में रख लिया ॥१२०॥

शकटाल मन्त्री के द्वारा सामग्री दिये जाने पर वह ब्राह्मण कहीं एकान्त में जाकर कृत्या की साधना करने लगा ॥१२१॥

उस कृत्या के प्रभाव से राजा नन्द दाह-ज्वर से सातवें दिन मर गया ॥१२२॥

योगनन्द के मरने पर शकटाल ने उसके पुत्र हिरण्यगुप्त को मारकर (असल) नन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया ॥१२३॥

चन्द्रगुप्त की मन्त्रिता के लिए बृहस्पति के समान बुद्धिवाले चाणक्य को प्रार्थनापूर्वक स्वीकार कराकर शकटाल पुत्रों के शोक से विरक्त होकर भीषण वन में चला गया ॥१२४-१२५॥

हे काणभूते ! उस ब्राह्मण के मुख से नन्द-राज्य की समस्त कथा सुनकर मुझे अत्यन्त खेद हुआ कि यह सारा प्रपंच अनित्य है ॥१२६॥

इसी खेद के कारण, मैं विन्ध्यवासिनी का दर्शन करने के लिए यहाँ आया। इसकी कृपा से तुम्हें देखकर मुझे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हुआ ॥१२७॥

और, जाति-स्मरण होने के कारण, दिव्य विज्ञान भी प्राप्त हो गया। अब मैं शापमुक्त होकर शरीर छोड़ने का यत्न करूँगा ॥१२८॥

हे काणभूते ! तुम तबतक यहीं रहो, जबतक तीन भाषाओं को छोड़ हुए गुणाढ्य नामक ब्राह्मण शिष्यों के साथ तुम्हारे पास आता है ॥१२९॥

सोऽपि ह्यहमिव क्रोधाद्देव्या शप्तो गणोत्तमः ।
माल्यवान्नाम मत्पक्षपाती मर्त्यत्वमागतः ॥१३०॥
तस्मै महेश्वरोक्तैषा कथनीया महाकथा ।
ततस्ते शापनिर्मुक्तिस्तस्य चापि भविष्यति ॥१३१॥
एवं वररुचिस्तत्र काणभूतेर्निवेद्य सः ।
प्रतस्थे देहमोक्षाय पुण्यं बदरिकाश्रमम् ॥१३२॥
गच्छन्ददर्श गङ्गायां सोऽथ शाकाशिनं मुनिम् ।
तत्समक्षं च तस्यर्षेः कुशेनाभूत्करक्षतिः ॥१३३॥
ततोऽस्य रुधिरं निर्यत्तेन शाकरसीकृतम् ।
अहङ्कारपरीक्षार्थं कौतुकात्स्वप्रभावतः ॥१३४॥
तद्दृष्ट्वा हन्त सिद्धोऽस्मीत्यगाद्दर्पमसौ मुनिः ।
ततो वररुचिः किञ्चिद् विहस्यैवं जगाद तम् ॥१३५॥
जिज्ञासनाय रक्तं ते मया शाकरसीकृतम् ।
यावन्नाद्याप्यहङ्कारः परित्यक्तस्त्वया मुने ॥१३६॥
ज्ञानमार्गे ह्यहङ्कारः परिघो दुरतिक्रमः ।
ज्ञानं विना च नास्त्येव मोक्षो व्रतशतैरपि ॥१३७॥
स्वर्गस्तु न मुमुक्षूणां क्षयी चित्तं विलोभयेत् ।
तस्मादहङ्कृतित्यागाज्ज्ञाने यत्नं मुने कुरु ॥१३८॥
विनीयैवं मुनिं तेन प्रणतेन कृतस्तुतिः ।
तं बदर्याश्रमोद्देशं शान्तं वररुचिर्ययौ ॥१३९॥
अथ स निविडभक्त्या तत्र देवीं शरण्यां
शरणमुपगतोऽसौ मर्त्यभावं मुमुक्षुः ।
प्रकटितनिजमूर्त्तिः सापि तस्मै शशंस
स्वयमनलसमुत्थां धारणां देहमुक्त्यै ॥१४०॥
दग्ध्वा शरीरमथ धारणया तया तद्-
दिव्यां गतिं वररुचिः स निजां प्रपेदे ।
विन्ध्याटवीभुवि ततः स च काणभूति-
रासीदभीप्सितगुणाढ्यसमागमोत्कः ॥१४१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके

पञ्चमस्तरङ्गः ।

यह गुणाढ्य भी मेरा पक्षपाती शिवजी का माल्यवान् नामक उत्तम गण है। मेरा पक्षपात करने के कारण पार्वती ने उसे क्रोध से शाप दिया, इसलिए मानव-योनि में उत्पन्न हुआ है ।।१३०।।

इस गुणाढ्य को शिवजी के द्वारा कही गई और मुझसे सुनाई गई यह कथा सुनाना। तब तुम्हारी और उसकी शाप-मुक्ति होगी ।।१३१।।

इस प्रकार वररुचि काणभूति को कहकर शरीर-त्याग करने के लिए पवित्र बदरिकाश्रम को गया ।।१३२।।

शाकाहारी मुनि की कथा

बदरिकाश्रम जाते हुए वररुचि ने गंगातट पर एक शाकाहारी ब्राह्मण को देखा। वररुचि के सामने ही उस ऋषि का हाथ कुश से कट गया ।।१३३।।

उस ऋषि के अहंकार की परीक्षा लेने के लिए तथा कौतुक से उस निकलते हुए रक्त को वररुचि ने अपने प्रभाव से शाक का रस बना दिया ।।१३४।।

अपने इस प्रभाव को देखकर उस मुनि को घमण्ड उत्पन्न हुआ। यह देखकर वररुचि ने मुस्कराते हुए कहा ।।१३५।।

मैंने तुम्हारी परीक्षा के लिए रक्त को शाक का रस बना दिया। किन्तु मालूम हुआ कि अभी तक तुमने अहंकार को त्यागा नहीं है ।।१३६।।

अहंकार, ज्ञानमार्ग में, कठिनाई से हटनेवाली बाधा है और ज्ञान के बिना सैकड़ों व्रतों से भी मुक्ति नहीं होती ।।१३७।।

पुण्यों के क्षीण होने पर नष्ट हो जानेवाला स्वर्ग, मुक्ति चाहनेवालों को आकृष्ट नहीं करता। इसलिए अहंकार का त्याग कर मुक्ति के लिए यत्न करो ।।१३८।।

इस प्रकार मुनि को शिक्षा देकर और नम्र होते हुए उससे स्तुति किया गया वररुचि प्रशान्त-पावन बदरिकाश्रम के स्नान को गया।।१३९।।

मनुष्य-देह को छोड़ने की इच्छा से वररुचि, बदरिकाश्रम में गाढ़ी भक्ति के साथ देवी की शरण में प्राप्त हुआ। देवी ने स्वयं प्रकट होकर, शरीर की मुक्ति के लिए उसे स्वयं योग द्वारा शरीर से निकली हुई अग्नि से देहनाश करने के लिए कहा, अर्थात् अपने शरीर से उत्पन्न योगानल से अपने शरीर की मुक्ति के लिए इसे भस्म करो ।।१४०।।

इस प्रकार वररुचि, उसी देवी के द्वारा निर्दिष्ट धारण से योगानल में मानव-शरीर को दग्ध करके अपनी गण-गति को प्राप्त हुआ और इधर काणभूति, इच्छित गुणाढ्य के समागम के प्रति उत्कण्ठित था ।।१४१।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचित कथासरित्सागर के कथापीठ लम्बक का पंचम तरंग समाप्त

षष्ठस्तरङ्गः

ततः स मर्त्यवपुषा माल्यवान् विचरन् वने ।
नाम्ना गुणाढ्यः सेवित्वा सातवाहनभूपतिम् ॥१॥
संस्कृताद्यास्तदग्रे च भाषास्तिस्रः प्रतिज्ञया ।
त्यक्त्वा खिन्नमना द्रष्टुमाययौ विन्ध्यवासिनीम् ॥२॥
तदादेशेन गत्वा च काणभूतिं ददर्श सः ।
ततो जातिं निजां स्मृत्वा प्रबुद्धः सहसाऽभवत् ॥३॥
आश्रित्य भाषां पैशाचीं भाषात्रयविलक्षणाम् ।
श्रावयित्वा निजं नाम काणभूतिं च सोऽब्रवीत् ॥४॥
पुष्पदन्ताच्छ्रुतां दिव्यां शीघ्रं कथय मे कथाम् ।
येन शापं तरिष्यावस्त्वं चाहं च समं सखे ॥५॥

गुणाढ्यकथा

तच्छ्रुत्वा प्रणतो हृष्टः काणभूतिरुवाच तम् ।
कथयामि कथां किं तु कौतुकं मे महत्प्रभो ! ॥६॥
आजन्मचरितं तावच्छंस मे कुर्वनुग्रहम् ।
इति तेनार्थितो वक्तुं गुणाढ्योऽथ प्रचक्रमे ॥७॥
प्रतिष्ठानेऽस्ति नगरं सुप्रतिष्ठितसंज्ञकम् ।
तत्राभूत्सोमशर्माख्यः कोऽपि ब्राह्मणसत्तमः ॥८॥
वत्सश्च गुल्मकश्चैव तस्य द्वौ तनयौ सखे ! ।
जायेते स्म तृतीया च श्रुतार्था नाम कन्यका ॥९॥
कालेन ब्राह्मणः सोऽथ सभार्यः पञ्चतां गतः ।
तत्पुत्रौ तौ स्वसारं तां पालयन्तावतिष्ठताम् ॥१०॥
सा चाकस्मात्सगर्भाभूत्तद्दृष्ट्वा वत्सगुल्मयोः ।
तत्रान्यपुरुषाभावाच्छङ्कान्योन्यमजायत ॥११॥
ततः श्रुतार्था चित्तज्ञा भ्रातरौ तावभाषत ।
पापशङ्का न कर्त्तव्या श्रृणुतं कथयामि वाम् ॥१२॥
कुमारः कीर्त्तिसेनाख्यो नागराजस्य वासुकेः ।
भ्रातुः पुत्रोऽस्ति तेनाहं दृष्टा स्नातुं गता सती ॥१३॥
ततः स मदनाक्रान्तो निवेद्यान्वयनामनी ।
गान्धर्वेण विवाहेन मां भार्यामकरोत्तदा ॥१४॥

षष्ठ तरंग

वररुचि के चले जाने पर उसका मित्र खिन्नहृदय माल्यवान् नामक गण, मर्त्यशरीर में गुणाढ्य नाम से विख्यात होकर वन में घूमता हुआ, संस्कृत आदि तीन भाषाओं को प्रतिज्ञापूर्वक छोड़कर और सातवाहन राजा की सेवा करके विन्ध्यवासिनी भगवती के दर्शन के लिए आया ।।१-२।।

विन्ध्यवासिनी की आज्ञा से उसने विन्ध्यारण्य में काणभूति को देखा । काणभूति को देखते ही गुणाढ्य को अपनी पूर्व जाति का स्मरण हो गया और वह मानों अकस्मात् जाग उठा ।।३।।

संस्कृत, प्राकृत एवं देशीय (अपभ्रंश)—इन तीनों भाषाओं को छोड़कर पैशाची भाषा में अपना नाम सुनाकर वह काणभूति से बोला ।।४।।

मित्र काणभूते ! पुष्पदन्त से सुनी हुई उस दिव्य कथा को शीघ्र सुनाओ; जिसके सुनने पर मैं और तुम दोनों एक साथ ही शाप से मुक्त हो जायेंगे ।।५।।

गुणाढ्य की कथा

यह सुनकर काणभूति ने गुणाढ्य से कहा—हे स्वामिन् ! उस दिव्य कथा को तो मैं सुनाता हूँ । किन्तु मुझे एक महान् कौतूहल है ।।६।।

वह यह कि पहले आप अपने जीवन का वृत्तान्त सुनाइए । इस प्रकार काणभूति के प्रार्थना करने पर गुणाढ्य ने अपनी कथा प्रारम्भ की ।।७।।

प्रतिष्ठान-प्रदेश में सुप्रतिष्ठित नामक नगर है । वहाँ पर सोमशर्मा नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहता था । ।।८।।

उस ब्राह्मण के वत्स और गुल्म नामक दो बालक और तीसरी श्रुतार्था नाम की एक कन्या थी ।।९।।

कालक्रम से सोमशर्मा और उसकी भार्या दोनों मर गये । उनके मरने पर वत्स और गुल्म दोनों भाई अपनी बहन श्रुतार्था का पालन-पोषण करने लगे ।।१०।।

उन्होंने किसी समय बहन को गर्भवती देखा । वहाँ अन्य किसी तीसरे पुरुष के अभाव में उन दोनों को परस्पर शंका हुई ।।११।।

भाइयों को शंकित देखकर चित्त की बात को समझनेवाली श्रुतार्था ने भाइयों से कहा—'तुम्हें किसी प्रकार की शंका न करनी चाहिए । मैं सत्य बात तुम्हें बताती हूँ' ।।१२।।

नागराज वासुकि के भाई का पुत्र कुमार कीर्त्तिसेन है । मुझे स्नान के लिए जाते हुए उसने देखा ।।१३।।

मुझे देखकर काम-पीड़ित हुए कीर्त्तिसेन ने अपना वंश और नाम बताकर गान्धर्वविधि से मुझे अपनी पत्नी बना लिया ।।१४।।

विप्रजातेरयं तस्मान्मम गर्भ इति स्वसुः ।
श्रुत्वा कः प्रत्ययोऽत्रेति वत्सगुल्माववोचताम् ॥१५॥
ततो रहसि सस्मार सा तं नागकुमारकम् ।
स्मृतमात्रागतः सोऽथ वत्सगुल्मावभाषत ॥१६॥
भार्या कृता मयैवेयं शापभ्रष्टा वराप्सराः ।
युष्मत्स्वसा युवां चैव शापेनैव च्युतौ भुवि ॥१७॥
पुत्रो जनिष्यते चात्र युष्मत्स्वसुरसंशयम् ।
ततोऽस्याः शापनिर्मुक्तिर्युवयोश्च भविष्यति ॥१८॥
इत्युक्त्वान्तर्हितः सोऽभूत्ततः स्तोकैश्च वासरैः ।
श्रुतार्थायाः सुतो जातस्तं हि जानीहि मां सखे ! ॥१९॥
गणावतारो जातोऽयं गुणाढ्यो नाम ब्राह्मणः ।
इति तत्कालमुद्भूदन्तरिक्षात्सरस्वती ॥२०॥
क्षीणशापास्ततस्ते च जननी मातुला मम ।
कालेन पञ्चतां प्राप्ता गतश्चाहमधीरताम् ॥२१॥
अथ शोकं समुत्सृज्य बालोऽपि गतवानहम् ।
स्वावष्टम्भेन विद्यानां प्राप्तये दक्षिणापथम् ॥२२॥
कालेन तत्र सम्प्राप्य सर्वा विद्याः प्रसिद्धिमान् ।
स्वदेशमागतोभूऽवं दर्शयिष्यन्निजान् गुणान् ॥२३॥
प्रविशंश्च चिरात्तत्र नगरे सुप्रतिष्ठिते ।
अपश्यं शिष्यसहितः शोभां कामप्यहं तदा ॥२४॥
क्वचित्सामानि छन्दोगा गायन्ति च यथाविधि ।
क्वचिद् विवादो विप्राणामभूद् वेदविनिर्णये ॥२५॥
योऽत्र द्यूतकलां वेत्ति तस्य हस्तगतो निधिः ।
इत्यादिकैतैर्वैद्यूतमस्तुवन्कितवाः क्वचित् ॥२६॥
अन्योन्यं निजवाणिज्यकलाकौशलवादिनाम् ।
क्वचिच्च वणिजां मध्ये वणिगेकोब्रवीदिदम् ॥२७॥

मूषकाद्धनं प्राप्तवतो वणिजः कथा

अर्थैः संयमवानर्थान्प्राप्नोति कियदद्भुतम् ।
मया पुनर्विनैवार्थं लक्ष्मीरासादिता पुरा ॥२८॥
गर्भस्थस्य च मे पूर्वं पिता पञ्चत्वमागतः ।
मन्मातुश्च तदा पापैर्गोत्रजैः सकलं हृतम् ॥२९॥

इसलिए मेरा यह गर्भ, ब्राह्मण-जाति से है। इस प्रकार बहन की बात सुनकर वत्स और गुल्म बोले कि इसमें क्या प्रमाण है ? ॥१५॥

यह सुनकर श्रुतार्था ने एकान्त में उस नागकुमार का स्मरण किया। नागकुमार स्मरण करते ही आया और वत्स एवं गुल्म से बोला ॥१६॥

इस शापभ्रष्टा अप्सरा को मैंने पत्नी बनाया है; जो तुम दोनों की बहन है। तुम दोनों भी शाप के कारण पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हो ॥१७॥

तुम्हारी बहन के इस गर्भ से अवश्य पुत्र उत्पन्न होगा। इसके उत्पन्न होने पर इसकी और तुम दोनों की शाप-मुक्ति होगी ॥१८॥

ऐसा कहकर वह नागकुमार अन्तर्धान हो गया और कुछ ही दिनों बाद श्रुतार्था को पुत्र उत्पन्न हुआ। हे सखे, वह श्रुतार्था का पुत्र मुझे ही समझो ॥१९॥

मेरे उत्पन्न होते ही आकाशवाणी हुई कि यह गुणाढ्य नामक ब्राह्मण, शिवजी के गण का अवतार है ॥२०॥

मेरे उत्पन्न होने पर वे—मेरी माता और मामा—भी शापक्षीण होने के कारण मर गये और एकाकी मैं अधीर हो गया ॥२१॥

कुछ दिनों के अनन्तर शोक का परित्याग करके मैं बालक होने पर भी अपने ही सहारे विद्याओं की प्राप्ति के लिए दक्षिणापथ चला गया ॥२२॥

मैं कुछ समय में दक्षिण देश में समस्त विद्याओं को प्राप्त करके प्रसिद्ध विद्वान् हुआ और अपने गुणों को दिखाने की इच्छा से स्वदेश आया ॥२३॥

बहुत दिनों के अनन्तर शिष्यों के साथ उस सुप्रतिष्ठित नगर में प्रवेश करते हुए मैंने नगर की अपूर्व शोभा देखी ॥२४॥

मैंने उस नगर में देखा कि कहीं सामवेदी विद्वान् विधिपूर्वक साम-गान कर रहे हैं और कहीं वेदों के अर्थ-निर्णय पर विद्वानों का शास्त्रार्थ हो रहा है ॥२५॥

कहीं जुआरी अपनी डींग हाँक रहे थे कि जो जुए की कला जानता है, उसके हाथ में खजाना है ॥२६॥

अपनी-अपनी व्यापार-कला का चातुर्य बतलाते हुए कुछ बनियों की मंडली में एक बनिया इस प्रकार बोला ॥२७॥

चूहे से धनी बने सेठ की कथा

'पैसों के विषय में संयम रखनेवाला ही पैसा कमाता है', यह कितने आश्चर्य की बात है। मैं जब गर्भ में था, तभी मेरे पिता मर गये। मेरी माता के पास जो कुछ भी धन था, वह वह दुष्ट संबंधियों ने उसे फुसलाकर ले लिया ॥२८-२९॥

ततः सा तद्भयाद् त्वा रक्षन्ती गर्भमात्मनः ।
तस्थौ कुमारदत्तस्य पितृमित्रस्य वेश्मनि ॥३०॥
तत्र तस्याश्च जातोऽहं साध्व्या वृत्तिनिबन्धनम् ।
ततश्चावर्धयत्सा मां कृच्छ्रकर्माणि कुर्वती ॥३१॥
उपाध्यायमथाभ्यर्थ्य नयाकिञ्चन्यदीनया ।
क्रमेण शिक्षितश्चाहं लिपिं गणितमेव च ॥३२॥
वणिक्पुत्रोऽसि तत्पुत्र ! वाणिज्यं कुरु साम्प्रतम् ।
विशाखिलाख्यो देशेऽस्मिन् वणिक्चास्ति महाधनः ॥३३॥
दरिद्राणां कुलीनानां भाण्डमूल्यं ददाति सः ।
गच्छ याचस्व तं मूल्यमिति माताब्रवीच्च माम् ॥३४॥
ततोऽहमगमं तस्य सकाशं सोऽपि तत्क्षणम् ।
इत्यवोचत् क्रुधा कञ्चिद् वणिक्पुत्रं विशाखिलः ॥३५॥
मूषको दृश्यते योऽयं गतप्राणोऽत्र भूतले ।
एतेनापि हि पण्येन कुशलो धनमर्जयेत् ॥३६॥
दत्तास्तव पुनः पाप दीनारा बहवो मया ।
दूरे तिष्ठतु तद्वृद्धिस्त्वया तेऽपि न रक्षिताः ॥३७॥
तच्छ्रुत्वा सहसैवाहं तमवोचं विशाखिलम् ।
गृहीतोऽयं मया त्वत्तो भाण्डमूल्याय मूषकः ॥३८॥
इत्युक्त्वा मूषकं हस्ते गृहीत्वा सम्पुटे च तम् ।
लिखित्वास्य गतोऽभूवमहं सोऽप्यहसद् वणिक् ॥३९॥
चणकाञ्जलियुग्मेन मूल्येन स च मूषक ।
मार्जारस्य कृते दत्तः कस्यचिद् वणिजो मया ॥४०॥
कृत्वा तांश्चणकान्भृष्टान्गृहीत्वा जलकुम्भिकाम् ।
अतिष्ठं चत्वरे गत्वा छायायां नगराद् बहिः ॥४१॥
तत्रः श्रान्तागतायाम्भः शीतलं चणकांश्च तान् ।
काष्ठभारिकसङ्घाय सप्रश्रयमदामहम् ॥४२॥
एकैकः काष्ठिकः प्रीत्या काष्ठे द्वे द्वे ददौ मम ।
विक्रीतवानहं तानि नीत्वा काष्ठानि चापणे ॥४३॥
ततः स्तोकेन मूल्येन क्रीत्वा तांश्चणकांस्ततः ।
तथैव काष्ठिकेभ्योऽहमन्येद्युः काष्ठमाहरम् ॥४४॥

तब मेरी माता उन सम्बंधियों की लूट-खसोट के भय से गर्भ की रक्षा करती हुई अपने पिता के मित्र कुमारदत्त के घर जाकर रहने लगी ।।३०।।

कुमारदत्त के घर में उस पतिव्रता के जीवन का आधार मैं उत्पन्न हुआ । मेरी माता, कष्टसाध्य कार्य करती हुई, मुझे जिलाने लगी ।।३१।।

मेरे कुछ बड़े होने पर उस अकिंचन और दीन माता ने गुरु से प्रार्थना करके मुझे अक्षर लिखना और कुछ गणित (हिसाब-किताब) सिखा दिया ।।३२।।

कुछ पढ़ लेने पर माता ने कहा—'बेटा ! बनिये के बालक हो, व्यापार करो। इस नगर में विशाखिल नाम का एक धनी व्यापारी बनिया है । कुलीन घर के दरिद्र लोगों को वह व्यापार का समान देता है । अतः तुम उसी के पास जाओ और माँगो' ।।३३-३४।।

माता की आज्ञा से मैं उस बनिये के पास गया । उस समय विशाखिल बनिया, क्रोध में किसी बनिये के लड़के से कह रहा था कि यहाँ भूमि पर एक मरा हुआ चूहा पड़ा है । यदि चतुर बनिया हो, तो इस सौदे से भी धन कमा सकता है ।।३५-३६।।

हे दुष्ट, मैंने तुझे बहुत-सी स्वर्ण-मुद्राएँ दीं, उनकी वृद्धि तो दूर रही, तूने उनकी रक्षा भी नहीं की ।।३७।।

बनिये की बातें सुनकर मैंने विशाखिल से कहा—मैंने बेचने के सामान में तुझसे इस चूहे को लिया ।।३८।।

ऐसा कहकर मैंने मरे हुए चूहे को हाथ से उठाकर एक डिब्बे में रख लिया और बनिये की बही में लिखकर चला । मेरे इस कार्य पर वह बनिया भी हँसने लगा ।।३९।।

मैंने दो अँजुली चने के बदले उस चूहे को किसी बनिये की बिल्ली को खाने के लिए दे दिया ।।४०।।

उस चने को भाड़ में भुनाकर और एक घड़ा पानी लेकर मैं शहर के बाहर एक चौराहे पर पेड़ की छाया में जा बैठा ।।४१।।

लकड़ी का बोझ लेकर आनेवाले थके मजदूरों को मैं नम्रता के साथ चना खिलाने और ठंडा पानी पिलाने लगा ।।४२।।

प्रत्येक लकड़हारा, अपने-अपने बोझ से दो-दो लकड़ियाँ मुझे प्रेमपूर्वक देने लगा । इस प्रकार कुछ समय में मेरे पास लकड़ी का एक बोझा एकत्र हो गया और मैंने उसे बाजार में जाकर बेच दिया ।।४३।।

लकड़ी बेचकर प्राप्त हुए मूल्य में से कुछ मूल्य से चने खरीद कर मैंने दूसरे दिन, फिर उसी प्रकार चौराहे पर पानी पिलाना प्रारम्भ किया । इस प्रकार मेरे पास पर्याप्त मात्रा में लकड़ियाँ इकट्ठी हो गईं ।।४४।।

एवं प्रतिदिनं कृत्वा प्राप्य मूल्यं क्रमान्मया ।
काष्ठिकेऽभ्योऽखिलं दारु क्रीतं तेभ्यो दिनत्रयम् ॥४५॥
अकस्मादथ सञ्जाते काष्ठच्छेदेऽतिवृष्टिभिः ।
मया तद्दारु विक्रीतं पणानां बहुभिः शतैः ॥४६॥
तेनैव विपणिं कृत्वा धनेन निजकौशलात् ।
कुर्वन्वणिज्यां क्रमशः सम्पन्नोऽस्मि महाधनः ॥४७॥
सौवर्णो मूषकः कृत्वा मया तस्मै समर्पितः ।
विशाखिलाय सोऽपि स्वां कन्यां मह्यमदात्ततः ॥४८॥
अतएव च लोकेऽस्मिन् प्रसिद्धो मूषकाख्यया ।
एव लक्ष्मीरियं प्राप्ता निर्धनेन सता मया ॥४९॥
तच्छ्रुत्वा तत्र तेऽभूवन्वणिजोऽन्ये सविस्मयाः ।
धीर्न चित्रीयते कस्मादभित्तौ चित्रकर्मणा ॥५०॥

मूर्खवैदिकब्राह्मणकथा

क्वचित्प्रतिग्रहप्राप्तहेममाषाष्टको द्विजः ।
छन्दोगः कश्चिदित्युक्तो विटप्रायेण केनचित् ॥५१॥
ब्राह्मण्याद् भोजनं तावदस्ति ते तत्त्वयामुना ।
लोकयात्रा सुवर्णेन वैदग्ध्यायेह शिक्ष्यताम् ॥५२॥
को मां शिक्षयतीत्युक्ते तेन मुग्धेन सोऽब्रवीत् ।
यैषा चतुरिका नाम वेश्या तस्या गृहं व्रज ॥५३॥
तत्र किं करवाणीति द्विजेनोक्तो विटोऽब्रवीत् ।
स्वर्णं दत्वा प्रयुञ्जीथा रञ्जयन्साम किञ्चन ॥५४॥
श्रुत्वेत्यगच्छच्छन्दोगो द्रुतं चतुरिकागृहम् ।
उपाविशत्प्रविश्यात्र कृतप्रत्युद्गतिस्तया ॥५५॥
मामद्य लोकयात्रां त्वं शिक्षयैतेन साम्प्रतम् ।
इति जल्पन्स तत्तस्यै स्वर्णमर्पितवान् द्विजः ॥५६॥
प्रहसत्यथ तत्रस्थे जने किञ्चिद् विञ्चिन्त्य सः ।
गोकर्णसदृशौ कृत्वा करावाबद्धसारणौ ॥५७॥
तारस्वरं तथा साम गायति स्म जडाशयः ।
यथा तत्र मिलन्ति स्म विटा हास्यदिदृक्षवः ॥५८॥
ते चावोचन् शृगालोऽयं प्रविष्टोऽत्र कुतोऽन्यथा ।
तच्छीघ्रमर्धचन्द्रोऽस्य गलेऽस्मिन्दीयतामिति ॥५९॥

इस प्रकार, प्रतिदिन करते-करते मैंने धन-संग्रह करके तीन दिनों तक लकड़हारों से सारी लकड़ियाँ खरीद लीं ।।४५।।

एक बार भयंकर वृष्टि के कारण लकड़ियों का जंगल से आना बन्द हो गया। तब मैंने अपनी इकट्ठी की हुई लकड़ियों को महँगे दाम पर बेचकर पर्याप्त धन कमा लिया ।।४६।।

उस धन से एक दूकान करके व्यापार की चतुराई से मैं बहुत धनवान् हो गया। मैंने सोने का चूहा बनाकर अपने महाजन विशाखिल को मृत चूहे के मूल्य-स्वरूप भेंट में दिया ।।४७।।

वह भी मेरी व्यापार-बुद्धि से इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपनी कन्या मुझे दे दी ।।४८।।

एक मरे हुए चूहे के आधार पर व्यापार करने के कारण मैं नगर में 'मूसे साव' के नाम से विख्यात हो गया। इस प्रकार, निर्धन होकर मैंने लक्ष्मी प्राप्त की ।।४९।।

यह सुनकर वहाँ एकत्र सभी बनिये आश्चर्य-चकित हो गये। विना भीत की चित्र-रचना करने पर किसकी बुद्धि आश्चर्य-चकित नहीं होती ।।५०।।

मूर्ख सामवेदी ब्राह्मण की कथा

वहीं पर कहीं से दान में आठ मासा सोना पाया हुआ वेदपाठी ब्राह्मण खड़ा था। उसे किसी वेश्याओं के दलाल ने कहा–'ब्राह्मण होने के कारण तुम्हें भोजन की चिन्ता तो है नहीं; सो तुम इस आठ मासे सोने से कहीं जाकर जीवन-निर्वाह के लिए सांसारिक चतुराई सीखो' ।।५१-५२।।

'मुझे चतुराई कौन सिखायेगा?'—ब्राह्मण के ऐसा पूछने पर उसने कहा—यहाँ जो चतुरिका नाम की वेश्या है, उसके घर जाकर सिखो' ।।५३।।

'वेश्या के घर जाकर क्या करूँ?'—ऐसा पूछने पर दलाल ने कहा—उसे सोना देकर चतुराई सिखाने को कहना और मनोरंजक तथा साम (सांत्वना) की बातें करना' ।।५४।।

यह सुनकर वह वैदिक ब्राह्मण तुरन्त चतुरिका के घर गया और उसके द्वारा अभ्युत्थान सत्कार करने पर भीतर जाकर बैठ गया ।।५५।।

'तुम आज इस सुवर्ण को लेकर मुझे सांसारिक व्यवहार सिखाओ'—ऐसा कहकर उसने वह आठ मासा सोना उस वेश्या को अर्पित कर दिया ।।५६।।

उसके ऐसा कहने पर वहाँ बैठे हुए मनुष्य हँसने लगे। उन्हें हँसता देखकर वह मूख वैदिक ब्राह्मण, दोनों हाथों को गौ के कान के समान खड़ा करके उन पर अँगुलियाँ नचाता हुआ इतनी कड़ी आवाज से सामवेद पढ़ने लगा कि आसपास के सभी वेश्या-दलाल, उसका तमाशा देखने के लिए वहाँ इकट्ठे हो गये ।।५७-५८।।

वे सब बोले–'यह सियार यहाँ कैसे घुस आया? इसे जल्दी ही अर्धचन्द्र (गरदनिया) देकर बाहर निकालो' ।।५९।।

अर्धचन्द्रं शरं मत्वा शिरश्छेदभयाद्‌द्रुतम् ।
शिक्षिता लोकयात्रेति गर्जन्स निरगात्ततः ॥६०॥
तत्सकाशं ततोऽगच्छद्येनासौ प्रेषितोऽभवत् ।
वृत्तान्तं चावदत्तस्मै सोऽपि चैनमभाषत ॥६१॥
साम सान्त्वं मयोक्तं ते वेदस्यावसरोऽत्र कः ।
किं वा धाराधिरूढं हि जाड्यं वेदजडे जने ॥६२॥
एवं विहस्य गत्वा च तेनोक्ता सा विलासिनी ।
द्विपदस्य पशोरस्य तत्सुवर्णतृणं त्यज ॥६३॥
हसन्त्या च तया त्यक्तं सुवर्णं प्राप्य स द्विजः ।
पुनर्जातमिवात्मानं मन्वानो गृहमागतः ॥६४॥
एवं प्रायाण्यहं पश्यन् कौतुकानि पदे पदे ।
प्राप्तवान् राजभवनं महेन्द्रसदनोपमम् ॥६५॥
ततश्चान्तः प्रविष्टोऽहं शिष्यैरग्रे निवेदितः ।
आस्थानस्थितमद्राक्षं राजानं सातवाहनम् ॥६६॥
शर्ववर्मप्रभृतिभिर्मन्त्रिभिः परिवारितम् ।
रत्नसिंहासनासीनममरैरिव वासवम् ॥६७॥
विहितस्वस्तिकारं मामुपविष्टमथासने ।
राज्ञा कृतादरं चैव शर्ववर्मादयोऽस्तुवन् ॥६८॥
अयं देव भुवि ख्यातः सर्वविद्याविशारदः ।
गुणाढ्य[1] इति नामास्य यथार्थमतएव हि ॥६९॥
इत्यादि तत्स्तुतिं श्रुत्वा मन्त्रिभिः सातवाहनः ।
प्रीतः सपदि सत्कृत्य मन्त्रित्वे मां न्ययोजयत् ॥७०॥
अथाहं राजकार्याणि चिन्तयन्नवसं सुखम् ।
शिष्यानध्यापयंस्तत्र कृतदारपरिग्रहः ॥७१॥
कदाचित्कौतुकाद् भ्राम्यन्स्वैरं गोदावरीतटे ।
देवीकृतिरितिख्यातमुद्यानं दृष्टवानहम् ॥७२॥
तच्चातिरम्यमालोक्य क्षितिस्थमिव नन्दनम् ।
उद्यानपालः पृष्टोऽभून्मया तत्र तदागमम् ॥७३॥

---

१. गुणैः आढ्यः=सम्पन्नः समृद्ध इत्यर्थः ।

ब्राह्मण, अर्धचन्द्र-को वाण समझकर सिर कटने के भय से 'मने लोकयात्रा (चतुराई) खूब सीख ली,—ऐसा कहता हुआ भय से शीघ्र बाहर भाग गया ।।६०।।

वैदिक ब्राह्मण, वेश्या के घर से भागकर फिर उसी के पास गया, जिसने उसे भेजा था और उससे सारा वृत्तान्त भी बताया । उसने कहा कि मैंने तो तुमसे कहा था कि वहाँ साम (शान्ति) का प्रयोग करना, वहाँ सामवेद पढ़ने की कौन-सी तुक थी । सचमुच, वेदपाठी मूर्ख ब्राह्मणों में मूर्खता कूट-कूट कर भरी गई है ।।६१-६२।।

इस प्रकार, हँसकर और उस वेश्या के पास जाकर उस दलाल ने कहा कि 'इस दो पैर के पशु को वह सुवर्ण-रूपी घास दे दो अर्थात् इसका सोना लौटा दो' ।।६३।।

वेश्या ने हँसते हुए उस ब्राह्मण का आठ मासा सोना लौटा दिया और वह भी मानों अपना पुनर्जन्म समझता हुआ घर वापस आया ।।६४।।

गुणाढ्य ने काणभूति से कहा कि मैं उस सुप्रतिष्ठित नगर में पग-पग पर इस प्रकार के तमाशे देखता हुआ महेन्द्र-भवन के समान राजभवन में पहुँचा ।।६५।।

वहाँ पर मैंने शर्ववर्मा आदि मन्त्रियों से घिरे हुए तथा दरबार में बैठे हुए राजा सातवाहन को देवताओं से घिरे हुए इन्द्र के समान देखा ।।६६।।

आशीर्वाद देकर आसन पर बैठे हुए और राजा के द्वारा सत्कार किये गये शर्ववर्मा आदि मन्त्री मेरी प्रशंसा करने लगे ।।६७।।

हे महाराज, यह सारे भुवन में विख्यात और सभी विद्याओं में पारंगत गुणाढ्य नाम का विद्वान् है । सभी गुणों से पूर्ण होने के कारण गुण-आढ्य इसका नाम यथार्थ है ।।६९।।

मन्त्रियों द्वारा मेरी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न राजा सातवाहन ने मुझे भी एक मन्त्री का पद प्रदान किया ।।७०।।

मन्त्री नियुक्त होने पर वहाँ विवाह करके और शिष्यों को पढ़ाते हुए आनन्द के साथ मैं रहने लगा ।।७१।।

देवी-उद्यान की कथा

किसी समय कौतुकवश गोदावरी के तट पर, स्वतन्त्र रूप से भ्रमण करते हुए, मैंने वहाँ 'देवीकृति' नामक एक उद्यान को देखा ।।७२।।

पृथ्वी पर बने हुए नन्दन-वन के समान उस अत्यन्त रमणीय उद्यान को देखकर मैंने उद्यानपाल (माली) से उसकी उत्पत्ति का कारण पूछा ।।७३।।

स च मामब्रवीत् स्वामिन्वृद्धेभ्यः श्रूयते यथा ।
पूर्वं मौनी निराहारो द्विजः कश्चित्समाययौ ॥७४॥
स दिव्यमिदमुद्यानं सदेवभवनं व्यधात् ।
ततोऽत्र ब्राह्मणाः सर्वे मिलन्ति स्म सकौतुकाः ॥७५॥
निर्बन्धात्तः स पृष्टः स्वं वृत्तान्तमवदद्द्विजः ।
अस्तीह भरुकच्छाख्यो[1] विषयो नर्मदातटे ॥७६॥
तस्मिन्नहं समुत्पन्नो विप्रस्तस्य च मे पुरा ।
न भिक्षामप्यदात् कश्चिद्दरिद्रस्यालसस्य च ॥७७॥
अथ खेदाद् गृहं त्यक्त्वा विरक्तो जीवितं प्रति ।
भ्रान्त्वा तीर्थान्यहं द्रष्टुमगच्छं विन्ध्यवासिनीम् ॥७८॥
दृष्ट्वा ततश्च तां देवीमिति सञ्चिन्तितं मया ।
लोकः पशूपहारेण प्रीणाति वरदामिमाम् ॥७९॥
अहं त्वात्मानमेवेह हन्मि मूर्खमिमं पशुम् ।
निश्चित्येति शिरश्छेत्तुं मया शस्त्रमगृह्यत ॥८०॥
तत्क्षणं सा प्रसन्ना मां देवी स्वयमभाषत ।
पुत्र सिद्धोऽसि मात्मानं वधीस्तिष्ठ ममान्तिके ॥८१॥
इति देवीवरं लब्ध्वा सम्प्राप्ता दिव्यता मया ।
ततः प्रभृति नष्टा मे बुभुक्षा च तृषा सह ॥८२॥
कदाचिदथ देवी मां तत्रस्थं स्वयमादिशत् ।
गत्वा पुत्र प्रतिष्ठाने रचयोद्यानमुत्तमम् ॥८३॥
इत्युक्त्वा सैव मे बीजं दिव्यं प्रादात्ततो मया ।
इहागत्य कृतं कान्तमुद्यानं तत्प्रभावतः ॥८४॥
पाल्यमेतच्च युष्माकमित्युक्त्वा स तिरोदधे ।
इति निर्मितमुद्यानमिदं देव्या पुरा प्रभो ॥८५॥
उद्यानपालादित्येवं तद्देशे देव्यनुग्रहम् ।
आकर्ण्य विस्मयाविष्टो गृहाय गतवानहम् ॥८६॥
एवमुक्ते गुणाढ्येन काणभूतिरभाषत ।
सातवाहन इत्यस्य कस्मान्नामाभवत् प्रभो ॥८७॥

१. भरुकच्छ—साम्प्रतं गुर्जरदेशे 'भरोंच' इति प्रसिद्धः ।

माली ने मुझसे कहा—मालिक ! बूढ़ों से ऐसा सुना जाता है कि प्राचीन समय में मौनी और निराहारी एक ब्राह्मण यहाँ आया और उसने देव-मन्दिर के साथ इस बाग को बनाया। इसलिए, इसमें ब्राह्मणगण, बड़े उत्साह के साथ यहाँ एकत्र होते हैं, परस्पर मिलते हैं ॥७५॥

अति आग्रह के साथ उनसे पूछे जाने पर उस ब्राह्मण ने कहा कि इस भारतभूमि में नर्मदा के तट पर भरुकच्छ नामें का प्रसिद्ध देश है ॥७६॥

मैं उसी भरुकच्छ देश में उत्पन्न एक ब्राह्मण हूँ। मुझ आलसी और दरिद्र को कोई भिक्षा भी नहीं देता था ॥७७॥

इस करण अत्यन्त दु:ख से मैं जीवन के प्रति विरक्त होकर अनेक तीर्थों का भ्रमण करता हुआ विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन करने के लिए गया ॥७८॥

देवी का दर्शन करके मैंने सोचा कि यहाँ लोग वरदानी देवी को पशुवलि देकर प्रसन्न करते हैं, तो मैं मूर्ख और पशु-स्वरूप अपने को ही मारकर वलि क्यों न दे दूँ—ऐसा सोचकर मैंने अपना गला काटने के लिए शस्त्र उठाया ॥७९-८०॥

उसी क्षण प्रसन्न होकर देवी ने मुझे स्वयं कहा—'पुत्र, तू सिद्ध हो गया है। अपने को मत मार ! मेरे पास रह' ॥८१॥

इस प्रकार, देवी का वर प्राप्त करके मैंने दिव्यता प्राप्त की। तभी से प्यास के साथ मेरी भूख भी नष्ट हो गई ॥८२॥

किसी समय वहीं निवास करती हुई देवी ने मुझसे स्वयं कहा—'हे पुत्र, तुम प्रतिष्ठान नगर में जाकर एक अच्छा उद्यान बनाओ' ॥८३॥

एसा कहकर देवी ने मुझे दिव्य बीज दिया और उसी के प्रभाव से मैंने यह रमणीय उद्यान बनाया ॥८४॥

आप लोग इस उद्यान की रक्षा करें। ऐसा कहकर वह अन्तर्धान हो गया। 'हे स्वामिन् ! इस प्रकार प्राचीन समय में देवी ने इस उद्यान को बनाया था' ॥८५॥

उद्यानपाल (माली) से इस प्रकार उस देश में देवी की कृपा का समाचर सुनकर मैं आश्चर्यान्वित होकर घर के लिए लौटा ॥८६॥

गुणाढ्य के इतना कहने पर काणभूति ने कहा कि राजा सातवाहन यह नाम क्यों हुआ ? ॥८७॥

सातवाहनकथा

ततोऽब्रवीद्गुणाढ्योऽपि शृण्वेतत्कथयामि ते ।
दीपकर्णिरिति ख्यातो राजाभूत्प्राज्यविक्रमः ॥८८॥
तस्य शक्तिमती नाम भार्या प्राणाधिकाऽभवत् ।
रतान्तसुप्तामुद्याने सर्पस्तां जातु दष्टवान् ॥८९॥
गतायामथ पञ्चत्वं तस्यां तद्गतमानसः ।
अपुत्रोऽपि स जग्राह ब्रह्मचर्यंव्रतं नृपः ॥९०॥
ततः कदाचिद्राज्यार्हपुत्राऽसद्भावदुःखितम् ।
इत्यादिदेश तं स्वप्ने भगवानिन्दुशेखरः ॥९१॥
अटव्यां द्रक्ष्यसि भ्राम्यन्सिंहारूढं कुमारकम् ।
तं गृहीत्वा गृहं गच्छेः स ते पुत्रो भविष्यति ॥९२॥
अथ प्रबुद्धस्तं स्वप्नं स्मरन्राजा जहर्ष सः ।
कदाचिच्च ययौ दूरामटवीं मृगयारसात् ॥९३॥
ददर्श तत्र मध्याह्ने सिंहारूढं स भूपतिः ।
बालकं पद्मसरसस्तीरे तपनतेजसम् ॥९४॥
अथ राजा स्मरन् स्वप्नमवतारितबालकम् ।
जलाभिलाषिणं सिंहं जघानैकशरेण तम् ॥९५॥
स सिंहस्तद्वपुस्त्यक्त्वा सद्योऽभूत्पुरुषाकृतिः ।
कष्टं किमेतद् ब्रूहीति राज्ञा पृष्टो जगाद च ॥९६॥
धनदस्य सखा यक्षः सातो नामास्मि भूपते !
सोऽहं स्नान्तीमपश्यं प्राग्गङ्गायामृषिकन्यकाम् ॥९७॥
सापि मां वीक्ष्य सञ्जातमन्मथाभूदहं तथा ।
गान्धर्वेण विवाहेन ततो भार्या कृता मया ॥९८॥
तच्च तद्बान्धवा बुद्ध्वा तां च मां चाशपन् क्रुधा ।
सिंहौ भविष्यतः पापौ स्वेच्छाचारौ युवामिति ॥९९॥
पुत्रजन्मावधि तस्याः शापान्तं मुनयो व्यधुः ।
मम तु त्वच्छराघातपर्यन्तं तदनन्तरम् ॥१००॥
अथवा सिंहमिथुनं सञ्जातौ सापि कालतः ।
गर्भिण्यभूत्ततो जाते दारकेऽस्मिन्व्यपद्यत ॥१०१॥

राजा सातवाहन की कथा

तब गुणाढ्य ने कहा कि यह भी सुनो ! प्राचीन समय में दीपकर्णि नामक प्रसिद्ध प्रराक्रमी राजा हुआ ॥८८॥

उसकी प्राणों से भी प्यारी शक्तिमती नाम की रानी थी । किसी समय रतिकाल के अन्त में उद्यान में सोई हुई रानी को साँप ने काट लिया ॥८९॥

उससे अत्यधिक प्यार करनेवाले राजा ने उसके मर जाने पर, सन्तान-रहित होने पर भी ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने का निश्चय किया ॥९०॥

किसी समय राजा के योग्य पुत्र के न होने से अत्यन्त दु:खी राजा को भगवान् चन्द्रशेखर ने स्वप्न में आदेश दिया--॥९१॥

'किसी समय जंगल में घूमते हुए सिंह पर चढ़े हुए बालक को तुम देखोगे, उसे लेकर घर जाना, वह तुम्हारा पुत्र होगा' ॥९२॥

सोकर उठे हुए राजा ने स्वप्न का स्मरण करते हुए प्रसन्नता प्रकट की । किसी दिन राजा शिकार के सिलसिले में जंगल में दूर तक निकल गया ॥९३॥

जंगल में भ्रमण करते हुए राजा ने मध्याह्न के समय एक पद्म-सरोवर के किनारे शेर पर चढ़े हुए सूर्य के समान तेजस्वी एक बालक को देखा ॥९४॥

इसके अनन्तर राजा स्वप्न का स्मरण करते हुए बालक को उतारकर पानी पीते हुए सिंह को एक वाण मारा ॥९५॥

बाण लगते ही सिंह अपना शरीर छोड़कर तुरन्त पुरुष बन गया । उसे देखकर राजा ने पुछा कि 'तुम्हे यह कष्ट कैसे हुआ' ॥९६॥

सिंह बोला--"मैं कुबेर का मित्र सात नामक यक्ष हूँ ! मैंने एक बार स्नान करती हुई एक ऋषि-कन्या को देखा । देखते ही वह और मैं दोनों परस्पर आसक्त हो गये । उसे गान्धर्व विवाह द्वारा मैंने पत्नी बना लिया ॥९७॥

ऋषिकन्या के बन्धुओं ने यह जानकर उसे और मुझे दोनों को शाप दिया कि तुम दोनों पापी स्वेच्छाचारी सिंह बनोगे ॥९९॥

ऋषियों ने उस कन्या को पुत्र उत्पन्न होने तक शाप की अवधि दी और मुझे तुम्हारे बाण का आघात लगने तक की ॥१००॥

तदनन्तर, हम दोनों सिंह की जोड़ी बन गये । कुछ समय बाद वह (सिंहनी) गर्भवती हुई और इस बालक के उत्पन्न होने पर मर गई । मैंने इस बालक को अन्यान्य सिंहनियों के दूध से पाला है । आज तुम्हारे बाण के आघात से मैं भी शाप से छूट गया हूँ ॥१०१॥

अयं च वर्धितोऽन्यासां सिंहीनां पयसा मया ।
अद्य चाहं विमुक्तोऽस्मि शापाद् बाणाहतस्त्वया ॥१०२॥
तद् गृहाण महासत्त्वं मया दत्तममुं सुतम् ।
अयं ह्यर्थः समादिष्टस्तैरेव मुनिभिः पुरा ॥१०३॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन्सातनामनि गुह्यके ।
स राजा तं समादाय बालं प्रत्याययौ गृहम् ॥१०४॥
सातेन यस्मादूढोऽभूत्तस्मात्तं सातवाहनम् ।
नाम्ना चकार कालेन राज्ये चैनं न्यवेशयत् ॥१०५॥
ततस्तस्मिन्गतेऽरण्यं दीपकर्णे क्षितीश्वरे ।
संवृतः सार्वभौमोऽसौ भूपतिः सातवाहनः ॥१०६॥
एवमुक्त्वा कथां मध्ये काणभूत्यनुयोगतः ।
गुणाढ्यः प्रकृतं धीमाननुस्मृत्याब्रवीत्पुनः ॥१०७॥
ततः कदाचिदध्यास्त वसन्तसमयोत्सवे ।
देवीकृतं तदुद्यानं स राजा सातवाहनः ॥१०८॥
विहरन् सुचिरं तत्र महेन्द्र इव नन्दने ।
वापीजलेऽवतीर्णोऽभूत्क्रीडितुं कामिनीसखः ॥१०९॥
असिञ्चत्तत्र दयिताः सहेलं करवारिभिः ।
असिच्यत स ताभिश्च वशाभिरिव वारणः ॥११०॥
मुखैर्धौताञ्जनाताम्रनेत्रैर्जह्नजलाप्लुतैः ।
अङ्गैः सक्ताम्बरव्यक्तविभागैश्च तमङ्गनाः ॥१११॥
विदलत्पत्रतिलकाः स चक्रे वनमध्यगाः ।
च्युताभरणपुष्पास्ता लता वायुरिव प्रियाः ॥११२॥
अथैका तस्य महिषी राज्ञः स्तनभरालसा ।
शिरीषसुकुमाराङ्गी क्रीडन्ती कलममभ्यगात् ॥११३॥
सा जलैरभिषिञ्चन्तं राजानमसहा सती ।
अब्रवीन्मोदकैर्देव परिताडय मामिति ॥११४॥
तच्छ्रुत्वा मोदकान् राजा द्रुतमानाय यद् बहून् ।
ततो विहस्य सा राज्ञी पुनरेवमभाषत ॥११५॥
राजन्नवसरः कोऽत्र मोदकानां जलान्तरे ।
उदकैः सिञ्च मा त्वं मामित्युक्तं हि मया तव ॥११६॥

इसलिए तुम इस महाबलवान् बालक को लो। यह बात पहले के शाप देनेवाले मुनियों ने ही कही थी" ।।१०२-१०३।।

ऐसा कहकर उस 'सात' नामक यक्ष के अन्तर्धान हो जाने पर वह राजा उस बालक को लेकर लौट आया ।।१०४।।

'सात' नामक यक्ष ने उसे उठा कर रखा था, अतः उस बालक का नाम 'सातवाहन' रखा और समय आने पर उसे राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया ।।१०५।।

कुछ समय के बाद राजा दीपकर्णि के वन में चले जाने पर वह सातवाहन राजा सार्वभौम बन गया ।।१०६।।

इस प्रकार, कथा कहकर काणभूति के अनुरोध से बुद्धिमान् गुणाढ्य ने प्रसंग-पूर्वक पुनः स्मरण करके कहना आरम्भ किया ।।१०७।।

कुछ समय के अनन्तर, वसन्तोत्सव के समय राजा सातवाहन उस देवी के बनाये हुए उद्यान में गया ।।१०८।।

नन्दन-वन में महेन्द्र के सामन बहुत काल तक उस उद्यान में अपनी रानियों के साथ विहार करता हुआ राजा सातवाहन बावली के जल में रानियों के साथ जलक्रीड़ा के लिए उतरा ।।१०९।।

जल-केलि में वह अपने हाथ से फेंके हुए छींटों से रानियों के मुखों को सींचने लगा और रानियाँ भी उसके मुख-मण्डल को इस प्रकार सींचने लगीं जैसे हथिनियाँ हाथी को सींचती हैं ।।११०।।

काजल के धुल जाने पर लाल नेत्रों से और पानी से वस्त्रों के अंगों में चिपक जाने के कारण स्पष्ट दीखते हुए शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों से वे राजा का मन-हरण करने लगीं ।।१११।।

वायु के समान राजा ने अपनी उन प्रियतमाओं को वन की लताओं के समान कर दिया ! वन में वायु लताओं के पत्र-रूपी तिलक को हटा देता है और पुष्परूपी आभरणों से रहित कर देता है । उसी प्रकार राजा ने रानियों के पत्रावली-रूपी तिलक को पानी के छींटों की बौछार से धो डाला और पुष्पों के समान शोभित उनके आभरणों को भी उतरवा डाला ।।११३।।

जलक्रीड़ा करते-करते उस राजा की शिरीष-पुष्प के समान एक सुकुमार रानी स्तन-भार से क्लान्त होकर खेलती-खेलती थक गयी ।।११४।।

वह रानी पानी के छींटों की बौछार करती हुई राजा से बोली--'स्वामिन् ! मुझे पानी ने मत मारो ।' (मोदकैः--मा+उदकैः--ताडय) ।।११५।।

यह सुनकर राजा ने 'मोदक' का अर्थ लड्डू समझा और जल्द ही बहुत-से लड्डू मँगवाये । तब रानी ने हँसकर फिर कहा--राजन्, पानी के अन्दर लड्डुओं की कौन तुक है? मैंने तो तुमसे कहा कि जल-सींचन से मुझे तबाह मत करो ।।११६।।

१२

सन्धिमात्रं न जानासि माशब्दोदकशब्दयोः ।
न च प्रकरणं वेत्सि मूर्खस्त्वं कथमीदृशः ॥११७॥
इत्युक्तः स तया राज्ञा शब्दशास्त्रविदा नृपः ।
परिवारे हसत्यन्तर्लज्जाक्रान्तो झगित्यभूत् ॥११८॥
परित्यक्तजलक्रीडो वीतदर्पश्च तत्क्षणम् ।
जातावमानो निर्लक्षः प्राविशन्निजमन्दिरम् ॥११९॥
ततश्चिन्तापरो मुह्यन्नाहारादिपराङ्मुखः ।
चित्रस्थ इव पृष्टोऽपि नैव किञ्चिदभाषत ॥१२०॥
पाण्डित्यं शरणं वा मे मृत्युर्वेति विचिन्तयन् ।
शयनीयपरित्यक्तगात्रः सन्तापवानभूत् ॥१२१॥
अकस्मादथ राज्ञस्तां दृष्ट्वावस्थां तथाविधाम् ।
किमेतदिति सम्भ्रान्तः सर्वः परिजनोऽभवत् ॥१२२॥
ततोऽहं शर्ववर्मा च ज्ञातवन्तौ क्रमेण ताम् ।
अत्रान्तरे स च प्रायः पर्यहीयत वासरः ॥१२३॥
अस्मिन्काले न च स्वस्थो राजेत्यालोच्य तत्क्षणम् ।
आवाभ्यां राजहंसाख्य आहूतो राजचेटकः ॥१२४॥
शरीरवार्त्तां भूपस्य स च पृष्टोऽब्रवीदिदम् ।
नेदृशो दुर्मनाः पूर्वं दृष्टो देवः कदाचन ॥१२५॥
विष्णुशक्तिदुहित्रा च मिथ्यापण्डितया तया ।
विलक्षीकृत इत्याहुर्देव्योऽन्याः कोपनिर्भरम् ॥१२६॥
एतत्तस्य मुखाच्छ्रुत्वा राजचेटस्य दुर्मनाः ।
शर्ववर्मद्वितीयोऽहं संशयादित्यचिन्तयम् ॥१२७॥
व्याधिर्यदि भवेद्राज्ञः प्रविशेयुश्चिकित्सकाः ।
आधिर्वा[1] यदि तत्रास्य कारणं नोपलभ्यते ॥१२८॥
नास्त्येव हि विपक्षोऽस्य राज्ये निहतकण्टके ।
अनुरक्ताः प्रजाश्चैता न हानिः परिदृश्यते ॥१२९॥
तत्कस्मादेष खेदः स्यादीदृशः सहसा प्रभोः ।
एवं विचिन्तिते धीमाञ्छर्ववर्मेदमब्रवीत् ॥१३०॥
अहं जानामि राज्ञोऽस्य मन्युर्मौर्ख्यानुतापतः ।
मूर्खोऽहमिति पाण्डित्यं सदैवायं हि वाञ्छति ॥१३१॥

१. आधिः—मानसो रोगः ।

तुम इतने मूर्ख हो कि 'मा' शब्द और 'उदक' शब्द की सन्धि भी नहीं जानते और न बातों का प्रसंग ही समझते हो। तुम कैसे मूर्ख हो ? ॥११७॥

शब्दशास्त्र को जाननेवाली रानी से इस प्रकार फटकारा गया राजा, अन्यान्य रानियों के मन-ही-मन हँसने पर, लज्जा के मारे सन्न हो गया ॥११८॥

ऐसी स्थिति में राजा हतप्रभ होकर जलक्रीड़ा को छोड़कर अपमानित और मलिन-मुख होकर अपने भवन में चला गया ॥११९॥

तब चिन्ताओं से चूर राजा भोजन आदि को छोड़कर चित्र में लिखा-सा स्तब्ध होकर पड़ गया। कुछ भी बोलता नहीं था ॥१२०॥

राजा की अकस्मात् ऐसी अवस्था देखकर 'यह क्या हुआ ?'—ऐसा सोचते हुए सभी सेवक-जन व्याकुल हो गये ॥१२२॥

पाण्डित्य की शरण में जाऊँ या मृत्यु की ? ऐसा सोचता हुआ शय्या पर पड़ा हुआ राजा अत्यन्त सन्तप्त होने लगा ॥१२१॥

तब मैंने तथा शर्ववर्मा ने क्रमशः परिस्थिति को जाना। इतने में ही दिन समाप्त हो गया ॥१२३॥

'अब रात के समय अस्वस्थ राजा के पास जाना उचित नहीं'—ऐसा विचारकर हम लोगों ने राजहंस नामक राजा के निजी सेवक को बुलवाया ॥१२४॥

राजा की शारीरिक अवस्था पूछने पर उसने कहा कि 'महाराज को इतना अस्वस्थ कभी नहीं देखा गया। अन्यान्य रानियों ने कहा कि 'झूठी पंडिता बनी हुई विष्णुशक्ति राजा की पुत्री ने महाराज को इतना अस्वस्थ कर दिया है' ॥१२५-१२६॥

राजा के निजी सेवक से यह सुनकर शर्ववर्मा के साथ मैंने यह सोचा ॥१२७॥

यदि शारीरिक व्याधि होती, तो वैद्यों का प्रवेश होता। यदि मानसिक व्याधि है, तो उसका कोई कारण मालूम नहीं होता ॥१२८॥

कण्टकों (विद्रोहियों) के शुद्ध कर देने के कारण उस राजा का शत्रु कोई नहीं है और प्रजा भी राजा के प्रति प्रेम रखती है। अतः, राजा को कौन-सी मानसिक चिन्ता हो गई ॥१२९॥

अतः, 'अकस्मात् स्वामी को कौन-सा खेद उत्पन्न हुआ'—ऐसा सोचने पर बुद्धिमान् शर्ववर्मा बोला ॥१३०॥

'मैं जानता हूँ। इस राजा को मूर्खता के कारण पश्चात्ताप हुआ है। उसी के शोक से वह पीड़ित है। मैंने उसके इस आशय को पहले ही जान लिया है। 'मैं मूर्ख हूँ' यह समझकर राजा पाण्डित्य प्राप्त करना चाहता है ॥१३१॥

उपलब्धो मया चैष पूर्वमेव तदाशयः ।
राज्यावमानितश्चाद्य तन्निमित्तमिति श्रुतम् ॥१३२॥
एवमन्योन्यमालोच्य तां रात्रिमतिवाह्य च ।
प्रातरावामगच्छाव वासवेश्म महीपतेः ॥१३३॥
तत्र सर्वस्य रुद्धेऽपि प्रवेशे कथमप्यहम् ।
प्राविशं मम पश्चाच्च शर्ववर्मा लघुक्रमम् ॥१३४॥
उपविश्याथ निकटे विज्ञप्तः स मया नृपः ।
अकारणं कथं देव वर्त्तसे विमना इति ॥१३५॥
तच्छ्रुत्वापि तथैवासीत्स तूष्णीं सातवाहनः ।
शर्ववर्मा ततश्चेदमद्भुतं वाक्यमब्रवीत् ॥१३६॥
श्रुतं मम स्यात्त्वापीति प्रागुक्तं देव मे त्वया ।
तेनाहं कृतवानद्य स्वप्नमाणवकं निशि ॥१३७॥
स्वप्ने ततो मया दृष्टं नभसश्च्युतमम्बुजम् ।
तच्च दिव्येन केनापि कुमारेण विकासितम् ॥१३८॥
ततश्च निर्गता तस्माद्दिव्या स्त्री धवलाम्बरा ।
तव देव मुखं सा च प्रविष्ठा समनन्तरम् ॥१३९॥
इयद्दृष्ट्वा प्रबुद्धोऽस्मि मन्ये सा च सरस्वती ।
देवस्य वदने साक्षात् सम्प्रविष्टा न संशयः ॥१४०॥
एवं निवेदितस्वप्ने शर्ववर्मणि तत्क्षणम् ।
मामस्तमौनः साकूतमवदत्सातवाहनः ॥१४१॥
शिक्षमाणः प्रयत्नेन कालेन कियता पुमान् ।
अधिगच्छति पाण्डित्यमेतन्मे कथ्यतां त्वया ॥१४२॥
मम तेन विना ह्येषा लक्ष्मीर्न प्रतिभासते ।
विभवैः किं नु मुर्खस्य काष्ठस्याभरणैरिव ॥१४३॥
ततोऽहमवदं राजन्वर्षैर्द्वादशभिः सदा ।
ज्ञायते सर्वविद्यानां मुखं व्याकरणं नरैः ॥१४४॥
अहं तु शिक्षयामि त्वां वर्षषट्केन तद्विभो ।
श्रुत्वैतत्सहसा सेर्ष्यं शर्ववर्मा किलावदत् ॥१४५॥
सुखोचितो जनः क्लेशं कथं कुर्यादियच्चिरम् ।
तदहं मासषट्केन देव त्वां शिक्षयामि तत् ॥१४६॥

आज उसी मूर्खता के कारण रानी से अपमानित हुआ है, यह मैंने सुना है ॥१३२॥

इस प्रकार परस्पर विचार करते हुए उस रात को व्यतीत कर हमलोग प्रातःकाल राजा के निवास-स्थान पर गये ॥१३३॥

प्रवेश-निषेध रहने भी मैं अन्दर गया। मेरे जाने पर धीरे-धीरे शर्ववर्मा भी आया ॥१३४॥

उसके पास बैठकर मैंने राजा से निवेदन किया कि 'हे महाराज, आप अकारण ही अस्वस्थ क्यों हैं? ॥१३५॥

मेरी बात सुनकर भी राजा उसी प्रकार मौन रहा। तब शर्ववर्मा ने यह अद्भुत वाक्य कहा ॥१३६॥

'राजन्, आपने कभी मुझसे सुना होगा। मैंने पहले भी आपसे कहा है। अतः, आज स्वप्न-माणवक बनाया ॥१३७॥

आज मैंने स्वप्न में देखा कि एक कमल आकाश से गिरा है। उसे किसी दिव्य कुमार ने विकसित किया और उसमें से श्वेतवस्त्रधारिणी एक स्त्री निकली, जो महाराज! आपके मुँह में चली गई ॥१३८॥

इतना देखकर मैं जग गया। मैं समझता हूँ कि वह स्त्री सरस्वती देवी ही थी, जो आपके मुख में प्रविष्ट हुई। इसमें तनिक सन्देह नहीं' ॥१३९॥

इस प्रकार, शर्ववर्मा के स्वप्न-वृत्तान्त बतलाने पर राजा, मौन त्याग कर, स्मित भाव के साथ मुझसे बोला ॥१४०॥

'मुझे विद्या के विना यह लक्ष्मी अच्छी नहीं लगती। लकड़ी के गहनों के समान मूर्ख को इस वैभव से क्या लाभ? ॥१४१॥

यत्नपूर्वक शिक्षा ग्रहण करता हुआ मनुष्य कितने समय में पाण्डित्य प्राप्त कर सकता है, यह मुझे बताओ' ॥१४२-१४३॥

तब मैंने राजा से कहा—'राजन्, सब विद्याओं का मुख व्याकरण है, जो बारह वर्षों में आता है ॥१४४॥

लेकिन प्रभो, मैं तुम्हें छह वर्षों में व्याकरण सिखा दूँगा।' यह सुनकर शर्ववर्मा ईर्ष्या के साथ बोला ॥१४५॥

सुख में रहनेवाला राजा-जैसा व्यक्ति इतने समय तक पढ़ने का कष्ट कैसे उठा सकता है? सो महाराज! मैं तुम्हें छह महीनों में व्याकरण पढ़ा दूँगा ॥१४६॥

श्रुत्वैवैतदसम्भाव्यं तमवोचमहं रुषा ।
षड्भिर्मासैस्त्वया देव: शिक्षितश्चेत्ततो मया ॥१४७॥
संस्कृतं प्राकृतं तद्वद्देशभाषा च सर्वदा ।
भाषात्रयमिदं त्यक्तं यन्मनुष्येषु सम्भवेत् ॥१४८॥
शर्ववर्मा ततोऽवादीन्न चेदेवं करोम्यहम् ।
द्वादशाब्दान्वहाम्येष शिरसा तव पादुके ॥१४९॥
इत्युक्त्वा निर्गते तस्मिन्नहमप्यगमं गृहम् ।
राजाप्युभयत: सिद्धं मत्वाश्वस्तो बभूव स: ॥१५०॥
विहस्त: शर्ववर्मा च प्रतिज्ञां तां सुदुस्तराम् ।
पश्यन्सानुशय: सर्वं स्वभार्यायै शशंस तत् ॥१५१॥
सापि तं दु:खितावोचत्सङ्कटेऽस्मिंस्तव प्रभो !
विना स्वामिकुमारेण गतिरन्या न दृश्यते ॥१५२॥
तथेति निश्चयं कृत्वा पश्चिमे प्रहरे निशि ।
शर्ववर्मा निराहारस्तत्रैव प्रस्थितोऽभवत् ॥१५३॥
तच्च चारमुखाद् बुद्ध्वा मया प्रातर्निवेदितम् ।
राज्ञे सोऽपि तदाकर्ण्य किं भवेदित्यचिन्तयत् ॥१५४॥
ततस्तं सिंहगुप्ताख्यो राजपुत्रो हितोऽब्रवीत् ।
त्वयि खिन्ने तदा देव निर्वेदो मे महानभूत् ॥१५५॥
तत: श्रेयो निमित्तं ते चण्डिकाग्रे निजं शिर: ।
छेत्तुं प्रारब्धवानस्मि गतवास्मान्नगराद् बहि: ॥१५६॥
मैवं कृथा नृपस्येच्छा सेत्स्यत्येवेत्यवारयत् ।
वागन्तरिक्षादथ मां तन्मध्ये सिद्धिरस्ति ते ॥१५७॥
इत्युक्त्वा नृपमामन्त्र्य सत्वरं शर्ववर्मण: ।
पश्चाच्चारद्वयं सोऽथ सिंहगुप्तो व्यसर्जयत् ॥१५८॥
सोऽपि वातैकभक्ष: सन्कृतमौन: सुनिश्चय: ।
प्राप स्वामिकुमारस्य शर्ववर्मान्तिकं क्रमात् ॥१५९॥
शरीरनिरपेक्षेण तपसा तत्र तोषित: ।
प्रसादमकरोत्तस्य कार्त्तिकेयो यथेप्सितम् ॥१६०॥
आगत्याग्रे ततो राज्ञे चाराभ्यां स निवेदित: ।
सिंहगुप्तविशिष्टाभ्यामुदय: शर्ववर्मण: ॥१६१॥

इस अनहोनी बात को सुनकर मैंने क्रोध से शर्ववर्मा से कहा कि 'यदि तुम छह महीने में राजा को व्याकरण पढ़ा दोगे, तो मैं संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा इन तीनों को सदा के लिए छोड़ दूँगा, जो मनुष्यों की बोलचाल में आती हैं ।।१४७–१४८।।

तब शर्ववर्मा ने कहा कि 'यदि मैं ऐसा न कर सकूँगा, तो तुम्हारी पादुका को बारह वर्षों तक सिर पर उठाऊँगा' ।।१४९।।

ऐसा कहकर शर्ववर्मा के चले जाने पर मैं भा अपने घर चला गया । राजा ने दोनों ओर से कार्य-सिद्धि समझकर धैर्य धारण किया ।।१५०।।

प्रतिज्ञा से व्याकुल शर्ववर्मा ने अत्यन्त कठिन प्रतिज्ञा कर ली और उसने यह सारी बात अपनी स्त्री से कही ।।१५१।।

शर्ववर्मा की स्त्री अत्यन्त दुःखित होकर बोली—'हे स्वामिन् ! इस कठिन संकट के समय स्वामिकुमार के विना दूसरी गति नहीं दीखती' ।।१५२।।

शर्ववर्मा ने भी ऐसा ही निश्चय किया और रात के चौथे पहर में उठकर विना भोजन किये कुमार कार्त्तिकेय के मन्दिर को चला ।।१५३।।

मैंने भी गुप्तचर के द्वारा शर्ववर्मा का जाना जानकर प्रातःकाल राजा से कहा । राजा भी 'जाने क्या होगा' ऐसा सोचने लगा ।।१५४।।

तब सिंहगुप्त नामक राजपुत्र राजा से बोला कि "हे महाराज ! आपको अस्वस्थ देखकर उस समय मुझे महान् खेद हुआ ।।१५५।।

और तब मैं नगर के बाहर चण्डिका के मन्दिर में अपना सिर काटने के लिए उद्यत हुआ ।।१५६।।

इतने में ही आकाशवाणी ने कहा—'ऐसा मत करो । राजा की इच्छा अवश्य ही पूरी होगी ।' इस प्रकार उसने मुझे रोक दिया । तो मेरी समझ से आपको सिद्धि प्राप्त होगी" ।।१५७।।

ऐसा कहकर और राजा से विचार करके सिंहगुप्त ने शर्ववर्मा के पीछे दो गुप्तचर छोड़ दिये ।।१५८।।

शर्ववर्मा भी, केवल वायु-भक्षण करता हुआ मौनी और दृढ़निश्चयी होकर क्रमशः स्वामिकुमार के स्थान पर पहुँचा ।।१५९।।

शरीर की परवाह न करके किये गये कठोर तप से प्रसन्न होकर स्वामिकार्तिकेय ने शर्ववर्मा पर कृपा की और उसे अभीष्ट वर प्रदान किया ।।१६०।।

तब सिंहगुप्त के भेजे हुए अनुचरों ने राजा के सामने आकर शर्ववर्मा की सफलता बताई ।।१६१।।

तच्छ्रुत्वा मम राज्ञश्च विषादप्रमदौ द्वयोः ।
अभूतां मेघमालोक्य हंसचातकयोरिव ॥१६२॥
आगत्य शर्ववर्माथ कुमारवरसिद्धिमान् ।
चिन्तितोपस्थिता राज्ञे सर्वा विद्याः प्रदत्तवान् ॥ १६३
प्रादुरासंश्च तास्तस्य सातवाहनभूपतेः ।
तत्क्षणं किं न कुर्याद्धि प्रसादः पारमेश्वरः ॥१६४॥
अथ तमखिलविद्यालाभमाकर्ण्य राज्ञः
प्रमुदितवति राष्ट्रे तत्रकोऽप्युत्सवोऽभूत् ।
अपि पवनविधूतास्तत्क्षणोल्लास्यमानाः
प्रतिवसति पताका बद्धनृत्ता इवासन् ॥१६५॥
राजार्हरत्ननिचयैरथ शर्ववर्मा
तेनार्चितो गुरुरिति प्रणतेन राज्ञा ।
स्वामीकृतश्च विषये भरुकच्छनाम्नि
कूलोपकण्ठविनिवेशिनि नर्मदायाः ॥१६६॥
योऽग्रे चारमुखेन षण्मुखवरप्राप्ति समाकर्णय—
त्सन्तुष्यात्मसमं श्रिया नरपतिस्तं सिंहगुप्तं व्यधात् ।
राज्ञीं तामपि विष्णुशक्तितनयां विद्यागमे कारणं
देवीनामुपरि प्रसह्य कृतवान्प्रीत्याभिषिच्य स्वयम् ॥१६७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके षष्ठस्तरङ्गः ।

सप्तमस्तरङ्गः

ततो गृहीतमौनोऽहं राजान्तिकमुपागमम् ।
तत्र च श्लोकमपठद्द्विजः कश्चित्स्वयं कृतम् ॥१॥
तं चाचष्ट स्वयं राजा सम्यक्संस्कृतया गिरा ।
तत्रालोक्य च तत्रस्थो जनः प्रमुदितोऽभवत् ॥२॥
ततः स शर्ववर्माणं राजा सविनयोऽब्रवीत् ।
स्वयं कथय देवेन कथं तेऽनुग्रहः कृतः ॥३॥
तच्छ्रुत्वानुग्रहं राज्ञः शर्ववर्माभ्यभाषत ।
ततो राजन्निराहारो मौनस्थोऽहं तदा गतः ॥४॥

शर्ववर्मा की सफलता का समाचार सुनकर मुझे और राजा को क्रमशः खेद और हर्ष उस प्रकार हुआ, जैसे मेघ को देखकर हंस और चातक को होता है ।।१६२।।

इसके अनन्तर स्वामिकुमार के वर से सिद्धि प्राप्त करके आये हुए शर्ववर्मा ने स्मरण करते ही उपस्थित हुई सब विद्याएँ राजा को दीं ।।१६३।।

शर्ववर्मा के पढ़ाने पर राजा को सभी विद्याएँ स्वयं उपस्थित हो गईं । परमात्मा की कृपा से तत्क्षण क्या नहीं होता है ।।१६४।।

इस प्रकार राजा को सभी विद्याओं की प्राप्ति का समाचार सुनकर सारे राष्ट्र में महान् उत्सव मनाया गया । उत्सव के अवसर पर घरों पर फहराती हुई ध्वजाएँ मानों प्रसन्नता से नाच कर रही थीं ।।१६५।।

तदनन्तर, प्रणाम करते हुए राजा ने राजाओं के धारण करने योग्य रत्नों से शर्ववर्मा की गुरु-पूजा की और उसे नर्मदा के सुरम्य तट पर बसे हुए भरुकच्छ (भड़ोंच) देश का राजा बना दिया ।।१६६।।

तदनन्तर, सबसे पहले गुप्तचरों द्वारा वर-प्राप्ति का समाचार देनेवाले सिंहगुप्त को, राजा सातवाहन ने राजा बना दिया और विद्या-प्राप्ति का मूल कारण विष्णुशक्ति की पुत्री उस रानी को भी सभी रानियों के ऊपर स्वयं पटाभिषिक्त महारानी बनाया ।।१६७।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के

कथापीठलम्बक का षष्ठ तरंग समाप्त

सप्तम तरंग

शर्ववर्मा की कथा

(कातन्त्र—कालापक व्याकरण की उत्पत्ति)

शर्ववर्मा के सफल हो जाने पर प्रतिज्ञानुसार तीनों भाषाओं के छोड़ देने के कारण मौन धारण करके मैं राजा के समीप आया । उस समय वहाँ पर किसी ब्राह्मण ने राजा के सामने स्व-रचित श्लोक पढ़ा ।।१।।

राजा ने उस श्लोक को विशुद्ध संस्कृत भाषा में स्वयं अनूदित किया । इस कारण सभा में बैठे हुए सभी सदस्य अत्यन्त प्रसन्न हुए ।।२।।

तब राजा ने शर्ववर्मा से नम्रता के साथ कहा कि 'स्वामि कार्तिक ने आप पर जो कृपा की है; इसका वृत्तान्त स्वयं अपने मुख से कहिए' ।।३।।

राजा की इस कृपा से आप्यायित होकर शर्ववर्मा ने कहा—'महाराज़, मैं उस समय यहाँ से निराहार और मौनी होकर निकल पड़ा ।।४।।

ततोऽध्वनि मनाक्क्लेषे जाते तीव्रतपः कृशः ।
क्लान्तः पतितवानस्मि निःसंज्ञो धरणीतले ।।५।।
उत्तिष्ठ पुत्र सर्वं ते सम्पत्स्यत इति स्फुटम् ।
शक्तिहस्तः पुमानेत्य जाने मामब्रवीत्तदा ।।६।।
तेनाहममृतासारसंसिक्त इव तत्क्षणम् ।
प्रबुद्धः क्षुत्पिपासादिहीनः स्वस्थ इवाभवम् ।।७।।
अथ देवस्य निकटं प्राप्य भक्तिभराकुलः ।
स्नात्वा गर्भगृहं तस्य प्रविष्टोऽभूवमुन्मनाः ।।८।।
ततोऽन्तः प्रभुणा तेन स्कन्देन मम दर्शनम् ।
दत्तं ततः प्रविष्टा मे मुखे मूर्त्ता सरस्वती ।।९।।
अथासौ भगवान्साक्षात्षड्भिराननपङ्कजैः ।
'सिद्धो वर्णसमाम्नाय' इति सूत्रमुदैरयत् ।।१०।।
तच्छ्रुत्वैव मनुष्यत्वसुलभाच्चापलाद् बत ।
उत्तरं सूत्रमभ्यूह्य स्वयमेव मयोदितम् ।।११।।
अथाब्रवीत्स देवो मां नावदिष्यः स्वयं यदि ।
अभविष्यदिदं शास्त्रं पाणिनीयोपमर्दकम् ।।१२।।

अधुना स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भविष्यति ।
मद्वाहनकलापस्य नाम्ना कालापकं तथा ।।१३।।
इत्युक्त्वा शब्दशास्त्रं तत्प्रकाश्याभिनवं लघु ।
साक्षादेव स मां देवः पुनरेवमभाषत ।।१४।।
युष्मदीयः स राजापि पूर्वजन्मन्यभूदृषिः ।
भरद्वाजमुनेः शिष्यः कृष्णसंज्ञो महातपाः ।।१५।।
तुल्याभिलाषामालोक्य स चैकां मुनिकन्यकाम् ।
ययावकस्मात्पुष्पेषुशरघातरसज्ञताम् ।।१६।।
अतः स शप्तो मुनिभिरवतीर्ण इहाधुना ।
सा चावतीर्णा देवीत्वे तस्यैव मुनिकन्यका ।।१७।।
इत्थमृष्यवतारोऽयं नृपतिः सातवाहनः ।
दृष्टे त्वय्यखिला विद्या प्राप्स्यत्येव त्वदिच्छया ।।१८।।
अक्लेशलभ्या हि भवन्त्युत्तमार्था महात्मनाम् ।
जन्मान्तरार्जिताः स्फारसंस्काराक्षिप्तसिद्धयः ।।१९।।

जब स्वामि कार्त्तिक के मन्दिर का मार्ग कुछ ही शेष रह गया, तब मैं कठोर तप (निराहार) से दुर्बल होकर थका हुआ अचेतन (बेहोश) होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा ।।५।।

तब मुझे अचेतनावस्था में ऐसा लगा कि हाथ में शक्ति (अस्त्र) लिये हुए कोई पुरुष मुझे कह रहा है—'पुत्र, उठो, तुम्हारा सब कार्य सफल होगा' ।।६।।

अमृतवर्षा से सिक्त-सा मैं उस समय चैतन्य हुआ। भूख-प्यास नष्ट हो जाने के कारण मैं पुनः स्वस्थ-सा हो गया ।।७।।

भक्ति-भाव से भरा हुआ मैं देवस्थल पर पहुँचकर और स्नान करके मन्दिर के आन्तरिक भाग में जाकर कुछ व्याकुल हो गया ।।८।।

मन्दिर के अन्तर्गृह में स्कन्द स्वामी ने मुझे दर्शन दिये। उनके दर्शन होते ही मेरे मुँह में साक्षात् मूर्त्तिमती सरस्वती ने प्रवेश किया ।।९।।

तदनन्तर, भगवान् स्कन्द ने अपने छहों मुखकमलों से 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' यह सूत्र कहा ।।१०।।

यह सुनकर मानव-स्वभाव-सुलभ चंचलता से मैंने इसके आगे का सूत्र स्वयं अपनी कल्पना के आधार पर कह दिया ।।११।।

मेरे स्वयं सूत्र बोल देने पर स्कन्द स्वामी ने कहा कि 'यदि तुम मानव-स्वभाव-सुलभ चंचलता से स्वयं न बोल बैठते, तो यह मेरा बनाया हुआ व्याकरण-शास्त्र, पाणिनीय व्याकरण को नीचा दिखा देता ।।१२।।

अब यह स्वल्प विस्तार के कारण कातन्त्र के नाम से प्रसिद्ध होगा। मेरे वाहन मयूर के पंखों के नाम पर इसका दूसरा नाम कालापक या कलाप भी होगा' ।।१३।।

ऐसा कहकर अभिनव एवं संक्षिप्त व्याकरण को प्रकाशित करके स्कन्ददेव ने मुझसे फिर कहा—।।१४।।

'वह तुम्हारा राजा (सातवाहन) पूर्वजन्म में परम तपस्वी कृष्ण नाम का ऋषि था और भरद्वाज मुनि का शिष्य था ।।१५।।

एक बार वह कृष्णमुनि अपनी ओर आसक्त किसी मुनि-कन्या को देखकर सहसा कामवश हो गया ।।१६।।

इसी कारण मुनियों ने उसे शाप दिया और पृथ्वी पर मानव (सातवाहन) के रूप में अवतीर्ण हुआ और वही मुनि-कन्या उसकी महारानी के रूप में अवतीर्ण हुई है ।।१७।।

इस प्रकार, यह राजा सातवाहन, ऋषि का अवतार है। तुम्हें देखते ही तुम्हारी इच्छा से समस्त विद्याओं को प्राप्त कर लेगा ।।१८।।

पूर्वजन्म के उत्तम संस्कारों से प्राप्त सिद्धि के कारण भाग्यशाली व्यक्तियों के प्रयोजन, विना कष्ट या विघ्न के ही सिद्ध हो जाते हैं' ।।१९।।

इत्युक्त्वान्तर्हिते देवे निरगच्छमहं बहिः ।
तण्डुला मे प्रदत्ताश्च तत्र देवोपजीविभिः ॥२०॥
ततोऽहमागतो राजंस्तण्डुलास्ते च मे पथि ।
चित्रं तावन्त एवासन्भुज्यमाना दिने दिने ॥२१॥
एवमुक्त्वा स्ववृत्तान्तं विरते शर्ववर्मणि ।
उदतिष्ठन्नृपः स्नातुं प्रहृष्टः सातवाहनः ॥२२॥
ततोऽहं कृतमौनत्वाद् व्यवहारबहिष्कृतः ।
अनिच्छन्तं तमामन्त्र्य प्रणामेनैव भूपतिम् ॥२३॥
निर्गत्य नगरात्तस्माच्छिष्यद्वयसमन्वितः ।
तपसे निश्चितो द्रष्टुमागतो विन्ध्यवासिनीम् ॥२४॥
स्वप्नादेशेन देव्या च तथैव प्रेषितस्ततः ।
विन्ध्याटवीं प्रविष्टोऽहं त्वां द्रष्टुं भीषणामिमाम् ॥२५॥
पुलिन्दवाक्यादासाद्य सार्थं दैवात्कथञ्चन ।
इह प्राप्तोऽहमद्राक्षं पिशाचान् सुबहूनमून् ॥२६॥
अन्योन्यालापमेतेषां दूरादाकर्ण्य शिक्षिता ।
मया पिशाचभाषेयं मौनमोक्षस्य कारणम् ॥२७॥
उपगम्य ततश्चैतां त्वां श्रुत्वोज्जयनीगतम् ।
प्रतिपालितवानस्मि यावदभ्यागतो भवान् ॥२८॥
दृष्ट्वा त्वां स्वागतं कृत्वा चतुर्थ्या भूतभाषया ।
मया जातिः स्मृतेत्येष वृत्तान्तो मेऽत्र जन्मनि ॥२९॥
एवमुक्ते गुणाढ्येन काणभूतिरुवाच तम् ।
त्वदागमो मया ज्ञातो यथाद्य निशि तच्छृणु ॥३०॥
राक्षसो भूतिवर्माख्यो दिव्यदृष्टिः सखास्ति मे ।
गतवानस्मि चोद्यानमुज्जयिन्यां तदास्पदम् ॥३१॥
तत्रासौ निजशापान्तं प्रतिपृष्टो मयाब्रवीत् ।
दिवा नास्ति प्रभावो नस्तिष्ठ रात्रौ वदाम्यतः ॥३२॥
तथेति चाहं तत्रस्थः प्राप्तायां निशि वल्गताम् ।
तमपृच्छं प्रसङ्गेन भूतानां हर्षकारणम् ॥३३॥
पुरा विरञ्चिसंवादे यदुक्तं शङ्करेण तत् ।
शृणु वच्मीति मामुक्त्वा भूतिवर्माऽथ सोऽब्रवीत् ॥३४॥

ऐसा कहकर कार्तिकेय स्वामी के अन्तर्धान हो जाने पर मैं भी मन्दिर से बाहर आया। बाहर आने पर मन्दिर के पुजारियों ने प्रसाद के रूप में मुझे चावल प्रदान किया ॥२०॥

महाराज, मैं भी वहाँ से चलकर यहाँ आ गया; किन्तु आश्चर्य यह है कि मार्ग में प्रतिदिन खाये जाने पर भी चावल अन्त तक उतना ही रहा; जितना पुजारियों ने दिया था ॥२१॥

इस प्रकार, अपना वृत्तान्त सुनकर शर्ववर्मा के मौन होने पर प्रसन्न राजा सातवाहन स्नान करने के लिए उठा ॥२२॥

तब मैं मौनी रहने के कारण राजकार्य तथा सांसारिक व्यवहारों से पृथक् रहता था। इसलिए न चाहते हुए भी, राजा से प्रणाम द्वारा अपने जाने की इच्छा प्रकट करता हुआ, मैं दो शिष्यों के साथ उस नगर से निलकर तपस्या करने के विचार से विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन के लिए आया ॥२३-२४॥

स्वप्न में विन्ध्यवासिनी देवी के आदेश से उनके द्वारा भेजा हुआ मैं तुम्हें देखने के इस भीषण विन्ध्य-जंगल में प्रविष्ट हुआ ॥२५॥

भीलों के कथनानुसार यात्रियों के झुंड के साथ किसी प्रकार यहाँ पहुँचा और इन बहुत-से पिशाचों को देखा ॥२६॥

मैंने दूर बैठे-बैठे ही पिशाचों के परस्पर वार्त्तालाप से इनकी पिशाच-भाषा सीखी, जो मेरे मौन छोड़ने का कारण है; क्योंकि यह भाषा संस्कृत, प्राकृत तथा लोकभाषा से विलक्षण चौथी भाषा थी ॥२७॥

इस पैशाची भाषा को जानकर और तुम्हें उज्जैन गया हुआ सुनकर प्रतीक्षा कर रहा था कि इतने में तुम आ ही गये ॥२८॥

तुम्हें यहाँ आये हुए देखकर चौथी भूत (पैशाची) भाषा से तुम्हारा स्वागत करके मैंने पूर्व-जन्म का स्मरण किया। यह मेरे इस मानुष्य-जन्म का वृत्तान्त है ॥२९॥

गुणाढ्य के इस प्रकार कहने पर काणभूति ने उससे कहा—मैंने तुम्हारा यहाँ आगमन आज रात को जिस प्रकार जाना, उसे सुनो ॥३०॥

भूतिवर्मा नामक राक्षस मेरा मित्र है, जो दिव्य-दृष्टि है। मैं उसे देखने के लिए उज्जयिनी नगरी में उसके निवासस्थान—उद्यान—में गया था ॥३१॥

वहाँ मैंने उससे अपने शाप के अन्त के सन्बन्ध में पूछा, तो उसने कहा—'दिन में हमलोगों का प्रभाव नहीं रहता। इसलिए ठहरो। रात में तुम्हें बात दूँगा' ॥३२॥

अतएव, मैं दिन-भर वहाँ रहा और रात होने पर प्रसंगत: राक्षस से पूछा कि 'रात में तुम लोगों के प्रभाव के बढ़ने और हर्षित होने का क्या कारण है ?' ॥३३॥

भूतिवर्मा राक्षस ने कहा 'प्राचीन समय में ब्रह्मा के प्रश्न पर शंकर ने जो कहा था, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ' ॥३४॥

दिवा नैषां प्रभावोऽस्ति ध्वस्तानामर्कतेजसा ।
यक्षरक्षःपिशाचानां तेन हृष्यन्त्यमी निशि ॥३५॥
न पूज्यन्ते सुरा यत्र न च विप्रा यथोचितम् ।
भुज्यते विधिना वापि तत्रैते प्रभवन्ति च ॥३६॥
अमांसभक्षः साध्वी वा यत्र तत्र न यान्त्यमी ।
शुचीन्छूरान्प्रबुद्धाँश्च नाक्रामन्ति कदाचन ॥३७॥
इत्युक्त्वा मे स तत्कालं भूतिवर्माब्रवीत्पुनः ।
गच्छागतो गुणाढ्यस्ते शापमोक्षस्य कारणम् ॥३८॥
श्रुत्वैतदागतश्चास्मि त्वं च दृष्टो मया प्रभो ।
कथयाम्यधुना तां ते पुष्पदन्तोदितां कथाम् ॥३९॥
किं त्वेकं कौतुकं मेऽस्ति कथ्यतां केन हेतुना ।
स पुष्पदन्तस्त्वं चापि माल्यवानिति विश्रुतः ॥४०॥
काणभूतेरिति श्रुत्वा गुणाढ्यस्तमभाषत ।
गङ्गातीरेऽग्रहारोऽस्ति नाम्ना बहुसुवर्णकः ॥४१॥
तत्र गोविन्ददत्ताख्यो ब्राह्मणोऽभूद्बहुश्रुतः ।
तस्य भार्याग्निदत्ता च बभूव पतिदेवता ॥४२॥
स कालेन द्विजस्तस्यां पञ्च पुत्रानजीजनत् ।
ते च मूर्खाः सुरूपाश्च बभूवुरभिमानिनः ॥४३॥
अथ गोविन्ददत्तस्य गृहानतिथिराययौ ।
विप्रो वैश्वानरो नाम वैश्वानर इवापरः ॥४४॥
गोविन्ददत्ते तत्कालं गृहादपि बहिः स्थिते ।
तत्पुत्राणामुपागत्य कृतं तेनाभिवादनम् ॥४५॥
हासमात्रं च तैस्तस्य कृतं प्रत्यभिवादनम् ।
ततः स कोपान्निर्गन्तुं प्रारेभे तद्गृहाद्द्विजः ॥४६॥
आगतेनाथ गोविन्ददत्तेन स तथाविधः ।
क्रुद्धः पृष्टोऽनुनीतोऽपि जगादैवं द्विजोत्तमः ॥४७॥
पुत्रास्ते पतिता मूर्खास्तत्सम्पर्काद् भवानपि ।
तस्मान्न भोक्ष्ये त्वद्गेहे प्रायश्चित्तं नु मे भवेत् ॥४८॥

दिन में सूर्य के तेज से पराभूत इन यक्ष, राक्षसों और पिशाचों का प्रभाव क्षीण हो जाता है। अतः, ये रात में प्रभावशाली होकर हर्षित होते हैं ।।३५।।

जहाँ देवताओं और ब्राह्मणों का पूजन समुचित रूप से नहीं होता या जहाँ अनुचित और भ्रष्ट रूप से भोजन किया जाता है, वहाँ ये प्रबल हो जाते हैं ।।३६।।

जहाँ अमांसभोजी या पतिव्रता स्त्री रहती है, वहाँ ये नहीं जाते और पवित्र, वीर तथा प्रबुद्ध व्यक्तियों को भी कभी नहीं छेड़ते ।।३७।।

ऐसा कहकर भूतिवर्मा उसी समय बोला—'जाओ ! तुम्हारे शापमोक्ष का कारण गुणाढ्य आ गया है।' यह मालूम होते ही मैं यहाँ आया और तुम्हें देखा। अब मैं पुष्पदन्त द्वारा कही हुई उस कथा को सुनाता हूँ ।।३८-३९।।

किन्तु, मुझे यह एक कौतूहल (जिज्ञासा) है कि वह पुष्पदन्त के नाम से और तुम माल्यवान् के नाम से कैसे प्रसिद्ध हुए, अर्थात् इन नामकरणों का कारण बताओ ।।४०।।

पुष्पदन्त की पूर्व कथा

काणभूति के प्रश्न को सुनकर गुणाढ्य ने उससे कहा—गंगा के तट पर 'बहुसुवर्ण' नाम का एक गाँव है ।।४१।।

उस गाँव में गोविन्ददत्त नाम का विविध शास्त्रों का जाननेवाला ब्राह्मण रहता था। उसकी अग्निदत्ता नाम की परम पतिव्रता पत्नी थी ।।४२।।

उस ब्राह्मण ने उस ब्राह्मणी से पाँच पुत्र उत्पन्न किये। वे सभी मूर्ख, किन्तु सुन्दर और अभिमानी थे ।।४३।।

कुछ समय के अनन्तर गोविन्ददत्त के घर पर दूसरी अग्नि के समान (क्रोधी) वैश्वानर नाम का एक ब्राह्मण आया ।।४४।।

उस समय गोविन्ददत्त के कहीं बाहर रहने पर उस अतिथि ने घर में आकर उसके पुत्रों का अभिवादन किया ।।४५।।

इन ब्राह्मणकुमारों ने उस अतिथि के आगत-स्वागत में और अभिवादन के उत्तर में केवल हँस दिया। इस प्रकार के व्यवहार से क्रुद्ध होकर वह ब्राह्मण उनके घर से निकल चला ।।४६।।

इसके अनन्तर ही आये हुए गोविन्ददत्त ने इस प्रकार क्रुद्ध ब्राह्मण से पूछा और क्षमा-प्रार्थना आदि द्वारा अनुनय-विनय किया ।।४७।।

'तुम्हारे पुत्र मूर्ख हैं; अतएव पतित हैं और उनके सम्पर्क में रहने के कारण तुम भी पतित हो। अतः, तुम जैसे पतित के यहाँ मैं भोजन न करूँगा। उसके लिए मुझे प्रायश्चित्त करना होगा'—ब्राह्मण ने उसे इस प्रकार कहा ।।४८।।

अथ गोविन्ददत्तस्तमुवाच शपथोत्तरम् ।
न स्पृशाम्यपि जात्वेतानहं कुतनयानिति ॥४६॥
तद्भार्यापि तथैवैत्य तमुवाचातिथिप्रिया ।
ततः कथञ्चिदातिथ्यं तत्र वैश्वानरोऽग्रहीत् ॥५०॥
तद्दृष्ट्वा देवदत्ताख्यस्तस्यैकस्तनयस्तदा ।
अभूद्गोविन्ददत्तस्य नैर्घृण्येनानुतापवान् ॥५१॥
व्यर्थं जीवितमालोक्य पितृभ्यामथ दूषितम् ।
सनिर्वेदः स तपसे ययौ बदरिकाश्रमम् ॥५२॥
ततः पर्णाशनः पूर्वं धूमपश्चाप्यनन्तरम् ।
तस्थौ चिराय तपसे तोषयिष्यन्नुमापतिम् ॥५३॥
ददौ च दर्शनं तस्य शम्भूस्तीव्रतपोर्जितः ।
तस्यैवानुचरत्वं च स वव्रे वरमीश्वरात् ॥५४॥
विद्याः प्राप्नुहि भोगांश्च भुवि भुङ्क्ष्व ततस्तव ।
भविताभिमतं सर्वमिति शम्भुस्तमादिशत् ॥५५॥
ततः स गत्वा विद्यार्थी पुरं पाटलिपुत्रकम् ।
सिषेवे वेदकुम्भाख्यमुपाध्यायं यथाविधि ॥५६॥
तत्रस्थं तमुपाध्यायपत्नी जातु स्मरातुरा ।
हठाद् वव्रे बत स्त्रीणां चञ्चलाश्चित्तवृत्तयः ॥५७॥
तेन सन्त्यज्य तं देशमनङ्गकृतविप्लवः ।
स देवदत्तः प्रययौ प्रतिष्ठानमतन्द्रितः ॥५८॥
तत्र वृद्धमुपाध्यायं वृद्धया भार्ययान्वितम् ।
मन्त्रस्वाम्याख्यमभ्यर्थ्य विद्याः सम्यगधीतवान् ॥५६॥
कृतविद्यं च तं तत्र ददर्श नृपतेः सुता ।
सुशर्माख्यस्य सुभगं श्रीर्नाम श्रीरिवाच्युतम् ॥६०॥
सोऽपि तां दृष्टवान्कन्यां स्थितां वातायनोपरि ।
विहरन्तीं विमानेन चन्द्रस्येवाधिदेवताम् ॥६१॥
बद्धाविव तयान्योन्यं मारशृङ्खलया दृशा ।
नापसत्तु समर्थौ तौ बभूवतुरुभावपि ॥६२॥
साथ तस्यैकयाङ्गुल्या मूर्त्तयेव स्मराज्ञया ।
इतो निकटमहीति संज्ञां चक्रे नृपात्मजा ॥६३॥
ततः समीपं तस्याश्च ययावन्तःपुराच्च सः ।
सा च चिक्षेप दन्तेन पुष्पमादाय तं प्रति ॥६४॥

तब गोविन्ददत्त ने शपथपूर्वक कहा कि में इन कुपुत्रों का कभी स्पर्श नहीं करता। गोविन्ददत्त की भार्या ने भी उसी प्रकार कहा। तब वैश्वानर ने किसी प्रकार उनका आतिथ्य ग्रहण किया ॥४९-५०॥

इस घटना को देखकर गोविन्ददत्त, का एक पुत्र देवदत्त अपनी इस स्थिति पर ग्लानि के कारण पश्चात्ताप करने लगा ॥५१॥

माता-पिता के द्वारा इस प्रकार दूषित (तिरस्कृत) जीवन को देखकर और विरक्त होकर देवदत्त तपस्या के लिए बदरिकाश्रम को चला गया ॥५२॥

वह देवदत्त बदरिकाश्रम में, पहले पत्ते खाकर, फिर धूमपान करके शिवजी को प्रसन्न करने की इच्छा से चिरकाल तक तपस्या करता रहा ॥५३॥

जब उसकी तीव्र तपस्या से सन्तुष्ट होकर शिवजी ने दर्शन दिये, तब उसने उनसे उनका ही अनुचर होने का वर माँगा ॥५४॥

'विद्याओं का अध्ययन करो और संसार के भोगों को भोगो, तब तुम्हारी कामना सिद्ध होगी'—शिवजी ने उसे ऐसी आज्ञा दी ॥५५॥

शिवजी का आदेश प्राप्त कर देवदत्त विद्याध्ययन के लिए पाटलिपुत्र नामक नगर में आया और वेदकुंभ नामक अध्यापक की विधिपूर्वक सेवा करके पढ़ने लगा ॥५६॥

जब वह गुरु-गृह में विद्याध्ययन करता हुआ सेवा कर रहा था, तब किसी समय कामातुरा गुरु-पत्नी ने हठपूर्वक उसका वरण कर लिया। खेद है कि स्त्रियों की चित्तवृत्ति चंचल होती है ॥५७॥

इस प्रकार, काम-व्याकुल देवदत्त पाटलिपुत्र को छोड़कर सावधानी के साथ प्रतिष्ठान नगर को चला गया ॥५८॥

वहाँ पर उसने बूढ़ी भार्यावाले एक वृद्ध गुरु से प्रार्थना करके विद्याओं का अध्ययन किया ॥५९॥

प्रतिष्ठान में रहते हुए विद्वान् सुन्दर देवदत्त को एक बार नगर के राजा सुशर्मा की 'श्री' नामक कन्या ने देखा, जो स्वर्ग से अवतीर्ण दूसरी लक्ष्मी के समान थी ॥६०॥

उसने भी खिड़की पर खड़ी उस कन्या को इस प्रकार देखा, मानों विमान पर बैठकर विहार करती हुई चन्द्रमा की अधिष्ठात्री देवी हो ॥६१॥

कामकीलित दृष्टि से परस्पर आबद्ध उन दोनों का वहाँ से हटना अशक्य हो गया ॥६२॥

तब राजकन्या ने कामदेव की मूर्तिमान् आज्ञा के समान एक अंगुली से 'यहाँ समीप आओ' ऐसा संकेत किया ॥६३॥

इधर देवदत्त राजभवन की तरफ गया, उधर वह रनिवास से बाहर आई और उसने दाँतों-तले फल दबाकर फिर उसकी ओर फेंका ॥६४॥

संज्ञामेतामजानानो गूढां राजसुताकृताम् ।
स कर्त्तव्यविमूढः सन्नुपाध्यायगृहं ययौ ॥६५॥
लुलोठ तत्र धरणौ न किञ्चिद्वक्तुमीश्वरः ।
तापेन दह्यमानोऽन्तर्मूकः प्रमुषितो यथा ॥६६॥
वितर्क्य कामजैश्चिह्नैरुपाध्यायेन धीमता ।
युक्त्या पृष्टः कथञ्चिच्च यथावृत्तं शशंस सः ॥६७॥
तद्बुद्ध्वा तमुपाध्यायो विदग्धो वाक्यमब्रवीत् ।
दन्तेन पुष्पं मुञ्चन्त्या तथा संज्ञा कृता तव ॥६८॥
यदेतत्पुष्पदन्ताख्यं पुष्पाढ्यं सुरमन्दिरम् ।
तत्रागत्य प्रतीक्षेथाः साम्प्रतं गम्यतामिति ॥६९॥
श्रुत्वेति ज्ञानसंज्ञार्थः स तत्याज शुचं युवा ।
ततो देवगृहस्यान्तस्तस्य गत्वा स्थितोऽभवत् ॥७०॥
साप्यष्टमीं समुद्दिश्य तत्र राजसुता ययौ ।
एकैव देवं द्रष्टुं च गर्भागारमथाविशत् ॥७१॥
दृष्टोऽत्र द्वारपट्टस्य पश्चात्सोऽथ प्रियस्तया ।
गृहीतानेन चोत्थाय सा कण्ठे सहसा ततः ॥७२॥
चित्रं त्वया कथं ज्ञाता सा संज्ञेत्युदिते तया ।
उपाध्यायेन सा ज्ञाता न मयेति जगाद सः ॥७३॥
मुञ्च मामविदग्धस्त्वमित्युक्त्वा तत्क्षणात्क्रुधा ।
मन्त्रभेदभयात्साथ राजकन्या ततो ययौ ॥७४॥
सोऽपि गत्वा विविक्ते तां दृष्टनष्टां स्मरन्प्रियाम् ।
देवदत्तो वियोगाग्निविगलज्जीवितोऽभवत् ॥७५॥
दृष्ट्वा तं तादृशं शम्भुः प्राक्प्रसन्नः किलादिशत् ।
गणं पञ्चशिखं नाम तस्याभीप्सितसिद्धये ॥७६॥
स चागत्य समाश्वास्य स्त्रीवेशं तं गणोत्तमः ।
अकारयत्स्वयं चाभूद् वृद्धब्राह्मणरूपधृत् ॥७७॥
ततस्तेन समं गत्वा तं सुशर्ममहीपतिम् ।
जनकं सुदृशस्तस्याः स जगाद गणाग्रणीः ॥७८॥
पुत्रो मे प्रोषितः क्वापि तमन्वेष्टुं व्रजाम्यहम् ।
तन्मे स्नुषेयं निःक्षेपो राजन्सम्प्रति रक्ष्यताम् ॥७९॥

राजपुत्री के गुप्त संकेत (इशारे) को न समझकर देवदत्त कर्त्तव्यमूढ़ होकर गुरुगृह को आया ॥६५॥

घर आकर संकोचवश कुछ कहने में असमर्थ वह देवदत्त काम-संताप से अन्दर-ही अन्दर जलता एवं ठगा हुआ-सा मूक हो गया ॥६६॥

बुद्धिमान् आचार्य ने काम-विकारों से उसकी स्थिति को समझकर युक्ति से उससे पूछा, तो उसने जो कुछ हुआ था, सब कह डाला ॥६७॥

वृत्तान्त सुनकर चतुर आचार्य ने कहा—'दाँत से फूल फेंकते हुए उसने तुम्हें संकेत किया है—॥६८॥

कि जो यह पुष्पों से शोभित पुष्पदत्त नाम का देव-मन्दिर है, उसमें मेरी प्रतिक्षा करना। इस समय जाओ ॥६९॥

गुरु से यह सुनकर और संकेत का अर्थ समझकर उस युवक ने शोक का परित्याग कर दिया और उस मन्दिर के अन्दर जाकर उसकी प्रतीक्षा में बैठ गया ॥७०॥

वह राजकुमारी भी अष्टमी तिथि के कारण अकेली ही पुष्पदन्तेश्वर के दर्शन करने को मन्दिर में आई और अन्दर गई ॥७१॥

मन्दिर में जाकर उसने द्वार के किवाड़ के पीछे उस प्रियतम को देखा। उसने भी उठकर उसे सहसा गले लगा लिया ॥७२॥

राजपुत्री ने पूछा कि आश्चर्य है, तुमने संकेत को कैसे जान लिया। उसने कहा—'मैंने नहीं, मेरे गुरु ने जाना'। यह सुनकर राजकन्या क्रोध करके उससे बोली—'मुझे छोड़ो, तुम मूर्ख (गँवार) हो'। ऐसा कहकर गुप्त बात के प्रकट हो जाने के भय से वह राजगृह को चली गई ॥७३–७४॥

देवदत्त भी एकान्त में जाकर, प्राप्त होकर चली गई प्रियतमा का स्मरण करता हुआ वियोग-अग्नि से विनष्टजीवन-सा हो गया ॥७५॥

पूर्व-तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने अपने भक्त को इस प्रकार पीड़ित देखकर उसकी अभीष्ट-सिद्धि के लिए पंचशिख नामक गण को आज्ञा दी ॥७६॥

पंचशिख नामक गण ने उसे आश्वासन दिया। देवदत्त को स्त्री-वेश धारण कराया और स्वयं बूढ़े ब्राह्मण का रूप धारण किया ॥७७॥

तब वह पंचशिख स्त्री-वेशधारी देवदत्त को साथ लेकर उस सुन्दरी के पिता राजा सुशर्मा के पास जाकर बोला ॥७८॥

मेरा लड़का कहीं चला गया है, मैं उसे खोजने के लिए जा रहा हूँ, अतः तुम मेरी इस स्नुषा (पतोहू) को धरोहर अमानत) के रूप में रख लो ॥७९॥

तच्छ्रुत्वा शापभीतेन तेनादाय सुशर्मणा ।
स्वकन्यान्तःपुरे गुप्ते स्त्रीति संस्थापितो युवा ॥८०॥
ततः पञ्चशिखे याते स्वप्रियान्तःपुरे वसन् ।
स्त्रीवेषः स द्विजस्तस्या विस्रम्भास्पदतां ययौ ॥८१॥
एकदा चोत्सुका रात्रौ तेनात्मानं प्रकाश्य सा ।
गुप्तं गान्धर्वविधिना परिणीता नृपात्मजा ॥८२॥
तस्यां च धृतगर्भायां तं द्विजं स गणोत्तमः ।
स्मृतमात्रागतो रात्रौ ततोऽनैषीदलक्षितम् ॥८३॥
ततस्तस्य समुत्सार्य यूनः स्त्रीवेशमाशु तम् ।
प्रातः पञ्चशिखः सोऽभूत्पूर्ववद् ब्राह्मणाकृतिः ॥८४॥
तेनैव सह गत्वा च सुशर्मनृपमभ्यधात् ।
अद्य प्राप्तो मया राजन्पुत्रस्तद्देहि मे स्नुषाम् ॥८५॥
ततः स राजा तां बुद्ध्वा रात्रौ क्वापि पलायिताम् ।
तच्छापभयसम्भ्रान्तो मन्त्रिभ्य इदमब्रवीत् ॥८६॥
न विप्रोऽयमयं कोऽपि देवो मद्वञ्चनागतः ।
एवम्प्राया भवन्तीह वृत्तान्ताः सततं यतः ॥८७॥

शिबिकथा

तथा च पूर्वं राजाऽभूत्तपस्वी करुणापरः ।
दाता धीरः शिबिर्नाम सर्वसत्त्वाभयप्रदः ॥८८॥
तं वञ्चयितुमिन्द्रोऽथ कृत्वा श्येनवपुः स्वयम् ।
मायाकपोतवपुषं धर्ममन्वपतद् द्रुतम ॥८९॥
कपोतश्च भयाद् गत्वा शिबेरङ्कमशिश्रियत् ।
मनुष्यवाचा श्येनोऽथ स तं राजानमब्रवीत् ॥९०॥
राजन्भक्ष्यमिदं मुञ्च कपोतं क्षुधितस्य मे ।
अन्यथा मां मृतं विद्धि कस्ते धर्मस्ततो भवेत् ॥९१॥
ततः शिबिरुवाचैनमेष मे शरणागतः ।
अत्याज्यस्तद्ददाम्यन्यन्मांसमेतत्समं तव ॥९२॥
श्येनो जगाद यद्येवमात्ममांसं प्रयच्छ मे ।
तथेति तत्प्रहृष्टः सन्स राजा प्रत्यपद्यत ॥९३॥
यथा यथा च मांसं स्वमुत्कृत्यारोपयन्नृपः ।
तथा तथा तुलायां स कपोतोऽभ्यधिकोऽभवत् ॥९४॥

यह सुनकर राजा सुशर्मा ने ब्राह्मण के शाप के भय से उस युवा को स्त्री समझकर सुरक्षित कन्या के महल में रखवा दिया ॥८०॥

पंचशिख के चले जाने पर वह ब्राह्मण-कुमार, देवदत्त, अपनी प्रियतमा के भवन में, स्त्री-वेश धारण करके रहता हुआ अत्यन्त विश्वासपात्र बन गया ॥८१॥

एक बार रात को उसे अत्यन्त उत्सुक देखकर देवदत्त ने अपनेको प्रकट करके गान्धर्व विधि से उससे विवाह कर लिया ॥८२॥

वह राजकन्या जब गर्भिणी हो गई, तब उस ब्राह्मण ने पंचशिख-गण को स्मरण किया और स्मरण करते ही वह आ गया। पंचशिख देवदत्त को गुप्त रूप से ले गया ॥८३॥

तब प्रातःकाल पंचशिख पहले के समान ब्राह्मण का अपना वेश बनाकर और उस युवक के स्त्री-वेश को हटाकर राजा सुशर्मा के पास जाकर बोला—'राजन्! आज मुझे लड़का मिल गया। अब मेरी स्नुषा (पतोहू) को लौटा दो' ॥८४-८५॥

जब राजा को यह पता चला कि वह ब्राह्मण-स्नुषा कहीं भाग गई, तब वह ब्राह्मण के शाप के भय से मन्त्रियों को बुलाकर परामर्श करने लगा ॥८६॥

राजा ने मन्त्रियों से कहा—'यह ब्राह्मण नहीं, कोई देवता है, जो मेरी परीक्षा लेने या वंचना के लिए आया है। देखा जाता है, प्रायः ऐसी बातें सर्वदा हुआ करती हैं' ॥८७॥

राजा शिबि की कथा

इसी प्रकार, प्राचीन युग में परम तपस्वी, दयालु, दाता, धीर एवं समस्त प्राणियों को अभय देनेवाला शिबि नामक राजा हुआ। उसकी परीक्षा के लिए स्वयं इन्द्र ने बाज का रूप धारण करके कबूतर-रूपधारी धर्म का पीछा किया ॥८८-८९॥

कबूतर ने बाज के भय से राजा शिबि की गोद में शरण ली। तब बाज मनुष्य की बोली में राजा से बोला—॥९०॥

'राजन्! यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। मैं भूखा हूँ। यदि तुम इसे नहीं छोड़ते, तो मुझे मरा हुआ समझो। इस प्रकार मेरी हिंसा करके तुम्हें कौन-सा धर्म प्राप्त होगा?' ॥९१॥

तब शिवि ने उससे कहा कि 'यह मेरी शरण में आ गया है, इसलिए इसे अब छोड़ नहीं सकता। तुम्हारी क्षुधा-निवृत्ति के लिए इसके समान दूसरा मांस दे सकता हूँ' ॥९२॥

बाज ने कहा—'यदि ऐसी बात है, तो अपना मांस मुझे दो।' राजा ने भी प्रसन्न हो 'ऐसा ही सही'—यह कहकर इसकी बात को स्वीकार किया ॥९३॥

राजा जैसे-जैसे अपना मांस काटकर तराजू पर चढ़ाता था, वैसे-ही-वैसे कबूतर भारी होता जाता था ॥९४॥

ततः शरीरं सकलं तुलां राजाध्यरोपयत् ।
'साधु साधु' शमं त्वतद्दिव्या वागुद्भूत्ततः ।।९५।।
इन्द्रधर्मौ ततस्त्यक्त्वा रूपं श्येनकपोतयोः ।
तुष्टावक्षतदेहं तं राजानं चक्रतुः शिबिम् ।।९६।।
दत्वा चास्मै वरानन्यांस्तवन्तार्धानमीयतुः ।
एवं मामपि कोप्येष देवो जिज्ञासुरागतः ।।९७।।
इत्युक्त्वा सचिवानस्वैरं स सुशर्मा महीपतिः ।
तमुवाच भयप्रह्वो विप्ररूपं गणोत्तमम् ।।९८।।
अभयं देहि साद्यैव स्नुषा ते हारिता निशि ।
माययैव गता क्वापि रक्ष्यमाणाप्यहर्निशम् ।।९९।।
कृच्छ्रात्स दययेवाथ विप्ररूपो गणोऽब्रवीत् ।
तर्हि पुत्राय राजन्मे देहि स्वां तनयामिति ।।१००।।
तच्छ्रुत्वा शापभीतेन राज्ञा तस्मै निजा सुता ।
सा दत्ता देवदत्ताय ततः पञ्चशिखो ययौ ।।१०१।।
देवदत्तोऽपि तां भूयः प्रकाशं प्राप्य वल्लभाम् ।
जजृम्भेऽनन्यपुत्रस्य श्वसुरस्य विभूतिषु ।।१०२।।
कालेन तस्य पुत्रं च दौहित्रमभिषिच्य सः ।
राज्ये महीधरं नाम सुशर्मा शिश्रिये वनम् ।।१०३।।
ततो दृष्ट्वा सुतैश्वर्यं कृतार्थः स तपोवनम् ।
राजपुत्र्या तया साकं देवदत्तोऽप्यशिश्रियत् ।।१०४।।
तत्राराध्य पुनः शम्भुं त्यक्त्वा मर्त्यकलेवरम् ।
तत्प्रसादेन तस्यैव गणभावमुपागतः ।।१०५।।
प्रियादन्तोज्झितात्पुष्पात् संज्ञां न ज्ञातवान्यतः ।
अतः स पुष्पदन्ताख्यः सम्पन्नो गणसंसदि ।।१०६।।
तद्भार्या च प्रतीहारी देव्या जाता जयाभिधा ।
इत्थं स पुष्पदन्ताख्यो मदाख्यामधुना शृणु ।।१०७।।

माल्यवतः पूर्वकथा

यः स गोविन्ददत्ताख्यो देवदत्तपिता द्विजः ।
तस्यैव सोमदत्ताख्यः पुत्रोऽहमभवं पुरा ।।१०८।।
तेनैव मन्युना गत्वा तपश्चाहं हिमाचले ।
अकार्षं बहुभिर्माल्यैः शङ्करं नन्दयन्सदा ।।१०९।।

तब राजा ने अपना सारा शरीर तराजू पर चढ़ा दिया और 'साधु-साधु'––इस प्रकार की आकाशवाणी हुई ॥९५॥

तब इन्द्र और धर्म ने बाज एवं कबूतर का रूप छोड़कर और प्रसन्न होकर राजा के शरीर को पहले ही जैसा अक्षत कर दिया ॥९६॥

इसी प्रकार, मेरी परीक्षा करने के लिए यह कोई देवता आया है ॥९७॥

मन्त्रियों से इस प्रकार कहकर भय से नम्र राजा सुशर्मा उस ब्राह्मण-रूपी गण से बोला—'महाराज ! अभय-दान दो ! भली-भाँति सुरक्षित वह तुम्हारी स्नुषा (पतोहू) आज की रात किसी माया के द्वारा हरण कर ली गई। क्षमा करो' ! ॥९९॥

वह ब्राह्मण कठिनाई और दया-भाव से बोला—'राजन् ! यदि ऐसा है, तो मेरे पुत्र के लिए अपनी कन्या दो' ॥१००॥

यह सुनकर शाप से त्रस्त राजा ने अपनी कन्या देवदत्त को दे दी और तब पंचशिख भी शिवलोक को गया ॥१०१॥

देवदत्त भी अपनी प्यारी राजकन्या को प्रकाश-रूप में प्राप्त करके श्वसुर-सम्पत्ति का आनन्द लेने लगा; क्योंकि राजा को उस कन्या के अतिरिक्त कोई दूसरी सन्तान न थी ॥१०२॥

कुछ समय के अनन्तर अपने जामाता देवदत्त के पुत्र और अपने दौहित्र महीधर को राज्य में अभिषिक्त करके राजा सुशर्मा अन्तिम अवस्था में वन को चला गया ॥१०३॥

कुछ समय के अनन्तर बालक को राज्य करते हुए देख कर कृतार्थ होकर वह देवदत्त भी उस राजपुत्री के साथ तपोवन में गया ॥१०४॥

देवदत्त तपोवन में पुनः शिवजी की आराधना करके शिवजी को प्रसन्न करके और इस मानव-देह को छोड़कर शिव का गण बन गया ॥१०५॥

प्रिया के दाँतों से फेंके हुए पुष्प से वह संकेत को न समझ सका, अतः उसका नाम पुष्पदन्त हुआ और उसकी पत्नी जया नाम से पार्वती की प्रतिहारी बन गई। अब मेरे नाम का कारण सुनो ॥१०६–१०७॥

माल्यवान् की पूर्वकथा

मैं उसी देवदत्त के पिता गोविन्ददत्त का सोमदत्त नामक बालक था ॥१०८॥

मैं भी उसी पश्चात्ताप के कारण घर से निकलकर हिमाचल पर तप करने लगा और उस समय बहुत-सी पुष्पमालाओं से शिवजी को प्रसन्न करता था ॥१०९॥

तथैव प्रकटीभूतात्प्रसन्नादिन्दुशेखरात् ।
त्यक्तान्यभोगलिप्सेन तद्गणत्वं मया वृतम् ।।११०।।
यः पूजितोऽस्मि भवता स्वयमाहृतेन
माल्येन दुर्गवनभूमिसमुद्भवेन ।
तन्माल्यवानिति भविष्यसि मे गणस्त्व—
मित्यादिशच्च स विभुर्गिरिजापतिर्माम् ।।१११।।
अथ मर्त्यवपुर्विमुच्य पुण्यां सहसा तद्गणतामहं प्रपन्नः ।
इति धूर्जटिना कृतं प्रसादादभिधानं मम माल्यवानितीदम् ।।११२।।
सोऽहं गतः पुनरिहाद्य मनुष्यभावं ।
शापेन शैलदुहितुर्बत काणभूते !
तन्मे कथां हरकृतां कथयाधुना त्वं
येनावयोर्भवति शापदशोपशान्तिः ।।११३।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
कथापीठलम्बके सप्तमस्तरङ्गः ।

अष्टमस्तरङ्गः

एवं गुणाढ्यवचसा सा च सप्तकथामयी ।
स्वभाषया कथा दिव्या कथिता काणभूतिना ।।१।।
तथैव च गुणाढ्येन पैशाच्या भाषया तया ।
निबद्धा सप्तभिर्वर्षैर्ग्रन्थलक्षाणि सप्त सा ।।२।।
मैतां विद्याधरा हार्षुरिति तामात्मशोणितैः ।
अटव्यां मष्यभावाच्च लिलेख स महाकविः ।।३।।
तथा च श्रोतुमायातैः सिद्धविद्याधरादिभिः ।
निरन्तरमभूत्तत्र सवितानमिवाम्बरम् ।।४।।
गुणाढ्येन निबद्धां च तां दृष्ट्वैव महाकथाम् ।
जगाम मुक्तशापः सन्काणभूतिर्निजां गतिम् ।।५।।
पिशाचा येऽपि तत्रासन्नन्ये तत्सहचारिणः ।
तेऽपि प्रापुर्दिवं सर्वे दिव्यामाकर्ण्य तां कथाम् ।।६।।
प्रतिष्ठां प्रापणीयैषा पृथिव्यां मे बृहत्कथा ।
अयमर्थोऽपि मे देव्या शापान्तोक्तावुदीरितः ।।७।।
तत्कथं प्रापयाम्येनां कस्मै तावत्समर्पये ।
इति चाचिन्तयत्तत्र स गुणाढ्यो महाकविः ।।८।।

उसी प्रकार प्रकट हुए शिवजी से मैंने सांसारिक भोगों की लिप्सा छोड़कर उनके गण होने का वर माँगा ।।११०।।

गिरिजापति शंकर भगवान् ने मुझे यह आदेश दिया कि चूँकि तुमने वन में उत्पन्न हुए पुष्पों की मालाओं से मेरी पूजा की है, अतः तुम माल्यवान् नामक मेरे गण होगे ।।१११।।

तदनन्तर, पवित्र मानव-शरीर को छोड़कर मैं तुरन्त शिवजी का गण बन गया । इस प्रकार स्वयं शिवजी ने मेरा नाम माल्यवान् रखा था ।।११२।।

मैं पार्वती के शाप से इस मर्त्यलोक में पुनः मनुष्यत्व को प्राप्त हुआ । हे काणभूते ! अब तुम शिवजी की कही हुई उस कथा को कहो, जिससे मेरी और तुम्हारी—दोनों की शापावस्था समाप्त हो ।।११३।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के प्रथम लम्बक का सप्तम तरंग समाप्त ।

अष्टम तरंग

इस प्रकार, गुणाढ्य के अनुरोध से काणभूति ने अपनी पिशाच-भाषा में सात कथाओं-वाली वह दिव्य कथा सुनाई, जो उसने पुष्पदन्त (वररुचि) से सुनी थी ।।१।।

गुणाढ्य ने सात वर्षों में—सात लाख छन्दों में—पैशाची भाषा में कही गई कथा को लिखा ।।२।।[१]

इस कथा को कहीं विद्याधर हरण न कर लें और घोर जंगल में स्याही न मिलने के कारण महाबुद्धिमान् गुणाढ्य ने उसे अपने रक्त से लिखा ।।३।।

इस कथा को सुनने के लिए आये हुए सिद्ध-विद्याधर आदि से भरा हुआ आकाश ऐसा मालूम होता था, जैसे चँदवा टँगा हो ।।४।।

गुणाढ्य द्वारा उस समस्त महाकथा के लिखे जाने पर उसे देखकर काणभूति शापमुक्त होकर अपनी पूर्वगति को प्राप्त हुआ, अर्थात् यक्ष हो गया ।।५।।

काणभूति के साथ जो उसके साथी पिशाच इस दिव्य कथा को सुन रहे थे; वे भी इसे सुनकर स्वर्ग चले गये ।।६।।

तदनन्तर, महाकवि गुणाढ्य ने यह सोचा कि शाप का अन्त बताते हुए पार्वती ने मुझसे कहा था कि पृथ्वी पर इस कथा का प्रचार करना । तो अब मैं इसका प्रचार कैसे करूँ और इसे किसे समर्पित करूँ, जो इसका प्रचार कर सके ।।७–८।।

अथैको गुणदेवाख्यो नन्दिदेवाभिधः परः ।
तमूचतुरुपाध्यायं शिष्यावनुगतावुभौ ॥९॥
तत्काव्यस्यार्पणस्थानमेकः श्रीसातवाहनः ।
रसिको हि वहेत्काव्यं पुष्पामोदमिवानिलः ॥१०॥
एवमस्त्विति तौ शिष्यावन्तिकं तस्य भूपतेः ।
प्राहिणोत्पुस्तकं दत्वा गुणाढ्यो गुणशालिनौ ॥११॥
स्वयं च गत्वा तत्रैव प्रतिष्ठानपुराद् बहिः ।
कृतसङ्केत उद्याने तस्थौ देवीविनिर्मिते ॥१२॥
तच्छिष्याभ्यां च गत्वा तत्सातवाहनभूपतेः ।
गुणाढ्यकृतिरेषेति दर्शितं काव्यपुस्तकम् ॥१३॥
पिशाचभाषां तां श्रुत्वा तौ च दृष्ट्वा तदाकृती ।
विद्यामदेन सासूयं स राजैवमभाषत ॥१४॥
प्रमाणं सप्तलक्षाणि पैशाचं नीरसं वचः ।
शोणितेनाक्षरन्यासो धिक्पिशाचकथामिमाम् ॥१५॥
ततः पुस्तकमादाय गत्वा ताभ्यां यथागतम् ।
शिष्याभ्यां तद्गुणाढ्याय यथावृत्तमकथ्यत ॥१६॥
गुणाढ्योऽपि तदाकर्ण्य सद्यः खेदवशोऽभवत् ।
तत्त्वज्ञेन कृतावज्ञः को नामान्तर्न तप्यते ॥१७॥
सशिष्यश्च ततो गत्वा नातिदूरं शिलोच्चयम् ।
विविक्तरम्यभूभागमग्निकुण्डं व्यधात्पुरः ॥१८॥
तत्राग्नौ पत्रमेकैकं शिष्याभ्यां साश्रु वीक्षितः ।
वाचयित्वा स चिक्षेप श्रावयन्मृगपक्षिणः ॥१९॥
नरवाहनदत्तस्य चरितं शिष्ययोः कृते ।
ग्रन्थलक्षं कथामेकां वर्जयित्वा तदीप्सिताम् ॥२०॥
तस्मिश्च तां कथां दिव्यां पठत्यपि दहत्यपि ।
परित्यक्ततृणाहाराः शृण्वन्तः साश्रुलोचनाः ॥२१॥
आसन्नभ्येत्य तत्रैव निश्चला बद्धमण्डलाः ।
निखिलाः खलु सारङ्गवराहमहिषादयः ॥२२॥
अत्रान्तरे च राजाभूदस्वस्थः सातवाहनः ।
दोषं चास्यावदन् वैद्याः शुष्कमांसोपभोगजम् ॥२३॥

तदनन्तर, गुणदेव और नन्दिदेव नामक गुणाढ्य के दो शिष्यों ने गुरु गुणाढ्य से कहा ॥६॥

इस काव्य के समर्पण का एकमात्र स्थान राजा सातवाहन है। वह रसिक है। वह, फूलों की सुगन्ध को वायु जिस प्रकार फैला देती है, उसी प्रकार इसका प्रसार और प्रचार कर सकता है ॥१०॥

'यही ठीक है'—ऐसा कहकर गुणाढ्य ने पुस्तक देकर उन दोनों गुणी शिष्यों को राजा सातवाहन के पास भेज दिया ॥११॥

और स्वयं प्रतिष्ठान-नगर के बाहर देवी-उद्यान में मिलने का संकेत करके ठहर गया ॥१२॥

गुणाढ्य के शिष्यों ने राजा सातवाहन के पास जाकर 'यह गुणाढ्य की रचना है,' ऐसा कहकर वह उत्तम काव्य दिखाया ॥१३॥

उस पिशाच-भाषा को सुनकर और उन दोनों शिष्यों को पिशाचाकार देखकर विद्यामदान्ध राजा ने द्वेष से कहा—सात लाख छन्द, नीरस पिशाच-भाषा और रक्त से अक्षरों का लेखन—ऐसी इस पिशाच-कथा को धिक्कार है! ॥१४-१५॥

तब उन शिष्यों ने पुस्तक ले जाकर, जो कुछ हुआ था, सब उस गुणाढ्य को सुना दिया ॥१६॥

यह सब सुनकर गुणाढ्य को अत्यन्त खेद हुआ। तत्त्वज्ञ गुण ग्राही व्यक्ति के द्वारा अपमान होने पर किसका हृदय सन्तप्त नहीं होता ॥१७॥

गुणाढ्य भी शिष्यों को साथ लेकर समीपवर्त्ती पर्वत पर चला गया और एक साफ-सुथरे एकान्त स्थान में उसने एक अग्निकुण्ड बनाया ॥१८॥

गुणाढ्य बृहत्कथा के एक-एक पत्र को पढ़कर और मृग-पक्षियों को सुनाकर उसे आग में जला देता था। शिष्य आँखों से आँसू बहाकर उसकी ओर देखते थे ॥१९॥

शिष्यों के अनुरोध से नरवाहनदत्त-चरित नामक एक भाग को उसने बचा लिया, जो एक लाख श्लोकों में था ॥२०॥

जिस समय गुणाढ्य उस दिव्य कथा के एक-एक पत्र पढ़ रहा और जला रहा था, उस समय जंगल के सभी पशु—हिरण, सूअर, भैंसे आदि—झुण्ड में, निश्चल होकर और घास चरना छोड़कर आँसू बहाते हुए कथा को सुन रहे थे ॥२१-२२॥

इसी बीच राजा सातवाहन अस्वस्थ हो गया। वैद्यों ने बताया कि इसका कारण सूखे मांस का भोजन है ॥२३॥

आक्षिप्तास्तन्निमित्तं च सूपकारा बभाषिरे ।
अस्माकमीदृशं मांसं ददते लुब्धका इति ॥२४॥
पृष्टाश्च लुब्धका ऊचुर्नातिदूरे गिरावितः ।
पठित्वा पत्रमेकैकं कोऽप्यग्नौ क्षिपति द्विजः ॥२५॥
तत्समेत्य निराहाराः शृण्वन्ति प्राणिनोऽखिलाः ।
नान्यतो यान्ति तेनैषां शुष्कं मांसमिदं क्षुधा ॥२६॥
इति व्याधवचः श्रुत्वा कृत्वा तानेव चाग्रतः ।
स्वयं स कौतुकाद्राजा गुणाढ्यस्यान्तिकं ययौ ॥२७॥
ददर्श तं समाकीर्णं जटाभिर्वनवासतः ।
प्रशान्तशेषशापाग्निधूमिकाभिरिवाभितः ॥२८॥
अथनं प्रत्यभिज्ञाय सबाष्पमृगमध्यगम् ।
नमस्कृत्य च पप्रच्छ तं वृत्तान्तं महीपतिः ॥२९॥
सोऽपि स्वं पुष्पदन्तस्य राज्ञे शापादिचेष्टितम् ।
ज्ञानी कथावतारं तमाचख्यौ भूतभाषया ॥३०॥
ततो गणावतारं तं मत्वा पादानतो नृपः ।
ययाचे तां कथां तस्माद्दिव्यां हरमुखोद्गताम् ॥३१॥
अथोवाच स तं भूपं गुणाढ्यः सातवाहनम् ।
राजन् षड्ग्रन्थलक्षाणि मया दग्धानि षट् कथाः ॥३२॥
लक्षमेकमिदं त्वस्ति कथैका सैव गृह्यताम् ।
मच्छिष्यौ तव चात्रैतौ व्याख्यातारौ भविष्यतः ॥३३॥
इत्युक्त्वा नृपमामन्त्र्य त्यक्त्वा योगेन तां तनुम् ।
गुणाढ्यः शापनिर्मुक्तः प्राप दिव्यं निजं पदम् ॥३४॥
अथ तां गुणाढ्यदत्तामादाय कथां बृहत्कथां नाम्ना ।
नृपतिरगान्निजनगरं नरवाहनदत्तचरितमयीम् ॥३५॥
गुणदेवनन्दिदेवौ तत्र च तौ तत्कथाकवेः शिष्यौ ।
क्षिति-कनक-वस्त्र-वाहन-भवन-धनैः संविभेजे सः ॥३६॥
ताभ्यां सह च कथां तामाश्वास्य स सातवाहनस्तस्याः ।
तद्भाषयावतारं वक्तुं चक्रे कथापीठम् ॥३७॥
सा च चित्ररसनिर्भरा कथा विस्मृतामरकथा कुतूहलात् ।
तद्विधाय नगरे निरन्तरां ख्यातिमत्र भुवनत्रये गता ॥३८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके अष्टमस्तरङ्गः

समाप्तश्चायं कथापीठलम्बकः प्रथमः ।

राजा को सूखा मांस खिलाने के लिए डाँटे गये रसोईदारों ने कहा कि इसमें हमारा क्या अपराध है ? बहेलिये जैसा माँस लाते हैं, वही हम पकाते हैं ॥२४॥

शिकारी बहेलियों ने पूछने पर कहा कि यहाँ से समीप ही एक पहाड़ की चोटी पर कोई ब्राह्मण एक-एक पत्र पढ़कर अग्नि में फेंक रहा है ॥२५॥

इसलिए, जंगल के समस्त प्राणी एकत्र होकर और निराहार रहकर उसे सुनते हैं। कहीं चरने के लिए नहीं जाते, इसीलिए उनका मांस सूख गया है ॥२६॥

राजा, व्याधों के इस प्रकार के वचन सुनकर और उन्हें ही आगे करके अत्यन्त कौतूहल के साथ गुणाढ्य के पास गया ॥२७॥

राजा ने, वनवास के कारण बढ़ी हुई जटाओं से आवृत गुणाढ्य को इस प्रकार देखा, मानों अल्पशेष शाप-रूपी अग्नि की पतली धूम-रेखाएँ लटक रही हैं ॥२८॥

आँसू बहाते हुए मृग-पक्षियों के मध्य बैठे हुए गुणाढ्य को पहचानकर राजा ने नमस्कार किया और सब समाचार पूछा। गुणाढ्य द्वारा बृहत्कथा का वृत्तान्त सुनकर और गुणाढ्य को माल्यवान् नामक शिव गण का अवतार जानकर राजा पैरों पर गिर पड़ा और उसने शिवजी के मुख से निकली हुई वह दिव्य कथा उससे माँगी ॥२९–३१॥

गुणाढ्य ने राजा सातवाहन से कहा—'राजन्, छह लाख श्लोकों में लिखी गई छह कथाएँ मैंने जला दीं' ॥३२॥

एक लाख श्लोक की एक कथा यह बची है—इसे ले लो। मेरे ये दोनों शिष्य इस कथा के व्याख्याता होंगे ॥३३॥

ऐसा कहकर और योग-समाधि द्वारा अपने मानव-शरीर का त्याग कर शापमुक्त गुणाढ्य ने अपने पूर्व पद को प्राप्त किया ॥३४॥

अनन्तर, राजा सातवाहन गुणाढ्य द्वारा दी गई नरवाहनदत्त-चरितमयी बृहत्कथा नामक वह कथा प्रसन्नतापूर्वक लेकर अपने नगर में आया ॥३५॥

राजा ने, नगर में आकर, गुणाढ्य के शिष्य गुणदेव और नन्दिदेव को भूमि, धन, वस्त्र, वाहन, भवन, धन आदि देकर उनकी सेवा की ॥३६॥

राजा सातवाहन ने, उन दोनों शिष्यों की सहायता से, उस कथा के प्रचार के लिए उसका देश-भाषा में अनुवाद कराकर कथापीठ की रचना की ॥३७॥

विचित्र रसों से परिपूर्ण एवं देव-कथाओं को भुला देनेवाली यह कथा, नगर में निरन्तर प्रसिद्ध होती हुई क्रमशः सारे भूमण्डल में प्रसिद्ध हो गई ॥३८॥

महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचित कथासरित्सागर के कथापीठ लम्बक का अष्टम तरंग समाप्त।

कथासरित्सागर का प्रथम लम्बक समाप्त।

कथामुखं नाम द्वितीयो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो:
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ॥

प्रथमस्तरङ्गः

सहस्रानीककथा

गौरीनवपरिष्वङ्गे विभोः स्वेदाम्बु पातु वः ।
नेत्राग्निभीत्या कामेन वारुणास्त्रमिवाहितम् ॥१॥
कैलासे धूर्जटेर्वक्त्रात्पुष्पदन्तं गणोत्तमम् ।
तस्माद् वररुचीभूतात् काणभूतिं च भूतले ॥२॥
काणभूतेर्गुणाढ्यं च गुणाढ्यात्सातवाहनम् ।
यत्प्राप्तं शृणुतेदं तद् विद्याधरकथाद्भुतम् ॥३॥
अस्ति वत्स इति ख्यातो देशो दर्पोपशान्तये ।
स्वर्गस्य निर्मितो धात्रा प्रतिमल्ल इव क्षितौ ॥४॥
कौशाम्बी नाम तत्रास्ति मध्यभागे महापुरी ।
लक्ष्मीविलासवसतिर्भूतलस्येव कर्णिका ॥५॥
तस्यां राजा शतानीकः पाण्डवान्वयसम्भवः ।
जनमेजयपुत्रोऽभूत्पौत्रो राज्ञः परीक्षितः ॥६॥
अभिमन्युप्रपौत्रश्च यस्यादिपुरुषोऽर्जुनः ।
त्रिपुरारि - भुजस्तम्भ - दृष्ट - दोर्दण्डविक्रमः ॥७॥
कलत्रं भूरभूत्तस्य राज्ञी विष्णुमती तथा ।
एका रत्नानि सुषुवे न तावदपरा सुतम् ॥८॥

कथामुख नामक द्वितीय लम्बक

(मंगल-श्लोक का अर्थ ग्रन्थारम्भ के प्रथम पृष्ठ पर देखना चाहिए)

प्रथम तरंग

राजा सहस्रानीक की कथा

पार्वती के प्रथम आलिंगन के समय उत्पन्न शिवजी के स्वेद-कण आपकी रक्षा करें; जो स्वेद-कण ऐसे मालूम होते हैं, मानों कामदेव ने शिवजी के नेत्र की अग्नि के भय से उन पर वारुणास्त्र छोड़ा हो[1] ॥१॥

कैलाश में शिवजी के मुख से पुष्पदन्त गण को; पृथ्वी पर वररुचि के रूप में अवतीर्ण पुष्पदन्त से काणभूति को; काणभूति से गुणाढ्य को और गुणाढ्य से राजा सातवाहन को क्रमशः प्राप्त इस विद्याधर-कथा[2] रूपी अमृत को सुनिए ॥२-३॥

स्वर्ग के अभिमान को दूर करने के लिए विधाता द्वारा उसी के समान पृथ्वी पर निर्माण किया गया वत्स नामक देश है ॥४॥

उस देश के मध्यभाग में अत्यन्त समृद्ध कौशाम्बी नाम की नगरी भूमि की कर्णिका (कर्णभूषण) के समान है ॥५॥

उस नगरी में पाण्डव-वंश में उत्पन्न शतानीक नामक राजा राज्य करता था, जो जनमेजय का पुत्र, परीक्षित का पौत्र और अभिमन्यु का प्रपौत्र था। इस वंश का आदि पुरुष अर्जुन था, जिसने शिवजी के स्तम्भ के समान बाहुदण्डों का पराक्रम देखा था ॥६-७॥

उस शतानीक की दो रानियाँ थीं। एक (पृथ्वी) रत्नों को उत्पन्न करती थीं; किन्तु दूसरी ने पुत्र को उत्पन्न नहीं किया ॥८॥

---

१. शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्नि-ज्वाला से कामदेव भस्म हो गया था। अतः, पुनः उनके संगम के समय उसने आग बुझाने के लिए अग्नि-विरोधी वारुणास्त्र का रखना आवश्यक समझा, जो जलमय है। नववध के नव समागम में स्वेद का अधिक मात्रा में होना स्वाभाविक है। अतः, कवि ने उसपर जलमय वारुणास्त्र की सुन्दर उत्प्रेक्षा की है।

२. श्रद्धेय और प्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा कही गई बातें आदरणीय होती हैं, ऐसी शिष्ट-परम्परा है। उसी के अनुसार इस विद्याधर-कथा की प्रामाणिकता के लिए गुणाढ्य ने उसकी महत्त्वपूर्ण परम्परा की सूचना दी है कि यह कथा मेरी कल्पित नहीं, प्रत्युत इसका उद्गम भगवान् शिव के मुख से हुआ है। —अनु०

एकदा मृगयासङ्गाद् भ्राम्यतश्चास्य भूपतेः ।
अभूच्छाण्डिल्यमुनिना समं परिचयो वने ॥९॥
सोऽस्य पुत्रार्थिनो राज्ञः कौशाम्बीमेत्य साधितम् ।
मन्त्रपूतं चरुं राज्ञीं प्राशयन्मुनिसत्तमः ॥१०॥
ततस्तस्य सुतो जज्ञे सहस्रानीकसंज्ञकः ।
शुशुभे स पिता तेन विनयेन गुणो यथा ॥११॥
युवराजं क्रमात्कृत्वा शतानीकोऽथ तं सुतम् ।
सम्भोगैरेव राजाभून्न तु भूभारचिन्तनैः ॥१२॥
अथासुरैः समं युद्धे प्राप्ते साहाय्यकेच्छया ।
दूतस्तस्मै विसृष्टोऽभूद्राज्ञे शक्रेण मातलिः ॥१३॥
ततो युगन्धराख्यस्य हस्ते धूर्यस्य मन्त्रिणः ।
सुप्रतीकाभिधानस्य मुख्यसेनापतेश्च सः ॥१४॥
समर्प्य पुत्रं राज्यं च निहन्तुमसुरान् रणे ।
शक्रान्तिकं शतानीकः सह मातलिना ययौ ॥१५॥
असुरान् यमदंष्ट्रादीन्बहून्पश्यति वासवे ।
हत्वा तत्रैव सङ्ग्रामे प्राप मृत्युं स भूपतिः ॥१६॥
मातल्यानीतदेहं च देवी तं नृपमन्वगात् ।
राजलक्ष्मीश्च तत्पुत्रं सहस्रानीकमाश्रयत् ॥१७॥
चित्रं तस्मिन्समारूढे पित्र्यं सिंहासनं नृपे ।
भरेण सर्वतो राज्ञां शिरांसि नतिमाययुः ॥१८॥
ततः शक्रः सुहृत्पुत्रं विपक्षविजयोत्सवे ।
स्वर्गं सहस्रानीकं तं निनाय प्रेष्य मातलिम् ॥१९॥
स तत्र नन्दने देवान् क्रीडतः कामिनीसखान् ।
दृष्ट्वा स्वोचितभार्यार्थी राजा शोकमिवाविशत् ॥२०॥
विज्ञायैतमभिप्रायं तमुवाचाथ वासवः ।
राजन्नलं विषादेन वाञ्छेयं तव सेत्स्यति ॥२१॥
उत्पन्ना हि क्षितौ भार्या तुल्या ते पूर्वनिर्मिता ।
इमं च शृणु वृत्तान्तमत्र ते वर्णयाम्यहम् ॥२२॥

मृगावतीविवाहकथा

पुरा पितामहं द्रष्टुमगच्छं तत्सभामहम् ।
विधूमो नाम पश्चाच्च मम्मैको वसुरागमत् ॥२३॥

एक बार शिकार खेलने के सिलसिले में उस राजा का वन में शाण्डिल्य मुनि के साथ परिचय हुआ ।।६।।

शाण्डिल्य मुनि कौशाम्बी में आकर पुत्र की इच्छावाले राजा की रानी को मन्त्र से पवित्र चरु[1] खिलाया ।।१०।।

शाण्डिल्य मुनि की कृपा से शतानीक को सहस्रानीक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ; उससे पिता ऐसा शोभित हुआ, जैसे विनय से गुण शोभित होता है ।।११।।

क्रमश: शतानीक, सहस्रानीक को युवराज बनाकर, केवल राज्यसुख भोगने के लिए राजा रह गया । राजकार्य की चिन्ता से मुक्त हो गया था ।।१२।।

कुछ समय के अनन्तर असुरों के साथ युद्ध प्रारम्भ होने पर इन्द्र ने सहायता की इच्छा से उसके लिए अपने सारथी मातलि को दूत बनाकर भेजा ।।१३।।

तब शतानीक, राज्य-शासन का समस्त भार युगन्धर नाम के मुख्यमन्त्री, सुप्रतीक नामक प्रधान सेनापति तथा युवराज सहस्रनीक पर देकर मातलि के साथ इन्द्र के समीप गया ।।१४-१५।।

इन्द्र के देखते-देखते यमदंष्ट्र आदि बहुत-से असुरों को उस युद्ध में मारकर वह राजा शतानीक स्वयं भी मर गया ।।१६।।

मातलि द्वारा उसका शव राजधानी में ले आने पर महारानी उसके साथ सती हो गई और राजलक्ष्मी ने उसके पुत्र सहस्रानीक का आश्रय लिया । (अर्थात्, सहस्रानीक राजा बन गया) ।।१७।।

आश्चर्य है कि सहस्रानीक के पिता के सिंहासन पर बैठते ही, भार से राजाओं के सिर झुक गये, अर्थात् सिंहासन को नम्र होना चाहिए, किन्तु राजाओं के सिर नम्र हो गये, यह आश्चर्य है ! ।।१८।।

असुर-विजय के उपलक्ष्य में किये गये उत्सव के समय इन्द्र ने अपने मित्र के पुत्र सहस्रानीक को मातलि द्वारा (रथ भेजकर) स्वर्ग में बुलवाया ।।१९।।

स्वर्ग में रहते हुए सहस्रानीक, प्रियतमाओं के साथ नन्दन-वन में विहार करते हुए देवताओं को देखकर, अपने लिए अनुकूल पत्नी की चाह में, कुछ शोकयुक्त-सा हो गया ।।२०।।

इन्द्र ने, राजा शतानीक के मनोभाव को समझकर कहा—'राजन् ! शोक न करो, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी ।।२१।।

राजन् ! तुम्हारे पूर्वजन्म की भार्या, जो तुम्हारे अनुरूप है; पृथ्वी पर जन्म ले चुकी है । इस वृत्तान्त को कहता हूँ, सुनो' ।।२२।'

रानी मृगावती के विवाह की कथा

प्राचीन समय में पितामह (ब्रह्मा) का दर्शन करने के लिए मैं उनकी सभा में गया था । मेरे ही पीछे विधूम नाम का एक वसु भी सभा में आ गया ।।२३।।

---

१. चावल, चीनी और दूध मिला हुआ हवन-द्रव्य ।

स्थितेष्वस्मासु तत्रैव विरिञ्चिं द्रष्टुमप्सराः ।
आगादलम्बुषा नाम वातविस्रंसितांशुका ।।२४।।
तां दृष्ट्वैव स कामस्य वशं वसुरुपागमत् ।
साप्यप्सरा झगित्यासीत्तद्रूपाकृष्टलोचना ।।२५।।
तदालोक्य ममापश्यन्मुखं कमलसम्भवः ।
अभिप्रायं विदित्वास्य तावहं शप्तवान् क्रुधा ।।२६।।
मर्त्यलोकेऽवतारोऽस्तु युवयोरविनीतयोः ।
भविष्यथश्च तत्रैव युवां भार्यापती इति ।।२७।।
स वसुस्त्वं समुत्पन्नः सहस्रानीकभूपते ।
शतानीकस्य तनयो भूषणं शशिनः कुले ।।२८।।
साप्यप्सरा अयोध्यायां कृतवर्मनृपात्मजा ।
जाता मृगावती नाम सा ते भार्या भविष्यति ।।२९।।
इतीन्द्रवाक्यपवनैरुद्भूतो हृदि भूपतेः ।
सस्नेहे तस्य झगिति प्राज्वलन्मदनानलः ।।३०।।
ततः सम्मान्य शक्रेण प्रेषितस्तद्रथेन सः ।
सह मातलिना राजा प्रतस्थे स्वां पुरीं प्रति ।।३१।।
गच्छन्तं चाप्सराः प्रीत्या तमुवाच तिलोत्तमा ।
राजन्वक्ष्यामि ते किञ्चित्प्रतीक्षस्व मनागिति ।।३२।।
तदश्रुत्वैव हि ययौ स तां ध्यायन्मृगावतीम् ।
ततः सा लज्जिता कोपात्तं शशाप तिलोत्तमा ।।३३।।
यया हृतमना राजन्न शृणोषि वचो मम ।
तस्याश्चतुर्दशसमा वियोगस्ते भविष्यति ।।३४।।
मातलिस्तच्च शुश्राव स च राजा प्रियोत्सुकः ।
ययौ रथेन कौशाम्बीमयोध्यां मनसा पुनः ।।३५।।
ततो युगन्धरादिभ्यो मन्त्रिभ्यो वासवाच्छ्रुतम् ।
मृगावतीगतं सर्वं शशंसोत्सुकयो धिया ।।३६।।
याचितुं तां स कन्यां च तत्पितुः कृतवर्मणः ।
अयोध्यां प्राहिणोद्दूतं कालक्षेपासहो नृपः ।।३७।।
कृतवर्मा च तद्दूताच्छ्रुत्वा सन्देशमभ्यधात् ।
हर्षाद्देव्यै कलावत्यै ततः साप्येनमब्रवीत् ।।३८।।

हमारे वहाँ बैठे रहते ही अलम्बुषा नाम की एक अप्सरा ब्रह्मा के दर्शनार्थ वहाँ आई, उसका वस्त्र वायु से कुछ खिसक गया, इधर-उधर हो गया ॥२४॥

उसे देखकर वह विधूम वसु कामातुर हो गया और वह (अलम्बुषा) भी उसके रूप की ओर आँखों के खिंच जाने से स्तब्ध-सी (ठगी-सी) रह गई ॥२५॥

उन दोनों की इस स्थिति को देखकर ब्रह्मा ने मेरी ओर देखा, मैंने भी उनके अभिप्राय को समझकर, क्रुद्ध होकर उन दोनों को शाप दिया ॥२६॥

शाप यह दिया कि 'तुम्हारा जन्म, मर्त्यलोक में पति-पत्नी के रूप में होगा। इस शाप के कारण हे राजन्, तुम चन्द्रवंश में राजा शतानीक के पुत्र हुए और वह अप्सरा अयोध्या के राजा कृतवर्मा की मृगावती नामक कन्या के रूप में अवतीर्ण हुई है। वह तुम्हारी पत्नी होगी' ॥२७-२८-२९॥

राजा के स्नेहयुक्त हृदय में पहले से ही सुलगता हुआ मदनानल, इन्द्र की बातों से प्रेरित होकर तुरन्त प्रज्वलित हो उठा ॥३०॥

तदनन्तर, इन्द्र के द्वारा भली भाँति स्वागत प्राप्त करके इन्द्र के ही रथ से भेजा गया राजा सहस्रानीक, मातलि के साथ अपनी नगरी को लौट आया ॥३१॥

जाते हुए राजा से तिलोत्तमा नाम की अप्सरा ने प्रेमपूर्वक कहा—'हे राजन् ! जरा ठहरो, मैं तुमसे कुछ कहूँगी' ॥३२॥

मृगावती के ध्यान में निमग्न राजा ने तिलोत्तमा का कथन नहीं सुना। इसलिए, उसने लज्जित होकर राजा को शाप दिया ॥३३॥

'हे राजन् ! जिस मृगावती के प्रति आकृष्टचित्त होकर तू मेरी बात नहीं सुन रहा है; उसका तुझे चौदह वर्षों तक वियोग होगा' ॥३४॥

तिलोत्तमा के शाप को मातलि ने सुना, राजा ने नहीं। प्रिया के लिए उत्सुक वह राजा रथ से कौशाम्बी और मन से अयोध्या पहुँचा ॥३५॥

राज्य में पहुँचकर राजा ने मृगावती के सम्बन्ध में इन्द्र से सुना हुआ समस्त वृत्तान्त उत्सुक मन से युगन्धर आदि मन्त्रियों को कह सुनाया ॥३६॥

और विलम्ब को न सहन कर सकनेवाले राजा ने उस कन्या (मृगावती) की मँगनी के लिए अयोध्या में राजा कृतवर्मा के समीप दूत भेजा ॥३७॥

दूत द्वारा सहस्रानीक के सन्देश को सुनकर राजा कृतवर्मा ने हर्ष से यह संवाद अपनी रानी कलावती से कहा ॥३८॥

राजन्सहस्रानीकाय देयावश्यं मृगावती ।
इममर्थं च मे स्वप्ने जाने कोऽप्यवदद्द्विजः ॥३९॥
अथ दृष्टो मृगावत्या नृत्तगीतादिकौशलम् ।
रूपं चाप्रतिमं तस्मै दूतायादर्शयन्नृपः ॥४०॥
ददौ तां च स कान्तानां दलानामेकमास्पदम् ।
कृतवर्मा सुतां तस्मै राज्ञे मूर्त्तिमिवैन्दवीम् ॥४१॥
परस्परगुणावाप्त्यै स श्रुतप्रज्ञयोरिव ।
अभूत्सहस्रानीकस्य मृगावत्याश्च सङ्गमः ॥४२॥
अथ तस्याचिराद्राज्ञो मन्त्रिणां जज्ञिरे सुताः ।
जज्ञे युगन्धरस्यापि पुत्रो यौगन्धरायणः ॥४३॥
सुप्रतीकस्य पुत्रश्च रुमण्वानित्यजायत ।
योऽस्य नर्मसुहृत्तस्य पुत्रोऽजनि वसन्तकः ॥४४॥
ततस्तस्यापि दिवसैः सहस्रानीकभूपतेः ।
बभार गर्भमापाण्डुमुखी राज्ञी मृगावती ॥४५॥
ययाचे साथ भर्त्तारं दर्शनातृप्तलोचनम् ।
दोहदं रुधिरापूर्णलीलावापीनिमज्जनम् ॥४६॥
स चेच्छां पूरयन् राज्ञ्या लाक्षादिरसनिर्भराम् ।
चकार धार्मिको राजा वापीं रक्तावृतामिव ॥४७॥
तस्यां स्नान्तीमकस्माच्च लाक्षालिप्तां निपत्य याम् ।
गरुडान्वयजः पक्षी जहारामिषशङ्कया ॥४८॥
पक्षिणा क्वापि नीतां तामन्वेष्टुमिव तत्क्षणम् ।
ययौ सहस्रानीकस्य धैर्यं विह्वलचेतसः ॥४९॥
प्रियानुरक्तं चेतोऽपि नूनं तस्य पतत्त्रिणा ।
जह्रे येन स निःसंज्ञः पपात भुवि भूपतिः ॥५०॥
क्षणाच्च लब्धसंज्ञेऽस्मिन् राज्ञि बुद्ध्वा प्रभावतः ।
अवतीर्य द्युमार्गेण तत्र मातलिराययौ ॥५१॥
स राजानं समाश्वास्य सावधि प्राग्यथा श्रुतम् ।
तस्मै तिलोत्तमाशापं कथयित्वा ततोऽगमत् ॥५२॥
हा प्रिये पूर्णकामा सा जाता पापा तिलोत्तमा ।
इत्यादि च स शोकार्त्तो विललाप महीपतिः ॥५३॥

रानी ने भी कहा कि 'राजन् ! मृगावती को, सहस्रानीक के लिए अवश्य देना चाहिए। यह बात स्वप्न में मुझे किसी ब्राह्मण ने कही है, ऐसा मालूम होता है' ॥३९॥

रानी की सम्मति प्राप्त कर प्रसन्नचित्त राजा ने, दूत को मृगावती का नाचना, गाना तथा उसका अप्रतिम रूप दिखाया ॥४०॥

अनुकूल समय में राजा कृतवर्मा ने कमनीय ललित कलाओं की एकमात्र आधार चन्द्रमा की मूर्त्तिमयी प्रतिमा के समान सुन्दरी उस कन्या मृगावती को विधिपूर्वक राजा शतानीक के लिए दे दिया ॥४१॥

जिस प्रकार शास्त्र और बुद्धि का संगम परस्पर आदान-प्रदान के लिए होता है, उसी प्रकार सहस्रानीक और मृगावती का समागम भी परस्पर गुणों के आदान-प्रदान के लिए हुआ ॥४२॥

कुछ समय के अनन्तर राजा के मन्त्रियों के पुत्र उत्पन्न हुए। प्रधानमन्त्री युगन्धर का पुत्र यौगन्धरायण, सेनापति सुप्रतीक का पुत्र रुमण्वान और राजा के नर्म सचिव (विदूषक) का पुत्र वसन्तक नामक हुआ ॥४३–४४॥

कुछ दिनों के अनन्तर राजा सहस्रानीक की पीले मुखवाली पत्नी मृगावती ने भी गर्भ-धारण किया ॥४५॥

गर्भ-धारण के अनन्तर रानी ने रुधिर से भरी हुई क्रीडा-वापी में गोता लगाने की इच्छा उस राजा से प्रकट की, जिसे (राजा को) देखते-देखते उसकी आँखें तृप्त नहीं होती थीं ॥४६॥

धार्मिक राजा सहस्रानीक ने रानी की इच्छा-पूर्त्ति के लिए लाख आदि लाल वस्तुओं के लाल रस से भरी बावली बनवाई; जो रक्त से भरी मालूम होती थी ॥४७॥

उस लाल वापी में स्नान करती हुई लाल लाख के रस से लिपटी हुई रानी को देखकर गरुड़-वंश के किसी पक्षी[1] ने, मांसपिण्ड समझकर उठा लिया ॥४८॥

गरुड़वंशीय पक्षी द्वारा उड़ाकर ले जाई गई रानी को ढूँढ़ने के लिए व्याकुलचित्त राजा सहस्रानीक का धैर्य नष्ट हो गया ॥४९॥

उस पक्षी ने केवल रानी को ही नहीं, रानी के प्रति अनुरक्त राजा के चित्त का भी हरण कर लिया। इसी कारण राजा मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर गया ॥५०॥

कुछ समय के अनन्तर राजा के सचेत होने पर अपने प्रभाव से स्थिति को समझकर मातलि, आकाश-मार्ग से उतरकर राजा के पास आया ॥५१॥

मातलि ने राजा को आश्वासन देते हुए पूर्व समय में तिलोत्तमा द्वारा दिये गये शाप का वृत्तान्त और चौदह वर्ष की अवधि का समाचार सुनाया। राजा के कुछ स्वस्थ होने पर मातलि पुनः स्वर्ग को चला गया ॥५२॥

'हा प्रिये, अब उस पापिन तिलोत्तमा का मनोरथ पूर्ण हो गया'—इस प्रकार शोक-विह्वल राजा विलाप करता रहा ॥५३॥

---

१. 'अरेबियन नाइट्स' में सिन्दबाद जहाजी की कहानी में ऐसे पक्षी का वर्णन आता है। कुछ लोग इसे कल्पित पक्षी मानते है। पर्वतों में ऐसे पक्षी दीखते हैं; जो बड़े-बड़े सांपों और पशुओं के बच्चों को उठा ले जाते हैं। —अनु०

विज्ञातशापवृत्तान्तो बोधितश्च स मन्त्रिभिः ।
कथञ्चिज्जीवितं दध्रे पुनः सङ्गमवाञ्छया ॥५४॥
तां च राज्ञीं स पक्षीन्द्रः क्षणान्नीत्वा मृगावतीम् ।
जीवन्तीं वीक्ष्य तत्याज दैवादुदयपर्वते ॥५५॥
त्यक्त्वा तस्मिन्गते चाथ राज्ञी शोकभयाकुला ।
ददर्शानाथमात्मानं दुर्गमाद्रितटस्थितम् ॥५६॥
एकाकिनीमेकवस्त्रां क्रन्दन्तीमथ तां वने ।
ग्रासीकर्त्तुं प्रवृत्तोऽभूदुत्थायाजगरो महान् ॥५७॥
निहत्याजगरं तं च शुभोदर्का तथैव सा ।
दिव्येन मोचिता पुंसा दृष्टनष्टेन केनचित् ॥५८॥
ततो वनगजस्याग्रे सा स्वयं मरणार्थिनी ।
आत्मानमक्षिपत्सोऽपि ररक्ष दययेव ताम् ॥५९॥
चित्रं यच्छ्वापदोऽप्येनां पतितामपि गोचरे ।
नावधीदथवा किं हि न भवेदीश्वरेच्छया ॥६०॥
अथ प्रपाताभिमुखी बाला गर्भभरालसा ।
स्मरन्ती तं च भर्त्तारं मुक्तकण्ठं रुरोद सा ॥६१॥
तच्छ्रुत्वा मुनिपुत्रोऽथ तत्रैकस्तां समाययौ ।
आगतः फलमूलार्थं शुचं मूर्त्तिमतीमिव ॥६२॥
स च पृष्टा यथावृत्तमाश्वास्य च कथञ्चन ।
जमदग्न्याश्रमं राज्ञीं निनायैनां दयार्द्रधीः ॥६३॥
तत्र मूर्त्तमिवाश्वासं जमदग्निं ददर्श सा ।
तेजसा स्थिरबालार्कं कुर्वाणमुदयाचलम् ॥६४॥
सोऽपि तां पादपतितां मुनिराश्रितवत्सलः ।
राज्ञीं वियोगदुःखार्त्तां दिव्यदृष्टिरभाषत ॥६५॥
इह ते जनिता पुत्रि ! पुत्रो वंशधरः पितुः ।
भविष्यति च भर्त्रा ते सङ्गमो मा शुचं कृथाः ॥६६॥
इत्युक्त्वा मुनिना साध्वी सा जग्राह मृगावती ।
आश्रमेऽवस्थितिं तस्मिन्नाशां च प्रियसङ्गमे ॥६७॥

उदयनजन्मकथा

ततश्च दिवसैस्तत्र श्लाघनीयमनिन्दिता ।
सत्सङ्गतिरिवाचारं पुत्ररत्नमसूत सा ॥६८॥

तिलोत्तमा के शाप का समाचार जानता हुआ और मन्त्रियों द्वारा समझाया-बुझाया गया राजा किसी प्रकार आश्वस्त हुआ ।।५४।।

उधर वह पक्षिराज भी रानी को उड़ाकर ले गया; किन्तु जीवित देखकर उसने उदय पर्वत पर उसे (रानी को) छोड़ दिया ।।५५।।

छोड़कर पक्षी के चले जाने पर, शोक और भय से व्याकुल रानी ने दुर्गम पर्वत पर अपने को अनाथ पाया ।।५६।।

अनन्तर, एक वस्त्र पहने हुई जंगल में रोती हुई उस एकाकिनी रानी को खाने के लिए एक भारी अजगर तैयार हुआ ।।५७।।

सहसा दिखकर अन्तर्हित हुए किसी दिव्य पुरुष ने अजगर को मारकर उस शुभ भविष्यवाली रानी की रक्षा की ।।५८।।

रानी ने दुःख के कारण स्वयं मरने की इच्छा से जंगली हाथी के सामने अपना शरीर फेंक दिया (अपने को डाल दिया), किन्तु मानों दया से उसने भी रानी की रक्षा की ।।५९।।

आँखों के सामने पड़ी हुई रानी को हिंस्र जन्तु (हाथी) ने नहीं मारा, यह आश्चर्य है ! ईश्वर की इच्छा से क्या नहीं हो सकता ।।६०।।

इसके अनन्तर गर्भभार से अलसाती हुई और पतन (गिरकर प्राण देने) के लिए तैयार वह कोमल रानी फूट-फूटकर रोने लगी ।।६१।।

उसके करुण क्रन्दन को सुनकर फल-मूल संग्रह करते हुए एक मुनिपुत्र ने, मूर्त्तिमती शोक-देवता के समान उस रानी को देखा ।।६२।।

दयालु मुनिकुमार रानी से सब वृत्तान्त सुनकर उसे किसी प्रकार धीरज बँधाकर, जमदग्नि ऋषि के आश्रम में ले गया ।।६३।।

वहाँ पर उसने मूर्त्तिमान् आश्वासन के समान, तेज से उदयाचल पर मानों बालार्क को स्थिर करते हुए[1] जमदग्नि को देखा ।।६४।।

शरणागतों पर दया करनेवाले दिव्यदृष्टि ऋषि ने पैरों पर पड़ी हुई एवं वियोग-दुःख से पीडित रानी से कहा—'बेटी ! अपने पिता के वंश को चलानेवाला तेरा पुत्र इसी आश्रम में उत्पन्न होगा और पति के साथ तेरा समागम भी होगा। अतः शोक मत करो' ।।६५-६६।।

जमदग्नि मुनि द्वारा इस प्रकार आश्वस्त पतिव्रता मृगावती ने, प्रिय पति के समागम की आशा के साथ-साथ उस आश्रम में निवास स्वीकार किया ।।६७।।

उदयन के जन्म की कथा

कुछ दिनों के बीतने पर सदाचारिणी मृगावती ने सत्संगति (सदाचार) के समान अनेक गुणों से युक्त पुत्ररत्न उत्पन्न किया ।।६८।।

---

१. उस पर्वत पर मुनि अपने तेजस्वी मुखमण्डल से उदीयमान सूर्य की भाँति चमकते रहते थे ।—अनु०

श्रीमानुदयनो नाम्ना राजा जातो महायशाः ।
भविष्यति च पुत्रोऽस्य सर्वविद्याधराधिपः ॥६९॥
इत्यन्तरिक्षादुदभूत्तस्मिन्काले सरस्वती ।
आदधाना मृगावत्याश्चित्तविस्मृतमुत्सवम् ॥७०॥
क्रमादुदयनः सोऽथ बालस्तस्मिंस्तपोवने ।
अवर्धत निजैः सार्धं वयस्यैरिव सद्गुणैः ॥७१॥
कृत्वा क्षत्रोचितान् सर्वान्संस्काराञ्जमदग्निना ।
व्यनीयत स विद्यासु धनुर्वेदे च वीर्यमान् ॥७२॥
कृष्ट्वा च स्वकरान्माता तस्य स्नेहान्मृगावती ।
सहस्रानीकनामाङ्कं चकार कटकं करे ॥७३॥
हरिणाखेटके जातु भ्राम्यन्नुदयनोऽथ सः ।
शबरेण हठाक्रान्तमटव्यां सर्पमैक्षत ॥७४॥
सदयः सुन्दरे तस्मिन्सर्पे तं शबरं च सः ।
उवाच मुच्यतामेष सर्पो मद्वचनादिति ॥७५॥
ततः स शबरोऽवादीज्जीविकेयं मम प्रभो ।
कृपणोऽहं हि जीवामि भुजगं खेलयन् सदा ॥७६॥
विपन्ने पन्नगे पूर्वं मन्त्रौषधिबलादयम् ।
वष्टब्धश्च मया लब्धश्चिन्वतैतां महाटवीम् ॥७७॥
श्रुत्वेत्युदयनस्त्यागी दत्वास्मै शबराय तम् ।
कटकं जननीदत्तं स तं सर्पममोचयत् ॥७८॥
गृहीतकटके याते शबरे पुरतो गतिम् ।
कृत्वा स भुजगः प्रीतो जगादोदयनं तदा ॥७९॥
वसुनेमिरिति ख्यातो ज्येष्ठो भ्रातास्मि वासुकेः ।
इमां वीणां गृहाण त्वं मत्तः संरक्षितात्त्वया ॥८०॥
तन्त्रीनिर्घोषरम्यां च श्रुतिभागविभाजिताम् ।
ताम्बूलीश्च सहाम्लानमालातिलकयुक्तिभिः ॥८१॥
तद्युक्तो जमदग्नेस्तं नागोत्क्षिप्तः स चाश्रमम् ।
आगादुदयनो मातुर्दृशि वर्षन्निवामृतम् ॥८२॥
अत्रान्तरे स शबरोऽप्यटवीं प्राप्य पर्यटन् ।
आदायोदयनात्प्राप्तं कटकं तद्विधेर्वशात् ॥८३॥

पुत्र के उत्पन्न होते ही मृगावती के चित्त को आश्चर्य और हर्ष देनेवाली आकाशवाणी हुई—'यह उदयन नाम का महायशस्वी राजा उत्पन्न हुआ है। इस (रानी) का बालक समस्त विद्याधरों का राजा होगा' ।।६९–७०।।

तब वह बालक उदयन, उस तपोवन में अपने साथ उत्पन्न हुए मित्रों के समान सद्गुणों के साथ-साथ बढ़ने लगा ।।७१।।

जमदग्नि ऋषि ने उसके सभी क्षत्रियोचित संस्कार करने के अनन्तर उसे सभी विद्याओं में और धनुर्वेद (शस्त्रविद्या) में शिक्षित किया ।।७२।।

उसकी माता मृगावती ने स्नेह के कारण सहस्रानीक के नाम से अंकित कंकण (हाथ के कड़े) को अपने हाथ से निकालकर उसके हाथ में पहना दिया ।।७३।।

किसी समय हिरण के शिकार के प्रसंग में झूमते हुए उदयन ने जंगल में एक शबर[1] (एक भील) के द्वारा बलपूर्वक पकड़े हुए सर्प को देखा ।।७४।।

उस सुन्दर सर्प पर दयालु होकर उदयन ने किरात (शबर) से कहा—'मेरे कहने से तुम इस साँप को छोड़ दो' ।।७५।।

तब उस जंगली ने कहा—'स्वामी, यह मेरी जीविका का साधन है। मैं अत्यन्त निर्धन व्यक्ति हूँ। साँपों को खेलाता हुआ जीवित रहता हूँ ।।७६।।

पहले सर्प के मर जाने के कारण मैंने सारे जंगल में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते बड़ी कठिनाई और मन्त्र तथा औषधि के बल से इसे पाया और पकड़ा है' ।।७७।।

सँपेरे की बात सुनकर त्यागी उदयन ने माता का दिया हुआ कड़ा, सँपेरे को (साँप के बदले में) दे दिया और उसने साँप को छोड़ दिया ।।७८।।

कंकण लेकर सँपेरे के चले जाने पर प्रसन्न वह सर्प उदयन के सम्मुख मनुष्य-रूप में बड़ा होकर प्रणाम करके कहने लगा ।।७९।।

'मैं वसुनेमि नामक नाग, वासुकि नाग का बड़ा भाई हूँ। तुमने मेरी रक्षा की है, अतः मुझसे अत्यन्त रमणीय स्वरवाली और श्रुतिमार्गों से विभक्त यह वीणा ग्रहण करो। साथ ही, कभी न कुम्हलानेवाली यह माला तथा तिलक-युक्ति के साथ कभी न सूखनेवाली यह पान की लता भी ग्रहण करो' ।।८०–८१।।

उदयन उस वीणा को लिये हुए माता की आँखों में मानों अमृत बरसाते हुए जमदग्नि के आश्रम में आया ।।८२।।

इस बीच वह सँपेरा भी जंगल में घूमता-घामता दैवयोग से उदयन द्वारा प्राप्त उस सुवर्ण-कंकण को बाजार में बेचता हुआ पकड़ा गया ।।८३।।

---

१. 'शबर' एक प्रकार की वन्य जाति है, जिसे सँपेरा भी कहते हैं।

विक्रीणानश्च तत्तत्र राजनामाङ्कमापणे ।
वष्टभ्य राजपुरुषैर्निन्ये राजकुलं च सः ॥८४॥
कुतस्त्वयेदं कटकं सम्प्राप्तमिति तत्र सः ।
राज्ञा सहस्रानीकेन स्वयं शोकादपृच्छत ॥८५॥
अथोदयाद्रौ सर्पस्य ग्रहणात्प्रभृति स्वकम् ।
कटकप्राप्तिवृत्तान्तं शबरः स जगाद तम् ॥८६॥
तद्‌बुद्ध्वा शबराद्‌दृष्ट्वा दयितावलयं च तम् ।
विचारदोलामारोहत् सहस्रानीकभूपतिः ॥८७॥
क्षीणः शापः स ते राजन्नुदयाद्रौ च सा स्थिता ।
जमदग्न्याश्रमे जाया सपुत्रा ते मृगावती ॥८८॥
इति दिव्या तदा वाणी नन्दयामास तं नृपम् ।
विप्रयोगनिदाघार्त्तं वारिधारेव बर्हिणम् ॥८९॥
अथोत्कण्ठादीर्घे कथमपि दिनेऽस्मिन्नवसिते
तमेवाग्रे कृत्वा शबरमपरेद्युः स नृपतिः ।
सहस्रानीकस्तां सरभसमवाप्तुं प्रियतमां ।
प्रतस्थे तत्सैन्यैः सममुदयशैलाश्रमपदम् ॥९०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथामुखलम्बके प्रथमस्तरङ्गः ।

द्वितीयस्तरङ्गः

गत्वाथ दूरमध्वानं राजा वसतिमग्रहीत् ।
दिने तस्मिन्स कस्मिंश्चिदरण्यसरसस्तटे ॥१॥
शयनीयगतः श्रान्तस्तत्र सेवारसागतम् ।
सायं सङ्गतकं नाम जगाद कथकं नृपः ॥२॥
कथामाख्याहि मे काञ्चिद्धृदयस्य विनोदिनीम् ।
मृगावतीमुखाम्भोजदर्शनोत्सवकाङ्क्षि ॥३॥
अथ सङ्गतकोऽवादीद्देव ! किं तप्यसे वृथा ।
आसन्न एव देव्यास्ते क्षीणशापः समागमः ॥४॥
संयोगा विप्रयोगाश्च भवन्ति बहवो नृणाम् ।
तथा चात्र कथामेकां कथयामि शृणु प्रभो ! ॥५॥

उस (कंकण) पर राजा का नाम लिखा होने के कारण सिपाही उसे पकड़कर राजभवन में ले गये ।।८४।।

राजभवन में, 'तुमने यह कड़ा कहाँ पाया', इस प्रकार शोक-सन्तप्त राजा सहस्रानीक ने उस सँपेरे से पूछा ।।८५।।

राजा के पूछने पर सँपेरे भील ने उदय पर्वत पर साँप पकड़ने से लेकर यहाँतक का सारा वृत्तान्त राजा से कह सुनाया ।।८६।।

भील द्वारा यह समाचार जानकर और पत्नी के उस कंकण को पहचानकर राजा सहस्रानीक विचारों के हिंडोले में झूलने लगा ।।८७।।

'राजन् ! तुम्हारा शाप नष्ट हो गया है। तुम्हारी रानी मृगावती, पुत्र के साथ, उदय पर्वत पर जमदग्नि के आश्रम में है।' इस प्रकार की आकाशवाणी ने वियोग की अग्नि में जलते हुए राजा को इस प्रकार आनन्दित कर दिया, जैसे ग्रीष्मकाल की जलधारा, मयूर को आनन्दित कर देती है ।।८८-८९।।

तदनन्तर, प्रिया-मिलन की उत्कण्ठा से दीर्घीभूत उस दिन के किसी प्रकार बीतने पर, दूसरे दिन प्रातःकाल, बेचैन राजा सहस्रानीक, प्रियतमा को प्राप्त करने के लिए उसी सँपेरे (भील) को पथ-प्रदर्शक बनाकर अपनी सेनाओं के साथ उदयाचल के आश्रम की ओर चला ।।९०।।

श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के द्वितीय लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त ।

द्वितीय तरंग

उस दिन राजा (सहस्रानीक) कुछ दूर रास्ता चलकर किसी जंगली तालाब के किनारे पड़ाव डालकर ठहर गया ।।१।।

उस शिविर में सन्ध्या के समय सेवा के लिए आये हुए संगतक नामक कथा कहने- (कहानी सुनाने) वाले सेवक[1] से राजा ने कहा ।।२।।

मृगावती के मुखकमल का दर्शन करने के लिए उत्सुक मेरे मन को बहलानेवाली कोई कथा (कहानी) सुनाओ ।।३।।

तब संगतक ने कहा—'राजन् ! क्यों व्यर्थ सन्ताप करते हैं। शाप के नष्ट होते ही आपका महारानी के साथ समागम सुनिश्चित है ।।४।।

हे स्वामिन् ! जीवन में मनुष्य को अनेक संयोग और वियोग हुआ करते हैं। इस सम्बन्ध में आपको मैं एक कहानी सुनाता हूँ, सुनिए' ।।५।।

---

१. प्राचीन समय में राजाओं के यहाँ ऐसे सेवक होते थे, जो रात के समय राजाओं के शरीर-पैर आदि दबाते हुए मनोरंजक कहानियाँ सुनाते थे, ताकि राजा को शीघ्र और अच्छी नींद आ जाय ।—अनु०

श्रीदत्तमृगाङ्कवत्योः कथा

मालवे यज्ञसोमाख्यो द्विज कश्चिदभूत्पुरा ।
तस्य च द्वौ सुतो साधोर्जायते स्म जनप्रियौ ॥६॥
एकस्तयोरभून्नाम्ना कालनेमिरिति श्रुतः ।
द्वितीयश्चापि विगतभय इत्याख्ययाऽभवत् ॥७॥
पितरि स्वर्गते तौ च भ्रातरौ तीर्णशैशवौ ।
विद्याप्राप्त्यै प्रययतुः पुरं पाटलिपुत्रकम् ॥८॥
तत्रैवोपात्तविद्याभ्यामुपाध्यायो निजे सुते ।
देवशर्मा ददौ ताभ्यां मूर्त्ते विद्ये इवापरे ॥९॥
अथान्यान्वीक्ष्य तानाढ्यान्गृहस्थानीर्ष्यया श्रियम् ।
होमैः स साधयामास कालनेमिः कृतव्रतः ॥१०॥
सा च तुष्टा सती साक्षादेवं श्रीस्तमभाषत ।
भूरि प्राप्स्यसि वित्तं च पुत्रं च पृथिवीपतिम् ॥११॥
किन्त्वन्ते चौरसदृशो वधस्तव भविष्यति ।
हुतमग्नौ त्वया यस्मादमर्षकलुषात्मना ॥१२॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे लक्ष्मीः कालनेमिरपि क्रमात् ।
महाधनोऽभूत्किं चास्य दिनैः पुत्रोऽप्यजायत ॥१३॥
श्रीवरादेष सम्प्राप्त इति नाम्ना तमात्मजम् ।
श्रीदत्तमकरोत्सोऽपि पिता पूर्णमनोरथः ॥१४॥
क्रमात्स वृद्धिं सम्प्राप्तः श्रीदत्तो ब्राह्मणोऽपि सन् ।
अस्त्रेषु बाहुयुद्धेषु बभूवाप्रतिमो भुवि ॥१५॥
कालनेमेरथ भ्राता तीर्थार्थी सर्पभक्षिताम् ।
भार्यामुद्दिश्य विगतभयो देशान्तरं ययौ ॥१६॥
श्रीदत्तोऽपि गुणज्ञेन राज्ञा वल्लभशक्तिना ।
तत्र विक्रमशक्तेः स स्वपुत्रस्य कृतः सखा ॥१७॥
राजपुत्रेण तेनास्य सहवासोऽभिमानिना ।
बाल्ये दुर्योधनेनैव भीमस्यासीत्तरस्विना ॥१८॥
द्वावेतस्याथ मित्रत्वं विप्रस्यावन्तिदेशजौ ।
क्षत्रियौ बाहुशाली च वज्रमुष्टिश्च जग्मतुः ॥१९॥
बाहुयुद्धजिताश्चान्ये दाक्षिणात्या गुणप्रियाः ।
स्वयंवरसुहृत्त्वेन मन्त्रिपुत्रास्तमाश्रयन् ॥२०॥

श्रीदत्त और मगांकवती की कथा

मालव देश में यज्ञसेन नाम का एक ब्राह्मण था। उस सज्जन ब्राह्मण के दो लोकप्रिय पुत्र थे ।।६।।

उसमें एक कालनेमि के नाम से और दूसरा विगतभय नाम से प्रसिद्ध हुआ ।।७।।

पिता की मृत्यु के पश्चात् वे दोनों भाई बाल्यावस्था के अनन्तर विद्या-प्राप्ति के लिए पाटलिपुत्र नगर को गये ।।८।।

वहाँ पर विद्या-प्राप्ति के अनन्तर उनके अध्यापक देवशर्मा ने मूर्तिमती विद्याओं के समान अपनी दो कन्याएँ उन्हें दान दे दीं ।।९।।

विवाह के अनन्तर कालनेमि ने अन्यान्य पड़ोसी गृहस्थों को अपने से अधिक धनवान् और सुखी देखकर ईर्ष्या के कारण होम के द्वारा नियमपूर्वक लक्ष्मी की आराधना प्रारम्भ की ।।१०।।

उसकी आराधना से प्रसन्न लक्ष्मी ने स्वयं प्रकट होकर प्रसन्तापूवक उससे कहा कि 'तुम पर्याप्त धन और पृथ्वीपति पुत्र प्राप्त करोगे' ।।११।।

किन्तु, इतना सब होते हुए भी अन्त में तुम्हारा वध चोरों के समान होगा; क्योंकि तुमने अग्नि में जो हवन किया है, वह ईर्ष्या से कलुषितचित्त होकर किया है ।।१२।।

ऐसा कहकर लक्ष्मी अन्तर्धान हो गई और कालनेमि भी धीरे-धीरे महाधनी हो गया। कुछ दिनों बाद उसके एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ ।।१३।।

श्री (लक्ष्मी) के वरदान से यह पुत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसका नाम श्रीदत्त रखा और पिता का मनोरथ पूर्ण हुआ ।।१४।।

श्रीदत्त, ब्राह्मण होने पर भी क्रमशः युवा होने पर, अस्त्र-शस्त्र-विद्याओं में एवं मल्लयुद्ध में अद्वितीय हो गया ।।१५।।

कालनेमि का दूसरा भाई विगतभय पत्नी को सर्प ने काट लेने के कारण उसकी सद्गति के निमित्त तीर्थयात्रा के लिए दूसरे देश को चला गया ।।१६।।

श्रीदत्त को धीर और वीर जानकर गुणग्राही राजा वल्लभशक्ति ने, अपने पुत्र विक्रमशक्ति का मित्र बना दिया ।।१७।।

अत्यन्त अभिमानी राजपुत्र विक्रमशक्ति के साथ श्रीदत्त की मित्रता इस प्रकार हुई, जैसे दुर्योधन के साथ भीमसेन की थी ।।१८।।

तदनन्तर, अवन्तिदेश में उत्पन्न हुए बाहुशाली वज्रमुष्टि नामक दो क्षत्रिय श्रीदत्त के मित्र बन गये ।।१९।।

मल्लयुद्ध में जीते हुए अन्यान्य गुणग्राही दक्षिणदेशवासी तथा मन्त्रियों के पुत्र श्रीदत्त के स्वयं मित्र बन गये ।।२०।।

महाबलव्याघ्रभटावुपेन्द्रबल इत्यपि ।
तथा निष्ठुरको नाम सौहार्दं तस्य चक्रिरे ॥२१॥
कदाचिदथ वर्षासु विहर्त्तुं जाह्नवीतटे ।
श्रीदत्तः सह तैर्मित्रै राजपुत्रसखी ययौ ॥२२॥
स्वभृत्यास्तत्र तं चक्रुर्निजं राजसुतं नृपम् ।
श्रीदत्तोऽपि स तत्कालं राजा मित्रैरकल्प्यत ॥२३॥
तावता जातरोषेण राजपुत्रेण तेन सः ।
विप्रवीरो रणायाशु समाहूतो मदस्पृशा ॥२४॥
स तेन बाहुयुद्धेन श्रीदत्तेनाथ निर्जितः ।
चकार हृदि वध्यं तु वर्द्धमानं कलङ्कितः ॥२५॥
ज्ञात्वा च तमभिप्रायं राजपुत्रस्य शङ्कितः ।
श्रीदत्तः सह तैर्मित्रैस्तत्समीपादपासरत् ॥२६॥
उपसर्पन्स चापश्यद् गङ्गामध्यगतां स्त्रियम् ।
ह्रियमाणां जलौघेन सागरस्थामिव श्रियम् ॥२७॥
ततश्चावततारैतामुद्धर्त्तुं जलमध्यतः ।
षड्बाहुशालिप्रमुखान्स्थापयित्वा तटे सखीन् ॥२८॥
तां च केशेष्वपि प्राप्तां निमग्नां दूरमम्भसि ।
अनुसर्त्तुं स्त्रियं सोऽपि वीरस्तत्रैव मग्नवान् ॥२९॥
निमज्ज्य च ददर्शात्र स श्रीदत्तः क्षणादिति ।
शैवं देवकुलं दिव्यं न पुनर्वारि न स्त्रियम् ॥३०॥
तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यश्रान्तो नत्वा वृषध्वजम् ।
उद्याने सुन्दरे तत्र तां निनाय विभावरीम् ॥३१॥
प्रातश्च देवमीशानं सा पूजयितुमागता ।
ददृशे तेन मूर्त्तेव रूपश्रीः स्त्रीगुणान्विता ॥३२॥
ईश्वरं पूजयित्वा च सा ततो निजमन्दिरम् ।
ययाविन्दुमुखी सोऽपि श्रीदत्तोऽनुजगाम ताम् ॥३३॥
ददर्श मन्दिरं तच्च तस्याः सुरपुरोपमम् ।
प्रविवेश च सम्भ्रान्ता सावमानेव मानिनी ॥३४॥
साप्यसम्भाषमाणैव तमन्तर्वासवेश्मनि ।
तन्वी न्यषीदत्पर्यङ्के स्त्रीसहस्रोपसेविता ॥३५॥

महाबल, व्याघ्रभट, उपेन्द्रबल एवं निष्ठुरक आदि नाम के अनेक व्यक्ति श्रीदत्त के गुणों से आकृष्ट होकर उसके मित्र बन गये ।।२१।।

एक बार वर्षा के दिनों में विहार करने के लिए राजपुत्र तथा ऊपर कहे गये मित्रों के साथ श्रीदत्त गंगा के तट पर गये ।।२२।।

वहाँ जाकर विनोद-क्रीडा में राजकुमार विक्रमशक्ति के भृत्यों ने राजकुमार को राजा बनाया, उसी समय श्रीदत्त के मित्रों ने भी उसे राजा बना दिया ।।२३।।

इसी बीच मदोन्त राजकुमार ने उस ब्राह्मण-वीर को युद्ध के लिए ललकारा ।।२४।।

श्रीदत्त ने राजकुमार को मल्लयुद्ध में जीत लिया। अतः, क्रोध से भरे हुए राजकुमार ने उसे मार डालना चाहा ।।२५।।

राजकुमार के अभिप्राय को जानकर श्रीदत्त अपने उन मित्रों के साथ उसका साथ छोड़कर दूर हट गया ।।२६।।

हटते हुए श्रीदत्त ने गंगा के बीच जलप्रवाह से बहाई जाती हुई स्त्री को इस प्रकार देखा, जैसे सागर लक्ष्मी को लिये जा रहा हो ।।२७।।

श्रीदत्त, उसे देखकर बाहुशाली आदि अपने छह मित्रों को नियुक्त करके उस स्त्री को जल से निकालने के लिए गंगा में उतर पड़ा ।।२८।।

डूबती हुई स्त्री के केशों को पकड़कर भी श्रीदत्त ने, उसे अधिक जल-तल में डूबती हुई देखकर स्वयं भी उसका अनुसरण किया, अर्थात् उसके साथ ही डूब गया ।।२९।।

डूबने पर श्रीदत्त ने क्षणभर में ही एक दिव्य शिव-मन्दिर देखा, वहाँ न जल था और न वह स्त्री ही थी ।।३०।।

इस महान् आश्चर्य को देखकर थके हुए श्रीदत्त ने शिवजी को प्रणाम करके उस सुन्दर उद्यान में रात्रि व्यतीत की ।।३१।।

प्रातः उठकर श्रीदत्त ने देखा कि स्त्रीगुणों से युक्त साक्षात् लक्ष्मी के समान वह सुन्दरी शिवजी की प्रातःकालीन पूजा के लिए आई ।।३२।।

वह चन्द्रमुखी शिवजी की पूजा करके अपने घर चली गई। साथ ही, श्रीदत्त भी उसके पीछे-पीछे गया ।।३३।।

उसने देव-भवन के समान उसके गृह को देखा। वह अपमानिता-सी मानवती सुन्दरी व्याकुल भाव से उस भवन में प्रविष्ट हुई ।।३४।।

वह स्त्री, श्रीदत्त से विना कुछ कहे ही उस भवन के भीतरी कमरे में जाकर अनेक स्त्रियों से घिरी हुई पलंग पर बैठ गई ।।३५।।

श्रीदत्तोऽपि स तत्रैव निषसाद तदन्तिके ।
अथाकस्मात्प्रववृते तया साध्व्या प्ररोदितम ॥३६॥
निपेतुः स्तनयोस्तस्याः सम्प्राप्ता बाष्पविन्दवः ।
श्रीदत्तस्य च तत्कालं कारुण्यं हृदये गतम् ॥३७॥
ततः स चैनां पप्रच्छ का त्वं दुःखं च किं तव ।
वद सुन्दरि शक्तोऽहं तन्निवारयितुं यतः ॥३८॥
ततः कथञ्चित्साऽवादीद् वयं दैत्यपतेर्बलेः ।
पौत्र्यो दशशतं तासां ज्येष्ठा विद्युत्प्रभेत्यहम् ॥३९॥
स नः पितामहो नीतो विष्णुना दीर्घबन्धनम् ।
पिता च बाहुयुद्धेन हतस्तेनैव शौरिणा ॥४०॥
तं हत्वा तेन च निजात्पुरान्निर्वासिता वयम् ।
प्रवेशरोधकृत्तत्र सिंहश्च स्थापितोऽन्तरे ॥४१॥
आवृतं तत्पदं तेन दुःखेन हृदयं च नः ।
स च यक्षः कुबेरस्य शापात् सिंहत्वमागतः ॥४२॥
मर्त्यैश्चाभिभवस्तस्य शापान्तः कथितः पुरा ।
पुरप्रवेशोपायार्थे विज्ञप्तो विष्णुरादिशत् ॥४३॥
अतः स शत्रुरस्माकं केसरी जीयतां त्वया ।
तदर्थमेव चानीतो मया वीर! भवानिह ॥४४॥
मृगाङ्काख्यं खड्गं च जितात्तस्मादवाप्स्यसि ।
पृथिवीं यत्प्रभावेण जित्वा राजा भविष्यसि ॥४५॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्यत्र श्रीदत्तोऽतीततद्दिनः ।
अन्येद्युर्दैत्यकन्यास्ताः कृत्वाग्रे तत्पुरं ययौ ॥४६॥
जिगाय बाहुयुद्धेन तत्र तं सिंहमुद्धतम् ।
सोऽपि शापविमुक्तः सन्बभूव पुरुषाकृतिः ॥४७॥
दत्वा चास्मै स खड्गं स्वं तुष्टः शापान्तकारिणे ।
सहासुराङ्गनादुःखभारेणादर्शनं ययौ ॥४८॥
सोऽथ सानुजया साकं श्रीदत्तो दैत्यकन्यया ।
बहिर्गतमिवानघ्नं तद्विवेश पुरोत्तमम् ॥४९॥
अङ्गुलीयं विषघ्नं च सास्मै दैत्यसुता ददौ ।
ततः सोऽत्र स्थितस्तस्यां साभिलाषोऽभवद्युवा ॥५०॥

साथ आया हुआ श्रीदत्त भी उसी पलंग पर उसके साथ ही बैठ गया। इसके उपरान्त उस सती स्त्री ने सहसा रोना प्रारम्भ किया ॥३६॥

उसके उष्ण अश्रुबिन्दु स्तनों पर गिरने लगे, इस प्रकार उसका रुदन देखकर श्रीदत्त के हृदय में दया आ गई ॥३७॥

श्रीदत्त ने उससे पूछा—'तुम कौन हो? तुम्हें क्या दुःख है? बताओ सुन्दरि! मैं तुम्हारे दुःख को दूर करने में समर्थ हूँ' ॥३८॥

तब उसने अत्यन्त कठिनता से कहा—'दैत्यराज बलि की एक सहस्र पौत्रियाँ हैं, जिनमें सबसे बड़ी विद्युत्प्रभा मैं हूँ' ॥३९॥

विष्णु ने मेरे पितामह (दादा) बलि को लम्बे बन्धन में डाल दिया है और हमारे पिता को मल्लयुद्ध में मार डाला ॥४०॥

मेरे पिता को मारकर उस विष्णु ने हमें अपने नगर से निर्वासित कर दिया। साथ ही, नगर में जाने की रोक के लिए बीच में एक सिंह को खड़ा कर दिया है ॥४१॥

उस सिंह ने यह स्थान और हमारा हृदय दोनों आक्रान्त कर दिया। वह सिंह एक यक्ष है, जो कुबेर के शाप से सिंह बन गया है ॥४२॥

जब पुर-प्रवेश के लिए हम लोगों ने विष्णु से प्रार्थना की, तब उन्होंने इस यक्ष का शाप नष्ट होने की बात कही थी। (मनुष्य द्वारा इस सिंह की हत्या होगी, तब इसका शाप नष्ट होगा) ॥४३॥

इसलिए, तुम हमारे शत्रु उस सिंह को जीतो या मार डालो। हे वीर! मैं तुम्हें इसीलिए यहाँ लाई हूँ ॥४४॥

उस सिंह को मार डालने पर उससे मृगांक नामक खड्ग भी तुम्हें प्राप्त होगा, जिसके प्रभाव से तुम पृथ्वी को जीतकर राजा बनोगे ॥४५॥

ऐसा सुनकर और 'ठीक है' यह कहकर श्रीदत्त ने, वह दिन, वहीं व्यतीत किया और अगले दिन उन दैत्य-कन्याओं को आगे करके उस नगर को गया ॥४६॥

यहाँ पर उसने मल्लयुद्ध से उस सिंह को जीत लिया। वह सिंह भी शापमुक्त होकर पुरुष के आकार में बदल गया ॥४७॥

शाप से छुड़ानेवाले श्रीदत्त पर प्रसन्न होकर उस पुरुष ने उसे एक तलवार दी और दैत्यकन्याओं के दुःख के साथ ही वह अदृश्य हो गया ॥४८॥

तदनन्तर, श्रीदत्त छोटी बहनों के साथ उस दैत्य-कन्या को लिये हुए उस नगर में गया ॥४९॥

दैत्य-कन्या ने, श्रीदत्त को विषनाश करनेवाली एक अंगूठी दी। वहाँ रहते हुए युवा श्रीदत्त का हृदय, उस दैत्य-कन्या की ओर आकृष्ट हुआ ॥५०॥

साथ युक्त्या जगादैनं वाप्यां स्नानमितः कुरु ।
आदायैनं च मज्जेस्त्वं खड्गं ग्राहभयापहम् ॥५१॥
तथेति वाप्यां मग्नः सन् श्रीदत्तो जाह्नवीतटात् ।
तस्मादेव समुत्तस्थौ यस्मात्पूर्वमवातरत् ॥५२॥
खड्गाङ्गुलीयके पश्यन्पातालादुत्थितोऽथ सः ।
विषण्णो विस्मितश्चासीद् वञ्चितोऽसुरकन्यया ॥५३॥
ततस्तान्सुहृदोऽन्वेष्टुं स्वगृहाभिमुखं ययौ ।
गच्छन्निष्ठुरकाख्यं च मित्रं मार्गे ददर्श सः ॥५४॥
स चोपेत्य प्रणम्याथ नीत्वकान्ते च सत्वरम् ।
तं पृष्टस्वजनोदन्तमेवं निष्ठुरकोऽब्रवीत् ॥५५॥
गङ्गान्तस्त्वां तदा मग्नमन्विष्य दिवसान्बहून् ।
स्वशिरांसि शुचा छेत्तुमभूम वयमुद्यताः ॥५६॥
न पुत्राः साहसं कार्ष जीवन्नेष्यति वः सखा ।
इत्यन्तरिक्षाद् वाणी नस्तमुद्योगं न्यवारयत् ॥५७॥
ततश्च त्वत्पितुः पार्श्वमस्माकं प्रतिगच्छताम् ।
मार्गं सत्वरमभ्येत्य पुमानेकोऽब्रवीदिदम् ॥५८॥
नगरं न प्रवेष्टव्यं युष्माभिरिह साम्प्रतम् ।
यतो वल्लभशक्तिः स विपन्नोऽत्र महीपतिः ॥५९॥
दत्तो विक्रमशक्तिश्च राज्ये सम्भूय मन्त्रिभिः ।
प्राप्तराज्यः स चान्येद्युः कालनेमेरगाद् गृहम् ॥६०॥
श्रीदत्तः क्व स ते पुत्र इति चामर्षनिर्भरः ।
तमपृच्छत्स चाप्येनं नाहं वेद्मीत्यभाषत ॥६१॥
प्रच्छादितोऽमुना पुत्र इति तेन निषूदितः ।
कालनेमिः स शूलायां राज्ञा चौर इति क्रुधा ॥६२॥
तद्दृष्ट्वा तस्य भार्यायाः स्वयं हृदयमस्फुटत् ।
पापं पापान्तराक्षेपक्रूरं हि क्रूरकर्मणाम् ॥६३॥
तेन चान्विष्यते हन्तुं सोऽपि विक्रमशक्तिना ।
श्रीदत्तस्तद्वयस्याश्च यूयं तद्गम्यतामितः ॥६४॥
इति तेनोदिताः पुंसा शोकार्त्तास्ते निजां भुवम् ।
बाहुशाल्यादयः पञ्च सम्मन्त्र्योज्जयिनीं गताः ॥६५॥
प्रच्छन्नस्थापितश्चाहं त्वदर्थमिह तैः सखे ।
तदेहि तावद् गच्छावस्तत्रैव सुहृदन्तिकम् ॥६६॥

श्रीदत्त की भावना को समझकर दैत्य-कन्या ने उससे कहा कि 'तुम इस वापी में खड्ग को लेकर स्नान करो, जिससे ग्राह का भय न रहे' ॥५१॥

दैत्य-कन्या के कथनानुसार उस वापी में गोता लगाते ही श्रीदत्त, फिर उसी गंगा-तट पर जा निकला; जहाँ से वह जल में उतरा था ॥५२॥

पाताल से गंगा-तट पर निकला हुआ श्रीदत्त, खड्ग और अंगूठी को देखता हुआ दुःखी और चकित हो रहा था; क्योंकि उस कन्या ने उसे पुनः यहाँ भेजकर ठग लिया ॥५३॥

गंगा-तट पर उन छोड़े हुए अपने मित्रों को ढूँढ़ने के लिए वह अपने घर की ओर चला। जाते हुए उसने निष्ठुरक नामक मित्र को मार्ग में देखा ॥५४॥

निष्ठुरक उसे देखकर उसके समीप आकर प्रणामपूर्वक उससे अपने मित्रों का समाचार पूछते हुए उसे एकान्त में ले जाकर बोला—॥५५॥

"तुम्हें उस समय गंगा में डूबा हुआ देखकर तुम्हारे शोक के कारण हम लोग अपने-अपने गले काटने के लिए उद्यत हुए ॥५६॥

'बेटो ! ऐसा साहस न करो'—इस प्रकार की आकाशवाणी ने हमारे गले काटने के प्रयत्न को रोक दिया ॥५७॥

अब तुम्हारे पिता के समीप समाचार कहने के लिए जाते हुए हम लोगों को मार्ग में मिलकर एक पुरुष ने इस प्रकार कहा—॥५८॥

'तुमलोगों को नगर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। नगर का राजा बल्लभशक्ति इस समय मर गया है और उसके पुत्र विक्रमशक्ति को मन्त्रियों ने सम्मति करके राजा बना दिया है। विक्रमशक्ति, राज्य पाते ही दूसरे दिन कालनेमि (तुम्हारे पिता) के घर पहुँचा और पूछा कि वह तुम्हारा बेटा श्रीदत्त कहाँ है ?' उत्तर में कालनेमि ने कहा—कि 'मैं नहीं जानता' ॥५९-६०-६१॥

'इसने अपने लड़के को छिपा दिया'—ऐसा अपराध लगाकर राजा विक्रमशक्ति ने क्रुद्ध होकर कालनेमि को फाँसी दे दी ॥६२॥

पति की इस परिस्थिति को देखकर उसकी स्त्री (तुम्हारी माता) का हृदय स्वयं फट गया। सच है, क्रूर व्यक्तियों का पाप, उसके लिए किये गये अन्यान्य पापों के कारण अत्यन्त क्रूर हो जाता है ॥६३॥

अब विक्रमशक्ति, श्रीदत्त और उसके मित्रों को वध करने के लिए ढूँढ रहा है। इसलिए तुम लोग नगर में न जाकर और कहीं चले जाओ' ॥६४॥

इस प्रकार किसी नागरिक पुरुष के कहने पर शोक-सन्तप्त बाहुशाली आदि हम पाँचों मित्र, परस्पर सम्मति करके अपनी मातृभूमि उज्जयिनी को चले गये। और, तुम्हारे लिए मुझे छिपकर यहाँ रहने का आदेश दे गये। तो चलो, उज्जयिनी में मित्रों के समीप चलें" ॥६५-६६॥

एवं निष्ठुरकाच्छ्रुत्वा पितरावनुशोच्य सः ।
निदधे प्रतिकारास्थामिव खड्गे दृशं मुहुः ॥६७॥
कालं प्रतीक्षमाणोऽथ वीरो निष्ठुरकान्वितः ।
प्रतस्थे तान् सखीन् प्राप्तुं स तामुज्जयिनीं पुरीम् ॥६८॥
आमज्जनान्तं वृत्तान्तं सख्युस्तस्य च वर्णयन् ।
श्रीदत्तः स ददर्शैकां क्रोशन्तीमबलां पथि ॥६९॥
अबला भ्रष्टमार्गाहं मालवं प्रस्थितेति ताम् ।
ब्रुवन्तीं दयया सोऽथ सह प्रस्थायिनीं व्यधात् ॥७०॥
तया दयानुरोधाच्च स्त्रिया निष्ठुरकान्वितः ।
कस्मिंश्चिच्छून्यनगरे दिने तस्मिन्नुवास सः ॥७१॥
तत्र रात्रावकस्माच्च मुक्तनिद्रो ददर्श ताम् ।
स्त्रियं निष्ठुरकं हत्वा हर्षात्तन्मांसमश्नतीम् ॥७२॥
उदतिष्ठत्समाकृष्य सोऽथ खड्गं मृगाङ्ककम् ।
सापि स्त्री राक्षसीरूपं घोरं स्वं प्रत्यपद्यत ॥७३॥
स च केशेषु जग्राह निहन्तुं तां निशाचरीम् ।
तत्क्षणं दिव्यरूपत्वं सम्प्राप्ता तमुवाच सा ॥७४॥
मा मां वधीर्महाभाग मुञ्च नैवास्मि राक्षसी ।
अयमेवंविधः शापो ममाभूत्कौशिकान्मुनेः ॥७५॥
तपस्यतो हि तस्याहं धनाधिपतिनामुना ।
विघ्नाय प्रेषिता पूर्वं तत्पदप्राप्तिकाङ्क्षिणः ॥७६॥
ततः कान्तेन रूपेण तं क्षोभयितुमक्षमा ।
लज्जिता त्रासयन्त्येनमकार्षं भैरवं वपुः ॥७७॥
तद्दृष्ट्वा स मुनिः शापं सदृशं मय्यथो दधे ।
राक्षसी भव पापे त्वं निघ्नन्ती मानुषानिति ॥७८॥
त्वत्तः केशग्रहे प्राप्ते शापान्तं मे स चाकरोत् ।
इत्यहं राक्षसीभावमिमं कष्टमुपागमम् ॥७९॥
मयैव नगरं चैतद् ग्रस्तमद्य च मे चिरात् ।
त्वया कृतः स शापान्तस्तद्गृहाणाधुना वरम् ॥८०॥
इति तस्या वचः श्रुत्वा श्रीदत्तः सादरोऽभ्यधात् ।
किमन्येन वरेणाद्य जीवत्वेष सखा मम ॥८१॥

निष्ठुरक की बातें सुनकर श्रीदत्त ने माता-पिता की मृत्यु पर शोक किया और मानों बदला लेने की भावना से अपनी आँखों को खड्ग पर डाला ।।६७।।

इसके पश्चात् प्रतिशोध के लिए अवसर की प्रतीक्षा करता हुआ श्रीदत्त, निष्ठुरक को साथ लेकर अपने मित्रों से मिलने के लिए उज्जयिनी पुरी को गया ।।६८।।

गंगा में गोता लगाने के बाद का अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त मित्र निष्ठुरक को मार्ग में सुनाते हुए श्रीदत्त ने एक रोती हुई स्त्री को देखा ।।६९।।

'मैं असहाय अबला हूँ, मालव देश को जाती हुई मार्ग भूल गई हूँ'—उस अबला के ऐसा कहने पर श्रीदत्त ने दया करके उसे अपने साथ ले लिया ।।७०।।

दया और अनुरोध के कारण उस स्त्री और निष्ठुरक को साथ लेकर श्रीदत्त उस दिन किसी उजड़े हुए, अतएव शून्य नगर में ठहर गया ।।७१।।

इस यात्रा में एक दिन अकस्मात् रात को सोकर उठे हुए श्रीदत्त ने उस स्त्री को, जो निष्ठुरक को मारकर उसका मांस खा रही थी, देखा ।।७२।।

यह देखते ही श्रीदत्त मृगांक नामक खड्ग खींचकर उसे मारने के लिए उठा । उधर उस स्त्री ने भी अपना रूप छोड़कर भीषण राक्षसी का रूप धारण कर लिया ।।७३।।

श्रीदत्त ने उस राक्षसी को मारने के लिए उसके केशों को पकड़ा, तो इतने ही में वह राक्षसी का रूप छोड़कर दिव्य स्त्री का रूप धारण करके कहने लगी—।।७४।।

"महाभाग ! मुझे मत मारो । मैं राक्षसी नहीं हूँ । मुझे कौशिक ऋषि का शाप था ।।७५।।

जिस समय कौशिक मुनि तपस्या कर रहे थे, उस समय कुबेर ने मुझे उसकी तपस्या में विघ्न करने के लिए भेजा था; क्योंकि वह कुबेर का पद पाने के लिए तपस्या कर रहा था ।।७६।।

इस सुन्दर रूप से मुनि को लुभाने में असमर्थ एवं लज्जित होकर उसे डराने के लिए मैंने यह भीषण रूप धारण किया ।।७७।।

मेरे राक्षसी-रूप को देखकर मुनि ने मुझे समुचित शाप दिया कि 'पापिन ! तू मनुष्यों को खाती हुई राक्षसी बन जा' ।।७८।।

उस ऋषि ने तुम्हारे द्वारा बालों के पकड़े जाने पर शाप का अन्त बताया था । इस प्रकार मैं दुःखप्रद राक्षसीपन को प्राप्त हुई ।।७९।।

मैंने ही बहुत समय से इस नगर का ग्रस रखा है । आज तुमने मेरे शाप को अन्त कर दिया, अतः अब मुझसे वरदान ग्रहण करो" ।।८०।।

उसकी इस प्रकार बातें सुनकर श्रीदत्त ने आदर के साथ कहा—'इस समय और दूसरा वर क्या माँगूँ ? यह मेरा मित्र जी जाय, यही वर दो' ।।८१।।

एवमस्त्विति सा चास्मै वरं दत्वा तिरोदधे ।
अक्षताङ्गः स चोत्तस्थौ जीवन्निष्ठुरकः पुनः ॥८२॥
तेनैव सह च प्रातः प्रहृष्टो विस्मितश्च सः ।
ततः प्रतस्थे श्रीदत्तः प्राप चोज्जयिनीं क्रमात् ॥८३॥
तत्र सम्भावयामास सखीन्मार्गोन्मुखान्स तान् ।
दर्शनेन यथायातो नीलकण्ठानिवाम्बुदः ॥८४॥
कृतातिथ्यविधिश्चासौ स्वगृहं बाहुशालिना ।
नीतोऽभूत् कथिताशेषनिजवृत्तान्तकौतुकः ॥८५॥
तत्रोपचर्यमाणः सन् पितृभ्यां बाहुशालिनः ।
स उवास समं मित्रैः श्रीदत्तः स्वगृहे यथा ॥८६॥
कदाचित्सोऽथ सम्प्राप्ते मधुमासमहोत्सवे ।
यात्रामुपवने द्रष्टुं जगाम सखिभिः सह ॥८७॥
तत्र कन्यां ददर्शैकां राज्ञः श्रीबिम्बकेः सुताम् ।
आगतामाकृतिमतीं साक्षादिव मधुश्रियम् ॥८८॥
सा मृगाङ्कवती नाम हृदयं तस्य तत्क्षणम् ।
विवेश दत्तमार्गेव दृष्ट्यास्य सविकासया ॥८९॥
तस्या अपि मुहुः स्निग्धा प्रथमप्रेमशंसिनी ।
न्यस्ता तं प्रति दूतीव दृष्टिश्चक्रे गतागतम् ॥९०॥
प्रविष्टां वृक्षगहनं तामपश्यन्नथ क्षणात् ।
श्रीदत्तः शून्यहृदयो दिशोऽपि न ददर्श सः ॥९१॥
ज्ञातं मया ते हृदयं सखे ! मापह्नवं कृथाः ।
तदेहि तत्र गच्छावो यत्र राजसुता गता ॥९२॥
इत्युक्तश्चेङ्गितज्ञेन सुहृदा बाहुशालिना ।
तथेति स ययौ तस्याः सन्निकर्षं सुहृत्सखः ॥९३॥
हा कष्टमहिना दष्टा राजपुत्रीति तत्क्षणम् ।
आक्रन्द उदभूत्तत्र श्रीदत्तहृदयज्वरः ॥९४॥
विषघ्नमङ्गुलीयं च विद्या च सुहृदोऽस्य मे ।
अस्तीति गत्वा जगदे कञ्चुकी बाहुशालिना ॥९५॥
स च तत्क्षणमभ्येत्य कञ्चुकी चरणानतः ।
निनाय राजदुहितुः श्रीदत्तमन्यदद्रुतम् ॥९६॥

'ऐसा ही हो'—इस प्रकार वर देकर वह अन्तर्धान हो गई। और, वह निष्ठुरक सम्पूर्ण अंगों से अक्षत रहकर जीवित हो उठा ॥८२॥

प्रातःकाल चकित और प्रसन्न श्रीदत्त उठा और निष्ठुरक के साथ क्रमशः उज्जैन पहुँचा ॥८३॥

उज्जैन जाकर उत्सुकतापूर्वक राह देखते मित्रों को उसने ऐसा आनन्दित किया, जैसे मेघ मयूरों को आनन्दित करता है ॥८४॥

अपने आश्चर्यपूर्ण समस्त वृत्तान्त को कहने के पश्चात् बाहुशाली, विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार करके श्रीदत्त को अपने घर ले गया ॥८५॥

वहाँ पर बाहुशाली के माता-पिता द्वारा अपने बालक के समान उनका प्रेम प्राप्त करता हुआ श्रीदत्त, अपने घर के समान ही रहने लगा ॥८६॥

किसी समय वसन्तोत्सव के अवसर पर श्रीदत्त, अपने मित्रों के साथ किसी उद्यान में मेला देखने गया ॥८७॥

वहाँ मेले में उसने राजा श्रीबिम्बकि की कन्या को मूर्त्ति धारण करके आई हुई साक्षात् वसन्त-लक्ष्मी (शोभा) के समान देखा ॥८८॥

तदनन्तर, वह मृगांकवती नाम की राजकुमारी, विकसित नेत्रों के मार्ग से श्रीदत्त के हृदय में प्रवेश कर गई ॥८९॥

राजकुमारी की प्रेममयी सरस दृष्टि भी दूती के समान श्रीदत्त के साथ यातायात करने लगी ॥९०॥

घूमती-फिरती राजकुमारी के वृक्षों के झुरमुट में छिप जाने के कारण श्रीदत्त को दिग्भ्रम होने लगा। उसे कुछ सूझता न था ॥९१॥

'मित्र ! मैंने तुम्हारा हृदय जान लिया, छिपाओ नहीं, आओ, इधर ही चलें, जिधर राजकुमारी गई है' ॥९२॥

ऐसा कहकर श्रीदत्त को उसका मित्र बाहुशाली राजकुमारी के समीप ले गया ॥९३॥

इतने ही में वहाँ 'अरे ! रे राजकुमारी को साँप ने काट लिया'—इस प्रकार कोलाहल सुनाई दिया. जिसे सुनकर श्रीदत्त के हृदय में ज्वर-सा हो गया ॥९४॥

इतने में बहुशाली ने, राजकुमारी के कंचुकी से कहा कि मेरे इस मित्र के पास विष दूर करनेवाली एक अँगूठी है और यही विष उतारने का मन्त्र भी जानता है ॥९५॥

उसी समय वह कंचुकी श्रीदत्त के चरणों में झुककर प्रणाम करके श्रीदत्त को राजकुमारी के समीप ले गया ॥९६॥

सोऽपि तस्यास्तदङ्गुल्यां निचिक्षेपाङ्गुलीयकम् ।
ततो जजाप विद्यां च तेन प्रत्युज्जिजीव सा ॥९७॥
अथ सर्वजने हृष्टे श्रीदत्तस्तुतितत्परे ।
तत्रैव ज्ञातवृत्तान्तो राजा बिम्बकिरायथौ ॥९८॥
तेनासौ सखिभिः सार्धमगृहीताङ्गुलीयकः ।
प्रत्याजगाम श्रीदत्तो भवनं बाहुशालिनः ॥९९॥
तत्र तस्मै सुवर्णादि यत्प्रीतः प्राहिणोन्नृपः ।
तद्बाहुशालिनः पित्रे समग्रं स समर्पयत् ॥१००॥
अथ तां चिन्तयन्कान्तां स तथा पर्यतप्यत ।
यथा किङ्कार्यतामूढा वयस्यास्तस्य जज्ञिरे ॥१०१॥
ततो भावनिका नाम राजपुत्र्याः प्रिया सखी ।
अङ्गुलीयार्पणव्याजात्तस्यान्तिकमुपाययौ ॥१०२॥
उवाच चैनं मत्सख्यास्तस्याः सुभग ! साम्प्रतम् ।
त्वं वा प्राणप्रदो भर्त्ता मृत्युर्वाप्येष निश्चयः ॥१०३॥
इत्युक्ते भावनिकया श्रीदत्तः स च सापि च ।
बाहुशाली च तेऽन्ये च मन्त्रं सम्भूय चक्रिरे ॥१०४॥
हरामो निभृतं युक्त्या राजपुत्रीमिमां वयम् ।
निवासहेतोर्गुप्तं च गच्छामो मथुरामितः ॥१०५॥
इति सम्मन्त्रिते सम्यक्कार्यसिद्ध्यै च संविदि ।
अन्योन्यं स्थापितायां सा ययौ भावनिका ततः ॥१०६॥
अन्येद्युर्बाहुशाला च वयस्यत्रितयान्वितः ।
वणिज्याव्यपदशेन जगाम मथुरां प्रति ॥१०७॥
स गच्छन्स्थापयामास वाहनानि पदे पदे ।
राजपुत्र्यभिसाराय गूढानि चतुराणि च ॥१०८॥
श्रीदत्तोऽपि ततः काञ्चिद्दुहित्रा सहितां स्त्रियम् ।
सायं राजसुतावासे पाययित्वा मधु न्यधात् ॥१०९॥
ततोऽत्र दीपोद्देशेन दत्त्वाग्निं वासवेश्मनि ।
प्रच्छन्नं भावनिकया निन्ये राजसुता बहिः ॥११०॥
तत्क्षणं तां च सम्प्राप्य श्रीदत्तः स बहिःस्थितः ।
प्राक्प्रस्थितस्य निकटं प्राहिणोद् बाहुशालिनः ॥१११॥

श्रीदत्त ने जाकर राजकुमारी की अंगुली में अंगूठी पहना दी और मन्त्र भी पढ़ा। इससे वह पुनर्जीवित हो उठी ॥६७॥

राजकुमारी के स्वस्थ होते ही वहाँ एकत्र सभी व्यक्ति श्रीदत्त की प्रशसा करने लगे। यह समाचार सुनकर राजा बिम्बकि भी वहाँ आ पहुँचा ॥६८॥

राजा के आने पर श्रीदत्त अपनी अंगूठी विना लिये ही अपने मित्र बाहुशाली के साथ उसके घर लौट आया ॥६६॥

राजा बिम्बकि ने, प्रसन्न होकर श्रीदत्त के लिए जो सोना आदि उपहार के रूप में भेजे थे, उन्हे श्रीदत्त ने बाहुशाली के पिता को दे दिया ॥१००॥

तदनन्तर श्रीदत्त, उस राजकुमारी के विरह में इतना व्याकुल रहने लगा कि उसके मित्र भी घबराकर किंकर्त्तव्यविमूढ-से हो गये ॥१०१॥

कुछ समय के पश्चात् राजकुमारी की प्रिय सहेली भावनिका अंगूठी लौटाने के बहाने श्रीदत्त के समीप आई ॥१०२॥

और बोली—'हे सौभाग्यशालिन् ! मेरी सहेली को प्राणदान करनेवाले तुम उसके स्वामी बनो, अन्यथा उसकी मृत्यु हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं' ॥१०३॥

भावनिका के इस प्रकार कहने पर श्रीदत्त, भावनिका, बाहुशाली तथा अन्य मित्र मिलकर गुप्त मन्त्रणा करने लगे ॥१०४॥

हम लोग किसी भी उपाय से राजकुमारी का हरण कर लें और रहने के लिए गुप्त रूप से यहाँ से मथुरा चलें ॥१०५॥

कार्यसिद्धि के लिए इन लोगों की सम्मति में परस्पर ऐसा निश्चय करके भावनिका अपने घर लौट गई ॥१०६॥

दूसरे दिन, अपने तीन मित्रों के साथ बाहुशाली व्यापार के बहाने मथुरा चला गया ॥१०७॥

उसने मथुरा जाते हुए मार्ग में स्थान-स्थान पर सवारी का प्रबन्ध करके राजकुमारी के जाने के लिए चारों ओर से गुप्त प्रबन्ध किया ॥१०८॥

श्रीदत्त ने भी कन्या के साथ किसी पगली स्त्री को सायंकाल राजकुमारी के निवास-स्थान में ठहरा दिया ॥१०६॥

उधर भावनिका ने दीपक जल ने के बहाने उस घर में आग लगा दी और गुप्त रूप से राजकुमारी को लेकर बाहर आ गई ॥११०॥

बाहर प्रतीक्षा करते हुए श्रीदत्त ने, उसी समय अपने दो मित्रों के साथ राजकुमारी को आगे गये हुए बाहुशाली के समीप भेज दिया ॥१११॥

ददौ मित्रद्वयं चास्याः पश्चाद्भावनिकां तथा ।
तन्मन्दिरे च दग्धा सा क्षीबा स्त्री सुतया सह ॥११२॥
लोकस्तु तां सखीयुक्तां मेने दग्धां नृपात्मजाम् ।
प्रातश्च पूर्ववत्तत्र श्रीदत्तो ददृशे जनैः ॥११३॥
ततो रात्रौ द्वितीयस्यां स गृहीतमृगाङ्कक: ।
श्रीदत्तः प्रययौ पूर्वं प्रस्थितां तां प्रियां प्रति ॥११४॥
तया च रात्र्यातिक्रम्य दूरमध्वानमुत्सुकः ।
विन्ध्याटवीमथ प्राप स प्रातः प्रहरे गते ॥११५॥
तत्रादावनिमित्तानि पश्चात्पथि ददर्श तान् ।
सर्वान्प्रहाराभिहतान्सहभावनिकान् सखीन् ॥११६॥
ते च दृष्ट्वा निजगदुस्तं सभ्रान्तमुपागतम् ।
मुषिताः स्मो निपत्याद्य बह्वश्वारोहसेनया ॥११७॥
एकेन चाश्वारोहेण राजपुत्री भयाकुला ।
अस्मास्वेतदवस्थेषु नीताश्वमधिरोप्य सा ॥११८॥
दूरं न यावन्नीता च तावद् गच्छानया दिशा ।
अस्माकमन्तिके मा स्थाः सर्वथाभ्यधिका च सा ॥११९॥
इति तैः प्रेषितो मित्रैर्मुहुः पश्यन्विवृत्य सः ।
जवेन राजतनयां श्रीदत्तोऽनुससार ताम् ॥१२०॥
गत्वा सुदूरं लेभे च तामश्वारोहवाहिनीम् ।
युवानमेकं तन्मध्ये क्षत्रियं स ददर्श च ॥१२१॥
तेनोपरि तुरङ्गस्य गृहीतां तां नृपात्मजाम् ।
अपश्यच्च ययौ चास्य क्षत्रयूनोऽन्तिकं क्रमात् ॥१२२॥
सान्त्वेन राजपुत्रींताममुञ्चन्तं च पादतः ।
अश्वादाक्षिप्य दृषदि श्रीदत्तस्तमचूर्णयत् ॥१२३॥
तं हत्वा च तमेवाश्वमारुह्य निजघान तान् ।
अन्यान्यपि बहून्क्रुद्धानश्वारोहान् प्रधावितान् ॥१२४॥
हतशेषास्ततस्ते च तद्दृष्ट्वा तस्य तादृशम् ।
वीरस्यामानुषं वीर्यं पलाय्य सभयं ययुः ॥१२५॥
स चापि तुरगारूढो राजपुत्र्या तया सह ।
मृगाङ्कवत्या श्रीदत्तः प्रययौ तान् सखीन् प्रति ॥१२६॥
स्तोकं गत्वा च तस्याश्वः सङ्ग्रामे व्रणितो भृशम् ।
सभार्यस्यावतीर्णस्य पपात प्राप पञ्चताम् ॥१२७॥

और, उसके पीछे (या साथ) भावनिका भी गई। इधर कुमारी के भवन में आग लगने से श्रीदत्त की भेजी हुई वह पागल स्त्री कन्या के साथ जल गई ॥११२॥

वहाँ के लोगों ने भावनिका के साथ राजकुमारी को जला हुआ समझ लिया और प्रातःकाल श्रीदत्त को वहाँ उपस्थित देखा ॥११३॥

दूसरी रात को श्रीदत्त, मृगांक नामक खड्ग को हाथ में लेकर पहले से भागी हुई प्रिया (राजकुमारी) से मिलने के लिए चल पड़ा ॥११४॥

उत्सुक श्रीदत्त, रात में ही लम्बा रास्ता पार करके प्रातःकाल, एक प्रहर व्यतीत होने पर, विन्ध्याचल के घोर जंगल में जा पहुँचा ॥११५॥

श्रीदत्त ने प्रस्थान करते हुए पहले अशुभसूचक शकुन देखे और पीछे भावनिका के साथ आक्रमण से आहत अपने मित्रों को देखा ॥११६॥

वे लोग घबराकर आए हुए श्रीदत्त से बोले—'हम लोग बहुत बड़ी घुड़सवार-सेना द्वारा लूट लिये गये हैं ॥११७॥

हम लोगों के घायल होने पर एक घुड़सवार सैनिक राजकुमारी को घोड़े पर बैठाकर ले भागा ॥११८॥

अतः, जबतक वे लोग दूर नहीं चले जाते, तबतक इसी मार्ग से उस ओर जाओ। हम लोगों के पास न रहो। उस (राजकुमारी) की रक्षा प्रधान कर्त्तव्य है' ॥११९॥

इस प्रकार, उन मित्रों का भेजा हुआ श्रीदत्त, लौटकर वेग से घोड़ा दौड़ाता हुआ गया। कुछ ही दूर आगे उसने घुड़सवार-सेना को देखा और उसके बीच एक युवा क्षत्रिय को भी उसने देखा ॥१२०-१२१॥

उस युवा द्वारा घोड़े पर चढ़ाकर पकड़ी हुई राजकुमारी को भी उसने देखा और क्रमशः उन दोनों के समीप आ गया ॥१२२॥

शान्तिपूर्वक राजकुमारी को न छोड़ते हुए उस युवक को श्रीदत्त ने पैरों से खींचकर पत्थर पर दे मारा और घोड़े से गिराकर चूर-चूर कर दिया ॥१२३॥

उसने उसे मारकर और उसी के घोड़े पर सवार होकर अन्यान्य क्रुद्ध एवं भागते हुए उसके सिपाहियों को भी मारा। बचे हुए सिपाही, श्रीदत्त के अमानुष पराक्रम को देखकर डर से इधर-उधर भाग गये ॥१२४-१२५॥

अश्वारूढ श्रीदत्त भी राजकुमारी मृगांकवती को साथ लेकर अपने मित्रों की ओर लौटा ॥१२६॥

कुछ दूर जाने पर लड़ाई में घायल हुआ उसका घोड़ा गिर गया। श्रीदत्त जब अपनी पत्नी को लेकर उससे उतरा, तब वह घोड़ा मर गया ॥१२७॥

तत्कालं चास्य तत्रैव सा मृगाङ्कवती प्रिया ।
त्रासायासपरिश्रान्ता तृषार्त्ता समपद्यत ॥१२८॥
स्थापयित्वा च तां तत्र गत्वा दूरमितस्ततः ।
जलमन्विष्यतश्चास्य सवितास्तमुपाययौ ॥१२९॥
ततः स लब्धेऽपि जले मार्गनाशवशाद् भ्रमन् ।
चक्रवाकवदुत्कूजंस्तां निनाय निशां वने ॥१३०॥
प्रातः प्राप च तत्स्थानं पतिताश्वोपलक्षितम् ।
न च तत्र क्वचित् कान्तां राजपुत्रीं ददर्श ताम् ॥१३१॥
ततः स मोहाद् विन्यस्य भुवि खड्गं मृगाङ्ककम् ।
वृक्षाग्रमारुरोहैनामवेक्षितुमितस्ततः ॥१३२॥
तत्क्षणं तेन मार्गेण कोऽप्यगाच्छबराधिपः ।
स चागत्यैव जग्राह वृक्षमूलान् मृगाङ्ककम् ॥१३३॥
तं दृष्ट्वापि स वृक्षाग्रादवतीर्यैव पृष्टवान् ।
प्रियाप्रवृत्तिमत्यार्त्तः श्रीदत्तः शबराधिपम् ॥१३४॥
इतस्त्वं गच्छ मत्पल्लीं जाने सा तत्र ते गता ।
अहं तत्रैव चैष्यामि दास्याम्यसिमिमं च ते ॥१३५॥
इत्युक्त्वा प्रेषितस्तेन शबरेण स चोत्सुकः ।
श्रीदत्तस्तां ययौ पल्लीं तदीयैः पुरुषैः सह ॥१३६॥
श्रमं तावद् विमुञ्चेति तत्रोक्तं पुरुषैश्च तैः ।
प्राप्य पल्लीपतेर्गेहं श्रान्तो निद्रां क्षणाद्ययौ ॥१३७॥
प्रबुद्धश्च ददर्श स्वौ पादौ निगडसंयुतौ ।
अलब्धतद्गती कान्ताप्राप्त्युपायोद्यमाविव ॥१३८॥
अथ क्षणं दत्तसुखां क्षणान्तरविमाथिनीम् ।
दैवस्येव गतिं तत्र तस्थौ शोचन्स तां प्रियाम् ॥१३९॥
एकदा तमुवाचैत्य चेटी मोचनिकाभिधा ।
आगतोऽसि महाभाग कुत्रेह बत मृत्यवे ॥१४०॥
कार्यसिद्ध्यै स हि क्वापि प्रयातः शबराधिपः ।
आगत्य चण्डिकायास्त्वामुपहारीकरिष्यति ॥१४१॥
एतदर्थं हि तेन त्वमितो विन्ध्याटवीतटात् ।
प्राप्य युक्त्या विसृज्येह नीतः सम्प्रति बन्धनम् ॥१४२॥

वहाँ उतरने पर उसकी प्यारी मृगांकवती भय और थकावट के कारण उत्पन्न प्यास से व्याकुल हो गई ।।१२८।।

श्रीदत्त मृगांकवती को वहीं ठहराकर इधर-उधर पानी ढूँढ़ने लगा। पानी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सन्ध्या हो गई, सूर्य अस्त हो गया ।।१२६।।

जल मिल जाने पर भी, राह भूल जाने के कारण, श्रीदत्त ने, चकवे के समान चिल्लाते-चिल्लाते रात व्यतीत की ।।१३०।।

प्रातःकाल मरे हुए घोड़ेवाले उस स्थान को तो उसने पाया, किन्तु उस प्यारी राजकुमारी को कहीं न देखा ।।१३१।।

तब श्रीदत्त, व्याकुलता के कारण मृगांक खड्ग को वृक्ष की जड़ में रखकर उसे देखने के लिए पेड़ पर चढ़ गया ।।१३२।।

उसी समय उस मार्ग से कोई जंगली भिल्लराज उधर आ निकला। उसने आते ही पहले पेड़ की जड़ में रखी हुई तलवार उठा ली ।।१३३।।

उसे देखकर श्रीदत्त पेड़ से नीचे उतरा और उसने उतरते ही भिल्लराज से दीनतापूर्वक राजपुत्री का समाचार पूछा ।।१३४।।

'यहाँ से तुम मेरे गाँव पर जाओ, सम्भवतः वह वहीं गई होगी, मैं वहीं आ रहा हूँ और तुम्हारी तलवार भी साथ ला रहा हूँ' ।।१३५।।

ऐसा कहकर भिल्लराज द्वारा अपने गाँव को भेजा हुआ श्रीदत्त, उसके आदमियों के साथ उसके गाँव आ गया ।।१३६।।

वहाँ जाकर उसने आदमियों के 'थकावट मिटा लो'—कहने पर श्रीदत्त वहाँ सो गया ।।१३७।।

जगने पर उसने अपने पैरों को बेड़ियों से बँधा पाया। मानों वे पैर मृगांकवती का पता न लगा सकने के कारण दण्डित किये गये हों ।।१३८।।

क्षण-भर में सुख देनेवाली और क्षण-भर में दारुण दुःख देनेवाली प्यारी मृगांकवती को दैवगति[१] के समान सोचता हुआ श्रीदत्त बँधे पैरों से पड़ा रहा ।।१३६।।

इस प्रकार सोच में पड़े श्रीदत्त के समीप आकर मोचनिका नामक एक दासी ने कहा—'हे महाभाग ! मृत्यु के लिए तुम यहाँ कहाँ आ गये हो ?' ।।१४०।।

वह भिल्लराज, अपनी किसी कार्यसिद्धि के लिए कहीं गया है, आकर चण्डिका देवी के आगे तुम्हारा बलिदान करेगा ।।१४१।।

इसीलिए तुम्हें विन्ध्य के जंगल से युक्तिपूर्वक यहाँ भेजकर कैद कर दिया गया है ।।१४२।।

---

१. दैवगति भी क्षण में दुःख और दूसरे ही क्षण सुख देती है। इसी प्रकार मृगांकवती भी श्रीदत्त को क्षण-क्षण में सुख और दुःख का अनुभव करा रही थी।—अनु०

भगवत्यपहारत्वे यत एवासि कल्पितः ।
अत एव सदा वस्त्रैर्भोजनैश्चोपचर्यसे ।।१४३।।
एकस्तु मुक्त्युपायस्ते विद्यते यदि मन्यसे ।
अस्त्यस्य सुन्दरी नाम शबराधिपतेः सुता ।।१४४।।
अत्यर्थं सा च 'दृष्ट्वा त्वां जायते मदनातुरा ।
तां भजस्व वयस्यां मे ततः क्षेममवाप्स्यसि ।।१४५।।
तथेत्युक्तो विमुक्त्यर्थी स श्रीदत्तस्तथेति ताम् ।
गान्धर्वविधिना गुप्तं भार्यां व्यधित सुन्दरीम् ।।१४६।।
रात्रौ रात्रौ च सा तस्य बन्धनानि न्यवारयत् ।
अचिराच्च सगर्भा सा सुन्दरी समपद्यत ।।१४७।।
तत्सर्वमथ तन्माता बुद्ध्वा मोचनिकामुखात् ।
जामातृस्नेहतो गत्वा स्वैरं श्रीदत्तमब्रवीत् ।।१४८।।
पुत्र ! श्रीचण्डनामासौ कोपनः सुन्दरीपिता ।
न त्वां क्षमेत तद् गच्छ विस्मर्त्तव्या न सुन्दरी ।।१४९।।
इत्युक्त्वा मोचितः श्वश्वा खड्गं श्रीचण्डहस्तगम् ।
सुन्दर्यै निजमावेद्य श्रीदत्तः प्रययौ ततः ।।१५०।।
विवेश चाद्यां तामेव चिन्ताक्रान्तो निजाटवीम् ।
मृगाङ्कवत्याः पदवीं तस्या जिज्ञासितुं पुनः ।।१५१।।
निमित्तं च शुभं दृष्ट्वा तमेवोद्देशमाययौ ।
यत्रास्याश्वो मृतः सोऽथ यत्र सा हारिता वधूः ।।१५२।।
तत्र चैकं ददर्शाराल्लुब्धकं सम्मुखागतम् ।
दृष्ट्वा च पृष्टवांस्तस्याः प्रवृत्तिं हरिणीदृशः ।।१५३।।
किं श्रीदत्तस्त्वमित्युक्तो लुब्धकेन च तत्र सः ।
स एव मन्दभाग्योऽहमित्युवाच विनिःश्वसन् ।।१५४।।
ततः स लुब्धकोऽवादीत्तर्हि वच्मि सखे शृणु ।
दृष्टा सा ते मया भार्या क्रन्दन्ती त्वामितस्ततः ।।१५५।।
पृष्ट्वा ततश्च वृत्तान्तमाश्वास्य च कृपाकुलः ।
निजां पल्लीमितोऽरण्याद्दीनां तां नीतवानहम् ।।१५६।।
तत्र चालोक्य तरुणान्पुलिन्दान्सभयेन सा ।
मथुरानिकटं ग्रामं नीता नागस्थलं मया ।।१५७।।

चूँकि तुम्हें देवी के सम्मुख बलिदान के लिए निश्चित किया गया है, इसीलिए अच्छे भोजन और वस्त्रों से तुम्हारा सत्कार किया जा रहा है ।।१४३।।

यदि तुम मानो, तो तुम्हारी मुक्ति का एक उपाय है। वह यह कि इस भिल्लराज की सुन्दरी नाम की एक कन्या है ।।१४४।।

वह तुम्हें देख अत्यन्त कामातुर हो रही है। मेरी उस सहेली को यदि तुम पत्नी बना लो, तो तुम्हारा कल्याण होगा ।।१४५।।

श्रीदत्त ने भी उसके इस प्रस्ताव को स्वीकर कर गान्धर्व विधि से उस भिल्लराज की कन्या के साथ गुप्त विवाह कर उसे पत्नी बना लिया ।।१४६।।

वह सुन्दरी प्रतिदिन रात में श्रीदत्त के बन्धन खोल देती थी, इस प्रकार कुछ दिनों में वह गर्भवती हो गई ।।१४७।।

कुछ समय के अनन्तर सुन्दरी की माता ने मोचनिका से सब समाचार जान लिया और वह दामाद के स्नेह से बोली—बेटा! श्रीचण्डनामक सुन्दरी का पिता अति क्रोधी है, वह तुम्हें छोड़ेगा नहीं, अतः तुम जाओ, किन्तु सुन्दरी को मत भूलना ।।१४८-१४९।।

ऐसा कहकर सास के द्वारा कैद से छुड़ाया गया श्रीदत्त, भिल्लराज के हाथ लगे अपने खड्ग के लिए सुन्दरी को समझाकर, चिन्ता से आक्रान्तहृदय होकर, मृगांकवती का पता लगाने के लिए फिर उसी विन्ध्यारण्य में गया ।।१५०-१५१।।

चलने के समय शुभ शकुनों को देखकर वह फिर उसी स्थान पर आ गया, जहाँ घोड़ा मरा था और जहाँ मृगांकवती खो गई थी ।।१५२।।

वहाँ पर एक व्याध (बहेलिये) को सामने आते हुए देखकर श्रीदत्त ने उससे मृगनयनी का समाचार पूछा ।।१५३।।

'क्या तुम्हीं श्रीदत्त हो?' बहेलिये के इस प्रकार पूछने पर श्रीदत्त ने लम्बी साँस लेते हुए कहा 'हाँ, मैं ही वह अभागा हूँ' ।।१५४।।

तब बहेलिये ने कहा, 'मित्र, बताता हूँ, सुनो। तुम्हारा नाम लेकर विलाप करती हुई तुम्हारी भार्या को इधर-उधर भटकते हुए देखा, तो मैंने उससे सारा समाचार जानकर और धीरज बँधाकर (समझा-बुझाकर) दयावश उसे मैं अपने गाँव ले गया ।।१५५-१५६।।

वहाँ गाँव में जवान भीलों को देखकर उनके भय से मैं उसे मथुरा के समीप नागस्थल नामक स्थान को ले गया ।।१५७।।

तत्र च स्थापिता गेहे स्थविरस्य द्विजन्मनः ।
विश्वदत्ताभिधानस्य न्यासीकृत्य सगौरवम् ॥१५८॥
ततश्चाहमिहायातो बुद्ध्वा त्वन्नाम तन्मुखात् ।
तामन्वेष्टं ततो गच्छ शीघ्रं नागस्थलं प्रति ॥१५९॥
इत्युक्तो लुब्धकेनाशु स श्रीदत्तस्ततो ययौ ।
तं च नागस्थलं प्रापदपरेद्युर्दिनात्यये ॥१६०॥
भवनं विश्वदत्तस्य प्रविश्याथ विलोक्य तम् ।
ययाचे देहि मे भार्यां लुब्धकस्थापितामिति ॥१६१॥
तच्छ्रुत्वा विश्वदत्तस्तं श्रीदत्तं निजगाद सः ।
मथुरायां सुहृन्मेऽस्ति ब्राह्मणो गुणिनां प्रियः ॥१६२॥
उपाध्यायश्च मन्त्री च शूरसेनस्य भूपतेः ।
तस्य हस्ते त्वदीया सा गृहिणी स्थापिता मया ॥१६३॥
अयं हि विजनो ग्रामो न तद्रक्षाक्षमो भवेत् ।
तत्प्रातस्तत्र गच्छ त्वमद्य विश्रम्यतामिह ॥१६४॥
इत्युक्तो विश्वदत्तेन स नीत्वात्रैव तां निशाम् ।
प्रातः प्रतस्थे प्रापच्च मथुरामपरे दिने ॥१६५॥
दीर्घाध्वमलिनस्तस्मिन्नगरे बहिरेव सः ।
स्नानं चक्रे परिश्रान्तो निर्मले दीर्घिकाजले ॥१६६॥
तत एवाम्बुमध्याच्च वस्त्रं चौरनिवेशितम् ।
प्राप्तवानञ्चलग्रन्थिबद्धहारमशङ्कितम् ॥१६७॥
अथ तद्वस्त्रमादाय स तं हारमलक्षयन् ।
प्रियां दिदृक्षुः श्रीदत्तो विवेश मथुरां पुरीम् ॥१६८॥
तत्र तत्प्रत्यभिज्ञाय वस्त्रं हारमवाप्य च ।
स चौर इत्यवष्टभ्य निन्ये नगररक्षिभिः ॥१६९॥
दर्शितश्च यथाभूतो नगराधिपतेश्च तैः ।
तेनाप्यावेदितो राज्ञे राजाप्यस्यादिशद् बधम् ॥१७०॥
ततो वध्यभुवं हन्तुं नीयमानं ददर्श तम् ।
सा मृगाङ्कवती दूरात् पश्चात्प्रहतडिण्डिमम् ॥१७१॥
सोऽयं मे नीयते भर्त्ता वधायेति ससम्भ्रमम् ।
सा गत्वा मन्त्रिमुख्यं तमब्रवीद्यद्गृहे स्थिता ॥१७२॥

वहाँ (नागस्थल में) मैंने उसे विश्वदत्त नामक वृद्ध ब्राह्मण के घर में गौरव के साथ धरोहर के रूप में रख दिया है। उसी से तुम्हारा नाम जानकर मैं तुम्हें ढूंढ़ने के लिए यहाँ आया हूँ' ॥१५८–१५९॥

बहेलिये से इस प्रकार कहा गया श्रीदत्त, शीघ्र ही वहाँ से चल पड़ा और दूसरे दिन सायंकाल नागस्थल पहुँच गया ॥१६०॥

वहाँ विश्वदत्त के घर जाकर और उससे मिलकर श्रीदत्त ने कहा कि 'बहेलिये द्वारा रखी गई मेरी भार्या मुझे दे दो' ॥१६१॥

यह सुनकर विश्वदत्त ने श्रीदत्त से कहा —'मथुरा में मेरा मित्र गुणग्राही ब्राह्मण है। वह उपाध्याय है और राजा शूरसेन का मन्त्री भी है। मैंने उसी के पास तुम्हारी पत्नी को रख दिया है ॥१६२–१६३॥

यह ग्राम निर्जन है, अतः यहाँ उसकी रक्षा सम्भव न थी। अब तुम प्रातःकाल वहाँ जाओ। आज यहीं विश्राम करो ॥१६४॥

विश्वदत्त से इस प्रकार कथित श्रीदत्त, उस रात को वहीं बिताकर दूसरे दिन प्रातःकाल मथुरा पहुँचा ॥१६५॥

लम्बे रास्ते के कारण मैला-कुचैला तथा थका हुआ श्रीदत्त नगर के बाहर ही ठहर गया और निर्मल बावली के जल में स्नान करने लगा ॥१६६॥

स्नान करते हुए उसे चोरों द्वारा बावली में छिपाये हुए कुछ वस्त्र मिले, जिनकी गाँठ में एक बहुमूल्य हार बँधा हुआ था। उसे श्रीदत्त ने नहीं देखा ॥१६७॥

उन कपड़ों को लेकर मृगांकवती से मिलने की इच्छा से श्रीदत्त ने मथुरा में प्रवेश किया ॥१६८॥

नगर में जाने पर सिपाहियों ने उन कपड़ों और उनकी गाँठ में बँधे हुए चोरी के हार को पाकर श्रीदत्त को पकड़ लिया और उसे सामान के सहित नगराधिपति के सामने उपस्थित किया ॥१६९॥

उसने (नगराधिपति ने) राजा से निवेदन किया और राजा ने, उसे (श्रीदत्त को) फाँसी के लिए सिपाहियों को आदेश दे दिया ॥१७०॥

पीछे-पीछे बज रही डुग-डुगी के साथ फाँसी के स्थान पर ले जाये जाते हुए श्रीदत्त को देखकर मृगांकवती ने राज्य के उस दूसरे मुख्यमन्त्री से, जिसके घर में वह ठहरी थी, जाकर कहा कि 'मेरा पति फाँसी पर लटकाने के लिए ले जाया जा रहा है' ॥१७१–१७२॥

निवार्य वधकान्सोऽथ मन्त्री विज्ञप्य भूपतिम् ।
श्रीदत्तं मोचयित्वा तं वधादानाययद् गृहम् ॥१७३॥
कथं सोऽयं पितृव्यो मे गत्वा देशान्तरं पुरा ।
इहैव दैवाद्विगतभयः प्राप्तोऽद्य मन्त्रिताम् ॥१७४॥
इति तं मन्त्रिणं सोऽथ श्रीदत्तस्तद्गृहागतः ।
प्रत्यभिज्ञातवान्पृष्ट्वा पपातास्य च पादयोः ॥१७५॥
सोऽपि तं प्रत्यभिज्ञाय भ्रातुः पुत्रं सविस्मयः ।
कण्ठे जग्राह सर्वं च वृत्तान्तं परिपृष्टवान् ॥१७६॥
ततस्तस्मै स निखिलं श्रीदत्तः स्वपितुर्वधात् ।
आरभ्य निजवृत्तान्तं पितृव्याय न्यवेदयत् ॥१७७॥
सोऽपि मुक्त्वाश्रु विजने भ्रातुः पुत्रं तमभ्यधात् ।
अधृतिं मा कृथाः पुत्र मम सिद्धा हि यक्षिणी ॥१७८॥
पञ्च वाजिसहस्राणि हेमकोटीश्च सप्त सा ।
प्रादान्मह्यमपुत्राय तत्तवैवाखिलं धनम् ॥१७९॥
इत्युक्त्वा स पितृव्यस्तां श्रीदत्तायार्पयत् प्रियाम् ।
श्रीदत्तोऽप्यात्तविभवस्तत्र तां परिणीतवान् ॥१८०॥
ततश्च तस्थौ तत्रैव सङ्गतः कान्तया तया ।
मृगाङ्कवत्या सानन्दो रात्र्येव कुमुदाकरः ॥१८१॥
बाहुशाल्यादिचिन्ता तु तस्याभूत्पूर्णसम्पदः ।
इन्दोः कलङ्कलेखेव हृदि मालिन्यदायिनी ॥१८२॥
एकदा स पितृव्यस्तं रहः श्रीदत्तमभ्यधात् ।
पुत्र राज्ञः सुतास्त्यस्य शूरसेनस्य कन्यका ॥१८३॥
मया चावन्तिदेशे सा नेया दातुं तदाज्ञया ।
तत्तेनैवापदेशेन हृत्वा तुभ्यं ददामि ताम् ॥१८४॥
ततस्तदनुगे प्राप्ते बले सति च मामके ।
यद् राज्यं ते श्रियादिष्टं तत्प्राप्स्यस्यचिरादिति ॥१८५॥
निश्चित्यैतच्च तां कन्यां गृहीत्वा ययतुस्ततः ।
श्रीदत्तस्तत्पितृव्यश्च ससैन्यौ सपरिग्रहौ ॥१८६॥
तनो विन्ध्याटवीमेतौ प्राप्तमात्रावतर्कितौ ।
चौरसेनातिमहती रुरोध शरवर्षिणी ॥१८७॥

उस मुख्यमन्त्री ने, अपनी आज्ञा से वधिकों को रोककर और राजा को सूचित करके उस श्रीदत्त को दण्ड से छुड़वाकर अपने घर बुला लिया ॥१७३॥

ये मेरे चाचा विगतभय, किसी समय घर से विदेश चले गये थे; वे ही आज दैवयोग से मथुरा-नरेश के मन्त्री हो गये हैं; ऐसा समझकर और उनसे पूछकर श्रीदत्त उनके चरणों पर गिर पड़ा ॥१७४॥

वह मन्त्री भी, अपने भतीजे को पहचानकर आश्चर्यचकित रह गया और उसे गले से लगा लिया। इसके पश्चात् उसने सारा समाचार पूछा ॥१७५॥

चाचा के पूछने पर श्रीदत्त ने पिता के वध से उस समय तक का सारा वृत्तान्त अपने चाचा को सुना दिया ॥१७६॥

चाचा ने अपने भाई की मृत्यु के समाचार पर आँसू बहाकर एकान्त में श्रीदत्त से कहा—'बेटा ! अधीर न हो। मुझे धनदा यक्षिणी सिद्ध है। उसने मुझे पाँच सहस्र घोड़े और सात करोड़ सोने की मुहरें दी हैं। मैं पुत्रहीन हूँ, अतः यह सब धन तुम्हारा ही है' ॥१७७–१७९॥

ऐसा कहकर चाचा ने भतीजे श्रीदत्त को वह सारा धन दे दिया। श्रीदत्तने भी धन पाकर वहीं मृगांकवती के साथ विवाह कर लिया ॥१८०॥

श्रीदत्त उस मृगांकवती पत्नी के साथ वहीं ठहर गया और रात्रि से कुमुदाकर के समान आनन्दित तथा प्रफुल्लित होने लगा ॥१८१॥

पूर्ण सम्पत्तिशाली श्रीदत्त के हृदय को बहुशाली आदि मित्रों की चिन्ता, चन्द्रमा में कलंकरेखा के समान मलिन करती थी ॥१८२॥

एक बार चाचा ने एकान्त में श्रीदत्त से कहा—'बेटा ! राजा शूरसेन की एक कन्या है। वह राजा की आज्ञा से मेरे द्वारा दान करने के लिए अवन्तिदेश (उज्जयिनी) में ले जाई जायगी। तो मैं उसी बहाने उसका हरण करके तुम्हें दे दूंगा' ॥१८३–१८४॥

ऐसा निश्चय करके चाचा विगतभय और भतीजे श्रीदत्त ने सेना और दहेज का सामान साथ लेकर उज्जयिनी को प्रस्थान किया ॥१८५॥

चाचा ने श्रीदत्त से कहा—'इस प्रकार उस राजा की सेना और मेरी सेना के प्राप्त होने पर तुम राज्य को प्राप्त करोगे; जैसा कि लक्ष्मी ने तुम्हारे लिए आदेश दिया है' ॥१८६॥

जब ये दोनों विन्ध्य पर्वत के जंगलों में पहुँचे, तब वहाँ लुटेरों की एक बड़ी सेना ने, बाणवर्षा करके उन्हें मार्ग में ही सहसा रोक दिया ॥१८७॥

प्रहारमूर्च्छितं बद्ध्वा श्रीदत्तं भग्नसैनिकम् ।
निन्युश्चौराः स्वपल्लीं ते स्वीकृत्य सकलं धनम् ॥१८८॥
ते च तं प्रापयामासुश्चण्डिकासद्म भीषणम् ।
उपहाराय घण्टानां नादैर्मृत्युरिवाह्वयत् ॥१८९॥
तत्रापश्यच्च तं पत्नी सा पल्लीपतिपुत्रिका ।
सुन्दरी द्रष्टुमायाता देवीं बालसुतान्विता ॥१९०॥
निषिद्धवत्या मध्यस्थान्दस्यूनानन्दपूर्णया ।
स श्रीदत्तस्तया साकं तन्मन्दिरमथाविशत् ॥१९१॥
तदैव पल्लीराज्यं तत्प्राप पित्रा यदर्पितम् ।
प्रागेवानन्यपुत्रेण सुन्दर्यै गच्छता दिवम् ॥१९२॥
तं च चौरसमाक्रान्तं सपितृव्यपरिच्छदम् ।
सकलत्रं च लेभेऽसौ तं खड्गं च मृगाङ्ककम् ॥१९३॥
तत्रैव शूरसेनस्य सुतां तां परिणीय च ।
श्रीदत्तोऽपि महान् राजा नगरे समपद्यत ॥१९४॥
प्रजिघाय स दूतांश्च ततः श्वशुरयोस्तयोः ।
बिम्बकेस्तस्य तस्यापि शूरसेनस्य भूपतेः ॥१९५॥
तमुपाजग्मतुस्तौ च सेनासमुदयान्वितौ ।
तं विज्ञायैव सम्बन्धं मुदा दुहितृवत्सलौ ॥१९६॥
तेऽपि रूढव्रणाः स्वस्थास्तद्वियुक्ता वयस्यकाः ।
बाहुशालिप्रभृतयस्तद्बुद्ध्वा तमुपाययुः ॥१९७॥
अथ श्वसुरसंयुक्तो गत्वा तं पितृघातिनम् ।
चक्रे विक्रमशक्तिं स वीरः क्रोधानलाहुतिम् ॥१९८॥
ततश्च साब्धिवलयां श्रीदत्तः प्राप्य मेदिनीम् ।
ननन्द विरहोत्तीर्णः स मृगाङ्कवतीसखः ॥१९९॥
इत्थं नरपते दीर्घवियोगव्यसनार्णवम् ।
तरन्ति च लभन्ते च कल्याणं धीरचेतसः ॥२००॥
इति सङ्गतकाच्छ्रुत्वा कथां स दयितोत्सुकः ।
तां निनाय निशां मार्गे सहस्रानीकभूपतिः ॥२०१॥
ततो मनोरथारूढः पुरः प्रहितमानसः ।
प्रातः सहस्रनीकोऽसौ प्रतस्थे स्वां प्रियां प्रति ॥२०२॥

चोरगण, आघात से बेहोश और भागे हुए सैनिकोंवाले अकेले श्रीदत्त को हाथ-पाँव बाँधकर सारे धन के साथ अपने गाँव ले गये ॥१८८॥

उस गाँव में ले जाकर उसे चण्डी के एक भीषण मन्दिर में पहुँचा दिया गया, जहाँ घण्टे अपने शब्दों से मानों उसकी मृत्यु का आह्वान कर रहे थे ॥१८९॥

वहाँ पर भिल्लराज की पुत्री सुन्दरी भी छोटे बच्चों को गोद में लेकर उस बलिदान का दृश्य देखने आई थी। जो पिता की मृत्यु के बाद वहाँ शासन करती थी ॥१९०॥

आनन्द-भरी सुन्दरी ने, उन डाकुओं को बलिदान करने से रोक दिया और श्रीदत्त भी आनन्दपूर्वक उस सुन्दरी के घर चला गया ॥१९१॥

वहाँ जाकर उसने उस भिल्लपाली का राज्य प्राप्त किया; जिसे सुन्दरी के पिता ने अपनी मृत्यु के समय अन्य सन्तान न होने के कारण एकमात्र उत्तराधिकारिणी अपनी कन्या सुन्दरी को दिया था ॥१९२॥

चोरों से आक्रान्त वाचा और सेना-सामग्री से युक्त सपत्नीक श्रीदत्त ने वहाँ पर अपने मृगांक नामक खड्ग को भी प्राप्त कर लिया ॥१९३॥

श्रीदत्त वहीं (भिल्लपल्ली में) शूरसेन की उस कन्या से विवाह करके उस नगर में महान् राजा बन गया ॥१९४॥

श्रीदत्त ने, राजा बिम्बकि और राजा शूरसेन दोनों न अपने श्वसुरों के पास दूत भेज दिये। फलतः, अपनी-अपनी कन्याओं के स्नेह के कारण वे दोनों राजा अपनी-अपनी सेना-सामग्री के साथ विवाह-सम्बन्ध के लिए वहाँ आये ॥१९५-१९६॥

उधर युद्ध के कारण बिछुड़े हुए बाहुशाली आदि उसके मित्र भी घावों के भर जाने पर स्वस्थ होकर उसके समीप आ गये थे ॥१९७॥

तदनन्तर, ससुरों और उनकी सेनाओं के सहित श्रीदत्त ने, अपने पिता के हत्यारे एवं विरोधी पाटलिपुत्र के राजा विक्रमशक्ति को अपनी कोपाग्नि की आहुति बना डाला। अर्थात्, उसे मारकर अपना बदला चुका लिया ॥१९८॥

इसके पश्चात् मृगांकवती के साथ आसमुद्र पृथ्वी का राज्य प्राप्त कर श्रीदत्त सम्राट् बन गया और आनन्द-भोग करने लगा ॥१९९॥

राजा सहस्रानीक को कहानी सुनानेवाले संगतक ने इस कथा को सुनाकर कहा—'राजन्! धैर्यशील व्यक्ति, इस प्रकार वियोगजन्य कष्ट के समुद्र को पार करते हुए अभीष्ट को प्राप्त करते हैं ॥२००॥

प्रिया-समागम के लिए उत्सुक राजा सहस्रानीक ने उस रात को अत्यन्त उत्सुकता के साथ बिताया ॥२०१॥

प्रातःकाल ही मनोरथ पर चढ़े हुए और मन को आगे से ही भेजे हुए राजा सहस्रानीक ने अपनी प्रिया के प्रति प्रस्थान किया ॥२०२॥

दिनैः कतिपयैस्तं च जमदग्नेरवाप सः ।
मृगैरपि परित्यक्तचापलं शान्तमाश्रमम् ॥२०३॥
ददर्श कल्पितातिथ्यं जमदग्निं च तत्र तम् ।
प्रणतः पावनालोकमाकारं तपसामिव ॥२०४॥
स च तस्मै मुनी राज्ञे सपुत्रां तां समर्पयत् ।
चिरान्मृगावतीं राज्ञीं सानन्दामिव निर्वृतिम् ॥२०५॥
शापान्ते तच्चं दम्पत्योस्तयोरन्योन्यदर्शनम् ।
आनन्दबाष्पपूर्णायां ववर्षेवामृतं दृशि ॥२०६॥
तत्पूर्वदर्शनं पुत्रमालिङ्ग्योदयनं स तम् ।
मुमोच नृपतिः कृच्छ्राद्रोमाञ्चेनेव कीलितम् ॥२०७॥
ततः सोदयनां राज्ञी तामादाय मृगावतीम् ।
आ तपोवनमुद्बाष्पैरनुयातो मृगैरपि ॥२०८॥
आमन्त्र्य जमदग्निं च प्रतस्थे स्वां पुरीं प्रति ।
प्रशान्तादाश्रमात्तस्मात्सहस्रानीकभूपतिः ॥२०९॥
शृण्वन्विरहवृत्तानि प्रियाया वर्णयंश्च सः ।
उत्तोरणपताकां तां कौशाम्बीं प्राप्तवान् क्रमात् ॥२१०॥
समं च पत्नीपुत्राभ्यां प्रविवेश स तां पुरीम् ।
पीयमान इवोत्पक्ष्मराजिभिः पौरलोचनैः ॥२११॥
अभ्यषिञ्चच्च तं तत्र झगित्युदयनं सुतम् ।
यौवराज्ये महाराजः प्रेर्यमाणः स तद्गुणैः ॥२१२॥
स्वमन्त्रिपुत्रांस्तस्मै स मन्त्रहेतोः समर्पयत् ।
वसन्तकरुमण्वन्तौ तथा यौगन्धरायणम् ॥२१३॥
एभिर्मन्त्रिवरैरेष कृत्स्नां प्राप्स्यसि मेदिनीम् ।
इति वागुदभूद्दिव्या पुष्पवृष्ट्या समं तदा ॥२१४॥
ततः सुते न्यस्तभरः स राजा चिरकाङ्क्षितम् ।
जीवलोकसुखं भेजे मृगावत्या तया सह ॥२१५॥
अथ तस्य जरां प्रशान्तिदूतीमुपयातां क्षितिपस्य कर्णमूलम् ।
सहसैव विलोक्य जातकोपा बत दूरे विषयस्पृहा बभूव ॥२१६॥

कुछ दिनों के बाद वह शान्त मृगोंवाले प्रशान्त पावन जमदग्नि ऋषि के आश्रम में पहुँचा ॥२०३॥

वहाँ उसने सस्नेह अतिथि-सत्कार करते हुए, तपस्या के मूर्त्तिमान् आकार एवं पवित्र-दर्शन जमदग्नि ऋषि के प्रणामपूर्वक दर्शन किये ॥२०४॥

आश्रम में, मुनि जमदग्नि ने, पुत्र-सहित आनन्दित एवं सुख की मूर्त्ति रानी मृगावती को राजा के लिए अर्पण कर दिया ॥२०५॥

शाप का अन्त होने पर (चौदह वर्षों के पश्चात्) उन दोनों राजा और रानी का परस्पर दर्शन, आनन्द के आँसुओं से छलछलाती आँखों में मानों अमृत-वर्षा कर रहा था ॥२०६॥

प्रथम दर्शन के कारण उदयन को हृदय से लगाये हुए राजा, रोमांच के कारण शरीर से जड़े हुए के समान उसे कठिनता से दूर कर सका ॥२०७॥

तपोवन के अन्त तक आँसू बहाते हुए मृगों से अनुसरण किया गया राजा, उदयन और मृगावती को साथ लेकर जमदग्नि ऋषि से आज्ञा प्राप्त कर अपनी नगरी की ओर चला। आश्रम से चलकर प्रिया को अपनी विरह-गाथा सुनाता हुआ राजा मानों नागरिक लोगों के विकसित नेत्रों से पान किया जाता हुआ क्रमशः कौशाम्बी नगरी में पहुँचा ॥२०८—२१०॥

राजधानी में पहुँचते ही सर्वप्रथम उसने उदयन को युवराज-पद पर अभिषिक्त किया। अपने मन्त्रियों के पुत्रों को उसने सम्मतिकार के रूप में नियुक्त कर दिया। उस समय उदयन के अभिषेक के समय आकाश से पुष्पवृष्टि के साथ यह वाणी हुई कि 'वसन्तक, रुमण्वान् और यौगन्धरायण—इन मुख्य मन्त्रियों की सहायता से सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य करोगे' ॥२११-२१४॥

तदनन्तर, युवराज उदयन पर राज्य का भार देकर राजा चिरकाल से अभिलषित सांसारिक सुखों का मृगावती के साथ उपभोग करने लगा ॥२१५॥

कुछ समय आनन्द का उपभोग कर लेने पर, शान्ति की दूती वृद्धावस्था के कान के समीप आ जाने पर, उसे देखकर राजा की विषय-वासना, मानों क्रुध[1] होकर उससे दूर हो गई ॥२१६॥

---

१. सती स्त्री अपने पति को अन्य स्त्री में अनुरक्त देखकर जो ईर्ष्या करती है, उसे मान, प्रणयकोप या सौतियाडाह कहते हैं।—अनु०

ततस्तं कल्याणं तनयमनुरक्तप्रकृतिकं
निवेश्य स्वे •राज्ये जगदुदयहेतोरुदयनम् ।
सहस्रानीकोऽसौ सचिवसहितः सप्रियतमो
महाप्रस्थानाय क्षितिपतिरगच्छद्धिमगिरिम् ।।२१७।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
कथामुखलम्बके द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

ततः स वत्सराज्यं च प्राप्य पित्रा समर्पितम् ।
कौशाम्ब्यवस्थितः सम्यक्छशासोदयनः प्रजाः ।।१।।
यौगन्धरायणाद्येषु भरं विन्यस्य मन्त्रिषु ।
बभूव स शनै राजा सुखेष्वेकान्ततत्परः ।।२।।
सदा सिषेवे मृगयां वीणां घोषवतीं च ताम् ।
दत्तां वासुकिना पूर्वं नक्तन्दिनमवादयत् ।।३।।
तत्तन्त्रीकलनिर्ह्लादमोहमन्त्रवशीकृतान् ।
आनिनाय च संयम्य सदा मत्तान् वनद्विपान् ।।४।।
स वारनारीवक्त्रेन्दुप्रतिमालङ्कृतां सुराम् ।
मन्त्रिणां च मुखच्छायां वत्सराजः समं पपौ ।।५।।
कुलरूपानुरूपा मे भार्या क्वापि न विद्यते ।
एका वासवदत्ताख्या कन्यका श्रूयते परम् ।।६।।
कथं प्राप्येत सा चेति चिन्तामेकामुवाह सः ।
सोऽपि चण्डमहासेन उज्जयिन्यामचिन्तयत् ।।७।।
तुल्यो मद्दुहितुर्भर्त्ता जगत्यस्मिन्न विद्यते ।
अस्ति चोदयनो नाम विपक्षः स च मे सदा ।।८।।
तत्कथं नाम जामाता वश्यश्च स भवेन्मम ।
उपायस्त्वेक एवास्ति यदटव्यां भ्रमत्यसौ ।।९।।
एकाकी द्विरदान्बध्नन्मृगयाव्यसनी नृपः ।
तेन च्छिद्रेण तं युक्त्यावष्टभ्यानाययाम्यहम् ।।१०।।
गान्धर्वज्ञस्य तस्यैतां सुतां शिष्यीकरोमि च ।
ततश्चास्यां स्वयं तस्य चक्षुः स्निह्येदसंशयम् ।।११।।
एवं स मम जामाता वश्यश्च नियतं भवेत् ।
नान्योऽस्त्युपायः कोऽप्यत्र येन वश्यो भवेच्च सः ।।१२।।

तदनन्तर, कल्याणकारी एवं अनुरक्त प्रजावाले संसार के उदय के लिए उत्पन्न अपने पुत्र उदयन को राज्य पर बैठाकर राजा सहस्रानीक, सचिवों और महारानी के साथ महाप्रस्थान के लिए हिमाचल की ओर चला गया ।।२१७।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के द्वितीय लम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त ।

तृतीय तरंग

राजा उदयन की कथा

सहस्रानीक के महाप्रस्थान के लिए हिमालय की ओर चले जाने पर, राजा उदयन, वत्स-प्रदेश का शासन प्राप्त करके, राजधानी कौशाम्बी में रहकर सुखपूर्वक प्रजा का शासन करने लगा ।।१।।

राजा उदयन यौगन्धरायण, रुमण्वान् आदि मन्त्रियों पर शासन-भार छोड़कर एकमात्र आनन्द लेने में तल्लीन हो गया ।।२।।

राजा के सुख-साधनों में वासुकि द्वारा बाल्यकाल में दी हुई घोषवती वीणा ही प्रमुख साधन के रूप में थी, जिसे वह दिन-रात बजाया करता था ।।३।।

राजा उदयन, वीणा के तारों के मधुर स्वर-रूपी मोहन-मन्त्र से, मदोन्मत्त जंगली हाथियों को वश में कर और बाँधकर ले आता था, यही उसका एक विनोद था ।।४।।

वह वत्सराज उदयन, वेश्याओं की मुखचन्द्र की प्रतिमाओं से सुशोभित मदिरा और मन्त्रियों की मुखकान्ति को साथ-साथ पान करता था ।।५।।

राजा उदयन को केवल एकमात्र यही चिन्ता थी कि मेरे वंश के अनुसार उच्च वंश की कन्या कहीं नहीं दीखती, केवल वासवदत्ता नाम की एक प्रसिद्ध कन्या सुनी जाती है ।।६।।

'वह कैसे मिले'—बस, यही एकमात्र चिन्ता उसके मन में थी। उधर वासवदत्ता के पिता उज्जैन के राजा चण्डमहासेन को भी यह चिन्ता सता रही थी ।।७।।

कि मेरी अनुपम सुन्दरी और गुणवती कन्या के योग्य वर संसार में मिलेगा नहीं। केवल एक योग्य वर उदयन है; किन्तु वह मेरा सदा का विरोधी है।।८।।

उसके लिए एक उपाय हो कि जिससे वह मेरे वश में आ जाय और मेरा जामाता भी बन जाय। उदयन प्रायः अकेला ही जंगलों में वीणा बजाकर हाथियों को पकड़ता फिरता है ।।९।।

वह शिकार का व्यसनी है, अतः अवसर ढूँढ़कर 'किसी युक्ति से उसे जंगल से पकड़वाकर वश में किया जाय और यहाँ लाया जाय ।।१०।।

वह संगीत-शास्त्र का विशेषज्ञ है। अतः, अपनी कन्या वासवदत्ता को उसकी संगीत-शिष्या बना दूँगा। इस प्रकार, वासवदत्ता को देखकर वह निस्सन्देह उसका अनुरागी बन जायगा। फलतः, वह मेरा वशीभूत और जामाता बन जायगा ।।११-१२।।

इति सञ्चिन्त्य तत्सिद्ध्यै स गत्वा चण्डिकागृहम् ।
चण्डीमभ्यर्च्य तुष्टाव चक्रेऽस्या उपयाचितम् ॥१३॥

एतत्सम्पत्स्यते राजन्नचिराद् वाञ्छितं तव ।
इति शुश्राव तत्रासावशरीरां सरस्वतीम् ॥१४॥

ततस्तुष्टः समागत्य बुद्धदत्तेन मन्त्रिणा ।
सह चण्डमहासेनस्तमेवार्थमचिन्तयत् ॥१५॥

मानोद्धतो वीतलोभो रक्तभृत्यो महाबलः ।
असाध्योऽपि स सामादेः साम्ना तावन्निरूप्यताम् ॥१६॥

इति सम्मन्त्र्य स नृपो दूतमेकं समादिशत् ।
गच्छ मद्वचनाद् ब्रूहि वत्सराजमिदं वचः ॥१७॥

मत्पुत्री तव गान्धर्वे शिष्या भवितुमिच्छति ।
स्नेहस्तेऽस्मासु चेत्तत्वं तामिहैवैत्य शिक्षय ॥१८॥

इत्युक्त्वा प्रेषितस्तेन दूतो गत्वा न्यवेदयत् ।
कौशाम्ब्यां वत्सराजाय सन्देशं तं तथैव सः ॥१९॥

वत्सराजोऽपि तच्छ्रुत्वा दूतादनुचितं वचः ।
यौगन्धरायणस्येदमेकान्ते मन्त्रिणोऽब्रवीत् ॥२०॥

किमेतत्तेन सन्दिष्टं सदर्पं मम भूभुजा ।
एवं सन्दिशतस्तस्य कोऽभिप्रायो दुरात्मनः ॥२१॥

इत्युक्तो वत्सराजेन तदा यौगन्धरायणः ।
उवाचैनं महामन्त्री स स्वामीहितनिष्ठुरः[1] ॥२२॥

भुवि व्यसनिताख्यातिः प्ररूढा ते लतेव या ।
इदं तस्या महाराज! कषायकटुकं फलम् ॥२३॥

स हि त्वां रागिणं मत्वा कन्यारत्नेन लोभयन् ।
नीत्वा चण्डमहासेनो बद्ध्वा स्वीकर्तुमिच्छति ॥२४॥

तन्मुञ्च व्यसनानि त्वं सुखेन हि परैर्नृपाः ।
सीदन्तस्तेषु गृह्यन्ते खातेष्विव वनद्विपाः ॥२५॥

इत्युक्तो मन्त्रिणा धीरः प्रतिदूतं व्यसर्जयत् ।
स वत्सराजस्तं चण्डमहासेननृपं प्रति ॥२६॥

सन्दिदेश च यद्यस्ति वाञ्छा मच्छिष्यतां प्रति ।
त्वत्पुत्र्यास्तदिहैवैषा भवता प्रेष्यतामिति ॥२७॥

---

१. स्वामिनः हिते कल्याणे निष्ठुरः कठिनः, सुदृढ इति भावः, यौगन्धरायणविशेषणमिदम् ।

ऐसा सोचकर चण्डमहासेन, उस कार्य की सिद्धि के लिए चण्डिका के मन्दिर में गया और उसने पूजा तथा स्तुति करके मन्नत मानी ॥१३॥

चण्डिका-मन्दिर में राजा ने आकाशवाणी सुनी कि 'हे राजन् ! तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण होगी' ॥१४॥

प्रसन्नचित्त राजा ने चण्डिका-मन्दिर से लौटकर बुद्धदत्त नामक मन्त्री से इस विषय पर विचार-विमर्श किया ॥१५॥

राजा ने कहा—'राजा उदयन उग्र आत्माभिमानी, निर्लोभ, अनुरक्त अनुचरोंवाला और महाबल (सेना) वान् है ! वह साम, दाम, भेद, दण्ड आदि नीतियों के वश में आनेवाला नहीं है, उसे शान्ति से ही वश में लाना चाहिए ॥१६॥

मन्त्री के साथ इस प्रकार विचार करके राजा ने एक दूत को राजा उदयन के पास भेजा और यह सन्देश दिया कि तुम मेरे कथनानुसार वत्सराज के पास जाकर यह कहो कि 'मेरी पुत्री तुमसे संगीत-विद्या सीखना चाहती है। यदि तुम्हें हमारे प्रति स्नेह है, तो तुम उसे यहाँ आकर शिक्षा दो' ॥१७-१८॥

इस प्रकार, उस सन्देश के साथ भेजे हुए दूत ने कौशाम्बी नगरी में जाकर अपने स्वामी का सन्देश वत्सराज उदयन से कह सुनाया ॥१९॥

उदयन ने दूत से उज्जयिनी-नरेश के इस अनुचित सन्देश को सुनकर एकान्त में मन्त्री यौगन्धरायण से कहा ॥२०॥

'इस चण्डसेन ने मुझे यह कैसा साभिमान सन्देश भेजा है। ऐसा सन्देश देते हुए उस दुष्ट का क्या अभिप्राय है'। वत्सराज के ऐसा कहने पर स्वामी के हित सुदृढ और सतर्क यौगन्धरायण मन्त्री ने राजा से कहा ॥२१-२२॥

'महाराज ! संसार में तुम्हारे अतिव्यसनी होने की प्रसिद्धि, जो लता के समान फैली है; उसी लता के ये कड़ुए और कसैले फल हैं। वह तुम्हें प्रेमी-हृदय समझकर अपनी सुन्दरी कन्या के प्रलोभन में फँसाकर और बन्दी बनाकर जामाता बनाना चाहता है। इसलिए महाराज ! अब तुम हाथियों के शिकार का यह बुरा व्यसन छोड़ दो। जिस प्रकार गड्ढों में हाथी फँसाये जाते हैं, उसी प्रकार व्यसनी राजा, शत्रुओं द्वारा व्यसनो के गड्ढों में फँसाये जाते हैं' ॥२३-२५॥

मन्त्री की यह बात सुनकर धैर्यशाली राजा ने चण्डमहासेन के प्रति अपनी ओर से दूत भेजा ॥२६॥

और उसके द्वारा यह सन्देश भेजा कि 'यदि तुम्हारी इच्छा अपनी पुत्री को मेरी शिष्या बनाने की है, तो उसे यहीं मेरे पास भेज दो' ॥२७॥

एवं कृत्वा च सचिवान् वत्सराजो जगाद सः ।
यामि चण्डमहासेनमिह बद्ध्वानयामि तम् ॥२८॥
तच्छ्रुत्वा तमुवाचाग्र्यो मन्त्री यौगन्धरायणः ।
न चैतच्छक्यते राजन् कर्त्तुं नैव च युज्यते ॥२९॥
स हि प्रभाववान् राजा स्वीकार्यश्च तव प्रभो ।
तथा च तद्गतं सर्वं शृण्विदं कथयामि ते ॥३०॥

राज्ञश्चण्डमहासेनस्य कथा

अस्तीहोज्जयिनी नाम नगरी भूषणं भुवः ।
हसन्तीव सुधाधौतैः प्रासादैरमरावतीम् ॥३१॥
यस्यां वसति विश्वेशो महाकालवपुः स्वयम् ।
शिथिलीकृतकैलासनिवासव्यसनो हरः ॥३२॥
तस्यां महेन्द्रवर्माख्यो राजाभूद्भूभृतां वरः ।
जयसेनाभिधानोऽस्य बभूव सदृशः सुतः ॥३३॥
जनमेजयस्य तस्याथ पुत्रोऽप्रतिमदोर्बलः ।
समुत्पन्नो महासेननामा नृपतिकुञ्जरः ॥३४॥
सोऽद्य राजा स्वराज्यं तत्पालयन्समचिन्तयत् ।
न मे खड्गोऽनुरूपोऽस्ति न च भार्या कुलोद्गता ॥३५॥
इति सञ्चिन्त्य स नृपश्चण्डिकागृहमागमत् ।
तत्रातिष्ठन्निराहारो देवीमाराधयंश्चिरम् ॥३६॥
उत्कृत्याथ स्वमांसानि होमकर्म स चाकरोत् ।
ततः प्रसन्ना साक्षात्सा देवी चण्डी तमभ्यधात् ॥३७॥
प्रीतास्मि ते गृहाणेमं पुत्र! खड्गोत्तमं मम ।
एतत्प्रभावाच्छत्रूणामजेयस्त्वं भविष्यसि ॥३८॥
किं चाङ्गारवती नाम कन्यां त्रैलोक्यसुन्दरीम् ।
अङ्गारकासुरसुतां शीघ्रं भार्यामवाप्स्यसि ॥३९॥
अतीव चण्डकर्मेह कृतं चैतद्यतस्त्वया ।
अतश्चण्डमहासेन इत्याख्या ते भविष्यति ॥४०॥
इत्युक्त्वा दत्तखड्गा सा देवी तस्य तिरोऽभवत् ।
राज्ञः सङ्कल्पसम्पत्तिदृष्टिराविरभूत्पुनः ॥४१॥

इस प्रकार, सन्देश भेजकर राजा उदयन ने मन्त्रियों से कहा--'मैं अभी जाता हूँ और दण्डमहासेन को बाँधकर लाता हूँ' ।।२८।।

राजा के विचार सुनकर मुख्यमन्त्री यौगन्धरायण बोला---ऐसा करना न तो सम्भव है और न उचित ही है। वह राजा प्रभावशाली है और उसे तुम्हें अपनाना भी चाहिए। इसके सम्बन्ध में विस्तार से कहता हूँ, सुनो' ।।२९-३०।।

राजा चण्डमहासेन की कथा

इस भूलोक में उज्जयिनी नाम की नगरी है, जो भूलोक का भूषण है, और सुध धवल प्रासाद-पंक्तियों से वह इन्द्रपुरी अमरावती को मानों हँसती है।।३१।।

जिस नगरी में महाकाल भगवान् शिव कैलास निवास छोड़कर रहा करते हैं ।।३२।।

इस नगरी में राजाओं में श्रेष्ठ महेन्द्रवर्मा नाम का राजा था और जयसेन नामक, उसी के समान, उसका पुत्र हुआ ।।३३।।

उस जयसेन का अनुपम बलशाली पुत्र महासेन हुआ ।।३४।।

उस महासेन ने, बहुत दिनों तक शासन करते हुए सोचा कि न तो मेरे पास योग्य खड्ग है और न उच्चकुलप्रसूत पत्नी ही है ।।३५।।

ऐसा सोचकर वह राजा महासेन, चण्डिका के मन्दिर में गया और निराहार रहकर चिरकाल तक उसकी (चण्डिका की) आराधना करने लगा ।।३६।।

अपना मांस काटकर जब उसने देवी के लिए हवन किया, तब देवी ने प्रसन्न होकर कहा—'पुत्र ! मैं तेरी आराधना से प्रसन्न हूँ । यह उत्तम खड्ग लो, इसके प्रभाव से शत्रु तुम्हें जीत न सकेंगे। तुम उनके लिए अजेय हो जाओगे और अंगारकासुर की अंगारवती नाम की कन्या है, जो त्रैलोक्य में एकमात्र सुन्दरी है, वह शीघ्र ही तुम्हारी पत्नी बनेगी। तुमने अपना मांस काटकर बलि देते हुए अत्यन्त चण्ड (उग्र) कार्य किया है। अतः, तुम्हारा नाम चण्डमहासेन होगा।' इतना कहकर और खड्ग प्रदान कर देवी अन्तर्धान हो गई और राजा भी मानसिक संकल्प की सफलता से हर्ष का अनुभव करने लगा ।।३७-४१।।

स खड्गो मत्तहस्तीन्द्रो नडागिरिरिति प्रभो।
द्वे तस्य रत्ने शक्रस्य कुलिशैरावणाविव ॥४२॥
तयोः प्रभावात् सुखितः कदाचित्सोऽथ भूपतिः।
अगाच्चण्डमहासेनो मृगयायै महाटवीम् ॥४३॥
अतिप्रमाणं तत्रैकं वाराहं घोरमैक्षत।
नैशं तम इवाकाण्डे दिवा पिण्डत्वमागतम् ॥४४॥
स वराहः शरैरस्य तीक्ष्णैरप्यकृतव्रणः।
आहत्य स्यन्दनं राज्ञः पलाय्य बिलमाविशत् ॥४५॥
राजापि रथमुत्सृज्य तमेवानुसरन् क्रुधा।
धनुर्द्वितीयस्तत्रैव प्राविशत्स बिलान्तरम् ॥४६॥
दूरं प्रविश्य चापश्यत् कान्तं पुरवरं महत्।
सविस्मयो न्यषीदच्च तदन्तर्दीर्घिकातटे ॥४७॥
तत्रस्थः कन्यकामेकामपश्यत् स्त्रीशतान्विताम्।
सञ्चरन्तीं स्मरस्येव धैर्यनिर्भेदिनीमिषुम् ॥४८॥
सापि प्रेमरसासारवर्षिणा चक्षुषा मुहुः।
स्नपयन्तीव राजानं शनकैस्तमुपागमत् ॥४९॥
कस्त्वं सुभग! कस्माच्च प्रविष्टोऽसीह साम्प्रतम्।
इत्युक्तः स तया राजा यथातत्त्वमवर्णयत् ॥५०॥
तच्छ्रुत्वा नेत्रयुगलात् सरागादश्रुसन्ततिम्।
हृदयाद्धीरतां चापि समं कन्या मुमोच सा ॥५१॥
का त्वं रोदिषि कस्माच्च पृष्टा तेनेति भूभृता।
सा तं प्रत्यब्रवीदेवं मन्मयाज्ञानुवर्त्तिनी ॥५२॥
यो वराहः प्रविष्टोऽत्र स दैत्योऽङ्गारकाभिधः।
अहं चैतस्य तनया नामाङ्गारवती नृप ॥५३॥
वज्रसारमयश्चासौ राजपुत्रीरिमाः शतम्।
आच्छिद्य राज्ञां गेहेभ्यः परिवारं व्यधान्मम ॥५४॥
किं चैष राक्षसीभूतः शापदोषान्महासुरः।
तृष्णाश्रमार्त्तश्चाद्य त्वां प्राप्यापि त्यक्तवानयम् ॥५५॥
इदानीं चास्तवाराहरूपो विश्राम्यति स्वयम्।
सुप्तोत्थितश्च नियतं त्वयि पापं समाचरेत् ॥५६॥

महाराज ! वह खड्ग और नडागिरि नाम का हाथी—ये दो उस राजा के उसी प्रकार के अमूल्य रत्न हैं, जिस प्रकार इन्द्र के पास वज्र और ऐरावत हाथी। इन दोनों के प्रभाव से अत्यन्त सुखी राजा चण्डमहासेन एक बार शिकार खेलने के लिए घोर जंगल में गया। वहाँ उसने सहसा बहुत लम्बे-चौड़े एक भीषण शूकर को देखा, जो दिन में सिमटे हुए रात के अन्धकार के गोले के समान प्रतीत हो रहा था ।।४२–४४।।

वह शूकर, राजा के तीक्ष्ण बाणों से विद्ध होकर भी आहत न हुआ और राजा के रथ को टक्कर मारकर एक बिल में जा घुसा ।।४५।।

राजा क्रोध से भरकर और रथ को छोड़कर उसका पीछा करते हुए धनुष के साथ उसी बिल में चला गया ।।४६।।

बिल में दूर तक जाकर राजा ने एक सुन्दर सजा हुआ नगर देखा। थका हुआ राजा, विश्राम के लिए वहाँ एक बावली के तट पर जा बैठा। राजा ने उस वापी में अनेक सहेलियों के साथ स्नान करती हुई एक सुन्दरी कन्या को देखा, जो धैर्य को नष्ट कर देनेवाले कामदेव के एक बाण के समान थी ।।४७-४८।।

वह सुन्दरी, अपनी दृष्टि से प्रेम-रस बरसाकर मानों राजा को स्नान कराती हुई और रोती हुई राजा के पास आई और बोली—'हे सौभाग्यशालिन् ! तुम कौन हो ? और इस समय यहाँ किसलिए आये हो ?' यह सुनकर राजा ने उससे सारी सच्ची बात कह दी। राजा की बातें सुनकर, उस सुन्दरी ने, आँखों से अविरल अश्रु-धारा और हृदय से धैर्य को एक साथ ही छोड़ दिया। 'तुम कौन हो और क्यों रो रही हो?' राजा के इस प्रकार पूछने पर कामदेव से प्रेरित वह बाला बोली—'जो शूकर इस बिल में घुसा है; वह अंगारकासुर नाम का दैत्य है और मैं अंगारवती नाम की उसकी कन्या हूँ। यह अंगारकासुर, वज्र के तत्त्व से बना हुआ अत्यन्त बलवान् है। जिन राजकुमारियों को तुम यहाँ देख रहे हो, इन्हें यह दैत्य, राजाओं के महलों से बलपूर्वक छीनकर लाया है। इन्हीं से इसने मेरा परिवार बनाया है ।।४९-५४।।

यह असुर, शाप के कारण राक्षस बन गया है। शाप के कारण ही प्यासा और थका हुआ इसने तुम्हें पाकर भी छोड़ दिया है। इस समय वह शूकर-रूप को त्याग कर सो रहा है।[1] सोकर उठते ही वह अवश्य तुम्हें मार डालेगा ।।५५-५६।।

---

१. कृत्रिम रूपवाले निद्रावस्था में अपने वास्तविक रूप में हो जाते हैं। यह प्राकृतिक नियम है।—अनु०

इति मे तव कल्याणमपश्यन्त्या गलन्त्यमी ।
सन्तापक्वथिताः प्राणा इव बाष्पाम्बुबिन्दवः ॥५७॥
इत्यङ्गारवतीवाक्यं श्रुत्वा राजा जगाद ताम् ।
यदि मय्यस्ति ते स्नेहस्तदिदं मद्वचः कुरु ॥५८॥
प्रबुद्धस्यास्य गत्वा त्वं रुदिहि स्वपितुः पुरः ।
ततश्च नियतं स त्वां पृच्छेदुद्वेगकारणम् ॥५९॥
त्वां चेन्निपातयेत्कश्चित्ततो मे का गतिर्भवेत् ।
एतद्दुःखं ममेत्येवं स च वाच्यस्त्वया ततः ॥६०॥
एवं कृतेऽस्ति कल्याणं तवापि च ममापि च ।
इत्युक्ता तेन सा राज्ञा तथेत्यङ्गीचकार तम् ॥६१॥
तं च च्छन्नमवस्थाप्य राजानं पापशङ्किनी ।
जगामासुरकन्या स प्रसुप्तस्यान्तिकं पितुः ॥६२॥
सोऽपि दैत्यः प्रबुबुधे प्रारेभे सा च रोदितुम् ।
किं पुत्रि ! रोदिषीत्येवं स च तामब्रवीत्ततः ॥६३॥
'हन्यात्त्वां कोऽपि चेत्तात ! तदा मे का गतिर्भवेत् ।
इत्यार्त्त्या तमवादीत्सा स विहस्य ततोऽब्रवीत् ॥६४॥
को मां व्यापादयेत्पुत्रि ! सर्वो वज्रमयो ह्यहम् ।
वामहस्तेऽस्ति मे छिद्रं तच्च चापेन रक्ष्यते ॥६५॥
इत्थमाश्वासयामास स दैत्यस्तां निजां सुताम् ।
एतच्च निखिलं तेन राज्ञा छन्नेन शुश्रुवे ॥६६॥
ततः क्षणादिवोत्थाय कृत्वा स्नानं स दानवः ।
कृतमौनः प्रववृत देवं पूजयितुं हरम् ॥६७॥
तत्कालं प्रकटीभूय स राजाकृष्टकार्मुकः ।
उपेत्य प्रसभं दैत्यं रणायाह्वयते स्म तम् ॥६८॥
सोऽप्युत्क्षिप्य करं वामं मौनस्थस्तस्य भूपतेः ।
प्रतीक्षस्व क्षणं तावदिति संज्ञां तदाकरोत् ॥६९॥
राजापि लघुहस्तत्वात्करे तत्रैव तत्क्षणम् ।
तस्मिन्मर्मणि तं दैत्यं पृषत्केन जघान सः ॥७०॥
स च मर्माहतो घोरं रावं कृत्वा महासुरः ।
अंगारकोऽपतद् भूमौ निर्यज्जीवो जगाद च ॥७१॥
तृषितोऽहं हतो येन स मामद्भिर्न तर्पयेत् ।
प्रत्यब्दं यदि तत्तस्य नश्येयुः पञ्च मन्त्रिणः ॥७२॥

इसी कारण आँखों से ये आंसू तुम्हारा कल्याण न देखकर शरीर से प्राणों के समान निकल रहे हैं' ॥५७॥

राजा अंगारवती की बात सुनकर उससे बोला—"यदि तुम्हें मुझपर स्नेह है, तो तुम मेरी एक बात मानो ॥५८॥

वह यह कि जब अंगारकासुर सोकर उठे, तब तुम उस पिता के सामने खूब रोग्रो, तब वह अवश्य ही तुम्हारे रोने का कारण पूछेगा ॥५६॥

तब तुम उससे कहना, मुझे यह दुःख हो रहा है कि 'यदि तुम्हें कोई मार डाले, तो मेरी क्या गति होगी ? यही दुःख मेरे रोने का कारण है' ॥६०॥

तुम्हारे ऐसा करने पर मेरा और तुम्हारा दोनों का कल्याण होगा ।" राजा से यह सुनकर अंगारवती ने उसी प्रकार करना स्वीकार कर लिया ॥६१॥

अंगारवती ने पिता के भय से राजा को पास ही छिपा दिया और स्वयं सोये हुए पिता के निकट चली गई ॥६२॥

वह दैत्य जब जगा, तब कन्या रोने लगी। तब दैत्य ने पूछा—'बेटी ! क्यों रो रही हो ?' तब अंगारवती ने कहा—'पिता ! यदि तुम्हें कोई मार डाले, तो मेरी क्या गति होगी। इसी वेदना से मैं रो रही हूँ।' उसके ऐसा कहने पर वह दैत्य हँसकर कहने लगा—॥६३–६४॥

'बेटी, मुझे कौन मारेगा। मेरा सारा शरीर, वज्र से बना है। केवल बाईं हथेली में एक छिद्र (दुर्बलता) है, उसकी रक्षा धनुष से हो जाती है।' इस प्रकार दैत्य ने पुत्री को धीरज बँधाया और यह सब पास ही छिपे हुए राजा ने सुन लिया ॥६५–६६॥

तदनन्तर, कुछ हीं समय बाद वह दानव उठा और स्नान करके शिवजी की पूजा-स्तुति करने लगा ॥६७॥

राजा ने भी उस समय प्रकट होकर दानव को युद्ध के लिए ललकारा ॥६८॥

मौन मुद्रा में बैठा हुआ वह दैत्य, बायें हाथ को ऊपर उठाकर 'जरा ठहरो', इस प्रकार राजा से संकेत करने लगा। राजा बाण-विद्या में सिद्धहस्त तो था ही, उसी समय उसने एक बाण दैत्य के मर्मस्थान (बाईं हथेली) पर मारा। वह दैत्य मर्मस्थान पर आघात होने के कारण भीषण चीत्कार के साथ प्राणों को त्यागता हुआ बोला ॥६६–७१॥

'मुझ प्यासे को जिसने मारा है, वह यदि प्रतिवर्ष पानी से मेरा तर्पण न करेगा, तो उसके पाँच मन्त्री मर जायेंगे' ॥७२॥

इत्युक्त्वा पञ्चतां प्राप स दैत्यः सोऽपि तत्सुताम् ।
तामङ्गारवतीं राजा गृहीत्वोज्जयिनीं ययौ ॥७३॥
परिणीतवतस्तस्य तत्र तां दैत्यकन्यकाम् ।
जातौ द्वौ तनयौ चण्डमहासेनस्य भूपतेः ॥७४॥
एको गोपालको नाम द्वितीयः पालकस्तथा ।
तयोरिन्द्रोत्सवं चासौ जातयोरकरोन्नृपः ॥७५॥
ततस्तं नृपतिं स्वप्ने तुष्टो वक्ति स्म वासवः ।
प्राप्स्यस्यनन्यसदृशीं मत्प्रसादात्सुतामिति ॥७६॥
ततः कालेन जातास्य राज्ञः कन्या तु तन्व्यथ ।
अपूर्वा निर्मिता धात्रा चन्द्रस्येवापरा तनुः ॥७७॥
कामदेवावतारोऽस्याः पुत्रो विद्याधराधिपः ।
भविष्यतीति तत्कालमुदभूद् भारती दिवः ॥७८॥
दत्ता मे वासवेनैषा तुष्टेनेति स भूपतिः ।
नाम्ना वासवदत्तां तां तनयामकरोत्तदा ॥७९॥
सा च तस्य पितुर्गेहे प्रदेया सम्प्रति स्थिता ।
प्राङ् मन्थादर्णवस्येव कमला कुक्षिकोटरे ॥८०॥
एवंविधप्रभावश्चण्डमहासेनभूपतिः स किल ।
देव न शक्यो जेतुं यथा तथा दुर्गदेशस्थः ॥८१॥
किं च स राजन्वाञ्छति दातुं तुभ्यं सदैव तनयां ताम् ।
प्रार्थयते तु स राजा निजपक्षमहोदयं मानी ॥८२॥
सा चावश्यं मन्ये वासवदत्ता त्वयैव परिणेया ।
स सपदि वासवदत्ताहृतहृदयो वत्सराजोऽभूत् ॥८३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
कथामुखलम्बके तृतीयस्तरङ्गः ।

चतुर्थस्तरङ्गः

अत्रान्तरे स वत्सेशप्रतिदूतस्तदब्रवीत् ।
गत्वा प्रतिवचश्चण्डमहासेनाय भूभृते ॥१॥

इस प्रकार कहते हुए अंगारकासुर ने प्राण छोड़ दिये और राजा भी उसकी पुत्री अंगारवती को लेकर उज्जैन चला गया ।।७३।।

उज्जैन में जाकर उस अंगारवती से विवाह करने पर चण्डमहासेन राजा के दो पुत्र उत्पन्न हुए, एक गोपालक और दूसरा पालक । राजा ने दोनों का जन्मोत्सव खूब धूमधाम के साथ मनाया ।।७४-७५।।

एक बार सोये हुए राजा को स्वप्न में इन्द्र ने कहा—'राजन् ! तुम मेरी कृपा से अपूर्व सुन्दरी कन्या प्राप्त करोगे' ।।७६।।

इस प्रकार, इन्द्र की कृपा से राजा को नवीन चन्द्रमा के समान सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई । उसके उत्पन्न होते ही आकाशवाणी हुई कि इस कन्या के गर्भ से कामदेव का अवतार होगा, जो सब विद्याधरों का चक्रवर्त्ती होगा ।।७७-७८।।

राजा ने प्रसन्न होकर उस कन्या का नाम इसीलिए वासवदत्ता रखा कि उसे वह वासव, अर्थात् इन्द्र के प्रसाद से प्राप्त हुई थी ।।७९।।

वह कन्या, इस समय राजा के भवन में उसी प्रकार निवास कर रही है, जिस प्रकार मन्थन से पहले समुद्र-गर्भ में लक्ष्मी निवास करती थी ।।८०।।

यौगन्धरायण ने कहा—'महाराज! वह उज्जैन का महाराजा चण्डमहासेन इस प्रकार सुदृढ दुर्ग में स्थित महाबलवान् है । वह सहज में ही नहीं जीता जा सकता । साथ ही, राजन् ! वह स्वयं ही तुम्हें कन्या देना चाहता है, किन्तु अत्यन्त आत्माभिमानी होने के करण अपने पक्ष को ऊँचा रखना भी चाहता है ।।८१-८२।।

इसलिए, उस वासवदत्ता से तुम्हें अवश्य ही विवाह करना चाहिए ।' राजा उदयन मन्त्री यौगन्धरायण की बातें सुनकर वासवदत्ता के प्रति अत्यन्त आकृष्ट होकर आत्मविस्मृत-सा हो गया ।।८३।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथामुखलम्बक का तृतीय तरंग समाप्त ।

चतुर्थ तरंग

वत्सराज उदयन की कथा (क्रमशः)

इसी बीच वत्सराज के भेजे हुए दूत ने उसका प्रतिसन्देश चण्डमहासेन के पास पहुँचा दिया ।।१।।

सोऽपि चण्डमहासेनस्तच्छ्रुत्वैव व्यचिन्तयत् ।
स तावदिह नायाति मानी वत्सेश्वरो भृशम् ॥२॥
कन्या हि तत्र न प्रेष्या भवेदेवं हि लाघवम् ।
तस्माद् बद्ध्वैव तं युक्त्या नृपमानाययाम्यहम् ॥३॥
इति सञ्चिन्त्य सम्मन्त्र्य स राजा मन्त्रिभिः सह ।
अकारयत्स्वसदृशं महान्तं यन्त्रहस्तिनम् ॥४॥
तं चान्तर्वीरपुरुषैः कृत्वा छन्नैरधिष्ठितम् ।
विन्ध्याटव्यां स निदधे राजा यन्त्रमयं गजम् ॥५॥
तत्र तं चारपुरुषाः पश्यन्ति स्म विदूरतः ।
गजबन्धरसासक्तवत्सराजोपजीविनः ॥६॥
ते च त्वरितमागत्य वत्सराजं व्यजिज्ञपन् ।
देव दृष्टो गजोऽस्माभिरेको विन्ध्यवने भ्रमन् ॥७॥
अस्मिन्नियति भूलोके नैव योऽन्यत्र दृश्यते ।
वर्ष्मणा व्याप्तगगनो विन्ध्याद्रिरिव जङ्गमः ॥८॥
ततश्चारवचः श्रुत्वा वत्सराजो जहर्ष सः ।
तेभ्यः सुवर्णलक्षं च प्रददौ पारितोषिकम् ॥९॥
तं चेद् गजेन्द्रं प्राप्स्यामि प्रतिमल्लं नडागिरेः ।
ततश्चण्डमहासेनो वश्यो भवति मे ध्रुवम् ॥१०॥
ततो वासवदत्तां तां स स्वयं मे प्रयच्छति ।
इति सञ्चिन्तयन्सोऽथ राजा तामनयन्निशाम् ॥११॥
प्रातश्च मन्त्रिवचनं न्यक्कृत्वा गजतृष्णया ।
पुरस्कृत्यैव तांश्चारान्ययौ विन्ध्याटवीं प्रति ॥१२॥
प्रस्थानलग्नस्य फलं कन्यालाभं सबन्धनम् ।
यदूचुर्गणकास्तस्य तत्स नैव व्यचारयत् ॥१३॥
प्राप्य विन्ध्याटवीं तस्य गजस्य क्षोभकाङ्क्षया ।
वत्सराजः स सैन्यानि दूरादेव न्यवारयत् ॥१४॥
चारमात्रसहायस्तु वीणां घोषवतीं दधत् ।
निजव्यसनविस्तीर्णां तां विवेश महाटवीम् ॥१५॥
विन्ध्यस्य दक्षिणे पार्श्वे दूराच्चारैः प्रदर्शितम् ।
गजं सत्यगजाभासं तं ददर्श स भूपतिः ॥१६॥

उदयन के सन्देश को सुनकर चण्डमहासेन ने सोचा—-कि वह आत्माभिमानी वत्सराज उदयन यहाँ आना नहीं चाहता। मैं भी कन्या को उसके यहाँ नहीं भेज सकता। इसमें मेरी लघुता होगी। इसीलिए चतुराई से कैद कर ही उसे यहाँ बुलाता हूँ—ऐसा सोचकर चण्डमहासेम ने मन्त्रियों से मन्त्रणा करके अपने हाथी नडागिरि के समान ही एक यन्त्रमय हाथी बनवाया। उसके पेट में योग्य योद्धाओं को छिपाकर उसे विन्ध्याचल के घोर जंगल में रखवा दिया ॥२—५॥

राजा उदयन के शिकारी भृत्यों ने जंगल में घूमते हुए उस यन्त्र-हस्ती को दूर से देखा और राजा उदयन से निवेदन किया—'महाराज, हमने विन्ध्यारण्य में घूमता हुआ एक महान् हाथी देखा है। ऐसा हाथी इस विशाल भूमण्डल में नहीं देखा गया। लम्बे-चौड़े एवं विशालकाय वह जंगम विन्ध्य पर्वत के समान आकाश में व्याप्त हो रहा है'। शिकारी गुप्तचरों की बात सुनकर राजा उदयन, अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने उन्हें सुवर्ण-मुद्राओं के पुरस्कार देकर विदा किया ॥६—९॥

और सोचा कि 'मैं नडागिरि के समान उस हाथी को यदि प्राप्त कर लूँगा, तो चण्डमहासेन अवश्य मेरे वश में आयगा और स्वयं ही मुझे वासवदत्ता को प्रदान करेगा।' इस प्रकार, सोचते हुए राजा ने किसी प्रकार रात्रि व्यतीत की ॥१०-११॥

प्रातःकाल उठकर मन्त्रियों की बात न मानकर राजा उदयन ने हाथी के लोभ में उन शिकारी गुप्तचरों को आगे करके जंगल में प्रस्थान किया। उसके ज्योतिषियों ने उसकी मृगया-यात्रा का फल बताया था कि कन्या-लाभ तो होगा, किन्तु बन्धन (कैद) के साथ। इस बात पर भी उसने ध्यान नहीं दिया ॥१२-१३॥

विन्ध्यारण्य में पहुँचकर राजा उदयन ने सेनाओं को दूर ही रोक दिया कि उनकी भीषण ध्वनि से हाथी भड़ककर कहीं भाग न जाय, केवल शिकारी गुप्तचरों को साथ लेकर राजा घोषवती वीणा को बजाता हुआ और अपने बन्धन की बात स्मरण करता हुआ घोर जंगल में प्रवेश कर गया ॥१४-१५॥

गुप्तचरों द्वारा दूर से दिखाये हुए तथा विन्ध्यवन की दाहिनी ओर घूमते हुए उस कल्पित हाथी को राजा ने देखा ॥१६॥

एकाकी वादयन्वीणां चिन्तयन् बन्धनानि सः ।
मधुरध्वनि गायंश्च शनैरुपजगाम तम् ॥१७॥
गान्धर्वदत्तचित्तत्वात्सन्ध्याध्वान्तवशाच्च सः ।
न तं वनगजं राजा मायागजमलक्षयत् ॥१८॥
सोऽपि हस्ती तमुत्कर्णतालो गीतरसादिव ।
उपेत्योपेत्य विचलन् दूरमाकृष्टवान्नृपम् ॥१९॥
ततोऽकस्माच्च निर्गत्य तस्माद्यन्त्रमयाद् गजात् ।
वत्सेश्वरं तं सन्नद्धाः पुरुषाः पर्यवारयन् ॥२०॥
तान्दृष्ट्वा नृपतिः कोपादाकृष्टच्छुरिकोऽथ सः ।
अग्रस्थान् योधयन्नन्यैरेत्य पश्चादगृह्यत ॥२१॥
सङ्केतमिलितैश्चान्यैर्योधास्तैः सैनिकैः सह ।
निन्युर्वत्सेश्वरं चण्डमहासेनान्तिकं च तम् ॥२२॥
सोऽपि चण्डमहासेनो निर्गत्याग्रे कृतादरः ।
वत्सेशेन समं तेन विवेशोज्जयिनीं पुरीम् ॥२३॥
स तत्र ददृशे पौरैरवमानकलङ्कितः ।
शशीव लोचनानन्दो वत्सराजो नवागतः ॥२४॥
ततोऽस्य गुणरागेण वधमाशङ्क्य तत्र ते ।
पौराः सम्भूय सकलाश्चक्रुर्मरणनिश्चयम् ॥२५॥
न मे वत्सेश्वरो वध्यः सन्धेय इति तान् ब्रुवन् ।
सोऽथ चण्डमहासेनः पौरान् क्षोभादवारयत् ॥२६॥
ततो वासवदत्तां तां सतां तत्रैव भूपतिः ।
वत्सराजाय गान्धर्वशिक्षाहेतोः समर्थयत् ॥२७॥
उवाच चैनं गान्धर्वं त्वमेतां शिक्षय प्रभो ।
ततः प्राप्स्यसि कल्याणं मा विषादं कृथा इति ॥२८॥
तस्य दृष्ट्वा तु तां कन्यां वत्सराजस्य मानसम् ।
तथा स्नेहाक्तमभवन्न यथा मन्युमैक्षत ॥२९॥
तस्याश्च चक्षुर्मनसी सह तं प्रतिजग्मतुः ।
ह्रिया चक्षुर्निववृते मनस्तु न कथञ्चन ॥३०॥
अथ वासवदत्तां तां गापयंस्तद्गतेक्षणः ।
तत्र गान्धर्वशालायां वत्सराज उवास सः ॥३१॥

अकेले वीणा बजाता हुआ और मधुर स्वर में गाता हुआ, साथ ही अपने बन्धन की बात को भी सोचता हुआ वह राजा धीरे-धीरे हाथी के समीप चला गया ।।१७।।

गीत की ओर तन्मय होने और सन्ध्याकालीन अन्धकार के घने होने के कारण राजा उस वनगज के रूप में निर्मित माया-गज को वास्तविक रूप में न पहचान सका ।।१८।।

वह हाथी भी, मानों गीतरस में मस्त होकर लम्बे-लम्बे कानों को हिलाता हुआ राजा के समीप आता हुआ-सा धीरे-धीरे उसे दूर एकान्त में ले गया । एकान्त में पहुँचते ही उस यान्त्रिक हाथी के उदर से निकलकर पहले से तैयार कुछ वीर सिपाहियों ने राजा को घेर लिया ।।१९-२०।।

उन्हें देखकर क्रुद्ध राजा ने कमर से छुरी खींचकर अगले सिपाहियों से जूझना प्रारम्भ किया । इतने में ही संकेत पाकर पीछे छिपे हुए अन्य सैनिक भी जंगल से निकल आये और पीछे से आक्रमण करके वत्सेश्वर राजा उदयन को बन्दी बनाकर चण्डमहासेन के पास ले गये ।।२१-२२।।

चण्डमहासेन भी, वत्सराज को देखकर प्रसन्न हुआ। उसने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया और उसे साथ लेकर उज्जयिनी नगरी में गया ।।२३।।

उस नगरी में बन्धनयुक्त एवं नवागत उदयन को उज्जयिनी की जनता ने नयनानन्दकारी चन्द्रमा के समान देखा ।।२४।।

उज्जयिनी की जनता ने कैदी राजा उदयन के वध की आशंका से दुःखी होकर मरने का निश्चय किया ।।२५।।

प्रजा के सत्याग्रह को देखकर राजा चण्डमहासेन ने उसे आश्वासन दिया कि मैं उसका बध नहीं, प्रत्युत उससे मित्रता करना चाहता हूँ । इस प्रकार चण्डमहासेन ने प्रजा के उस विप्लव को शान्त किया ।।२६।।

तब राजा ने वहीं पर अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत-शिक्षा के लिए उदयन को सौंप दिया ।।२७।।

और बोला—'हे राजन् ! तुम इसे गान्धर्व विद्या की शिक्षा दो । इससे तुम्हारा कल्याण ही होगा । मन में किसी प्रकार का खेद न करो ।' चण्डमहासेन की कन्या वासवदत्ता को देखकर राजा उदयन मन में इतना प्रसन्न हुआ कि धोखेबाजी और बन्धन आदि के सब दुःख भूल गया ।।२८-२९।।

वासवदत्ता की आँखें भी मन के साथ उदयन के हृदय में मानों गड़ गईं । यद्यपि आँखें तो लज्जा के कारण लौट आईं, किन्तु मन न लौटा, वह उदयन में ही रम गया ।।३०।।

तदनन्तर, वत्सराज उदयन, चण्डमहासेन की संगीत-शाला में वासवदत्ता को संगीत की शिक्षा देता हुआ निवास करने लगा ।।३१।।

अङ्के घोषवती तस्य कण्ठे गीतश्रुतिस्तथा ।
पुरो वासवदत्ता च तस्थौ चेतोविनोदिनी ॥३२॥
सा च वासवदत्तास्य परिचर्यापराऽभवत् ।
लक्ष्मीरिव तदेकाग्रा बद्धस्याप्यनपायिनी ॥३३॥
अत्रान्तरे च कौशाम्ब्यां वत्सराजानुगे जने ।
आवृत्ते तं प्रभुं बुद्ध्वा बद्धं राष्ट्रं प्रचुक्षुभे ॥३४॥
उज्जयिन्यामवस्कन्दं[1] दातुमैच्छन्समन्ततः ।
वत्सेश्वरानुरागेण क्रुद्धाः प्रकृतयस्तदा ॥३५॥
नैव चण्डमहासेनो बलसाध्यो महान्हि सः ।
न चैवं वत्सराजस्य शरीरं कुशलं भवेत् ॥३६॥
तस्मान्न युक्तोऽवस्कन्दो बुद्धिसाध्यमिदं पुनः ।
इति प्रकृतयः क्षोभान्यवार्यन्त रुमण्वता ॥३७॥
ततोऽनुरक्तमालोक्य राष्ट्रमव्यभिचारि तत् ।
रुमण्वदादीनाह स्म धीरो यौगन्धरायणः ॥३८॥
इहैव सर्वैर्युष्माभिः स्थातव्यं सततोद्यतैः ।
रक्षणीयमिदं राष्ट्रं काले कार्यश्च विक्रमः ॥३९॥
वसन्तकद्वितीयश्च गत्वाहं प्रज्ञया स्वया ।
वत्सेशं मोचयित्वा तामानयामि न संशयः ॥४०॥
जलाहतौ विशेषेण वैद्युताग्नेरिव द्युतिः ।
आपदि स्फुरति प्रज्ञा यस्य धीरः स एव हि ॥४१॥
प्राकारभञ्जनान् योगांस्तथा निगडभञ्जनान् ।
अदर्शनप्रयोगांश्च जानेऽहमुपयोगिनः ॥४२॥
इत्युक्त्वा प्रकृतीः कृत्वा हस्तन्यस्ता रुमण्वतः ।
यौगन्धरायणः प्रायात्कौशाम्ब्याः सवसन्तकः ॥४३॥
प्रविवेश च तेनैव सह विन्ध्यमहाटवीम् ।
स्वप्रज्ञामिव सत्ताढ्यां स्वनीतिमिव दुर्गमाम् ॥४४॥
तत्र वत्सेशमित्रस्य विन्ध्यप्राग्भारवासिनः ।
गृहं पुलिन्दकाख्यस्य पुलिन्दाधिपतेरगात् ॥४५॥
तं सज्जं स्थापयित्वा च पथा तेनागमिष्यतः ।
वत्सराजस्य रक्षार्थं भूरिसैन्यसमन्वितम् ॥४६॥

---

१. आक्रमणमिति भावः ।

संगीतशाला में राजा उदयन के मनोविनोद के लिए गोद में घोषवती वीणा, कण्ठ में संगीत का स्वर और आँखों के सामने वासवदत्ता—यह सामग्री थी ॥३२॥

उस कैदी राजा की सुस्थिरा लक्ष्मी के समान शिष्या वासवदत्ता राजा की सेवा-शुश्रूषा में तन्मय रहने लगी ॥३३॥

इसी बीच उधर शिकार से लौटे हुए सैनिकों तथा गुप्तचरों द्वारा वत्सराज उदयन का कैद होना सुनकर राजा के प्रेम से सारा वत्स-राष्ट्र क्षुब्ध हो गया और उज्जयिनी पर आक्रमण की तैयारियाँ होने लगीं ॥३४—३५॥

जनता को क्षुब्ध देखकर मन्त्री रुमण्वान् ने इस प्रकार उसे शान्त किया कि चण्डमहासेन युद्ध के द्वारा वश में नहीं किया जा सकता। वह महाबलवान् है। और, इस प्रकार आक्रमण करने से वत्सराज की भी खैर न होगी। उसका वध कर दिया जायगा। इसलिए, यह कार्य युद्ध से नहीं, प्रत्युत बुद्धि से सिद्ध करने योग्य है ॥३६–३७॥

राष्ट्र में राजानुरक्त प्रजा का क्षोभ देखकर परम बुद्धिमान् प्रधानमन्त्री यौगन्धरायण ने रुमण्वान् आदि मन्त्रियों तथा राष्ट्राधिकारियों से कहा—॥३८॥

'तुम सबको सर्वदा तैयार रहना चाहिए और इस राजाहीन राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए। समय आने पर युद्ध के लिए भी तैयार रहना चाहिए और मैं नर्म-सचिव वसन्तक के साथ अपने बुद्धि-बल से वत्सराज को छुड़ा लाता हूँ, इसमें सन्देह नहीं ॥३९–४०॥

अधिक जल-संघर्ष से जैसे अधिक बिजली उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भीषण और गम्भीर संकट के समय जिसकी बुद्धि का स्फुरण होता है, वही धीर है ॥४१॥

प्राकारों के ध्वंस करने के योग (उपाय), बेड़ियाँ काटने के योग और अदृश्य हो जाने के योग (उपाय) भी मैं जानता हूँ। ऐसा कहकर और प्रजा को मन्त्री रुमण्वान् के हाथ सौंपकर यौगन्धरायण, वसन्तक के साथ कौशाम्बी से निकल गया ॥४२–४३॥

साथ ही, वसन्तक के साथ अपनी बुद्धि के समान सत्त्वयुक्त तथा अपनी नीति के समान दुर्गम विन्ध्य महावन में वह गया[1] ॥४४॥

यहाँ विन्ध्य-सीमा पर निवास करनेवाले पुलिन्द (जंगली) जाति के राजा वत्सराज के मित्र पुलिन्दक से मिलकर यौगन्धरायण से उसे प्रबल और बड़ी सेना के साथ तैयार रहने के लिए कहा, जिससे वत्सराज को लेकर लौटते समय यदि पीछे से आक्रमण हो, तो पहली युद्धभूमि यहीं बने ॥४५–४६॥

---

१. जंगल के पक्ष में सत्त्व का अर्थ प्राणी है, यौगन्धरायण के पक्ष में मनोबल। जिस प्रकार यौगन्धरायण की नीति दुर्गम थी, उसी प्रकार वह जंगल कठिनाइयों से भरा, अतएव दुर्गम था।—अनु०

गत्वा वसन्तकसखस्ततो यौगन्धरायणः ।
उज्जयिन्यां महाकालश्मशानं प्राप स क्रमात् ॥४७॥
विवेश तच्च वेतालैः क्रव्यगन्धिभिरावृतम् ।
इतस्ततस्तमःश्यामैश्चिताधूमैरिवापरैः ॥४८॥
तत्रैनं दर्शनप्रीतो मित्रभावाय तत्क्षणम् ।
योगेश्वराख्यो वृतवानभ्येत्य ब्रह्मराक्षसः ॥४९॥
तेनोपदिष्टया युक्त्या ततो यौगन्धरायणः ।
स चकारात्मनः सद्यो रूपस्य परिवर्तनम् ॥५०॥
बभूव तेन विकृतः कुब्जो वृद्धस्य तत्क्षणात् ॥
उन्मत्तवेशः खल्वाटो हास्यसञ्जननः परम् ॥५१॥
तयैव युक्त्या स तदा सिरानद्धपृथूदरम् ।
चक्रे वसन्तकस्यापि रूपं दन्तुरदुर्मुखम् ॥५२॥
ततो राजकुलद्वारमादौ प्रेष्य वसन्तकम् ।
विवेशोज्जयिनीं तां स तादृग्यौगन्धरायणः ॥५३॥
नृत्यन्गायंश्च तत्रासौ बटुभिः परिवारितः ।
दृष्टः सकौतुकं सर्वैर्ययौ राजगृहं प्रति ॥५४॥
तत्र राजावरोधानां तेनासौ कृतकौतुकः ।
अगाद् वासवदत्तायाः शनैः श्रवणगोचरम् ॥५५॥
सा तमानाययामास चेटिकां प्रेष्य सत्वरम् ।
गान्धर्वशालां नर्मैकसादरं हि नवं वयः ॥५६॥
स च तत्र गतो वृद्धं वत्सराजं ददर्श तम् ।
उन्मत्तवेशो विगलद्बाष्पो यौगन्धरायणः ॥५७॥
चकार तस्मै संज्ञां च वत्सराजाय सोऽपि तम् ।
प्रत्यभिज्ञातवान् राजा वेषप्रच्छन्नमागतम् ॥५८॥
ततो वासवदत्तां च तच्चेटीः प्रति चात्मनः ।
अदर्शनं युक्तिबलाद् व्यधाद्यौगन्धरायणः ॥५९॥
राजा त्वेको ददर्शैनं ताश्च सर्वाः सविस्मयम् ।
वदन्ति स्म गतोऽकस्मादुन्मत्तः क्वप्यसाविति ॥६०॥

१. अदृश्याञ्जनलेपेनेति भावः ।

तदनन्तर, यौगन्धरायण, वसन्तक को साथ लिये हुए उज्जयिनी के महाकाल श्मशान में पहुँचा ।।४७।।

वह श्मशान, मांस की दुर्गन्धवाले और चिता-धूम के गुब्बारों के समान काले-काले वेतालों से भरा हुआ था ।।४८।।

वहाँ श्मशान में पहुँचने पर विद्याबल के कारण उसे देखते ही प्रसन्न होकर योगेश्वर नाम का ब्रह्मराक्षस यौगन्धरायण का मित्र बन गया ।।४९।।

उसी योगेश्वर की बताई हुई युक्ति के अनुसार यौगन्धरायण ने तुरन्त अपना रूप बदल दिया। रूप बदलते ही यौगन्धरायण, उसी समय टेढ़े-मेढ़े शरीरवाला कुबड़ा और चिकनी खोपड़ीवाला बूढ़ा लगने लगा। उसका रूप अत्यन्त हास्यजनक हो गया ।।५०-५१।।

उसी युक्ति से उसने वसन्तक की बाहर निकली हुई तोंद (पेट) को चमड़े की डोरियों से बांधकर, बड़े-बड़े और निकले हुए दाँतोंवाला बुरा-सा मुँह बनाकर उसका वेष ही बदल दिया ।।५२।।

वेष बदलने के अनन्तर वसन्तक को राजभवन के द्वार पर पहले भेजकर यौगन्धरायण भी स्वयं उसी वेश में चला। नाचता-गाता और बच्चों से घिरा हुआ एवं नागरिकों के लिए तमाशा-सा बना हुआ वसन्तक राजभवन में पहुँचा ।।५३-५४।।

महल में रानियों को तमाशा दिखलाता हुआ वसन्तक, वासवदत्ता के कानों में भी पहुँचा ।।५५।।

वासवदत्ता ने सेविका को भेजकर तमाशा देखने के लिए उसे संगीतशाला में बुलवाया; क्योंकि नई अवस्था हास्य-विनोद की ओर आकृष्ट होती है ।।५६।।

संगीतशाला में जाकर, पागल-वेश में आँसू बहाते हुए (राजा की दशा पर रोते हुए) यौगन्धरायण ने, कैदी वत्सराज को देखा ।।५७।।

और राजा से संकेत भी किया। राजा ने भी वेश बदलकर आये हुए यौगन्धरायण को पहचान लिया ।।५८।।

उधर कुबड़ा यौगन्धरायण, अदृश्य होने की युक्ति से, वासवदत्ता और उसकी सेविकाओं से अदृश्य हो गया। केवल एकमात्र राजा उदयन ही उसे देख सका। इस प्रकार उसके अदृश्य होने पर भी सभी सेविकाएँ आश्चर्य करने लगीं कि वह पागल कहाँ गया ? ।।५९-६०।।

तच्छ्रुत्वा तं च दृष्ट्वाग्रे मत्वा योगबलेन तत् ।
युक्त्या वासवदत्तां तां वत्सराजोऽब्रवीदिदम् ॥६१॥
गत्वा सरस्वतीपूजामादायागच्छ दारिके ।
तच्छ्रुत्वा सा तथेत्युक्त्वा सवयस्या विनिर्ययौ ॥६२॥
यथोचितमुपेत्याथ ददौ वत्सेश्वराय सः ।
यौगन्धरायणस्तस्मै योगान्निगडभञ्जनान् ॥६३॥
अन्यान् वासवदत्ताया वीणातन्त्रीनियोजितान् ।
वशीकरणयोगांश्च राज्ञेऽस्मै स समार्पयत् ॥६४॥
व्यजिज्ञपच्च तं राजन्निहायातो वसन्तकः ।
द्वारि स्थितोऽन्यरूपेण तं कुरुष्वान्तिके द्विजम् ॥६५॥
यदा वासवदत्तेयं तव विस्रम्भमेष्यति ।
तदा वक्ष्यामि यदहं तत्कुर्यास्तिष्ठ साम्प्रतम् ॥६६॥
इत्युक्त्वा निर्ययौ शीघ्रं ततो यौगन्धरायणः ।
अगाद् वासवदत्ता च पूजामादाय तत्क्षणात् ॥६७॥
सोऽथ तामवदद्राजा बहिर्द्वारि द्विजः स्थितः ।
सरस्वत्यर्चने सोऽस्मिन् दक्षिणार्थे प्रवेश्यताम् ॥६८॥
तथेति द्वारदेशात्स तत्र वासवदत्तया ।
विरूपामाकृतिं बिभ्रदानाय्यत वसन्तकः ॥६९॥
स चानीतस्तमालोक्य वत्सेशमरुदच्छुचा ।
ततश्चाप्रतिभेदाय स राजा निजगाद तम् ॥७०॥
हे ब्रह्मन् रोगवैरूप्यं सर्वमेतदहं तव ।
निवारयामि मा रोदीस्तिष्ठेहैव ममान्तिके ॥७१॥
महान्प्रसादो देवेति स चोवाच वसन्तकः ।
सोऽथ तं विकृतं दृष्ट्वा राजा स्मितमुखोऽभवद् ॥७२॥
तच्चालोक्याशयं बुद्ध्वा तस्य सोऽपि वसन्तकः ।
हसति स्माधिकोद्भूतविरूपाननवैकृतः ॥७३॥
तं हसन्तं तथा दृष्ट्वा क्रीडनीयकसन्निभम् ।
तत्र वासवदत्तापि जहास च तुतोष च ॥७४॥
ततः सा नर्मणा बाला तं पप्रच्छ वसन्तकम् ।
किं विज्ञानं विजानासि भो ब्रह्मन् कथ्यतामिति ॥७५॥

सेविकाओं की ऐसी बातें सुनकर और यौगन्धरायण को सामने देखकर राजा ने वासवदत्ता से कहा—कन्ये, तुम जाकर सरस्वती-पूजा का सामान लाओ। फलतः, गुरु की आज्ञा से, सहेलियों के साथ वासवदत्ता वहाँ से चली गई ॥६१-६२॥

अब एकान्त देखकर छद्मवेशी यौगन्धरायण ने युक्तिपूर्वक राजा की बेड़ियाँ काट डालीं और वासवदत्ता तथा उसकी सहेलियों को वश में करने के लिए राजा को वशीकरण की औषधियाँ भी दे दीं ॥६३-६४॥

और राजा से बोला—'हे महाराज! वसन्तक भी छद्म वेश धारण करके द्वार पर खड़ा है। उसे अपने पास बुलवाओ ॥६५॥

जब वासवदत्ता का तुम पर पूरा विश्वास हो जायगा, तब मैं तुम्हें जो कहूँगा, वह करना, अभी तुम मौन रहो' ॥६६॥

यौगन्धरायण राजा से इस प्रकार कहकर बाहर चला गया और उसी समय वासवदत्ता सरस्वती-पूजन की सामग्री लेकर आई। उसके आने पर राजा ने वासवदत्ता से कहा कि एक ब्राह्मण द्वार पर खड़ा है। उसे पूजा की दक्षिणा लेने के लिए बुलवा लो। वासवदत्ता ने राजा की आज्ञा से विकृत रूप धारण किये हुए उस ब्राह्मण को भीतर बुलवा लिया ॥६७—६६॥

वसन्तक, राजा उदयन के सामने आते ही रोने लगा, उदयन भी भेद खुल जाने के भय से उससे कहने लगा ॥७०॥

'हे ब्राह्मण, रोग के कारण तुममें जो यह कुरूपता आ गई है, उसे मैं अभी दूर कर देता हूँ। रोओ मत। मेरे पास रहो' ॥७१॥

तब वसन्तक बोला—'देव! यह आपकी महती कृपा है।' राजा भी वसन्तक की विकृत आकृति को देखकर मुस्कराने लगा ॥७२॥

वसन्तक राजा को प्रसन्नता से मुस्कराते हुए अपने रूप को और भी बिगाड़कर हँसने लगा ॥७३॥

खिलौना के समान उस वसन्तक को इस प्रकार विकृत चेष्टा में हँसते हुए देखकर वासवदत्ता भी हँसने लगी और प्रसन्न हुई ॥७४॥

तब वासवदत्ता ने अपने हास्य-विनोद के रूप में उससे पूछा कि 'हे ब्राह्मण! तुम कौन-सा विशेष ज्ञान रखते हो। बताओ तो सही' ॥७५॥

कथाः कथयितुं देवि जानामीति स चावदत् ।
कथां कथय तर्ह्येकामिति सापि ततोऽब्रवीत् ॥७६॥
ततस्तां राजतनयां रञ्जयन् स वसन्तकः ।
हास्यवैचित्रसरसामिमामकथयत्कथाम् ॥७७॥

लोहजङ्घकथा

अस्तीह मथुरा नाम पुरी कंसारिजन्मभूः ।
तस्यां रूपणिकेत्यासीत् ख्याता वारविलसिनी ॥७८॥
तस्या मकरदंष्ट्राख्या माताभूद् वृद्धकुट्टनी ।
तद्गुणाकृष्यमाणानां यूनां दृशि विषच्छटा ॥७९॥
पूजाकाले सुरकुलं स्वनियोगाय जातु सा ।
गता रूपणिका दूरादेकं पुरुषमैक्षत ॥८०॥
स दृष्टः सुभगस्तस्या विवेश हृदयं तथा ।
यथा मात्रा कृतास्तेऽस्मादुपदेशा विनिर्ययुः ॥८१॥
चेटिकामथ सावादीद् गच्छ मद्वचनादमुम् ।
पुरुषं ब्रूहि मद्गेहे त्वयाद्यागम्यतामिति ॥८२॥
तथेति चेटिका सा च गत्वा तस्मै तदब्रवीत् ।
ततः स किञ्चिद् विमृशन् पुरुषस्तामभाषत ॥८३॥
लोहजङ्घाभिधानोऽस्मि ब्राह्मणो नास्ति मे धनम् ।
तवाढ्यजनलभ्ये हि कोऽहं रूपणिकागृहे ॥८४॥
न धनं वाञ्छ्यते त्वत्तः स्वामिन्येत्युदिते तया ।
स लोहजङ्घस्तद्वाक्यं तथेति प्रत्यपद्यत ॥८५॥
ततश्चेटीमुखाद् बुद्ध्वा तच्च सा गृहमुत्सुका ।
गत्वा रूपणिका तस्थौ तन्मार्गन्यस्तलोचना ॥८६॥
क्षणाच्च लोहजङ्घोऽथ तस्या मन्दिरमाययौ ।
कुतोऽयमिति कुट्टन्या दृष्टो मकरदंष्ट्रया ॥८७॥
सापि रूपणिका दृष्ट्वा स्वयमुत्थाय सादरा ।
वासवेश्मान्तरं हृष्टा कण्ठे लग्ना निनाय तम् ॥८८॥
तत्र सा लोहजङ्घस्य तस्य सौभाग्यसम्पदा ।
वशीकृता सती नान्यत्फलं जन्मन्यमन्यत ॥८९॥

तब विदूषक वसन्तक बोला—'मैं अच्छी-अच्छी कहानियाँ कहना जानता हूँ ।' तब वासवदत्ता ने कहा—'अच्छा, एक अच्छी-सी कहानी सुनाओ तो' ॥७६॥

तब वह वसन्तक राजपुत्री वासवदत्ता का मनोरंजन करता हुआ हास्य के पुट से सरस एवं विचित्र एक कहानी सुनाने लगा ॥७७॥

लोहजंघ की कथा

इस देश में भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा नाम की एक नगरी है । उसमें रूपणिका नाम की एक वेश्या रहती थी ॥७८॥

उसकी माता मकरदंष्ट्रा नाम की बूढ़ी कुट्टनी थी । वह मानों रूपणिका के रूप और गुणों पर आकृष्ट कामुकों की आँखों के लिए विष के समान थी ॥७९॥

एक बार किसी देवता के पूजन के लिए रूपणिका, किसी मन्दिर में गई और उसने दूर से ही किसी एक युवा पुरुष को देखा ॥८०॥

देखते ही वह युवक, रूपणिका के हृदय में गड़-सा गया और कुट्टनी माता के सभी उपदेश उसके हृदय से दूर हो गये । उनका स्थान मानों उस पुरुष ने ले लिया । रूपणिका ने अपनी सेविका से कहा—'तुम उस पुरुष के पास जाकर कहो कि आज वह मेरे घर पर आवे' ॥८१-८२॥

सेविका ने इस प्रकार स्वामिनी का सन्देश उस पुरुष से कह दिया । वेश्या का सन्देश सुनने पर और कुछ सोचकर वह युवक बोला—॥८३॥

'मैं लोहजंघ नामक ब्राह्मण हूँ । मेरे पास धन नहीं है । इसलिए धनिकों के जाने योग्य रूपणिका के घर में मेरी क्या योग्यता है' ॥८४॥

सेविका ने कहा—'मेरी मालकिन तुमसे धन नहीं चाहतीं ।' सेविका का यह उत्तर सुनकर लोहजंघ ने उसके घर जाना स्वीकार कर लिया ॥८५॥

सेविका से यह समाचार सुनकर, उत्सुकतापूर्वक घर आकर उसके आने की राह देखती हुई रूपणिका खिड़की में बैठ हुई ॥८६॥

कुछ समय के अनन्तर पूर्वनिश्चयानुसार लोहजंघ उसके घर आ गया और वेश्या की माता मकरदंष्ट्रा कुट्टनी को आश्चर्य हुआ कि यह कहाँ से आया ॥८७॥

रूपणिका भी उसका आगमन देखकर प्रसन्न हुई और उठकर उसका स्वागत करती हुई शयनगृह में ले जाकर आनन्दमग्न हो गई । लोहजंघ के सहवास से उसे ऐसा आनन्द प्राप्त हुआ, जिसे पाकर उसने अपना जन्म सफल समझा ॥८८-८९॥

ततस्तया निवृत्तान्यपुरुषासङ्गया सह ।
यथासुखं स तत्रैव तस्थौ तन्मन्दिरे युवा ॥९०॥
तद्दृष्ट्वा शिक्षिताशेषवेषयोषिज्जगाद ताम् ।
माता मकरदंष्ट्रा सा खिन्ना रूपणिकां रहः ॥९१॥
किमयं निर्धनः पुत्रि सेव्यते पुरुषस्त्वया ।
शवं स्पृशन्ति सुजना गणिका न तु निर्धनम् ॥९२॥
क्वानुरागः क्व वेश्यात्वमिति ते विस्मृतं कथम् ।
सन्ध्येव रागिणी वेश्या न चिरं पुत्रि दीप्यते ॥९३॥
नटीव कृत्रिमं प्रेम गणिकार्थाय दर्शयेत् ।
तदेनं निर्धनं मुञ्च मा कृथा नाशमात्मनः ॥९४॥
इति मातुर्वचः श्रुत्वा रुषा रूपणिकाब्रवीत् ।
मैवं वादीर्मम ह्येष प्राणेभ्योऽप्यधिकः प्रियः ॥९५॥
धनमस्ति च मे भूरि किमन्येन करोम्यहम् ।
तदम्ब नैव वक्तव्या भूयोऽप्येवमहं त्वया ॥९६॥
तच्छ्रुत्वा लोहजङ्घस्य निर्वासनविधौ क्रुधा ।
तस्थौ मकरदंष्ट्रा सा तस्योपायं विचिन्वती ॥९७॥
अथ मार्गागतं कञ्चित्क्षीणकोषं ददर्श सा ।
राजपुत्रं परिवृतं पुरुषैः शस्त्रपाणिभिः ॥९८॥
उपगम्य द्रुतं तं च नीत्वैकान्ते जगाद सा ।
निर्धनेन ममैकेन कामुकेनावृतं गृहम् ॥९९॥
तत्त्वमागच्छ तत्राद्य तथा च कुरु येन सः ।
गृहान्मम निवर्त्तेत मदीयां च सुतां भज ॥१००॥
तथेति राजपुत्रोऽथ प्रविवेश स तद्गृहम् ।
तस्मिन्क्षणे रूपणिका तस्थौ देवकुले च सा ॥१०१॥
लोहजङ्घश्च तत्कालं बहिः क्वापि स्थितोऽभवत् ।
क्षणान्तरे स निःशङ्कस्तत्रैव समुपाययौ ॥१०२॥
तत्क्षणं राजपुत्रस्य तस्य भृत्यैः प्रधाव्य सः ।
दृढं पादप्रहाराद्यैः सर्वेष्वङ्गेष्वताड्यत ॥१०३॥
ततस्तैरेव चामेध्यपूर्णे क्षिप्तः स खातके ।
लोहजङ्घः कथमपि प्रपलायितवांस्ततः ॥१०४॥

तदनन्तर, अन्य पुरुषों के साथ समागम को छोड़कर एकमात्र उसी के साथ प्रेम करनेवाली रूपणिका के साथ वह भी उसी घर में आनन्दपूर्वक रहने लगा। कन्या की रीति देखकर नगर की समस्त वेश्याओं की शिक्षिका मकरदंष्ट्रा ने अत्यन्त दुःखी होकर एकबार एकान्त में अपनी कन्या रूपणिका से कहा—'बेटी तुम इस दरिद्र से क्या प्रेम कर रही हो। अच्छे व्यक्ति मुर्दे को भी छू लेते हैं, पर वेश्या निर्धन को भी नहीं छू सकती। कहाँ सच्चा प्रेम और कहाँ वेश्या-वृत्ति, क्या तुम वेश्याओं के सिद्धान्त को भी भूल गई। बेटी! स्नेह करने-वाली वेश्या सन्ध्या के समान अधिक देर तक नहीं चमक सकती। वेश्या को तो केवल धन के लिए अभिनेत्री के समान प्रेम दिखलाना चाहिए। इसलिए, तुम इस दरिद्र ब्राह्मण को छोड़ो, अपना विनाश न करो।' माता के उपदेश को सुनकर रूपणिका क्रोध से बोली—'माता! तुम ऐसा न कहो। यह मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा है, धन तो मेरे पास बहुत है, अधिक धन लेकर मैं क्या करूँगी। इसलिए हे माता! तुम फिर मुझे ऐसा कभी न कहना' ॥९०—९६॥

यह सुनकर रूपणिका की माता मकरदंष्ट्रा मन-ही-मन जल गई और लोहजंघ को घर से निकालने का षड्यन्त्र सोचने लगी ॥९७॥

कुछ समय के अनन्तर कुट्टनी ने राह में जाते हुए किसी धनहीन राजपुत्र को देखा, जो शस्त्रधारी सिपाहियों से घिरा हुआ जा रहा था ॥९८॥

उसे देखकर कुट्टनी दौड़कर उसके पास आ गई और एकान्त में ले जाकर कहने लगी—'मेरे घर पर एक दरिद्र कामी व्यक्ति ने अधिकार जमा रखा है, इसलिए तुम मेरे घर पर आओ और ऐसा उपाय करो कि वह मेरे घर से निकल जाय। इस कार्य के पुरस्कार-स्वरूप तुम मेरी पुत्री का उपभोग करो ॥९९-१००॥

राजपुत्र ने कुट्टनी की बात स्वीकार कर ली और उसने रूपणिका के गृह में प्रवेश किया। उसी समय रूपणिका किसी देवमन्दिर में दर्शन के लिए चली गई थी ॥१०१॥

लोहजंघ भी दैवयोग से उस समय कहीं बाहर गया हुआ था। फलतः, लोहजंघ आकर निःशंक भाव से सदा के अनुसार वेश्या के घर में घुसा ॥१०२॥

उसके घर में घुसते ही राजपुत्र के सिपाहियों ने उसे दौड़ाकर लात-घूसों से खूब मारा ॥१०३॥

मार खाकर भगे हुए लोहजंघ को पकड़कर सिपाहियों ने किसी गन्दे गड्ढ (संडास) में फेंक दिया। लोहजंघ, फिर उससे किसी प्रकार निकल भागा ॥१०४॥

२४

अथागता रूपणिका तद्बुद्ध्वा शोकविह्वला ।
साभूद्वीक्ष्याथ स ययौ राजपुत्रो यथागतम् ॥१०५॥
लोहजङ्घोऽपि कुट्टन्यां प्रसह्य स खलीकृतः ।
गन्तुं प्रववृते तीर्थं प्राणांस्त्यक्तुं वियोगवान् ॥१०६॥
गच्छन्नटव्यां सन्तप्तः कुट्टनीमन्युना हृदि ।
त्वचि च ग्रीष्मतापेन च्छायामभिललाष सः ॥१०७॥
तरुमप्राप्नुवन्सोऽथ लेभे हस्तिकलेवरम् ।
जघानेन प्रविश्यान्तर्निर्मांसं जम्बुकैः कृतम् ॥१०८॥
चर्मावशेषे तत्रान्तः परिश्रान्तः प्रविश्य सः ।
लोहजङ्घो ययौ निद्रां प्रविशद् वातशीतले ॥१०९॥
अथाकस्मात्समुत्थाय क्षणेनैव समन्ततः ।
मेघः प्रववृते तत्र धारासारेण वर्षितुम् ॥११०॥
तेन निर्विवरं प्राप सङ्कोचं हस्तिचर्म तत् ।
क्षणाच्च तेन मार्गेण जलौघो भृशमाययौ ॥१११॥
तेनापहृत्य गङ्गायामक्षेपि गजचर्म तत् ।
तज्जलौघेन नीत्वा च समुद्रान्तर्न्यधीयत ॥११२॥
तत्र दृष्ट्वा च तच्चर्म निपत्यामिषशङ्कया ।
हृत्वाब्धेः पारमनयत्पक्षी गरुडवंशजः ॥११३॥
तत्र चञ्च्वा विदार्यैतद् गजचर्म विलोक्य च ।
अन्तःस्थं मानुषं पक्षी पलाय्य स ततो ययौ ॥११४॥
ततश्च चर्मणस्तस्मात्पक्षिसंरम्भबोधितः ।
तच्चञ्चुरचितद्वाराल्लोहजङ्घो विनिर्ययौ ॥११५॥
दृष्ट्वा समुद्रपारस्थमात्मानं च सविस्मयः ।
अनिद्रस्वप्नमिव तत्स समग्रममन्यत ॥११६॥
अथ द्वौ राक्षसौ तत्र घोरौ भीतौ ददर्श सः ।
तौ चापि राक्षसौ दूराच्चकितौ तमपश्यताम् ॥११७॥
रामात्पराभवं श्रुत्वा तं तथैव च मानुषम् ।
दृष्ट्वा तीर्णाम्बुधिं भूयस्तौ भयं हृदि चक्रतुः ॥११८॥
संमन्त्र्य च तयोर्मध्यादेको गत्वा तदैव तम् ।
विभीषणाय प्रभवे यथादृष्टं न्यवेदयत् ॥११९॥
दृष्टरामप्रभावः सन्सोऽपि राजा विभीषणः ।
मानुषागमनाद् भीतो राक्षसं तमभाषत ॥१२०॥
गच्छ मद्वचनाद् भद्र प्रीत्या तं ब्रूहि मानुषम् ।
आगम्यतां गृहेऽस्माकं प्रसादः क्रियतामिति ॥१२१॥

इस बीच देव-दर्शन करके आई हुई रूपणिका सारा वृत्तान्त देख-सुन अत्यन्त शोक-सन्तप्त हुई और वह राजपुत्र भी यह सब काण्ड करके जिधर जा रहा था, उधर ही चला गया ।।१०५।।

कुट्टनी पर चढ़े हुए क्रोध से जलता हुआ लोहजंघ भी किसी तीर्थ में प्राण-त्याग करने की इच्छा से किसी ओर चला गया ।।१०६।।

लोहजंघ का हृदय, कुट्टनी के इस कुकृत्य से जल रहा था; ऊपर से पड़ती हुई गरमी की कड़ी धूप से उसका शरीर भी जल रहा था। वह कहीं ठण्डी छाया की खोज में था। उस निर्जन भूमि में कहीं वृक्ष तो नहीं दिखाई पड़ा, किन्तु एक हाथी की खाली खाल कहीं पड़ी हुई उसे दिखाई दी, जिसे शृगालों ने भीतर से खाकर खोखला कर दिया था और दोनों ओर खुली रहने से हवा के आगमन से वह ठण्डी भी थी। लोहजंघ पैरों की ओर से उनमें घुस गया और शीतल वायु के झोकों से उसी में पड़े हुए लोहजंघ को नींद आ गई ।।१०७—१०९।।

इसी बीच सहसा आकाश में बादल उमड़ आये और चारों ओर मूसलाधार वर्षा के कारण नदी-सी बह चली और हाथी की खाल सिकुड़ गई। कुछ समय में ही पानी के प्रवाह में वह खाल बह चली और लुढ़कते-लुढ़कते गंगाजी में जा गिरी। वह वहाँ से भी बहकर समुद्र में गिर गई ।।११०—११२।।

समुद्र में डूबती-उतराती हुई उस खाल को मांसपूर्ण समझकर गरुड़-वंश का एक पक्षी[१] चोंच से पकड़कर उसे समुद्र के उस पार के टापू में ले गया ।।११३।।

टापू के किनारे उस पक्षी ने चोंच से उसे फाड़कर देखा, तो वह खोखला हाथी का चमड़ा था और उसके भीतर जीवित मनुष्य को देखकर वह पक्षी उसे वहीं छोड़कर उड़ गया ।।११४।।

लोहजंघ भी पक्षी की चोंच से किये हुए छेद के द्वारा बाहर निकलकर चारों ओर देखा और उस घटना को विना नींद का स्वप्न उसने समझा। इतने में ही उसने समुद्र-तट पर घूमते हुए तथा विस्मय से डरे हुए दो भयानक राक्षसों को देखा। राक्षसों ने भी दूर से ही चकित होकर उसे देखा ।।११५—११७।।

रामचन्द्र द्वारा घटी हुई लंका की दुर्दशा का स्मरण करके फिर से आये हुए एक मनुष्य को देखकर उन्हें भय हुआ। डरे हुए राक्षसों ने लंका में किसी मनुष्य के आने का समाचार वहाँ के राजा विभीषण से जा कहा। विभीषण रामचन्द्र के प्रभाव को देख चुका था। अतः, वह भी मनुष्य के आगमन से भयभीत होकर गुप्तचर राक्षस से बोला—'तुम समुद्र के तटपर जाकर मेरी ओर से उस मनुष्य से कहो कि आओ, हमारे घर पर पधारने की कृपा करो' ।।११७—१२१।।

---

१. 'अरेबियन नाइट्स' में सिन्दबाद जहाजी की कहानी में तीन फकीर और बगदाद की तरुणियों की कथा के प्रसंग में, तीसरे फकीर की कहानी, उससे मिलती-जुलती है. उसमें इस पक्षी की चर्चा है। —अनु०

तथेत्यागत्य तत्तस्मै स्वप्रभुप्रार्थनावचः ।
चकितो लोहजङ्घाय शशंस स च राक्षसः ।।१२२।।
सोऽप्यङ्गीकृत्य तद्विप्रो लोहजङ्घः प्रशान्तधीः ।
तेनैव सद्वितीयेन सह लङ्कां ततोऽगमत् ।।१२३।।
तस्यां च दृष्टसौवर्णतत्तत्प्रासादविस्मितः ।
प्रविश्य राजभवनं स ददर्श विभीषणम् ।।१२४।।
सोऽपि पप्रच्छ राजा तं कृतातिथ्यः कृताशिषम् ।
ब्रह्मन् कथमिमां भूमिमनुप्राप्तो भवानिति ।।१२५।।
ततः स धूर्तोऽवादीत्तं लोहजङ्घो विभीषणम् ।
विप्रोऽहं लोहजङ्घाख्यो मथुरायां कृतस्थितिः ।।१२६।।
सोऽहं दारिद्र्यसन्तप्तस्तत्र नारायणाग्रतः ।
निराहारः स्थितोऽकार्षं गत्वा देवकुलं तपः ।।१२७।।
विभीषणान्तिकं गच्छ मद्भक्तः स हि ते धनम् ।
दास्यतीत्यादिशत् स्वप्ने ततो मां भगवान्हरिः ।।१२८।।
क्वाहं विभीषणः क्वेति मयोक्ते स पुनः प्रभुः ।
समादिशद्व्रजाद्यैव तं द्रक्ष्यसि विभीषणम् ।।१२९।।
इत्युक्तः प्रभुणा सद्यः प्रबुद्धोऽहमिहाम्बुधेः ।
पारेऽवस्थितमात्मानमपश्यं वेद्मि नापरम् ।।१३०।।
इत्युक्तो लोहजङ्घेन लङ्कामालोक्य दुर्गमाम् ।
सत्यं दिव्यप्रभावोऽयमिति मेने विभीषणः ।।१३१।।
तिष्ठ दास्यामि ते वित्तमित्युक्त्वा ब्राह्मणं च तम् ।
मत्वा च रक्षसां हस्ते तमप्रेष्य नृघातिनाम् ।।१३२।।
तत्रस्थात्स्वर्णमूलाख्याद् गिरेः सम्प्रेष्य राक्षसान् ।
आनाययत्पक्षिपोतं गरुडान्वयसम्भवम् ।।१३३।।
तं चास्मै लोहजङ्घाय मथुरायां गमिष्यते ।
तत्कालमेव प्रददौ वशीकाराय वाहनम् ।।१३४।।
लोहजङ्घोऽपि लङ्कायां वाहयन्नधिरुह्य तम् ।
कञ्चित्कालं विशश्राम स विभीषणसत्कृतः ।।१३५।।
एकदा तं च पप्रच्छ राक्षसेन्द्रं सकौतुकः ।
लङ्कायां काष्ठमय्येषा कथं सर्वैव भूरिति ।।१३६।

आश्चर्यचकित राक्षस ने आकर लोहजंघ को अपने स्वामी विभीषण का सन्देश सुनाया ॥१२२॥

लोहजंघ ने शान्तचित्त से विभीषण का सन्देश सुना और उसी राक्षस के साथ लंका को गया ॥१२३॥

लंका में जाकर नगरी के सुवर्णमय अनेक विशाल भवनों को देखकर चकित होते हुए लोहजंघ ने राजमहल में जाकर राजा विभीषण के दर्शन किये ॥१२४॥

लंका के राजा विभीषण ने उसका आतिथ्य-सत्कार किया। उसके द्वारा आशीर्वाद प्राप्त करने पर राजा ने पूछा—'हे ब्राह्मण देवता! आप यहाँ कैसे पधारे?' ॥१२५॥

यह सुनकर धूर्त्त ब्राह्मण लोहजंघ विभीषण से बोला—'राजन्, मैं मथुरा का रहनेवाला ब्राह्मण हूँ ॥१२६॥

दरिद्रता से दुःखी होकर मैंने भगवान् नारायण के मन्दिर में निराहार रहकर तपस्या की ॥१२७॥

तपस्या करते हुए मुझे नारायण ने स्वप्न में आज्ञा दी कि तू लंकाधिपति विभीषण के पास जा। वह मेरा भक्त है और तुझे धन देगा ॥१२८॥

जब मैंने उनसे कहा कि 'महाराज कहाँ राजा विभीषण और कहाँ मैं! मैं उन्ह कैसे प्राप्त कर सकूँगा'? इसपर भगवान् नारायण ने कहा कि तू अभी जा, विभीषण को देखेगा ॥१२९॥

इस प्रकार स्वप्न में भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर मैं ज्यों ही जगा, त्यों ही मैंने अपने को समुद्र के पार तट पर पड़ा हुआ पाया ॥१३०॥

इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता। यह सुनकर और साधारण व्यक्ति का लंका में पहुँचना अति कठिन समझकर विभीषण ने उसे सचमुच दिव्य प्रभाववाला व्यक्ति समझा ॥१३१॥

'ठहरो, मैं तुम्हें धन दूँगा।'—ऐसा कहकर विभीषण ने उसे नरघातियों के लिए अवध्य समझकर राक्षसों को सौंप दिया और वहाँ ठहरा रहा ॥१३२॥

तब विभीषण ने राक्षसों को सुमेरु पर्वत पर भेजकर गरुड-वंश के पक्षी को वाहन के रूप में मँगाया ॥१३३॥

उस वाहन को लोहजंघ को देकर कहा कि—'तुम इसे वश में करो। इसी के द्वारा तुम फिर मथुरा जा सकोगे' ॥१३४॥

लोहजंघ कुछ दिनों तक लंका में ही उस पक्षी पर उड़ने का अभ्यास करता रहा और विभीषण के स्वागत-सत्कार का आनन्द लेता रहा ॥१३५॥

एक बार उसने विभीषण से कौतुक के साथ पूछा कि 'महाराज, लंका में यह सारी भूमि काष्ठमयी क्यों मालूम देती है' ॥१३६॥

तच्छ्रुत्वा स च तद्वृत्तं तमुवाच विभीषणः ।
यदि ते कौतुकं ब्रह्मंस्तदिदं शृणु वच्मि ते ॥१३७॥
पुरा प्रतिज्ञोपनतां नागानां दासभावतः ।
निष्क्रष्टुकामो जननीं गरुडः कश्यपात्मजः ॥१३८॥
तन्मूल्यभूतां देवेभ्यः सुधामाहर्त्तुमुद्यतः ।
बलस्य हेतोर्भक्ष्यार्थी स्वपितुर्निकटं ययौ ॥१३९॥
स चैनं याचितोऽवादीन्महान्तौ गजकच्छपौ ।
अब्धौ स्तः पुत्र तौ भुङ्क्ष्व गच्छ शापच्युताविति ॥१४०॥
ततः स गरुडो गत्वा भक्ष्यावादाय तावुभौ ।
महतः कल्पवृक्षस्य शाखायां समुपाविशत् ॥१४१॥
तां च शाखां भरात्सद्यो भग्नां चञ्च्वा बभार सः ।
अधःस्थिततपोनिष्ठबालखिल्यानुरोधतः ॥१४२॥
लोकोपमर्दभीतेन तेनाथ पितुराज्ञया ।
आनीय विजने त्यक्त्वा सा शाखेह गरुत्मता ॥१४३॥
तस्याः पृष्ठे कृता लङ्का तेन काष्ठमयीह भूः ।
एतद्विभीषणाच्छ्रुत्वा लोहजङ्घस्तुतोष सः ॥१४४॥
ततस्तस्मै महार्घाणि रत्नानि सुबहूनि च ।
विभीषणो ददाति स्म मथुरां गन्तुमिच्छते ॥१४५॥
भक्त्या च देवस्य हरेर्मथुरावर्त्तिनः कृते ।
हस्तेऽस्याब्जगदाशङ्खचक्रान्हेममयान्ददौ ॥१४६॥
तद्गृहीत्वाखिलं तस्मिन्विभीषणसमर्पिते ।
आरुह्य विहगे लक्षं योजनानां प्रयातरि ॥१४७॥
उत्पत्य व्योममार्गेण लङ्कायास्तीर्णवारिधिः ।
स लोहजङ्घो मथुरामक्लेशेनाजगाम ताम् ॥१४८॥
तस्यां शून्ये विहारे च बाह्ये व्योम्नोऽवतीर्य सः ।
स्थापयामास रत्नौघं तं बबन्ध च पक्षिणम् ॥१४९॥
आपणे रत्नमेकं च गत्वा विक्रीतवांस्ततः ।
अथ वस्त्राङ्गरागादि क्रीतवान्भोजनं तथा ॥१५०॥
तद्विहारे च तत्रैव भुक्त्वा दत्वा च पक्षिणे ।
वस्त्राङ्गरागपुष्पाद्यैरात्मानं तैरभूषयत् ॥१५१॥

उसका प्रश्न सुनकर विभीषण ने कहा—"यदि तुम्हें यह जानने की जिज्ञासा है, तो सुनो। मैं तुम्हें इसका रहस्य बताता हूँ ॥१३७॥

प्राचीन समय में कश्यप के पुत्र गरुड ने प्रतिज्ञावश नागों की दासता में पड़ी हुई अपनी माता विनता की दासता से मुक्त करने की इच्छा से उसका मूल्यस्वरूप अमृत का कलश लाने की कामना की और उसके लिए शक्ति प्राप्त करने को वह पिता के पास गया ॥१३८-१३९॥

पिता से प्रार्थना करने पर कश्यप ने उससे कहा कि समुद्र में बड़े-बड़े हाथी और कछुए हैं, उन्हें तुम जाकर खाओगे, तो शापमुक्त हो जाओगे ॥१४०॥

गरुड समुद्र में जाकर उन दोनों को लेकर खाने के लिए कल्पवृक्ष की शाखा पर जा बैठा। उसके भार से वह शाखा टूट गई, किन्तु उसके नीचे बालखिल्य मुनि तपस्या कर रहे थे। अतः, उनकी रक्षा के लिए गरुड ने उस शाखा को अपनी चोंच सेन रोक रखा और जनापवाद के भय से गरुड ने उस शाखा को यहाँ समद्र-तट पर लाकर रख दिया ॥१४१—१४३॥

उसी शाखा की पीठ पर यह लंका नगरी निर्मित हुई। इसी कारण यहाँ की भूमि काष्ठमयी है।" विभीषण से यह कथा सुनकर लोहजंघ सन्तुष्ट हुआ ॥१४४॥

तब विभीषण ने मथुरा जाना चाहते हुए लोहजंघ को बहुत-से बहुमूल्य रत्न मँगाकर दिये और मथुराधिपति भगवान् को देने के लिए सोने के शंख, चक्र, गदा और पद्म बनवाकर भक्तिपूर्वक उसके द्वारा भेज दिये। विभीषण से प्राप्त समस्त धन को लेकर लोहजंघ एक बार में लाख योजन उड़नेवाले उस गरुडजातीय पक्षी पर बैठ गया और आकाश में उड़कर समुद्र पार करता हुआ बड़े आराम से मथुरा पहुँच गया ॥१४५—१४८॥

मथुरा पहुँचकर वह नगरी के बाहरी भाग में स्थित किसी बौद्ध विहार में आकाश-मार्ग से उतरा। प्राप्त धन को वहीं भूमि में गाड़कर उसने वहीं उस पक्षी को भी बाँध दिया ॥१४९॥

विभीषण से प्राप्त रत्नों में से एक को बाजार में बेचकर उसने भोजन, कपड़े, इत्र, तैल आदि सजावट के अनेक सामान खरीद लिये। उसने विहार में आकर स्वयं भोजन किया और उस पक्षी को भी भोजन कराया तथा नवीन वस्त्र आदि पहनकर सुन्दर वेश बनाया ॥१५०-१५१॥

प्रदोषे चाययौ तस्यास्तत्रैवारुह्य पक्षिणि ।
गृहं रूपणिकायास्ताः शङ्खचक्रगदा वहन् ॥१५२॥
तत्रोपरि ततः स्थित्वा स्थानवित्खेचरश्च सः ।
शब्दं चकार गम्भीरं रहःस्थां श्रावयन्प्रियाम् ॥१५३॥
तं च श्रुत्वैव निर्याता सापश्यद्रत्नराजितम् ।
एनं नारायणाकल्पं व्योम्नि रूपणिका निशि ॥१५४॥
अहं हरिरिहायातस्त्वदर्थमिति तेन सा ।
उक्ता प्रणम्य वक्ति स्म दयां देवः करोत्विति ॥१५५॥
अथावतीर्य संयम्य लोहजङ्घो विहङ्गमम् ।
विवेश वासभवनं स तया कान्तया सह ॥१५६॥
तत्र सम्प्राप्तसम्भोगः स निष्क्रम्य क्षणान्तरे ।
तथैव विहगारूढो जगाम नभसा ततः ॥१५७॥
देवता विष्णुभार्याहं मर्त्यैः सह न मन्त्रये ।
इति रूपणिका प्रातस्तस्थौ मौनं विधाय स ॥१५८॥
कस्मादेवंविधं पुत्रि वर्त्तसे कथ्यतां त्वया ।
इत्यपृच्छत सा मात्रा ततो मकरदंष्ट्रया ॥१५९॥
निर्बन्धपृष्टा तस्यै च सा मात्रे मौनकारणम् ।
शशंस रात्रिवृत्तान्तं दापयित्वान्तरे पटम् ॥१६०॥
सा तच्छ्रुत्वा ससन्देहा स्वयं तं कुट्टनी निशि ।
ददर्श विहगारूढं लोहजङ्घं ततः क्षणम् ॥१६१॥
प्रभाते च पटान्तःस्थामेत्य रूपणिकां रहः ।
प्रह्वा मकरदंष्ट्रा सा कुट्टनीति व्यजिज्ञपत् ॥१६२॥
देवस्यानुग्रहात् पुत्रि त्वं देवीत्वमिहागता ।
अहं च तेऽत्र जननी तन्मे देहि सुताफलम् ॥१६३॥
वृद्धनेनैव देहेन यथा स्वर्गं व्रजाम्यहम् ।
तथा देवस्य विज्ञप्तिं कुरुष्वानुगृहाण माम् ॥१६४॥
तथेति सा रूपणिका तमेवार्थं व्यजिज्ञपत् ।
व्याजविष्णुं पुनर्नक्तं लोहजङ्घमुपागतम् ॥१६५॥

सायंकाल होने पर हाथों में शंख-चक्र धारण करके वह उसी गरुड पक्षी पर बैठकर रूपणिका वेश्या के घर की छत पर आकाश से उतरा ।।१५२।।

उसने वेश्या को गुप्त रूप ने सुनाते हुए ऊपर से कुछ शब्द किया ।।१५३।।

उसकी वाणी सुनकर बाहर आई रूपणिका ने रत्नों से अलंकृत एवं भगवान् के स्वरूप में लोहजंघ को उस रात्रि में देखा ।।१५४।।

'मैं भगवान् हरि स्वयं तुम्हारे लिए आया हूँ', लोहजंघ के ऐसा कहने पर वेश्या उसे प्रण म करके बोली––'महाराज, आपकी कृपा है । आप दया करें और यहाँ ठहरें' । लोहजंघ ने पक्षी से उतरकर उसे बाँध दिया और वेश्या के साथ उसके शयनकक्ष में प्रवेश किया ।।१५५-१५६।।

कुछ समय के अनन्तर वेश्या-भवन से निकलकर लोहजंघ पक्षी पर बैठकर पुनः अपने निवास पर आ गया ।।१५७।।

प्रातःकाल होते ही रूपणिका वेश्या ने सोचा कि 'मैं भगवान् विष्णु की प्रेयसी होने के का रण देवता हो गई । अब तो मनुष्यों के साथ बात करना भी अपमान है । ऐसा सोचकर उसने मौन धारण कर लिया और परदे में रहने लगी ।।१५८।।

उसकी माता मकरदंष्ट्रा ने उसकी यह स्थिति देखकर पूछा कि 'आज तुम इस प्रकार मौन क्यों हो रही हो ? मुझे बताओ' । उसके आग्रहपूर्वक और बारम्बार पूछने पर रूपणिका ने परदे की ओट से मौन का सारा भेद बता दिया ।।१५९-१६०।।

कुट्टनी को बेटी की बातों पर सन्देह हुआ । किन्तु, उसी रात को उसने स्वयं अपनी आँखों से गरुड पर बैठे हुए विष्णुरूपी लोहजंघ को देखा ।।१६१।।

प्रातःकाल ही कुट्टनी ने परदे में बैठी हुई रूपणिका को बड़े ही नम्रभाव से कहा ।।१६२।।

'हे बेटी ! भगवान् की कृपा से तू तो देवता बन गई । मैं तेरी माता हूँ । मुझे भी तो तू मेरी अपनी लड़की होने का फल दे' ।।१६३।।

'मैं बूढ़ी, इस शरीर से जिस प्रकार स्वर्ग चली जाऊँ, ऐसी कृपा के लिए तुम भगवान् से निवेदन करो' । रात को उसी छद्मरूप में आये हुए लोहजंघ को रूपणिका ने अपनी माता की प्रार्थना सुना दी ।।१६४-१६५।।

ततः स देववेषस्तां लोहजङ्घोऽब्रवीत्प्रियाम् ।
पापा ते जननी स्वर्गं व्यक्तं नेतुं न युज्यते ।।१६६।।
एकादश्यां पुनःप्रातर्द्वारमुद्घाटयते दिवि ।
तत्र च प्रविशन्त्यग्रे बहवः शाम्भवा गणाः ।।१६७।।
तन्मध्ये कृततद्वेषा त्वन्मातासौ प्रवेश्यते ।
तदस्याः पञ्चचूडं त्वं क्षुरक्लृप्तं शिरः कुरु ।।१६८।।
कण्ठं करङ्कमालाढ्यं पार्श्वं चैकं सकज्जलम् ।
अन्यत्सिन्दूरलिप्तं च कुर्वस्या वीतवाससः ।।१६९।।
एवं ह्येनां गणाकारां सुखं स्वर्गं नयाम्यहम् ।
इत्युक्त्वा स क्षणं स्थित्वा लोहजङ्घस्ततोऽगमत् ।।१७०।।
प्रातश्च सा रूपणिका यथोक्तं तमकारयत् ।
वेषं मातुरथैषापि तस्थौ स्वर्गैकसम्मुखी ।।१७१।।
आययौ च पुनस्तत्र लोहजङ्घो निशामुखं ।
सा च रूपणिका तस्मै मातरं तां समर्पयत् ।।१७२।।
ततः स विहगारूढस्तामादायैव कुट्टनीम् ।
नग्नां विकृतवेषां च जवादुदपतन्नभः ।।१७३।।
गगनस्थश्च तत्रैव प्रांशुं देवकुलाग्रतः ।
स ददर्श शिलास्तम्भचक्रेणोपरि लाञ्छितम् ।।१७४।।
तस्य पृष्ठे स चक्रैकसालम्बे तां न्यवेशयत् ।
खलिकारप्रतीकारपताकामिव कुट्टनीम् ।।१७५।।
इह तिष्ठ क्षणं यावत्सान्निध्यानुग्रहं भुवि ।
गत्वा करोमीत्युक्त्वा च तस्या दृष्टिपथाद्ययौ ।।१७६।।
ततस्तत्रैव देवाग्रे दृष्ट्वा जागरणागतान् ।
रात्रौ यात्रोत्सवे लोकान्गगनादेवमब्रवीत् ।।१७७।।
हे लोका इह युष्माकमुपर्यद्य पतिष्यति ।
सर्वसंहारिणी मारी तदेत शरणं हरिम् ।।१७८।।
श्रुत्वैतां गगनाद् वाणीं भीताः सर्वेऽपि तत्र ते ।
माथुरा देवमाश्रित्य तस्थुः स्वस्त्ययनादृताः ।।१७९।।
सोऽपि व्योम्नोऽवतीर्यैव लोहजङ्घोऽवलोकयन् ।
तस्थावदृष्टस्तन्मध्ये देववेषं निवार्य तम् ।।१८०।।

तब वह नकली देवता लोहजंघ रूपणिका से बोला--'तुम्हारी माता पापिनी है, उसे स्पष्ट रूप से स्वर्ग नहीं ले जाया जा सकता। हाँ, एकादशी के दिन स्वर्ग का द्वार खुलता है। उस द्वार से सबसे पहले शिवजी के भक्तगण उसमें प्रवेश करते हैं। यदि उन शिवगणों में उनका-सा वेश बनाकर तुम्हारी माता की भरती करा दी जाय, तो वह स्वर्ग में जा सकती है। इसलिए इसके सिर को छुरे से मुँड़ाकर सिर पर पाँच शिखाएँ या चोटियाँ रखवाओ। और गले में हड्डियों की माला और शरीर का एक भाग काजल से काला तथा दूसरा सिन्दूर से लाल करके और नंगी करके उसे शिवगणों में भरती किया जा सकेगा। यदि वह इस प्रकार शिवगण के रूप में मेरे साथ आवे, तो मैं उसे स्वर्ग ले जा सकता हूँ ॥१६६–१६९॥

ऐसा कहकर और कुछ ठहरकर लोहजंघ चला गया। पूर्वनिश्चयानुसार एकादशी को प्रातःकाल रूपणिका ने स्वर्ग जाने के लिए उत्सुक माता को गणों का वेश बनाकर तैयार कर दिया। सायंकाल लोहजंघ उसी प्रकार वेश्या के घर आया और रूपणिका ने माता को उसे सौंप दिया ॥१७०––१७२॥

लोहजंघ भी अपने नित्यकृत्य से निवृत्त होकर उस विकृतवेशा कुट्टनी को अपने साथ गरुड पर बैठाकर आकाश में उड़ गया। आकाश में उड़ते हुए उसने एक देव-मन्दिर के सामने गड़े हुए चक्र-चिह्नित पत्थर के स्तम्भ को देखा। उसी स्तम्भ में लगे हुए चक्र के सहारे अपना अपमान करनेवाली ध्वजा के समान उस कुट्टनी को उसने खड़ा कर दिया ॥१७३—१७५॥

तब कुट्टनी से उसने कहा कि 'तुम कुछ देर के लिए यहाँ ठहरो। मैं तुम्हें गणों में भरती कराने का प्रबन्ध करता हूँ।' ऐसा कहकर लोहजंघ उसकी आँखों से ओझल हो गया ॥१७६॥

कुछ आगे जाकर उसने एक मन्दिर के समीप रात्रि-जागरण के लिए एकत्र हुए नागरिकों का मेला देखा। उसे देखकर वह आकाश से ही चिल्लाकर बोला--'हे नागरिक लोगो, आज तुम्हारे ऊपर सर्वसंहारकारिणी महामारी गिरेगी। इसलिए भगवान् का भजन करो, उन्हीं की शरण में जाओ' ॥१७७-१७८॥

इस प्रकार, आकाशवाणी सुनकर डरे हुए सभी मथुरावासी, स्वस्ति-पाठ करते हुए भगवान् के समीप जा बैठे ॥१७९॥

वह लोहजंघ भी विहार में उतरकर पक्षी को बाँधकर और देवता का नकली वेश उतारकर साधारण नागरिक के वेश में उसी जन-समाज में चुपचाप आकर मिल गया ॥१८०॥

अद्यापि नागतो देवो न च स्वर्गमहं गता ।
इति च स्तम्भपृष्ठस्था कुट्टन्येवमचिंतयत् ।।१८१।।
अक्षमेवोपरि स्थातुं श्रावयन्ती जनानधः ।
हा हाऽहं पतितास्मीति सा चक्रन्द च बिभ्यती ।।१८२।।
तच्छ्रुत्वा पतिता सेयं मारीत्याशङ्क्य चाकुलाः ।
देवि मा मा पतेत्यूचुस्ते देवाग्रगता जनाः ।।१८३।।
ततः सबालवृद्धास्ते माथुरास्तां विभावरीम् ।
मारीपातभयोद्भ्रान्ता कथमप्यत्यवाहयन् ।।१८४।।
प्रातश्च दृष्ट्वा स्तम्भस्थां कुट्टनीं तां तथाविधाम् ।
प्रत्यभिज्ञातवान्सर्वः पौरलोकः सराजकः ।।१८५।।
अतिक्रान्तभये तत्र जातहासेऽखिले जने ।
आययौ श्रुतवृत्तान्ता तत्र रूपणिकाथ सा ।।१८६।।
सा च दृष्ट्वा सवैलक्ष्या स्तम्भाग्राज्जननीं निजाम् ।
तामवातारयत् सद्यस्तत्रस्थैश्च जनैः सह ।।१८७।।
ततः सा कुट्टनी तत्र सर्वैस्तैः सकुतूहलैः ।
अपृच्छ्यत यथावृत्तं सापि तेभ्यः शशंस तत् ।।१८८।।
ततः सिद्धादिचरितं तन्मत्वाद्भुतकारकम् ।
सराजविप्रवणिजो जनास्ते वाक्यमब्रुवन् ।।१८९।।
येनेयं विप्रलब्धा हि वञ्चितानेककामुका ।
प्रकटः सोऽस्तु तस्येह पट्टबन्धो विधीयते ।।१९०।।
तच्छ्रुत्वा लोहजङ्घः स तत्रात्मानमदर्शयत् ।
पृष्टश्चामूलतः सर्वं वृत्तान्तं तमवर्णयत् ।।१९१।।
ददौ च तत्र देवाय शङ्खचक्राद्युपायनम् ।
विभीषणेन प्रहितं जनविस्मयकारकम् ।।१९२।।
अथ तस्य सपदि पट्टं बद्ध्वा सन्तुष्य माथुराः सर्वे ।
स्वाधीनां रूपणिकां राजादेशेन तां चक्रुः ।।१९३।।
ततश्च तत्र प्रियया समं तदा समृद्धकोषो बहुरत्नसञ्चयैः ।
स लोहजङ्घः प्रतिकृत्य कुट्टनीनिकारमन्युं न्यवसद्यथासुखम् ।।१९४।।

उधर चक्र के सहारे खम्भे पर खड़ी कुट्टनी खड़े-खड़े थककर सोचने लगी कि अभी तक न तो भगवान् ही आये और न मैं ही स्वर्ग गई। ऐसा सोचकर त्रस्त कुट्टनी चिल्लाने लगी और गिरने के भय से कहने लगी —'मैं गिरती हूँ।' उसका रोना-धोना सुनकर देव-मन्दिर में एकत्र मथुरा के निवासी उसे ही साक्षात् महामारी समझकर व्याकुल हो गये और कहने लगे कि 'मत गिरो, मत गिरो।' ॥१८१—१८३॥

इस प्रकार, महामारी के पतन से घबराये हुए मथुरावासियों ने बाल-बच्चों के साथ वह रात किसी प्रकार व्यतीत की ॥१८४॥

प्रातःकाल के प्रकाश में सभी मथुरावासी प्रजा और राजा ने भी उस रूप में खम्भे पर खड़ी कुट्टनी को देखा और पहचाना ॥१८५॥

महामारी का भय दूर होने पर तथा एक बार खूब हँसी हो जाने पर रूपणिका वेश्या अपनी माता का समाचार सुनकर वहाँ आई ॥१८६॥

माता को इस प्रकार खम्भे पर खड़ी देखकर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ और किसी प्रकार उसने उसे ऊपर से उतरवाया ॥१८७॥

वहाँ एकत्र जनसमूह के पूछने पर उस कुट्टनी ने अपनी दुर्दशा का सारा वृत्तान्त लोगों से कह सुनाया ॥१८८॥

इस विस्मयकारी घटना को किसी सिद्ध आदि का विनोद समझकर ब्राह्मण, वैश्य और राजा आदि एकत्र लोगों ने कहा—'अनेक कामियों को ठगनेवाली इस कुट्टनी को भी जिसने इस प्रकार ठग लिया, वह धन्य है। यदि वह इस जनसमाज में है, तो प्रकट हो जाय, पुरस्कार-स्वरूप उसका पट्ट-बन्ध[1] किया जायगा' ॥१८९-१९०॥

इस घोषणा को सुनकर जनसमाज में छिपा हुआ लोहजंघ प्रकट हो गया और उसने जनता के पूछने पर समस्त वृत्तान्त सुना दिया ॥१९१॥

साथ ही, उसने वहीं उपस्थित मथुरा-नरेश को शंख, चक्र आदि उपहार भेंट कर दिये, जिसे देखकर जनता ने अत्यन्त आश्चर्य प्रकट किया ॥१९२॥

तदनन्तर, मथुरा के नागरिकों ने लोहजंघ के इस साहसिक कार्य पर सन्तोष प्रकट करते हुए उसे पट्ट बाँधकर सत्कृत किया और राजा की आज्ञा से वेश्या रूपणिका को स्वाधीन करा दिया, अर्थात् उसे वेश्यावृत्ति से मुक्त कर दिया ॥१९३॥

इस प्रकार, राजा तथा प्रजा से सम्मानित लोहजंघ, लंका से प्राप्त रत्नराशि द्वारा अत्यन्त समृद्ध बनकर और कुट्टनी मकरदंष्ट्रा से बदला चुकाकार सुखपूर्वक मथुरा में निवास करने लगा ॥१९४॥

---

१. प्राचीन समय में जिस व्यक्ति का राजा या जनता के द्वारा नागरिक सम्मान किया जाता था, उसे विशेष प्रकार के मुकुट आदि पहनाकर और रथ में बैठाकर शोभायात्रा (जुलूस) के साथ नगर में परिभ्रमण कराया जाता था।—अनु०

इत्यन्यरूपस्य वसन्तकस्य मुखात्समाकर्ण्य कथामवापि ।
बद्धस्य वत्साधिपतेः समीपे तोषः परो वसावदत्तयान्तः ॥१६५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथामुखलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः ।

पञ्चमस्तरङ्गः

उदयनकथा : वासवदत्ताहरणम्

अथ वासवदत्ता सा शनैर्वत्सेश्वरं प्रति ।
गाढं बबन्ध सद्भावं पितृपक्षपराङ्मुखी ॥१॥
ततो वत्सेशनिकटं पुनर्यौगन्धरायणः ।
विवेशादर्शनं कृत्वा सर्वानन्याञ्जनान्प्रति ॥२॥
वसन्तकसमक्षं च विजने तं व्यजिज्ञपत् ।
राजन्बद्धो भवांश्चण्डमहासेनेन मायया ॥३॥
सुतां च दत्वा सम्मान्य त्वामयं मोक्तुमिच्छति ।
तदस्यैनां स्वयं हृत्वा गच्छामस्तनयां वयम् ॥४॥
एवं ह्यस्य प्रतीकारो दृप्तस्य विहितो भवेत् ।
अपौरुषकृतं लोके नैव स्याल्लाघवं च वः ॥५॥
अस्ति चैतेन दत्तास्यास्तनयायाः करेणुका ।
राज्ञा वासवदत्ताया नाम्ना भद्रवती नृप ॥६॥
सा चानुगन्तुं वेगेन शक्या नान्येन दन्तिना ।
मुक्त्वा नडागिरिं सोऽपि तां दृष्ट्वैव न युध्यते ॥७॥
तस्याश्चाषाढको नाम हस्त्यारोहोऽत्र विद्यते ।
स च दत्वा धनं भूरि स्वीकृत्य स्थापितो मया ॥८॥
तदारुह्य करेणुं तां सह वासवदत्तया ।
सायुधेनापयातव्यं नक्तं गुप्तमितस्त्वया ॥९॥
इहत्यश्च महामात्रो द्विरदेङ्गितवित्तदा ।
मद्येन क्षीबतां नेयो नैतच्चेतयते यथा ॥१०॥
पुलिन्दकस्य सख्युस्ते पार्श्वमग्रे च याम्यहम् ।
मार्गरक्षार्थमित्युक्त्वा ययौ यौगन्धरायणः ॥११॥
वत्सराजोऽपि तत्सर्वं कर्त्तव्यं हृदये व्यधात् ।
अथ वासवदत्ता सा तस्यान्तिकमुपाययौ ॥१२॥

इस प्रकार, विकृत वेषधारी वसन्तक के मुँह से कथा सुनकर बन्दी उदयन को अत्यन्त सन्तोष हुआ और वासवदत्ता भी हृदय से प्रसन्न हुई ।।१६५।।

महाकविश्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथापीठ लम्बक का चतुर्थ तरंग समाप्त।

पंचम तरंग

उदयन की कथा : वासवदत्ता-हरण

कुछ समय के अनन्तर पिता के पक्षपात से रहित होकर वासवदत्ता को वत्सराज उदयन के प्रति प्रगाढ प्रेम हो गया ।।१।।

यह जानकर मन्त्री यौगन्धरायण अदृश्य रूप से पुनः राजा उदयन के समीप आया। उसकी अदृश्यकारिणी विद्या के प्रभाव से उसे दूसरे व्यक्ति न देख सके ।।२।।

उसने वसन्तक के सामने ही राजा से कहा—'महाराज, तुम्हें चण्डमहासेन ने छल-कपट करके कैद कर लिया है और अपनी कन्या देकर तुम्हारा सम्मान करके तुम्हें छोड़ देगा ।।३।।

इसलिए, हम लोग स्वयं उसकी कन्या का अपहरण करके ले चलते हैं। इस प्रकार, इस अभिमानी का मान भंग होगा और संसार में तुम्हारी दुर्बलता का अपवाद भी न होगा' ।।४-५।।

राजा चण्डसेन ने कन्या वासवदत्ता को भद्रवती नाम की हस्तिनी दी है। वह इतनी शीघ्रता से चलती है कि दूसरे हाथी, केवल एक नडागिरि को छोड़कर, उसका पीछा नहीं कर सकते। नडागिरि भी, उसे देखकर युद्ध नहीं करता। उस भद्रवती हस्तिनी के पीलवान (महावत) का नाम आषाढक है। उसे मैंने पर्याप्त धन देकर अपने पक्ष में कर लिया है ।।६—८।।

इसलिए, उसी हस्तिनी की सवारी से वासवदत्ता को साथ लेकर तुम्हें रात के समय यहाँ से छिपकर भागना चाहिए ।।९।।

यहाँ के बड़े हाथीवान को मद्य पिलाकर ऐसा बेसुध कर देना चाहिए कि जिससे उसे होश ही न रहे। अन्यथा, वे हाथियों के संकेत समझने में अति निपुण हैं ।।१०।।

मार्ग-रक्षा के लिए मैं तुम्हारे मित्र पुलिन्दक के पास अभी जाता हूँ। ऐसा कहकर यौगन्धरायण चला गया ।।११।।

वत्सराज ने भी अपना सारा कर्त्तव्य सोच-समझ लिया। कुछ समय के पश्चात् वासवदत्ता उसके समीप आई ।।१२।।

ततस्तास्ताः सविस्रम्भाः कथाः कुर्वंस्तया सह ।
यौगन्धरायणोक्तं च तस्यै राजा शशंस सः ॥१३॥
सा च तत्प्रतिपद्यैव निश्चित्य गमनं प्रति ।
आनाय्याषाढकं सज्जं हस्त्यारोहं चकार तम् ॥१४॥
देवपूजापदेशेन दत्त्वा मद्यं मदान्वितम् ।
सर्वाधोरणसंयुक्तं महामात्रं च साकरोत् ॥१५॥
ततः प्रदोषे विलसन्मेघशब्दसमाकुले ।
आषाढकः करेणुं तां सज्जीकृत्यानिनाय सः ॥१६॥
सज्ज्यमाना च सा शब्दं चकार करिणी किल ।
तं च हस्तिरुताभिज्ञो महामात्रोऽथ सोऽशृणोत् ॥१७॥
त्रिषष्टियोजनान्यद्य यास्यामीत्याह हस्तिनी ।
इत्युवाच स चोद्दाममदविस्खलिताक्षरम् ॥१८॥
विचारार्हं पुनस्तस्य मत्तस्याभून्न मानसम् ।
तच्च हस्तिपकाः क्षीबास्तद्वाक्यं नैव शुश्रुवुः ॥१९॥
ततश्च वत्सराजोऽत्र वीणामादाय तां निजाम् ।
यौगन्धरायणात्प्राप्तैर्योगैः स्रंसितबन्धनः ॥२०॥
उपनीतप्रहरणः स्वैरं वासवदत्तया ।
करेणुकायामारोहत्स तस्यां सवसन्तकः ॥२१॥
ततो वासवदत्तापि सह काञ्चनमालया ।
सख्या रहस्यधारिण्या तस्यामेवारुरोह सा ॥२२॥
अथोज्जयिन्या निरगात् स हस्तिपकपञ्चमः ।
वत्सेशो निशि मत्तेभभिन्नप्राकारवर्त्मना ॥२३॥
तत्स्थानरक्षिणौ वीरौ स्वैरं स हतवान्नृपः ।
वीरबाहुं तथा तालभटं राजसुतावुभौ ॥२४॥
ततः प्रतस्थे वेगेन स राजा दयितासखः ।
हृष्टः करेणुकारूढो दधत्याषाढकेऽङ्कुशम् ॥२५॥
उज्जयिन्यां च तौ दृष्ट्वा हतौ प्राकाररक्षिणौ ।
राज्ञे न्यवेदयन्रात्रौ क्षुभिताः पुररक्षिणः ॥२६॥
सोऽप्यन्विष्य क्रमाच्चण्डमहासेनः पलायितम् ।
हृतवासवदत्तं तं वत्सराजमबुद्ध्यत ॥२७॥
तत्पुत्रः पालकाख्योऽथ जातकोलाहले पुरे ।
अन्वधावत्स वत्सेशमधिरुह्य नडागिरिम् ॥२८॥

राजा उदयन उसके साथ विविध वार्त्तालाप के प्रसंग में वासवदत्ता को यौगन्धरायण की योजना बतला दी। वासवदत्ता ने उसकी योजना स्वीकार करके अपने महावत आषाढक को बुलाकर उसे हस्तिनी पर सवार करा दिया और देवता के प्रसाद का बहाना बनाकर प्रधान महावतों को खूब मद्य पिला दिया ॥१३–१५॥

इसके पश्चात् सायंकाल के समय आषाढक, अपनी उस हस्तिनी को सजाकर तैयार करके वहाँ ले आया ॥१६॥

सजी हुई हस्तिनी ने एक चिग्घाड़ किया, जिसे सुनकर हाथियों की शब्दावली को समझनेवाले प्रधान महावत ने नशे में चूर, अतएव अक्षरों में कहा–'हस्तिनी कह रही है कि आज मैं तिरसठ योजन जाऊँगी' ॥१७–१८॥

इतना जान लेने के बाद फिर उसे होश न रहा और न वह कुछ सोच ही सका। दूसरे महावतों ने भी नशे में चूर रहने के कारण उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। तदनन्तर, वत्सराज यौगन्धरायण द्वारा दी गई ओषधियों से बन्धनमुक्त होकर वीणा और वासवदत्ता के लाये हुए आयुधों के साथ वसन्तक के सहित वह उस हस्तिनी पर आरूढ हुआ ॥१९–२१॥

इसके पश्चात् वासवदत्ता भी अपनी एकान्त सहेली कांचनमाला के साथ उसी हस्तिनी पर सवार हो गई ॥२२॥

कुछ ही समय में वत्सराज उदयन, अपने साथियों के साथ टूटी हुई चहारदीवारी के मार्ग से उज्जयिनी के बाहर निकल गया ॥२३॥

उस स्थान पर पहरा देनेवाले वीरबाहु तथा तालभट नामक दोनों क्षत्रिय सिपाहियों को वत्सराज ने स्वयं ही मार डाला ॥२४॥

बाहर निकलकर वासवदत्ता के साथ उदयन प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़ता गया। हस्तिनी पर आषाढक ने अंकुश लगा रखा था ॥२५॥

उधर उज्जयिनी में पहरेदारों ने दो वीर सिपाहियों की मृत्यु का समाचार राजा के पास पहुँचाया। चण्डमहासेन ने चारों ओर खोज करने पर यह मालूम कर लिया कि उदयन, वासवदत्ता को लेकर भाग गया। चण्डमहासेन का लड़का पालक भी शोरगुल सुनकर और नडागिरि हाथी पर सवार होकर उनका पीछा करने चला ॥२६–२८॥

वत्सेशोऽपि तमायान्तं पथि बाणैरयोधयत् ।
नडागिरिः करेणुं तां दृष्ट्वा न प्रजहार च ॥२६॥
ततः स पालको भ्रात्रा पश्चादेत्य न्यवर्त्यत ।
गोपालकेन वाक्यज्ञः पितृकार्यानुरोधिना ॥३०॥
वत्सराजोऽपि विस्रब्धं गन्तुं प्रववृते ततः ।
गच्छतश्चात्र शनकैः शर्वरी पर्यहीयत ॥३१॥
ततो विन्ध्याटवीं प्राप्य मध्याह्ने तस्य भूपतेः ।
त्रिषष्टियोजनायाता तृषिताभूत्करेणुका ॥३२॥
अवतीर्णे सभार्ये च राज्ञि तस्मिञ्जलानि सा ।
पीत्वा तद्दोषतः प्राप पञ्चतां हस्तिनी क्षणात् ॥३३॥
विषण्णोऽथ स वत्सेशः सह वासवदत्तया ।
गगनादुद्गतामेतां शृणोति स्म सरस्वतीम् ॥३४॥
अहं मायावती नाम राजन् विद्याधराङ्गना ।
इयन्तं कालमभवं शापदोषेण हस्तिनी ॥३५॥
उपकारं च वत्सेश तवाद्य कृतवत्यहम् ।
करिष्यामि च भूयोऽपि त्वत्पुत्रस्य भविष्यतः ॥३६॥
एषा वासवदत्ता च पत्नी ते नैव मानुषी ।
दैवीयं कारणवशादवतीर्णा क्षिताविति ॥३७॥
ततः स हृष्टो व्यसृजन्विन्ध्यसानुं वसन्तकम् ।
पुलिन्दकाय सुहृदे वक्तुं स्वागमनं नृपः ॥३८॥
स्वयं च पादचारी सन् स शनैर्दयितान्वितः ।
तत्रैव गच्छन्नुत्थाय दस्युभिः पर्यवार्यत ॥३९॥
धनुर्द्वितीयो दस्यूनां तेषां पञ्चोत्तरं शतम् ।
पुरो वासवदत्ताया वत्सराजः स चावधीत् ॥४०॥
तत्क्षणं सोऽस्य राज्ञोऽत्र मित्रं चागात्पुलिन्दकः ।
यौगन्धरायणसखो वसन्तकपुरःसरः ॥४१॥
स तान्दस्यून्निवार्यान्यान्वत्सेशं प्रणिपत्य तम् ।
नयति स्म निजां पल्लीं भिल्लराजः सवल्लभम् ॥४२॥
तत्र तां रात्रिमारण्यदर्भपाटितपादया ।
स वत्सेशो विशश्राम सह वासवदत्तया ॥४३॥

वत्सराज ने उसे पीछा करते हुए देखकर बाणों से युद्ध प्रारम्भ कर किया। किन्तु, नडागिरि ने भद्रवती हाथी को देखकर प्रहार नहीं किया ।।२६।।

तदनन्तर, पिता की आज्ञा से आये हुए दूसरे राजकुमार गोपालक ने आकर पालक को लौटा लिया। उसके लौट जाने पर वत्सराज भी सुख और शान्तिपूर्वक सारा दिन यात्रा करता रहा। धीरे-धीरे रात समाप्त हुई तब मध्याह्न समय तिरसठ योजन चल लेने पर हस्तिनी को प्यास लगी ।।३०-३२।।

राजा और रानी के उतर जाने पर हस्तिनी ने पेट-भर पानी पिया और इसी कारण वह मर भी गई ।।३३।।

घोर विन्ध्यारण्य में खड़े और हस्तिनी के मर जाने से दुःखित राजा ने आकाशवाणी सुनी--।।३४।।

'हे राजन् ! मैं मायावती नाम की विद्याधरी हूँ। शाप के कारण हस्तिनी बन गई थी। मैंने अपने जीवन के रहते तुम्हें भगाने में सहायता दी। भविष्य में भी तुम्हारे होनेवाले पुत्र का उपकार करूँगी ।।३५-३६।।

कुमारी वासवदत्ता जो तुम्हारी पत्नी होनेवाली है, वह भी मानव नहीं है; प्रत्युत शाप के कारण मनुष्य रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई है ।।३७।।

तब राजा ने अपने नर्म-सचिव वसन्तक को विन्ध्य-शिखर पर स्थित अपने मित्र पुलिन्दक को अपने आगमन की सूचना देने के लिए भेजा ।।३८।।

और स्वयं राजा भी वासवदत्ता के साथ पदयात्रा करता हुआ धीरे-धीरे उसी ओर जाता हुआ डाकुओं से घेर लिया गया। हाथ में धनुष लिये हुए राजा अकेला था और डाकू संख्या में एक सौ पाँच थे। राजा उदयन ने वासवदत्ता के देखते-देखते सबको एक-एक करके मार डाला।३९-४०।।

उसी समय वत्सराज का मित्र पुलिन्दक, वसन्तक को आगे किये हुए यौगन्धरायण के साथ आ पहुँचा ।।४१।।

पुलिन्दक ने आते ही बचे-खुचे डाकुओं को भगाकर वत्सराज को प्रणाम किया और वासवदत्ता के साथ उसे अपने ग्राम में ले गया ।।४२।।

जंगली कुशाग्रों के आघात से छिले हुए कोमल चरणोंवाली वासवदत्ता के साथ राजा ने, उस रात्रि को भिल्लपल्ली में ही व्यतीत किया ।।४३।।

प्रातः सेनापतिश्चास्य रुमण्वान्प्रापदन्तिकम् ।
यौगन्धरायणेन प्राग्दूतं सम्प्रेष्य बोधितः ॥४४॥
आगाच्च कटकं सर्वं तया व्याप्तदिगन्तरम् ।
यथा विन्ध्याटवी प्राप सा सम्बाधरसज्ञताम् ॥४५॥
प्रविश्य कटके तस्मिंस्तस्यामेवाटवीभुवि ।
तस्थावुज्जयिनीवार्त्तां ज्ञातुं वत्सेश्वरोऽथ सः ॥४६॥
तत्रस्थं च तमभ्यागादुज्जयिन्या वणिक्तदा ।
यौगन्धरायणसुहृत्स चागत्याब्रवीदिदम् ॥४७॥
देव चण्डमहासेनः प्रीतो जामातरि त्वयि ।
प्रेषितश्च प्रतीहारस्तेनेह भवदन्तिकम् ॥४८॥
स चागच्छन् स्थितः पश्चादहमग्रत एव तु ।
प्रच्छन्नः सत्वरं देवि विज्ञापयितुमात्मनः ॥४९॥
एतच्छ्रुत्वा स वत्सेशो जहर्ष च शशंस च ।
सर्वं वासवदत्तायाः सापि हर्षमगात्परम् ॥५०॥
कृतबन्धुपरित्यागा विवाहविधिसत्वरा ।
अथ वासवदत्ता सा सलज्जा चोत्सुका तया ॥५१॥
ततः स्वात्मविनोदाय निकटस्थं वसन्तकम् ।
सा जगाद कथा काचित्त्वया मे वर्ण्यतामिति ॥५२॥
स च मुग्धदृशस्तस्या भर्त्तृभक्तिविवर्धिनीम् ।
वसन्तकस्तदा धीमानिमामकथयत्कथाम् ॥५३॥

गुहसेनदेवस्मितयोः कथा

अस्तीह नगरी लोके ताम्रलिप्तीति विश्रुता ।
तस्यां च धनदत्ताख्यो वणिगासीन्महाधनः ॥५४॥
स चापुत्रो बहून्विप्रान्सङ्घटय्य प्रणतोऽब्रवीत् ।
तथा कुरुत पुत्रो मे यथा स्यादचिरादिति ॥५५॥
ततस्तमूचुर्विप्रास्तं नैतत्किञ्चन दुष्करम् ।
सर्वं हि साधयन्तीह द्विजः श्रौतेन कर्मणा ॥५६॥
तथा च पूर्वमभवद्राजा कश्चिदपुत्रकः ।
पञ्चोत्तरं शतं चाभूत्तस्यान्तःपुरयोषिताम् ॥५७॥
पुत्रीयेष्ट्या च तस्यैको जन्तुर्नाम सुतोऽजनि ।
तत्पत्नीनामशेषाणां नूतनेन्दूदयो दृशि ॥५८॥

यौगन्धरायण द्वारा दूत के मुँह से पहले से ही सूचित वत्सराज का प्रधान सेनापति रुमण्वान् भी वहाँ आ पहुँचा ॥४४॥

उसके साथ ही चारों दिशाओं को व्याप्त करती हुई सेनाएँ भी आ पहुँचीं ॥४५॥

उस विन्ध्यभूमि में स्थित अपनी सेना के शिविर में प्रवेश करके उज्जयिनी का समाचार प्राप्त करने के लिए उसने स्थिर रूप से निवास किया। जब उदयन उसी शिविर में निवास कर रहा था, उसी समय यौगन्धरायण का मित्र एक बनिया उज्जयिनी से वहाँ आया और कहने लगा—'महाराज! उज्जयिनी-नरेश चण्डमहासेन आप जामाता पर बहुत प्रसन्न हैं। उसने आपके पास अपने सन्देशवाहक प्रतिहार (खवास) को भेजा है ॥४६-४८॥

वह आकर यहाँ ठहरा है। पहले मैं यहाँ आया हूँ। वह गुप्त रूप से आपसे निवेदन करना चाहता है। इनका आगमन जानकर वत्सराज प्रसन्न हुआ और राजा की प्रशंसा की। वासवदत्ता भी उससे प्रसन्न थी। यह समाचार सुनते समय अपने बन्धुओं को छोड़कर आई हुई और विवाह के लिए शीघ्रता करती हुई वासवदत्ता लज्जित और उत्सुक हुई। उसने निकट बैठे हुए वसन्तक से कहा कि तुम एक कहानी सुनाओ ॥४९—५२॥

वसन्तक ने भी उस सुलोचना वासवदत्ता को पतिभक्ति बढ़ानेवाली कहानी सुनाना प्रारम्भ किया ॥५३॥

गुहसेन और देवस्मिता की कथा

इस देश में ताम्रलिप्ति नाम से प्रसिद्ध एक नगरी है। उसमें बहुत बड़ा धनी धनदत्त नाम का एक वैश्य रहता था ॥५४॥

वह पुत्रहीन था, अतः उसने बहुत-से ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें प्रणाम करके निवेदन किया कि आप लोग ऐसा उपाय करें, जिससे मुझे पुत्रलाभ हो ॥५५॥

यह सुनकर ब्राह्मणों ने कहा—'यह कोई कठिन काम नहीं है। ब्राह्मण लोग, वैदिक कर्मों से सभी दुष्कर कार्यों को सुकर बना सकते हैं' ॥५६॥

प्राचीन समय में एक पुत्रहीन राजा था; उसकी एक सौ पाँच रानियाँ थीं। पुत्रेष्टि-यज्ञ करने के पश्चात् राजा के घर जन्तु नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ; जो सभी सौतों की आँखों के लिए दूज के चाँद के समान था ॥५७-५८॥

जानुभ्यां पर्यटन्तं च बालं जातु पिपीलिका ।
ऊरुदेशे ददंशैनं मुक्तचूत्कारकातरम् ॥५९॥
तावता तुमुलाक्रन्दमन्तःपुरमजायत ।
राजापि पुत्र पुत्रेति चक्रन्द प्राकृतो यथा ॥६०॥
क्षणात्तस्मिन्समाश्वस्ते बालेऽपास्तपिपीलिके ।
दुःखैककारणं राजा स निनिन्दैकपुत्रताम् ॥६१॥
अस्ति कश्चिदुपायो मे येन स्युर्बहवः सुताः ।
इति तत्परितापेन पप्रच्छ ब्राह्मणांश्च सः ॥६२॥
ते तं प्रत्यब्रुवन् राजन्नुपायोऽत्र तवास्त्ययम् ।
हत्वैतं त्वत्सुतं वह्नौ तन्मासं हूयतेऽखिलम् ॥६३॥
तद्गन्धाघ्राणतो राज्ञः सर्वाः प्राप्स्यन्ति ते सुतान् ।
एतच्छ्रुत्वा स राजा तत्तथा सर्वमकारयत् ॥६४॥
स्वपत्नीसमसंख्यांश्च स पुत्रान् प्राप्तवान्नृपः ।
अतस्तवापि होमेन साधयामो वयं सुतम् ॥६५॥
इत्युक्त्वा धनदत्तं तं ब्राह्मणाः क्लृप्तदक्षिणम् ।
होमं चक्रुस्ततस्तस्य वणिजो जातवान्सुतः ॥६६॥
गुहसेनाभिधानश्च स बालो ववृधे क्रमात् ।
पिताऽथ धनदत्तोऽस्य भार्यामन्विष्यति स्म सः ॥६७॥
ततः स तत्पिता तेन तनयेन समं ययौ ।
द्वीपान्तरं स्नुषाहेतोर्वणिज्याव्यपदेशतः ॥६८॥
तत्र देवस्मितां नाम धर्मगुप्ताद्वणिग्वरात् ।
स्वपुत्रगुहसेनस्य कृते कन्यामयाचत ॥६९॥
धर्मगुप्तस्तु सम्बन्धं न तमङ्गीचकार सः ।
आलोच्य ताम्रलिप्तीं तां दूरां दुहितृवत्सलः ॥७०॥
सा तु देवस्मिता दृष्ट्वा गुहसेनं तदैव तम् ।
तद्गुणाकृष्टचित्तत्वाद् बन्धुत्यागैकनिश्चया ॥७१॥
सखीमुखेन कृत्वा च सङ्केतं सह तेन सा ।
प्रियेण पितृयुक्तेन रात्रौ द्वीपात्ततो ययौ ॥७२॥
ताम्रलिप्तीमथ प्राप्य तयोः कृतविवाहयोः ।
जायापत्योर्मिथः प्रेमपाशबद्धमभून्मनः ॥७३॥

किसी समय घुटने के बल रेंगते हुए उस बालक की जाँघ में चींटी ने काट लिया। फलतः, बच्चा चिल्लाकर व्याकुल हो गया ।।५६।।

इतने में ही रनिवास में कोलाहल मच गया। राजा भी 'पुत्र-पुत्र' कहते हुए साधारण व्यक्तियों के समान रोने लगा ।।६०।।

कुछ समय के पश्चात् चींटी को हटा देने और बालक को चुप करा देने पर राजा एकपुत्रता की निन्दा करने लगा। एक पुत्र का होना दुःख का कारण होता है। क्या कोई ऐसा भी उपाय है कि मेरे बहुत-से पुत्र उत्पन्न हो जाय, सन्ताप के कारण राजा ने पुनः ब्राह्मणों को बुलाकर इस प्रकार पूछा ।।६१–६२।।

ब्राह्मणों ने उससे कहा—'हाँ, एक उपाय है। वह यह कि तुम्हारे इस लड़के को मारकर उसके मांस से हवन किया जाय। उस हवन-धूम की गन्ध को पाकर तुम्हारी सभी रानियाँ गर्भवती हो जायँगी और तुम्हें अपनी रानियों की संख्या के बराबर पुत्र उत्पन्न होंगे।' ब्राह्मणों की यह बात सुनकर राजा ने उनके कथनानुसार कार्य करना स्वीकार किया और तदनुरूप सारी व्यस्वथा की। फलतः, उसे अपनी पत्नियों की संख्या के बराबर पुत्र प्राप्त हुए। धनदत्त को ब्राह्मणों ने यह कथा सुनाकर कहा कि हम भी तुम्हारे लिए हवन के द्वारा पुत्रप्राप्ति का अनुष्ठान सम्पन्न करेंगे ।।६३–६५।।

ब्राह्मणों ने पुत्र-साधना के लिए दक्षिणा का निश्चय करके यज्ञ किया और उससे धनदत्त को गुहसेन नामक बालक उत्पन्न हुआ ।।६६।।

बड़ होने पर उसके पिता ने उसके विवाह के लिए स्त्री ढूँढ़ना प्रारम्भ किया ।।६७।।

इसी प्रसंग में व्यापार के बहाने धनदत्त उसे लेकर पुत्रवधू लाने के लिए दूसरे द्वीप में चला गया ।।६८।।

दूसरे द्वीप में जाकर उसने धर्मगुप्त नामक बनिये से उसकी देवस्मिता नाम की कन्या को अपने पुत्र गुहसेन के लिए माँगा ।।६६।।

कन्या के अत्यन्त प्रिय होने के कारण और ताम्रलिप्ति को दूर समझकर धर्मगुप्त ने अपनी कन्या उसे नहीं दी ।।७०।।

किन्तु, उसकी कन्या देवस्मिता, गुहसेन को देखकर उसके गुणों से आकृष्ट होकर और अपने परिवारवालों को त्याग कर उसके साथ जाने के लिए तैयार हो गई ।।७१।।

किसी सहेली के द्वारा गुहसेन से गुप्त निश्चय करके देवस्मिता, गुहसेन और उसके पिता के साथ, रात के समय, ताम्रलिप्ति चली आई ।।७२।।

ताम्रलिप्ति पहुँचकर उन दोनों का विवाह-सम्बन्ध हो जाने पर उन दोनों का मन परस्पर प्रेमपाश में दृढतापूर्वक बँध गया ।।७३।।

अथास्तं पितरि प्राप्ते प्रेरितोऽभूत्स बन्धुभिः ।
कटाहद्वीपगमने गुहसेनो यदृच्छया ॥७४॥
तच्चास्य गमनं भार्या तदा नाङ्गीचकार सा ।
सेर्ष्या देवस्मिता काममन्यस्त्रीसङ्गशङ्किनी ॥७५॥
ततः पत्न्यामनिच्छन्त्यां प्रेरयत्सु च बन्धुषु ।
कर्त्तव्यनिश्चलो मूढो गुहसेनो बभूव सः ॥७६॥
अथ गत्वा निराहारश्चक्रे देवकुले व्रतम् ।
उपायमिह देवो मे निर्दिशत्विति चिन्तयन् ॥७७॥
सापि देवस्मिता तद्वत्तेन सार्धं व्यधाद् व्रतम् ।
ततोऽनयोः शिवः स्वप्ने दम्पत्योर्दर्शनं ददौ ॥७८॥
द्वे च रक्ताम्बुजे दत्त्वा स देवस्तावभाषत ।
हस्ते गृह्णीतमेकैकं पद्ममेतदुभावपि ॥७९॥
दूरस्थत्वे च यद्येकः शीलत्यागं करिष्यति ।
तदन्यस्य करे पद्मं म्लानिमेष्यति सत्वरम् ॥८०॥
एतच्छ्रुत्वा प्रबुद्ध्यैव दम्पती तावपश्यताम् ।
अन्योन्यस्येव हृदयं हस्तस्थं रक्तमम्बुजम् ॥८१॥
ततः स चक्रे प्रस्थानं गुहसेनो धृताम्बुजः ।
सा तु देवस्मिता तत्र तस्थौ पद्मार्पितेक्षणा ॥८२॥
गुहसेनोऽपि तं प्राप कटाहद्वीपमाशु सः ।
कर्त्तुं प्रववृते चात्र रत्नानां क्रयविक्रयौ ॥८३॥
हस्ते च तस्य तद्दृष्ट्वा सदैवाम्लानमम्बुजम् ।
तत्र केचिद् वणिक्पुत्राश्चत्वारो विस्मयं ययुः ॥८४॥
ते युक्त्या तं गृहं नीत्वा पाययित्वा भृशं मधु ।
पप्रच्छुः पद्मवृत्तान्तं सोऽपि क्षीबः शशंस तम् ॥८५॥
ततस्तं चिरनिर्वाह्यरत्नादिक्रयविक्रयम् ।
बिचिन्त्य गुहसेनं ते चत्वारोऽपि वणिक्सुताः ॥८६॥
संमन्त्र्य कौतुकात्पापास्तद्भार्याशीलविप्लवम् ।
चिकीर्षवो ययुः शीघ्रं ताम्रलिप्तीमलक्षिताः ॥८७॥
तत्रोपायं विचिन्वन्तः सुगतायतनस्थिताम् ।
प्रव्राजिकामुपाजग्मुर्नाम्ना योगकरण्डिकाम् ॥८८॥

कुछ समय के अनन्तर पिता की मृत्यु हो जाने पर गुहसेन को साथियों ने कटाह-द्वीप जाने की प्रेरणा दी ।।७४।।

किन्तु, उसकी पत्नी देवस्मिता ने अन्य स्त्रियों के समागम के भय से उसे जाने की अनुमति नहीं दी ।।७५।।

एक ओर पत्नी के रोकने से और दूसरी ओर बन्धुओं की प्रेरणा से गुहसेन अपने कर्त्तव्य के प्रति विमूढ हो गया कि वह क्या करे, जाय या न जाय ।।७६।।

तब गुहसेन ने देवमन्दिर में जाकर निराहार व्रत करना प्रारम्भ किया कि देवता मुझे जो उपाय बतायेंगे, वही करूँगा ।।७७।।

उसके व्रत को देखकर देवस्मिता ने भी उसके साथ ही व्रत करना प्रारम्भ किया। व्रत से सन्तुष्ट होकर शिवजी ने दम्पति को स्वप्न में दर्शन दिया ।।७८।।

और दोनों को दो कमल के पुष्प देकर कहा कि 'एक-एक पुष्प, तुम लोग अपने-अपने हाथ में रखो । दूर रहकर भी तुम दोनों में से यदि एक कोई भी सदाचार का त्याग करेगा, तो दूसरे के हाथ का कमल मुरझा जायगा, अन्यथा दोनों ही विकसित रहेंगे ।।७९-८०।।

सोकर उठने पर वैश्य-दम्पती ने अपने-अपने हाथों में एक-एक लाल कमल देखा । वे कमल, मानों दोनों के हृदय, प्रत्यक्ष रूप से दोनों के हाथों में थे ।।८१।।

इस घटना के उपरान्त हाथ में कमल लिये हुए उस गुहसेन ने व्यापार के लिए कटाहद्वीप की ओर प्रस्थान किया; किन्तु देवस्मिता घर पर ही कमल पर आँखें गड़ाई हुई रहने लगी ।।८२।।

कटाहद्वीप में पहुँचने पर गुहसेन ने रत्नों की खरीद-बेच प्रारम्भ की ।।८३।।

उसके हाथ में सदा खिले हुए कमल को देखकर चार वैश्यपुत्रों को बहुत आश्चर्य हुआ ।।८४।।

वे किसी उपाय से उसे अपने घर ले गये और उसे खूब मद्य पिलाकर पद्म के सम्बन्ध में उससे पूछा । उस मदोन्मत्त गुहसेन ने भी सारा वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया । उन चारों ने गुहसेन की पत्नी का चरित्र नष्ट करने की कल्पना से गुप्त रूप से ताम्रलिप्ति की ओर प्रस्थान किया ।।८५—८७।।

वहाँ पहुँचकर दुराचार के लिए उपाय सोचते हुए वे चारों दुष्ट, किसी जैनमन्दिर में रहनेवाली योगकरण्डिका नाम की परिव्राजिका (साधुनी) के पास गये ।।८८।।

प्रीतिपूर्वं च तामूचुर्भगवत्यस्मदीप्सितम् ।
साध्यते चेत्त्वया तत्ते दास्यामोऽर्थान् बहूनिति ॥८९॥
साप्युवाच ध्रुवं यूनां कापि स्त्री वाञ्छितेह वः ।
तद्ब्रूत साधयाम्येव धनलिप्सा च नास्ति मे ॥९०॥
अस्ति सिद्धिकरी नाम शिष्या मे बुद्धिशालिनी ।
तत्प्रसादेन सम्प्राप्तमसङ्ख्यं हि धनं मया ॥९१॥

सिद्धिकथा

कथं शिष्याप्रसादेन भूरि प्राप्तं धनं त्वया ।
इति तैः सा वणिक्पुत्रैः पृष्टा प्रव्राजिकाब्रवीत् ॥९२॥
कौतुकं यदि तत्पुत्राः श्रूयतां वर्णयामि वः ।
इह कोऽपि वणिक्पूर्वमाययावुत्तरापथात् ॥९३॥
तस्येहस्थस्य मच्छिष्या सा गत्वा शिश्रिये गृहे ।
युक्त्या कर्मकरीभावं कृतरूपविवर्त्तना ॥९४॥
विश्वास्य वणिजं तं च तद्गृहात् स्वर्णसञ्चयम् ।
सर्वं मुषित्वा प्रच्छन्नं प्रत्यूषे साथ निर्ययौ ॥९५॥
नगरीनिर्गतां दृष्ट्वा शङ्काशीघ्रगतिं च ताम् ।
मृदङ्गहस्तो मोषाय डोम्बः कोऽप्यन्वगाद्द्रुतम् ॥९६॥
न्यग्रोधस्य तलं प्राप्य सा दृष्ट्वा तमुपागतम् ।
डोम्बं सिद्धिकरी धूर्त्ता सदैन्येवेदमब्रवीत् ॥९७॥
भर्त्रा सहाद्य कलहं कृत्वाहं निर्गता गृहात् ।
मर्त्तुं तद्भद्र पाशोऽत्र त्वया मे बध्यतामिति ॥९८॥
पाशेन म्रियतामेषा किमेनां हन्म्यहं स्त्रियम् ।
मत्वेति तत्र वृक्षोऽसौ डोम्बः पाशमसज्जयत् ॥९९॥
ततः सिद्धिकरी डोम्बं सा मुग्धेव जगाद तम् ।
क्रियते कथमुद्बन्धस्त्वया मे दर्श्यतामिति ॥१००॥
ततः स डोम्बस्तं दत्त्वा मृदङ्गं पादयोरधः ।
इत्थं क्रियत इत्युक्त्वा स्वकण्ठे पाशमर्पयत् ॥१०१॥
सापि सिद्धिकरी सद्यस्तं मृदङ्गमचूर्णयत् ।
पादाघातेन डोम्बोऽथ सोऽपि पाशे व्यपद्यत ॥१०२॥
तत्कालमागतोऽन्वेष्टुं वृक्षमूले ददर्श सः ।
मुषिताशेषकोषां तां दूरात्सिद्धिकरीं वणिक् ॥१०३॥

और उससे कहने लगे—हे देवि, यदि तुम हमारा कार्य सिद्ध कर दोगी, तो तुम्हें हम बहुत-सा धन देंगे' ॥८९॥

वह स्त्री बोली—'यदि तुम लोग किसी स्त्री को चाहते हो, तो कहो। मैं तुम्हारा कार्य करा दूँगी। मुझे धन का लालच नहीं है ॥९०॥

सिद्धिकरी नाम की एक बुद्धिमती शिष्या है। उसकी कृपा से मैंने असंख्य धन प्राप्त किया है' ॥९१॥

सिद्धि की कथा

'तुमने शिष्या की कृपा से अनन्त धन कैसे प्राप्त किया'? वैश्यपुत्रों द्वारा इस प्रकार पूछने पर संन्यासिनी बोली—॥९२॥

बेटे! यदि तुम्हें सुनने की इच्छा है, तो सुनो, कहती हूँ। एक बार उत्तरापथ से कोई बनिया यहाँ आया था ॥९३॥

मेरी शिष्या किसी उपाय से उसके घर जाकर टिक गई। उसने अपना रूप बिगाड़कर सेविका (मजदूरनी) का रूप धारण किया ॥९४॥

धीरे-धीरे वह उस बनिये पर विश्वास जमाकर उसके घर में रखे हुए समस्त स्वर्ण-भाण्डार को लेकर अत्यन्त प्रातःकाल में छिपकर निकल गई ॥९५॥

नगर से बाहर पकड़े जाने के भय से शीघ्रतापूर्वक भागती हुई उसे देखकर मार्ग में डोम[1] उसका धन छीनने के लिए उसका पीछा करने लगा ॥९६॥

धूर्त्ता सिद्धिकरी ने समझ लिया और एक पीपल के वृक्ष के नीचे पहुँचकर उसने बड़ी ही दीनता के साथ उस डोम से कहा—'आज मैं अपने पति के साथ कलह करके मरने के लिए घर से भाग आई हूँ। इसलिए हे भले आदमी! तुम मेरे लिए फाँसी का फन्दा बाँध दो।' यह फाँसी के फन्दे से स्वयं ही मर जाय, मैं स्त्री-हत्या क्यों करूँ"—यह सोचकर उसने वृक्ष से फाँसी का फन्दा लटका दिया ॥९७–९९॥

तब वह सिद्धिकरी अनजान और भोली-भाली-सी बनकर उससे बोली—'इस फन्दे को गले में कैसे फँसाया जाता है, जरा मुझे फँसाकर दिखाओ' ॥१००॥

तब उस मूर्ख डोम ने पैरों के नीचे ढोल रखकर फन्दे को गले में डालकर फाँसी का प्रदर्शन किया ॥१०१॥

इतने में ही उस सिद्धिकरी ने उस ढोलक को लात मारकर तोड़ दिया और उसके टूटते ही डोम स्वयं फाँसी के फन्दे में लटककर मर गया ॥१०२॥

उसी समय सिद्धिकरी को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते बनिया उधर आया और उसने दूर से वृक्ष के नीचे सिद्धिकरी को नहीं देखा ॥१०३॥

---

१. चाण्डाल का कर्म करनेवाली नीच जाति का पुरुष, जिसे डोम कहते हैं।—अनु०

सापि दृष्ट्वा तमायान्तं वृक्षे तस्मिन्नलक्षितम् ।
आरुह्य तस्थौ शाखायां पत्रौघच्छन्नविग्रहा ॥१०४॥
स चागत्य वणिग्यावत्सभृत्यः पाशबन्धनम् ।
डोम्बमेव तमद्राक्षीन्नतु सिद्धिकरीं क्वचित् ॥१०५॥
मा नाम वृक्षमारूढा सा भवेदिति तत्क्षणम् ।
एकोऽस्य वणिजो भृत्यस्तरुमारोहति स्म तम् ॥१०६॥
सदा त्वय्येव मे प्रीतिरिहारूढस्त्वमेव च ।
तत्सुन्दर तवैवेदं धनमेहि भजस्व माम् ॥१०७॥
इत्युक्त्वालिङ्ग्य चुम्बन्ती सास्य सिद्धिकरी मुखम् ।
वणिग्भृत्यस्य दशनैर्जिह्वां मूढधियोऽच्छिनत् ॥१०८॥
स पपात व्यथाक्रान्तो मुखेन रुधिरं वमन् ।
वृक्षात्तस्माल्ललल्लेति किमप्यप्रस्फुटं ब्रुवन् ॥१०९॥
तद्दृष्ट्वा स वणिग्भीतो भूतग्रस्तमवेत्य तम् ।
स्वगृहं भृत्यसहितः पलाय्यैव ततो ययौ ॥११०॥
अथावतीर्य वृक्षाग्रात्तद्वद्भीता च तापसी ।
आगाद् गृहं समादाय तत्सा सिद्धिकरी धनम् ॥१११॥
एवंविधा हि मच्छिष्या बहु प्रज्ञानशालिनी ।
एवं च तत्प्रसादेन पुत्राः! प्राप्तं मया धनम् ॥११२॥
इत्युक्त्वा तान्वणिक्पुत्रानथ प्रव्राजिका निजाम् ।
तत्कालमागतां शिष्यामेतेभ्यस्तामदर्शयत् ॥११३॥
जगाद चैतांस्तत्पुत्राः सद्भावं वदताधुना ।
कां स्त्रियं वाञ्छथ क्षिप्रं तामहं साधयामि वः ॥११४॥
तच्छ्रुत्वा ते च तामूचुर्येषा देवस्मिताभिधा ।
गुहसेनवणिग्भार्या तया सः सङ्गमं कुरु ॥११५॥
श्रुत्वेति प्रतिजज्ञे तत्कार्यं प्रव्राजिकाथ सा ।
वणिक्सुतानां चैतेषां स्वगृहं स्थितये ददौ ॥११६॥
रञ्जयित्वाथ तत्रत्यं जनं भक्ष्यादिदानतः ।
गुहसेनगृहं तत्सा विवेश सह शिष्यया ॥११७॥
ततो देवस्मितावासगृहद्वारमुपागताम् ।
तां शुनी शृङ्खलाबद्धा रुरोधापूर्वरोधिनी ॥११८॥

सिद्धकरी भी उसे देखकर वृक्ष पर चढ़ गई और घने पत्तों में अपने को छिपाकर बैठ गई ।।१०४।।

नौकर के साथ उस बनिये ने आकर देखा, तो केवल डोम फाँसी के फन्दे में झूल रहा है। उसने सिद्धिकरी को कहीं नहीं देखा। 'वह कहीं वृक्षपर न चढ़ी हो', ऐसा सोचकर बनिये का नौकर वृक्ष पर चढ़ गया। उसे पेड़ पर चढ़कर समीप आया हुआ देखकर सिद्धिकरी बोली—'हे सुन्दर, मैं सचमुच तुम पर आसक्त हूँ। आओ, यह धन भी लो और मेरे शरीर का भोग भी करो।' ऐसा कहकर उसने उस भृत्य का आलिंगन करके चुम्बन लेते हुए उसकी जीभ को दाँतों से काट दिया ।।१०५–१०८।।

वेदना से पीड़ित और मुँह से रक्त बहाता हुआ बनिये का वह नौकर उस वृक्ष से नीचे गिरा और 'ल, ल, ल' करता हुआ अस्पष्ट भाषण करने लगा ।।१०९।।

उसे देखकर बनिया डरा कि इसपर भूत सवार हो गया है और बचे हुए नौकरों को लेकर शीघ्रता से घर की ओर भागा ।।११०।।

उसके भागते ही वह तपस्विनी सिद्धिकरी वृक्ष से नीचे उतरी और धन की गठरी लेकर अपने घर पहुँची।।१११।।

हे बेटे ! इस प्रकार मेरी शिष्या अति प्रतिभाशालिनी है और उसी की कृपा से मैंने बहुत-सा धन प्राप्त किया है ।।११२।।

ऐसा कहकर उस परिव्राजिका ने उसी समय आयी हुई अपनी शिष्या को उन्हें दिखाया और उसका परिचय उनसे कराया ।।११३।।

इसके पश्चात् उनसे बोली—'बेटे ! अब तुम अपना कार्य बताओ। किस स्त्री को तुमलोग चाहते हो। मैं उसे अभी सिद्ध करती हूँ' ।।११४।।

उनकी बातें सुनकर वैश्यपुत्र बोले—'गुहसेन व्यापारी की देवस्मिता नाम की जो स्त्री है, उससे हमलोगों का संगम कराओ' ।।११५।।

उनकी बात सुनकर परिव्राजिका ने कार्य साधने की प्रतिज्ञा की और उन वैश्यपुत्रों के ठहरने का प्रबन्ध अपने ही घर में कर दिया ।।११६।।

उनके वहाँ ठहरने पर उन्हें भोजन आदि सत्कार से प्रसन्न करके वह कुट्टनी अपनी तपस्विनी शिष्या के साथ गुहसेन के घर गई ।।११७।।

जब वह देवस्मिता के द्वार पर पहुँची, तब जंजीर में बँधी हुई कुतिया ने भूँकते हुए उसे अन्दर जाने से रोका ।।११८।।

ततो देवस्मिता दृष्ट्वा सा तां प्रावेशयत्स्वयम् ।
किमागता स्यादेषेति विचिन्त्य प्रेष्य चेटिकाम् ।।११६।।

प्रविष्टा चाशिषं दत्त्वा कृत्वा व्याजकृतादराम् ।
सा तां देवस्मितां साध्वीं पापा प्रव्राजिकाब्रवीत् ।।१२०।।

सदैव त्वद्दिदृक्षा मे भवत्यद्य पुनर्मया ।
स्वप्ने दृष्टासि तेनाहमुत्का त्वां द्रष्टुमागता ।।१२१।।

भर्त्रा विनाकृतां त्वां च दृष्ट्वा मे दूयते मनः ।
प्रियोपभोगवन्ध्ये हि विफले रूपयौवने ।।१२२।।

इत्यादिभिर्वचोभिस्तां साध्वीमाश्वास्य मा चिरम् ।
आमन्त्र्य चाययौ तावद् गृहं प्रव्राजिका निजम् ।।१२३।।

द्वितीयेऽह्नि गृहीत्वा च मरिचक्षोदनिर्भरम् ।
मांसखण्डं पुनः सा तद्ययौ देवस्मितागृहम् ।।१२४।।

द्वारशुन्यै ददौ तस्यै मांसखण्डं च तत्र तम् ।
सापि तं भक्षयामास सद्यः समरिचं शुनी ।।१२५।।

ततो मरिचदोषेण तस्या दृग्भ्यामवारितम् ।
अश्रु प्रववृते तस्याः प्रश्नौति स्म च नासिका ।।१२६।।

सापि प्रव्राजिका तस्मिन् क्षणे देवस्मितान्तिकम् ।
प्रविश्य तत्कृतातिथ्या प्रारेभे रोदितुं शठा ।।१२७।।

पृष्टा च देवस्मितया सा कृच्छ्रादेवमब्रवीत् ।
पुत्रि सम्प्रति पश्यैतां बहिः प्ररुदतीं शुनीम् ।।१२८।।

एषा ह्यद्य परिज्ञाय मां जन्मान्तरसङ्गताम् ।
प्रवृत्ता रोदितुं तेन कृपयाश्रु ममोद्गतम् ।।१२९।।

तच्छ्रुत्वा बहिरालोक्य शुनीं तां रुदतीमिव ।
किमेतच्चित्रमिति सा दध्यौ देवस्मिता क्षणम् ।।१३०।।

प्रव्राजिकाथ सावादीत् पुत्रि पूर्वत्र जन्मनि ।
अहमेषा च भार्ये द्वे विप्रस्याभूव कस्यचित् ।।१३१।।

स चावयोः पतिर्दूरं देशान्तरमितस्ततः ।
वारं वारं प्रयाति स्म राजादेशेन दूत्यया ।।१३२।।

तत्प्रवासे च कुर्वन्त्या स्वेच्छं पुरुषसङ्गमम् ।
मया भूतेन्द्रियग्रामो नोपभोगैरवञ्च्यत ।।१३३।।

भूतेन्द्रियानभिद्रोहो धर्मो हि परमो मतः ।
अतो जातिस्मरा पुत्रि जाताहमिह जन्मनि ।।१३४।।

एषा तु शीलमेवैकं ररक्षाज्ञानतस्तदा ।
तेन श्वयोनौ पतिता किन्तु जातिं स्मरत्यसौ ।।१३५।।

देवस्मिता ने अपनी परिचारिका (सेविका) को भेजकर स्वयं उसे अपने घर पर बुलाया और शंकित हुई कि 'यह क्यों आई है' ॥११६॥

दुष्टा परिव्राजिका ने भीतर जाकर उसे आशीर्वाद दिया और कपटपूर्ण आदर दिखलाती हुई देवस्मिता से वह पापिन बोली—'तुम्हें देखने की इच्छा मुझे सदा बनी रहती है। आज मैंने तुम्हें स्वप्न में दुःखीचित्त देखा है, इसीलिए उत्कण्ठा के साथ मिलने आई हूँ'। पति के विना रहती हुई तुम्हारा प्रियतम के उपभोग से रहित रूप और यौवन दोनों ही व्यर्थ हैं। इस प्रकार की बनावटी बातों से देवस्मिता को धैर्य आदि देकर वह देर तक बैठी रही और फिर उससे पूछकर अपने घर लौट आई ॥१२०–१२३॥

दूसरे दिन मिर्च के चूर्ण से भरे मांस के टुकड़े को लेकर वह फिर देवस्मिता के घर पर गई। द्वार पर बँधी हुई कुतिया को मांस का टुकड़ा देकर वह घर में प्रविष्ट हुई और कुतिया भी मिर्च मिले हुए उस टुकड़े को खाने लगी ॥१२४-१२५॥

मिर्च के कारण उस कुतिया की आँखों में अविरल आँसुओं की धारा बहने लगी और नाक से पानी भी बहने लगा। वह धूर्त्ता परिव्राजिका भी उसी समय घर में जा देवस्मिता के सम्मुख रोने लगी। देवस्मिता द्वारा रोने का कारण पूछने पर वह बोली—'बेटी! बाहर जाकर रोती हुई कुतिया को तो देखो' ॥१२६—१२८॥

यह कुतिया आज मुझे अपनी जन्मान्तरसंगिनी समझकर रोने लगी। उसे रोती हुई देखकर दयावश मेरी आँखों से भी आँसू निकल आये ॥१२९॥

यह सुनकर देवस्मिता ने बाहर आकर रोती हुई कुतिया को देखा और यह क्या आश्चर्य है, ऐसा सोचती हुई खड़ी रह गई ॥१३०॥

तदनन्तर, वह परिव्राजिका बोली—'बेटी! पूर्वजन्म में यह कुतिया और मैं दोनों किसी एक ब्राह्मण की पत्नियाँ थीं। हमारा वह पति राजा का नौकर होने के कारण राजा की आज्ञा से इधर-उधर दूर देशों को जाया करता था। उसके प्रवास-काल में यथेच्छ परपुरुष-संगम करते हुए मैंने अपनी इन्द्रियों को उपभोगों से कभी वंचित नहीं किया। शरीर के भूतों और इन्द्रियों का दमन न करना ही परम धर्म है। इसी पुण्य कार्य के कारण मैं इस जन्म में भी पूर्व-जन्म का स्मरण करती हूँ। मेरी यह सौत अपने अज्ञान के कारण अपने चरित्र की ही रक्षा करती रही। इसी कारण अब यह कुत्ते की योनि में उत्पन्न हुई है। किन्तु पूर्वजन्म का इसे भी स्मरण है ॥१३१–१३५॥

कोऽयं धर्मो ध्रुवं धूर्त्तरचनेयं कृतानया ।
इति सञ्चिन्त्य सुप्रज्ञा सा तां देवस्मिताब्रवीत् ॥१३६॥
इयच्चिरं मया धर्मो न ज्ञातो भगवत्ययम् ।
तत्त्वं केनापि कान्तेन पुंसा मे सङ्गमं कुरु ॥१३७॥
ततः प्रव्राजिकावादीत्केचिद्द्वीपान्तरागताः ।
इह स्थिता वणिक्पुत्रास्तर्हि तानानयामि ते ॥१३८॥
इत्युक्त्वा 'सा प्रमुदिता ययौ प्रव्राजिका गृहम् ।
सा च देवस्मिता स्वैरं स्वचेटीरित्यभाषत ॥१३९॥
नूनं दृष्ट्वा तदम्लानं हस्ते मद्भर्त्तुरम्बुजम् ।
पृष्ट्वा च तं यथावृत्तं मद्यपं जातु कौतुकात् ॥१४०॥
मद्विध्वंसाय केप्येते द्वीपात्तस्मादिहागताः ।
वणिक्पुत्राः शठास्तैश्च प्रयुक्तेयं कुतापसी ॥१४१॥
तद्धत्तूरकसंयुक्तं मद्यमानयत द्रुतम् ।
गत्वाथ कारयध्वं च शुनः पादमयोमयम् ॥१४२॥
इति देवस्मितोक्तास्ताश्चेटयश्चक्रुस्तथैव तत् ।
एका च चेटी तद्रूपं तद्वाक्यादकरोत्तदा ॥१४३॥
सापि प्रव्राजिका तस्माद् वणिक्पुत्रचतुष्टयात् ।
अहं प्रथमिकादिष्टादादायैकमथाययौ ॥१४४॥
स्वशिष्यावेषसंछन्नं तं च देवस्मितागृहे ।
तत्र सायं प्रविश्यैव निर्गत्याप्रकटं ययौ ॥१४५॥
ततोऽत्र तं वणिक्पुत्रं तत्सधत्तूरकं मधु ।
चेटी देवस्मितावेषा सा सादरमपाययत् ॥१४६॥
तेन सोऽविनयेनैव मधुना हृतचेतनः ।
हृत्वा वस्त्रादि चेटीभिस्तत्र चक्रे दिगम्बरः ॥१४७॥
शुनः पादेन दत्त्वाङ्कं ललाटे ताभिरेव च ।
नीत्वा सोऽशुचिसम्पूर्णे क्षिप्तोऽभूत् खातके निशि ॥१४८॥
यामेऽथ पश्चिमे संज्ञां लब्ध्वात्मानं ददर्श सः ।
स्वपापोपनते मग्नमवीचाविव खातके ॥१४९॥
अथोत्थाय कृतस्नानो ललाटेऽङ्कं परामृशन् ।
नग्नः सन्स वणिक्पुत्रो ययौ प्रव्राजिकागृहम् ॥१५०॥
मामैवेकस्य हास्यत्वं मा भूदिति स तत्र तान् ।
आगच्छन् मुषितोऽस्मीति सखीनन्यानभाषत ॥१५१॥

'भला, यह भी कोई धर्म है'—कुट्टनी ने, मेरे साथ यह धूर्त्तता की चाल चली है। ऐसा सोचकर बुद्धिमती देवस्मिता परिव्राजिका से बोली—'भगवति ! इतनों दिनों तक मैं इस धर्म को नहीं जानती थी, किन्तु आज जान गई। इसलिए तुम किसी सुन्दर पुरुष के साथ मेरा संगम कराओ' ।।१३६–१३७।।

तब परिव्राजिका कहने लगी कि दूसरे द्वीप से कुछ वैश्य-पुत्र आये हैं। यहीं ठहरे है। अतः, मैं उन्हें तुम्हारे लिए लाती हूँ ।।१३८।।

ऐसा कहकर प्रसन्न होती हुई कुट्टनी अपने घर गई और इधर बुद्धिमती देवस्मिता ने, अपनी सेविकाओं से निःशंक होकर कहा—मेरे पति के हाथ में सदा खिले हुए कमल-पुष्प को देखकर और उस मद्यप से सारा वृत्तान्त पूछकर दूसरे द्वीप से कुछ दुष्ट वैश्यपुत्र मेरा सतीत्व-विनाश करने के लिए यहाँ आये हैं। उन्होंने ही इस कुट्टनी, दुष्टा तपस्विनी को सिद्ध किया है। इसलिए, तुमलोग धतूरा मिला हुआ मद्य शीघ्रता से लाओ और बाजार में जाकर कुत्ते के लोहे के पैर बनवा लाओ ।।१३९–१४२।।

देवस्मिता के आज्ञानुसार सेविकाओं ने ऐसा ही किया और एक सेविका ने उसके आज्ञानुसार देवस्मिता का रूप धारण किया ।।१४३।।

उधर परिव्राजिका भी 'पहले मैं, पहले मैं' करते हुए उन चारों में से एक को अपनी शिष्या के वेष में छिपाकर गुप्त रूप ने देवस्मिता के घर पर आई ।।१४४।।

इस प्रकार, सायंकाल ही उसे देवस्मिता के घर में प्रविष्ट कराकर वह धीरे-से गुप्त रूप से लौट गई। वैश्यपुत्र के घर आने पर देवस्मिता के रूप में बैठी हुई दासी ने उसे धतूरा मिला हुआ पर्याप्त मद्य-पान कराया। मद्य के नशे में उन्मत्त वैश्यपुत्र के शरीर के सारे वस्त्र और आभूषण उतरवाकर दासियों ने उसे नंगा कर दिया। फिर, उन्हीं दासियों ने कुत्ते के लोहे के पैरों को आग में लाल करके उससे उसका मस्तक दग्ध (दाग) करके उसे रात्रि के अन्धकार में किसी मल के कुण्ड (सण्डास) में फेंक दिया। उसी कुण्ड में पड़े हुए उस वैश्य-पुत्र ने ब्राह्म मुहूर्त्त में नशा उतरने पर अपने को देखा कि वह अपने पापों के परिणाम-स्वरूप मल-कुण्ड में पड़ा है ।।१४५–१४९।।

किसी प्रकार उस गढ़े से निकलकर और स्नान करके मस्तक के दागों पर हाथ फेरता हुआ वह नंगा ही परिव्राजिका के घर पहुँचा। 'अकेला मैं ही हास्य का पात्र (बेवकूफ) न बनूँ"—यह सोचकर उसने कहा कि रात को उसके घर से आते हुए मुझे चोरों ने लूट लिया, और मेरी यह दशा कर दी ।।१५०–१५१।।

जागरेणातिपानेन शिरोर्त्तिं व्यपदिश्य च ।
प्रातः स तस्थौ वस्त्रेण वेष्टयित्वाङ्कितं शिरः ॥१५२॥

तथैव च पुनः सायं द्वितीयोऽपि वणिक्सुतः ।
एत्य देवस्मितागेहं खलीकार[1] मवाप्तवान् ॥१५३॥

सोऽप्येत्य नग्नो वक्ति स्म तत्रैवाभरणान्यहम् ।
स्थापयित्वापि निर्यातो मुषितस्तस्करैरिति ॥१५४॥

प्रातः सोऽपि शिरःशूलव्यपदेशेन वेष्टनम् ।
कृत्वा प्रच्छादयामास ललाटतटमङ्कितम् ॥१५५॥

एवं सापह्नवाः सर्वे वणिक्पुत्राः क्रमेण ते ।
प्रापुः साङ्कं खलीकारमर्थनाशं च लज्जिताः ॥१५६॥

अस्या अपि भवत्वेवमिति ते च खलीकृतिम् ।
तस्याः प्रव्राजिकायास्तामप्रकाश्य ततो ययुः ॥१५७॥

साथ प्रव्राजिकान्येद्युर्जगाम सह शिष्यया ।
कृतप्रयोजनास्मीति हृष्टा देवस्मितागृहम् ॥१५८॥

तत्र देवस्मिता सा तां कृत्वादरमपाययत् ।
मधु धत्तूरसंयुक्तं परितोषादिवाहृतम् ॥१५९॥

तेन मत्तां सशिष्यां च च्छिन्नश्रवणनासिकाम् ।
तामप्यशुचिपङ्कान्तः क्षेपयामास सा सती ॥१६०॥

गत्वा मैते[2] वणिक्पुत्राः पतिं हन्युः कदाचन ।
इत्याकुला च सा श्वश्र्वस्तं वृत्तान्तमवर्णयत् ॥१६१॥

ततः श्वश्रूरवादीत्तां पुत्रि साधु कृतं त्वया ।
किं तु पुत्रस्य मे तस्य कदाचिदहितं भवेत् ॥१६२॥

ततो देवस्मितावोचद्यथा शक्तिमती पतिम् ।
ररक्ष प्रज्ञया पूर्वममुं रक्षाम्यहं तथा ॥१६३॥

---

१. प्रातंदुर्दशामित्यर्थः ।

२. मा--एते--इति सन्धिः ।

'रात्रि के जागरण और अति मद्यपान से मेरे सिर में वेदना हो रही है'—ऐसा कहकर कपड़े के टुकड़े से मस्तक को बाँधकर सो गया ॥१५२॥

इसी प्रकार दूसरे दिन दूसरा वैश्यपुत्र गया। उसने भी उसी प्रकार दुर्दशा भोगी ॥१५३॥

वह नंगा ही कुट्टनी के घर पहुँचकर बोला कि मैं अपने आभूषणों को वहीं रखकर निकला था, फिरभी चोरों ने मेरी यह दुर्दशा की है ॥१५४॥

वह भी सुबह में सिर-दर्द का बहाना करके अपने दागे गये सिर में कपड़ा लपेटकर सो गया ॥१५५॥

इस प्रकार, क्रमशः वे चारों वैश्यपुत्र दण्डित और अपमानित हुए; किन्तु सभी एक दूसरे से अपनी दशा छिपाते ही रहे ॥१५६॥

वे इस प्रकार दुर्गति और धन-नाश होने से अत्यन्त लज्जित थे। उन्होंने उस कुट्टनी परिव्राजिका से भी यह बात प्रकाशित नहीं की और यह सोचकर कि इसकी भी ऐसी ही दुर्गति हो, उसके घर से अपने घर चले गये ॥१५७॥

उनके चले जाने पर वह परिव्राजिक कुट्टनी भी सफल-मनोरथ होने के कारण अपनी धूर्त्त शिष्या सिद्धिकरी के साथ अभिनन्दन करने के लिए देवस्मिता के घर पर गई ॥१५८॥

देवस्मिता ने भी उसका भलीभाँति स्वागत करके मानों प्रसन्नता और सन्तोष प्रकट करने के लिए धतूरे के चूर्ण से मिला हुआ वही मद्य खूब पिलवाया ॥१५९॥

उसके पश्चात् मद्यपान से उन्मत्त उस कुट्टनी और उसकी शिष्या के भी नाक-कान कटवाकर उन्हें उसी मल-कुण्ड में फेंकवा दिया, जिसमें वैश्यपुत्रों को फेंका गया था ॥१६०॥

देवस्मिता ने, इस भय से कि ये लज्जित और अपमानित वैश्यपुत्र अपने देश जाकर बदला लेने के लिए मेरे पति को मार न डालें, इसलिए उसने सारा वृत्तान्त, अपनी सास को सुना दिया ॥१६१॥

तब सास ने कहा—'बेटी ! तुमने बहुत अच्छा कार्य किया। किन्तु, इस काण्ड से मेरे पुत्र (तुम्हारे पति) को हानि हो सकती है' ॥१६२॥

तब देवस्मिता ने कहा—'जैसे पहले समय में शक्तिमती ने अपने पति की रक्षा की थी, उसी प्रकार मैं भी 'उनकी' रक्षा करती हूँ ॥१६३॥

कथं शक्तिमती पुत्रि ररक्ष पतिमुच्यताम् ।
इति पृष्टा तया श्वश्वा साथ देवस्मिताब्रवीत् ।।१६४।।
अस्मद्देशे पुरस्यान्तर्मणिभद्र इति श्रुतः ।
पूर्वैः कृतप्रतिष्ठोऽस्ति महायक्षः प्रभावितः ।।१६५।।
तस्योपयाचितान्यैत्य तत्रत्याः कुर्वते जनाः ।
तत्तद्वाञ्छितसंसिद्धिहेतोस्तैस्तैरुपायनैः ।।१६६।।
यो नरः प्राप्यते तत्र रात्रौ सह परस्त्रिया ।
स्थाप्यते सोऽस्य यक्षस्य गर्भागारे तया समम् ।।१६७।।
प्रातस्तथैव सस्त्रीकः स नीत्वा राजसंसदि ।
प्रकटीकृत्य तद्वृत्तं निगृह्यत इति स्थितिः ।।१६८।।
एकदा तत्र नक्तं च सङ्गतः परजायया ।
वणिक्समुद्रदत्ताख्यः प्राप्तोऽभूत्पुररक्षिणा ।।१६९।।
नीत्वा च तेन क्षिप्तोऽभूत्सपरस्त्रीक एव सः ।
यक्षदेवगृहे तस्मिन् दृढदत्तार्गले वणिक् ।।१७०।।
तत्क्षणं वणिजश्चास्य महाप्रज्ञा पतिव्रता ।
भार्या शक्तिमती नाम तं वृत्तान्तमबुध्यत ।।१७१।।
साथ धीरान्यरूपेण तद्यक्षायतनं निशि ।
पूजामादाय साश्वासं सखीजनयुता ययौ ।।१७२।।
तत्रैत्य दक्षिणालोभादेतस्या एव पूजकः ।
ददौ प्रवेशमुद्घाट्य द्वारमुक्त्वा पुराधिपम् ।।१७३।।
सा च प्रविश्य सस्त्रीके दृष्टे पत्यौ विलक्षिते ।
स्वं वेषं कारयित्वा तां निर्याहीत्यवदत्स्त्रियम् ।।१७४।।
सा च निर्गत्य रात्रौ स्त्री तद्वेषैव ततो ययौ ।
तस्थौ शक्तिमती तत्र तेन भर्त्रा समं तु सा।।१७५।।
प्रातश्च राजाधिकृतैरेत्य यावन्निरूप्यते ।
तावत्स्वपत्न्यैव युतः सर्वैः स ददृशे वणिक् ।।१७६।।
तद्बुद्ध्वा यक्षभवनान्मृत्योरिव मुखान्नृपः ।
दण्डयित्वा पुराध्यक्षं वणिजं तममोचयत् ।।१७७।।
एवं शक्तिमती पूर्वं ररक्ष प्रज्ञया पतिम् ।
अहं तथैव भर्त्तारं गत्वा रक्षामि युक्तितः ।।१७८।।

सेठ समुद्रदत्त और शक्तिमती की कथा

'बेटी, शक्तिमती ने, कैसे अपने पति की रक्षा की थी ?—सास के इस प्रकार प्रश्न करने पर देवस्मिता ने कहा—हमारे देश में नगर के भीतर मणिभद्र नाम के एक महायक्ष की मूर्त्ति, एक मन्दिर में प्रतिष्ठित है। नगर-निवासी अपनी-अपनी कार्यसिद्धि के लिए उस मणिभद्र मन्दिर में जाकर मन्नतें मानते हैं, और अपने-अपने कार्य के अनुसार वहाँ उपहार चढ़ाते हैं। जो व्यक्ति, उस मन्दिर में दूसरी स्त्री के साथ पाया जाता था; उसे रात में मन्दिर के भीतरी भाग में बन्द कर दिया जाता था। वह प्रातःकाल उसी स्त्री के साथ राजसभा में ले जाया जाता था। वहाँ उसका वृत्तान्त प्रकट करके उसे मार डालने का दण्ड दिया जाता था। ऐसी व्यवस्था वहाँ थी ।।१६४–१६८।।

एक बार उस मन्दिर में रात के समय दूसरी स्त्री के साथ समुद्रदत्त नामक बनिये को नगर-रक्षक (कोतवाल) ने पकड़ा और उसे मन्दिर के भीतर उस स्त्री के साथ बन्द करके सुदृढ़ साँकल लगवा दिये ।।१६९–१७०।।

उसी समय समुद्रदत्त की अत्यन्त बुद्धिमती और पतिव्रता पत्नी ने यह समाचार सुना। और साथियों के साथ पूजा-सामग्री आदि उपहार लेकर वह मन्दिर में गई ।।१७१–१७२।।

मन्दिर के पुजारी ने लम्बी दक्षिणा के लोभ से कोतवाल को कहकर मन्दिर का द्वार खुलवा दिया ।।१७३।।

उसने मन्दिर के भीतर जाकर किसी स्त्री के साथ अपने पति को देखा और अपने कपड़े उस स्त्री को पहिनाकर कहा—'तुम जाओ' ।।१७४।।

वह स्त्री शक्तिमती के वेष में बाहर निकल गई और शक्तिमती उस स्त्री के वेष में पति के पास रह गई ।।१७५।।

प्रातःकाल राजा के अधिकारियों ने जब आकर देखा, तब वह बनिया अपनी स्त्री के साथ पाया गया ।।१७६।।

यह वृत्तान्त जानकर राजा ने मृत्यु-मुख से उसे मुक्त कर दिया और प्रमाद करने के कारण कोतवाल को दण्ड दिया ।।१७७।।

समुद्रदत्त की कथा (क्रमशः)

जिस प्रकार, पूर्वकाल में शक्तिमती ने बुद्धि से अपने पति की रक्षा की थी, उसी प्रकार मैं भी उपाय करके अपने पति की रक्षा करूँगी ।।१७८।।

इति देवस्मिता श्वश्रूं रह उक्त्वा तपस्विनी ।।
स्वचेटिकाभिः सहिता वणिग्वेषं चकार सा ।।१७९।।
आरुह्य च प्रवहणं वणिज्याव्याजतस्ततः ।
कटाहद्वीपमगमद्यत्र सोऽस्याः पतिः स्थितः ।।१८०।।
गत्वा तं च पतिं तत्र वणिङ्मध्ये ददर्श सा ।
गुहसेनं समाश्वासमिव मूर्त्तिधरं बहिः ।।१८१।।
सोऽपि तां पुरुषाकारां दूराद्दृष्ट्वा पिबन्निव ।
प्रियायाः सदृशः कोऽयं वणिक्स्यादित्यचिन्तयत् ।।१८२।।
सा च देवस्मिता तत्र भूपं गत्वा व्यजिज्ञपत् ।
विज्ञप्तिर्मेऽस्ति तत्सर्वाः सङ्घट्यन्तां प्रजा इति ।।१८३।।
ततः सर्वान्समानीय राजा पौरान् सकौतुकः ।
का ते विज्ञप्तिरस्तीति वणिग्वेषामुवाच ताम् ।।१८४।।
ततो देवस्मितावादीदिह मध्ये मम स्थिताः ।
पलाय्य दासाश्चत्वारस्तान्मे देवः प्रयच्छतु ।।१८५।।
अथ तामवदद्राजा सर्वे पौरा इमे स्थिताः ।
तत्सर्वान्प्रत्यभिज्ञाय निजान्दासान्गृहाण ताम् ।।१८६।।
ततस्तया जगृहिरे स्वगृहे प्राक्खलीकृताः ।
वणिक्सुतास्ते चत्वारः शिरःस्वाबद्धशाटकाः ।।१८७।।
सार्थवाहसुता एते कथं दासा भवन्ति ते ।
इति क्रुद्धाश्च तामूचुस्तत्रस्था वणिजस्तदा ।।१८८।।
ततः प्रत्यब्रवीत्सा तान् यदि न प्रत्ययोऽस्ति वः ।
ललाटं प्रेक्ष्यतामेषां शुनः पादाङ्कितं मया ।।१८९।।
तथेति तेषामुन्मोच्य चतुर्णां शीर्षपट्टकान् ।
सर्वेऽपि ददृशुस्तत्र शुनःपादं ललाटगम् ।।१९०।।
लज्जितेऽथ वणिग्ग्रामे राजा सञ्जातविस्मयः ।
किमेतदिति पप्रच्छ स तां देवस्मितां स्वयम् ।।१९१।।
सा शशंस यथावृत्तं सर्वेपि जहसुर्जनाः ।
न्याय्यास्ते भवतीदासा इति तां चावदन्नृपः ।।१९२।।
ततोऽन्ये वणिजस्तेषां चतुर्णां दास्यमुक्तये ।
ददुस्तस्यै धनं भूरि साध्व्यै दण्डं च भूपतेः ।।१९३।।

अपनी सास से एकान्त में इस प्रकार बातें करके देवस्मिता ने अपनी सहेलियों के साथ व्यापारी बनियों का-सा वेष बनाया और व्यापार करने के बहाने से जहाज पर चढ़कर कटाहद्वीप में पहुँची, जहाँ उसका पति ठहरा था। कटाह-द्वीप के जौहरी-बाजार में व्यापारियों के मध्य बैठे हुए उसने मूर्त्तिमान् धैर्य के समान अपने पति को देखा ।।१७९-१८०।।

गुहसेन ने भी पुरुष के वेष में अपनी पत्नी देवस्मिता को भली भाँति पहचाना तो नहीं, किन्तु 'यह उसी के समान कौन है ?'—देखकर इस चिन्ता में निमग्न हो गया ।।१८१-१८२।।

देवस्मिता ने, कटाहद्वीप के राजा के पास जाकर प्रार्थनापूर्वक निवेदन किया कि आप अपने नगर की सारी जनता को एकत्र करें ।।१८३।।

उसकी प्रार्थना स्वीकार करके राजा ने सभी नागरिकों को कौतूहल के साथ एकत्र किया और बनिये के वेष में स्थित देवस्मिता से कहा—'नागरिक एकत्र हैं, तुम अपनी प्रार्थना सुनाओ' ।।१८४।।

उत्तर में देवस्मिता ने कहा—'यहाँ मेरे चार दास भागकर आये हैं। महाराज ! उन्हें मुझे सौंप दें' ।।१८५।।

तब राजा ने उससे कहा कि ये सभी नागरिक यहाँ उपस्थित हैं। इनमें से तुम अपने चारों दासों को पहचानकर पकड़ो ।।१८६।।

तब देवस्मिता ने अपने घर में दण्डित, अतएव, अपने-अपने माथे पर दुपट्टा बाँधे हुए उन चारो वैश्यपुत्रों को पहचानकर पकड़ लिया ।।१८७।।

उनके पकड़े जाने पर वहाँ एकत्र सभी बनिये क्रोध से बोले—'ये तो जहाजी व्यापारियों के पुत्र हैं। तुम्हारे दास कैसे हो सकते हैं ? तब उसने उन्हें प्रत्युत्तर दिया कि 'यदि आपलोगों को विश्वास नहीं है, तो इनके मस्तकों को देखें। मैंने कुत्ते के पदचिह्नों से इन्हें दाग दिया है' ।।१८८-१८९।।

तब सभी ने उसकी बात सुनकर दुपट्टे को हटाकर देखा कि उनके मस्तकों पर कुत्ते के पैर दागे गये थे ।।१९०।।

इस स्थिति से वैश्य लज्जित हो गये और राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। इसके पश्चात् राजा ने स्वयं देवस्मिता से पूछा कि 'यह क्या बात है ?' ।।१९१।।

राजा के पूछने पर देवस्मिता ने सारा और सत्य वृत्तान्त सबको सुना दिया, जिसे सुनकर जनता हँसने लगी और तब राजा ने कहा कि न्यायतः ये तेरे दास हैं। तब वहाँ के वैश्यों ने धनसंग्रह करके देवस्मिता को दिया और उन चारों को दासता से मुक्ति दिलाई। राजा ने भी उस पतिव्रता को पर्याप्त धन और वैश्यपुत्रों को दण्ड दिया ।।१९२-१९३।।

आदाय तद्धनमवाप्य पतिं च तं स्वं
देवस्मिता सकलसज्जनपूजिता सा ।
प्रत्याययौ निजपुरीमथ ताम्रलिप्तीं
नास्या बभूव च पुनः प्रियविप्रयोगः ॥१६४॥

इति स्त्रियो देवि महाकुलोद्गता विशुद्धधीरैश्चरितैरुपासते ।
सदैव भर्त्तारमनन्यमानसाः पतिः सतीनां परमं हि दैवतम् ॥१६५॥

इत्याकर्ण्य वसन्तकस्य वदनादेतामुदारां कथां
मार्गे वासवदत्तया नवपरित्यक्ते पितुर्वेश्मनि ।
तल्लज्जासदनं विधाय विदधे वत्सेश्वरे भर्त्तरि
प्राक्प्रौढप्रणयानुबद्धमपि तद्भक्त्यकतानं मनः ॥१६६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथामुखलम्बके
पञ्चमस्तरङ्गः ।

षष्ठस्तरङ्गः

अथ विन्ध्यान्तरे तत्र वत्सराजस्य तिष्ठतः ।
पार्श्वं चण्डमहासेनप्रतीहारः समाययौ ॥१॥
स चागत्य प्रणम्यैनं राजानमिदमब्रवीत् ।
राजा चण्डमहासेनस्तव सन्दिष्टवानिदम् ॥२॥
युक्तं वासवदत्ता यत्स्वयमेव त्वया हृता ।
तदर्थमेव हि मया त्वमानीत इहाभवः ॥३॥
संयतस्य च नैवेह दत्तैषा ते मया स्वयम् ।
नैवमस्मासु ते प्रीतिर्भवेदिति विशङ्किना ॥४॥
तदिदानीमविधिना ममास्या दुहितुर्यथा ।
न विवाहो भवेद्राजन् प्रतीक्षेथास्तथा मनाक् ॥५॥
गोपालको हि न चिरादत्रैवैष्यति मत्सुतः ।
स चास्याः स्वसुरुद्वाहं यथाविधि विधास्यति ॥६॥
इतीमं वत्सराजाय सन्देशमवधार्य सः ।
तत्तद्वासवदत्तायै प्रतीहारी न्यवेदयत् ॥७॥

इस प्रकार, समस्त जनता से प्रशंसित वह पतिव्रता देवस्मिता धन और पात को साथ लेकर अपनी नगरी ताम्रलिप्ति को लौट आई और फिर कभी उसे पति-वियोग नहीं हुआ ॥१९४॥

हे देवि ! इस प्रकार, अच्छे कुल में उत्पन्न ऐसे धीर और उदार चरितवाली होती है; जो अनन्य मन से पतिपरायण होती है; क्योंकि पति ही सती स्त्रियों का परम देवता है ॥१९५॥

वसन्तक के मुख से इस प्रकार की कथा को सुनकर वासवदत्ता ने तुरत छोड़े हुए पिता के घर को लज्जा-गृह बनाकर वत्सेश्वर के प्रति प्रौढ प्रम में पगे हुए मन को भक्ति-प्रवण बना दिया ॥१९६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथामुखलम्बक का पंचम तरंग समाप्त ।

षष्ठ तरङ्ग

वत्सराज की कथा

कुछ दिनों बाद उसी विन्ध्य-शिविर में रहते हुए वत्सराज के पास चण्डमहासेन का प्रतिहार (दूत) आया ॥१॥

आकर और राजा को प्रणाम करके उसने कहा —'महाराज ! चण्डमहासेन ने सन्देश देकर मुझे आपके पास भेजा है और कहलाया है—"तुमने जो वासवदत्ता का हरण किया है; यह उचित ही किया है । इसीलिए कि तुम मेरे द्वारा अपहरण कराकर उज्जैन ले जाये गये थे ॥२–३॥

कैद में बँधे हुए मैंने तुम्हें कन्या स्वयं इस शंका से नहीं दी कि तुम सम्भवतः इस प्रकार प्रसन्न न होगे । इसलिए, 'हे राजन् ! मेरी कन्या का विवाह अवैधानिक न हो, इसलिए कुछ प्रतीक्षा करो, शीघ्र ही मेरा पुत्र गोपालक वहाँ आयगा और विधिपूर्वक अपनी बहिन का विवाह तुमसे करेगा" ॥४–६॥

इस प्रकार, प्रतिहार ने वत्सराज को यह सन्देश सुनाकर वासवदत्ता को भी सुनाया । तब प्रसन्न वासवदत्ता के साथ प्रसन्नचित्त राजा ने कौशाम्बी जाने की इच्छा प्रकट की ॥७॥

ततः सानन्दया साकं तया वासवदत्तया ।
हृष्टो वत्सेश्वरश्चक्रे कौशाम्बीगमने मनः ॥८॥
गोपालकस्यागमनं प्रतीक्षेथां युवामिह ।
तेनैव सह पश्चाच्च कौशाम्बीमागमिष्यथः ॥९॥
इत्युक्त्वा स्थापयामास स तत्रैव महीपतिः ।
श्वासुरं तं प्रतीहारं स्वमित्रं च पुलिन्दकम् ॥१०॥
ततोऽनुयातो नागेन्द्रैः स्रवद्भिर्मदनिर्झरान् ।
अनुरागागतैर्विन्ध्यप्राग्भारैरिव जङ्गमैः ॥११॥
तुरङ्गसैन्यसङ्घातखुराघातसशब्दया ।
स्तूयमान इवोत्क्रान्तबन्दिसन्दर्भया भुवा ॥१२॥
नभोविलङ्घिभिः सेनारजोराशिभिरुद्धतैः ।
सपक्षभूभृदुल्लासशङ्कां कुर्वन्शतक्रतोः ॥१३॥
स प्रतस्थे ततो देव्या सह वासवदत्तया ।
स्वपुरीं प्रति राजेन्द्रः प्रातरेवापरेऽहनि ॥१४॥
ततश्च दिवसैर्द्वित्रैर्विषयं तमवाप्य सः ।
विशश्राम निशामेकां रुमण्वन्मन्दिरे नृपः ॥१५॥
अन्येद्युस्तां च कौशाम्बीं चिरात्प्राप्तमहोत्सवः ।
मार्गोत्सुकोन्मुखजनां प्रविवेश प्रियासखः ॥१६॥
तदा च स्त्रीभिरारब्धमङ्गलस्नानमण्डना ।
चिरादुपागते पत्यौ बभौ नारीव सा पुरी ॥१७॥
ददृशुश्चात्र पौरास्तं वत्सराजं वधूसखम् ।
प्रशान्तशोकाः शिखिनः सविद्युतमिवाम्बुदम् ॥१८॥
हर्म्याग्रस्थाश्च पिदधुः पौरनार्यो मुखैर्नभः ।
व्योमगङ्गातटोत्फुल्लहेमाम्बुरुहविभ्रमैः ॥१९॥
ततः स्वं राजभवनं वत्सराजो विवेश सः ।
नृपश्रियेवापरया सह वासवदत्तया ॥२०॥
सेवागतनृपाकीर्णं मागधोद्गीतमङ्गलम् ।
सुप्तप्रबुद्धमिव तद्रेजे राजगृहं तदा ॥२१॥
अथ वासदत्ताया भ्राता गोपालकोऽचिरात् ।
आययौ सह कृत्वा तौ प्रतीहारपुलिन्दकौ ॥२२॥

तुम दोनों यहाँ रहकर गोपालक के आगमन की प्रतीक्षा करो, उसके आने पर साथ जाना—उदयन ने ससुराल के प्रतिहार और अपने मित्र पुलिन्दक को ऐसा कहकर वहीं ठहरा दिया ॥८—१०॥

तब दूसरे दिन, प्रातःकाल ही राजा ने धूमधाम के साथ कौशाम्बी की ओर प्रस्थान किया। राजा की सवारी के पीछे मदों का झरना बहाते हुए मदोन्मत्त हाथी झूम रहे थे, जो प्रेम से राजा का अनुगमन करती हुई विन्ध्य की घाटी प्रतीत हो रहे थे। पीछे चलते हुए घोड़ों के पदाघातों से मानों पृथ्वी, राजा के बन्दियों का काम कर रही थी। सेना के पैरों से उड़ी हुई और आकाश में पहुँची हुई धूल के बड़े-बड़े गुब्बारों से इन्द्र के लिए विपक्षी पर्वतों को भ्रम उत्पन्न करते हुए राजा ने प्रस्थान किया ॥११—१३॥

निरन्तर यात्रा करके दूसरे दिन प्रातःकाल राजा अपनी राजधानी में पहुँचा और पहली रात को सेनापति रुमण्वान् के घर विश्राम किया। दूसरे दिन चिरकालीन विरह से उत्सुक प्रजा के लिए महोत्सव के समान वह राजा अपनी प्रिया वासवदत्ता के साथ अपने भवन में पहुँचा। उस समय मार्ग के दोनों ओर से उत्सुक जनता राजा का दर्शन कर रही थी ॥१४—१६॥

राजा के आगमन की प्रसन्नता से नगर की स्त्रियों ने मंगलगान प्रारम्भ किया; जिससे मालूम होता था कि मानों नगरी, अपने स्वामी के आगमन की प्रसन्नता में मंगलगान कर रही है ॥१७॥

महारानी वासवदत्ता के साथ उदयन को देखकर नगर की जनता शोक और क्षोभ से रहित होकर इस प्रकार प्रसन्न होकर नाचने लगी, जैसे बिजली-सहित मेघों को देखकर मयूर नाच उठते हैं ॥१८॥

नगरी के ऊँचे भवनों पर राजदर्शनार्थ खड़ी हुई रमणियों ने, आकाश-गंगा में खिले हुए कमलों के समान अपने मुख-कमलों से सारे आकाश को घेर लिया ॥१९॥

इस प्रकार, नगर-यात्रा करता हुआ राजा उदयन, दूसरी राजलक्ष्मी के समान वासवदत्ता के साथ राजप्रासाद में आया ॥२०॥

सेवा में आये हुए सामन्त-राजाओं से भरा हुआ, बन्दियों और गायकों के गीत-स्वर से गूँजता हुआ राजप्रासाद, ऐसा प्रतीत हो रहा था; मानों अभी वह सोकर जगा हो ॥२१॥

राजा के राजभवन में पहुँच जाने के बाद शीघ्र ही चण्डमहासेन का बड़ा पुत्र गोपालक प्रतिहार और पुलिन्दक के साथ कौशाम्बी आ पहुँचा ॥२२॥

कृतप्रत्युद्गमं राज्ञा तमानन्दमिवापरम् ।
प्राप वासवदत्ता सा प्रहर्षोत्फुल्ललोचना ॥२३॥

अमुं भ्रातरमेतस्याः पश्यन्त्या मास्म भूत्त्रपा ।
इत्येव तस्यास्तत्कालं रुरोधाश्रु विलोचने ॥२४॥

पितृसन्देशवाक्यैश्च तेन प्रोत्साहिताय सा ।
मेने कृतार्थमात्मानं स्वजनेन समागतम् ॥२५॥

ततो यथावद्ववृतेस्तया वत्सेश्वरस्य च ।
व्यग्रो गोपालकोऽन्येद्युस्तत्रोद्वाहमहोत्सवे ॥२६॥

रतिवल्लीनवोद्भिन्नमिव पल्लवमुज्ज्वलम् ।
पाणिं वासवदत्तायाः सोऽथ वत्सेश्वरोऽग्रहीत् ॥२७॥

सापि प्रियकरस्पर्शसान्द्रानन्दनिमीलिता ।
सकम्पस्वेददिग्धाङ्गी गाढरोमाञ्चर्चिता ॥२८॥

सुसंमोहनवायव्यवारुणास्त्रैर्निरन्तरैः ।
विद्धेव पुष्पचापेन तत्क्षणं समलक्ष्यत ॥२९॥

दृशि धूमाभिताम्रायां तस्या वह्निप्रदक्षिणे ।
मदिरा मदमाधुर्यसूत्रपातमिवाकरोत् ॥३०॥

गोपालकार्पितै रत्नै राज्ञां चोपायनैस्तदा ।
पूर्णकोषो दधौ सत्यां वत्सेशो राजराजताम् ॥३१॥

निर्वर्त्तितविवाहौ तावादौ लोकस्य चक्षुषि ।
वधूवरौ विविशतुः पश्चात्स्वे वासवेश्मनि ॥३२॥

अथ सम्मानयामास पट्टबन्धादिना स्वयम् ।
निजोत्सवे वत्सराजो गोपालकपुलिन्दकौ ॥३३॥

राज्ञां सम्माननार्थं च पौराणां च यथोचितम् ।
यौगन्धरायणस्तेन रुमण्वांश्च न्ययुज्यत ॥३४॥

ततोऽब्रवीद्रुमण्वन्तमेवं यौगन्धरायणः ।
राज्ञा कष्टे नियुक्तौ स्वो लोकचित्तं हि दुर्ग्रहम् ॥३५॥

अरञ्जितश्च बालोऽपि रोषमुत्पादयेद्ध्रुवम् ।
तथा च शृण्विमां बालविनष्टककथां सखे ॥३६॥

राजा ने आगे जाकर उसका स्वागत किया और आ जाने पर आनन्द से खिले हुए लोचनोंवाली वासवदत्ता दूसरे आनन्द के समान भाई से मिली। भागी हुई वासवदत्ता को भाई के साथ लज्जा का अनुभव न करना पड़े, मानों इसीलिए उसकी आँखें प्रेमाश्रुओं से डबडबा आईं। पिता के सन्देश-वचनों से प्रोत्साहित वासवदत्ता ने अपने भाई से मिलकर अपने को कृतकृत्य समझा ।।२३—२५।।

दूसरे दिन, दोनों का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। गोपालक सारे दिन विवाह-महोत्सव के प्रबन्ध में व्यस्त रहा। रति-रूपी लता से निकले हुए नवीन पल्लव के समान कोमल वासवदत्ता के हाथ को वत्सेश्वर ने ग्रहण किया। उदयन का स्पर्श होने पर वासवदत्ता उस स्पर्श के गम्भीर आनन्द में निमग्न हो गई। उसके सारे शरीर में कम्प और पसीना होने लगा। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों कामदेव ने, सम्मोहन करनेवाले वायव्य और वारुण अस्त्रों की निरन्तर वर्षा से उसे वेध डाला हो (वायव्यास्त्र के प्रभाव से कम्प और वारुणास्त्र के प्रभाव में स्वेद बह रहा था।) ।।२६—२९।।

अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय धुएँ से कुछ लाल हुई आँखों में मानों मदिरा के मधुर नशे ने सूत्रपात कर दिया हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था ।।३०।।

इस अवसर पर गोपालक द्वारा दिये गये रत्नों तथा अन्य मित्रराजाओं के बहुमूल्य उपहारों से वत्सराज राजराज कुबेर-सा लग रहा था ।।३१।।

विवाहित वे दोनों वर और वधू पहले तो दर्शकों की आँखों में प्रविष्ट हुए, पश्चात् अपने शयनागार में ।।३२।।

तदनन्तर, अपने विवाह-महोत्सव में राजा ने गोपालक और पुलिन्दक को भेंट देकर पट्टबन्ध आदि से सम्मानित किया ।।३३।।

राजाओं तथा प्रतिष्ठित नागरिकों के सम्मान का कार्य यौगन्धरायण और रुमण्वान् को सौंपा गया था ।।३४।।

इस अवसर पर यौगन्धरायण ने रुमण्वान् से कहा कि 'राजा ने, हमलोगों को बड़े ही कठिन कार्य पर नियुक्त किया है; क्योंकि सभी लोगों के चित्तों को प्रसन्न करना दुष्कर है ।।३५।।

अप्रसन्न बालक भी, मन में क्रोध और क्षोभ उत्पन्न कर देता है। इस सम्बन्ध में बाल-विनष्टक की कथा कहता हूँ, सुनो' ।।३६।।

बभूव रुद्रशर्माख्यः कश्चन ब्राह्मणः पुरा ।
बभूवतुश्च तस्य द्वे गृहिण्यौ गृहमेधिनः ॥३७॥
एका सुतं प्रसूयैव तस्य पञ्चत्वमाययौ ।
तत्सुतोऽपरमातुश्च हस्ते तेनार्पितोऽथ सः ॥३८॥
सा च किञ्चिद्विवृद्धस्य रूक्षं तस्याशनं ददौ ।
सोऽपि तेनाभवद् बालो धूसराङ्गः पृथूदरः ॥३९॥
मातृहीनस्त्वयायं मे कथं शिशुरुपेक्षितः ।
इति तामपरां पत्नीं रुद्रशर्माथ सोभ्यधात् ॥४०॥
सेव्यमानोऽपि हि स्नेहैरीदृगेव किमप्यसौ ।
किं करोम्यहमस्येति साप्येवं पतिमब्रवीत् ॥४१॥
नूनमेवंस्वभावोऽयमिति मेने च स द्विजः ।
स्त्रीणामलीकमुग्धं हि वचः को मन्यते मृषा ॥४२॥
बाल एव विनष्टोऽयमिति बालविनष्टकः ।
नाम्ना स बालकस्तत्र संवृत्तोऽभूत्पितुर्गृहे ॥४३॥
असावपरमाता मां कदर्थयति सर्वदा ।
वरं प्रतिक्रियां काञ्चित्तदेतस्याः करोम्यहम् ॥४४॥
इति सञ्चिन्तयामास सोऽथ बालविनष्टकः ।
व्यतीतपञ्चवर्षोऽपि वयसा बत बुद्धिमान् ॥४५॥
अथागतं राजकुलाज्जगाद पितरं रहः ।
तात द्वौ मम तातौ स्त इत्यविस्पष्टया गिरा ॥४६॥
एवं प्रत्यहमाह स्म स बालः सोऽपि तत्पिता ।
तां सोपपतिमाशङ्क्य भार्यां स्पर्शेऽप्यवर्जयत् ॥४७॥
सापि दध्यौ विना दोषं कस्मान्मे कुपितः पतिः ।
किञ्चिद् बालविनष्टेन कृतं किञ्चिद् भवेदिति ॥४८॥
सादरं स्नपयित्वा च दत्त्वा स्निग्धं च भोजनम् ।
कृत्वोत्सङ्गे च पप्रच्छ सा तं बालविनष्टकम् ॥४९॥
पुत्र किं रोषितस्तातो रुद्रशर्मा त्वया मयि ।
तच्छ्रुत्वैव स तां बालो जगादापरमातरम् ॥५०॥
अतोऽधिकं ते कर्त्तास्मि न चेदद्यापि शाम्यसि ।
स्वपुत्रपोषिणी कस्मात्त्वं मां क्लिश्नासि सर्वदा ॥५१॥

बालविनष्टक की कथा

प्राचीन समय में रुद्रशर्मा नामक एक ब्राह्मण था। उस गृहस्थ की दो स्त्रियाँ थीं। उनमें से एक पुत्र प्रसव करके मर गई, अतः रुद्रशर्मा ने उसके बालक को दूसरी माता के हाथ सौंप दिया ।।३७-३८।।

जब वह बालक कुछ बड़ा हुआ तब उसकी माता उसे रूखा-सूखा भोजन देने लगी। इसी कारण वह बालक धूमिल शरीरवाला और बड़े पेट (तोंद) वाला हो गया ।।३९।।

बालक की शरीर-स्थिति देखकर रुद्रशर्मा ने उस पत्नी से कहा कि 'तूने इस मातृहीन बच्चे की उपेक्षा की है। उत्तर में उसने पति से कहा कि 'स्नेह से लालन-पालन करने पर भी यह ऐसा ही रहता है। इसके लिए मैं क्या करूँ?' उसके ऐसा कहने पर रुद्रशर्मा ने समझा कि यह बालक की प्रकृति ही है। स्त्रियों के झूठे और मोहकारी वचनों को कौन नहीं मान जाता? वह बालक ही विनष्ट है—वह बालक पिता के घर में बढ़ने लगा, इसलिए उसका नाम ही बालविनष्टक पड़ गया। एक बार बालक ने सोचा कि यह मेरी माता मेरी दुर्दशा करती है और अपने पुत्र का भली भाँति लालन-पालन करती है, मैं इसका बदला लूँगा। बालविनष्टक की अवस्था यद्यपि पाँच वर्ष की ही थी, किन्तु वह बहुत बुद्धिमान् था ।।४०—४४।।

एक बार राजगृह से आये हुए अपने पिता को एकान्त में उसने अस्पष्ट स्वर में कहा—'पिता! मेरे दो पिता है।' उसके कहने पर रुद्रशर्मा ने अपनी पत्नी को उपपतिवाला समझकर उसका स्पर्श करना भी छोड़ दिया। वह भी चिन्ता करने लगी कि 'मेरा पति सहसा कुपित क्यों है? अवश्य ही बालविनष्टक ने कुछ किया होगा' ।।४६—४८।।

एक बार उसने बड़े ही प्रेम से बालविनष्टक को स्नान करा और सुन्दर तथा स्निग्ध आहार खिलाकर, उसे गोद में बैठाकर प्यार के साथ कहा—'बेटा! तुमने अपने पिता रुद्रशर्मा को मुझपर कुपित क्यों करा दिया है?' यह सुनते ही बालक विमाता से कहने लगा। अभी मैं उससे भी अधिक कुछ करूँगा; क्योंकि तुम अपने लड़के के ही पालन-पोषण में ध्यान देती हो और मुझे सदा कष्ट देती हो ।।४९—५१।।

तच्छ्रुत्वा प्रणता सा तं बभाषे शपथोत्तरम् ।
पुनर्नैवं करिष्यामि तत्प्रसादाय मे पतिम् ॥५२॥
ततः स बालोऽवादीत्तां तर्ह्यायातस्य मत्पितुः ।
आदर्शं दर्शयत्वेका त्वच्चेटी वेद्म्यहं परम् ॥५३॥
तथेत्युक्त्वा तया चेटी नियुक्ता रुद्रशर्मणः ।
आगतस्य क्षणात्तस्य दर्शयामास दर्पणम् ॥५४॥
तत्र तस्यैव तत्कालं प्रतिबिम्बं स दर्शयन् ।
सोऽयं द्वितीयस्तातो मे तातेत्याह स्म बालकः ॥५५॥
तच्छ्रुत्वा विगताशङ्कस्तामकारणदूषिताम् ।
पत्नीं प्रति प्रसन्नोऽभूद्रुद्रशर्मा तदैव सः ॥५६॥
एवमुत्पादयेद्दोषं बालोऽपि विकृतिं गतः ।
तदयं रञ्जनीयो नः सम्यक्परिकरोऽखिलः ॥५७॥
इत्युक्त्वा सरुमण्वत्कः सोऽथ यौगन्धरायणः ।
सर्वं सम्मानयामास वत्सराजोत्सवे जनम् ॥५८॥
तथा च राजलोकं तौ रञ्जयामासतुर्यथा ।
मदेकप्रवणावेताविति सर्वोऽप्यमन्यत ॥५९॥
तौ चाप्यपूजयद्राजा सचिवौ स्वकरार्पितैः ।
वस्त्राङ्गरागाभरणैर्ग्रामैश्च सवसन्तकौ ॥६०॥
कृतोद्वाहोत्सवः सोऽथ युक्तो वत्सेश्वरस्तया ।
मनोरथफलान्येव मेने वासवदत्तया ॥६१॥
चिरादुन्मुद्रितः स्नेहात्कोऽप्यभूत्सततं तयोः ।
निशान्तक्लिष्टचक्राह्वरीतिहृद्यो रसक्रमः ॥६२॥
यथा यथा च दम्पत्योः प्रौढिं परिचयो ययौ ।
तयोस्तथा तथा प्रेम नवीभावमिवाययौ ॥६३॥
गोपालकोऽथ वीवाहकर्त्तुः सन्देशतः पितुः ।
प्रययौ शीघ्रमावृत्ति वत्सराजेन याचितः ॥६४॥
सोऽपि वत्सेश्वरो जातु चपलः पूर्वसङ्गताम् ।
गुप्तं विरचितां नाम भेजेऽन्तःपुरचारिकाम् ॥६५॥
तद्गोत्रस्खलितो देवीं पादलग्नः प्रसादयन् ।
लेभे सुभगसाम्राज्यमभिषिक्तस्तदश्रुभिः ॥६६॥

उसका यह उत्तर सुनकर ब्राह्मणी, सौगन्ध खाकर नम्रतापूर्वक उससे बोली—'अब मैं ऐसा न करूँगी। तुम मेरे पति को प्रसन्न करा दो।' तब वह बालक बोला—'जब मेरे पिता आवें, तब तुम्हारी दासी उसे एक शीशा दिखावे, उसके बाद मैं सब कर लूँगा' ॥५२-५३॥

उसकी विमाता ने दासी को इसके लिए तैयार किया। फलतः, उसने रुद्रशर्मा के आते ही उसे शीशा दिखलाया ॥५४॥

उसी समय शीशे में अपने पिता के प्रतिबिम्ब को दिखाते हुए बालक ने कहा—'यही मेरा दूसरा पिता है' ॥५५॥

बालक की बात सुनकर ब्राह्मण शंका-रहित हो गया और निष्कारण दूषित अपनी पत्नी के प्रति प्रसन्न हो गया ॥५६॥

इस प्रकार, एक बच्चा भी बिगड़कर दोष उत्पन्न कर सकता है।' अतः, हम लोगों को इन सभी आगतों को प्रसन्न रखना चाहिए ॥५७॥

ऐसा कहकर रुमण्वान् के साथ यौगन्धरायण ने वत्सराज के विवाहोत्सव में सम्मिलित समस्त जनों का सावधानी से ऐसा स्वागत किया कि प्रत्येक व्यक्ति यही समझता कि सारा प्रबन्ध मेरे ही लिए हो रहा है ॥५८-५९॥

अन्त में, राजा ने यौगन्धरायण, रुमण्वान् और वसन्तक को स्वयं उत्तमोत्तम वस्त्र, आभूषण, इत्र, पान और ग्रामदान (जागीर) देकर सादर पुरस्कृत किया (इनाम बाँटे) ॥६०॥

विवाह हो जाने पर वासवदत्ता से युक्त वत्सराज ने इसे अपने मनोरथों का फल समझा ॥६१॥

चिरकाल की प्रतीक्षा के उपरान्त उमड़ा हुआ उनका प्रेम, प्रातःकाल के समय रात-भर के सन्तप्त चकवा-चकई के समान सुखद हुआ ॥६२॥

उस दम्पती का प्रेम जैसे-जैसे प्रौढ होता गया, वैसे-वैसे उसमें नवीनता आती गई ॥६३॥

गोपालक भी विवाहकर्त्ता पिता का सन्देश पाकर वत्सराज से पुनः आने का निश्चय करके उज्जयिनी चला गया ॥६४॥

चंचल वृत्तिवाला वत्सराज, रनिवास की विरचिता नाम की दासी से गुप्त प्रेम करता था। अतः, कभी भ्रम में उसका नाम लेने के कारण कुपित वासवदत्ता के चरणों पर गिरकर उसे प्रसन्न करता हुआ और उसके आँसुओं से सींचा जाता हुआ अपने को सौभाग्य-साम्राज्य में अभिषिक्त समझता था ॥६५-६६॥

किं च बन्धुमतीं नाम राजपुत्रीं भुजार्जिताम् ।
गोपालकेन प्रहितां कन्यां देव्या उपायनम् ।।६७।।
तया मञ्जुलिकेत्येव नाम्नान्येनैव गोपिताम् ।
अपरामिव लावण्यजलधेरुद्गतां श्रियम् ।।६८।।
वसन्तकसहायः सन्दृष्ट्वोद्यानलतागृहे ।
गान्धर्वविधिना गुप्तमुपयेमे स भूपतिः ।।६९।।
तच्च वासवदत्तास्य ददर्श निभृतस्थिता ।
प्रचुकोप च बद्ध्वा च सा निनाय वसन्तकम् ।।७०।।
ततः प्रव्राजिकां तस्याः सखीं पितृकुलागताम् ।
स सांकृत्यायनीं[1] नाम शरणं शिश्रिये नृपः ।।७१।।
सा तां प्रसाद्य महिषीं तया सैव कृताज्ञया ।
ददौ बन्धुमतीं राज्ञे पेशलं हि सतीमनः ।।७२।।
ततस्तं बन्धनाद्देवी सा मुमोच वसन्तकम् ।
स चागत्याग्रतो राज्ञीं हसन्निति जगाद ताम् ।।७३।।
बन्धुमत्यापराद्धं च किं मया देवि ते कृतम् ।
डुण्डुभेषु प्रहरथ क्रुद्धा यूयमहीन्प्रति ।।७४।।
एतत्त्वमुपमानं मे व्याचक्ष्वेति कुतूहलात् ।
देव्या पृष्टस्तया सोऽथ पुनराह वसन्तकः ।।७५।।
पुरा कोऽपि रुरुर्नाम मुनिपुत्रो यदृच्छया ।
परिभ्रमन्ददर्शैकां कन्यामद्भुतदर्शनाम् ।।७६।।
विद्याधरात्समुत्पन्नां मेनकायां द्युयोषिति ।
स्थूलकेशेन मुनिना वर्धितामाश्रमे निजे ।।७७।।
सा च प्रमद्वरा नाम दृष्टा तस्य रुरोर्मनः ।
जहार सोऽथ गत्वा तां स्थूलकेशादयाचत ।।७८।।
स्थूलकेशोऽपि तां तस्मै प्रतिशुश्राव कन्यकाम् ।
आसन्ने च विवाहे तामकस्माद्दृष्टवानहिः ।।७९।।
ततो विषण्णहृदयः शुश्रावेमां गिरं दिवि ।
एतां क्षीणायुषं ब्रह्मन् स्वायुषोऽर्द्धेन जीवय ।।८०।।

---

१. राज्ञामन्तःपुरे, राज्ञीनां धर्मोपदेशाय प्रव्राजिकारूपेण प्रौढाः, काषायवसनाः, विधवाः स्त्रियः तिष्ठन्ति स्मेति प्रायो दृश्यते ।

इसके अतिरिक्त, गोपालक द्वारा वासवदत्ता के लिए उपहार में भेजी हुई बन्धुमती नाम की राजकुमारी को वत्सराज ने गान्धर्व विधि से विवाहित किया। उसे मंजुलिका के नाम से छिपाकर भेजा गया था। वह लावण्य-समुद्र से निकली हुई लक्ष्मी के समान सुन्दर थी। इस गुप्त विवाह को वासवदत्ता ने छिपकर देख लिया था। फलतः, उस कार्य के प्रधान आयोजक वसन्तक पर वह अत्यन्त क्रुद्ध हुई और उसे बँधवाकर ले गई ।।६७–७०।।

तब राजा ने, वासवदत्ता के पितृकुल से आई हुई सांकृत्यायनी नाम की परिव्राजिका की शरण ली ।।७१।।

राजा ने परिव्राजिका को प्रसन्न करके महारानी को मनाया। परिव्राजिका की आज्ञा से वासवदत्ता ने बन्धुमती को राजा के लिए दे दिया और वसन्तक को कैद से मुक्त कर दिया। सती स्त्रियों का हृदय कोमल होता है ।।७२।।

बन्धन से छूटने पर विदूषक वसन्तक ने हँसते हुए कहा कि अपराध तो बन्धुमती ने (विवाह कराकर) किया, मैंने क्या किया (जो कैद कर लिया गया)? विषधर साँपों का क्रोध बेचारे डेड़हों (पानी के निर्विष साँपों) पर निकालती हो ।।७३-७४।।

उसके यह कहने पर वासवदत्ता ने कौतुक से पूछा—इस उदाहरण को विस्तृत रूप से समझाओ ।।७५।।

रुरु और प्रमद्वरा की कथा

वसन्तक ने समझाते हुए फिर कहा—प्राचीन समय में रुरुकुमार नाम का एक मुनि-कुमार था। उसने भ्रमण करते हुए एक अद्भुत सुन्दरी कन्या को देखा ।।७६।।

वह कन्या, किसी विद्याधर द्वारा स्वर्गीय अप्सरा मेनका से उत्पन्न की गई थी और स्थूलकेशा नाम के ऋषि ने अपने आश्रम में उसका पालन-पोषण किया था ।।७७।।

उस रुरु नामक ऋषिकुमार ने उस प्रमद्वरा नाम की कन्या को स्थूलकेशा ऋषि से माँगा; क्योंकि उस कन्या ने, उसका मन हर लिया था ।।७८।।

स्थूलकेशा ने भी उसे कन्या देना स्वीकार कर लिया था। किन्तु, विवाह-समय के निकट ही उस कन्या को सर्प ने काट लिया था ।।७९।।

तब दुःखी ऋषिकुमार ने आकाशवाणी सुनी कि 'तुम अपनी आयुष्य का आधा भाग देकर इसे जीवित करो, अन्यथा इसकी आयु क्षीण हो चुकी है' ।।८०।।

तच्छ्रुत्वा स ददौ तस्यै तवैवार्द्धं निजायुषः ।
प्रत्युज्जिजीव सा तेन सोऽपि तां परिणीतवान् ॥८१॥
अथ क्रुद्धो रुरुर्नित्यं यं यं सर्पं ददर्श सः ।
तं तं जघान भार्या मे दष्टाभीभिर्भवेदिति ॥८२॥
अथैकस्तं जिघांसन्तं मर्त्यवाचाह डुण्डुभः ।
अहिभ्यः कुपितो ब्रह्मन्हंसि त्वं डुण्डुभान्कथम् ॥८३॥
अहिना ते प्रिया दष्टा विभिन्नो चाहिडुण्डुभौ ।
अहयः सविषाः सर्वे निर्विषा डुण्डुभा इति ॥८४॥
तच्छ्रुत्वा प्रत्यवादीत्तं सखे को नु भवानिति ।
डुण्डुभोऽप्यवदन्ब्रह्मन्नहं शापच्युतो मुनिः ॥८५॥
भवत्संवादपर्यन्तः शापोऽयमभवच्च मे ।
इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन्भूयस्तान्नावधीद्गुरुः ॥८६॥
तदेतदुपमानाय तव देवि मयोदितम् ।
डुण्डुभेषु प्रहरथ क्रुद्धा यूयमहिष्विति ॥८७॥
एवमभिधाय वचनं सनर्महासं वसन्तके विरते ।
वासवदत्ता तं प्रति तुतोष पार्श्वे स्थिता पत्युः ॥८८॥
इति मधुमधुराणि वत्सराजश्चरणगतः कुपितानुनाथनानि ।
सततमुदयनश्चकार देव्या विविधवसन्तककौशलानि कामी ॥८९॥
रसना मदिरारसैकसिक्ता कलवीणारवरागिणी श्रुतिश्च ।
दयितामुखनिश्चला च दृष्टिः सुखिनस्तस्य सदा बभूव राज्ञः ॥९०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथामुखलम्बके षष्ठस्तरङ्गः ।

समाप्तश्चायं कथामुखलम्बको द्वितीयः ।

ऐसा सुनकर ऋषिपुत्र ने अपनी आयु का आधा भाग देकर उसे जीवित किया और उसके साथ विवाह कर लिया ।।८१।।

विवाह के अनन्तर रुरु मुनि सर्पों पर इतना क्रुद्ध हुआ कि वह जहाँ भी किसी सर्प को देखता था, उसे मार डालता था—यह समझकर कि इन सर्पों ने मेरी प्रियतमा के प्राणों का हरण किया ।।८२।।

एक बार अपने को मारते हुए ऋषि को देखकर डुण्डुभ (पानी का निर्विष साँप) मनुष्य की वाणी में बोला कि 'तुम साँपों पर क्रुद्ध हो, तो हम डुण्डुभों को क्यों मारते हो ? तुम्हारी प्रियतमा को सर्प ने काटा है ।।८३।।

सर्प और डुण्डुभ दोनों पृथक् जातियाँ हैं। अहि (सर्प), सदा विषवाले और डुण्डुभ सदा विषहीन होते हैं। यह दोनों में भेद है । तब रुरु ने उससे पूछा कि 'तुम कौन हो ?' उत्तर में उसने कहा—'मैं शाप के कारण पतित मुनि हूँ । यह शाप तुमसे वार्तालाप करने तक ही था। ऐसा कहकर उसके अन्तर्धान हो जाने पर रुरु ने डुण्डुभों को मारना छोड़ दिया ।।८४–८६।।

महारानी ! यही मैंने उपमा के लिए आपसे कहा कि अहियों पर क्रुद्ध आप डुण्डुभों को व्यर्थ मारती हैं ।।८७।।

इस प्रकार विनोद-मिश्रित हास्य के साथ कहकर वसन्तक के चले जाने पर पति के साथ बैठी हुई वासवदत्ता उसके प्रति सन्तुष्ट हुई ।।८८।।

इस प्रकार, कामी उदयन, कुपिता वासवदत्ता के चरणों में मधुर-मधुर याचना (प्रार्थना) करता हुआ विदूषक वसन्तक के हास्य-कौशलों से रंजित होकर देवी वासवदत्ता के साथ समय व्यतीत करने लगा ।।८९।।

उस सुखी राजा की रसना, सदा मद्य में निरत; कान, वीणा की मधुर झंकारों में तल्लीन और दृष्टि सदा वासवदत्ता के मुख पर निश्चल रहती थी ।।९०।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथामुख नामक लम्बक का षष्ठ तरंग समाप्त हुआ ।

कथामुख नामक द्वितीय लम्बक भी समाप्त ।

लावाणको नाम तृतीयो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ॥

प्रथमस्तरङ्गः

राज्ञः उदयनस्य कथा (पूर्वानुवृत्ता)

निर्विघ्नविश्वनिर्माणसिद्धये यदनुग्रहम् ।
मन्ये स वव्रे धातापि तस्मै विघ्नजिते नमः ॥१॥
आश्लिष्यमाणः प्रियया शङ्करोऽपि यदाज्ञया ।
उत्कम्पते स भुवनं जयत्यसमसायकः ॥२॥
एवं स राजा वत्सेशः क्रमेण सुतरामभूत् ।
प्राप्तवासवदत्तस्तत्सुखासक्तैकमानसः ॥३॥
यौगन्धरायणश्चास्य महामन्त्री दिवानिशम् ।
सेनापती रुमण्वांश्च राज्यभारमुदूहतुः ॥४॥
स कदाचिच्च चिन्तावानानीय रजनौ गृहम् ।
निजगाद रुमण्वन्तं मन्त्री यौगन्धरायणः ॥५॥
पाण्डवान्वयजातोऽयं वत्सेशोऽस्य च मेदिनी ।
कुलक्रमागता कृत्स्ना पुरं च गजसाह्वयम्[1] ॥६॥
तत्सर्वमजिगीषेण त्यक्तमेतेन भूभृता ।
इहैव चास्य सञ्जातं राज्यमेकत्र मण्डले ॥७॥
स्त्रीपद्यमृगयासक्तो निश्चिन्तोऽह्येष[2] तिष्ठति ।
अस्मासु राज्यचिन्ता च सर्वानेन समर्पिता ॥८॥
तदस्माभिः स्वबुद्ध्यैव तया कार्यं यथैव तत् ।
समग्रपृथिवीराज्यं प्राप्नोत्येव क्रमागतम् ॥९॥
एवं कृते हि भक्तिश्च मन्त्रिता च कृता भवेत् ।
सर्वं च साध्यते बुद्ध्या तथा चैतां कथां शृणु ॥१०॥

---

१. हस्तिनापुरमित्यर्थः ।

२. धीरललितनायकस्वरूपमिदमनिश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ।

तृतीय लावाणक लम्बक

प्रथम तरंग

वत्सराज उदयन की कथा (क्रमशः)

ब्रह्मा भी जगत् के निर्माण की निर्विघ्न सिद्धि के लिए जिसका स्मरण करता है, उस विघ्ननाशक गणेशजी को नमस्कार है ॥१॥

प्रिया से निरन्तर लिपटे रहने पर भी शंकर भगवान् जिससे काँपते हैं, उस कामदेव की जय हो ॥२॥

इस प्रकार, वासवदत्ता के साथ सांसारिक सुखों का उपभोग करता हुआ वत्सराज एकमात्र वासवदत्ता के प्रति तल्लीन हो गया ॥३॥

राजा का प्रधान मन्त्री यौगन्धरायण और सेनापति रुमण्वान् दोनों राज्य-भर का भार वहन करते थे (राज्यकार्य चलाते थे) ॥४॥

एक बार चिन्तित यौगन्धरायण ने रुमण्वान् को रात में अपने घर पर लाकर कहा— यह उदयन, पाण्डव-वंश में उत्पन्न हुआ है, यह सारी पृथ्वी कुल-परम्परा से इसकी ही है और राजधानी हस्तिनापुर है ॥५-६॥

युद्ध में अनुत्साही उदयन ने वह सब कुछ छोड़ दिया। अब इसका राज्य केवल उस छोटे से वत्सप्रदेश-मात्र में रह गया है ॥७॥

स्त्री, मद्य और शिकार के व्यसनों में निमग्न यह राजा सदा निश्चिन्त रहता है। राज्य की सारी चिन्ता इसने हमारे ऊपर छोड़ रखी है। इसलिए, अब हम लोगों को ही यह प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कुल-परम्परा-प्राप्त समस्त पृथ्वी का राज्य उसे पुनः प्राप्त हो सके। ऐसा करने से हम अपनी राजभक्ति और मन्त्रित्व दोनों को सफल कर सकेंगे। और, बुद्धि के द्वारा सब कुछ सिद्ध हो सकता है। इस प्रसंग में एक कथा सुनो ॥८–१०॥

महासेननृपचतुरवैद्ययोःकथा

आसीत्कश्चिन्महासेन इति नाम्ना पुरा नृपः ।
स चान्येनाभियुक्तोऽभून्नृपेणातिबलीयसा ॥११॥
ततः समेत्य सचिवैः स्वकार्यभ्रंशरक्षिभिः ।
दापितः स महासेनो दण्डं तस्मै किल द्विषे ॥१२॥
दत्तदण्डश्च राजासौ मानी भृशमतप्यत ।
'किं मया विहितः शत्रोः प्रणाम' इति चिन्तयन् ॥१३॥
तेनैव चास्य गुल्मोऽन्तः[1] शोकेन ह्युदपद्यत ।
गुल्माक्रान्तश्च शोकेन स मुमूर्षुरभून्नृपः ॥१४॥
ततस्तदौषधासाध्यं मत्वैको मतिमान्भिषक् ।
मृता ते देव देवीति मिथ्या वक्ति स्म तं नृपम् ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा सहसा भूमौ पततस्तस्य भूपतेः ।
शोकावेगेन बलिना स गुल्मः स्वयमस्फुटत् ॥१६॥
रोगोत्तीर्णश्चिरं देव्या तथैव च सहेप्सितान् ।
भोगान्स बुभुजे राजा जिगाय च रिपून् पुनः ॥१७॥
तद्यथा स भिषग्बुद्धया चक्रे राजहितं तथा ।
वयं राजहितं कुर्मः साधयामोऽस्य मेदिनीम् ॥१८॥
परिपन्थी च तत्रैकः प्रद्योतो मगधेश्वरः ।
पार्ष्णिग्राहः स हि सदा पश्चात्कोपं करोति नः ॥१९॥
तत्तस्य कन्यकारत्नमस्ति पद्मावतीति यत् ।
तदस्य वत्सराजस्य कृते याचामहे वयम् ॥२०॥
छन्नां वासवदत्तां च स्थापयित्वा स्वबुद्धितः ।
दत्वाग्निं वासके ब्रूमो देवी दग्धेति सर्वतः ॥२१॥
नान्यथा तां सुतां राज्ञे ददाति मगधाधिपः ।
एतदर्थं स हि मया प्रार्थितः पूर्वमुक्तवान् ॥२२॥
नाहं वत्सेश्वरायैतां दास्याम्यात्माधिकां सुताम् ।
तस्य वासवदत्तायां स्नेहो हि सुमहानिति ॥२३॥

---

१. गुल्मरोगो नाम ग्रन्थिविशेषः स च पञ्चसु स्थानेषु भवति—कक्षे, हृदये, उदरे, नाभौ चेति। शोकजो गुल्मो वातेनोत्पद्यते । यथा चोक्तं माधवनिदाने— रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च । शोकाभिघातोऽति मलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुरिति ॥ तत्र शोकाभिघातजो गुल्मोऽत्र राज्ञ उदरे सञ्जातः

निपुण वैद्य की कथा

पूर्व समय में महासेन नाम का एक राजा था। वह अत्यन्त बलवान् दूसरे किसी राजा से पराजित कर दिया गया। उसके मन्त्रियों ने स्वार्थवश अपने स्वामी राजा को शत्रु से दण्ड दिलवा दिया। दण्ड प्राप्त होने पर वह आत्माभिमानी राजा—'मुझे शत्रु के आगे प्रणाम करना पड़ा'—इस चिन्ता से अत्यन्त सन्तप्त रहने लगा। इसी शोक के कारण राजा के शरीर में एक गुल्म उत्पन्न हुआ। उससे आक्रान्त राजा मरणासन्न हो गया। एक वैद्य ने उस फोड़े को औषधियों से असाध्य समझकर राजा से झूठ कह दिया कि 'महाराज ! आपकी महारानी मर गईं ॥११–१५॥

भीषण संवाद को सुनकर शोक से भूमि पर गिरते हुए राजा का फोड़ा धक्का लगने से स्वयं फूट गया। फोड़ा फूट जाने से राजा, धीरे-धीरे स्वस्थ होकर रानी के साथ सांसारिक भोगों का उपभोग करता हुआ पूर्व-शत्रु पर विजय प्राप्त कर सका ॥१६-१७॥

उस वैद्य ने, अपनी बुद्धि से उस अवसर पर जिस प्रकार राजहित का साधन किया था, उसी प्रकार हमलोग भी करें ॥१८॥

हमारे पृथ्वी-विजय करने में सबसे बड़ा बाधक मगध का राजा प्रद्योत है, जो हमारे पीछे का राजा है। आगे हम विजय करने चल पड़ें, पीछे से वह हमारे मूल राज्य पर ही कब्जा कर ले, ऐसा सम्भव है ॥१९॥

उससे हमारा प्रेम भी नहीं है, वह अवश्य क्रोध करके आक्रमण कर देगा। इसलिए उसकी कन्या पद्मावती है, जो कन्याओं में रत्न है, उसे हम वत्सराज के लिए माँगते हैं ॥२०॥

वासवदत्ता को बुद्धि-बल से कहीं छिपाकर निवास-स्थान में आग लगाकर कह देंगे कि 'वासवदत्ता जल गई' ॥२१॥

वासवदत्ता के रहते मगधराज, अपनी कन्या उदयन को न देगा। मेरे एक बार प्रार्थना करने पर उसने यही कहा था कि प्राणों से प्यारी कन्या वत्सराज को न दूँगा; क्योंकि वासवदत्ता पर राजा का स्नेह अत्यधिक है ॥२२–२३॥

तस्यां देव्यां च वत्सेशो नैवान्यां परिणेष्यति ।
देवी दग्धेति जातायां ख्यातौ सर्वं तु सेत्स्यति ।।२४।।
पद्मावत्यां च लब्धायां सम्बन्धी मगधाधिपः ।
पश्चात्कोपं न कुरुते सहायत्वं च गच्छति ।।२५।।
ततः पूर्वां दिशं जेतुं गच्छामोऽन्याश्च तत्क्रमात् ।
इत्थं वत्सेश्वरस्यैतां साधयामोऽखिलां भुवम् ।।२६।।
कृतोद्योगेषु चास्मासु पृथिवीमेष भूपतिः ।
प्राप्नुयादेव पूर्वं हि देव्या वागेवमब्रवीत् ।।२७।।
श्रुत्वेति मन्त्रिवृषभाद् वचो यौगन्धरायणात् ।
साहसं चैतदाशङ्क्य रुमण्वांस्तमभाषत ।।२८।।
व्याजः पद्मावतीहेतोः क्रियमाणः कदाचन ।
दोषायास्माकमेव स्यात्तथा ह्यत्र कथां शृणु ।।२९।।

धूर्तमठाधीशकथा

अस्ति माकन्दिका नाम नगरी जाह्नवीतटे ।
तस्यां मौनव्रतः कश्चिदासीत्प्रव्राजकः पुरा ।।३०।।
स च भिक्षाशनोऽनेकपरिव्राट्परिवारितः ।
आस्त देवकुलस्यान्तर्मठिकायां कृतस्थितिः ।।३१।।
प्रविष्टो जातु भिक्षार्थमेकस्य वणिजो गृहे ।
स ददर्श शुभां कन्यां भिक्षामादाय निर्गताम् ।।३२।
दृष्ट्वा चाद्भुतरूपां तां स कामवशगः शठः ।
'हा हा कष्ट' मिति स्माह वणिजस्तस्य शृण्वतः ।।३३।।
गृहीतभिक्षश्च ततो जगाम निलयं निजम् ।
ततस्तं स वणिग्गत्वा रहः पप्रच्छ विस्मयात् ।।३४।।
किमद्यैवमकस्मात्त्वं मौनं त्यक्त्वोक्तवानिति ।
तच्छ्रुत्वा वणिजं तं च परिव्राडेवमब्रवीत् ।।३५।।
दुर्लक्षणेयं कन्या ते विवाहोऽस्या यदा भवेत् ।
तदा ससुतदारस्य क्षयः स्यात्तव निश्चितम् ।।३६।।
तदेतां वीक्ष्य दुःखं मे जातं भक्तो हि मे भवान् ।
तेनैवमुक्तवानस्मि त्यक्त्वा मौनं भवत्कृते ।।३७।।
तदेषा कन्यका नक्तं मञ्जूषायां निवेशिता ।
उपरि न्यस्तदीपायां गङ्गायां क्षिप्यतां त्वया ।।३८।।

वासवदत्ता के रहते वत्सराज भी दूसरा विवाह न करेगा । उसका उसके प्रति अत्यधिक स्नेह है। 'महारानी जल गईं' ऐसा घोषित करने पर सब कुछ सिद्ध हो जायगा ।।२४।।

पद्मावती के साथ वत्सराज का विवाह हो जाने पर सम्बन्धी मगध-नरेश पीछे से आक्रमण न करेगा; बल्कि सहायक ही बनेगा ।।२५।।

इसलिए हम पहले पूर्व दिशा की ओर आक्रमण करेंगे और क्रमशः अन्य दिशाओं की ओर जायेंगे, इस प्रकार वत्सराज के लिए सारी भूमि को वश में करेंगे ।।२६।।

'हमारे उद्योग करने पर राजा समस्त पृथ्वी का शासक बन सकेगा'—ऐसी आकाश-वाणी भी पहले हो चुकी है ।।२७।।

मन्त्रिश्रेष्ठ यौगन्धरायण की उस योजना को सुनकर और इसे एक साहस-मात्र समझकर रुमण्वान् उससे बोला—पद्मावती के लिए किया हुआ बहाना कदाचित् हमारे लिए प्रतिकूल बैठे, और कहीं हमीं न दोषी ठहराये जायँ ? यह सम्भव है । इस सम्बन्ध में एक कथा सुनो—।।२८–२९।।

धूर्त्त साधु की कथा

गंगातट पर माकन्दिका नाम की एक नगरी है । उस नगरी में मौन व्रत धारण किये हुए एक परिव्राजक रहता था ।।३०।।

भिक्षाटन द्वारा भोजन करनेवाला वह संन्यासी, अनेक संन्यासी चेलों के साथ किसी देवमन्दिर के अन्दर मठिया में रहता था ।।३१।।

एक बार वह भिक्षा माँगते-माँगते किसी वैश्य के घर में गया और उसने वहाँ भिक्षा लेकर निकली हुई एक सुन्दरी कन्या को देखा । उस अद्भुत सुन्दरी कन्या को देखकर वह दुष्ट परिव्राजक काम के वशीभूत होकर 'हाय रे ! मर गया !!' इस प्रकार बोला, जबकि वह वैश्य (कन्या का पिता) सुन रहा था ।।३२–३३।।

तदनन्तर, भिक्षा लेकर अपने स्थान पर लौट आया । तब वह वैश्य, उसके समीप जाकर एकान्त में आश्चर्य से पूछने लगा कि हे संन्यासी ! आज तुमने अकस्मात् अपना मौन व्रत क्यों भंग किया और चिल्ला उठा । यह सुनकर संन्यासी बोला—तुम्हारी कन्या के लक्षण अशुभ हैं । इसका जब विवाह होगा, तब तुम्हारा स्त्री, पुत्र आदि के साथ अवश्य नाश हो जायगा । अतः, उस कन्या को देखकर मुझे दुःख हुआ; क्योंकि तुम मेरे भक्त हो । मैं तुम्हारी हानि नहीं देख सकता । अतः, तुम्हारे लिए ही मैंने मौन का त्याग किया । इसलिए, इस कन्या को काठ के सन्दूक में बन्द करके उसपर दिया जलाकर नदी में बहा दो ।।३४–३८।।

तथेति प्रतिपद्यैतद् गत्वा सोऽथ वणिग्भयात् ।
नक्तं चक्रे तथा सर्वं निर्विमर्शा हि भीरवः ॥३९॥
प्रव्राजकोऽपि तत्कालमुवाचानुचरान्निजान् ।
गङ्गां गच्छत तत्रान्तर्वहन्तीं यां च पश्यथ ॥४०॥
पृष्ठस्थदीपां मञ्जूषां गुप्तमानयतेह ताम् ।
उद्घाटनीया न च सा श्रुतेऽप्यन्तर्ध्वनाविति ॥४१॥
तथेति चागता यावद् गङ्गां न प्राप्नुवन्ति ते ।
राजपुत्रः किमप्येकस्तावत्तस्यामवातरत् ॥४२॥
सोऽत्र तां वाणिजा क्षिप्तां मञ्जूषां वीक्ष्य दीपतः ।
भृत्यैरानाय्य सहसा कौतुकादुदघाटयत् ॥४३॥
ददर्श चान्तः कन्यां तां हृदयोन्मादकारिणीम् ।
उपयेमे च गान्धर्वविधिना तां च तत्क्षणम् ॥४४॥
मञ्जूषां तां च गङ्गायां तथैवोर्ध्वस्थदीपिकाम् ।
कृत्वा तत्याज निक्षिप्य घोरं वानरमन्तरे ॥४५॥
गतेऽथ तस्मिन्सम्प्राप्तकन्यारत्ने नृपात्मजे ।
आययुस्तस्य चिन्वन्तः शिष्याः प्रव्राजकस्य ते ॥४६॥
ददृशुस्तां च मञ्जूषां गृहीत्वा तस्य चान्तिकम् ।
निन्युः प्रव्राजकस्यैनां सोऽथ हृष्टो जगाद तान् ॥४७॥
एकोऽहं साधये मन्त्रमादायैतामिहोपरि ।
अधस्तूष्णीं च युष्माभिः शयितव्यमिमां निशाम् ॥४८॥
इत्युक्त्वा तां स मञ्जूषामारोप्य मठिकोपरि ।
स परिव्राड् विवृतवान् वणिक्कन्याभिलाषुकः ॥४९॥
ततश्च तस्या निर्गत्य वानरो भीषणाकृतिः ।
तमभ्यधावत् स्वकृतो मूर्त्तिमानिव दुर्नयः ॥५०॥
स तस्य दशनैर्नासां नखैः कर्णौ च तत्क्षणम् ।
चिच्छेद पापस्य कपिर्निग्रहज्ञ इव क्रुधा ॥५१॥
तथाभूतोऽथ स ततः परिव्राडवतीर्णवान् ।
यत्नस्तम्भितहासाश्च शिष्यास्तं ददृशुस्तदा ॥५२॥
प्रातर्बुद्ध्वा च तत्सर्वं जहास सकलो जनः ।
ननन्द स वणिक् सा च तत्सुता प्राप्तसत्पतिः[1] ॥५३॥

१. प्राप्तः सत्पतिर्यया सेति बहुव्रीहिः ।

वह बनिया उसी प्रकार स्वीकार करके घर गया और भय के कारण रात में उसने उसी प्रकार किया—अर्थात्, कन्या को सन्दूक में बन्द करके नदी में बहा दिया; क्योंकि भीरु (डरपोक) लोग विवेकहीन होते हैं ॥३९॥

संन्यासी ने भी मठ में रहनेवाले अपने चेलों से कहा कि जाओ, नदी में देखो । यदि पीठ पर जलते हुए दीयेवाले बहते हुए सन्दूक को देखोगे, तो उसे चुपचाप मेरे पास लाओ । यदि उसके अन्दर से आवाज भी आती हो, तो उसे खोलना मत ॥४०-४१॥

जब साधु के चेले गंगा-तट पर पहुँचे, तब उससे पहले ही कोई राजपुत्र गंगा-तट पर उतरा और उसने उस बनिये के द्वारा दीप जलाकर गंगा में बहाई हुई पेटी को देखा तथा अपने नौकरों से पेटी को मँगाकर खोला, तो उसमें हृदय को उन्मत्त कर देनेवाली सुन्दरी कन्या को देखा । राजकुमार ने उस सुन्दरी को निकालकर वहीं उसके साथ तुरत गन्धर्व-विवाह कर लिया और पेटी में एक भयानक बन्दर को बन्द करके उसी प्रकार दीप-सहित पेटी को नदी में छोड़ दिया ॥४२–४५॥

उस कन्यारत्न को लेकर राजकुमार के चले जाने पर उसी पेटी को खोजते हुए संन्यासी चेलों ने उस पेटी को देखा और उसे निकालकर गुरु के पास ले गये तथा प्रसन्न मुद्रा में गुरु ने उनसे कहा—अकेला ही इस पेटी पर बैठकर मन्त्र सिद्ध करता हूँ और तुमलोग नीचे जाकर रातभर चुपचाप सो जाओ ॥४६–४८॥

ऐसा कहकर उस संन्यासी ने सुन्दरी वैश्य-कन्या की प्राप्ति की उत्कण्ठा से एकान्त में उस पेटी को खोला । उसे खोलते ही संन्यासी की दुर्नीति के मूर्त्तिमान् स्वरूप एक भीषण बन्दर उससे निकलकर उछला ॥४९-५०॥

बन्दर ने निकलते ही दाँतों से संन्यासी की नाक और नखों से उसके कान काट लिये । मानों, वानर संन्यासी की दुष्टता का दण्ड देने के लिए ही आया हो । तदनन्तर, वह संन्यासी उसी रूप से नीचे उतरा । उसे उस रूप में देखकर उसके शिष्यों ने बड़ी ही कठिनाई से हँसी को रोका ॥५१-५२॥

प्रातःकाल यह समाचार जानकर वह बनिया तथा अन्य सभी लोग खूब हँसने लगे । वह वैश्य-कन्या, एक राजकुमार को सुन्दर पति के रूप में प्राप्त कर आनन्द करने लगी ॥५३॥

एवं यथा स हास्यत्वं गतः प्रव्राजकस्तथा ।
व्याजप्रयोगस्यासिद्धौ वयं गच्छेम जातुचित् ॥५४॥
बहुदोषो हि विरहो राज्ञो वासवदत्तया ।
एवं रुमण्वतोक्तः सन्नाह यौगन्धरायणः ॥५५॥
नान्यथोद्योगसिद्धिः स्यादनुद्योगे च निश्चितम् ।
राजनि व्यसनिन्येतन्नश्येदपि यथास्थितम् ॥५६॥
लब्धापि मन्त्रिताख्यातिरस्माकं चान्यथा भवेत् ।
स्वामिसम्भावनायाश्च भवेम व्यभिचारिणः ॥५७॥
स्वायत्तसिद्धे[1] राज्ञो हि प्रज्ञोपकरणं मता ।
सचिवः को भवेत्तेषां कृते वाऽप्यथवाकृते ॥५८॥
सचिवायत्तसिद्धेस्तु तत्प्रज्ञैवार्थसाधनम् ।
त एव चेन्निरुत्साहाः श्रियो दत्तो जलाञ्जलिः ॥५९॥
अथ देवी पितुश्चण्डमहासेनाद् विशङ्कसे ।
स सपुत्रश्च देवी च वचः कुरुत एव मे ॥६०॥
इत्युक्तवन्तं धीराणां धुर्यं यौगन्धरायणम् ।
प्रमादशङ्किहृदयो रुमण्वान्पुनरब्रवीत् ॥६१॥
अभीष्टस्त्रीवियोगार्त्या सविवेकोऽपि बाध्यते ।
किं पुनर्वत्सराजोऽयमत्र चैतां कथां शृणु ॥६२॥
पुराभूद्देवसेनाख्यो राजा मतिमतां वरः ।
श्रावस्तीति पुरी तस्य राजधानी बभूव च ॥६३॥
तस्यां च पुर्यामभवद् वणिगेको महाधनः ।
तस्योदपद्यतानन्यसदृशी दुहिता किल ॥६४॥
उन्मादिनीति नाम्ना च कन्यका सापि पप्रथे ।
उन्माद्यति गतस्तस्या रूपं दृष्ट्वाऽखिलो जनः ॥६५॥
तनयेयमनावेद्य राज्ञे देया क्वचिन्न मे ।
स हि कुप्येदिति पिता तस्याः सोऽचिन्तयद् वणिक् ॥६६॥
ततश्च गत्वा राजानं देवसेनं व्यजिज्ञपत् ।
देवास्ति कन्यारत्नं मे गृह्यतामुपयोगि चेत् ॥६७॥

---

१. त्रिविधा हि राजानः—१. स्वायत्तसिद्धिः, २. सचिवायत्तसिद्धिः, उभयायत्तसिद्धिश्चेति । तत्रायमुदयनः सचिवायत्तसिद्धिः ।

इसी प्रकार इस क्रूर प्रयोग की असफलता होने पर कहीं हम भी हँसी के पात्र न बनें। राजा के लिए वासवदत्ता का वियोग अत्यन्त असह्य है, इस कारण और कुछ अनर्थ भी सम्भव है। राजा के रहते हुए जो भी है, उससे भी हाथ धोना पड़ेगा। रुमण्वान् के इस प्रकार कहने पर यौगन्धरायण ने कहा–'विना उद्योग के सिद्धि नहीं प्राप्त होगी। यदि उद्योग न किया जायगा, तो उस व्यसनी राजा का जो शेष राज्य है, वह भी न रह जायगा' ।।५४–५७।।

जिन राजाओं की सफलता मन्त्रियों के अधीन होती है, उनके लिए मन्त्रियों की बुद्धि ही कार्य-साधन करती है, इसलिए राजा का उपकार न करने के कारण हम दोषी होंगे। स्वायत्तसिद्धि राजाओं के कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य के लिए उनकी निजी बुद्धि ही साधन होती है। उनके लिए कुछ करने या न करने में मन्त्रियों का उत्तरदायित्व नहीं होता। सचिवायत्त सिद्धिवाले राजा यदि निरुत्साह और निरुद्योग रहेंगे, तो राजलक्ष्मी को तिलांजलि देनी होगी। यदि तुम महारानी के पिता चण्डमहासेन से शंका करते हो, तो व्यर्थ है। वह राजा और उसका पुत्र गोपालक मेरी बात मानते ही हैं, ।।५८–६०।।

धीर-धुरन्धर यौगन्धरायण के ऐसा कहने पर प्रमाद से शंकित चित्तवाला रुमण्वान् फिर बोला—बड़े-बड़े विवेकी पुरुष भी अति प्रिय स्त्री के वियोग से पीडित होते हैं, फिर वत्सराज की तो बात ही क्या ? इस प्रसंग में यह कथा सुनो—।।६१-६२।।

राजा देवसेन और उन्मादिनी की कथा

पूर्वसमय में देवसेन नाम का बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राजा था। श्रावस्ती नाम की नगरी उसकी राजधानी थी। उस नगरी में एक अत्यन्त धनी बनिया था। उसकी एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। वह कन्या उन्मादिनी के नाम से प्रसिद्ध हुई; क्योंकि उसे देखकर, देखनेवाले उन्मत्त हो जाते थे ।।६३–६५।।

वैश्य ने सोचा कि राजा को सूचना दिये विना इस कन्या को कहीं न दूँगा, नहीं तो राजा कुपित होगा ।।६६।।

तब उसने राजा देवसेन के पास जाकर निवेदन किया कि राजन् ! मेरे यहाँ एक कन्यारत्न है। यदि आपके उपयोगी हो, तो आप उसे ग्रहण करें ।।६७।।

तच्छ्रुत्वा व्यसृजद्राजा सोऽथ प्रत्ययितान् द्विजान् ।
गत्वा सुलक्षणा सा वा न वेत्यालोच्यतामिति ।।६८।।

तथेति ते द्विजा गत्वा तां दृष्ट्वैव वणिक्सुताम् ।
उन्मादिनीं ययुः क्षोभं सद्यः सञ्जातमन्मथाः ।।६९।।

राजास्यां परिणीतायामेतदेकमनास्त्यजेत् ।
राजकार्याणि नश्येच्च सर्वं तस्मात्किमेतया ।।७०।।

इति च प्रकृतिं प्राप्ता द्विजाः सम्मन्त्र्य ते गताः ।
कुलक्षणा सा कन्येति मिथ्या राजानमब्रुवन् ।।७१।।

ततो राज्ञा परित्यक्तां स तामुन्मादिनीं वणिक् ।
तत्सेनापतये प्रादादन्तर्जातविमाननाम् ।।७२।।

भर्तृवेश्मनि हर्म्यस्था साथ जातु तमागतम् ।
राजानं तेन मार्गेण बुद्ध्वात्मानमदर्शयत् ।।७३।।

दृष्ट्वैव च स तां राजा जगत्सम्मोहनौषधिम् ।
प्रयुक्तामिव कामेन जातोन्माद इवाभवत् ।।७४।।

गत्वा स्वभवनं ज्ञात्वा तां च पूर्वावधीरिताम् ।
उन्मना ज्वरसन्तापपीडां गाढमवाप सः ।।७५।।

'सा दासी न परस्त्री' ति गृह्यतां यदि वाप्यहम् ।
त्यजामि तां देवकुले[1] स्वीकरोतु ततः प्रभुः ।।७६।।

इति तेन च तद्भर्त्रा स्वसेनापतिना ततः ।
अभ्यर्थ्यमानो यत्नेन जगादैवं स भूपतिः ।।७७।।

नाहं परस्त्रीमादास्ये त्वं वा त्यक्ष्यसि तां यदि ।
ततो नंक्ष्यति ते धर्मो दण्ड्यो मे च भविष्यसि ।।७८।।

तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणोऽन्ये च तूष्णीमासन्स च क्रमात् ।
स्मरज्वरेण तेनैव नृपः पञ्चत्वमाययौ ।।७९।।

एवं स राजा नष्टोऽभूद्धीरोऽप्युन्मादिनीं विना ।
विना वासवदत्तां तु वत्सराजः कथं भवेत् ।।८०।।

---

१. अत्र प्राचीन भारते प्रचलितायाः देवदासित्व प्रथाया आभास उपलभ्यते सांप्रतमपि दक्षिणदेशे उत्कलेऽपि सैषा प्रथा दृश्यते ।

यह सुनकर राजा ने विश्वस्त ब्राह्मणों को कन्या को देखने के लिए भेजा कि जाकर देखो कि कन्या सुलक्षणा और विवाह के योग्य है या नहीं। ब्राह्मणों ने वहाँ जाकर जैसे ही उन्मादिनी को देखा, वैसे ही वे स्वयं उसपर आसक्त होकर क्षुब्ध हो गये। उन्होंने सोचा कि इसे पाकर राजा इसपर आसक्त होकर राज्य-कार्य करना भी छोड़ देगा। अतः, इससे क्या लाभ ? ।।६८–७०।।

सावधानतापूर्वक ऐसा सोचकर ब्राह्मणों ने राजा से झूठ कह दिया कि 'महाराज ! कन्या कुलक्षणा है' ।।७१।।

इस प्रकार, राजा ने उसे छोड़ दिया। इस कारण बनिये ने, अपमान से दुःखिता कन्या का, राजा के सेनापति से विवाह कर दिया ।।७२।।

एक बार अपने घर में बैठी हुई उस कन्या ने उधर से आते हुए राजा को जानकर खिड़की से अपने रूप को दिखा दिया ।।७३।।

राजा विश्व-वशीकरण औषधि के समान उस सुन्दरी को देखकर कामवेग में पागल-सा हो गया ।।७४।।

अपने घर जाकर और पहले स्वयं छोड़ी हुई उस वैश्य-कन्या का पता पाकर व्याकुल राजा गहरे कामज्वर से पीडित हो गया ।।७५।।

इस वृत्तान्त को जानकर सेनापति ने राजा से कहा कि वह आपकी दासी है, परस्त्री नहीं है। अतः, आप उसे स्वीकार करें। मैं उसे देवमन्दिर में छोड़ देता हूँ। आप उसे वहीं से ग्रहण कर लें[1] ।।७६।।

सेनापति के द्वारा इस प्रकार यत्नपूर्वक प्रार्थित राजा बोला—यदि तू उसे त्याग देगा, तो भी मैं परस्त्री को ग्रहण न करूँगा। यदि तू ऐसा करेगा, तो तेरा धर्म नष्ट होगा और मैं तुझे स्त्री-परित्याग करने के कारण दण्ड भी दूँगा। ऐसा सुनकर सभी मन्त्री चुप रहे और राजा कामवेदना से मर गया ।।७७–७९।।

वह राजा धैर्यवान् और विवेकी होने पर भी जिस प्रकार उन्मादिनी के विना मर गया, उसी प्रकार वासवदत्ता के विना उदयन की क्या स्थिति होगी ? ।।८०।।

---

१. प्राचीन काल में सन्तानों को देवता को भेंट करने की प्रथा थी। विशेष रूप से कन्याओं को भेंट किया जाता था। कहा जाता है कि 'गीतगोविन्द' के कर्त्ता जयदेव की कन्या पद्मावती भी इसी प्रकार देवताओं को भेंट की गई कन्या थी। दक्षिण के खण्डोवा-मन्दिर में, उड़ीसा के जगन्नाथ के मन्दिर में, गुजरात के बहुचारा तथा कालिका के मन्दिर में अभी कुछ दिन पहले तक यह प्रथा थी। दक्षिण भारत में साधु-महात्माओं को भी कन्याएँ भेंट की जाती थीं, किन्तु यह प्रथा अनर्थकारी होने से अब प्रायः समाप्त-सी हो रही है।—अनु०

एतद्रुमण्वतः श्रुत्वा पुनर्यौगन्धरायणः ।
उवाच सह्यते क्लेशो राजभिः कार्यदर्शिभिः ॥८१॥
रावणोच्छित्तये देवैः कृत्वा युक्तिं वियोजितः ।
सीतादेव्या न किं रामो विषेहे विरहव्यथाम् ॥८२॥
एतच्छ्रुत्वा च भूयोऽपि रुमण्वानभ्यभाषत ।
ते हि रामादयो देवास्तेषां सर्वंसहं मनः ॥८३॥
असहं तु मनुष्याणां तथा च श्रूयतां कथा ।
अस्तीह बहुरत्नाढ्या मथुरेति महापुरी ॥८४॥
तस्याभभूद् वणिक्पुत्रः कोऽपि नाम्ना यइल्लकः ।
तस्य चाभूत्प्रिया भार्या तदेकाबद्धमानसा ॥८५॥
तया सह वसन्तोऽथ कदाचित्कार्यगौरवात् ।
द्वीपान्तरं वणिक्पुत्रो गन्तुं व्यवसितोऽभवत् ॥८६॥
तद्भार्यापि च तेनैव सह गन्तुमियेष सा ।
स्त्रीणां भावानुरक्तं हि विरहासहनं मनः ॥८७॥
ततः स च वणिक्पुत्रः प्रतस्थे कृतमङ्गलः ।
न च तां सह जग्राह भार्यां क्लृप्तप्रसाधनाम् ॥८८॥
साथ तं प्रस्थितं पश्चात्पश्यन्ती साश्रुलोचना ।
अतिष्ठत्प्राङ्गणद्वारकपाटान्तविलम्बिनी ॥८९॥
गते दृष्टिपथात्तस्मिन्सा वियोगासहा ततः ।
निर्यातुं नाशकन्मुग्धा प्राणास्तस्या विनिर्ययुः ॥९०॥
तद्बुद्ध्वा च वणिक्पुत्रः प्रत्यावृत्य च तत्क्षणम् ।
ददर्श विह्वलां कान्तामेतामुत्क्रान्तजीविताम् ॥९१॥
सुन्दरापाण्डुरच्छायां विलोलालकलाञ्छनाम् ।
भुवि चान्द्रमसीं लक्ष्मीं दिवः सुप्तच्युतामिव ॥९२॥
अङ्के कृत्वा च तां सद्यः क्रन्दतस्तस्य निर्ययुः ।
शोकाग्निज्वलिताद्देहाद्द्रुतं भीता इवासवः ॥९३॥
एवमन्योन्यविरहाद्दम्पती तौ विनेशतुः ।
अतोऽस्य राज्ञो देव्याश्च रक्ष्यान्योन्यवियोगिता ॥९४॥
इत्युक्त्वा विरते तस्मिन्बद्धाशङ्के रुमण्वति ।
जगाद धैर्यजलधिर्धीमान्यौगन्धरायणः ॥९५॥
मयैतन्निश्चितं सर्वं कार्याणि च महीभृताम् ।
भवन्त्येवंविधान्येव तथा चात्र कथां शृणु ॥९६॥

रुमण्वान् से इस प्रकार का उदाहरण सुनकर यौगन्धरायण फिर बोला कि अपनी कार्यसिद्धि का ध्यान रखते हुए राजा लोग कष्टों का सहन करते हैं। रावण के विनाश के लिए देवताओं द्वारा सीता से वियुक्त किये गये राम ने, कितनी भीषण विरह-वेदना सहन की थी। ऐसा सुनकर रुमण्वान् फिर भी बोला—वे राम आदि राजा देवता थे, मनुष्य नहीं; अतः उनका मन वियोग को सहन कर सकता था, किन्तु मानव-हृदय उसे सहन नहीं कर सकता, इसपर एक कथा सुनो—॥८१–८३॥

यइल्लक सेठ की कथा

इस देश में अनेक रत्नों से पूर्ण मथुरा नाम की महानगरी है। उसमें 'यइल्लक' नाम का एक वैश्य-पुत्र था। उसकी स्त्री उसके प्रति अत्यन्त अनुरक्त थी ॥८४-८५॥

उसके साथ रहते हुए उसे आवश्यक कार्य के कारण वैश्य-पुत्र दूसरे द्वीप को जाने को उद्यत हुआ। उसकी प्यारी पत्नी भी उसके साथ जाने के लिए तैयार हुई। कारण यह कि प्रेमपूर्ण स्त्रियों का हृदय पति के विरह को सहन नहीं कर सकता ॥८६-८७॥

वह वैश्य-पुत्र मंगलाचरण करके यात्रा के लिए चल पड़ा, किन्तु जाने के लिए तैयार बैठी हुई पत्नी को साथ न ले गया। उसकी पत्नी, जाते हुए पति को आँसुओं से पूर्ण नेत्रों से देखती हुई, गृह-द्वार के किवाड़ के सहारे लटककर खड़ी रही। धीरे-धीरे उसके आँखों से ओझल हो जाने पर वियोग को सहन न कर सकने के कारण वह गिर पड़ी और मानों भय से उसके प्राण निकल गये ॥८८–९०॥

वैश्य-पुत्र यह जानकर पीछे लौटा और उसने वियोग-व्याकुल, अतएव निर्जीव, पत्नी को देखा ॥९१॥

भूमि पर निर्जीव पड़ी हुई उसके पीले मुख पर सुन्दरता खेल रही थी, हवा से हिलती हुई उसकी सुन्दर लटें लहरा रही थीं। ऐसा मालूम होता था कि मानों चन्द्रमा की समस्त शोभा सो जाने के कारण पृथ्वी पर गिर पड़ी हो ॥९२॥

वैश्यपुत्र ने, उसे अपनी गोद में सुला लिया और रोने लगा। रोते-रोते उसकी शोकाग्नि से जलते हुए शरीर से मानों भयभीत प्राण-पखेरू निकल भागे कि कहीं हम भी अन्दर-ही-अन्दर जल न जायँ ॥९३॥

इस प्रकार, परस्पर के विरह से ये दम्पती मर गये। इसीलिए राजा-रानी की परस्पर-वियोगिता से भी रक्षा करनी होगी ॥९४॥

अतिशंकित रुमण्वान् के इस प्रकार कहने पर धैर्यसागर यौगन्धरायण बोला—मैंने यह सब सोच-समझ लिया है। राजाओं के काम ऐसे ही होते हैं। इस प्रसंग में कथा सुनो—॥९५-९६॥

राज्ञः पुण्यसेनस्य कथा

उज्जयिन्यामभूत्पूर्वं पुण्यसेनाभिधो नृपः ।
स जातु बलिनान्येन राज्ञा गत्वाभ्ययुज्यत ॥९७॥
अथ तन्मन्त्रिणो धीरास्तमरिं वीक्ष्य दुर्जयम् ।
मिथ्या 'राजा मृत' इति प्रवादं सर्वतो व्यधुः ॥९८॥
प्रच्छन्नं स्थापयामासुः पुण्यसेनं नृपं च ते ।
अन्यं कञ्चिदधाक्षुश्च[1] राजार्हविधिना शवम् ॥९९॥
अराजकानामधुना भव राजा त्वमेव नः ।
इति दूतमुखेनाथ तमरिं जगदुश्च ते ॥१००॥
तथेत्युक्तवतस्तस्य रिपोस्तुष्टस्य ते ततः ।
मिलित्वा सैन्यसहिताः कटकं बिभिदुः क्रमात् ॥१०१॥
भिन्ने च सैन्ये राजानं पुण्यसेनं प्रकाश्य तम् ।
ते सम्प्राप्तबलाः शत्रुं तं निजघ्नुः स्वमन्त्रिणः ॥१०२॥
ईदृशि राजकार्याणि भवन्ति तदिदं वयम् ।
देवीदाहप्रवादेन कार्यं धैर्येण कुर्महे ॥१०३॥
इत्येतन्निश्चितमतेः श्रुत्वा यौगन्धरायणात् ।
रुमण्वानब्रवीदेवं तर्हि यद्येष निश्चयः ॥१०४॥
तद्गोपालकमानीय देव्या भ्रातरमादृतम् ।
सम्मन्त्र्य च समं तेन सम्यक्सर्वं विधीयताम् ॥१०५॥
एवमस्त्विति वक्ति स्म ततो यौगन्धरायणः ।
तत्प्रत्ययाद्रुमण्वांश्च चक्रे कर्त्तव्यनिश्चयम् ॥१०६॥
अन्येद्युर्मन्त्रिमुख्यौ तौ दूतं व्यसृजतां निजम् ।
गोपालकं तमानेतुमुत्कण्ठाव्यपदेशतः ॥१०७॥
कार्यंहृतोर्गतः पूर्वं तद्दूतवचनाच्च सः ।
आगाद् गोपालकस्तत्र स्वयं मूर्त्त इवोत्सवः ॥१०८॥
आगतं तदहश्चैनं स्वैरं यौगन्धरायणः ।
निनाय सरुमण्वत्कं गृहं गोपालकं निशि ॥१०९॥
तत्र चास्मै तदुत्साहं शशंस स्वचिकीर्षितम् ।
यत्पूर्वं मन्त्रितं तेन सर्वं सह रुमण्वता ॥११०॥

---

१. अधाक्षुः—दग्धं चक्रुः ।

राजा पुण्यसेन की कथा

प्राचीन काल में, उज्जयिनी में पुण्यसेन नाम का राजा था। वह किसी बलवान् शत्रु-राजा से आक्रान्त हो गया। उसके धैर्यशाली मन्त्रियों ने शत्रु को अजेय समझकर यह झूठी घोषणा कर दी कि राजा मर गया और अन्य किसी मुरदे का राजा के समान धूमधाम से संस्कार करा दिया ॥९७–९९॥

तदनन्तर, मन्त्रियों ने एक दूत द्वारा शत्रु-राजा को यह सन्देश भेजा कि हमलोग बिना राजा के अनाथ हो गये हैं। अब आप ही हमारे राजा बनिए ॥१००॥

सन्देश सुनकर राजा सन्तुष्ट एवं युद्ध के लिए शिथिल हो गया और उसने स्वीकार कर लिया। इस सन्धि के अवसर से लाभ उठाकर मन्त्रियों ने उसकी शिथिल सेना पर छापा मार दिया ॥१०१॥

सेना के पैर उखड़ गये और भाग गई। तब मन्त्रियों ने अपने राजा पुण्यसेन को प्रकट करके शत्रु-राजा को भी पकड़कर मार दिया। राज्य-सम्बन्धी काम इसी प्रकार छल-कपटों से सिद्ध किये जाते हैं। इसी प्रकार महारानी के जल जाने का हल्ला मचाकर हमलोग, धैर्यपूर्वक कार्य करते हैं ॥१०२-१०३॥

इस कार्य के लिए दृढ़ निश्चय किये हुए यौगन्धरायण से यह सुनकर रुमण्वान् ने कहा कि 'यदि ऐसी बात है, तो मैं तैयार हूँ। महारानी के भाई गोपालक को सादर बुलाकर उसके साथ भली भाँति विचार कर लो' ॥१०४-१०५॥

तब यौगन्धरायण ने 'ऐसा ही हो'—यह कहकर दूसरे ही दिन, गोपालक को मिलने के बहाने बुलाने के लिए दूत भेजा ॥१०६॥

प्रथम बार विवाह के लिए आया गोपालक, इस बार दूत के कहने से मूर्त्तिमान् उत्सव के समान कौशाम्बी आया। उसके आने के दिन ही यौगन्धरायण उसे रात में रुमण्वान् के साथ अपने घर ले गया ॥१०७–१०९॥

वहाँ ले जाकर यौगन्धरायण ने, रुमण्वान् के साथ परामर्श करके जो कर्त्तव्य निर्धारित किया था, वह गोपालक से कह सुनाया ॥११०॥

स च राजहितैषी सन् दुःखावहमपि स्वसुः ।
गोपालकोऽनुमेने तत्कर्त्तव्यं हि सतां वचः ॥१११॥
सर्वमेतत्सुविहितं देवीं दग्धामवेत्य तु ।
प्राणांस्त्यजन् कथं रक्ष्यो वत्सेश इति चिन्त्यताम् ॥११२॥
सदुपायादिसामग्रीसम्भवे किल सत्यपि ।
मुख्यमङ्गं हि मन्त्रस्य विनिपातप्रतिक्रिया ॥११३॥
इति, भूयोऽपि तत्कालमुक्ते तत्र रुमण्वता ।
उवाचालोचिताशेषकार्यो यौगन्धरायणः ॥११४॥
नास्त्यत्र चिन्ता यद्राजपुत्री गोपालकस्य सा ।
कनीयसी स्वसा देवी प्राणेभ्योऽप्यधिका प्रिया ॥११५॥
एतस्य चाल्पमालोक्य शोकं वत्सेश्वरस्तदा ।
जीवेत्कदाचिद्देवीति मत्वा धैर्यमवाप्स्यति ॥११६॥
अपि चोत्तमसत्त्वोऽयं शीघ्रं च परिणीयते ।
पद्मावती ततो देवी दर्श्यते चाचिरादिति ॥११७॥
एवमेतद् विनिश्चित्य ततो यौगन्धरायणः ।
गोपालको रुमण्वांश्च ततो मन्त्रमिति व्यधुः ॥११८॥
युक्त्या लावाणकं यामः सह देव्या नृपेण च ।
पर्यन्तो मगधासन्नवर्त्ती हि विषयोऽस्ति सः ॥११९॥
सुभगाखेटभूमित्वाद्राज्ञश्चासन्निधानकृत् ।
तत्रान्तःपुरमादीप्य क्रियते यदि चिन्तितम् ॥१२०॥
देवी च स्थाप्यते नीत्वा युक्त्या पद्मावती गृहे ।
छन्नस्थिताया येनास्याः सैव स्याच्छीलसाक्षिणी ॥१२१॥
एवं रात्रौ मिथः कृत्वा मन्त्रं सर्वेऽपरेऽहनि ।
यौगन्धरायणाद्यास्ते प्राविशन् राजमन्दिरम् ॥१२२॥
तत्रैवमथ विज्ञप्तो वत्सराजो रुमण्वता ।
देव ! लावाणकेऽस्माकं गतानां वर्त्तते शिवम् ॥१२३॥
स चातिरम्यो विषयस्तत्र चाखेटभूमयः ।
शोभनाः सन्ति ते राजन्नडघासाश्च सुग्रहाः ॥१२४॥
बाधते तं च नैकट्यात्सर्वं स मगधेश्वरः ।
तत्तत्र रक्षाहेतोश्च विनोदाय च गम्यताम् ॥१२५॥

उस राजा के हितैषी गोपालक ने, बहिन के लिए अति कष्टप्रद होने पर भी उस योजना को सुनकर अपनी सहमति प्रकट की; क्योंकि हितैषी सज्जनों के वचन तो मानने ही चाहिए। इस योजना में सब बातें तो ठीक हैं, किन्तु देवी को जली हुई जानकर अपने प्राणों को त्यागने की चेष्टा करते हुए वत्सराज की रक्षा कैसे की जाय, यह विचारणीय प्रश्न है। अच्छे उपाय आदि सभी सामग्री के रहते हुए भी, योजना को नष्ट होने से बचाना योजकों का मुख्य अंग है। अर्थात्, यदि राजा का अस्तित्व ही न रहा, तो योजना का आधार नष्ट हो जायगा ।।१११–११३।।

रुमण्वान् के उस समय पुनः ऐसा कहने पर सारे कार्य पर भली भाँति सोचे-समझे हुए यौगन्धरायण बोला—'इस विषय में चिन्ता न करनी चाहिए कि महारानी गोपालक की छोटी बहिन राजा को प्राणों से प्रिय है ।।११४–११५।।

उस समय राजा के शोक के कुछ कम होने पर कदाचित् रानी जीवित हो जाय। ऐसी आशा से राजा धैर्य धारण करेगा। और, राजा उच्चतम कोटि का जीव है, अतः उसका विवाह भी शीघ्र ही हो जायगा, फिर उसे शीघ्र ही पद्मावती भी दिखा दी जायगी' ।।११६-११७।।

इस प्रकार, गोपालक, रुमण्वान् और यौगन्धरायण परस्पर विचार-विनिमय करते रहे। अन्त में, निश्चय हुआ कि हमलोग कोई बहाना बनाकर राजा और रानी के साथ लावाणक गाँव को चलें। वह हमारा स्थान, सीमा पर तथा मगध के समीप है। सुन्दर शिकारगाह होने के कारण राजा भी शिकार में लगा रहेगा, इसी बीच हमलोग रनिवास में आग लगा देंगे, किसी उपाय से महारानी को गुप्त रूप से पद्मावती के पास ही छिपा देंगे, जिससे वह वासवदत्ता के स्वभाव और चरित्र से परिचित हो जायगी ।।११८—१२१।।

इस प्रकार, रात्रि के समय सम्मति करके दूसरे दिन वे सब राजभवन को गये। वहाँ जाकर रुमण्वान् ने वत्सराज से निवेदन किया कि देव! हमलोग लावणक ग्राम में जायँ, तो बहुत अच्छा हो। वह अति रमणीय स्थान है। वहाँ अच्छे-अच्छे शिकारगाह हैं और वहाँ नव घास की भी बहुतायत है। समीप होने के कारण मगध-नरेश वहाँ सदा बाधा पहुँचाता रहता है। इसलिए, उसकी रक्षा और मनोरंजन के लिए वहाँ चलिए ।।१२२—१२५।।

एतच्छ्रुत्वा च वत्सेशः समं वासवदत्तया ।
क्रीडैकलालसश्चक्रे गन्तुं लावाणके मतिम् ॥१२६॥

निश्चिते गमनेऽन्येद्युर्लग्ने च परिकल्पिते ।
अकस्मान्नारदमुनिः कान्तिद्योतितदिङ्मुखः ॥१२७॥

अवतीर्य नभोमध्यात् प्रदत्तनयनोत्सवः ।
शशीव स्वकुलप्रीत्या तं वत्सेश्वरमभ्यगात् ॥१२८॥

गृहीतातिथ्यसत्कारः पारिजातमयीं स्रजम् ।
प्रीतः स च मुनिस्तस्मै ददौ प्रह्वाय भूभृते ॥१२९॥

विद्याधराधिपं पुत्रं कामदेवांशमाप्स्यसि ।
इति वासवदत्तां च सोऽभ्यनन्दत्कृतादरः ॥१३०॥

ततश्चोवाच वत्सेशं स्थिते यौगन्धरायणे ।
राजन् वासवदत्तां ते दृष्ट्वा हन्त स्मृतं मया ॥१३१॥

युधिष्ठिरादयोऽभूवन्पुरा ते प्रपितामहा ।
पञ्चानां द्रौपदी तेषामेका पत्नी बभूव च ॥१३२॥

सा च वासवदत्तेव रूपेणाप्रतिमाभवद् ।
ततस्तद्दोषमाशङ्क्य तानेवमहमभ्यधाम् ॥१३३॥

स्त्रीवैरं रक्षणीयं वस्तद्धि बीजमिहापदाम् ।
तथाहि शृणुतैतां च कथां वः कथयाम्यहम् ॥१३४॥

सुन्दोपसुन्दकथा[1]

सुन्दोपसुन्दनामानौ भ्रातरौ द्वौ बभूवतुः ।
असुरौ विक्रमाक्रान्तलोकत्रितयदुर्जयौ ॥१३५॥

तयोर्विनाशकामश्च दत्त्वाज्ञां विश्वकर्मणा ।
ब्रह्मा निर्मापयामास दिव्यनारीं तिलोत्तमाम् ॥१३६॥

रूपमालोकितुं यस्याश्चतुर्दिक्कं चतुर्मुखः ।
बभूव किल शर्वोऽपि कुर्वाणायाः प्रदक्षिणम् ॥१३७॥

सा पद्मयोनेरादेशात्पार्श्वं सुन्दोपसुन्दयोः ।
प्रलोभनाय प्रययौ कैलासोद्यानवर्त्तिनोः ॥१३८॥

---

१. महाभारतस्यादिपर्वणि कथेयमुपलभ्यते ।

यह सुनकर एकमात्र क्रीडा का लोभी राजा वासवदत्ता के साथ, लावणक जाने के लिए उद्यत हो गया ।।१२६।।

दूसरे दिन जाने का निश्चय होने और यात्रा का शुभ मुहूर्त निकलने पर, अपनी कान्ति से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए नारद मुनि, आकाश से उतरकर दर्शकों की आँखों को आनन्दित करने लगे। मानों चन्द्रमा, अपने वंश (चन्द्रवंश) के प्रेम के कारण आकाश में उतर आया हो ।।१२७-१२८।।

राजा के द्वारा आतिथ्य-सत्कार ग्रहण किये हुए नारद मुनि ने, नम्रता से झुके हुए राजा उदयन को प्रसन्नता से पारिजात के फूलों की माला प्रदान की ।।१२९।।

ऋषि ने, नमस्कार करती हुई वासवदत्ता से कहा—'तुम कामदेव के अंश से उत्पन्न ऐसे पुत्र को प्राप्त करोगी, जो विद्याधरों का राजा होगा' ।।१३०।।

तब यौगन्धरायण के सामने नारद ने, वत्सराज से कहा—'हे राजन् ! तुम्हारी रानी वासवदत्ता को देखकर मुझे स्मरण हो गया कि प्राचीन समय में तुम्हारे परदादा युधिष्ठिर भीम आदि पाँच भाई थे। उन पाँचों की एक ही पत्नी द्रौपदी थी। वह वासवदत्ता के समान ही अनुपम सुन्दरी थी। इस दोष को देखकर मैंने उन लोगों से कहा कि तुम लोगों को स्त्री के सम्बन्ध से परस्पर वैर न करना चाहिए। इस प्रसंग में एक कथा कहता हूँ, सुनो ।।१३१—१३४।।

सुन्द और उपसुन्द की कथा

प्राचीन काल में सुन्द और उपसुन्द नाम के दो असुर थे; जो अपने अतुल बल के कारण तीनों लोकों को जीतने के कारण अजेय थे ।।१३५।।

उन दोनों भाइयों के विनाश की इच्छा से ब्रह्मा ने विश्वकर्मा से तिलोत्तमा नामक दिव्य नारी का निर्माण कराया ।।१३६।।

चारों ओर से उसके रूप को देखने के लिए ब्रह्मा चतुर्मुख हो गये। जब वह प्रदक्षिणा कर रही थी, तब शिव भी उसे चारों ओर से देखने के लिए ही चतुर्मुख हो गये ।।१३७।।

वह तिलोत्तमा ब्रह्मा की आज्ञा से कैलास के उद्यान में स्थित उन असुरों के प्रलोभन के लिए गई ।।१३८।।

तौ चासुरौ जगृहतुस्तां दृष्ट्वैवान्तिकागताम् ।
उभावप्युभयोर्बाह्वोः सुन्दरीं काममोहितौ ॥१३९॥
परस्परविरोधेन हरन्तौ तां च तत्क्षणम् ।
प्रवृत्तसम्प्रहारत्वाद्द्वावपि क्षयमीयतुः ॥१४०॥
एवं स्त्रीनाम विषयो निदानं कस्य नापदाम् ।
युष्माकं द्रौपदी चैका बहूनामिह वल्लभाः ॥१४१॥
तत्तन्निमितः सङ्घर्षः संरक्ष्यो भवतां किल ।
मद्वाक्यादयमेतस्याः समयश्चास्तु वः सदाः ॥१४२॥
ज्येष्ठान्तिकगता माता मन्तव्येयं कनीयसा ।
ज्येष्ठेन च स्नुषा ज्ञेया कनिष्ठान्तिकवर्त्तिनी ॥१४३॥
इत्येतन्मद्वचो राजंस्तव ते प्रपितामहाः ।
तथेति प्रत्यपद्यन्त कल्याणकृतबुद्धयः ॥१४४॥
ते च मे सुहृदोऽभूवंस्तत्प्रीत्या चाहमागतः ।
त्वां द्रष्टुमिह वत्सेश ! तदिदं शृणु वच्मि ते ॥१४५॥
यथैतन्मे कृतं वाक्यं कुर्यास्त्वं मन्त्रिणां तथा ।
अचिरेण च कालेन महतीमृद्धिमाप्स्यसि ॥१४६॥
कञ्चित्कालं च दुःखं ते भविष्यति न च त्वया ।
तत्रातिमोहः कर्त्तव्यः सुखान्तं भविता हि तत् ॥१४७॥
सम्यगेवमभिधाय तत्क्षणं वत्सराजमुदयस्य भाविनः ।
भङ्गिसूचनविधौ विशारदो नारदो मुनिरदर्शनं ययौ ॥१४८॥
सर्वे च तस्य वचसा मुनिपुङ्गवस्य
यौगन्धरायणमुखाः सचिवास्ततस्ते ।
सम्भाव्य सिद्ध्युदयमात्मचिकीर्षितस्य
सम्पादनाय सुतरां जगृहुः प्रयत्नम् ॥१४९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
लावाणकलम्बके प्रथमस्तरङ्गः ।

उसे एकान्त में समीप आई हुई देखकर उन काममोहित दोनों असुरों ने, उसे दोनों बाहुओं से पकड़ा। उसे अपनी-अपनी ओर खींचते हुए वे दोनों परस्पर लड़ पड़े और नष्ट हो गये[1] ॥१३९-१४०॥

इस प्रकार, स्त्री किसके लिए विपत्तियों का कारण नहीं बनती। तुम बहुतों की एक ही प्यारी स्त्री द्रौपदी है ॥१४१॥

इसको लेकर होनेवाले आपसी कलह से तुमलोगों को बचना चाहिए। मेरे कहने से आप लोग उसका एक नियम निर्धारण कर लें ॥१४२॥

बड़े भाई के पास गई हुई उसे, छोटे भाई, माता के समान समझें और छोटे भाइयों के समीप जाने पर बड़े भाई उसे बहू (पुत्रवधू) के समान समझें। हे राजन्! शुभ बुद्धिवाले तुम्हारे परदादों ने मेरे वचन को उसी प्रकार स्वीकार कर लिया। वे लोग मेरे मित्र थे, मैं तुम्हारे पास उसी प्रेम से तुम्हें देखने आया हूँ और यह कहता हूँ, सुनो ॥१४३--१४५॥

जैसे तुम मेरी बात को मानते हो, उसी प्रकार अपने मन्त्रियों की बात को भी मानना। इस प्रकार तुम शीघ्र ही महान् ऐश्वर्य प्राप्त करोगे ॥१४६॥

कुछ समय तक तुम्हें कष्ट होगा, उस समय तुम अधिक मोह न करना; क्योंकि वह दुःख, सुखान्त होगा; अर्थात् अन्त में सुख मिलेगा ॥१४७॥

'आप जो कहते हैं, ठीक है', वत्सराज के ऐसा कहने पर भावी अभ्युदय के चिह्नों की सूचना देने में विशारद नारद मुनि अन्तर्धान हो गये ॥१४८॥

यौगन्धरायण आदि सभी राजमन्त्री, मुनिप्रवर नारद के वचनों से अपनी योजना की सफलता समझकर उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करने लगे ॥१४९॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के लावाणक लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त।

---

१. यह कथा महाभारत के आदिपर्व में भी आती है।

द्वितीयस्तरङ्ग

वत्सराज-पद्मावत्योःपरिणयः

ततः पूर्वोक्तया युक्त्या वत्सराजं सवल्लभम् ।
यौगन्धरायणाद्यास्ते निन्युर्लावाणकं प्रति ॥१॥
स राजा प्राप तं देशं सैन्यघोषेण मूर्च्छता ।
अभिवाञ्छितसंसिद्धिं वदन्तमिव मन्त्रिणाम् ॥२॥
तत्र प्राप्तं विदित्वा च वत्सेशं सपरिच्छदम् ।
अवस्कन्दभयाशङ्की चकम्पे मगधेश्वरः ॥३॥
यौगन्धरायणोपान्तं सद्बुद्धिर्विससर्ज च ।
स दूतं सोऽपि सन्मन्त्री कार्यज्ञोऽभिननन्द तम् ॥४॥
वत्सेश्वरोऽपि निवसंस्तस्मिन्देशे दवीयसीम् ।
आखेटकार्थमटवीमटति स्म दिने दिने ॥५॥
एकस्मिन् दिवसे तस्मिन्राजन्याखेटकं गते ।
कर्त्तव्यसंविदं कृत्वा गोपालकसमन्वितः ॥६॥
यौगन्धरायणो धीमान् सरुमण्वद्वसन्तकः ।
देव्या वासवदत्ताया विजने निकटं ययौ ॥७॥
तत्र तां राजकार्येऽत्र साहाय्ये तत्तदुक्तिभिः ।
प्रह्वामभ्यर्थयामास भ्रात्रा पूर्वं प्रबोधिताम् ॥८॥
सानुमेने च विरह-क्लेश-दायितदात्मनः ।
किं नाम न सहन्ते हि भर्त्तृभक्ताः कुलाङ्गनाः ॥९॥
ततस्तां ब्राह्मणीरूपां देवीं यौगन्धरायणः ।
स चकार कृती दत्त्वा योगं रूपविवर्त्तनम् ॥१०॥
वसन्तकं च कृतवान् काणं बटुकरूपिणम् ।
आत्मना च तथैवाभूत्स्थविरब्राह्मणाकृतिः ॥११॥
तथारूपां गृहीत्वाथ तां देवीं स महामतिः ।
वसन्तकसखः स्वैरं प्रतस्थे मगधान् प्रति ॥१२॥
तथा वासवदत्ता सा स्वगृहान्निर्गता सती ।
अगाच्चित्तेन भर्त्तारं पन्थानं वपुषा पुनः ॥१३॥
तन्मन्दिरमथादीप्य दहनेन रुमण्वता ।
हा हा वसन्तकयुता देवी दग्धेत्यघोष्यत ॥१४॥
तथा च दहनाक्रन्दौ समं तत्रोदतिष्ठताम् ।
शनैः शशाम दहनो न पुनः क्रन्दितध्वनिः ॥१५॥

द्वितीय तरंग

राजा उदयन और पद्मावती के विवाह की कथा

नारद मुनि के प्रस्थान करने पर यौगन्धरायण आदि मन्त्री, पूर्व-निर्धारित राजा को रानी के साथ लावाणक ग्राम ले गये ॥१॥

राजा उदयन, चारों ओर फैलते हुए सेना के शब्दों के साथ लावाणक पहुँचा। सेना की कलकल ध्वनि से वह स्थान मानों मन्त्रियों की सफलता की घोषणा कर रहा था ॥२॥

सीमा पर सेना के साथ आये हुए उदयन का पता पाकर मगध का राजा आक्रमण के भय से काँप उठा ॥३—४॥

वत्सराज भी वहाँ रहते हुए शिकार के लिए प्रतिदिन गहरे वनों में घूमता था ॥५॥

मगध-नरेश ने, सद्भावना-प्रदर्शन के लिए यौगन्धरायण के पास अपना दूत भेजा। उस चतुर मन्त्री ने भी दूत का समुचित रूप में अभिनन्दन किया ॥६॥

वासवदत्ता के जलने की कथा

एक दिन राजा उदयन के शिकार के लिए चले जाने पर यौगन्धरायण गोपालक, रुमण्वान् और वसन्तक के साथ समिति करके एकान्त में वासवदत्ता के समीप गया। भाई द्वारा पहले से ही तैयार की गई रानी से उसने राजकार्य में सहायता के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें समझाईं ॥७—८॥

वासवदत्ता ने, उस अत्यन्त विरह-क्लेश देनेवाली योजना को भी, राजा के अभ्युदय के लिए स्वीकार कर लिया। पतिभक्त कुल-रमणियाँ पति के लिए कौन-सा कष्ट सहन नहीं करतीं ॥९॥

तब राजनीति-कुशल यौगन्धरायण ने, वेश बदलने का सामान देकर वासवदत्ता को ब्राह्मणी का रूप धारण कराया ॥१०॥

वसन्त को काने ब्रह्मचारी शिष्य का रूप धारण कराया और स्वयं बूढ़े ब्राह्मण का रूप धारण किया ॥११॥

इस प्रकार कृत्रिम वेष से यौगन्धरायण उन दोनों का साथ लेकर धीरे-धीरे मगध देश की ओर चला ॥१२॥

उस रूप में घर से निकली हुई वासवदत्ता, मन से पति की ओर और शरीर से मगध-मार्ग की ओर चली ॥१३॥

उन लोगों के चले जाने पर दूसरे मन्त्री रुमण्वान् ने लावाणक के राजसदन में आग लगा दी और यह घोषणा कर दी कि वसन्तक के साथ महारानी जल गईं। समूचे लावाणक में आग और क्रन्दन की ध्वनि, एक साथ ही उठी। आग धीरे-धीरे दब गई, किन्तु क्रन्दन-ध्वनि बन्द न हुई ॥१४-१५॥

यौगन्धरायणः सोऽथ सह वासवदत्तया ।
वसन्तकेन च प्राप मगधाधिपतेः पुरम् ॥१६॥
तत्रोद्यानगतां दृष्ट्वा समं ताभ्यामुपाययौ ।
पद्मावतीं राजसुतां वार्यमाणोऽपि रक्षिभिः ॥१७॥
पद्मावत्याश्च दृष्ट्वैव ब्राह्मणीरूपधारिणीम् ।
देवीं वासवदत्तां तां दृशोः प्रीतिरजायत ॥१८॥
सा रक्षिणो निषिध्यैव ततो यौगन्धरायणम् ।
आनाययद्राजकन्या ब्राह्मणाकृतिमन्तिकम् ॥१९॥
पप्रच्छ च महाब्रह्मन् का ते बाला भवत्यसौ ।
किमर्थमागतोऽसीति सोऽपि तां प्रत्यभाषत ॥२०॥
इयमावन्तिका नाम राजपुत्रि सुता मम ।
अस्याश्च भर्त्ता व्यसनी त्यक्त्वेनां कुत्रचिद् गतः ॥२१॥
तदेतां स्थापयाम्यद्य तव हस्ते यशस्विनि ।
यावत्तमानयाम्यस्या गत्वान्विष्याचिरात् पतिम् ॥२२॥
भ्राता काणबटुश्चायमिहैवास्याः समीपगः ।
तिष्ठत्वेकाकिनीभावदुःखं येन न यात्यसौ ॥२३॥
इत्युक्त्वा राजतनयामभङ्गीकृतवचास्तया ।
तामामन्त्र्य स सन्मन्त्री द्रुतं लावाणकं ययौ ॥२४॥
ततो वासवदत्तां तां स्थितामावन्तिकाख्यया ।
वसन्तकं चानुगतं तं काणबटुरूपिणम् ॥२५॥
सहादाय कृतोदारसत्कारा स्नेहशालिनी ।
पद्मावती स्वभवनं विवेश बहुकौतुकम् ॥२६॥
तत्र वासवदत्ता च प्रविष्टा चित्रभित्तिषु ।
पश्यन्ती रामचरिते सीतां सेहे निजव्यथाम् ॥२७॥
आकृत्या सौकुमार्येण शयनाशनसौष्ठवैः ।
शरीरसौरभेणापि नीलोत्पलसुगन्धिना ॥ २८॥
तामुत्तमां विनिश्चित्य महार्हैरात्मनः समैः ।
पद्मावती यथाकाममुपचारैरुपाचरत् ॥२९॥
अचिन्तयच्च काप्येषा छन्ना नूनमिह स्थिता ।
गूढा किं द्रौपदीनासीद् विराटवसताविति ॥३०॥

इधर यौगन्धरायण उन दोनों को साथ लिये हुए मगध-नरेश की राजधानी में प्रविष्ट हुआ ॥१६॥

वहाँ राजकुमारी को उद्यान में घूमते देखकर सिपाहियों के रोकने पर भी यौगन्धरायण उन दोनों के साथ अन्दर घुस गया ॥१७-१८॥

पद्मावती ने उधर देखा और वासवदत्ता की ओर उसकी आँखें बरबस उलझ गईं तथा उसके प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया। उसने सिपाहियों को मना करके उस ब्राह्मणी के रूप में स्थित राजकन्या को अपने समीप बुलाया। और बूढ़े ब्राह्मण से पूछा कि हे ब्रह्मदेव! यह बालिका कौन है? तथा यहाँ मेरे पास किसलिए आये हो? यौगन्धरायण ने उत्तर दिया—हे राजकुमारी! यह अवन्तिका नाम की मेरी बेटी है। इसका व्यसनी पति, इसे छोड़कर कहीं चला गया। इसलिए, इसे मैं तुम्हारे हाथ तबतक सौंपता हूँ। जबतक उस जामाता को शीघ्र ही ढूँढ़कर न ले आता लाता हूँ ॥१९–२२॥

इसका भाई यह काणवटु भी तबतक उसीके पास ही रहेगा, जिससे इसे अकेलापन का कष्ट अनुभव न हो ॥२३॥

ऐसा सुनकर पद्मावती ने बूढ़े ब्राह्मण की प्रार्थना स्वीकार कर ली और वह बूढ़ा यौगन्धरायण पद्मावती से आज्ञा लेकर लावाणक लौट आया ॥२४॥

उसके जाने पर स्नेहशीला पद्मावती, अवन्तिका नाम वाली वासवदत्ता का उदार हृदय से स्वागत करके काने शिष्य का रूप धारण करनेवाले वसन्तक के साथ उसे अपने आश्चर्यमय भवन में ले गई ॥२५-२६॥

राजभवन में जाकर वह वासवदत्ता दीवारों पर लिखे हुए रामचरित के चित्रों को देखकर विरहवेदना को सीता के समान सहन करने लगी ॥२७॥

स्वरूप से, सुकुमारता से, उठने-बैठने, सोने आदि के सुन्दर ढंग से नीलकमल के समान शरीर की सुगन्धि से, उसे उच्च श्रेणी की महिला समझकर पद्मावती उसके साथ अपने जैसे राजोचित व्यवहार करने लगी और मन में सोचती थी कि यह कोई (छिपाई हुई) रमणी है, जैसे विराट् के राजभवन में द्रौपदी छिपी थी ॥२८—३०॥

अथ वासवदत्तास्याश्चक्रे देव्याः प्रसङ्गतः ।
अम्लानमालातिलको वत्सेशात्पूर्वशिक्षितौ ॥३१॥
तद्भूषितां च दृष्ट्वा तां माता पद्मावतीं रहः ।
पप्रच्छ मालातिलकौ केनेमौ निर्मिताविति ॥३२॥
ऊचे पद्मावती चैनामत्र मन्मन्दिरे स्थिता ।
काचिदावन्तिका नाम तया कृतमिदं मम ॥३३॥
तच्छ्रुत्वा सा बभाषे तां मातापुत्रि ! न तर्हि सा ।
मानुषी कापि देवी सा यस्या विज्ञानमीदृशम् ॥३४॥
देवता मुनयश्चापि वञ्चनार्थं सतां गृहे ।
तिष्ठन्त्येव तथा चैतामत्र पुत्रि ! कथां श्रृणु ॥३५॥

कुन्तीकथा

बभूव कुन्तिभोजाख्यो राजा तस्यापि वेश्मनि ।
आगत्य तस्थौ दुर्वासा वञ्चनैकरसो मुनिः ॥३६॥
स तस्य परिचर्यार्थं राजा कुन्तीं निजां सुताम् ।
आदिदेश मुनिं सापि यत्नेनोपचचार तम् ॥३७॥
एकदा स मुनिः कुन्तीं जिज्ञासुः सन्नभाषत ।
परमान्नं पचेः शीघ्रं स्नात्वा यावदुपैम्यहम् ॥३८॥
इत्युक्त्वा त्वरितं स्नात्वा स चर्षिर्भोक्तुमाययौ ।
कुन्ती तदन्नपूर्णां च तस्मै पात्रीमढौकयत् ॥३९॥
अतितप्तेन चान्नेन ज्वलन्तीमिव तां मुनिः ।
मत्वा हस्तग्रहायोग्यां कुन्त्या पृष्ठे दृशं ददौ ॥४०॥
सापि पृष्ठेन तां पात्रीं दधौ लब्धाशया मुनेः ।
ततः स बुभुजे स्वेच्छं कुन्तीपृष्ठं त्वदह्यत ॥४१॥
दह्यमानापि गाढं सा यत्तस्थावविकारिणी ।
तेन तुष्टो मुनिर्भुक्त्वा ददौ तस्यास्ततो वरम् ॥४२॥
इत्यासीत्स मुनिस्तत्र तदेषावन्तिकापि ते ।
तद्वदेव स्थिता कापि तत्त्वमाराधयेरिमाम् ॥४३॥
इति मातुर्मुखाच्छ्रुत्वा पद्मावत्यन्यरूपिणीम् ।
तत्र वासवदत्तां तां सुतरां बह्वमन्यत ॥४४॥
सापि वासवदत्तात्र निजनाथविनाकृता ।
तस्थौ विधुरविच्छाया निशीथस्येव पद्मिनी ॥४५॥

वासवदत्ता भी, वत्सराज से सीखी हुई एवं कभी न मुरझानेवाली माला और तिलक-रचना से पद्मावती को प्रसन्न करती थी। उसकी माला और तिलक-रचना को देखकर पद्मावती की माता ने एकान्त में उससे पूछा कि यह माला और तिलक की रचना किसने की है ।।३१-३२।।

पद्मावती ने कहा कि मेरे भवन में अवन्तिका नाम की एक महिला ठहरी है। उसी ने यह मेरी तिलक-रचना की है। यह सुनकर माता ने पद्मावती से कहा—बेटी! यदि ऐसा है, तो वह मानुषी नहीं है, वरन् देवी है, जो ऐसा विज्ञान जानती हैं। देवता और मुनि भी कभी-कभी ठगने के लिए लोगों के घरों में आ जाते हैं। इस प्रसंग में यह एक कथा सुनो।।३३–३५।।

कुन्ती और दुर्वासा की कथा

प्राचीन समय में कुन्तिभोज नाम का एक राजा था। उसके घर में ठगने के लिए दुर्वासा ऋषि आकर ठहरे ।।३६।।

राजा ने ऋषि की सेवा के लिए अपनी कन्या कुन्ती को नियुक्त किया। वह भी बड़ी ही सावधानी से ऋषि की सेवा करती थी ।।३७।।

एक बार उस मुनि ने कुन्ती की परीक्षा के लिए कहा—'तू खीर पका, मैं स्नान करके आता हूँ।' ऐसा कहकर और शीघ्र ही स्नान करके ऋषि आ गये। कुन्ती ने खीर-भरी कड़ाही उनके सम्मुख उपस्थित की। अत्यन्त जलती हुई (गरम-गरम) खीर को हाथ से खाने योग्य न समझकर ऋषि ने कुन्ती की पीठपर दृष्टि डाली। कुन्ती ने भी ऋषि का मनोभाव समझकर उस कड़ाही को पीठ पर धारण कर लिया। तब ऋषि तो खीर खाने लगे, किन्तु कुन्ती की पीठ जलने लगी। जलती हुई भी कुन्ती विना हिले-डुले अविचल भाव से बैठी रही। उसके धैर्य से प्रसन्न होकर दुर्वासा ने उसे वरदान दिया। उसी दुर्वासा के समान यह अवन्तिका भी तेरे समीप देवता-रूप में है, तू इसकी भली भाँति सेवा कर। माता के मुँह से ऐसा सुनकर पद्मावती, वासवदत्ता से बहुत अधिक स्नेह करने लगी और अधिक सम्मान करने लगी। पतिविरहिता वासवदत्ता, अर्धरात्रि की कमलिनी के समान दीन और मलिन रहती थी। कभी-कभी विदूषक वसन्तक की बालकों के समान विविध चेष्टाएँ, उस वियोगिनी के मुख पर मुस्कान का अवसर प्रदान करती थीं ।।३८–४५।।

वसन्तक-विकाराश्च ते ते बालोचिता मुहुः ।
मुखे तस्या वियोगिन्याः स्मितस्यावसरं ददुः ।।४६।।
अत्रान्तरेऽतिदूरासु भ्रान्त्वाखेटकभूमिषु ।
वत्सराजश्चिरादागात्सायं लावाणकं पुनः ।।४७।।
भस्मीकृतमपश्यच्च तत्रान्तःपुरमग्निना ।
देवीं दग्धां च शुश्राव मन्त्रिभ्यः सवसन्तकाम् ।।४८।।
श्रुत्वैव चापतद् भूमौ मोहेन हृतचेतनः ।
तद्दुःखानुभवक्लेशमपाकर्त्तुमिवेच्छता ।।४९।।
क्षणाच्च लब्धसंज्ञः सन् जज्वाल हृदये शुचा ।
आविष्ट इव तत्रस्थ-देवी-दाहेक्षणाग्निना ।।५०।।
विलपन्नथ दुःखार्त्तो देहत्यागैकसम्मुखः ।
क्षणान्तरे स नृपतिः संस्मृत्यैतदचिन्तयत् ।।५१।।
विद्याधराधिपः पुत्रो देव्यास्तस्या भविष्यति ।
एतन्मे नारदमुनिर्वक्ति स्म न च तन्मृषा ।।५२।।
कञ्चित्कालं च दुःखं मे तेनैव मुनिनोदितम् ।
गोपालकस्य चैतस्य शोकः स्वल्प इवेक्ष्यते ।।५३।।
यौगन्धरायणादीनां न चैषामतिदुःखिता ।
दृश्यते तेन जाने सा देवी जीवेत्कथञ्चन ।।५४।।
इयं किमपि नीतिस्तु प्रत्युक्ता मन्त्रिभिर्भवेत् ।
अतो मम भवेज्जातु तया देव्या समागमः ।।५५।।
तत्पश्याम्यत्र पर्यन्तं पर्यालोच्य स भूपतिः ।
निदधे हृदये धैर्यं बोध्यमानश्च मन्त्रिभिः ।।५६।।
गोपालकश्च सन्दिश्य तद्यथावस्तु तत्क्षणम् ।
प्रजिघाय ततश्चारं धृतिहेतोरलक्षितम् ।।५७।।
एवं गते स्ववृत्तान्ते लावाणकगतैस्तदा ।
गत्वा मगधराजाय चारैः सर्वं निवेदितम् ।।५८।।
स तद्बुद्ध्वैव कालज्ञो वत्सराजाय तां सुताम् ।
दातुं पद्मावतीमैच्छत्पूर्वं तन्मन्त्रिमार्गिताम् ।।५९।।
ततो दूतमुखेनैनमर्थं वत्सेश्वराय सः ।
यौगन्धरायणायापि सन्दिदेश यथेप्सितम् ।।६०।।
यौगन्धरायणोक्त्या च वत्सेशोऽङ्गीचकार तत् ।
प्रच्छादितैतदर्थं स्याद्देवी जात्विति चिन्तयन् ।।६१।।

उधर शिकार के लिए दूर-दूर जंगलों का चक्कर लगाकर उदयन, बहुत विलम्ब से लावाणक को लौटा। लौटने पर उसने रानी के महल को आग से जला हुआ देखा और मन्त्रियों से महारानी का वसन्तक के साथ जल जाना भी सुना। सुनते ही राजा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। कुछ समय बाद होश में आने पर शोक से अन्तर्मन में जलने लगा और महारानी को जलानेवाली अग्नि में जलकर प्राण-त्याग के लिए उद्यत हुआ ।।४६—४६।।

कुछ समय के अनन्तर कुछ स्मरण करके सोचने लगा कि 'इस रानी से मेरा पुत्र उत्पन्न होगा, जो विद्याधरों का राजा होगा—ऐसा नारद मुनि ने कहा था, वह झूठ नहीं हो सकता' ।।५०–५२।।

मुनि ने यह भी कहा था कि कुछ समय तक कष्ट झेलना पड़ेगा। और, रानी के भाई इस गोपालक को भी अधिक शोक नहीं मालूम देता ।।५३।।

यौगन्धरायण आदि मन्त्री भी अत्यन्त दुःखी नहीं दीखते। इससे यह कल्पना होती है कि रानी जीवित हो जाय, यह सम्भव है ।।५४।।

मेरे मन्त्रियों ने, किसी नीति का प्रयोग किया हो, यह भी सम्भव है। अतः, कभी-न-कभी देवी के साथ समागम हो सकता है ।।५५।।

तो अब मैं इस घटना का अन्त देखता हूँ—ऐसा सोचकर मन्त्रियों द्वारा आश्वासित राजा हृदय में धैर्य धरकर कुछ शान्त हुआ ।।५६।।

लावाणक में यह दुर्घटना होने पर लावाणक-स्थित गुप्तचरों ने यह समाचार मगध-नरेश के समीप पहुँचाया। समयज्ञ मगधराज ने भी इस अवसर को उपयुक्त समझकर राजा उदयन को अपनी पद्मावती देने की इच्छा की, जिसे वत्सराज के मन्त्री यौगन्धरायण ने, पहले ही माँगा था। मगधदेश ने अपने गुप्त दूतों द्वारा अपने धैर्य के लिए यौगन्धरायण को भी सन्देश भेजा ।।५७—६०।।

वत्सराज ने यह सोचकर कि 'यौगन्धरायण ने कदाचित् वासवदत्ता को छिपा रखा हो', इसलिए यौगन्धरायण का प्रस्ताव स्वीकार करके पद्मावती से विवाह करना स्वीकार कर लिया ।।६१।।

ततो लग्नं विनिश्चित्य तूर्णं यौगन्धरायणः ।
तस्मै मगधराजाय प्रतिदूतं व्यसर्जयत् ।।६२।।
त्वदिच्छाङ्गीकृतास्माभिस्तदितः सप्तमे दिने ।
पद्मावतीविवाहाय वत्सेशोऽत्रागमिष्यति ।।६३।।
शीघ्रं वासवदत्तां च येनासौ विस्मरिष्यति ।
इति चास्मै महामन्त्री सन्दिदेश स भूभृते ।।६४।।
प्रतिदूतः स गत्वा च यथासन्दिष्टमभ्यधात् ।
ततो मगधराजाय स चाप्यभिननन्द तम् ।।६५।।
ततः स दुहितृस्नेहनिजेच्छाविभवोचितम् ।
विवाहोत्सवसम्भारं चकार मगधेश्वरः ।।६६।।
सा चाभीष्टवरश्रुत्या मुदं पद्मावती ययौ ।
प्राप वासवदत्ता च तद्वार्त्ताकर्णनाच्छुचम् ।।६७।।
सा वार्त्ता कर्णमागत्य तस्या वैवर्ण्यदायिनी ।
प्रच्छन्नवासवैरूप्यसाहायकमिवाकरोत् ।।६८।।
इत्थं मित्रीकृतः शत्रुर्न च भर्त्तान्यथा त्वयि ।
वसन्तकोक्तिरित्यस्याः सखीव विदधे धृतिम् ।।६९।।
अथासन्नविवाहायाः पद्मावत्या मनस्विनी ।
अम्लानमालातिलकौ दिव्यौ भूयश्चकार सा ।।७०।।
ततो वत्सेश्वरस्तत्र सम्प्राप्ते सप्तमेऽहनि ।
ससैन्यो मन्त्रिभिः साकं परिणेतुं किलाययौ ।।७१।।
मनसापि तदुद्योगं विरही स कथं स्पृशेत् ।
देवीं लभेय तामेवमित्याशा न भवेद्यदि ।।७२।।
प्रत्युद्ययौ च तं सद्यः सानन्दो मगधेश्वरः ।
प्रजानेत्रोत्सवं चन्द्रमुदयस्थमिवाम्बुधिः ।।७३।।
विवेशाथ स वत्सेशो मगधाधिपतेः पुरम् ।
समन्तात्पौरलोकस्य मानसं च महोत्सवः ।।७४।।
विरहक्षामवपुषं मनःसंमोहदायिनम् ।
ददृशुस्तत्र नार्यस्तं रतिहीनमिव स्मरम् ।।७५।।
प्रविश्य मगधेशस्य वत्सेशोऽप्यथ मन्दिरम् ।
सनाथं पतिवत्नीभिः कौतुकागारमाययौ ।।७६।।

यौगन्धरायण ने तुरन्त लग्न निकलवाकर मगधराज के पास अपना दूत भेजा कि हम लोगों ने आपका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया । अतः, आज के सातवें दिन वत्सराज, विवाह के लिए आपके यहाँ बरात लेकर आयेंगे' ।।६२–६३।।

महामन्त्री ने यह भी कहलाया कि 'यदि राजा का विवाह शीघ्र ही हो जाय, तो वह वासवदत्ता को भूल जायगा ।' मगधराज ने सन्देश सुनकर उसका अभिनन्दन किया और कन्या के स्नेह, अपने उदार हृदय, वैभव एवं मर्यादा आदि के अनुरूप विवाह की तैयारी में लग गया ।।६४–६६।।

पद्मावती, मनचाहे अनुरूप पति के मिलने की आशा से प्रसन्न हुई और इस वृत्तान्त को सुनकर वासवदत्ता का हृदय शोक से सन्तप्त हो गया ।।६७।।

वासवदत्ता को मलिन कर देनेवाला यह समाचार, उसके गुप्तनिवास और विकृत परिस्थिति के लिए सहायक हुआ ।।६८।।

'इस प्रकार यौगन्धरायण ने शत्रु को मित्र बना लिया, पति का प्रेम तो तुमपर उसी प्रकार है' इत्यादि बातें समझाकर वसन्तक ने रानी को धैर्य बँधाया ।।६९।।

पद्मावती का विवाह

कुछ समय के अनन्तर विवाह का समय समीप आने पर वासवदत्ता ने अम्लान माला और तिलक-रचना से पद्मावती को पुनः सजा दिया ।।७०।।

सात दिन व्यतीत होने पर वत्सराज उदयन, अपने मन्त्रियों और सेनाओं के साथ विवाह के लिए मगध की राजधानी में धूमधाम से आ पहुचा ।।७१।।

वत्सराज उदयन के मन में यदि यह आशा न होती कि वासवदत्ता प्राप्त हो जायगी, तो वह इस विवाह-प्रपंच में मन से भी उत्साहित न होता ।।७२-७३।।

इधर राजा ने मगध की राजधानी में प्रवेश किया और उधर नागरिकों के हृदय में महान् आनन्द ने प्रवेश किया ।।७४।।

नागरिक स्त्रियों ने, विरह से दुर्बल शरीरवाले, तथापि मन को मोहनेवाले राजा को, रति-हीन कामदेव के समान देखा । पुर-प्रवेश के अनन्तर राजा राजमहल में जाकर सौभाग्यवती स्त्रियों से भरे हुए विवाहगृह (कौतुकागार) में पहुँचा ।।७५-७६।।

तत्र पद्मावतीमन्तर्ददर्श कृतकौतुकाम् ।
स राजा पूर्णवक्त्रेन्दु-जितपूर्णेन्दुमण्डलाम् ॥७७॥
तस्याश्च मालातिलकौ दिव्यावालोक्य तौ निजौ ।
एतौ कुतोऽस्या इत्येवं विममर्श स भूपतिः ॥७८॥
ततः स वेदीमारुह्य तस्या जग्राह यत्करम्[1] ।
तदेवारम्भतां प्राप तस्य पृथ्व्याः करग्रहे ॥७९॥
प्रियवासवदत्तोऽयमिदं शक्नोति नेक्षितुम् ।
इतीव वेदीधूमोऽस्य बाष्पेण पिदधे दृशौ ॥८०॥
अग्निप्रदक्षिणे ताम्रं तदा पद्मावतीमुखम् ।
विज्ञातभर्त्रभिप्रायं कोपाकुलमिवाबभौ ॥८१॥
मुमोच स कृतोद्वाहः कराद् वत्सेश्वरो वधूम् ।
न तु वासवदत्तां तां तत्याज हृदयात् क्षणम् ॥८२॥
ततस्तस्या ददौ तस्मै रत्नानि मगधाधिपः ।
निर्दुग्धरत्नरिक्तेव पृथिवी बुबुधे यथा ॥८३॥
साक्षीकृत्य च तत्कालमग्निं यौगन्धरायणः ।
अद्रोहप्रत्ययं राज्ञो मगधेशमकारयत् ॥८४॥
प्रदत्तवस्त्राभरणः प्रगीतवरचारणः ।
प्रनृत्तवारनारीकः प्रससार महोत्सवः ॥८५॥
उदयापेक्षिणी पत्युः सुप्तेवालक्षितस्थिता ।
तदा वासवदत्ताभूद्दिवा कान्तिरिवैन्दवी ॥८६॥
अन्तःपुरमुपायाते राज्ञि वत्सेश्वरे ततः ।
देवी सन्दर्शनाशङ्की कृती यौगन्धरायणः ॥८७॥
मन्त्रभेदभयादेवं मगधेश्वरमभ्यधात् ।
अद्यैव नाथ वत्सेशः प्रयाति त्वद्गृहादिति ॥८८॥
तथेत्यङ्गीकृतं तेन तमेवार्थं तदैव सः ।
व्यजिज्ञपद् वत्सराजं सोऽपि तच्छ्रद्दधे तथा ॥८९॥
अथोच्चचाल वत्सेशो भुक्तपीतपरिच्छदः ।
मन्त्रिभिः सममादाय वधूं पद्मावतीं ततः ॥९०॥

१. करः=हस्तः, पक्षे भागधेयः करो बलिः, टंक्स इति भाषायाम् ।

वहाँ जाकर राजा ने अपने पूर्णचन्द्र के समान मुख से पूर्णिमा के चन्द्र को लजानेवाली पद्मावती को देखा। उसके शरीर पर, दिव्य माला और तिलक देखकर उसे यह चिन्ता हुई कि ये वस्तुएँ इसे कैसे प्राप्त हुईं ॥७७-७८॥

तदनन्तर, विवाह-वेदी पर बैठकर उसने जो पद्मावती का हाथ पकड़ा, वही मानों समस्त पृथ्वी के कर-ग्रहण का प्रारम्भ था ॥७९॥

यह वासवदत्ता के अतिरिक्त दूसरी पत्नी को देखना नहीं चाहता, मानों इसीलिए धुएँ ने उसकी आँखें बन्द कर दीं ॥८०॥

अग्नि की प्रदक्षिणा के समय धुएँ से लाल पद्मावती का मुख मानों इसीलिए क्रोध से तमतमाने लगा था ॥८१॥

विवाह-विधि सम्पन्न हो जाने पर, वत्सराज ने, वधू के हाथ को त्याग दिया। किन्तु, हृदय से वासवदत्ता को नहीं छोड़ा। विवाह के दहेज में मगध-नरेश ने, राजा को इतने रत्न भेंट किये कि मालूम होता था कि समूची पृथ्वी के रत्न दुह लिये गये ॥८२-८३॥

उसी अवसर पर यौगन्धरायण ने अग्नि को साक्षी करके मगधेश्वर से यह विश्वास प्राप्त किया कि वह जामाता वत्सराज से कभी विरोध न करेगा ॥८४॥

विवाहोत्सव में कपड़े और गहने बाँटे गये, चारणों ने सुन्दर गीत गाये और वेश्याओं ने नृत्य किये ॥८५॥

पति का अभ्युदय चाहनेवाली वासवदत्ता सोई हुई की तरह एकान्त में स्थित होकर उस समय वैसी प्रतीत होती थी, जैसी दिन में चन्द्रमा की कान्ति ॥८६॥

तब अन्तःपुर में वत्सराज उदयन के आ जाने पर बुद्धिमान् यौगन्धरायण को आशंका हुई कि कहीं राजा वासवदत्ता को न देख लें ॥८७॥

वासवदत्ता के छिपाने का मन्त्रभेद न हो जाय, इस भय से यौगन्धरायण ने मगधेश से कहा कि राजा आज ही तुम्हारे यहाँ से विदा हो जायगा ॥८८॥

मगध-नरेश ने इसे स्वीकार कर लिया, उसी प्रकार वत्सराज ने भी इसे स्वीकार किया ॥८९॥

बरातियों के खाने-पीने के अनन्तर वत्सराज उदयन, मन्त्रियों के साथ पद्मावती को लेकर लौट आया ॥९०॥

पद्मावत्या विसृष्टं च सुखमारुह्य वाहनम् ।
तयैव च सभादिष्टैस्तन्महत्तरकैः सह ॥९१॥
आगाद् वासवदत्तापि गुप्तं सैन्यस्य पृष्ठतः ।
कृतरूपविवर्त्तं तं पुरस्कृत्य वसन्तकम् ॥९२॥
क्रमाल्लावाणकं प्राप वत्सेशो वसतिं निजाम् ।
प्रविवेश समं वध्वा देवीचित्तस्तु केवलः ॥९३॥
एत्य वासवदत्तापि सा गोपालकमन्दिरम् ।
विवेशाथ निशीथे च परिस्थाप्य महत्तरान् ॥९४॥
तत्र गोपालकं दृष्ट्वा भ्रातरं दर्शितादरम् ।
कण्ठे जग्राह रुदती बाष्पव्याकुललोचनम् ॥९५॥
तत्क्षणे स्थितसंविच्च तत्र यौगन्धरायणः ।
आययौ सरुमण्वत्कस्तया देव्या कृतादरः ॥९६॥
सोऽस्याः प्रोत्साहविश्लेषदुःखं यावद्व्यपोहति ।
तावत्पद्मावतीपार्श्वं प्रययुस्ते महत्तराः ॥९७॥
आगतावन्तिका देवि किमप्यस्मान्विहाय तु ।
प्रविष्टा राजपुत्रस्य गृहं गोपालकस्य सा ॥९८॥
इति पद्मावती सा तैर्विज्ञप्ता स्वमहत्तरैः ।
वत्सेश्वराग्रे साशङ्का तानेवं प्रत्यभाषत ॥९९॥
गच्छतावन्तिकां ब्रूथ निःक्षेपस्त्वं हि मे स्थिता ।
तदत्र किं ते यत्राहं तत्रैवागम्यतामिति ॥१००॥
तच्छ्रुत्वा तेषु यातेषु राजा पद्मावतीं रहः ।
पप्रच्छ मालातिलकौ केनेमौ तौ कृताविति ॥१०१॥
सावोचदथ मद्गेहे न्यस्ता विप्रेण केनचित् ।
आवन्तिकाभिधा यैषा तस्याः शिल्पमिदं महत् ॥१०२॥
तच्छ्रुत्वैव स वत्सेशो गोपालगृहमाययौ ।
नूनं वासवदत्ता सा भवेदत्रेति चिन्तयन् ॥१०३॥
प्रविवेश च गत्वा तद्द्वारस्थितमहत्तरम् ।
अन्तस्थदेवीगोपालमन्त्रिद्वयवसन्तकम् ॥१०४॥
तत्र वासवदत्तां तां ददर्श प्रोषितागताम् ।
उपप्लवविनिर्मुक्तां मूर्त्तिं चान्द्रमसीमिव ॥१०५॥

पद्मावती के द्वारा दिये गये सुन्दर रथ पर उसी के नौकरों के साथ, वासवदत्ता भी सेना के पीछे रूप बदले हुए वसन्तक को आगे बैठाकर गुप्त रूप से चली ।।९१-९२।।

क्रमशः वत्सराज, अपने निवास-स्थान लावाणक नामक प्रदेश में पहुँचा और नवीन वधू पद्मावती के साथ, राजभवन में प्रविष्ट हुआ, किन्तु वासवदत्ता के हृदय में अकेला ही प्रविष्ट हुआ ।।९३।।

वासवदत्ता भी आधी रात के समय खवासों को ठहराकर अपने भाई गोपालक के निवासस्थान (डेरे) में चली गई ।।९४।।

सबसे पीछे आती हुई वासवदत्ता ने भी लावाणक में पहुँचकर भाई गोपालक को स्वागत करते हुए देखा और रोते हुए भाई के गले से लिपटकर रोने लगी ।।९५।।

उसी समय इस योजना का नेता यौगन्धरायण, रुमण्वान् के साथ आया और वासवदत्ता ने उसका स्वागत किया । इधर यौगन्धरायण, उधर वासवदत्ता के कष्ट के प्रति सहानुभूति प्रकट कर रहा था और उधर वासवदत्ता के पहरेदार पद्मावती के पास पहुँचे । और उन्होंने कहा 'देवि ! अवन्तिका हमलोगों के साथ आई, किन्तु यहाँ आते ही हमलोगों को छोड़कर वह राजकुमार गोपालक के घर में चली गई' ।।९६–९८।।

वत्सराज के सामने ही पहरेदारों (खवासों) द्वारा इस प्रकार निवेदित पद्मावती सशंक होकर उनसे बोली—'जाओ, अवन्तिका से कहो कि तुम मेरे पास धरोहर के रूप में रखी गई हो, इसलिए वहाँ तुम्हारा क्या है ? जहाँ मैं हूँ, वहीं तुम भी रहो । आओ' ।।९९-१००।।

यह सुनकर उनके चले जाने पर राजा ने एकान्त में पद्मावती से पूछा कि 'तुम्हें यह माला और तिलक किसने दिया ?' ।।१०१।।

पद्मावती बोली—'किसी ब्राह्मण ने मेरे पास अवन्तिका नाम की एक कन्या धरोहर के रूप में रखी है, उसी की यह कारीगरी है' ।।१०२।।

यह सुनकर उदयन, वहाँ से उठकर सीधे गोपालक के घर पर आया कि अवश्य ही वासवदत्ता उसके घर पर होगी ।।१०३।।

राजा पहरा लगे हुए गोपालक के द्वार पर पहुँचा । अन्दर वासवदत्ता, गोपालक, यौग धरायण, रुमण्वान् और वसन्तक बैठे हुए थे । वहाँ उसने ग्रहण से मुक्त चन्द्र-मूर्त्ति के समान प्रवास से लौटी हुई वासवदत्ता को देखा ।।१०४-१०५।।

पपाताथ महीपृष्ठे स शोकविषविह्वलः ।
कम्पो वासवदत्ताया हृदये तूदपद्यत ।।१०६।।
ततः साप्यपतद् भूमौ गात्रैर्विरहपाण्डुरैः ।
विललाप च निन्दन्ती तदाचरितमात्मनः ।।१०७।।
अथ तौ दम्पती शोकदीनौ रुरुदतुस्तदा ।
यौगन्धरायणोऽप्यासीद् वाष्पधौतमुखो यथा ।।१०८।।
तथाविधं च तच्छ्रुत्वा काले कोलाहलं तदा ।
पद्मावत्यपि तत्रैव साकुला तमुपाययौ ।।१०९।।
क्रमादवगतार्था च राजवासवदत्तयोः ।
तुल्यावस्थैव साप्यासीत्स्निग्धमुग्धा हि सत्स्त्रियः ।।११०।।
किं जीवितेन मे कार्यं भर्तृदुःखप्रदायिना ।
इति वासवदत्ता च जगाद रुदती मुहुः ।।१११।।
मगधेशसुतालाभात्त्व साम्राज्यकांक्षिणा ।
कृतमेतन्मया देव देव्या दोषो न कश्चन ।।११२।।
इयं त्वस्याः सपत्न्येव प्रवासे शीलसाक्षिणी ।
इत्युवाचाथ वत्सेशं धीरो यौगन्धरायणः ।।११३।।
अहमत्र विशाम्यग्नावस्याः शुद्धिप्रकाशने ।
इति पद्मावती तत्र जगादामत्सराशया ।।११४।।
अहमेवापराध्यामि यत्कृते सुमहानयम् ।
सोढो देव्यापि हि क्लेश इति राजाप्यभाषत ।।११५।।
अग्निप्रवेशः कार्यो मे राज्ञो हृदयशुद्धये ।
इति वासवदत्ता च बभाषे बद्धनिश्चया ।।११६।।
ततः स कृतिनां धुर्यो धीमान्यौगन्धरायणः ।
आचम्य प्राङ्मुखः शुद्ध इति वाचमुदैरयत् ।।११७।।
यद्यहं हितकृद्राज्ञो देवी शुद्धिमती यदि ।
ब्रूत भो लोकपालास्तन्न चेद्देहं त्यजाम्यहम् ।।११८।।
इत्युक्त्वा विरते तस्मिन्दिव्या वागुदभूदियम् ।
'धन्यस्त्वं नृपते यस्य मन्त्री यौगन्धरायणः ।।११९।।
यस्या वासवदत्ता च भार्या प्राग्जन्मदेवता ।
न दोषः कश्चिदेतस्या' इत्युक्त्वा वागुपारमत् ।।१२०।।

उसे देखते ही शोक के विष से व्याकुल राजा, भूमि पर अचेत होकर गिर गया और वासवदत्ता के हृदय में कम्पन होने लगा। विरह से पीले और निर्बल अंगोंवाली वासवदत्ता भी उसी समय अचेत होकर गिर गई और अपने किये हुए कार्यों के लिए बिलाप करने लगी ॥१०६-१०७॥

इस प्रकार, दोनों दम्पती, शोक से विकल होकर रोने लगे। यौगन्धरायण का मुँह भी आँसुओं से मानों धुल गया ॥१०८॥

इधर इस प्रकार का कोलाहल सुनकर व्याकुल पद्मावती भी वहीं पहुँच गई ॥१०९॥

राजा और वासवदत्ता की हालत देखकर पद्मावती भी उन्हीं के समान शोकाकुल हो गई; क्योंकि अच्छी स्त्रियाँ, स्नेह-युक्त और सरल होती हैं ॥११०॥

पति को दुःख देनेवाले मेरे जीवन का क्या प्रयोजन ! इस प्रकार वासवदत्ता रोती हुई बार-बार प्रलाप करती थी ॥१११॥

'मगध-नरेश की कन्या की प्राप्ति से तुम्हें साम्राज्य का लाभ हो'—यह सोचकर मैंने यह सब काण्ड किया, इसमें महारानी का कोई भी दोष नहीं। इसके प्रवास-काल में महारानी के चरित्र की साक्षी स्वयं महारानी की सौत पद्मावती है—इस प्रकार धुरन्धर यौगन्धरायण ने कहा ॥११२-११३॥

विशुद्धहृदया पद्मावती ने कहा कि 'वासवदत्ता की सच्चरित्रता को सिद्ध करने के लिए मैं स्वयं अग्नि में प्रवेश करने को उद्यत हूँ' ॥११४॥

राजा ने कहा—'इस सारे अपराध का अपराधी मैं ही हूँ, जिसके लिए महारानी ने इतना कष्ट-सहन किया' ॥११५॥

वासवदत्ता ने दृढ़तापूर्वक कहा कि महाराजा की हृदय-शुद्धि के लिए मुझे अग्नि-प्रवेश करना चाहिए ॥११६॥

यह सब सुनकर धीरों में श्रेष्ठ यौगन्धरायण पूर्वमुख बैठकर विशुद्ध मन से आचमन करके बोला—'हे लोकपालो! यदि मैं राजा का हितकारी हूँ और महारानी भी सच्चरित्रा हैं, तो आपलोग साक्षी दें, नहीं तो मैं शरीर-त्याग करता हूँ' ॥११७-११८॥

ऐसा कहकर यौगन्धरायण के मौन होने पर आकाशवाणी हुई—'वह राजा धन्य है, जिसके मन्त्री तुम्हारे जैसे हैं और जिसकी स्त्री वासवदत्ता पूर्वजन्म की देवता है। इसमें कुछ भी दोष नहीं है' ॥११९-१२०॥

आकर्ण्य तन्मुखरिताखिलदिग्विभाग-
मामन्द्रनूतन-घनाघन-गर्जितश्रि
उत्कन्धराश्च सुचिरं विहिताभितापाः
सर्वेऽपि ते स्फुट-विडम्बित-नीलकण्ठाः ॥१२१॥

गोपालकसहितोऽपि च राजा यौगन्धरायणाचरितम् ।
स्तौति स्म वत्सराजो मेने पृथ्वीं च हस्तगताम् ॥१२२॥

दधदथ नृपतिः स मूर्त्तिमत्यौ निकटगते रतिनिर्वृती इवोभे ।
अनुदिनसहवाससानुरागे निजदयिते परमुत्सवं बभार ॥१२३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे

लावाणलम्बके द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

वत्सराजकथा (पूर्वतोऽनुवृत्ता)

ततो वत्सेश्वरोऽन्येद्युः सह वासवदत्तया ।
पद्मावत्या च संसक्तपानलीलो विविक्तगः ॥१॥
सगोपालकमानीय सरुमण्वद्वसन्तकम् ।
यौगन्धरायणं ताश्च चक्रे विस्रम्भिणीः कथाः ॥२॥
तत्र स्वविरहोद्घातप्रसङ्गे च महीपतिः ।
सर्वेषु तेषु शृण्वत्सु कथामेतामवर्णयत् ॥३॥

उर्वशीपुरूरवसोः कथा

आसीत्पुरूरवा नाम राजा परमवैष्णवः ।
अभूद् भुवीव नाकेऽपि यस्याप्रतिहता गतिः ॥४॥
भ्रमन्तं नन्दने जातु तं ददर्श किलाप्सराः ।
उर्वशी नाम कामस्य मोहनास्त्रमिवापरम् ॥५॥
दृष्टमात्रेण तेनाभूत् सा तथा हृतचेतना ।
यथा सभयरम्भादिसखीचेतांस्यकम्पयत् ॥६॥
सोऽपि तां वीक्ष्य लावण्यरसनिर्झरिणीं नृपः ।
यन्न प्राप परिष्वङ्गं तृषाक्रान्तो मुमूर्च्छ तत् ॥७॥

घने मेघों के गर्जन के समान चारों दिशाओं को गुंजित करनेवाली आकाशवाणी को मोरों के समान ऊँची गरदन किये हुए उन सब लोगों ने सुना ।।१२१।।

गोपालक के साथ राजा उदयन ने यौगन्धरायण के कार्य की प्रशंसा की और समस्त पृथ्वी को अपने अधीन माना ।।१२२।।

परमसुखी वत्सराज मूर्तिमान् रति और निर्वृत्ति (सुख)-स्वरूप और निरन्तर सहवास के कारण परस्पर अनुरक्त उन दोनों के साथ अत्यन्त सुख का अनुभव करने लगा ।।१२३।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के लावाणक लम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त ।

तृतीय तरंग

वत्सराज की कथा (क्रमशः)

किसी एक दिन एकान्त में वत्सराज ने वासवदत्ता और पद्मावती के साथ पानक्रीडा करके गोपालक, रुमण्वान् और वसन्तक के साथ यौगन्धरायण को बलाया और वह गुप्त गोष्ठी करने लगा ।।१–२।।

उस अवसर पर अपने विरह के प्रसंग में वत्सराज ने उन सबके सुनते रहने पर यह कथा कहना प्रारम्भ किया ।।३।।

पुरूरवा और उर्वशी की कथा

प्राचीन युग में परमवैष्णव (विष्णु-भक्त) पुरूरवा नाम का राजा था । पृथ्वी के समान स्वर्ग में भी उसकी बे-रोक-टोक गति थी ।।४।।

एक बार नन्दन-उद्यान में घूमते हुए उसे उर्वशी अप्सरा ने देखा, जो कामदेव के सम्मोहन नामक दूसरे अस्त्र के ससान थी ।।५।।

पुरूरवा को देखते ही उर्वशी संज्ञाहीन (बेहोश) हो गई । उसके कारण रम्भा आदि उसकी सखियों का हृदय काँपने लगा ।।६।।

राजा पुरूरवा भी, लावण्य-रस की निर्झरिणी समान उर्वशी को देखकर भी जो उसका आलिंगन प्राप्त न कर सका; उस प्यास से मानों मूर्च्छित हो गया ।।७।।

अथादिदेश सर्वज्ञो हरिः क्षीराम्बुधिस्थितः ।
नारदाख्यं मुनिवरं दर्शनार्थमुपागतम् ।।८।।

देवर्षे नन्दनोद्यानवर्त्ती राजा पुरूरवाः ।
उर्वशीहृतचितः सन् स्थितो विरहनिःसहः ।।९।।

तद्गत्वा मम वाक्येन बोधयित्वा शतक्रतुम् ।
दापय त्वरितं तस्मै राज्ञे तामुर्वशीं मुने ।।१०।।

इत्यादिष्टः स हरिणा यथेत्यागत्य नारदः ।
प्रबोध्य तं तथाभूतं पुरूरवसमब्रवीत् ।।११।।

उत्तिष्ठ त्वत्कृते राजप्रहितोऽस्मीह विष्णुना ।
स हि निर्व्याजभक्तानां नैवापदमुपेक्षते ।।१२।।

इत्युक्त्वाश्वासितेनाथ स पुरूरवसा सह ।
जगाम देवराजस्य निकटं नारदो मुनिः ।।१३।।

हरेर्निदेशमिन्द्राय निवेद्य प्रणतात्मने ।
उर्वशीं दापयामास स पुरूरवसे ततः ।।१४।।

तदभूदुर्वशीदानं निर्जीवकरणं दिवः ।
उर्वश्यास्तु तदेवासीन्मृतसञ्जीवनौषधम् ।।१५।।

अथाजगाम भूलोकं तमादाय पुरूरवाः ।
स्ववर्वधू-दर्शनाश्चर्यमर्पयन्मर्त्यचक्षुषाम् ।।१६।।

ततोऽनपायिनौ तौ द्वावुर्वशी च नृपश्च सः ।
अन्योन्यदृष्टिपाशेन निबद्धाविव तस्थतुः ।।१७।।

एकदा दानवैः सार्कं प्राप्तयुद्धेन वज्रिणा ।
साहायकार्थमाहूतो ययौ नाकं पुरूरवाः ।।१८।।

तत्र तस्मिन् हते मायाधरनाम्न्यसुराधिपे ।
प्रनृत्तस्वर्वधूसार्थः शक्रस्याभवदुत्सवः ।।१९।।

ततश्च रम्भां नृत्यन्तीमाचार्ये तुम्बरौ स्थिते ।
चलिताभिनयां दृष्ट्वा जहास स पुरूरवाः ।।२०।।

जाने दिव्यमिदं नृत्तं किं त्वं जानासि मानुष ।
इति रम्भापि तत्कालं सासूयं तमभाषत ।।२१।।

राजा को इस प्रकार सन्तप्त जानकर क्षीर-समुद्र में विश्राम करते हुए सर्वज्ञ भगवान् विष्णु ने, दर्शन के लिए आये नारद मुनि को, आदेश दिया ।।८।।

हे देवर्षि ! नन्दन-उद्यान में स्थित राजा पुरूरवा उर्वशी पर मोहित हो गया है और उर्वशी के विरह को सहन नहीं कर पा रहा है ।।९।।

इसलिए, तुम मेरी ओर से इन्द्र के पास जाकर और उसे समझाकर उर्वशी को राजा के लिए तुरन्त दिलवा दो ।।१०।।

भगवान् हरि से इस प्रकार आज्ञापित नारद ने आकर पुरूरवा को होश में लाकर कहा—'राजन् ! उठो, तुम्हारे लिए मुझे भगवान् विष्णु ने भेजा है । वे अपने निश्छल भक्तों के कष्ट की उपेक्षा नहीं करते' ।।११-१२।।

इस प्रकार, आश्वासित पुरूरवा के साथ नारद मुनि इन्द्र के पास गये और प्रणाम करते हुए इन्द्र को हरि की आज्ञा सुनाकर, उर्वशी को, राजा पुरूरवा के लिए दिला दिया ।।१३-१४।।

इस प्रकार उर्वशी का दान, स्वर्ग को निर्जीव करने और उर्वशी को मानों मृत-संजीवन औषधि देने के समान था ।।१५।।

स्वर्गीय पत्नी का ग्रहण करके मर्त्यलोकवासियों की आँखों को आश्चर्य में डालते हुए पुरूरवा उसे लेकर भू-लोक में आ गया ।।१६।।

इस प्रकार कभी नष्ट न होनेवाले पुरूरवा और उर्वशी—दोनों, परस्पर आकृष्ट होकर बँधे हुए-से रहने लगे ।।१७।।

एक बार मायाधर नामक असुरराज के साथ इन्द्र का युद्ध होने पर इन्द्र ने अपनी सहायता के लिए पुरूरवा को बुलाया और पुरूरवा स्वर्ग को गया ।।१८।।

इस युद्ध में मायाधर के मारे जाने पर इन्द्र के यहाँ उत्सव हुआ, जिसमें सभी स्वर्गीय स्त्रियों ने भाग लिया । उस उत्सव में आचार्य तुम्बुरु के उपस्थित रहते हुए रम्भा नाम की वेश्या नृत्य कर रही थी; उसके नृत्य में कुछ त्रुटि होने पर पुरूरवा ने हँस दिया । उसका हँसी से चिढ़कर रम्भा ने कहा—'यह दिव्य नृत्य है, इसे मैं जानती हूँ । हे मनुष्य ! तू इसे क्या जाने ।।१९–२१।।

जानेऽहमुर्वशीसङ्गात्तद्वेत्ति न तुम्बुरुः ।
युष्मद्गुरुरपीत्येनामुवाचाथ पुरूरवाः ॥२२॥
तच्छ्रुत्वा तुम्बुरुः कोपात्तस्मै शापमथादिशत् ।
उर्वश्या ते वियोगः स्यादाकृष्णाराधनादिति ॥२३॥
श्रुतशापश्च गत्वैव तमुर्वश्यै पुरूरवाः ।
अकालाशनिपातोग्रं स्ववृत्तान्तं न्यवेदयत् ॥२४॥
ततोऽकस्मान्निपत्यैव निन्ये क्वाप्यपहृत्य सा ।
अदृष्टैस्तेन भूपेन गन्धर्वैरुर्वशी किल ॥२५॥
अवेत्य शापदोषं तं सोऽथ गत्वा पुरूरवाः ।
हरेराराधनं चक्रे ततो बदरिकाश्रमे ॥२६॥
उर्वशी तु वियोगार्त्ता गन्धर्वविषयस्थिता ।
आसीन्मृतेव सुप्तेव लिखितेव विचेतना ॥२७॥
आश्चर्यं यन्न सा प्राणैः शापान्ताशावलम्बिनी ।
मुक्ता विरहदीर्घासु चक्रवाकीव रात्रिषु ॥२८॥
पुरूरवाश्च तपसा तनाच्युतमतोषयत् ।
तत्प्रसादेन गन्धर्वा मुमुचुस्तस्य चोर्वशीम् ॥२९॥
शापान्तलब्धयां युक्तः पुनरप्सरसा तया ।
दिव्यान् स राजा बुभुजे भोगान्भूतलवर्त्यपि ॥३०॥
इत्युक्त्वा विरते राज्ञि श्रुतोर्वश्यनुरागया ।
सापि सोढवियोगत्वाद् व्रीडा वासवदत्तया ॥३१॥
तां दृष्ट्वा युक्त्युपालब्धां राज्ञा देवीं विलक्षिताम् ।
अथाप्याययितुं भूपमाह यौगन्धरायणः ॥३२॥
न श्रुता यदि तद्राजन्कथेयं श्रूयतां त्वया ।
अस्तीह तिमिरा नाम नगरी मन्दिरं श्रियः ॥३३॥
तस्यां विहितसेनाख्यः ख्यातिमानभवन्नृपः ।
तस्य तेजोवतीत्यासीद् भार्या क्षितितलाप्सराः ॥३४॥
तस्याः कण्ठग्रहैकाग्रः स राजा स्पर्शलोलुपः ।
न सेहे कञ्चुकेनापि क्षिप्रमाच्छुरितं वपुः ॥३५॥
कदाचित्तस्य राज्ञश्च जज्ञे जीर्णज्वरामयः ।
वैद्या निवारयामासुस्तया देव्यास्य सङ्गमम् ॥३६॥

राजा ने कहा —'उर्वशी के सम्पर्क से जो कुछ मैं जानता हूँ, उसे तुम्हारे गुरु तुम्बुरु भी नहीं जानते'। यह सुनकर तुम्बुरु ने क्रोध में आकर राजा को शाप दिया कि जबतक कृष्ण की आराधना न करोगे, तबतक उर्वशी से तुम्हारा वियोग हो जायगा ॥२२-२३॥

शाप को सुनकर राजा पुरूरवा ने, अकाल वज्रपात के समान यह शाप उर्वशी को कह सुनाया ॥२४॥

तदनन्तर, अकस्मात् गन्धर्वों ने तुम्बरु की आज्ञा से आकर गुप्त रूप से उर्वशी का अपहरण कर लिया ॥२५॥

पुरूरवा ने इसे शाप का फल समझकर बदरिकाश्रम में जाकर भगवदाराधन प्रारम्भ किया ॥२६॥

गन्धर्व-लोक में राजा के वियोग से सन्तप्त उर्वशी, निर्जीव-सी, सोई-सी, चित्रलिखित-सी एवं संज्ञाहीन होकर पड़ रही। वह शाप के अन्त की आशा पर अवलम्बित विरह से लम्बी रात्रियों में चकई के समान तड़पती-सी रहती; किन्तु प्राणों से विरक्त न हुई ॥२७-२८॥

इधर पुरूरवा ने भगवान् विष्णु को तप से प्रसन्न किया। भगवान् की कृपा से गन्धर्वों ने उसकी उर्वशी को छोड़ दिया ॥२९॥

शाप के अन्त में पुनः प्राप्त हुई उर्वशी के साथ राजा भूलोक में स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करने लगा ॥३०॥

इस प्रकार कथा सुनाकर राजा के चुप होने पर उर्वशी की विरह-वेदना की सहन-शक्ति को जानकर वासवदत्ता मन-ही-मन लज्जित हुई ॥३१॥

राजा के द्वारा युक्तिपूर्वक उपालम्भ दी गई वासवदत्ता को कुछ लज्जित देखकर उसे आश्वासन देने के लिए यौगन्धरायण ने कहा ॥३२॥

विहितसेन और तेजोवती की कथा

हे राजन्! यदि तुमने यह कथा न सुनी हो, तो सुनो। भू-लोक में लक्ष्मी के निवास-भवन के समान तिमिरा नाम की समृद्ध नगरी है ॥३३॥

उसमें विहितसेन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी तेजोवती भूतल की अप्सरा थी। उसके कण्ठालिंगन में संलग्न-हृदय वह राजा, अपने शरीर पर कुरते का आवरण भी सहन नहीं करता था ॥३४-३५॥

एक बार राजा को जीर्णज्वर हुआ। वैद्यों ने उसे रानी के साथ मिलने से मना कर दिया ॥३६॥

देवी सम्पर्कहीनस्य हृदये तस्य भूभृतः ।
औषधोपक्रमासाध्यो व्याधिः समुदपद्यत ॥३७॥
भयाच्छोकाभिघाताद् वा राज्ञो रोगः कदाचन ।
स्फुटेदयमिति स्माहुर्भिषजो मन्त्रिणं रहः ॥३८॥
यः पुरा पृष्ठपतिते न तत्रास महोरगे ।
नान्तःपुरप्रविष्टेऽपि परानीके च चुक्षुभे ॥३९॥
तस्यास्य राज्ञो जायेत भयं सत्त्ववतः कथम् ।
नास्त्यत्रोपायबुद्धिर्नः किं कुर्मस्तेन मन्त्रिणः ॥४०॥
इति सञ्चिन्त्य संमन्त्र्य ते देव्या सह मन्त्रिणः ।
तां प्रच्छाद्य तमूचुश्च मृता देवीति भूपतिम् ॥४१॥
तेन शोकातिभारेण मथ्यमानस्य तस्य सः ।
पुस्फोट हृदयव्याधिर्विह्वलस्य महीभृतः ॥४२॥
उत्तीर्णरोगविपदे तस्मै राज्ञेऽथ मन्त्रिभिः ।
अर्पिता सा महादेवी सुखसम्पदिवापरा ॥४३॥
बहु मेने च सोऽप्येनां राजा प्राणप्रदायिनीम् ।
न पुनर्मतिमानस्यै चुक्रोधाच्छादितात्मने ॥४४॥
हितैषिता हि या पत्युः सा देवीत्वस्य कारणम् ।
प्रियकारित्वमात्रेण देवीशब्दो न लभ्यते ॥४५॥
सा मन्त्रिता च यद्राज्यकार्यभारैकचिन्तनम् ।
चित्तानुवर्त्तनं यत्तदुपजीवकलक्षणम् ॥४६॥
अतो मगधराजेन सन्धातुं परिपन्थिना ।
पृथ्वीविजयहेतोस्ते यत्नोऽस्माभिरयं कृतः ॥४७॥
तेन देव भवद्भक्तिसोढासह्यवियोगया ।
देव्या नैवापराद्धं ते पूर्णातूपकृतिः कृता ॥४८॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य यथार्थं मुख्यमन्त्रिणः ।
मेनेऽपराद्धमात्मानं वत्सराजस्तुतोष च ॥४९॥
उवाच चैतज्जानेऽहं देव्या युष्मत्प्रयुज्यया ।
आकारवत्या नीत्येव मम दत्तेव मेदिनी ॥५०॥
किं त्वतिप्रणयादेतन्मयोक्तमसमञ्जसम् ।
अनुरागान्धमनसां विचारसहता कुतः ॥५१॥

देवी के सम्पर्क से रहित उस राजा का रोग, भीतर-ही-भीतर बढ़ने लगा, जो औषधियों के उपचार से असाध्य हो गया। 'भय, शोक या अभिघात से सम्भव है, राजा का रोग अच्छा हो सके'—ऐसा वैद्यों ने एकान्त में मन्त्रियों से कहा। मन्त्रियों ने सोचा कि राजा अत्यन्त जीवटवाला है, एक बार पीठ पर भीषण सर्प के गिरने पर और शत्रुओं के रनिवास तक घुस आने पर भी, जो न डरा, उसे किस प्रकार डराया जा सकता है। इसके लिए कोई उपाय नहीं सूझता। हमारी बुद्धि काम नहीं करती ।।३७—४०।।

इस प्रकार, सोच-विचार कर मन्त्रियों ने रानी के साथ परामर्श करके और उसे कपड़े से ढककर राजा से कह दिया कि 'महारानी मर गई' ।।४१।।

इस भीषण शोक-संवाद से राजा का हृदय मथित और व्यथित हो गया और शोक-विह्वल राजा का हृदय-रोग नष्ट हो गया ।।४२।।

उस रोग-रूपी विपत्ति से छूट जाने पर मन्त्रियों ने दूसरी सुख-सम्पत्ति के समान महारानी को राजा के लिए भेंट कर दिया ।।४३।।

उस प्राणदायिनी रानी को राजा बहुत मानने लगा और बुद्धिमान् राजा ने, छिपी हुई रानी पर क्रोध भी नहीं किया ।।४४।।

पति की हितैषिता ही महारानीपन है। केवल राजा को प्रसन्न रखना ही रानीपन नहीं है ।।४५।।

मन्त्रीपन भी वही है—राज-कार्य की समुचित चिन्ता रखना। राजा की 'हाँ-में-हाँ' मिलाना तो केवल नौकरी-मात्र है ।।४६।।

इसीलिए, विरोधी मगधराज से सन्धि करने तथा समस्त पृथ्वी पर विजय करने के लिए हमलोगों ने, यह यत्न किया ।।४७।।

अतः, आपकी भक्ति के कारण असह्य वियोग को सहन करनेवाली महारानी वासवदत्ता ने अपराध नहीं किया; प्रत्युत पूर्ण उपकार ही किया ।।४८।।

प्रधान मन्त्री के वचन सुनकर वत्सराज ने अपने को अपराधी समझा और इस घटना पर सन्तोष प्रकट किया और कहा—आपलोगों से प्रेरित मूर्त्तिमती नीति के समान महारानी ने मुझे सारी पृथ्वी प्रदान की ।।४९-५०।।

मैंने जो कुछ कहा, वह प्रेम के अतिशय के कारण कहा—'प्रेम से अन्धे हृदयवाले लोगों में विचार करने की शक्ति कहाँ हो सकती है ?' ।।५१।।

इत्यादिभिः समालापैर्वत्सराजः स तद्दिनम् ।
लज्जोपरागं देव्याश्च सममेवापनीतवान् ॥५२॥
अन्येद्युर्मगधेशेन प्रेषितो ज्ञानवस्तुना ।
दूतो वत्सेशमभ्येत्य तद्वाक्येन व्यजिज्ञपत् ॥५३॥
मन्त्रिभिस्ते वयं तावद् वञ्चिता तत्तथाधुना ।
कुर्याः शोकमयो येन जीवलोको भवेन्न नः ॥५४॥
एतच्छ्रुत्वाथ सम्मान्य वत्सेशः प्रजिघाय तम् ।
दूतं पद्मावतीपार्श्वं प्रतिसन्देशलब्धये ॥५५॥
सापि वासवदत्तैकनम्रा तत्सन्निधौ ददौ ।
दूतस्य दर्शनं तस्य विनयो हि सतीव्रतम् ॥५६॥
व्याजेन पुत्रि नीता त्वमन्यासक्तश्च ते पतिः ।
इति शोकान्मया लब्धं कन्याजनकताफलम् ॥५७॥
इत्युक्तपितृसन्देशं दूतं पद्मावती तदा ।
जगाद भद्र विज्ञाप्यस्तातोऽम्बा च गिरा मम ॥५८॥
किं शोकेनार्यपुत्रो हि परमं सदयो मयि ।
देवी वासवदत्ता च सस्नेहा भगिनीव मे ॥५९॥
तत्तातेनार्यपुत्रस्य भाव्यं नैव विकारिणा ।
निजसत्यमिवात्याज्यं मदीयं जीवितं यदि ॥६०॥
इत्युक्ते प्रतिसन्देशे पद्मावत्या यथोचिते ।
दूतं वासवदत्ता तं सत्कृत्य प्राहिणोत्ततः ॥६१॥
दूते प्रतिगते तस्मिन् स्मरन्ती पितृवेश्मनः ।
किञ्चित् पद्मावती तस्मादुत्कण्ठाविमना इव ॥६२॥
ततस्तस्य विनोदार्थमुक्तो वासवदत्तया ।
वसन्तकोऽन्तिकप्राप्तः कथामित्थमवर्णयत् ॥६३॥

सोमप्रभागुहसेनयोः कथा

अस्ति पाटलिपुत्राख्यं पुरं पृथ्वीविभूषणम् ।
तस्मिंश्च धर्मगुप्ताख्यो बभूवैको महावणिक् ॥६४॥
तस्य चन्द्रप्रभेत्यासीद् भार्या सा च कदाचन ।
सगर्भाऽभूत्प्रसूताथ कन्यां सर्वाङ्गसुन्दरीम् ॥६५॥

इस प्रकार, वत्सराज ने महारानी की लज्जा और उस दिन को एक साथ ही समाप्त कर दिया ।।५२।।

दूसरे ही दिन, समाचार जानकर मगध-नरेश ने दूत भेजा। उसने वत्सराज से उसका सन्देश कहा कि तुम्हारे मन्त्रियों ने हमें धोखा दिया। इसलिए, ऐसा न करना कि हमारा संसार शोकमय हो जाय ।।५३-५४।।

यह सुनकर वत्सराज ने उस दूत को पद्मावती से ास भेज दिया। वासवदत्ता के सम्मुख नम्रता प्रकट करती हुई पद्मावती ने भी उसी के पास आकर सन्देश सुनाने के लिए उस दूत को दर्शन दिया। नम्रता ही सती स्त्रियों का व्रत है ।।५५–५६।।

दूत ने राजा का सन्देश कहा—'बेटी ! छल-कपट से वत्सराज, तुम्हें विवाह करके ले गये। तुम्हारा पति, दूसरी स्त्री में अधिक अनुराग रखता है 'इस शोक से मैंने कन्या के पिता होने का फल पा लिया।' इस प्रकार, पिता का सन्देश सुनाते हुए दूत से पद्मावती ने कहा—'हे भद्र ! मेरे वचन से पिता और माता से निवेदन करना कि आपलोग शोक क्यों करते हैं। आर्यपुत्र (मेरे पति) मुझपर अत्यन्त दया और स्नेह रखते हैं। वासवदत्ता भी बहिन के समान मुझसे स्नेह रखती है। यदि अपने सत्य के समान मेरे जीवन की रक्षा चाहते हो, तो तुम्हें आर्यपुत्र (उदयन) के प्रति वैमनस्य न रखना चाहिए ।।५७–६०।।

इस प्रकार, पद्मावती के द्वारा पिता के प्रति सन्देश दिये जाने पर, वासवदत्ता ने, आतिथ्य-सत्कार करके दूत को विदा किया ।।६१।।

दूत के चले जाने पर पद्मावती, अपने पितृगृह की बातों का स्मरण करके कुछ अनमनी-सी हो गई। उसे अनमनी देखकर वासवदत्ता के द्वारा बुलाये गये विदूषक वसन्तक ने वहाँ आकर कहानी कहना प्रारम्भ किया ।।६२–६३।।

सोमप्रभा और गुहसेन की कथा

पृथ्वी का अलंकार पाटलिपुत्र नाम का एक नगर है। वहाँ धर्मगुप्त नाम का एक धनी व्यापारी वैश्य रहता था ।।६४।।

उसकी चन्द्रप्रभा नाम की पत्नी एक बार गर्भवती हुई और उसने एक सर्वांगसुन्दरी कन्या उत्पन्न की ।।६५।।

सा कन्या जामात्रैव कान्तिद्योतितवासका ।
चक्रे सव्यक्तमालाप[1]मुत्थायोपविवेश च ॥६६॥
ततो विस्मितवित्रस्तं स्त्रीजनं जातवेश्मनि ।
दृष्ट्वा स धर्मगुप्तोऽत्र सभयः स्वयमाययौ ॥६७॥
पप्रच्छ कन्यकां तां च प्रणतस्तत्क्षणं रहः ।
भगवत्यवतीर्णासि का त्वं मम गृहेष्विति ॥६८॥
साप्यवादीत्त्वया नैव देया कस्मैचिदप्यहम् ।
गृहस्थिता शुभाहं ते पृष्टेनान्येन तात किम् ॥६९॥
इत्युक्तः स तया भीतो धर्मगुप्तः स्वमन्दिरे ।
गुप्तं तां स्थापयामास मृतेति ख्यापितां बहिः ॥७०॥
ततः सोमप्रभा नाम सा कन्या ववृधे क्रमात् ।
मानुषेण शरीरेण रूपकान्त्या तु दिव्यया ॥७१॥
एकदा तु प्रमोदेन मधूत्सवविलोकिनीम् ।
हर्म्यस्थां गुहचन्द्राख्यो वणिक्पुत्रो ददर्श ताम् ॥७२॥
स मनोभवभल्ल्येव सद्यो हृदयलग्नया ।
तया मुमूर्च्छेव तदा कृच्छ्राच्च गृहमाययौ ॥७३॥
स्मरार्त्तिविधुरस्तत्र पित्रोरस्वास्थ्यकारणम् ।
निर्बन्धपृष्टो वक्ति स्म स्ववयस्यमुखेन सः ॥७४॥
ततोऽस्य गुहसेनाख्यः पिता स्नेहेन याचितुम् ।
तां कन्यां धर्मगुप्तस्य वणिजो भवनं ययौ ॥७५॥
तत्र तं कृतयाञ्चं स गुहसेनं स्नुषार्थिनम् ।
कन्या कुतो मे मूढेति धर्मगुप्तो निराकरोत् ॥७६॥
निह्नुतां तेन कन्यां तां मत्वा गत्वा गृहे सुतम् ।
दृष्ट्वा स्मरज्वराक्रान्तं गुहसेनो व्यचिन्तयत् ॥७७॥
राजानं प्रेरयाम्यत्र स हि मे पूर्वसेवितः ।
दापयत्यपि पुत्राय स कन्यां तां मुमूर्षवे ॥७८॥
इति निश्चित्य गत्वा च दत्वाऽस्मै रत्नमुत्तमम् ।
नृपं विज्ञापयामास स वणिक्स्वामिकाङ्क्षितम् ॥७९॥

---

१ सद्योत्पन्नस्य बालकस्य भाषणं महदपशकुनम् ।

अपनी अनुपम कान्ति से प्रसूति-गृह को आलोकित करती हुई वह कन्या उत्पन्न होते ही स्पष्ट वाणी में वार्त्तालाप करने लगी और उठने-बैठने लगी ॥६६॥

कन्या की इस स्थिति से चकित और व्याकुल स्त्रियों का कोलाहल सुनकर डरता हुआ धर्मगुप्त प्रसूतिगृह में आया। धर्मगुप्त ने आकर प्रणाम करने के अनन्तर उसी समय एकान्त में उस कन्या से पूछा—'हे देवि ! तू कौन मेरे घर में अवतीर्ण हुई है ?॥६७-६८॥

वह कन्या बोली—'तू मुझे किसी को देना नहीं, मैं तेरे घर में रहकर कल्याण करती रहूँगी' ॥६९॥

यह सुनकर भयभीत बनिये ने, उस कन्या को घर में ही छिपाकर रख दिया और बाहर उसके मर जाने की घोषणा कर दी। इस प्रकार, सोमप्रभा नाम की वह कन्या मनुष्य-शरीर और दिव्य कान्ति के साथ क्रमशः घर में ही बढ़ने लगी ॥७०॥

अपने घर की खिड़की से एक बार प्रसन्नता के कारण वसन्तोत्सव देखती हुई उस कन्या को गुहचन्द्र नामक वैश्यपुत्र ने देख लिया ॥७१॥

लगे हुए कामदेव के भाले की नोक के समान हृदय में धँसी हुई उसे देखकर वह मूर्च्छित-सा हो गया और अत्यन्त कठिनता से घर पहुँच सका ॥७२॥

काम-वेदना से अत्यन्त अस्वस्थ उस गुहचन्द्र ने, अत्यन्त आग्रह करने पर, अपनी अस्वस्थता का कारण अपने मित्र के द्वारा माता-पिता से कहलवाया ॥७३॥

तब उसका पिता, पुत्र-स्नेह के कारण उस कन्या की मँगनी करने के लिए धर्मगुप्त के घर पर गया ॥७४॥

इस प्रकार, अपनी वधू बनाने के लिए कन्या की प्रार्थना करते हुए गुहसेन को धर्मगुप्त ने यह कहकर निराश कर दिया कि 'मेरे यहाँ कन्या कहाँ है ? वह तो होकर मर गई' ॥७५॥

गुहसेन ने कन्या को घर में छिपाये हुए धर्मगुप्त को और कामज्वर से पीडित अपने पुत्र को देखकर गुहसेन ने सोचा—'मैं इस विषय में राजा से सहायता लेता हूँ, उसे प्रेरित करता हूँ; क्योंकि मैं पहले राजा की सेवा कर चुका हूँ। राजा अवश्य ही मेरे मरणासन्न पुत्र को कन्या दिलवा देगा' ॥७६–७८॥

ऐसा निर्णय करके और एक उत्तम रत्न राजा को भेंट कर उसने राजा से अपनी इच्छा प्रकट की ॥७९॥

नृपोऽपि प्रीतिमानस्य साहाय्ये नगराधिपम् ।
ददौ तेन समं चासौ धर्मगुप्तगृहं ययौ ॥८०॥
रुरोध च गृहं तस्य धर्मगुप्तस्य तद्बलैः ।
असुभिः कण्ठदेशं च सर्वनाशविशङ्किनः ॥८१॥
ततः सोमप्रभा सा तं धर्मगुप्तमभाषत ।
देहि मां तात माऽभूत्ते मन्निमित्तमुपद्रवः ॥८२॥
आरोपणीया शय्यायां नाहं भर्त्रा कदाचन ।
ईदृक्तु वाचा नियमो ग्राह्यः सम्बन्धिनां त्वया ॥८३॥
इत्युक्तः स तया पुत्र्या दातुं तां प्रत्यपद्यत ।
धर्मगुप्तस्तदाभाष्य शय्यारोपणवर्जनम् ॥८४॥
गुहसेनोऽनुमेने च सान्तर्हासस्तथैव तत् ।
विवाहो मम पुत्रस्य तावदस्त्विति चिन्तयन् ॥८५॥
अथादाय कृतोद्वाहां तां स सोमप्रभां वधूम् ।
गुहसेनसुतः प्रायाद् गुहचन्द्रो निजं गृहम् ॥८६॥
सायं चैनं पितावादीत् पुत्र शय्यामिमां वधूम् ।
आरोपय स्वभार्या हि कस्याशय्या भविष्यति ॥८७॥
तच्छ्रुत्वा श्वसुरं तं सा वधूः सोमप्रभा क्रुधा ।
विलोक्य भ्रामयामास यमाज्ञामिव तर्जनीम् ॥८८॥
तां दृष्ट्वैवाङ्गुलिं तस्याः स्नुषायास्तस्य तत्क्षणम् ।
वणिजः प्रययुः प्राणा अन्येषामाययौ भयम् ॥८९॥
गुहचन्द्रोऽपि सम्प्राप्ते तस्मिन् पितरि पञ्चताम् ।
मारी मम गृहे भार्या प्रविष्टेति व्यचिन्तयत् ॥९०॥
ततश्चानुपभुञ्जानो भार्यां तां गृहवर्त्तिनीम् ।
सिषेवे गुहचन्द्रोऽसावासिधारमिव व्रतम् ॥९१॥
तद्दुःखदह्यमानोऽन्तर्विरक्तो भोगसम्पदि ।
ब्राह्मणान् भोजयामास प्रत्यहं स कृतव्रतः ॥९२॥
तद्भार्यापि च सा तेभ्यो द्विजेभ्यो मौनधारिणी ।
भुक्तवद्भ्यो ददौ नित्यं दक्षिणां दिव्यरूपधृक् ॥९३॥
एकदा ब्राह्मणो वृद्धस्तामेको भोजनागतः ।
ददर्श जगदाश्चर्यजननीं रूपसम्पदा ॥९४॥
सकौतुको द्विजोऽप्राक्षीद् गुहचन्द्रं रहस्तदा ।
का ते भवति बालेयं त्वया मे कथ्यतामिति ॥९५॥

राजा का भी उसके प्रति स्नेह था, अतः उसने नगर के कोतवाल को गुहसेन के साथ कर दिया और उसने उसके साथ धर्मगुप्त का घर घेर लिया तथा साथ ही, सर्वनाश की शंका से भयभीत धर्मगुप्त के प्राणों ने उसके गले को घेर लिया ॥८०–८१॥

पिता की इस स्थिति को देखकर सोमप्रभा ने उससे कहा कि 'तुम मुझे दे दो, मेरे लिए यह उपद्रव हो रहा है, किन्तु यह शर्त्त लगा दो कि मेरा पति, मुझे शैया पर कभी न चढ़ावे'। ऐसी मौखिक शर्त्त तुम समधी से करा लो ॥८२–८३॥

कन्या के इस प्रकार कहने पर धर्मगुप्त ने शर्त्त के साथ कन्या का देना स्वीकार कर लिया। गुहसेन ने मन-ही-मन हँसते हुए उसकी शर्त्त स्वीकार कर ली कि किसी प्रकार मेरे लड़के का विवाह तो हो, फिर देखा जायगा ॥८४-८५॥

तदनन्तर, गुहसेन का पुत्र गुहचन्द्र, विवाह करके सोमप्रभा को लेकर अपने घर आ गया ॥८६॥

सायंकाल होने पर गुहसेन ने, अपने पुत्र से कहा कि 'बेटा, तुम इसे शय्या पर चढ़ा लो। किसकी पत्नी शय्या पर नहीं चढ़ती ॥८७॥

श्वसुर की ऐसी बात सुनकर सोमप्रभा ने क्रोध से अपनी तर्जनी अंगुली को यमराज की आज्ञा के समान घुमाया ॥८८॥

बहू की उस घूमती हुई उंगली को देखकर ससुर के प्राण उसी समय निकल गये। पिता के मरने पर गुहचन्द्र ने भी समझा कि यह स्त्री महामारी के रूप में मेरे घर आ गई है ॥८९-९०॥

अतः, उसका सेवन न करके घर में रहती हुई भी उससे दूर रहकर वह मानों असिधाराव्रत का पालन करता था ॥९१॥

उस दुःख से दुःखी गुहचन्द्र, सांसारिक भोगों से विरक्त होकर प्रतिदिन व्रत करता और ब्राह्मणों को भोजन कराता था ॥९२॥

उसकी दिव्यरूप-धारिणी स्त्री भी मौनव्रत धारण करती हुई भोजन किये हुए ब्राह्मणों को दक्षिणा देती थी ॥९३॥

एक दिन, भोजन के लिए आये हुए एक बूढ़े ब्राह्मण ने, संसार को चकित करनेवाले अनुपम सौन्दर्यशालिनी उस स्त्री को देखा। और, एकान्त में गुहचन्द्र से पूछा कि 'यह बालिका तुम्हारी कौन है? मुझे बताओ' ॥९४–९५॥

निर्बन्धपृष्टः सोऽप्यस्मै गुहचन्द्रो द्विजन्मने ।
शशंस तद्‌गतं सर्वं वृत्तान्तं खिन्नमानसः ॥९६॥
तद्‌बुद्ध्वा स ततस्तस्मै सानुकम्पो द्विजोत्तमः ।
अग्नेराराधनं मन्त्रं ददावीप्सितसिद्धये ॥९७॥
तेन मन्त्रेण तस्याऽथ जपं रहसि कुर्वतः ।
उदभूद् गुहचन्द्रस्य पुरुषो वह्निमध्यतः ॥९८॥
स चाग्निर्द्विजरूपी तं जगाद चरणानतम् ।
अद्यहं त्वद्‌गृहे भोक्ष्ये रात्रौ स्थास्यामि तत्र च ॥९९॥
दर्शयित्वा च तत्त्वं ते साधयिष्यामि वाञ्छितम् ।
इत्युक्त्वा गुहचन्द्रं स ब्राह्मणस्तद्‌गृहं ययौ ॥१००॥
तत्रान्यविप्रवद् भुक्त्वा गुहचन्द्राऽन्तिके च सः ।
सिषेवे शयनं रात्रौ याममात्रमतन्द्रितः ॥१०१॥
तावच्च संसुप्तजनात् सा तस्मात्तस्य मन्दिरात् ।
निर्ययौ गुहचन्द्रस्य भार्या सोमप्रभा निशि ॥१०२॥
तत्कालं ब्राह्मणः सोऽत्र गुहचन्द्रमबोधयत् ।
एहि स्वभार्यावृत्तान्तं पश्येत्येनमुवाच च ॥१०३॥
योगेन भृङ्गरूपं च कृत्वा तस्यात्मनस्तथा ।
निर्गत्यादर्शयत्तस्य भार्यां तां गृहनिर्गताम् ॥१०४॥
सा जगाम सुदूरं च सुन्दरी नगराद् बहिः ।
गुहचन्द्रेण साकं च द्विजोऽप्यनुजगाम ताम् ॥१०५॥
ततस्तत्र महाभोगं सच्छायस्कन्धसुन्दरम् ।
गुहचन्द्रो ददर्शासावेकं न्यग्रोधपादपम् ॥१०६॥
तस्याधस्ताच्च शुश्राव वीणावेणुरवान्वितम् ।
उल्लसद्‌गीतमधुरं दिव्यं सङ्गीतकध्वनिम् ॥१०७॥
स्कन्धदेशे च तस्यैकां स्वभार्यासदृशाकृतिम् ।
अपश्यत् कन्यकां दिव्यामुपविष्टां महासने ॥१०८॥
निजकान्तिजितज्योत्स्नां शुक्लचामरवीजिताम् ।
इन्दोर्लावण्य-सर्वस्व-कोषस्येवाधिदेवताम् ॥१०९॥
अत्रैवारुह्य वृक्षे च तस्या अर्धासने तदा ।
उपविष्टां स्वभार्यां तां गुहचन्द्रो ददर्श सः ॥११०॥

आग्रहपूर्वक बार-बार पूछने पर गुहचन्द्र ने दुःखित मन से उस सोमप्रभा का सारा वृत्तान्त सुना दिया ॥९६॥

सारा समाचार सुनकर उसपर दयालु ब्राह्मण ने उससे कहा कि 'मैं तुम्हे अग्नि की उपासना का मन्त्र देता हूँ, जिससे तुम्हारी कामना पूरी होगी' ॥९७॥

इस प्रकार, एकान्त में जप करते हुए गृहचन्द्र के सम्मुख अग्नि के मध्य से एक पुरुष निकला ॥९८॥

वह ब्राह्मण-रूपी अग्निदेवता, चरण में पड़े हुए गुहचन्द्र से बोला—'आज मैं तुम्हारे घर में भोजन करूँगा और रात में यहीं रहूँगा' और तुम्हें तत्त्व बताकर तुम्हारा कार्य करूँगा ॥९९–१००॥

इस प्रकार, दूसरे ब्राह्मणों की भाँति गुहचन्द्र के यहाँ भोजन करके वह ब्राह्मण उसी के पास सावधानता से एक पहर तक सोया। कुछ समय के अनन्तर घर के सब लोगों के गाढ़ी निद्रा में सो जाने पर गुहचन्द्र की स्त्री सोमप्रभा रात में घर से निकली ॥१०१-१०२॥

उसी समय उस ब्राह्मण ने गुहचन्द्र को जगाया और कहा कि 'आओ, अपनी स्त्री का हाल देखो'। योगशक्ति से उसे और अपने को भौंरे का रूप बनाकर उसके घर से निकली हुई उसकी स्त्री को दिखाया ॥१०३–१०४॥

वह सुन्दरी, घर से निकलकर, नगर के बाहर दूर तक चली गई। वह ब्राह्मण भी गुहचन्द्र के साथ उसके पीछे-पीछे चला ॥१०५॥

नगर के बाहर गुहचन्द्र ने, विशाल विस्तृत तनोंवाले तथा छायावाली शाखाओं से युक्त और निकलती हुई मधुर संगीत-ध्वनि से युक्त एक वट-वृक्ष को देखा। उस वृक्ष के नीचे उसने वीणा और बाँसुरी के मधुर स्वर से युक्त दिव्य संगीत-ध्वनि सुनी। उस वृक्ष की एक विशाल शाखा पर अपनी पत्नी (सोमप्रभा) के समान आकृतिवाली दिव्यकन्या को एक ऊँचे आसन पर बैठे हुए देखा। वह दिव्यकन्या, अपनी उज्ज्वल कान्ति से चाँदनी को जीत रही थी और उसके दोनों ओर धवल चाँवर डुल रहे थे। वह कन्या मानों चन्द्रमा के लावण्य-कोष (खजाने) की अधिष्ठात्री देवी थी ॥१०६–१०९॥

गुहचन्द्र ने देखा कि उसकी पत्नी सोमप्रभा भी वृक्ष पर चढ़कर उसी प्रकार उसके आधे आसन पर जा बैठी ॥११०॥

तत्कालं तुल्यकान्ती ते सङ्गते दिव्यकन्यके ।
पश्यतस्तस्य भाति स्म सा त्रिचन्द्रेव यामिनी ॥१११॥
ततः स कौतुकाविष्टः क्षणमेवमचिन्तयत् ।
किं स्वप्नोऽयमुत भ्रान्तिर्धिगेतदथवा द्वयम् ॥११२॥
या सन्मार्गतरोरेषा विद्वत्सङ्गतिमञ्जरी ।
असौ पुष्पोद्गतिस्तस्या ममोचितफलोन्मुखी ॥११३॥
इति चिन्तयति स्वैरं तस्मिंस्ते दिव्यकन्यके ।
भुक्त्वा निजोचितं भोज्यं दिव्यं पपतुरासवम् ॥११४॥
अद्यागतो महातेजा द्विजः कोऽपि गृहेषु नः ।
तस्माद् भगिनि चेतो मे शङ्कितं तद् व्रजाम्यहम् ॥११५॥
इत्युक्त्वा तामथामन्त्र्य द्वितीयां दिव्यकन्यकाम् ।
गुहचन्द्रस्य गृहिणी तरोरवरुरोह सा ॥११६॥
तद्दृष्ट्वा भृङ्गरूपौ तौ गुहचन्द्रो द्विजश्च सः ।
प्रत्यागत्याग्रतो गेहे पूर्ववत्तस्थतुर्निशि ॥११७॥
ततः सा दिव्यकन्याऽपि गुहचन्द्रस्य गेहिनी ।
आगत्यालक्षितात्रैव प्रविवेश स्वमन्दिरम् ॥११८॥
ततः स ब्राह्मणः स्वैरं गुहचन्द्रभाषत ।
दृष्टं त्वया यदेषा ते भार्या दिव्या न मानुषी ॥११९॥
द्वितीया सापि चैतस्या दृष्टाद्य भगिनी त्वया ।
दिव्या स्त्री तु मनुष्येण कथमिच्छति सङ्गमम् ॥१२०॥
तदेतत्सिद्धये मन्त्रं द्वारोल्लेख्यं ददामि ते ।
तस्योपबृंहणीं बाह्यां युक्तिं चोपदिशाम्यहम् ॥१२१॥
विशुद्धोऽपि ज्वलत्यग्निर्वात्यायोगे तु का कथा ।
एवं मन्त्रोऽर्थदोऽप्येकः किं पुनर्युक्तिसंयुतः ॥१२२॥
इत्युक्त्वा गुहचन्द्राय दत्वा मन्त्रं द्विजोत्तमः ।
उपदिश्य च तां युक्तिं प्रभाते स तिरोदधे ॥१२३॥
गुहचन्द्रोऽपि भार्याया गृहद्वारोऽभिलिख्य तम् ।
मन्त्रं पुनश्चकारैवं सायं युक्तिं प्ररोचनीम् ॥१२४॥
गत्वा स तस्याः पश्यन्त्या कयापि वरयोषिता ।
सह चक्रे समालापं रचितोदारमण्डनः ॥१२५॥
तद्दृष्ट्वैव तमाहूय मन्त्रोन्मुद्रितया गिरा ।
एषा कास्तीति पप्रच्छ सेर्ष्या सा दिव्यकन्यका ॥१२६॥
असौ वराङ्गनाबद्धभावा मय्यहमद्य च ।
एतद्गृहं व्रजामीति प्रत्यवोचत् स तां मृषा ॥१२७॥

उस समय एक समान सौन्दर्यवाली उन दोनों कन्याओं को एक साथ बैठे देखकर गुहचन्द्र को वह रात तीन चन्द्रवाली दीखती थी ।।१११।।

इस दृश्य को देखकर गुहचन्द्र सोचने लगा कि 'क्या वह स्वप्न है या भ्रम है अथवा दोनों हैं। मेरे सन्मार्ग-वृक्ष की जो विद्वत्संगति-रूपी मंजरी है, उसी में यह उचित फल देने वाला पुष्पोद्गम हुआ है'। वह जब ऐसा सोच ही रहा था कि उन दोनों दिव्य कन्याओं ने अपने योग्य भोजन करके आसव (मद्य) का पान प्रारम्भ किया। 'बहिन ! आज मेरे घर में कोई अति तेजस्वी ब्राह्मण आया है। इस कारण मैं शंकित हो रही हूँ। अतः, शीघ्र ही घर जाती हूँ।' ऐसा कहकर सोमप्रभा, दूसरी से पूछकर वृक्ष पर से नीचे उतरी ।।११२—११६।।

यह सब कुछ देखते हुए भ्रमर के रूप में विद्यमान गुहचन्द्र और ब्राह्मण पहले ही घर पर आकर रात में पहले के समान सो गये ।।११७-११८।।

तब उस ब्राह्मण ने, स्वस्थतापूर्वक गुहचन्द्र से कहा कि 'देखा तुमने, यह तुम्हारी पत्नी देव-जाति की है; मनुष्य-जाति की नहीं। उसकी दूसरी बहिन को भी तुमने देख लिया, अतः दिव्य स्त्री, मनुष्य के साथ संगम कैसे चाहेगी ? इसलिए इसकी सिद्धि के लिए मैं तुम्हें द्वार पर लिखने योग्य मन्त्र बताता हूँ। उसका प्रभाव बढ़ानेवाले बाहरी उपचार (उपाय) भी तुम्हें बताता हूँ। जैसे आग अकेले ही जलती है और जलाने की शक्ति रखती है, यदि उसे वायु मिल जाय, तो क्या कहना ? उसी प्रकार अकेला मन्त्र ही सिद्धि प्रदान करता है, यदि उसके साथ और उपाय भी किये जायँ, तो फिर क्या कहना है ?' ऐसा कहकर, गुहचन्द्र को मन्त्र बताकर और उसकी युक्ति समझाकर वह ब्राह्मण, प्रातःकाल ही अन्तर्धान हो गया ।।११६—१२३।।

गुहचन्द्र ने भी पत्नी के गृह-द्वार पर वह मन्त्र लिख दिया और सायंकाल ब्राह्मण के बताये उपाय का प्रयोग किया। तदनन्तर, गुहचन्द्र अपनी पत्नी के देखते-ही-देखते खूब सजधज के साथ किसी वेश्या से वार्त्तालाप करने लगा ।।१२४-१२५।।

उस वेश्या को देखकर मन्त्र के प्रभाव से मौन सोमप्रभा ने गुहचन्द्र को बुलाकर ईर्ष्या के साथ पूछा कि यह कौन है ? गुहचन्द्र ने उससे झूठ ही कहा कि 'यह एक वेश्या है, जो मुझसे प्रेम करती है और मैं भी इससे प्रेम करता हूँ, अब उसी के घर जा रहा हूँ' ।।१२६-१२७।।

ततः .साचीकृतदृशा मुखेन वलितभ्रुवा ।
दृष्ट्वा निवार्य वामेन करेण तमुवाच सा ।।१२८।।
हुं ज्ञातमेतदर्थोऽयं वेषस्तत्र च मा स्म गाः ।
किं तया मामुपेहि त्वमहं हि तव गेहिनी ।।१२९।।
इत्युक्तः पुलकोत्कम्पसंक्षोभाकुलया तया ।
आविष्टयेव तन्मन्त्रदूतदुर्ग्रहयापि सः ।।१३०।।
प्रविश्य वासके सद्यस्तयैव सममन्वभूत् ।
मर्त्योऽपि दिव्यसम्भोगमसंस्पृष्टं मनोरथैः ।।१३१।।
इत्थं तां प्राप्य सप्रेमां मन्त्रसिद्धिप्रसाधिताम् ।
त्यक्तदिव्यस्थितिं तस्थौ गुहचन्द्रो यथासुखम् ।।१३२।।
एवं यागप्रदानादिसुकृतैः शुभकर्मणाम् ।
दिव्याः शापच्युता नार्यस्तिष्ठन्ति गृहिणीपदे ।।१३३।।
देवद्विजसपर्या हि कामधेनुर्मता सताम् ।
किं हि न प्राप्यते तस्याः शेषाः सामादिवर्णनाः ।।१३४।।
दुष्कृतं त्वयि दिव्यानामत्युच्चपदजन्मनाम् ।
प्रवातमिव पुष्पाणामधःपातैककारणम् ।।१३५।।
इत्युक्त्वा राजपुत्र्याः स पुनराह वसन्तकः ।
किं चात्र यदहल्याया वृत्तं तच्छ्रूयतामिदम् ।।१३६।।

अहल्याकथा

पुराभूद् गौतमो नाम त्रिकालज्ञो महामुनिः ।
अहल्येति च तस्यासीद् भार्या रूपजिताप्सराः ।।१३७।।
एकदा रूपलुब्धस्तामिन्द्रः प्रार्थितवान् रहः ।
प्रभूणां हि विभूत्यन्धा धावत्यविषये मतिः ।।१३८।।
सानुमेने च तं मूढा वृषस्यन्ती शचीपतिम् ।
तच्च प्रभावतो बुद्ध्वा तत्रागाद् गौतमो मुनिः ।।१३९।।
मार्जाररूपं चक्रे च भयादिन्द्रोऽपि तत्क्षणम् ।
कः स्थितोऽत्रेति सोऽपृच्छदहल्यामथ गौतमः ।।१४०।।
एसो[1] ठिओ खु मज्जारो इत्यपभ्रष्टवक्रया ।
गिरा सत्यानुरोधिन्या सा तं प्रत्यब्रवीत्पतिम् ।।१४१।।

---

१. 'एष स्थितः खलु मार्जार' इतिच्छाया ।

तब भौंहें चढ़ाकर आँखें तिरछी करके और बायें हाथ से उसे रोककर सोमप्रभा ने कहा—'हूँ, अब मैंने समझा, वेश्या के यहाँ जाने के लिए तुमने यह वेष पहना है, अब तुम वहाँ न आओ, मेरे पास आओ, मैं तुम्हारी पत्नी हूँ' ॥१२८–१२९॥

रोमांच, कम्पन और व्याकुलता से भरी एवं मन्त्ररूपी दूत द्वारा प्रेरित उस सोमप्रभा के ये वचन सुनकर गुहचन्द्र उसके कमरे में जाकर मन से भी दुर्लभ दिव्य भोगकर सुख अनुभव करने लगा ॥१३०–१३१॥

इस प्रकार, मन्त्रद्वारा सिद्ध की गई सप्रेम और दिव्य स्थिति को छोड़कर रहती हुई सोमप्रभा को उसे प्राप्त कर गुहचन्द्र सुखपूर्वक रहने लगा ॥१३२॥

इस प्रकार यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मों के प्रभाव से दिव्यता को प्राप्त कर शाप-भ्रष्ट होने के कारण स्त्रियाँ गृहिणी का पद प्राप्त करती हैं ॥१३३॥

देवता और ब्राह्मणों की पूजा सज्जनों के लिए कामधेनु के समान है। उससे क्या प्राप्त नहीं होता ? अर्थात्, सब कुछ प्राप्त होता है। जिस प्रकार आँधी अत्यन्त ऊँचे दिव्य स्थान पर जन्म लेनेवाले पुष्पों के अधःपात का कारण होती है, उसी प्रकार तुम्हारे लिए पाप-कर्म अधःपात के कारण होते हैं ॥१३४–१३५॥

राजकुमारी से इस प्रकार कहा गया विदूषक वसन्तक बोला—इस प्रसंग में मैंने अहल्या की कथा सुनी है, सुनो ॥१३६॥

इन्द्र और अहल्या की कथा

प्राचीन युग में त्रिकालज्ञ गौतम नामक एक महामुनि थे। अप्सराओं से भी अधिक रूपवती अहल्या नाम की उनकी पत्नी थी ॥१३७॥

एक बार उसकी सुन्दरता से मोहित हो इन्द्र ने उससे एकान्त की प्रार्थना की; क्योंकि वैभव से अन्धे राजाओं की बुद्धि अनुचित कार्यों की ओर दौड़ जाती है। इन्द्र को चाहती हुई उस मूर्खा ने, उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। तप के प्रभाव से इस बात को जानकर गौतम मुनि, उसी समय वहाँ आ गये। उनके भय से इन्द्र ने उसी समय मार्जार (बिल्ली) का रूप धारण कर लिया, तदनन्तर गौतम ने अहल्या से पूछा कि यहाँ कौन है ? उसने अपभ्रंश-भाषा में सत्य का ध्यान रखते हुए कहा यह 'मज्जार'[1] है ॥१३८—१४१॥

---

१. अपभ्रंश-भाषा में मार्जार (बिल्ली) का रूप 'मज्जार' होता है और संस्कृत में उसका 'मत्=मेरा, जार=यार' यह अर्थ होता है। अतः, अहिल्या ने अपभ्रंश-भाषा में जो असत्य कहा था, संस्कृत-भाषा में वह सत्य हो गया कि 'मेरा जार' है।—अनु०

सत्यं त्वज्जार इत्युक्त्वा विहसन्स ततो मुनिः ।
सत्यानुरोधक्लृप्तान्तं शापं तस्यामपातयत् ॥१४२॥
पापशीले ! शिलाभावं भूरिकालमवाप्नुहि ।
आ वनान्तरसञ्चारिराघवालोकनादिति ॥१४३॥
वराङ्गलुब्धस्याङ्गे[1] ते तत्सहस्रं[2] भविष्यति ।
दिव्यस्त्रीं विश्वकर्मा यां निर्मास्यति तिलोत्तमाम् ॥१४४॥
तां विलोक्य तदैवाक्ष्णां सहस्रं भविता च ते ।
इतीन्द्रमपि तत्कालं शपति स्म स गौतमः ॥१४५॥
दत्तशापो यथाकामं तपसे स मुनिर्ययौ ।
अहल्यापि शिलाभावं दारुणं प्रत्यपद्यत ॥१४६॥
इन्द्रोऽप्यावृत्तसर्वाङ्गो वराङ्गैरभवत्ततः ।
अशीलं कस्य नाम स्यान्न खलीकारकारणम् ॥१४७॥
एवं कुकर्म सर्वस्य फलत्यात्मनि सर्वदा ।
यो यद् वपति बीजं हि लभते सोऽपि तत्फलम् ॥१४८॥
तस्मात्परविरुद्धेषु नोत्सहन्ते महाशयाः ।
एतदुत्तमसत्त्वानां विधिसिद्धं हि सद्व्रतम् ॥१४९॥
युवां पूर्वभगिन्यौ च देव्यौ शापच्युते उभे ।
तद्वदन्योन्यहितकृन्निर्द्वन्द्वं हृदयं हि वाम् ॥१५०॥
एतद्वसन्तकाच्छ्रुत्वा मिथो वासवदत्तया ।
पद्मावत्या च सुतरामीर्ष्यालेशोऽप्यमुच्यत ॥१५१॥
देवी वासवदत्ता च कृत्वा साधारणं पतिम् ।
आत्मनीव प्रियं चक्रे पद्मावत्यां हितोन्मुखी ॥१५२॥
तस्या महानुभावत्वं तत्तादृङमगधेश्वरः ।
बुद्ध्वा पद्मावतीसृष्टदूतेभ्योऽपि तुतोष सः ॥१५३॥
अन्येद्युरथ वत्सेशं मन्त्री यौगन्धरायणः ।
उपेत्य सन्निधौ देव्याः स्थितेष्वन्येष्वभाषत ॥१५४॥
उद्योगायाधुना देव कौशाम्बी किं न गम्यते ।
नाशङ्का मगधेशाच्च विद्यते वञ्चितादपि ॥१५५॥

---

१. वराङ्गः—स्त्रियः प्रजननेन्द्रियम् ।
२. भग सहस्रमित्यर्थः ।

हँसते हुए मुनि ने कहा कि सचमुच यह तुम्हारा जार है। ऐसा कहकर मुनि ने उसे शाप दिया, परन्तु उसने सत्य का ध्यान रखते हुए छल से कहा था, इसलिए मुनि ने उसके शाप का अन्त भी कहा १४१।।

'हे दुराचारिणी ! वन में घूमते हुए रामचन्द्र के दर्शन-पर्यन्त तू पत्थर हो जा, साथ ही इन्द्र को भी शाप दिया कि जिस स्त्री-वरांग[1] के लोभ से तूने पाप किया है, उस अंग के तेरे शरीर में हजारों चिह्न हो जायेंगे। इस प्रकार, दोनों को शाप देकर मुनि स्वेच्छा से तपस्या करने चले गये। अहल्या भी कठोर शिला बन गई, इन्द्र का शरीर भी चारों ओर से स्त्री-योनि के चिह्नों से भर गया। दुश्चरित्रता किसकी दुर्गति का कारण नहीं होती ।।१४२–१४७।।

इसी प्रकार मनुष्य, जीवन में जो भी कुकर्म करता है, उसका फल उसे जीवन में ही भोगना पड़ता है। जो जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है ।।१४८।।

इसलिए, उदार चित्तवाले व्यक्ति दूसरों के विरुद्ध कार्यों में प्रवृत्त नहीं होते। उच्च कोटि के व्यक्तियों का यह स्वाभाविक नियम है ।।१४९।।

तुम दोनों महारानियाँ पूर्वजन्म की दिव्य बहिनें हो, किसी शाप के कारण मर्त्यलोक में आ गई हो, उसी प्रकार तुम दोनों के हृदय परस्पर सन्देह-रहित एवं शुद्ध हैं ।।१५०।।

वसन्तक से इस प्रकार सुनकर दोनों रानियों के हृदय में जो थोड़ी ईर्ष्या की क्षीण रेखा-सी थी, वह भी उन्होंने मिटा दी ।।१५१।।

महारानी वासवदत्ता भी पति को दोनों के लिए समान मानकर पद्मावती को इसमें उसी प्रकार उद्यत रखती थी, जैसे आत्महित में ।।१५२।।

मन में कुछ शंकित मगध-नरेश ने भी रानी की महानुभावता का परिचय उसके भेजे हुए दूतों से जानकर सन्तोष प्रकट किया ।।१५३।।

किसी दिन, महामन्त्री यौगन्धरायण, महारानियों तथा अन्य स्नेही मित्रों के साथ बैठे हुए वत्सराज के समीप आकर बोला—'महाराज ! अब कौशाम्बी क्यों नहीं चलते ? अब तो ठगे हुए भी मगध-नरेश से किसी प्रकार की शंका नहीं है ।।१५४–१५५।।

---

१. वर+अंग=उत्तम अंग, स्त्री की जननेन्द्रिय।

कन्यासम्बन्धनाम्ना हि साम्ना सम्यक्स बाधितः ।
विगृह्य च कथं जह्याज्जीवितादधिकां सुताम् ॥१५६॥
सत्यं तस्यानुपाल्यं च त्वया च स न वञ्चितः ।
मया स्वयं कृतं ह्येतन्न च तस्यासुखावहम् ॥१५७॥
चारेभ्यश्च मया ज्ञातं तथा विकुरुते न सः ।
तदर्थमेव चास्माभिः स्थितं च दिवसानमून् ॥१५८॥

एवं वदति निर्व्यूढकार्ये यौगन्धरायणे ।
मगधेश्वरसम्बन्धी दूतोऽत्र समुपाययौ ॥१५९॥
तत्क्षणं स प्रविष्टोऽत्र प्रतीहारनिवेदितः ।
प्रणामान्तरमासीनो वत्सराजं व्यजिज्ञपत् ॥१६०॥
देवीपद्मावतीदत्तसन्देशपरितोषिणा ।
मगधेशेन निर्दिष्टमिदं देवस्य साम्प्रतम् ॥१६१॥
बहुना किं मया सर्वं ज्ञातं प्रीतोऽस्मि च त्वयि ।
तद्यदर्थोऽयमारम्भस्तत्कुरु प्रणता वयम् ॥१६२॥
एतद्दूतवचः स्वच्छं वत्सेशोऽभिननन्द सः ।
यौगन्धरायणीयस्य पुष्पं नयतरोरिव ॥१६३॥
ततः पद्मावतीं राज्ञ्या समानाय्य समं तया ।
तं दत्तप्राभृतं दूतं स सम्मान्य व्यसर्जयत् ॥१६४॥
अथ चण्डमहासेनदूतोऽप्यत्र समाययौ ।
प्रविश्य स यथावच्च राजानं प्रणतोऽब्रवीत् ॥१६५॥
देव चण्डमहासेनभूपतिः कार्यतत्त्ववित् ।
तव विज्ञातवृत्तान्तो हृष्टः सन्दिष्टवानिदम् ॥१६६॥
प्राशस्त्यं भवतस्तावदियतैवोपवर्णितम् ।
यौगन्धरायणो यत्ते मन्त्री किमधिकोक्तिभिः ॥१६७॥
धन्या वासवदत्ता तु त्वद्भक्त्या तत्कृतं तया ।
येनास्माभिः सतां मध्ये चिरमुन्नमितं शिरः ॥१६८॥
न च वासवदत्तातो भिन्ना पद्मावती मम ।
तयोरेकं हि हृदयं तच्छीघ्रं कुरुतोद्यमम् ॥१६९॥

कन्या-सम्बन्ध नामक सन्धि से मगधेश बाधित हो गया है, अतः विरोध करके प्राणों से भी अधिक प्यारी पुत्री से कैसे हाथ धो लेगा ॥१५६॥

उसे अपने सत्य का पालन करना चाहिए और तुम्हें भी। वास्तव में तुमने तो उसे ठगा नहीं। उसके लिए जो कुछ किया, मैंने किया; किन्तु वह भी उसके लिए दुःखकारक नहीं है ॥१५७॥

इतने दिनों तक मैं गुप्तचरों से यह जानने का यत्न कर रहा था कि वह इस घटना के कारण विरुद्ध-क्रिया तो नहीं कर रहा है। इसीलिए, हम इतने दिनों तक यहाँ ठहरे भी रहे ॥१५८॥

इस प्रकार, उत्तरदायित्व की रक्षा करनेवाले यौगन्धरायण के कहते ही मगधराज का दूत वहाँ आ पहुँचा ॥१५९॥

पहरेदार के द्वारा सूचना प्राप्त होने पर उसी समय अन्दर बुलाये गये और प्रणाम करके बैठे हुए मगध-दूत ने निवेदन किया ॥१६०॥

रानी पद्मावती द्वारा भेजे गये जवाबी सन्देश से सन्तोष प्रकट करते हुए मगधेश ने, महाराजा को यह कहा है—'अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, मैंने सब कुछ जान लिया है, तुमपर प्रसन्न हूँ, जिस कार्य के लिए यह सब प्रयत्न किया गया है, उसे प्रारम्भ करो। मैं तो तुम्हारे लिए नम्र हूँ, अर्थात् अब तुम्हारा साथी हूँ ॥१६१-१६२॥

उदयन ने, मगधेश के इस स्पष्ट निर्देश का अभिनन्दन किया। यह सन्देश मानों यौगन्धरायण के नीति-वृक्ष के उगे हुए पुष्प के समान था ॥१६३॥

तब यौगन्धरायण ने उदयन के द्वारा पद्मावती को वहीं बुलाकर उसके साथ ही दूत को उपहार, पुरस्कार आदि के द्वारा सत्कृत करके विदा किया ॥१६४॥

इसके अनन्तर ही उज्जयिनी से चण्डमहासेन का भी दूत आ गया, नियमानुसार राजा के सामने प्रस्तुत होकर और प्रणाम करके बोला—"महाराज ! आपकी वास्तविक स्थिति को जानते हुए राजा चण्डमहासेन ने प्रसन्नता के साथ सन्देश दिया है कि आपका महत्त्व इसी से विदित होता है कि आपका मन्त्री यौगन्धरायण है। इससे अधिक और क्या कहा जाय। बेटी वासवदत्ता भी धन्य है, जिसके कारण सज्जन-समाज में हमारा सिर ऊँचा हुआ है। मेरे लिए पद्मावती वासवदत्ता से दूसरी नहीं है। उन दोनों का हृदय एक ही है, इसलिए शीघ्र अपने उद्योग का प्रारम्भ करें" ॥१६५–१६६॥

एतन्निजश्वशुरदूतवचो निशम्य
　　वत्सेश्वरस्य हृदये सपदि प्रमोदः ।
देव्यां च कोऽपि ववृधे प्रणयप्रकर्षो
　　भूयांश्च मन्त्रिवृषभे प्रणयानुबन्धः ॥१७०॥
ततस्तं देवीभ्यां सममुचितसत्कारविधिना
　　कृतातिथ्यं दूतं सरभसमनाः प्रेष्य मुदितम् ।
विधास्यन्नुद्योगं त्वरितमथ सम्मन्त्र्य सचिवैः
　　स चक्रे कौशाम्बीं प्रति गमनबुद्धिं नरपतिः ॥१७१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे लावाणकलम्बके तृतीयस्तरङ्गः ।

चतुर्थस्तरङ्गः

वत्सराजस्य कौशाम्बीं प्रति प्रत्यावर्तनम्

ततो लावाणकात्तस्मादन्येद्युः सचिवैः सह ।
वत्सराजः स कौशाम्बीं प्रतस्थे दयितान्वितः ॥१॥
प्रसस्रे च लसन्नादैस्तस्यापूरितभूतलैः ।
बलैरसमयोद्वेलजलराशिजलैरिव ॥२॥
उपमा[1] नृपतेस्तस्य गजेन्द्रस्थस्य गच्छतः ।
भवेद्यदि रविर्यायाद् गगने सोदयाचलः ॥३॥
स सितेनातपत्रेण कृतच्छायो बभौ नृपः ।
जितार्कतेजः प्रीतेन सेव्यमान इवेन्दुना ॥४॥
तेजस्विनं स्वकक्षाभिस्तं सर्वोपरिवर्त्तिनम् ।
सामन्ताः परितो भ्रेमुर्ध्रुवं ग्रहगणा इव ॥५॥
पश्चात्करेणुकारूढे देव्यौ द्वे तस्य रेजतुः ।
श्रीभुवावनुरागेण साक्षादनुगते इव ॥६॥

---

१. अत्र 'अद्भुतोपमालङ्कारः । यथा च काव्यादर्श—यदि सुभ्रु ! भवेत् किञ्चित् पद्मं विभ्रान्तलोचनम् । तत्ते मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्भुतोपमा—इति ॥

अपने श्वसुर के इस प्रकार के वचन सुनकर वत्सराज का हृदय आनन्द से भर गया, महारानी वासवदत्ता पर प्रेम बढ़ गया और मन्त्री यौगन्धरायण पर भी स्नेह दृढ़ हो गया ।।१७०।।

तदनन्तर, दोनों महारानियों के साथ उस दूत का सम्मान-सहित विदा करके उत्साहित-हृदय वत्सराज ने मन्त्रियों से परामर्श करके दिग्विजय-यात्रा के प्रबन्ध में कौशाम्बी जाने का निश्चय किया ।।१७१।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-रचित कथासरित्सागर के लावाणक लम्बक का तृतीय तरंग समाप्त ।

चतुर्थ तरंग

वत्सराज का कौशाम्बी में पुनरागमन

तदनन्तर, एक दिन वत्सराज ने अपनी पत्नियों तथा मन्त्रियों के साथ लावाणक से कौशाम्बी की ओर प्रस्थान किया ।।१।।

असमय में उछलती हुई समुद्र की लहरों के समान कोलाहल से दिशाओं को गुंजित करती हुई उसकी सेनाओं ने साथ ही प्रस्थान किया ।।२।।

यदि सूर्य उदयाचल पर्वत के साथ आकाश में गमन करे, तो हाथी पर बैठे हुए राजा उदयन की उपमा उससे दी जा सके[१] ।।३।।

सिर पर लगे हुए श्वेत छत्र से ऐसा मालूम होता था कि राजा ने सूर्य के तेज को जीत लिया था; इसलिए प्रसन्न होकर चन्द्रमा मानों छत्र के व्याज से राजा की सेवा कर रहा था ।।४।।

उस सर्वोपरि विराजमान (हाथी पर बैठे हुए) तेजस्वी उदयन के चारों ओर सामन्तगण, इस प्रकार चक्कर लगा रहे थे जैसे अन्य ग्रह, ध्रुव-नक्षत्र के चारों ओर भ्रमण करते हैं ।।५।।

राजा के पीछे हथिनियों पर बैठी हुई दोनों रानियाँ, लक्ष्मी और पृथ्वी के समान, राजा का अनुगमन कर रही थीं ।।६।।

---

१. इसका नाम अद्भुतोपमा है। उसका उदाहरण दण्डी के 'काव्यादर्श' में इस प्रकार है—हे सुभ्रु ! यदि सुन्दर नेत्रोंवाला कमल हो, तो तेरे मुँह की शोभा धारण कर सके। काव्यप्रकाशकार ने इस अलंकार को अतिशयोक्ति का एक भेद माना है।—अनु०

त्वङ्गत्तुरङ्गसङ्घातखुराग्राङ्कनखक्षता ।
पथि तस्याभवद्भूमिरुपभुक्तेव भूपतेः ॥७॥
एवं वत्सेश्वरो गच्छन् स्तूयमानः स बन्दिभिः ।
दिनैः कतिपयैः प्राप कौशाम्बीं विततोत्सवाम् ॥८॥
ध्वजरक्तांशुकच्छन्ना गवाक्षोत्फुल्ललोचना ।
प्रद्वारदर्शितोत्तुङ्गपूर्णकुम्भकुचद्वया ॥९॥
जनकोलाहलानन्दसंलापा सौधहासिनी ।
सा प्रवासागते पत्यौ तत्कालं शुशुभे पुरी ॥१०॥
देवीद्वयानुयातश्च स राजा प्रविवेश ताम् ।
पौरस्त्रीणां च कोऽप्यासीत्तत्र तद्दर्शनोत्सवः ॥११॥
अपूरि हारिहर्म्यस्थरामाननशतैर्नभः ।
देवीमुखजितस्येन्दोः सैन्यैः सेवागतैरिव ॥१२॥
वातायनगताश्चान्याः पश्यन्त्योऽनिमिषेक्षणाः ।
चक्रुः सकौतुकायातविमानस्थाप्सरोभ्रमम् ॥१३॥
काश्चिद् गवाक्षजालाग्रलग्नपक्ष्मललोचनाः ।
असृजन्निव नाराचपञ्जराणि मनोभुवः ॥१४॥
एकस्याः सोत्सुका दृष्टिर्नृपालोकविकस्वरा ।
श्रुतेः पार्श्वमपश्यन्त्यास्तदाख्यातुमिवाययौ ॥१५॥
द्रुतागतायाः कस्याश्चिन्मुहुरुच्छ्वसितौ स्तनौ ।
कञ्चुकादिव निर्गन्तुमीषतुस्तद्दिदृक्षया ॥१६॥
अन्यस्याः सम्भ्रमच्छिन्नहारमुक्ताकणा बभुः ।
गलन्तो हृदयस्येव हर्षबाष्पाम्बुसीकराः[1] ॥१७॥
यद्यस्यामाचरेत् पापमग्निर्लावाणके ततः ।
प्रकाशकोऽप्यसावन्धं तमो जगति पातयेत् ॥१८॥
इति वासवदत्तां च दृष्ट्वा स्मृत्वा च तत्तथा ।
दाहप्रवादं सोत्कण्ठा इव कश्चिद् बभाषिरे ॥१९॥

---

१. हर्षाश्रवः शीताः, शोकाश्रवश्चोष्णा भवन्ति । तथा च कालिदासः—आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद । गङ्गा सरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिष्यन्द इवावतीर्णः ॥ —रघु० १४।३ ।

मार्ग में ऊँचे-ऊँचे घोड़ों के खुरों के आघात से क्षत-विक्षत भूमि, राजा के द्वारा उपभोग की हुई नायिका-सी मालूम होती थी ।।७।।

इस प्रकार, वन्दिगणों से स्तुति किया जाता हुआ उदयन कुछ दिनों के अनन्तर कौशाम्बी पहुँच गया ।।८।।

जिस प्रकार पति के प्रवास से लौटने पर पत्नी प्रसन्नता का प्रदर्शन करती हुई, शोभित हो रही थी, उसी प्रकार स्वामी के लौट आने पर कौशाम्बी-नगरी शोभित हो रही थी। नगरी-नायिका, झण्डों में लगे हुए लाल वस्त्रों से ढकी हुई थी; भवनों के झरोखे, मानों उसके खिले हुए नेत्र थे। गुप्त द्वारों पर रखे हुए पूर्ण कुम्भ नगरों के पीन स्तनों के समान दीखते थे। जन-समाज के कोलाहाल के बहाने मानों नगरी, स्वामी के आगमन पर प्रसन्नता-सूचक शब्द बोल रही थी। सुधा-धवल स्वच्छ भवन, नगरी-नायिका के हास-स्वरूप मालूम होते थे ।।९।।

राजा के प्रवास से लौटने पर प्रसन्न कौशाम्बी नगरी ऐसी प्रसन्न थी, जैसे पति के प्रवास से लौटने पर पत्नी प्रसन्न होती है ।।१०।।

दोनों पत्नियों से अनुगमन किया जाता हुआ वह राजा, नगरवासिनी स्त्रियों के लिए अत्यन्त उल्लास और प्रसन्नता का विषय रहा ।।११।।

सुन्दर भवनों से देखती हुई सहस्रों नारियों के मुखचन्द्रों से आकाश भर गया, मानों वासवदत्ता के मुखचन्द्र से पराजित चन्द्रों की सेना, उसकी सेवा के लिए एकत्र हो रही थी ।।१२।।

मकानों के झरोखों (खिड़कियों) से अपलक देखती हुई नागरिक रमणियाँ, राजा को देखने के लिए स्वर्ग से उतरी हुई विमानस्थ अप्सराओं का भ्रम उत्पन्न करती थीं। झरोखों के आगे लगी हुई सपलक आँखोंवाली कुछ स्त्रियाँ, मानों कामदेव के पंखयुक्त बाणों के जाल (कटाक्ष) छोड़ रही थीं। किसी सुन्दरी की बड़ी आँखें, राजा को देखकर प्रसन्नता से फैलकर न देखते हुए कानों को मानों समाचार देने के लिए उसके पास दौड़कर चली गई थीं ।।१३–१५।।

दौड़कर आई हुई किसी सुन्दरी के हाँफने से उछलते हुए स्तन राजदर्शन के लिए मानों चोली से बाहर निकलना चाहते थे ।।१६।।

घबराहट से दौड़कर खिड़की पर आती हुई किसी सुन्दरी का मुक्ताहार मानों हर्ष के आँसुओं की झड़ी-सा टूटकर बिखर गया। कुछ महिलाएँ, लावाणक में वासवदत्ता के जल जाने के समाचार पर टीका-टिप्पणी करती हुई आपस में कहने लगीं कि यदि लावाणक में आग ने इसे सचमुच जला दिया होता, तो सचमुच वह जगत्-प्रकाशक अग्नि, संसार को अँधेरे में डाल देती ।।१७–१९।।

दिष्ट्या न लज्जिता देवी सपत्न्या सखितुल्यया ।
इति पद्मावतीं वीक्ष्य वयस्या जगदेऽन्यया ॥२०॥
नूनं हरमुरारिभ्यां न दृष्टं रूपमेतयोः ।
किमन्यथा भजेतां तौ बहुमानमुमाश्रियौ ॥२१॥
इत्यूचुरपरास्ते द्वे दृष्ट्वा देव्यौ परस्परम् ।
क्षिपन्त्यः प्रमदोत्फुल्ललोचनेन्दीवरस्रजः ॥२२॥
एव वत्सेश्वरः कुर्वञ्जनतानयनोत्सवम् ।
स्वमन्दिरं सदेवीकः प्राविशत्कृतमङ्गलः ॥२३॥
प्रभाते याब्जसरसो याब्धेरिन्दूदये तथा ।
तत्कालं तस्य सा कापि शोभाभूद्राजवेश्मनः ॥२४॥
क्षणादपूरि सामन्तमङ्गलोपायनैश्च तत् ।
सूचयद्भिरिवाशेषभूपालोपायनागमम् ॥२५॥
सम्मान्य राजलोकं च वत्सराजः कृतोत्सवः ।
चित्तं सर्वजनस्येव विवेशान्तःपुरं ततः ॥२६॥
देव्योर्मध्यस्थितस्तत्र रतिप्रीत्योरिव स्मरः ।
पानादिलीलया राजा दिनशेषं निनाय सः ॥२७॥
अपरेद्युश्च तस्यैको नृपस्यास्थानवर्त्तिनः ।
मन्त्रिणां सन्निधौ विप्रो द्वारि चक्रन्द कश्चन ॥२८॥

गोपालककथा

अब्रह्मण्यमटव्यां मे पापैर्गोपालकैः प्रभो ।
पुत्रस्य चरणोच्छेदो विहितः कारणं विना ॥२९॥
तच्छ्रुत्वा तत्क्षणं द्वित्रान्वष्टभ्यानाय्य भूपतिः ।
गोपालकान्स पप्रच्छ ततस्तेऽप्यवमब्रुवन् ॥३०॥
देव गोपालका भूत्वा क्रीडामो विजने वयम् ।
तत्रैको देवसेनाख्यो मध्ये गोपालकोऽस्ति नः ॥३१॥
एकदेशे च सोऽटव्यामुपविष्टः शिलासने ।
राजा युष्माकमस्तीति वक्त्यस्माननुशास्ति च ॥३२॥
अस्मन्मध्ये च केनापि तस्याज्ञा न विलङ्घ्यते ।
एवं गोपालकोऽरण्ये राज्यं स कुरुते प्रभोः ॥३३॥
अद्य चैतस्य विप्रस्य तनयस्तेन वर्त्मना ।
गच्छन् गोपालराजस्य प्रणामं तस्य नाकरोत् ॥३४॥
मा गास्त्वमप्रणम्येति राजादेशेन जल्पतः ।
अस्मान्विधूय सोऽप्यासीच्छासितोऽपि हसन्बटुः ॥३५॥

पद्मावती को देखकर एक सहेली दूसरी से बोली कि सहेली के समान अपनी सौत से लज्जित नहीं हुई ॥२०॥

सचमुच शिव और कृष्ण ने इन दोनों (वासवदत्ता और पद्मावती) का रूप नहीं देखा, यदि वे देख लेते, तो पार्वती और लक्ष्मी को कदापि प्यार न करते ॥२१॥

सुगन्धित और नवविकसित नीलकमल के समान लोचनवाली नगर-रमणियाँ, दोनों रमणियों को देखकर इसी प्रकार की चर्चा करती रहीं ॥२२॥

इस प्रकार, जनता की आँखों को राजा-रानियों के साथ मंगलयुक्त आनन्द देता हुआ उदयन, मंगलाचरण करके, अपने राजमन्दिर में गया ॥२३॥

राजा के भवन में प्रवेश करने पर उस भवन की शोभा ऐसी हुई, जैसे प्रभात के समय कमल सरोवर की और चन्द्रोदय होने पर समुद्र की होती है ॥२४॥

क्षण-भर में ही राजभवन, सामन्त-नरेशों के मांगलिक उपहारों से ऐसा भर गया, मानों पृथ्वी के समस्त राजाओं ने उपहार भेजे हों ॥२५॥

राजा उदयन ने सभी समागत सामन्त-नरेशों का सम्मान करके जनता के चित्त के समान उस राजभवन में प्रवेश किया ॥२६॥

अपने भवन में, रति और प्रीति के मध्य कामदेव के समान बैठे हुए, राजा उदयन ने पान-लीला (मद्यपान) में उस बचे हुए दिन को व्यतीत किया ॥२७॥

ग्वालों की कथा

दूसरे दिन, राजसभा में मन्त्रियों के साथ बैठे हुए राजा के सभी द्वार पर एक ब्राह्मण चिल्लाने लगा। महाराज ! महान् अनर्थ है कि जंगल में ग्वालों ने विना कारण ही मेरे पुत्र के पैर काट डाले ॥२८-२९॥

यह सुनकर राजा ने दो-तीन ग्वालों को पकड़वा कर बुलाया और पूछने पर वे बोले—महाराज ! हमलोग गौएँ चराते और निर्जन वन में खेलते है। हमलोगों के बीच देवसेन नामक ग्वाला है। वह जंगल के एक स्थान पर पत्थर की चट्टान पर बैठकर कहता है कि मैं तुम्हारा राजा हूँ और हमारा शासन भी करता है। हमलोगों में कोई भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। इस प्रकार, वह गोपालक जंगल में राज्य करता है। आज इस ब्राह्मण के लड़के ने उस रास्ते से जाते हुए उस ग्वाले राजा को प्रणाम नहीं किया। हमलोगों ने उससे कहा भी कि तुम विना प्रणाम किये न जाओ, फिर भी हँसते हुए उस बालक ने हमलोगों की बात न मानी ॥३०–३५॥

ततस्तस्याविनीतस्य पादच्छेदेन निग्रहम् ।
कर्त्तुं गोपालराजेन वयमाज्ञापिता बटोः ।।३६।।
धावित्वा च ततोऽस्माभिश्छिन्नोऽस्य चरणः प्रभो ।
अस्मादृशः प्रभोराज्ञां कोऽतिलङ्घयितुं क्षमः ।।३७।।
एवं गोपालकै राज्ञि विज्ञप्ते सम्प्रधार्य तत् ।
यौगन्धरायणो धीमान् राजानं विजनेऽब्रवीत् ।।३८।।

वत्सराजस्य कार्षसिंहासनादीनां प्राप्तिः

नूनं निधानादियुतं तत्स्थानं यत्प्रभावतः ।
गोपालकोऽपि प्रभवत्येवं तत्तत्र गम्यताम् ।।३९।।
इत्युक्त्वा मन्त्रिणां राजा कृत्वा गोपालकान् पुरः ।
ययौ तदटवीस्थानं ससैन्यः सपरिच्छदः ।।४०।।
परीक्ष्य भूमिं यावच्च खन्यते तत्र कर्मिभिः ।
अधस्तात्तावदुत्तस्थौ यक्षः शैलमयाकृतिः ।।४१।।
सोऽब्रवीच्च मया राजन्निदं यद्रक्षितं चिरम् ।
पितामहनिखातं तं निधानं स्वीकुरुष्व तत् ।।४२।।
इति वत्सेशमुक्त्वा च तत्पूजां प्रतिगृह्य च ।
यक्षस्तिरोभूतखाते महानाविरभून्निधिः ।।४३।।
अलभ्यत महार्हं च रत्नसिंहासनं ततः ।
भवन्त्युदयकाले हि सत्कल्याणपरम्पराः ।।४४।।
ततः कृत्स्नं समादाय निधानं स कृतोत्सवः ।
तान्प्रशास्य च गोपालान्वत्सेशः स्वपुरीं ययौ ।।४५।।
तत्रारुणमणिग्रावकिरणप्रसरैः प्रभोः ।
प्रतापाक्रमणं दिक्षु भविष्यदिव दर्शयत् ।।४६।।
रौप्याङ्कुरमुखप्रोतमुक्तासन्ततिदन्तुरम् ।
मुहुर्हासमिवालोच्य तन्मन्त्रिमतिविस्मयम् ।।४७।।
ददृशुस्तं नृपानीतं हेमसिंहासनं जनाः ।
ननन्दुश्च हतानन्ददुन्दुभिध्वानसुन्दरम् ।।४८।।

तब उस ग्वालराज ने हमलोगों को आज्ञा दी कि इसके पैर काटकर इसे दण्ड दो। तब हमलोगों ने दौड़कर इसके पैर काट दिये। राजा की आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है ॥३६-३७॥

इस प्रकार ग्वालों के निवेदन करने पर उसका रहस्य समझकर बुद्धिमान् यौगन्धरायणने राजा से एकान्त में कहा—महाराज! अवश्य ही उस स्थाय में खजाना आदि हैं। उसी के प्रभाव से ग्वाला भी वहाँ राजा बनने की सोचता है। अतः, आप वहाँ चलें। मन्त्री के ऐसा कहने पर राजा सेना और सामान के साथ वहाँ गया ॥३८–४०॥

वत्सराज को खजाना और सिंहासन की प्राप्ति

जंगल में जाकर और भूमि की परीक्षा करके जब कर्मकर (मजदूर) भूमि को खोदने लगे, तब उस गड्ढे के नीचे से एक पर्वताकार यक्ष निकला। और राजा से बोला कि 'राजन्! तुम्हारे दादा का रखा हुआ यह खजाना है। मैंने बहुत समय तक उसकी रक्षा की। अब तुम इसे सँभालो'[१] ॥४१-४२॥

वत्सराज को इस प्रकार कहकर और उसके दिये हुए उपहारों को स्वीकार कर यक्ष अन्तर्धान हो गया और राजा को उस गढे में बहुत बड़ा खजाना मिला ॥४३॥

राजा ने उसकी प्रसन्नता में उत्सव मनाया और उस धन को एवं बहुमूल्य रत्न-सिंहासन को लेकर तथा उन ग्वालों को समुचित दण्ड देकर वह अपनी राजधानी कौशाम्बी को लौट आया ॥४४॥

उन्नति का समय आने पर अनेक प्रकार की शुभ बातें होती हैं। कौशाम्बी में राजा द्वारा लाकर राजभवन में रखे गये उस सिंहासन को नागरिक जनता देखने लगी। और बजते हुए वाद्य के समान सुन्दर आनन्द शब्द 'वाह-वाह' करने लगे ॥४५॥

वह सिंहासन, जड़ी हुई लाल मणियों की किरणों के प्रसार से मानों राजा उदयन, चारों दिशाओं में फैलनेवाले अपने अभ्युदय की सूचना दे रहा था ॥४६॥

चाँदी के तारों से पिरोये हुए मोतियों की शुभ्र लड़ियों की उज्ज्वल प्रभा से वह सिंहासन, राजा के मन्त्रियों के अत्यन्त आश्चर्य पर मानों हँस रहा था ॥४७॥

उस सिंहासन के प्रभाव को देखकर मन्त्रियों को राजा के दिग्विजय का निश्चय हो गया। अतः, वे भी उत्सव मनाने लगे ॥४८॥

---

१. सिंहासनबत्तीसी की कथा में भोजराज के विषय में इसी ढंग की कथा मिलती है। उसे भी उसी प्रकार सिंहासन की प्राप्ति हुई थी।—अनु०

मन्त्रिणोऽप्युत्सवं चक्रुर्जयं निश्चित्य भूपतेः ।
आमुखापातिकल्याणं कार्यसिद्धिं हि शंसति ॥४६॥
ततः पताकाविद्युद्भिराकीर्णे गगनान्तरे ।
ववर्ष राजजलदः कनकं सोऽनुजीविषु ॥५०॥
उत्सवेन च नीतेऽस्मिन्दिने यौगन्धरायणः ।
चित्तं जिज्ञासुरन्येद्युर्वत्सेश्वरमभाषत ॥५१॥
एतत्कुलक्रमायातं महासिंहासनं त्वया ।
यत्प्राप्तं तत्समारुह्य देवालङ्क्रियतामिति ॥५२॥
विजित्य पृथ्वीमारूढा यत्र मे प्रपितामहाः ।
तत्राजित्वा दिशः सर्वाः का ममारोहतः प्रथा ॥५३॥

वत्सराजस्य दिग्विजीषा

जित्वैवेमां समुद्रान्तां पृथ्वीं पृथुविभूषणाम् ।
अलङ्करोमि पूर्वेषां रत्नसिंहासनं महत् ॥५४॥
इत्यूचिवान्नरपतिर्नारुरोह स सम्प्रति ।
सम्भवत्यभिजातानामभिमानो ह्यकृत्रिमः ॥५५॥
ततः प्रीतस्तमाह स्म नृपं यौगन्धरायणः ।
साधु देव कुरु प्राच्यां तर्हि पूर्वं जयोद्यमम् ॥५६॥
तच्छ्रुत्वैव प्रसङ्गात्तं राजा पप्रच्छ मन्त्रिणम् ।
स्थितास्वप्युत्तराद्यासु प्राक्प्राचीं यान्ति किं नृपाः ॥५७॥
एतच्छ्रुत्वा जगादैनं पुनर्यौगन्धरायणः ।
स्फीतापि राजन्कौबेरी म्लेच्छसंसर्गगर्हिता ॥५८॥
अर्काद्यस्तमये हेतुः पश्चिमापि न पूज्यते ।
आसन्नराक्षसा दुष्टा दक्षिणाप्यन्तकाश्रिता ॥५९॥
प्राच्यामुदेति सूर्यस्तु प्राचीमिन्द्रोऽधितिष्ठति ।
जाह्नवीं याति च प्राचीं तेन प्राची प्रशस्यते ॥६०॥
देशेष्वपि च विन्ध्याद्रिहिमवन्मध्यवर्त्तिषु ।
जाह्नवीजलपूतो यः स प्रशस्यतमो मतः ॥६१॥
तस्मात्प्राचीं प्रयान्त्यादौ राजानो मङ्गलैषिणः ।
निवसन्ति च देशेऽपि सुरसिन्धुसमाश्रिते ॥६२॥

तदनन्तर, सिंहासन और खजाना मिलने की प्रसन्नता में राजा-रूपी मेघ, पताका-रूपी बिजली-से चमकते हुए नगरी के आकाश से सेवकों पर सोने की वृष्टि करने लगे। (अर्थात्, राजा ने खूब धन लुटाया) ।।४६-५०।।

इस प्रकार उत्सव, पुरस्कार-वितरण आदि में उस दिन के व्यतीत हो जाने पर दूसरे दिन राजा का मन टोहने (जाँचने) की इच्छा से यौगन्धरायण ने कहा—'महाराज! आपने अपनी कुल-परम्परा से आये हुए सिंहासन को प्राप्त किया है, अतः अब उसपर बैठें ।।५१-५२।।

वत्सराज का दिग्विजय के लिए विचार

राजा ने कहा—'मेरे परदादा सारी पृथ्वी को जीतकर जिस सिंहासन पर बैठे थे, उसपर विना चारों दिशाओं की विजय किये, बैठने से मेरा क्या महत्त्व है? ऐसा कहकर राजा सिंहासन पर नहीं बैठा, कारण यह कि कुलीनों में आत्माभिमान स्वाभाविक होता है ।।५३–५५।।

तब प्रसन्न यौगन्धरायण ने कहा—'ठीक है, महाराज! तब पहले पूर्व दिशा में विजय का उद्यम कीजिएगा' ।।५६।।

यह सुनकर राजा ने यौगन्धरायण से प्रसंगवश पूछा कि उत्तर आदि अनेक दिशाओं के रहते हुए राजा लोग पहले पूर्व दिशा की ओर क्यों जाते हैं?' यौगन्धरायण ने कहा—'महाराज! उत्तर दिशा यद्यपि प्रशस्त है, किन्तु म्लेच्छों के सम्पर्क से दूषित है। सूर्य का अस्त होने के कारण पश्चिम को भी अच्छा नहीं माना जाता और दक्षिण दिशा यमराज की दिशा होने तथा उसमें राक्षसों का निवास होने के कारण उसे भी अच्छा नहीं समझा जाता ।।५७–५६।।

पूर्व में सूर्य का उदय होता है। उसमें इन्द्र का निवास है। गंगा नदी भी पूर्व की ओर जाती है, इसलिए पूर्व दिशा पवित्र और प्रशस्त मानी जाती है ।।६०।।

भारतीय प्रदेशों में भी विन्ध्याचल और हिमाचल के मध्य का देश, जो गंगा-जल से पवित्र है, सर्वश्रेष्ठ माना जाता है ।।६१।।

इसलिए मंगलाकांक्षी राजा पहले पूर्व की ओर प्रयाण करते हैं और गंगा-तटवर्त्ती देशों में निवास भी करते हैं ।।६२।।

पूर्वजैरपि हि प्राचीप्रक्रमेण जिता दिशः ।
गङ्गोपकण्ठे वासश्च विहितो हस्तिनापुरे ॥६३॥
शतानीकस्तु कौशाम्बीं रम्यभावेन शिश्रिये ।
साम्राज्ये पौरुषाधीने पश्यन्देशमकारणम् ॥६४॥
इत्युक्त्वा विरते तत्र तस्मिन्यौगन्धरायणे ।
राजा पुरुषकारैकबहुमानादभाषत ॥६५॥
सत्यं न देशनियमः साम्राज्यस्येह कारणम् ।
सम्पत्सु हि सुसत्त्वानामेकहेतुः स्वपौरुषम् ॥६६॥
एकोऽप्याश्रयहीनोऽपि लक्ष्मीं प्राप्नोति सत्त्ववान् ।
श्रुता किं नात्र युष्माभिः पुंसः सत्त्ववतः कथा ॥६७॥
एवमुक्त्वा स वत्सेशः सचिवाभ्यर्थितः शुभाम् ।
विचित्रां सन्निधौ देव्योरिमामकथयत्कथाम् ॥६८॥

राज्ञ आदित्यसेनस्य तेजोवत्याश्च कथा

अस्ति भूतलविख्याता येयमुज्जयिनी पुरी ।
तस्यामादित्यसेनाख्यः पूर्वमासीन्महीपतिः ॥६९॥
आदित्यस्येव यस्येह न चस्खाल किल क्वचित् ।
प्रतापनिलयस्यैकचक्रवर्त्तितया रथः ॥७०॥
भासयत्युच्छ्रिते व्योम यच्छत्रे तुहिनत्विषि ।
न्यवर्त्तन्तातपत्राणि राज्ञामपगतोष्मणाम् ॥७१॥
समस्तभूतलाभोगसम्भवानां बभूव सः ।
भाजनं सर्वरत्नानामम्बुराशिरिवाम्भसाम् ॥७२॥
स कदाचन कस्यापि हेतोर्यात्रागतो नृपः ।
ससैन्यो जाह्नवीकूलमासाद्यावस्थितोऽभवत् ॥७३॥
तत्र तं गुणवर्माख्यः कोऽप्याढ्यस्तत्प्रदेशजः ।
अभ्यगान्नृपमादाय कन्यारत्नमुपायनम् ॥७४॥
रत्नं त्रिभुवनेऽप्येषा कन्योत्पन्ना गृहे मम ।
नान्यत्र दातुं शक्या च देवो हि प्रभुरीदृशः ॥७५॥
इत्यावेद्य प्रतीहारमुखेनाथ प्रविश्य सः ।
गुणवर्मा निजां तस्मै राज्ञे कन्यामदर्शयत् ॥७६॥
स तां तेजस्वतीं नाम दीप्तिद्योतितदिङ्मुखाम् ।
अनङ्गमङ्गलावासरत्नदीपशिखामिव ॥७७॥
पश्यन्स्नेहमयो राजो श्लिष्टस्तत्कान्तितेजसा ।
कामाग्निनेव सन्तप्तः स्विन्नो विगलति स्म सः ॥७८॥

तुम्हारे पूर्वज पाण्डवों ने भी पूर्व की दिशा से ही विजय प्रारम्भ की थी और गंगातट-वर्त्ती हस्तिनापुर को राजधानी बनाया था; क्योंकि साम्राज्य पौरुष के अधीन है, उसमें किसी देश-विशेष का कोई महत्त्व नहीं है ॥६३-६४॥

यौगन्धरायण के इस प्रकार कहकर चुप हो जाने पर राजा उदयन पुरुषार्थ को बहुमान देने के कारण बोला—यह सत्य है कि देश-विशेष, साम्राज्य का कारण नहीं होता। उच्च कोटि के व्यक्तियों के सम्पत्ति प्राप्त करने में अपना पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण है ॥६५-६६॥

किन्तु, बलवान् उच्च व्यक्ति, आश्रयहीन होकर भी, लक्ष्मी प्राप्त करता है। क्या आपलोगों ने सत्त्ववान् (जीवनवाले) व्यक्ति की कथा नहीं सुनी है? ॥६७॥

इतना कहकर मन्त्रियों से प्रार्थित वत्सराज ने महारानियों के सामने ही कथा कहना प्रारम्भ किया ॥६८॥

वीर विदूषक ब्राह्मण की कथा

समस्त भूतल में प्रसिद्ध उज्जयिनी नाम की नगरी है। पूर्व समय में उसमें आदित्यसेन नाम का राजा राज्य करता था ॥६९॥

आदित्य के ही समान महाप्रतापी आदित्यसेन का रथ भी कभी कहीं रुकता न था ॥७०॥

चन्द्रमा के समान उस राजा का छत्र ऊँचा होने पर अन्य सभी राजाओं के छत्र दूर हो जाते थे; क्योंकि उन (राजाओं) की गरमी शान्त हो जाती थी। वह राजा, भूतल में प्राप्त हो सकनेवाले सभी भोगों का वैसे ही आश्रय-स्थान था, जैसे समस्त रत्नों का आश्रय समुद्र होता है। वह राजा, किसी समय यात्रा के लिए निकला और सेना के साथ गंगा के तट पर आकर ठहर गया। वहाँ ठहरे हुए राजा के समीप वहाँ का रहनेवाला गुणवर्मा नाम का कोई धनी साहूकार कन्यारत्न को उपहार-स्वरूप लेकर राजद्वार में उपस्थित हुआ ॥७१-७४॥

वह द्वारपाल से बोला—'देव! यह तीनों लोकों की रत्न-स्वरूपा कन्या मेरे घर में उत्पन्न हुई है। इसे मैं अन्यत्र कहीं प्रदान नहीं कर सकता। आप ही इस उपहार के योग्य हैं'। द्वारपाल से इस प्रकार निवेदन कराकर गुणवर्मा ने राजा को अपनी कन्या दिखलाई। स्नेहपूर्ण राजा उसके कामाग्नि के समान सौन्दर्य-प्रभाव से पिघलकर पानी-पानी हो गया ॥७५-७८॥

स्वीकृत्यैतां च तत्कालं महादेवीपदोचिताम् ।
चकार गुणवर्माणं परितुष्यात्मनः समम् ॥७९॥
ततस्तां परिणीयैव प्रियां तेजस्वतीं नृपः ।
कृतार्थमानी स तया साकमुज्जयिनीं ययौ ॥८०॥
तत्र तन्मुखसक्तैकदृष्टी राजा ह्यभूत्तथा ।
ददर्श राजकार्याणि न यथा सुमहान्त्यपि ॥८१॥
तेजस्वतीकलालापकीलितेव किल श्रुतिः ।
नावसन्नप्रजाक्रन्दस्तस्याकृष्टुमशक्यत ॥८२॥
चिरप्रविष्टो निरगान्नैव सोऽन्तःपुरान्नृपः ।
निरगादरिवर्गस्य हृदयात्तु रुजाज्वरः ॥८३॥
कालेन तस्य जज्ञे च राज्ञः सर्वाभिनन्दिता ।
कन्या तेजस्वती देव्यां बुद्धौ च विजिगीषुता ॥८४॥
परमाद्भूतरूपा सा तृणीकृत्य जगत्त्रयम् ।
हर्षं तस्याकरोत्कन्या प्रतापं च जिगीषुता ॥८५॥
अथाभियोक्तुमुत्सिक्तं सामन्तं कञ्चिदेकदा ।
आदित्यसेनः प्रययावुज्जयिन्याः स भूपतिः ॥८६॥
तां च तेजस्वतीं राज्ञीं समारूढकरेणुकाम् ।
सहप्रयायिनीं चक्रे सैन्यस्येवाधिदेवताम् ॥८७॥
आरुरोह वराश्वं च दर्पोद्यद्धर्मनिर्झरम् ।
जङ्गमाद्रिनिभं तुङ्गं स श्रीवृक्षं[1] समेखलम् ॥८८॥
आसृक्कोत्थितपादाभ्यामभ्यस्यन्तमिवाम्बरे ।
गतिं गरुत्मतो दृष्टां वेगसब्रह्मचारिणः ॥८९॥
जवस्य मम पर्याप्ता किं नु स्यादिति मेदिनीम् ।
कलयन्तमिवोन्नम्य कन्धरां धीरया दृशा ॥९०॥
किञ्चिद् गत्वा च सम्प्राप्य समां भूमिं स भूपतिः ।
अश्वमुत्तेजयामास तेजस्वत्याः प्रदर्शयन् ॥९१॥
सोऽश्वस्तत्पार्ष्णिघातेन यन्त्रेणेवेरितः शरः ।
जगाम क्वाप्यतिजवादलक्ष्यो लोकलोचनैः ॥९२॥

---

१. श्रीवृक्ष इत्यश्वजातिः। पर्वतपक्षे श्रीवृक्षो विल्वद्रुमः, अश्वपक्षे च रोमावर्तः।

वह तेजस्वती नाम की कन्या अपनी उज्ज्वल कान्ति से दिशाओं को ऐसे प्रकाशित कर रही थी, मानों कामदेव के मंगल-भवन की रत्नदीप-शिखा हो। आदित्यसेन ने महारानी-पद के योग्य उस कन्या को ग्रहण कर और प्रसन्न होकर गुणवर्मा को अपने समान राजा बना दिया ।।७९।।

राजा ने उसके साथ विवाह करके अपने को कृतकृत्य समझा और उसे लेकर उज्जयिनी आया ।।८०।।

उज्जयिनी आकर राजा रात-दिन उसका मुँह निहारने में ही लगा रहता था। इसी कारण राज्य-सम्बन्धी बड़े-बड़े कामों को भी देखता न था ।।८१।।

तेजस्वती के मधुर वचनों से कीलित राजा के कानों को दुःखित प्रजा का चीत्कार-शब्द अपनी ओर आकृष्ट न कर सका ।।८२।।

बहुत काल से अन्तःपुर में गया हुआ राजा बाहर न निकला, किन्तु उसकी इस स्थिति से शत्रुओं के हृदय का भय निकल गया ।।८३।।

कुछ समय के अनन्तर उस राजा से महादेवी में अति सुन्दरी कन्या और बुद्धि में विजय करने की इच्छा उत्पन्न हुई ।।८४।।

तदनन्तर, राजा किसी विद्रोही सामन्त-राजा पर चढ़ाई करने के लिए उज्जयिनी से बाहर निकला। उसके साथ हथिनी पर चढ़ी हुई महारानी तेजस्वती भी सेना की देवी के समान चली। राजा, दर्प से पसीने के झरने बहाते हुए, जंगम पर्वत के समान श्रीवृक्षक नाम के घोड़े पर सवार हुआ। कुछ दूर जाकर समतल भूमि मिलने पर राजा ने तेजस्वती को अपना कौशल दिखाने के लिए घोड़े को तेज कर दिया। जिस प्रकार यन्त्र से फेंका हुआ बाण, सरसराकर वेग से जाता है, उसी प्रकार राजा की जाँघों से प्रेरित वह घोड़ा तीर के समान उड़ चला और लोगों की आँखों से ओझल हो गया ।।८५–९२।।

तद्दृष्ट्वा विह्वले सैन्ये हयारोहाः सहस्रधा ।
अन्वधावन्न च प्रापुस्तमश्वापहृतं नृपम् ॥९३॥
ततश्चानिष्टमाशङ्क्य ससैन्या मन्त्रिणो भयात् ।
आदाय देवीं क्रन्दन्तीं निवृत्योज्जयिनीं ययुः ॥९४॥
तत्र ते पिहितद्वारकृतप्राकार-गुप्तयः ।
राज्ञः प्रवृत्तिं चिन्वन्तस्तस्थुराश्वासितप्रजाः ॥९५॥
अत्रान्तरे स राजापि नीतोऽभूत्तेन वाजिना ।
सरौद्रसिंहसञ्चारां दुर्गां विन्ध्याटवीं क्षणात् ॥९६॥
तत्र दैवात्स्थिते तस्मिन्नश्वे स सहसा नृपः ।
आसीन्महाटवीदत्तदिङ्मोहो विह्वलाकुलः ॥९७॥
गतिमन्यामपश्यंश्च सोऽवतीर्य प्रणम्य च ।
तं जगादाश्वजातिज्ञो राजा वरतुरङ्गमम् ॥९८॥
देवस्त्वं न प्रभुद्रोहं त्वादृशः कर्त्तुमर्हति ।
तन्मे त्वमेव शरणं शिवेन नय मां पथा ॥९९॥
तच्छ्रुत्वा सानुतापः सन्सोऽश्वो जातिस्मरस्तदा ।
तत्तथेत्यग्रहीद् बुद्धौ दैवतं हि हयोत्तमः ॥१००॥
ततो राज्ञि समारूढे स प्रतस्थे तुरङ्गमः ।
स्वच्छशीताम्बुसरसा मार्गेणाध्वक्लमच्छिदा ॥१०१॥
सायं च प्रापयामास स योजनशतान्तरम् ।
उज्जयिन्याः समीपं तं राजानं वाजिसत्तमः ॥१०२॥
तद्वेगविजितान् वीक्ष्य सप्तापि निजवाजिनः ।
अस्ताद्रिकन्दरालीने लज्जयेवांशुमालिनि ॥१०३॥
तमसि प्रसृते द्वाराण्युज्जयिन्या विलोक्य सः ।
पिहितानि श्मशानं च बहिस्तत्कालभीषणम् ॥१०४॥
निनायैनं निवासाय भूपतिं बुद्धिमान् हयः ।
बाह्यैकान्तस्थितं तत्र गुप्तं विप्रमठं निशि ॥१०५॥
निशातिवाहयोग्यं च तं स दृष्ट्वा मठं नृपः ।
आदित्यसेनः प्रारेभे प्रवेष्टुं श्रान्तवाहनः ॥१०६॥
रुरुधुस्तस्य विप्राश्च प्रवेशं तन्निवासिनः ।
श्मशानपालश्चौरो वा कोऽप्यसावितिवादिनः ॥१०७॥

इस कारण व्याकुल मन्त्रिगण, इस घटना को अनिष्ट समझकर सेनाओं के साथ उज्जयिनी लौट आये ॥९३-९४॥

वहाँ आकर नगर-रक्षा के वे घेरे (परकोटे) के द्वारों को बन्द करके और उनकी रक्षा का प्रबन्ध करके प्रजा को आश्वासन देते रहे। उधर यह घोड़ा सरपट दौड़ता हुआ राजा को भीषण सिंहों से भरे हुए विन्ध्याचल के घोर जंगल में ले गया। दैवयोग से उस घोड़े के सहसा रुकने पर राजा को, चारों ओर दृष्टि फैलाने पर, दिशाओं का ज्ञान न रहा और वह भूख से व्याकुल हो गया ॥९५–९७॥

ऐसे समय कोई चारा न देखकर घोड़ों की नस्ल को जाननेवाला राजा घोड़े से नीचे उतर पड़ा और उसे प्रणाम करके बोला—हे ईश्वर! तुम घोड़े नहीं, वास्तव में देवता हो, तुम्हारे ऐसे उच्च जाति के घोड़े स्वामी-द्रोह नहीं करते। यहाँ पर तुम ही मेरी शरण (रक्षक) हो। इसलिए मुझे कल्याण-मार्ग से ले जाओ। पूर्वजन्म का स्मरण करता हुआ घोड़ा, मन में पछताता हुआ, राजा की बात मान गया। ऊँचे (कुलीन) घोड़े सचमुच देवता ही होते हैं ॥९८–१००॥

तब राजा के पुनः सवार होने पर वह घोड़ा स्वच्छ शीतल जल से भरे हुए और मानों श्रम को दूर करनेवाले रास्ते से चला ॥१०१॥

सायंकाल तक चार सौ कोस की दूरी पर उज्जयिनी के समीप उसने राजा को पहुँचा दिया ॥१०२॥

सायंकाल होने पर जबकि अँधेरा फैलने लगा, उज्जैन नगर के द्वार बन्द हो गये और उस घोड़े के वेग से अपने घोड़े के पराजित हो जाने की लज्जा से मानों सूर्य के अस्ताचल की कन्दरा में छिप जाने पर वह घोड़ा नगरी के बाहर रात में भीषण दीखनेवाले श्मशान में राजा को ले गया। बुद्धिमान् घोड़ा राजा को ठहराने के लिए श्मशान के समीप एक ब्राह्मण के गुप्त मठ में ले गया ॥१०३—१०५॥

राजा ने उस मठ को रात बिताने के योग्य देखकर उसमें प्रवेश किया, राजा का घोड़ा थक गया था ॥१०६॥

'यह श्मशान का रक्षक सिपाही है या चोर है' ऐसा कहकर उन मठवासी ब्राह्मणों ने राजा को अन्दर आने से रोका ॥१०७॥

निर्ययुरते च संसक्तकलहा लोलनिष्ठुराः ।
भयकार्कश्यकोपानां गृहं हि च्छान्दसा द्विजाः ॥१०८॥

विदूषकब्राह्मणस्य कथा

रटत्सु तेषु तत्रैको निर्जगाम ततो मठात् ।
विदूषकाख्यो गुणवान्धुर्यः सत्त्ववतां द्विजः ॥१०९॥
यो युवा बाहुशाली च तपसाराध्य पावकम् ।
प्राप खड्गोत्तमं तस्माद्ध्यातमात्रोपगामिनम् ॥११०॥
स दृष्ट्वा तं निशि प्राप्तं धीरो भव्याकृति नृपम् ।
प्रच्छन्नः कोऽपि देवोऽयमिति दध्यौ विदूषकः ॥१११॥
विधूय विप्रांश्चान्यांस्तान्स सर्वानुचिताशयः ।
नृपं प्रवेशयामास मठान्तः प्रश्रयानतः ॥११२॥
विश्रान्तस्य च दासीभिर्धूताध्वरजसः क्षणात् ।
आहारं कल्पयामास राज्ञस्तस्य निजोचितम् ॥११३॥
तं चापनीतपर्याणं तदीयं तुरगोत्तमम् ।
यवमादिप्रदानेन चकार विगतश्रमम् ॥११४॥
रक्षाम्यहं शरीरं ते तत्सुखं स्वपिहि प्रभो !
इत्युवाच च तं श्रान्तमास्तीर्णशयनं नृपम् ॥११५॥
सुप्ते च तस्मिन्द्वारस्थो जागरामास स द्विजः ।
चिन्तितोपस्थिताग्नेयखड्गहस्तोऽखिलां निशाम् ॥११६॥
प्रातश्च तस्य नृपतेः प्रबुद्धस्यैव स स्वयम् ।
अनुक्त एवं तुरगं सज्जीचक्रे विदूषकः ॥११७॥
राजापि स तमामन्त्र्य समारुह्य च वाजिनम् ।
विवेशोज्जयिनीं दूराद्दृष्टो हर्षाकुलैर्जनैः ॥११८॥
प्रविष्टमभिजग्मुस्तं सर्वाः प्रकृतयः क्षणात् ।
तदागमनजानन्दलसत्कलकलारवाः ॥११९॥
आययौ राजभवनं स राजा सचिवान्वितः ।
ययौ तेजस्वती देव्या हृदयाच्च महाज्वरः ॥१२०॥
वाताहतोत्सवाक्षिप्तपताकांशुकपंक्तिभिः ।
उत्सारिता इवाभूवन्नगर्यास्तत्क्षणं शुचः ॥१२१॥

इस प्रकार लड़ते-झगड़ते वे लोभी और निष्ठुर ब्राह्मण मठ के बाहर निकल आये; क्योंकि वेदपाठी ब्राह्मण स्वभावत: भय, कठोरता और क्रोध के घर होते हैं ।।१०८।।

उनके चिल्लाने पर उस मठ से एक गुणी और जीवन (जीवट) वाला विदूषक नाम के ब्राह्मण ने अग्नि-देवता की आराधना से ऐसा उत्तम खड्ग प्राप्त किया था, कि जो स्मरण करते ही स्वयं हाथ में आ जाता था ।।१०९-११०।।

उस धीर-वीर ब्राह्मण ने भव्य स्वरूपवाले राजा को देखकर सोचा कि यह कोई देवता आया है ।।१११।।

वह सब अनुचित विचार रखनेवाले उन मूर्ख ब्राह्मणों को दूर करके (हटाकर) नम्रता से स्वागत करता हुआ राजा को मठ में ले गया ।।११२।।

मठ में जाकर दासियों द्वारा रास्ते की धूल झाड़ने-पोंछने के अनन्तर उसने राजा के लिए उसके योग्य भोजन बनवाया । राजा के लिए भोजन आदि की व्यवस्था करके विदूषक ने स्वयं ही घोड़े की जीन-लगाम आदि खोलकर और उसे घास-दाना आदि देकर उसकी थकावट दूर कर दी ।।११३–११४।।

बिस्तर पर लेटे हुए राजा से उसने कहा—स्वामिन् ! आप निश्चिन्त होकर सोइए, मैं रात-भर आपके शरीर की रक्षा करूँगा । ऐसा कहकर स्मरण-मात्र से आये हुए खड्ग को हाथ में लेकर वह सारी रात द्वार पर पहरा देता हुआ जागता रहा ।।११५-११६।।

प्रातःकाल जैसे ही राजा उठा, विदूषक ने स्वयं जाकर घोड़े की जीन-लगाम कसकर उसे तैयार कर दिया ।।११७।।

राजा भी विदूषक से मिलकर और घोड़े पर सवार होकर उज्जैन गया । वहाँ हर्ष-भरे नागरिक आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखने लगे ।।११८।।

राजा के नगर में प्रवेश करते ही उसके आगमन के आनन्द से विभोर नागरिक कोलाहल करते हुए राजा के समीप आये ।।११९।।

तब वह राजा मन्त्रियों से घिरा हुआ राजभवन में गया और उधर रानी तेजस्वती के हृदय से महान् शोक-ज्वर निकल गया ।।१२०।।

राजा के पुनरागमन-महोत्सव के उपलक्ष्य में लगी हुई ध्वजाओं के वस्त्रों के वायु से हिलाये जाने के कारण मानों नगरी का सारा शोक झाड़-बहारकर दूर कर दिया गया ।।१२१।।

अकरोदा दिनान्तं च देवी तावन्महोत्सवम् ।
यावन्नगरलोकोऽभूत्सार्कः सिन्दूरपिङ्गलः ॥१२२॥
अन्येद्युः स तमादित्यसेनो राजा विदूषकम् ।
मठादानाययामास तस्मात् सर्वैर्द्विजैः सह ॥१२३॥
प्रख्याप्य रात्रिवृत्तान्तं ददौ तस्मै च तत्क्षणम् ।
विदूषकाय ग्रामाणां सहस्रमुपकारिणे ॥१२४॥
पौरोहित्ये च चक्रे तं प्रदत्तच्छत्त्रवाहनम् ।
विप्रं कृतज्ञो नृपतिः कौतुकालोकितं जनैः ॥१२५॥
एवं तदैव सामन्ततुल्यः सोऽभूद् विदूषकः ।
मोघा हि नाम जायेत महत्सूपकृतिः कुतः ॥१२६॥
यांश्च प्राप नृपाद् ग्रामांस्तान्सर्वान् स महाशयः ।
तन्मठाश्रयिभिर्विप्रैः समं साधारणान् व्यधात् ॥१२७॥
तस्थौ च सेवमानस्तं राजानं च तदाश्रितः ।
भुञ्जानश्च सहान्यैस्तैर्ब्राह्मणैर्ग्रामसञ्चयम् ॥१२८॥
काले गच्छति चान्ये ते सर्वे प्राधान्यमिच्छवः ।
नैव तं गणयामासुर्द्विजा धनमदोद्धताः ॥१२९॥
विभिन्नैः सप्त[1] संख्याकैरेकस्थानाश्रयैर्मिथः ।
मङ्घर्षार्त्तैरबाध्यन्त ग्रामा दुष्टैर्ग्रहैरिव ॥१३०॥
उच्छृङ्खलेषु तेष्वासीदुदासीनो विदूषकः ।
अल्पभावेषु धीराणामवज्ञैव हि शोभते ॥१३१॥
एकदा कलहासक्तान् दृष्ट्वा तानभ्युपाययौ ।
कश्चिच्चक्रधरो नाम विप्रः प्रकृतिनिष्ठुरः ॥१३२॥
परार्थन्यायवादेषु काणोऽप्यम्लानदर्शनः ।
कुब्जोऽपि वाचि सुस्पष्टो विप्रस्तानित्यभाषत ॥१३३॥
प्राप्ता भिक्षाचरैर्भूत्वा भवद्भिः श्रीरियं शठाः ।
तन्नाशयथ किं ग्रामानन्योन्यमसहिष्णवः ॥१३४॥
विदूषकस्य दोषोऽयं येन यूयमुपेक्षिताः ।
तदसन्दिग्धमचिरात्पुनर्भिक्षां भ्रमिष्यथ ॥१३५॥

१. सप्तभिर्ग्रहैरेकस्थानस्थितैः प्रलयो भवतीति सिद्धान्तविदो मतम् ।

उस दिन तबतक (सारा दिन) महारानी उत्सव में मग्न रही, जबतक सूर्य के साथ सारी नागरिक जनता सिन्दूर से लाल न हो गई, अर्थात् सायंकाल तक आमोद-प्रमोद के उत्सव चलते रहे ।।१२२।।

दूसरे दिन राजा आदित्यसेन ने, उस मठ से, विदूषक के साथ उसमें रहनेवाले सभी ब्राह्मणों को बुलवाया ।।१२३।।

सभा में रात का समस्त वृत्तान्त सुनाकर राजा ने उपकार करनेवाले विदूषक को एक हजार गाँव पुरस्कार (इनाम) में दिये और उसे उस कृतज्ञ राजा ने अपने पुरोहितों में नियुक्त करके, लगाने के लिए छत्र और सवारी के लिए घोड़ा दिया। सभी सभासद राजा की इस उदारता को आश्चर्य से देखते रहे ।।१२४-१२५।।

इस प्रकार वह ब्राह्मण, उसी समय राजा के सामन्तों के समान हो गया। सच है, महान् व्यक्तियों का उपकार करना निष्फल नहीं होता ।।१२६।।

उस महान् हृदय विदूषक ने भी राजा से पाये हुए गाँवों को, मठ में रहनेवाले सभी ब्राह्मणों में समान भाग से बाँट दिया। और, स्वयं राजा का आश्रित होकर उसकी सेवा में रहने लगा एवं उन सभी ब्राह्मणों के साथ गाँव की आय द्वारा समान रूप से जीवन-निर्वाह करने लगा ।।१२७-१२८।।

कुछ समय के अनन्तर विना परिश्रम प्राप्त राजवृत्ति की आय से मदोन्मत्त वे सभी मठवासी ब्राह्मण, अपनी-अपनी प्रधानता चाहते हुए परस्पर झगड़ने लगे। उनमें दुष्ट ग्रहों[१] के समान सात ब्राह्मण एक गुट बनाकर गाँवों के कार्यों में बाधा पहुँचाने लगे। उन ब्राह्मणों की इस प्रकार उच्छृंखलता करने पर विदूषक उदासीन (तटस्थ) हो गया। धैर्यशाली व्यक्तियों के लिए छोटी-छोटी बातों में तटस्थता ही अच्छी रहती है ।।१२९-१३१।।

इस प्रकार जब वे आपस में झगड़ रहे थे तब चक्रधर नाम का एक स्पष्टवक्ता ब्राह्मण मठ में आया। वह (ब्राह्मण) काना होने पर भी दूसरों के न्याय के लिए स्पष्टद्रष्टा था और कुबड़ा होने पर भी वाणी से स्पष्टवक्ता था ।।१३२-१३३।।

वह उनसे बोला—'अरे मूर्खो ! तुम भिखमंगों ने किसी तरह यह लक्ष्मी (सम्पत्ति) प्राप्त की है, उसे आपस में लड़कर क्यों नष्ट कर रहे हो। यदि इस प्रकार लड़ोगे, तो फिर भीख माँगोगे ।।१३४-१३५।।

---

१. सृष्टि के प्रारम्भ में सात ग्रह, एक राशि में थे और प्रलयकाल में भी वे एक राशि में एकत्र होंगे—ऐसा ज्योतिष-सिद्धान्तवादियों का मत है। ज्योतिष-सिद्धान्त से अनेक पापग्रहों का एक राशि पर एकत्र होना अनिष्टकारी होता है।—अनु०

वरं हि दैवायत्तैकवृद्धिस्थानमनायकम् ।
न तु विप्लुतसर्वार्थं विभिन्नबहुनायकम् ॥१३६॥
तदेकं नायकं धीरं कुरुध्वं वचसा मम ।
स्थिरया यदि कृत्यं वो धुर्यरक्षितया श्रिया ॥१३७॥
तच्छ्रुत्वा नायकत्वं ते सर्वेऽप्यैच्छन्यदात्मनः ।
तदा विचिन्त्य मूढांस्तान्पुनश्चक्रधरोऽब्रवीत् ॥१३८॥
सङ्घर्षशालिनां तर्हि समयं वो ददाम्यहम् ।
इतः श्मशाने शूलायां त्रयश्चौरा निषूदिताः ॥१३९॥
नासास्तेषां निशि च्छित्वा यः सुसत्त्व इहानयेत् ।
स युष्माकं प्रधानं स्याद् वीरो हि स्वाम्यर्हति ॥१४०॥
इति चक्रधरेणोक्तान् विप्रांस्तानन्तिकस्थितः ।
कुरुध्वमेतत् को दोष इत्युवाच विदूषकः ॥१४१॥
ततस्तेऽस्यावदन्विप्रा नैतत्कर्तुं क्षमा वयम् ।
यो वा शक्तः स कुरुतां समये च वयं स्थिताः ॥१४२॥
ततो विदूषकोऽवादीदहमेतत्करोमि भोः ।
आनयामि निशि च्छित्वा नासास्तेषां श्मशानतः ॥१४३॥
ततस्तद्दुष्करं मत्वा तेऽपि मूढास्तमब्रुवन् ।
एवं कृते त्वमस्माकं स्वामी नियम एष नः ॥१४४॥
इत्येवाख्याप्य समयं प्राप्तायां रजनौ च तान् ।
आमन्त्र्य विप्रान् प्रययौ श्मशानं स विदूषकः ॥१४५॥
प्रविवेश च तद्वीरो निजं कर्मेव भीषणम् ।
चिन्तितोपस्थिताग्नेयकृपाणैकपरिग्रहः ॥१४६॥
डाकिनीनादसंवृद्धगृध्रवायसवाशिते ।
उल्कामुखमुखोल्काग्निविस्फारितचितानले ॥१४७॥
ददर्श तत्र मध्ये च स तान् शूलाधिरोपितान् ।
पुरुषान्नासिकाछेदभियेवोर्ध्वीकृताननान् ॥१४८॥
यावच्च निकटं तेषां प्राप तावत्त्रयोऽपि ते ।
वेतालाधिष्ठितास्तस्मिन्प्रहरन्ति स्म मुष्टिभिः ॥१४९॥
निष्कम्प एव खड्गेन सोऽपि प्रतिजघान तान् ।
न शिक्षितः प्रयत्नो हि धीराणां हृदये भिया ॥१५०॥

विना नेता का और भाग्य के आधार पर छोड़ा हुआ एक स्थान अच्छा है; किन्तु सर्वनाश करनेवाले बहुत नेताओं का होना अच्छा नहीं ॥१३६॥

यह विदूषक का दोष है कि उसने तुमलोगों की उपेक्षा करके तुम्हें स्वतन्त्र छोड़ दिया। इसलिए, मेरे कहने से किसी एक को नेता बना लो, इसके द्वारा तुम्हारी सम्पत्ति स्थिर रहेगी और बढ़ती रहेगी। चक्रधर के ऐसा कहने पर वे सभी अपने-अपने को नेता मानने के लिए तैयार हुए। तब चक्रधर ने उन्हें महामूर्ख समझकर कहा—आपस में लड़ते हुए तुमलोगों के लिए मैं शर्त्त निचित करता हूँ, 'यहाँ के श्मशान में फाँसी से मारे गये तीन चोर झूल रहे हैं॥१३७-१३९॥

उन तीनों की नाक काटकर जो वीर ले आये, वह तुममें प्रधान (नेता) हो सकेगा; क्योंकि वीर ही स्वामी बन सकता है' ॥१४०॥

चक्रधर द्वारा इस प्रकार कहे गये ब्राह्मणों से विदूषक ने कहा—'इस शर्त्त को मान लो, क्या हानि है' ? ॥१४१॥

इस कार्य के करने में असमर्थ वे बोले—'हम यह नहीं कर सकते, जो समर्थ हो, वह करे, हम शर्त्त मानने को तैयार हैं।' तब विदूषक बोला—'मैं यह कार्य करता हूँ। रात को श्मशान से उनकी नाक काटकर लाता हूँ' ॥१४२-१४३॥

तब वे मूर्ख उससे बोल उठे—'ऐसा करने पर तुम हमारे नेता बनोगे—इस निश्चय पर हम दृढ हैं' ॥१४४॥

इस प्रकार शर्त्त लगाकर रात आने पर उन ब्राह्मणों से कहकर विदूषक श्मशान में गया ॥१४५॥

स्मरण करते ही उपस्थित होनेवाले खड्ग को हाथ में लेकर अपने कार्य के समान वह भीषण श्मशान में प्रविष्ट हुआ ॥१४६॥

डाकिनी, शाकिनी आदि के शब्दों से युक्त गीध और कौओं के शब्दों-से भीषण, मुँह से आग उगलते हुए गीदड़ों की अग्नि-ज्वाला से फैलती हुई चिता-अग्नि से डरावने उस श्मशान के बीच उसने शूली पर चढ़े हुए, नाक कटने के भय से मानों ऊपर की ओर मुँह किये हुए, तीन चोरों को देखा ॥१४७-१४८॥

विदूषक जब उनके समीप पहुँचा, तब वैतालों से आक्रान्त वे तीनों मुर्दे उसे मुक्कों से मारने लगे ॥१४९॥

निडर विदूषक ने भी उन्हें खड्ग से मारा। यह सच है कि धीर पुरुषों के हृदय भय से शिक्षित ही नहीं होते ॥१५०॥

४१

तेनापगतवेतालविकाराणां स नासिकाः ।
तेषां चकर्त्त बद्ध्वा च कृती जग्राह वाससि ॥१५१॥
आगच्छंश्च ददर्शैकं शवस्योपरि संस्थितम् ।
प्रव्राजकं श्मशानेऽत्र जपन्तं[1] स विदूषकः ॥१५२॥
तच्चेष्टालोकनक्रीडाकौतुकादुपगम्य तम् ।
प्रच्छन्नः पृष्ठतस्तस्य तस्थौ प्रव्राजकस्य सः ॥१५३॥
क्षणात् प्रव्राजकस्याधः फूत्कारं मुक्तवान्शवः ।
निरगाच्च मुखात्तस्य ज्वाला नाभेश्च सर्षपाः ॥१५४॥
गृहीत्वा सर्षपांस्तांश्च स परिव्राजकस्ततः ।
उत्थाय ताडयामास शवं पाणितलेन तम् ॥१५५॥
उदतिष्ठत्स चोत्तालवेतालाधिष्ठितः शवः ।
आरुरोह च तस्यैव स्कन्धे प्रव्राजकोऽथ सः ॥१५६॥
तदारूढश्च सहसा गन्तुं प्रववृते ततः ।
विदूषकोऽपि तं तूष्णीमन्वगच्छदलक्षितः ॥१५७॥
नातिदूरमतिक्रम्य स ददर्श विदूषकः ।
शून्यं कात्यायनीमूर्त्तिसनाथं देवतागृहम् ॥१५८॥
तत्रावतीर्य वैतालस्कन्धात् प्रव्राजकस्ततः ।
विवेश गर्भभवनं वेतालोऽप्यपतद् भुवि ॥१५८॥
विदूषकश्च तत्रासीद्युक्त्या पश्यन्नलक्षितः ।
प्रव्राजकोऽपि सम्पूज्य तत्र देवीं व्यजिज्ञपत् ॥१६०॥
तुष्टासि यदि तद्देवि ! देहि मे वरमीप्सितम् ।
अन्यथात्मोपहारेण प्रीणामि भवतीमहम् ॥१६१॥
इत्युक्तवन्तं तं तीव्रमन्त्रसाधनगर्वितम् ।
प्रव्राजकं जगादैवं वाणी गर्भगृहोद्गता ॥१६२॥
आदित्यसेननृपतेः सुतामानीय कन्यकाम् ।
उपहारीकुरुष्वेह ततः प्राप्स्यसि वाञ्छितम् ॥१६३॥
एतच्छ्रुत्वा स निर्गत्य करेणाहत्य तं पुनः ।
प्रव्राडुत्थापयामास वेतालं मुक्तफूत्कृतिम् ॥१६४॥

---

१. अयमघोरसम्प्रदायावलम्बी परिव्राजकः । साम्प्रतमपि मलिनाः कुचैला ईदृश साधवो लभ्यन्ते ।

तलवार की मार से वैताल मुरदों को छोड़कर भाग गये, वैतालों का आवेश हट जाने विदूषक ने उन तीनों चोरों की नाक काट ली और उन्हें एक वस्त्र-खण्ड में बाँध या ।।१५१।।

वहाँ से लौटते हुए विदूषक ने श्मशान में मुरदे पर बैठकर जप करते हुए एक प्रव्राजक ाधु) को देखा ।।१५२।।

विदूषक उसकी चेष्टा और कार्यक्रम देखने की लालसा से उसकी पीठ की ओर ाकर छिप गया ।।१५३।।

कुछ ही समय के अनन्तर मुरदे ने साधक के नीचे फूत्कार किया, उसके मुँह से अग्नि ी ज्वाला और नाभि से सरसों के दाने निकले ।।१५४।।

साधक संन्यासी ने सरसों के उन दानों को हाथ में ले लिया और उठकर मुरदे को ाप्पड़ मारा ।।१५५।।

तदनन्तर, वैताल से आविष्ट वह मुरदा उठा और वह साधक उसके ही कन्धे पर बैठ ाया। उसपर चढ़कर वह सहसा चलने लगा, तो कौतूहलवश विदूषक भी छिपे-छिपे उसके पीठ पीछे चला। कुछ ही दूर जाने पर साधु, दुर्गा की मूर्त्तिवाले शून्य मन्दिर के अन्तगृ ह में गया और वह वैतालवाला शव भूमि पर गिर गया ।।१५६-१५९।।

विदूषक भी युक्ति से छिपकर उसकी गति-विधि देखता रहा। साधक ने देवी की पूजा करके प्रार्थना की—'हे देवि, यदि तुम मुझपर प्रसन्न हो, तो मुझे मेरा इच्छित वर प्रदान करो। नहीं तो मैं अपना बलिदान करके तुम्हें प्रसन्न करता हूँ' ।।१६०-१६१।।

उस कठोर अनन्यसाधना से गर्वित उस साधु को उस गर्भगृह से निकली हुई वाणी ने कहा—'राजा आदित्यसेन की लड़की को लाकर उसका बलिदान करो, तो तुम अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकते हो' ।।१६२-१६३।।

यह सुनकर उस साधक ने बाहर निकलकर उस मुरदे को फिर थप्पड़ लगाकर उठाया और वह फू-फू करने लगा ।।१६४।।

तस्य च स्कन्धमारुह्य निर्यद्वक्त्रानलार्चिषः ।
आनेतुं राजपुत्रीं तामुत्पत्य नभसा ययौ ॥१६५॥
विदूषकोऽपि तत्सर्वं दृष्ट्वा तत्र व्यचिन्तयत् ।
कथं राजसुतानेन हन्यते मयि जीवति ॥१६६॥
इहैव तावत्तिष्ठामि, यावदायात्यसौ शठः ।
इत्यालोच्य स तत्रैव तस्थौ छन्नो विदूषकः ॥१६७॥
प्रव्राजकश्च गत्वैव वातायनपथेन सः ।
प्रविश्यान्तःपुरं प्राप सुप्तां निशि नृपात्मजाम् ॥१६८॥
आययौ च गृहीत्वा तां गगनेन तमोमयः ।
कान्तिप्रकाशितदिशं राहुः शशिकलामिव ॥१६९॥
हा तात हाम्बेति च तां क्रन्दन्तीं कन्यकां वहन् ।
तत्रैव देवीभवने सोऽन्तरिक्षादवातरत् ॥१७०॥
प्रविवेश च तत्कालं वेतालं प्रविमुच्य सः ।
कन्यारत्नं तदादाय देवीगर्भगृहान्तरम् ॥१७१॥
तत्र यावन्निहन्तुं तां राजपुत्रीमियेष सः ।
तावदाकृष्टखड्गोऽत्र प्रविवेश विदूषकः ॥१७२॥
आः पाप ! मालतीपुष्पमश्मना हन्तुमीहसे ।
यदस्यामाकृतौ शस्त्रं व्यापारयितुमिच्छति ॥१७३॥
इत्युक्त्वाकृष्य केशेषु शिरस्तस्य विवेल्लतः ।
प्रव्राजकस्य चिच्छेद खड्गेन स विदूषकः ॥१७४॥
आश्वासयामास च तां राजपुत्रीं भयाकुलाम् ।
प्रविशन्तीमिवाङ्गानि किञ्चित्प्रत्यभिजानतीम् ॥१७५॥
कथमन्तःपुरं राज्ञो राजपुत्रीमिमामितः ।
नयेयमिति तत्कालमसौ धीरो व्यचिन्तयत् ॥१७६॥
भो विदूषक शृण्वेतद्योऽयं प्रव्राट् त्वया हतः ।
महानेतस्य वेतालः सिद्धोऽभूत्सर्षपास्तथा ॥१७७॥
ततोऽस्य पृथ्वीराज्ये च वाञ्छा राजात्मजासु च ।
उदपद्यत तेनायमेवं मूढोऽद्य वञ्चितः ॥१७८॥
तद्गृहाणैतदीयांस्त्वं सर्षपान्वीर येन ते ।
इमामेकां निशामद्य भविष्यत्यम्बरे गतिः ॥१७९॥

मुँह से आग की ज्वाला उगलते हुए उस मुरदे के कन्धे पर बैठकर साधक प्रव्राजक राजकुमारी को लाने के लिए आकाश-माँर्ग से चला ।।१६५।।

विदूषक यह सारी घटना देखकर सोचने लगा कि मेरे जीते-जी यह राजकुमारी का वध कैसे करेगा ? ।।१६६।।

इसलिए मैं तबतक यहीं ठहरता हू, जबतक वह नीच आता है। ऐसा सोचकर वह वहीं छिपा रहा ।।१६७।।

इस प्रकार आकाश में उड़ता हुआ प्रव्राजक, खिड़की के रास्ते से, राजकुमारी के भवन में जा पहुँचा ।।१६८।।

उसने उसे इस प्रकार पकड़ा, जिस प्रकार अन्धकारपूर्ण आकाश में कान्ति फैलानेवाली शशिकला को राहु पकड़ता है ।।१६९।।

इतने में ही अरे बाप ! अरी मा ! इस प्रकार चिल्लाती हुई राजकन्या को लिये वह नीच आकाश से नीचे उतरा। उस वैताल (मुरदे) को उसी प्रकार छोड़कर कन्या को देवी की मूर्त्ति के समीप पहुँचा ।।१७०-१७१।।

वह जब राजकुमारी को वध करने के लिए तैयार हुआ, इतने में ही तलवार खींचे हुए विदूषक भी मन्दिर में घुसा और बोला—'ओ पापी ! मालती के फूल को पत्थर से पीसना चाहता है; जो इस कोमल कन्या पर शस्त्र प्रहार करना चाहता है' ।।१७२-१७३।।

ऐसा कहकर और उसकी जटा पकड़कर विदूषक ने साधक संन्यासी का वध कर डाला और भय से काँपती हुई एवं अत्यन्त सिकुड़ती हुई राजकन्या को धीरज बँधाया ।।१७४-१७५।।

वह सोचने लगा कि अब इसे (राजकुमारी को) फिर रनिवास में कैसे पहुँचाऊँ ।।१७६।।

इतने में ही आकाशवाणी हुई—'हे विदूषक ! तुमने इस प्रव्राजक को मारा है, इसे यह वैताल और सरसों के दाने सिद्ध थे ।।१७७।।

इसीलिए, इसकी पृथ्वी का राज्य और राजकुमारी को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो गई थी। किन्तु आज यह ठगा गया ।।१७८।।

इसलिए 'हे वीर ! तुम उसके सरसों के दाने ले लो, इससे केवल एक आज की रात तुम्हारी आकाश में गति हो जायगी' ।।१७९।।

इत्याकाशगता वाणी जातहर्षं जगाद तम् ।
अनुगृह्णन्ति हि प्रायो देवता अपि तादृशम् ॥१८०॥
ततो वस्त्राञ्चलात्तस्य स परिव्राजकस्य तान् ।
जग्राह सर्षपान्हस्ते तामङ्के च नृपात्मजाम् ॥१८१॥
यावच्च देवी भवनात्स तस्मान्निर्ययौ बहिः ।
उच्चचार पुनस्तावदन्या नभसि भारती ॥१८२॥
इहैव देवीभवने मासस्यान्ते पुनस्त्वया ।
आगन्तव्यं महावीर विस्मर्तव्यमिदं न ते ॥१८३॥
तच्छ्रुत्वा च तथेत्युक्त्वा सद्यो देवीप्रसादतः ।
उत्पपात नभो बिभ्रद्राजपुत्रीं विदूषकः ॥१८४॥
गत्वा च गगनेनाशु स तामन्तःपुरान्तरम् ।
प्रावेशयद्राजसुतां समाश्वस्तामुवाच च ॥१८५॥
न मे भविष्यति प्रातर्गतिर्व्योम्नि ततश्च माम् ।
सर्वे द्रक्ष्यन्ति निर्यान्तं तत्सम्प्रत्येव याम्यहम् ॥१८६॥
इति तेनोदिता बाला बिभ्यती सा जगाद तम् ।
गते त्वयि मम प्राणास्त्रासाक्रान्ताः प्रयान्त्यमी ॥१८७॥
तन्महाभाग मा गास्त्वं देहि मे जीवितं पुनः ।
प्रतिपन्नार्थनिर्वाहः सहजं हि सतां व्रतम् ॥१८८॥
तच्छ्रुत्वा चिन्तयामास स सुसत्त्वो विदूषकः ।
यद्यस्तु मे न गच्छामि मुञ्चेत्प्राणान् भयादियम् ॥१८९॥
ततश्च नृपतेर्भक्तिः का मया विहिता भवेत् ।
इत्यालोच्य स तत्रैव तस्थावन्तःपुरे निशि ॥१९०॥
व्यायामजागरश्रान्तो ययौ निद्रां शनैश्च सः ।
राजपुत्री त्वनिद्रैव भीता तामनयन्निशाम् ॥१९१॥
विश्राम्यतु क्षणं तावदिति प्रेमार्द्रमानसा ।
सुप्तं प्रबोधयामास सा प्रभातेऽपि नैव तम् ॥१९२॥
ततः प्रविष्टा ददृशुस्तमन्तःपुरचारिकाः ।
ससम्भ्रमाश्च गत्वैव राजानं तं व्यजिज्ञपन् ॥१९३॥
राजाप्यवेक्षितुं तत्त्वं प्रतीहारं व्यसर्जयत् ।
प्रतीहारश्च गत्वान्तस्तत्रापश्यद् विदूषकम् ॥१९४॥

यह सुनकर वह प्रसन्न हुआ । सच है, ऐसे वीर और सत्कार्यकर्त्ताओं को देवताओं की भी कृपा प्राप्त होती है ।।१८०।।

तब विदूषक ने उस मृत साधु के आँचल से सरसों के दाने निकालकर एक हाथ में लिये और दूसरे हाथ से राजकन्या को गोद में लेकर बाहर निकला ।

जब वह देवी के मन्दिर से बाहर निकला, तब उसे पुनः दूसरी आकाशवाणी सुन पड़ी—'हे महावीर ! महीने के अन्त में तुम इस मन्दिर में फिर आना, यह भूलना नहीं' ।।१८२-१८३।।

यह सुनकर और उसे स्वीकार करके देवी की कृपा से राजकुमारी को लिये हुए विदूषक आकाश की ओर उड़ा ।।१८४।।

आकाशमार्ग से जाकर राजकन्या को उसके भवन में पहुँचाकर और उसे धीरज बँधाकर बोला—'सबेरे आकाश में उड़ने की मेरी शक्ति न रहेगी । वह केवल इसी रात के लिए प्राप्त थी । तब इस घर से निकलते हुए मुझे सब लोग देखेंगे । इसलिए मैं अभी ही जा रहा हूँ' ।।१८५-१८६।।

विदूषक के भली भाँति समझाने पर भी डरती हुई बालिका उससे बोली—तुम्हारे जाने पर भय से काँपते हुए मेरे प्राण अब निकल रहे हैं । इसीलिए हे महापुरुष ! तुम न जाओ। स्वीकार किये हुए कार्य का निर्वाह करना सज्जनों का का स्वाभाविक व्रत (नियम) है' ।।१८७-१८८।।

यह सुनकर महाप्राणवान् विदूषक सोचने लगा,—'जो भी हो, मैं नहीं जाता । यह भय से प्राणा का छोड़ देगी । तब मेरी राजसेवा ही क्या हुई ?' ऐसा सोचकर वह वहीं राजकन्या के भवन में ठहर गया । धीरे-धीरे श्रम और जागरण से थका हुआ वह रात में भी सो गया । किन्तु, डरी हुई राजकुमारी ने जाग करके ही सारी रात व्यतीत की ।।१८६-१६१।।

'यह कुछ देर विश्राम कर ले'—इस प्रकार स्नेहपूर्ण-हृदया राजकन्या ने उसे प्रातः-काल नहीं जगाया । तब रनिवास की सेविकाओं ने अन्दर आकर उसे देखा और घबराकर राजा से निवेदन किया ।।१६२-१६३।।

राजा ने भी तत्त्व जानने की इच्छा से अपने निजी सेवक को भेजा। उसने अन्दर जाकर उस विदूषक को देखा ।।१६४।।

शुश्राव च यथावृत्तं स तद्राजसुतामुखात् ।
तथैव गत्वा राज्ञे च स समग्रं न्यवेदयत् ॥१९५॥
विदूषकस्य सत्त्वज्ञस्तच्छ्रुत्वा स महीपतिः ।
किमेतत् स्यादिति क्षिप्रं समुद्भ्रान्त इवाभवत् ॥१९६॥
आनाययच्च दुहितुर्मन्दिरात्तं विदूषकम् ।
दत्तानुयात्रं मनसा तस्याः स्नेहानुपातिना ॥१९७॥
पप्रच्छ च यथावृत्तं स राजा तमुपागतम् ।
आ मूलतश्च सोऽप्यस्मै विप्रो वृत्तान्तमब्रवीत् ॥१९८॥
अदर्शयच्च वस्त्रान्ते निबद्धाश्चौरनासिकाः ।
प्रव्राट्सम्बधिनस्तांश्च सर्षपान्भूमिभेदिनः ॥१९९॥
ततः सम्भाव्य सत्यं तत्तांश्चानाय्य मठद्विजान् ।
सर्वांश्चक्रधरोपेतान् पृष्ट्वा तन्मूलकारणम् ॥२००॥
स्वयं श्मशाने गत्वा च दृष्ट्वा तांश्छिन्ननासिकान् ।
पुरुषांस्तं च निर्लूनकण्ठं प्रव्राजकाधमम् ॥२०१॥
उत्पन्नप्रत्ययो राजा स तुतोष महाशयः ।
विदूषकाय कृतिने सुताप्राणप्रदायिने ॥२०२॥
ददौ तस्मै च तामेव तदैव तनयां निजाम् ।
किमदेयमुदाराणामुपकारिषु तुष्यताम् ॥२०३॥
श्रीरुवासाम्बुजप्रीत्या नूनं राजसुताकरे ।
गृहीतपाणिर्येनास्या लेभे लक्ष्मीं विदूषकः ॥२०४॥
ततो राजोपचारेण स तया कान्तया सह ।
आदित्यसेननृपतेस्तस्थौ श्लाघ्ययशा गृहे ॥२०५॥
अथ यातेषु दिवसेष्वेकदा दैवचोदिता ।
तमुवाच निशायां सा राजपुत्री विदूषकम् ॥२०६॥
नाथ स्मरसि यत्तत्र तव देवीगृहे निशि ।
मासान्ते त्वमिहागच्छेरित्युक्तं दिव्यया गिरा ॥२०७॥
तत्र चाद्य गतो मासो भवतस्तच्च विस्मृतम् ।
इत्युक्तः प्रियया स्मृत्वा स जहर्ष विदूषकः ॥२०८॥
साधु स्मृतं त्वया तन्वि ! विस्मृतं तन्मया पुनः ।
इत्युक्त्वालिङ्गनं चास्यै स ददौ पारितोषिकम् ॥२०९॥

राजसेवक ने राजकुमारी के मुँह से सुना हुआ सारा समाचार राजा से कह दिया ।।१९५।।

विदूषक के मन और बल को जाननेवाला राजा 'यह क्या बात है ?'—ऐसा सोचता हुआ व्याकुल-सा हो गया और कन्या के भवन से विदूषक को बुलाकर ठीक-ठीक समाचार पूछा। उसने भी प्रारम्भ से अन्त तक सारा समाचार कह डाला और कपड़े के कोने में बँधे हुए उन चोरों की कटी हुई नाक भी दिखा दी, साथ ही प्रव्राजक के उन भूमिभेदी सरसों के दानों को भी दिखाया ।।१९६–१९९।।

राजा ने सारी घटना को सत्य समझकर सभी मठवासी ब्राह्मणों को चक्रधर के साथ बुलाया और उसने मूल कारण जानकर श्मशान में जाकर उन तीनों नक-कटों को देखा और कटे हुए गलेवाले उस दुष्ट साधक को (देवी-मन्दिर में) देखा ।।२००-२०१।।

इन प्रमाणों से विश्वस्त राजा ने कन्या को प्राणदान करनेवाले विदूषक को अपनी कन्या प्रदान कर दी। सच है, उदार व्यक्तियों के उपकारों के लिए कौन-वस्तु अदेय है ? ।।२०२-२०३।।

राजकुमारी के हाथ में लक्ष्मी का निवास था, इसी कारण विदूषक ने उसका पाणि-ग्रहण करते ही लक्ष्मी को प्राप्त किया ।।२०४।।

वह यशस्वी विदूषक अपनी पत्नी के साथ आदित्यसेन के घर राजाओं के समान रहने लगा ।।२०५।।

कुछ दिनों के बाद देव से प्रेरित राजकन्या ने रात्रि में विदूषक से कहा कि 'हे स्वामिन् ! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि देवी-मन्दिर में आकाशवाणी ने कहा था कि 'एक मास बाद तुम यहाँ आना'। तदनुसार, आज मास समाप्त हो गया, आप उसे भूल गये।' पत्नी से यह सुनकर विदूषक प्रसन्न हुआ। और बोला—प्रिये ! तुमने अच्छा स्मरण कराया, मैं उसे सचमुच भूल गया था।' ऐसा कहकर उसने उसे पुरस्कार में आलिंगन प्रदान किया ।।२०६–२०९।।

सुप्तायां च ततस्तस्यां निर्गत्यान्तःपुरान्निशि ।
आदाय खड्गं स्वस्थः संस्तद्देवीभवनं ययौ ॥२१०॥
प्राप्तो विदूषकोऽहं भोरिति तत्र वदन् बहिः ।
प्रविशेत्यशृणोद् वाचमन्तः केनाप्युदीरिताम् ॥२११॥
प्रविश्य चान्तरे सोऽथ दिव्यमावासमैक्षत ।
तदन्तर्दिव्यरूपां च कन्यां दिव्यपरिच्छदाम् ॥२१२॥
स्वप्रभाभिन्नतिमिरां रजनिज्वलितामिव ।
हरकोपाग्निनिर्दग्धस्मरसञ्जीवनौषधिम् ॥२१३॥
किमेतदिति साश्चर्यः स तया दृष्टया स्वयम् ।
सस्नेहबहुमानेन स्वागतेनाभ्यनन्द्यत ॥२१४॥
उपविष्टं च सञ्जातविस्रम्भं प्रेमदर्शनात् ।
तत्स्वरूपपरिज्ञानसोत्सुकं सा तमब्रवीत् ॥२१५॥
अहं विद्याधरी कन्या भद्रा नाम महान्वया ।
इह कामचरत्वाच्च त्वामपश्यमहं तदा ॥२१६॥
त्वद्गुणाकृष्टचित्ता च तत्कालमहमेव ताम् ।
अदृश्यवाणीमसृजं पुनरागमनाय ते ॥२१७॥
अद्य विद्या प्रयोगाच्च संमोह्य प्रेरिता मया ।
सा ते राजसुतैवाऽस्मिन् कार्ये स्मृतिमजीजनत् ॥२१८॥
त्वदर्थं च स्थितास्मीह तत्तुभ्यमिदमर्पितम् ।
शरीरं सुन्दर मया कुरु पाणिग्रहं मम ॥२१९॥
इत्युक्तो भद्रया भव्यो विद्याधर्या विदूषकः ।
तथेति परिणिन्ये तां गान्धर्वविधिना तदा ॥२२०॥
अतिष्ठदथ तत्रैव दिव्यं भोगमवाप्य सः ।
स्वपौरुषफलद्ध्येव प्रियया सङ्गतस्तया ॥२२१॥
अत्रान्तरे प्रबुद्धा सा राजपुत्री निशाक्षये ।
भर्त्तारं तमपश्यन्ती विषादं सहसागमत् ॥२२२॥
उत्थाय चान्तिकं मातुः प्रस्खलद्भिः पदैर्ययौ ।
विह्वला सङ्कुलद्बाष्पतरङ्गितविलोचना ॥२२३॥
स पतिर्मे गतः क्वापि रात्राविति च मातरम् ।
आत्मापराधसभया सानुतापा च साभ्यधात् ॥२२४॥

उसके सो जाने पर रात में वह विदूषक तलवार लेकर स्वस्थतापूर्वक देवी-मन्दिर को गया ।।२१०।।

मन्दिर के बाहर पहुँचकर उसने आवाज दी—हे ! मैं विदूषक आ गया ।' अन्दर से किसी की आवाज आई कि 'अन्दर आओ' ।।२११।।

उसने अन्दर जाकर दिव्य स्थान देखा । उसके अन्दर दिव्य रूप और दिव्य वस्त्र-धारिणी सुन्दरी को देखा । वह अपनी कान्ति से अन्धकार को ऐसे दूर कर रही थी, मानों शिव के कोप से जले हुए कामदेव को जिलाने के लिए जलती हुई संजीवनी ओषधि हो ।।२१२-२१३।।

'यह क्या देख रहा हूँ'—इस प्रकार आश्चर्यचकित विदूषक का उस प्रसन्न सुन्दरी ने बड़े ही मान-सम्मान के साथ स्वागत किया ।।२१४।।

कुछ समय के अनन्तर आश्वस्त होकर बैठे हुए और उस सुन्दरी का परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक विदूषक को वह सुन्दरी स्वयं कहने लगी—'मैं महान् वंश में उत्पन्न भद्रा नाम की विद्याधरी हूँ, अभी अविवाहिता कन्या हूँ । स्वेच्छाचारिणी होने के कारण उस दिन मैं यहाँ आई और तुम्हें देखा । तुम्हारे गुणों से आकृष्ट होकर मैंने ही अदृश्य रूप से तुम्हें पुनः आने के लिए आकाशवाणी की थी । मेरी विद्या से प्रेरित राजकुमारी ने आज तुम्हें याद दिलाई ।।२१५–२१८।।

भद्रा से कहे गये वचन को विदूषक ने 'ठीक है'—ऐसा स्वीकार करके गन्धर्व-विधान से उसके साथ विवाह कर लिया । और वहीं रात-भर ठहरकर, पौरुष-समृद्धि के फलस्वरूप, उस प्रिया के साथ दिव्य आनन्द लेने लगा ।।२१९–२२१।।

इसी बीच रात के अन्त में जगी राजकुमारी पति को न देखकर सहसा दुःखी हो गई ।।२२२।।

उठकर व्याकुल और आँसुओं से डबडबाती आँखोंवाली कुमारी लड़खड़ाती पैरों से माता के पास गई ।।२२३।।

अपने द्वारा किये गये अपराध पर पश्चात्ताप करती हुई राजकुमारी ने माता से कहा कि 'मेरा पति रात में कहीं चला गया' ।।२२४।।

ततस्तन्मातरि स्नेहात् सम्भ्रान्तायां क्रमेण तत् ।
बुद्ध्वा राजापि तत्रैत्य परमाकुलतामगात् ।।२२५।।
जानें श्मशानबाह्यं तं गतोऽसौ देवतागृहम् ।
इत्युक्ते राजसुतया राजा तत्र स्वयं ययौ ।।२२६।।
तत्र विद्याधरीविद्याप्रभावेण तिरोहितम् ।
विचिन्त्यापि न लेभे तं स क्षितीशो विदूषकम् ।।२२७।।
ततो राज्ञि परावृत्ते निराशां तां नृपात्मजाम् ।
देहत्यागोन्मुखीमेत्य ज्ञानी कोऽप्यब्रवीदिदम् ।।२२८।।
नारिष्टशङ्का कर्त्तव्या स हि ते वर्त्तते पतिः ।
युक्तो दिव्येन भोगेन त्वामुपैष्यति चाचिरात् ।।२२९।।
तच्छ्रुत्वा राजपुत्री सा धारयामास जीवितम् ।
हृदि प्रविष्टया रुद्धं तत्प्रत्यागमवाञ्छया ।।२३०।।
विदूषकस्यापि ततस्तिष्ठतस्तत्र तां प्रियाम् ।
भद्रां योगेश्वरी नाम सखी काचिदुपाययौ ।।२३१।।
उपेत्य सा रहस्येनामिदं भद्रामथाब्रवीत् ।
सखि मानुषसंसर्गात् क्रुद्धा विद्याधरास्त्वयि ।।२३२।।
पापं च ते चिकीर्षन्ति तदितो गम्यतां त्वया ।
अस्ति पूर्वाम्बुधेः पारे पुरं कार्कोटकाभिधम् ।।२३३।।
तदतिक्रम्य च नदी शीतोदा नाम पावनी ।
तीर्त्वा तामुदयाख्यश्च सिद्धक्षेत्रं महागिरिः ।।२३४।।
विद्याधरैरनाक्रम्यस्तत्र त्वं गच्छ साम्प्रतम् ।
प्रियस्य मानुषस्यास्य कृते चिन्तां च मा कृथाः ।।२३५।।
एतद्धि सर्वमेतस्य कथयित्वा गमिष्यसि ।
येनैष पश्चात्तत्रैव सत्त्ववानागमिष्यति ।।२३६।।
इत्युक्ता सा तया सख्या भद्रा भयवशीकृता ।
विदूषकानुरक्तापि प्रतिपेदे तथेति तत् ।।२३७।।
उक्त्वा च तस्य तद्युक्त्या दत्त्वा च स्वाङ्गुलीयकम् ।
विदूषकस्य रात्र्यन्तसमये सा तिरोदधे ।।२३८।।
विदूषकश्च पूर्वस्मिन् शून्ये देवगृहे स्थितम् ।
क्षणादपश्यदात्मानं न भद्रां न च मन्दिरम् ।।२३९।।

पुत्री के स्नेह से माता के व्याकुल हो जाने पर क्रमशः राजा भी उठा और बहुत व्याकुल हो गया ।।२२५।।

मालूम होता है कि 'वह (मेरा पति) श्मशान के बाहरवाले देवी-मन्दिर में गया होगा'—राजकुमारी के ऐसा कहने पर राजा आदित्यसेन स्वयं मन्दिर की ओर गया ।।२२६।।

वहाँ पर विद्याधरी की विद्या के प्रभाव से तिरोहित विदूषक को राजा ने नहीं देखा ।।२२७।।

तब राजा के लौट आने पर निराश हुई उस राजकन्या से किसी ज्ञानी ने आकर कहा—'तुम किसी प्रकार के अनिष्ट की शंका न करो। वह तुम्हारा पति जीवित है और शीघ्र ही दिव्य भोगों से युक्त तुम्हें मिलेगा' ।।२२८-२२९।।

यह सुनकर हृदय में पैठी हुई, पति के लौटने की, आशा से राजकन्या ने किसी तरह अपने जीवन की रक्षा की ।।२३०।।

इधर जब विदूषक भद्रा नाम की विद्याधरी के साथ दिव्य भोगों का आनन्द ले रहा था, इसी बीच भद्रा की योगेश्वरी नामक सखी वहाँ आई ।।२३१।।

वह आकर भद्रा से एकान्त में बोली कि 'हे सखि! तुमने मनुष्य के साथ सम्पर्क कर लिया है। इसलिए विद्याधर तुमपर बहुत क्रुद्ध हैं और तुम्हारा अहित करना चाहते हैं, इसलिए तुम यहाँ से भाग जाओ ।।२३२-२३३।।

पूर्व समुद्र के पार कार्कोटक नामक नगर है। उसे पार करके शीतोदा नाम की पवित्र नदी है। उसे पार करके उदयनामक महान् पर्वत है, जो सिद्धों का क्षेत्र है ।।२३४।।

वह उदय पर्वत विद्याधरों से आक्रमण नहीं किया जा सकता। वहाँ तुम जाओ और अपने प्यारे इस पुरुष के लिए चिन्ता न करो ।।२३५।।

यह सब इस मनुष्य को बता देना, तब यह प्राणवान् वीर पुरुष, तुम्हारे जाने के अनन्तर वहाँ पहुँच जायगा ।।२३६।।

उस सखी के द्वारा डराई गई उस भद्रा ने विदूषक के प्रति अत्यन्त अनुरक्त होने पर भी उसकी बात मान ली ।।२३७।।

भद्रा, विदूषक को सारी घटना समझाकर और अपनी अगूठी उसे देकर रात्रि के अन्त में स्वयं अन्तर्धान हो गई ।।२३८।।

विदूषक ने उस पुराने घर में न अपने को, न भद्रा को और न मन्दिर को देखा ।।२३९।।

स्मरन्विद्याप्रपञ्चं तं पश्यंश्चैवाङ्गुलीयकम् ।
विषादविस्मयावेशवशः सोऽभूद् विदूषकः ॥२४०॥
अचिन्तयच्च तस्याः स वचः स्वप्नमिव स्मरन् ।
गता तावन्निवेद्यैव सा ममोदयपर्वतम् ॥२४१॥
तन्मयाप्याशु तत्रैव गन्तव्यं तदवाप्तये ।
न चैवं लोकदृष्टं मां लब्ध्वा राजा परित्यजेत् ॥२४२॥
तस्माद्युक्तिं करोमीह कार्यं सिद्ध्यति मे यथा ।
इति सञ्चिन्त्य मतिमान् रूपमन्यत्स शिश्रिये ॥२४३॥
जीर्णवासा रजोलिप्तो भूत्वा देवीगृहात्ततः ।
निरगादथ 'हा भद्रे ! हा भद्रे' इति स ब्रुवन् ॥२४४॥
तत्क्षणं च विलोक्यैनं जनास्तद्देशवर्त्तिनः ।
सोऽयं विदूषकः प्राप्त इति कोलाहलं व्यधुः ॥२४५॥
बुद्ध्वा च राज्ञा निर्गत्य स्वयं दृष्ट्वा तथाविधः ।
उन्मत्तचेष्टोऽवष्टभ्य स नीतोऽभूत् स्वमन्दिरम् ॥२४६॥
तत्र स्नेहाकुलैर्यद्यदुक्तोऽभूद् भृत्यबान्धवैः ।
तत्र तत्र स 'हा भद्रे' इति प्रत्युत्तरं ददौ ॥२४७॥
वैद्योपदिष्टैरभ्यङ्गैरभ्यक्तोऽपि स तत्क्षणम् ।
अङ्गमुद्धूलयामास भूरिणा भस्मरेणुना ॥२४८॥
स्नेहेन राजपुत्र्या च स्वहस्ताभ्यामुपाहृतः ।
आहारस्तेन सहसा पादेनाहत्य चिक्षिपे ॥२४९॥
एवं स तस्थौ कतिचिद्दिवसांस्तत्र निःस्पृहः ।
पाटयन्निजवस्त्राणि कृतोन्मादो विदूषकः ॥२५०॥
अशक्यप्रतिकारोऽयं तत्किमर्थं कदर्थ्यते ।
त्यजेत् कदाचन प्राणान् ब्रह्महत्या भवेत्ततः ॥२५१॥
स्वच्छन्दचारिणस्त्वस्य कालेन कुशलं भवेत् ।
इत्यालोच्य स चादित्यसेनो राजा मुमोच तम् ॥२५२॥
ततः स्वच्छन्दचारी सन्नन्येद्युः साङ्गुलीयकः ।
वीरो भद्रां प्रति स्वैरं स प्रतस्थे विदूषकः ॥२५३॥
गच्छन्नहरहः प्राच्यां दिशि प्राप स च क्रमात् ।
मध्ये मार्गवशायातं नगरं पौण्ड्रवर्धनम् ॥२५४॥

यह सब विद्याधरी की विद्या का प्रभाव समझकर और अंगूठी को देखता हुआ विदूषक खेद और आश्चर्य के वशीभूत हो गया। उसकी बात को स्वप्न के समान स्मरण करता हुआ विदूषक सोचने लगा कि वह उदय पर्वत का पता बताकर गई है। इसलिए, उसे प्राप्त करने के निमित्त मुझे भी वहीं शीघ्र जाना चाहिए ॥२४०-२४१॥

यदि मैं न जाऊँगा और लोग मुझे देखेंगे, तो राजा मेरी इस स्थिति को देखकर मुझे छोड़ देगा ॥२४२॥

इसीलिए, ऐसी युक्ति करता हूँ कि जिससे मेरा काम सिद्ध हो सके—ऐसा सोचकर बुद्धिमान् विदूषक ने अपना रूप बदल लिया। फटे-पुराने कपड़े पहिने, शरीर में धूल लपेटे हुए वह देवी-मन्दिर से बाहर निकलकर 'हा भद्रे ! हे भद्रे'—इस प्रकार रटने लगा ॥२४३–२४४॥

उस समय उसे इस स्थिति में देखकर उस देश के निवासी 'यह तो वही विदूषक है'—ऐसा हुल्लड़ मचाने लगे। राजा आदित्यसेन ने यह समाचार जानकर उसे उस रूप में देखकर पकड़वाकर अपने घर बुलाया ॥२४५–२४६॥

वहाँ स्नेह-भरे भृत्यों एवं बन्धुओं के विविध प्रश्नों पर केवल 'हा भद्रे', 'हा भद्रे' ही कहता रहा ॥२४७॥

वैद्यों द्वारा बताये गये उबटनों के लगाने पर भी वह पुनः बहुत-सी धूल उठाकर शरीर में लपेट लेता था ॥२४८॥

राजकुमारी द्वारा प्रेमपूर्वक लाई गई भोजन की थाली को वह पैरों से मारकर फेंक देता था ॥२४९॥

इस प्रकार पागलपन का प्रदर्शन करता हुआ, अपने कपड़ो को फाड़ता हुआ, वह विदूषक लापरवाही से कुछ दिनों तक वहाँ रहा ॥२५०॥

'इसका रोग असाध्य है, इसे व्यर्थ कष्ट क्यों दिया जाय ? यदि कहीं इसने प्राण त्याग दिये, तो व्यर्थ की ब्रह्महत्या लगेगी, वह स्वच्छन्दचारी अपने समय से ही आरोग्य होगा'—राजा आदित्यसेन ने ऐसा सोचकर उसे छोड़ दिया ॥२५१-२५२॥

वह स्वच्छन्दचारी पागल विदूषक, उँगली में अंगूठी पहने हुए धीरे-धीरे भद्रा की ओर (उदय पर्वत) चला ॥२५३॥

पूर्व दिशा की ओर दिन-रात चलते-चलते उसे मार्ग में पौण्ड्रवर्धन नाम का नगर मिला ॥२५४॥

मातरत्र वसाम्येकां रात्रिमित्यभिधाय सः ।
ब्राह्मण्यास्तत्र कस्याश्चिद् वृद्धायाः प्राविशद् गृहम् ॥२५५॥
प्रतिपन्नाश्रया सा च कृतातिथ्या क्षणान्तरे ।
ब्राह्मणी समुपेत्यैनं सान्तर्दुःखा जगाद तम् ॥२५६॥
तुभ्यमेव मया दत्तं पुत्र सर्वमिदं गृहम् ।
तद् गृहाण यतो नास्ति जीवितं मम साम्प्रतम् ॥२५७॥
कस्मादेवं ब्रवीषीति तेनोक्ता विस्मितेन सा ।
श्रूयतां कथयाम्येतदित्युक्त्वा पुनरब्रवीत् ॥२५८॥
अस्तीह देवसेनाख्यो नगरे पुत्र भूपतिः ।
तस्य चैका समुत्पन्ना कन्या भूतलभूषणम् ॥२५९॥
मया दुःखेन लब्धेयमिति तां दुःखलब्धिकाम् ।
नाम्ना चकारैष नृपस्तनयामतिवत्सलः ॥२६०॥
कालेन यौवनारूढामानीताय स्ववेश्मनि ।
राज्ञे कच्छपनाथाय तां प्रादाच्चैष भूपतिः ॥२६१॥
स कच्छपेश्वरस्तस्या वध्वा वासगृहं निशि ।
प्रविष्ट एव प्रथमं तत्कालं पञ्चतां ययौ ॥२६२॥
ततो विमनसा राज्ञा भूयोऽप्येतेन सा सुता ।
दत्तान्यस्मै नृपायाभूत्सोऽपि तद्वद् व्यपद्यत ॥२६३॥
तद्भयाच्च तदान्येऽपि नृपा वाञ्छन्ति नैव ताम् ।
तदा सेनापतिं राजा निजमेव समादिशत् ॥२६४॥
इतो देशात्त्वयैकैकः क्रमादेकैकतो गृहात् ।
पुत्रान् प्रत्यहमानेयो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथवा ॥२६५॥
आनीय च प्रवेश्योऽत्र रात्रौ मत्पुत्रिकागृहे ।
पश्यामोऽत्र विपद्यन्ते कियन्तोऽत्र कियच्चिरम् ॥२६६॥
उत्तरिष्यति यश्चात्र सोऽस्या भर्त्ता भविष्यति ।
गतिः शक्या परिच्छेत्तुं नह्यद्भुतविधेर्विधेः ॥२६७॥
इति सेनापती राज्ञा समादिष्टो दिने दिने ।
वारक्रमेण गेहेभ्यो नयत्येव नरानिह ॥२६८॥
एवं च तत्र यातानि क्षयं नरशतान्यपि ।
मम चाकृतपुण्याया एकः पुत्रोऽत्र वर्त्तते ॥२६९॥

'माता ! एक रात मैं यहाँ निवास करना चाहता हूँ', ऐसा कहकर वह किसी बूढ़ी के मकान में घुसा ।।२५५।।

आश्रय देना स्वीकार करके तुरन्त ही उसका स्वागत करके दुःखित-हृदय ब्राह्मणी उसके समीप आकर बोली--'बेटा ! यह सारा घर मैंने तुम्हें ही दे दिया, तुम इसे ले लो; क्योंकि मेरा जीवन अब समाप्त हो रहा है' ।।२५६-२५७।।

'तुम ऐसा क्यों कर कह रही हो ?'--विदूषक से इस प्रकार पूछी गई वृद्धा फिर बोली--'सुनो, मैं तुम्हें सब सुनाती हूँ' ।।२५८।।

बेटा, इस नगर में देवसेन नामक राजा है । उसके एक परम सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई, जो भू-तल का भूषण थी ।।२५६।।

राजा ने 'मैंने इसे बड़े दुःख से पाया है'--ऐसा सोच अत्यन्त वात्सल्य-स्नेह-युक्त होकर उसका नाम 'दुःखलब्धिका' रखा ।।२६०।।

कुछ समय व्यतीत होने पर, यौवन को प्राप्त उस कन्या को, अपने घर पर लाये हुए कच्छप-देश के राजा के लिए दे दिया ।।२६१।।

वह कच्छपनाथ उसके साथ वासघर में प्रवेश करते ही तत्क्षण मर गया ।।२६२।।

इस घटना से दुःखी होकर देवसेन ने वह कन्या दूसरे राजा को दी, किन्तु वह भी इसी प्रकार मर गया ।।२६३।।

जब इस भय के कारण अन्य किसी राजा ने उन कन्या को लेना स्वीकार नहीं किया, तब राजा ने अपने सेनापति को आज्ञा दी कि तुम इस नगर से प्रतिदिन एक-एक ब्राह्मण या क्षत्रिय पुरुष को लाकर इस कन्या के शयनागार में भेजो । देखते हैं कि कबतक कितने मरते हैं ! जो इसमें सफल हो जायगा, नहीं मरेगा, वही इसका पति होगा । आश्चर्यकारी दैव की गति-विधि जानी नहीं जा सकती ।।२६४-२६७।।

इस प्रकार, राजा की आज्ञा से सेनापति, प्रतिदिन पारी के क्रम से, एक-एक युवा पुरुष को लाता रहा ।।२६८।।

इस प्रकार क्रमशः एक सौ व्यक्ति मारे गये, मुझ अभागिन का भी एक ही पुत्र है ।।२६६।।

तस्य वारोऽद्य सम्प्राप्तस्तत्र गन्तुं विपत्तये ।
तदभावे मया कार्यं प्रातरग्निप्रवेशनम् ॥२७०॥
तज्जीवन्ती स्वहस्तेन तुभ्यं गुणवते गृहम् ।
ददामि सर्वं येन स्यां न पुनर्दुःखभागिनी ॥२७१॥
एवमुक्तवतीं धीरस्तामवोचद् विदूषकः ।
यद्येवमम्ब तर्हि त्वं मास्म विक्लवतां कथाः ॥२७२॥
अहं तत्राद्य गच्छामि जीवत्वेकसुतस्तव ।
किमेतं घातयामीति कृपा ते मयि मा च भूत् ॥२७३॥
सिद्धियोगाद्धि नास्त्येव भयं तत्र गतस्य मे ।
एवं विदूषकेणोक्ता ब्राह्मणी सा जगाद तम् ॥२७४॥
तर्हि पुण्यैर्ममायातः कोऽपि देवो भवानिह ।
तत्प्राणान्देहिनः पुत्र कुशलं च तथात्मनि ॥२७५॥
एवं तया सोऽनुमतः सायं राजसुतागृहम् ।
सेनापतिनियुक्तेन किङ्करेण समं ययौ ॥२७६॥
तत्रापश्यन्नृपसुतां तां यौवनमदोद्धताम् ।
लतामनुच्चितस्फीतपुष्पभारानतामिव ॥२७७॥
ततो निशायां शयने राजपुत्र्या तयाश्रिते ।
ध्यातोपनतमाग्नेयं खड्गं बिभ्रत्करेण सः ॥२७८॥
वासवेश्मनि तत्रासीज्जाग्रदेव विदूषकः ।
पश्यामि तावत्को हन्ति नरानत्रेति चिन्तयन् ॥२७९॥
प्रसुप्ते च जने क्षिप्रादपावृतकपाटकम् ।
स द्वारदेशादायान्तं घोरं राक्षसमैक्षत ॥२८०॥
स च द्वारिस्थितस्तत्र राक्षसो वासकान्तरे ।
भुजं नरशताकाण्डयमदण्डं न्यबेशयत् ॥२८१॥
विदूषकश्च चिच्छेद धावित्वा तस्य तं क्रुधा ।
एकं खड्गप्रहारेण बाहुं सपदि रक्षसः ॥२८२॥
छिन्नबाहुः पलाय्याशु जगाम स निशाचरः ।
भूयोऽनागमनायैव तत्सत्त्वोत्कर्षभीतितः ॥२८३॥
प्रबुद्ध्वा वीक्ष्य पतितं रक्षोबाहुं नृपात्मजा ।
भीता च जातहर्षा च विस्मिता च बभूव सा ॥२८४॥

उसकी पारी आज है । आज वह मरने के लिए जायगा । इसके मर जाने पर मैं :काल आग में प्रवेश करके जल मरूँगी ।।२७०।।

इसलिए, जीवित अवस्था में तुम्हारे ऐसे गुणवान् को सारा घर दान देती हूँ, जिससे र इस प्रकार का कष्ट न भोगना पड़े । ऐसा कहती हुई वृद्धा से वीर-धीर विदूषक ना—'अम्मा ! तुम घबराओ मत । आज की पारी में मैं जाऊँगा, तुम्हारा एकलौता बेटा वित रहे । इसे क्यों मरवाऊँ'—इस प्रकार तुम मुझपर दया भी न करना, मेरे पास एसे द्धियोग हैं, जिनसे मुझे वहाँ जाकर मरने का भय नहीं है । ब्राह्मण के ऐसा कहने पर ढ़ी बोली—।।२७१-२७४।।

'मालूम होता है कि मेरे पुण्य-प्रभाव से तुम किसी देवता के रूप में आये हो, इसलिए मेरे पुत्र को प्राण-दान करो और अपना भी कल्याण करो' ।।२७५।।

इस प्रकार, वृद्धा की सम्मति प्राप्त करके वह विदूषक सायंकाल सेनापति से नियुक्त किये गये दूत के साथ राजकन्या के यहाँ गया ।।२७६।।

वहाँ जाकर उसने यौवन के मद से मदमाती और फूलों के न तोड़ने के कारण भार से झुकी हुई लता के समान राजकन्या को देखा ।।२७७।।

तब रात्रि में राजकन्या के सो जाने पर पलंग पर ध्यान से प्राप्त अपनी तलवार को लिये हुए विदूषक जाग रहा था और यह सोच रहा था कि देखता हूँ, यह कौन है, जो मनुष्यों को मार देता है ।।२७८-२७९।।

सब लोगों के सो जाने पर उसने किवाड़ों को खोलकर दरवाजे से घुसते हुए भीषण राक्षस को देखा ।।२८०।।

उसने द्वार पर खड़े-खड़े ही सैंकड़ों पुरुषों के लिए यमदण्ड के समान भीषण भुजा को घर के अन्दर डाला ।।२८१।।

विदूषक ने दौड़कर क्रोध से उसकी भुजा को एक ही खड्ग-प्रहार से काट डाला ।।२८२।।

कटे हुए हाथोंवाला वह राक्षस मानों उसके उत्कृष्ट बल से डरकर फिर न आने के लिए शीघ्रता से भाग गया ।।२८३।।

राजकन्या ने जागकर उस कटकर गिरे हुए राक्षस के हाथ को देखा और उसे देखकर डरी, प्रसन्न हुई तथा अचरज से चकित-सी रह गई ।।२८४।।

प्रातश्च ददृशे राज्ञा देवसेनेन तत्र सः
स्वसुतान्तःपुरद्वारि स्थितश्छिन्नच्युतो भुजः
इतः प्रभृति नेहान्यैः प्रवेष्टव्यं नरैरिति
दत्तो विदूषकेणैव सुदीर्घः परिघार्गलः
ततो दिव्यप्रभावाय तस्मै प्रीतः स पार्थिवः
विदूषकाय तनयां तां ददौ विभवोत्तरम्
ततस्तया समं तत्र कान्तया स विदूषकः
तस्थौ दिनानि कतिचिद्रूपवत्येव सम्पदा
एकस्मिंश्च दिने सुप्तां राजपुत्रीं विहाय ताम्
स ततः प्रययौ रात्रौ तां भद्रां प्रति सत्वरः
राजपुत्री च सा प्रातस्तददर्शनदुःखिता
आसीदाश्वासिता पित्रा तत्प्रत्यावर्त्तनाशया
सोऽपि गच्छन्नहरहः क्रमात् प्राप विदूषकः
पूर्वाम्बुधेरदूरस्थां नगरीं ताम्रलिप्तिकाम्
तत्र चक्रे स केनापि वणिजा सह सङ्गतिम्
स्कन्ददासाभिधानेन पारमब्धेर्यियासता ।
तेनैव सह सोऽनल्पतदीयधनसम्भृतम्
यानपात्रं समारुह्य प्रतस्थेऽम्बुधिवर्त्मना ।
ततः समुद्रमध्ये तद्यानपात्रमुपागतम्
अकस्मादभवद्रुद्धं व्यासक्तमिव केनचित् ।
अर्चितेऽप्यर्णवे रत्नैर्यदा न विचचाल तत् ।
तदा स वणिगार्त्तः सन् स्कन्ददासोऽब्रवीदिदम् ।
यो मोचयति संरुद्धमिदं प्रवहणं मम ।
तस्मै निजधनार्धं च स्वसुतां च ददाम्यहम् ।
तच्छ्रुत्वैव जगादैनं धीरचेता विदूषकः ।
अहमत्रावतीर्यान्तर्विचिनोम्यम्बुधेर्जलम् ।
क्षणाच्च मोचयाम्येद्रुद्धं प्रवहणं तव ।
यूयं चाप्यवलम्बध्वं बद्ध्वा मां पाशरज्जुभिः ।
विमुक्ते च प्रवहणे तत्क्षणं वारिमध्यतः ।
उद्धर्त्तव्योऽस्मि युष्माभिरवलम्बन-रज्जुभिः ॥

प्रातःकाल राजा ने कन्या के शयनागार के द्वार पर पड़े हुए और कटकर गिरे हुए हाथ को देखा ॥२८५॥

राजा ने समझा कि विदूषक ने अब से लेकर यहाँ दूसरों का प्रवेश न हो, ऐसा सोचकर द्वार पर परिघ (शस्त्र) के समान भुजा की अर्गला लगा दी है ॥२८६॥

तब अत्यन्त प्रसन्न राजा ने दिव्य प्रभावशाली विदूषक को धन के साथ कन्या प्रदान की। वह विदूषक भी, मूर्तिमती सम्पत्ति के समान उस सुन्दरी राजकन्या के साथ कुछ दिनों तक रहा ॥२८७-२८८॥

एक बार भद्रा से मिलने की शीघ्रता के कारण विदूषक रात में उठकर चल पड़ा ॥२८९॥

दूसरे दिन प्रातःकाल राजकुमारी उसे न देखकर अत्यन्त दुःखी हुई; किन्तु राजा ने उसके पुनः लौटने की आशा दिलाकर उसे धीरज बँधाया ॥२९०॥

वह विदूषक भी, दिन-रात चलते-चलते, पूर्वसमुद्र के समीप ताम्रलिप्ति नामक नगरी में पहुँचा ॥२९१॥

उसने वहाँ पर समुद्र-पार जाने की इच्छा रखनेवाले स्कन्ददास नामक व्यापारी वैश्य से मित्रता की ॥२९२॥

और, अत्यधिक धन से भरे हुए उसके जहाज पर चढ़कर विदूषक ने समुद्र-मार्ग से यात्रा की ॥२९३॥

क्रमशः जहाज समुद्र के बीच पहुँच गया और किसी वस्तु में फँसकर वहीं अड़ गया ॥२९४॥

रत्नों से समुद्र की पूजा करने पर भी जब जहाज हिला नहीं, तब अत्यन्त दीनता से बनिये ने कहा कि मेरे फँसे हुए जहाज को जो छुड़ा देगा, उसे मैं अपनी सम्पत्ति का आधा हिस्सा और अपनी कन्या दे दूँगा ॥२९५-२९६॥

यह सुनकर धैर्यशाली विदूषक ने कहा कि 'मैं पानी में उतरकर खोज करता हूँ और तुरन्त इस फँसे जहाज को छुड़ाता हूँ ॥२९७॥

तुम लोग मुझे जाल और रस्सियों से कसकर बाँधो और ऊपर से पकड़ रहो ॥२९८॥

जब जहाज छूटकर चलने लगे, तब तुम लोग उन रस्सियों द्वारा मुझे ऊपर खींच लेना' ॥२९९॥

प्रातश्च ददृशे राज्ञा देवसेनेन तत्र सः ।
स्वसुतान्तःपुरद्वारि स्थितश्छिन्नच्युतो भुजः ॥२८५॥
इतः प्रभृति नेहान्यैः प्रवेष्टव्यं नरैरिति ।
दत्तो विदूषकेणैव सुदीर्घः परिघार्गलः ॥२८६॥
ततो दिव्यप्रभावाय तस्मै प्रीतः स पार्थिवः ।
विदूषकाय तनयां तां ददौ विभवोत्तरम् ॥२८७॥
ततस्तया समं तत्र कान्तया स विदूषकः ।
तस्थौ दिनानि कतिचिद्रूपवत्येव सम्पदा ॥२८८॥
एकस्मिंश्च दिने सुप्तां राजपुत्रीं विहाय ताम् ।
स ततः प्रययौ रात्रौ तां भद्रां प्रति सत्वरः ॥२८९॥
राजपुत्री च सा प्रातस्तददर्शनदुःखिता ।
आसीदाश्वासिता पित्रा तत्प्रत्यावर्त्तनाशया ॥२९०॥
सोऽपि गच्छन्नहरहः क्रमात् प्राप विदूषकः ।
पूर्वाम्बुधेरदूरस्थां नगरीं ताम्रलिप्तिकाम् ॥२९१॥
तत्र चक्रे स केनापि वणिजा सह सङ्गतिम् ।
स्कन्ददासाभिधानेन पारमब्धेर्यियासता ॥२९२॥
तेनैव सह सोऽनल्पतदीयधनसम्भृतम् ।
यानपात्रं समारुह्य प्रतस्थेऽम्बुधिवर्त्मना ॥२९३॥
ततः समुद्रमध्ये तद्यानपात्रमुपागतम् ।
अकस्मादभवद्रुद्धं व्यासक्तमिव केनचित् ॥२९४॥
अर्चितेऽप्यर्णवे रत्नैर्यदा न विचचाल तत् ।
तदा स वणिगार्त्तः सन् स्कन्ददासोऽब्रवीदिदम् ॥२९५॥
यो मोचयति संरुद्धमिदं प्रवहणं मम ।
तस्मै निजधनार्धं च स्वसुतां च ददाम्यहम् ॥२९६॥
तच्छ्रुत्वैव जगादैनं धीरचेता विदूषकः ।
अहमत्रावतीर्यान्तर्विचिनोम्यम्बुधेर्जलम् ॥२९७॥
क्षणाच्च मोचयाम्येद्रुद्धं प्रवहणं तव ।
यूयं चाप्यवलम्बध्वं बद्ध्वा मां पाशरज्जुभिः ॥२९८॥
विमुक्ते च प्रवहणे तत्क्षणं वारिमध्यतः ।
उद्धर्त्तव्योऽस्मि युष्माभिरवलम्बन-रज्जुभिः ॥२९९॥

प्रातःकाल राजा ने कन्या के शयनागार के द्वार पर पड़े हुए और कटकर गिरे हुए हाथ को देखा ।।२८५।।

राजा ने समझा कि विदूषक ने अब से लेकर यहाँ दूसरों का प्रवेश न हो, ऐसा सोचकर द्वार पर परिघ (शस्त्र) के समान भुजा की अर्गला लगा दी है ।।२८६।।

तब अत्यन्त प्रसन्न राजा ने दिव्य प्रभावशाली विदूषक को धन के साथ कन्या प्रदान की। वह विदूषक भी, मूर्तिमती सम्पत्ति के समान उस सुन्दरी राजकन्या के साथ कुछ दिनों तक रहा ।।२८७-२८८।।

एक बार भद्रा से मिलने की शीघ्रता के कारण विदूषक रात में उठकर चल पड़ा ।।२८९।।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजकुमारी उसे न देखकर अत्यन्त दुःखी हुई; किन्तु राजा ने उसके पुनः लौटने की आशा दिलाकर उसे धीरज बँधाया ।।२९०।।

वह विदूषक भी, दिन-रात चलते-चलते, पूर्वसमुद्र के समीप ताम्रलिप्ति नामक नगरी में पहुँचा ।।२९१।।

उसने वहाँ पर समुद्र-पार जाने की इच्छा रखनेवाले स्कन्ददास नामक व्यापारी वैश्य से मित्रता की ।।२९२।।

और, अत्यधिक धन से भरे हुए उसके जहाज पर चढ़कर विदूषक ने समुद्र-मार्ग से यात्रा की ।।२९३।।

क्रमशः जहाज समुद्र के बीच पहुँच गया और किसी वस्तु में फँसकर वहीं अड़ गया ।।२९४।।

रत्नों से समुद्र की पूजा करने पर भी जब जहाज हिला नहीं, तब अत्यन्त दीनता से बनिये ने कहा कि मेरे फँसे हुए जहाज को जो छुड़ा देगा, उसे मैं अपनी सम्पत्ति का आधा हिस्सा और अपनी कन्या दे दूँगा ।।२९५-२९६।।

यह सुनकर धैर्यशाली विदूषक ने कहा कि 'मैं पानी में उतरकर खोज करता हूँ और तुरन्त इस फँसे जहाज को छुड़ाता हूँ ।।२९७।।

तुम लोग मुझे जाल और रस्सियों से कसकर बाँधो और ऊपर से पकड़ रहो ।।२९८।।

जब जहाज छूटकर चलने लगे, तब तुम लोग उन रस्सियों द्वारा मुझे ऊपर खींच लेना' ।।२९९।।

तथेति तेन वणिजा तद्वचस्यभिनन्दिते ।
बबन्धुः कर्णधारास्तं रज्जुबन्धेन कक्षयोः ॥३००॥
तद्बद्धोऽवततारैव वारिधौ स विदूषकः ।
न जात्ववसरे प्राप्ते सत्त्ववानवसीदति ॥३०१॥
ध्यातोपस्थितमाग्नेयं खड्गं कृत्वा च तं करे ।
वीरः प्रवहणस्याधो मध्येवारि विवेश सः ॥३०२॥
तत्र चैकं महाकायं सुप्तं पुरुषमैक्षत ।
जङ्घायां तस्य रुद्धं च यानपात्रं व्यलोकयत् ॥३०३॥
चिच्छेद तां स जङ्घां च तस्य खड्गेन तत्क्षणम् ।
चचाल स प्रवहणं रोधमुक्तं तदैव तत् ॥३०४॥
तद्दृष्ट्वैव वणिक्पापश्छेदयामास तस्य तत् ।
विदूषकस्य रज्जूस्ताः प्रतिपन्नार्थलोभतः ॥३०५॥
वृत्तेनैव च मुक्तेन द्रुतं प्रवहणेन सः ।
स्वलोभस्येव महतः पारमम्बुनिधेर्ययौ ॥३०६॥
विदूषकोऽपि स च्छिन्नरज्ज्वालम्बोऽम्बुमध्यगः ।
उन्मज्ज्य तत्तथा दृष्ट्वा धीरः क्षणमचिन्तयत् ॥३०७॥
किमिदं वणिजा तेन कृतं किमथवोच्यते ।
कृतघ्ना धनलोभान्धा नोपकारेक्षणक्षमाः ॥३०८॥
तदेष कालः सुतरामवैक्लव्यस्य साम्प्रतम् ।
नहि सत्त्वावसादेन स्वाल्पाप्यापद् विलङ्घ्यते ॥३०९॥
इति सञ्चिन्त्य तत्कालं जङ्घां तामारुरोह सः ।
या सान्तर्जलसुप्तस्य पुंसस्तस्य न्यकृत्यत ॥३१०॥
तया ततार नावेव हस्तव्यस्ताम्बुरम्बुधिम् ।
दैवमेव हि साहाय्यं कुरुते सत्त्वशालिनाम् ॥३११॥
तं मारुतिमिवाम्भोधिपारं रामार्थ[1]मागतम् ।
बलवन्तमुवाचैवमन्तरिक्षात्सरस्वती ॥३१२॥

---

१. रामार्थशब्दः श्लिष्टः, मारुतिपक्षे रामस्यार्थः, विदूषकपक्षे च रामा=स्त्री. तदर्थमिति ज्ञेयम् ।

उस वैश्य के स्वीकार करने पर जहाज के खलासियों ने इसे रस्सियों से दोनों ओर से कसकर बाँध दिया ।।३००।।

इस प्रकार बँधा हुआ विदूषक समुद्र में उतर पड़ा । वीर पुरुष मौका आने पर कभी हिम्मत नहीं हारता ।।३०१।।

ध्यान करते ही उपस्थित होनेवाले खड्ग को हाथ में लिये हुए विदूषक जहाज के नीचे पानी में गोता लगाकर गया ।।३०२।।

वहाँ उसने एक विशालकाय सोये हुए पुरुष को देखा, जिसकी जाँघों में फँसकर जहाज रुक गया था ।।३०३।।

विदूषक ने तलवार से उसकी विशाल जंघा काट डाली और रुकावट हटने से जहाज चल पड़ा ।।३०४।।

यह देखकर उस दुष्ट (बेईमान) बनिये ने घोषित धन के लोभ से विदूषक के शरीर से बंधी रस्सियों को काट डाला और वह वैश्य अपचरित्र के समान छूटे हुए जहाज से महान् लोभ के समान समुद्र के पार पहुँच गया ।।३०५-३०६।।

रस्सियों के कट जाने से समुद्र के बीच निराधार तैरता हुआ धीर विदूषक जल से निकलकर सोचने लगा कि इस पापी बनिये ने यह क्या किया । अथवा क्या कहा जाय ? धन के लोभ से अन्धे कृतघ्न उपकार को देखने या समझने में समर्थ नहीं होते ।।३०७-३०८।।

इसलिए, अब यह समय घबराने का नहीं है, धैर्य खो देने पर छोटी-सी विपत्ति भी दूर नहीं की जा सकती, यह तो भीषण विपत्ति है ।।३०९।।

ऐसा सोचकर वह उस जंघे पर चढ़ बैठा, जो उसने अन्दर सोये हुए पुरुष की काट दी थी ।।३१०।।

दोनों हाथों से डंडे का काम लेकर उसी जाँघ के सहारे विदूषक ने समुद्र को पार कर लिया । सच है, साहसियों को दैव भी सहायता देता है ।।३११।।

राम के लिए समुद्र के पार आये हुए हनूमान् के समान उस वीर विदूषक से आकाशवाणी ने कहा—।।३१२।।

साधु साधु सुसत्त्वोऽस्ति कोऽन्यस्त्वत्तो विदूषकः ।
अनेन तव धैर्येण तुष्टोऽस्मि तदिदं शृणु ॥३१३॥
प्राप्तोऽसि नग्नविषयमिमं सम्प्रत्यतोऽपि च ।
कार्कोटकाख्यं नगरं दिनैः प्राप्स्यसि सप्तभिः ॥३१४॥
ततो लब्धधृतिर्गत्वा शीघ्रं प्राप्स्यसि चेप्सितम् ।
अहं चाराधितः पूर्वं भवता हव्यकव्यभुक् ॥३१५॥
मद्वराच्च तवेदानीं क्षुत्तृष्णा न च वर्त्स्यति ।
तद्गच्छ गिद्धयै विस्रब्धमित्युक्त्वा विरराम वाक् ॥३१६॥
विदूपकश्च तच्छ्रुत्वा प्रणम्याग्निं प्रहर्षितः ।
प्रतस्थे सप्तमे चाह्नि प्राप कार्कोटकं पुरम् ॥३१७॥
तत्र च प्रविवेशैकं मठमार्यैरधिष्ठितम् ।
नानादेशोद्भवैस्तैस्तैर्द्विजैरभ्यागतप्रियैः ॥३१८॥
श्रीमता निर्मितं राज्ञा तत्रत्येनार्यवर्मणा ।
ऋद्धं समग्रसौवर्णहृद्यदेवकुलान्वितम् ॥३१९॥
तत्र सर्वैः कृतातिथ्यमेकस्तं ब्राह्मणोऽतिथिम् ।
स्नानेन भोजनैर्वस्त्रैर्नीत्वा गृहमुपाचरत् ॥३२०॥
सायं च तन्मठस्थः सन् पुरे शुश्राव तत्र सः ।
विदूपकः सपटहं घोष्यमाणमिदं वचः ॥३२१॥
'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि परिणेतुं नृपात्मजाम् ।
प्रातरिच्छति यः सोऽद्य रात्रौ वसतु तद्गृहे' ॥३२२॥
तच्छ्रुत्वा सनिमित्तं स तदाशङ्क्य च तत्क्षणम् ।
गन्तुं राजसुतावासमियेष प्रियसाहसः ॥३२३॥
ऊचुस्तं मठविप्रास्ते ब्रह्मन् मा साहसं कृथाः ।
तन्न राजसुतासद्म तन्मृत्योर्विवृतं मुखम् ॥३२४॥
यो हि तत्र प्रविशति क्षपायां न स जीवति ।
गताः सुबहवश्चैवमत्र साहसिकाः क्षयम् ॥३२५॥
इत्युक्तोऽपि स तैर्विप्रैरनङ्गीकृततद्वचाः ।
विदूषको राजगृहं ययौ तत्किङ्करैः सह ॥३२६॥
तत्रार्यवर्मणा राज्ञा स्वयं दृष्ट्वाभिनन्दितः ।
विवेश तत्सुतावासं नक्तमर्क इवानलम् ॥३२७॥

'हे विदूषक ! बहुत अच्छा, तुम सच्चे वीर पुरुष हो।' तुम्हारे जैसा वीर दूसरा कौन है। तुम्हारे इस धैर्य से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अब तुम सुनो ॥३१३॥

'इस समय तुम नग्नदेश में आये हो, यहाँ से सात दिनों में कार्कोटक नगर में पहुँचोगे। वहाँ पहुँचकर तुम्हें धैर्य प्राप्त होगा, तब अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करोगे। तुमने हव्य-कव्य खानेवाले मेरी पहले आराधना की थी ॥३१४-३१५॥

अब मेरे ही वरदान से तुम्हें भूख-प्यास नहीं सतावेंगी। तुम अपनी कार्य-सिद्धि के लिए जाओ'—ऐसा कहकर आकाशवाणी बन्द हो गई ॥३१६॥

विदूषक, इस आकाशवाणी को सुनकर हर्षित हुआ और अग्नि को प्रणाम करके चला एवं सातवें दिन कार्कोटक नगर में पहुँच गया ॥३१७॥

वहाँ पहुँचकर वह एक मठ में घुसा, जिसमें श्रेष्ठ जन तथा अतिथियों से स्नेह रखने वाले भिन्न-भिन्न देशों के निवासी ब्राह्मण निवास करते थे ॥३१८॥

वह मठ, वहाँ के राजा आर्यवर्मा ने बनवाया था और बहुत समृद्ध था ॥३१९॥

उसमें सुवर्ण की सुन्दर देव-प्रतिभा थी। मठ के निवासियों ने विदूषक का स्वागत किया। एक ब्राह्मण उस अतिथि (विदूषक) को घर ले गया और घर ले जाकर स्नान, भोजन और वस्त्रों से उसकी सेवा की ॥३२०॥

सायंकाल उस मठ में आकर ठहरे हुए उसने नगाड़े के साथ की जाती हुई यह घोषणा सुनी ॥३२१॥

कि जो कोई भी ब्राह्मण या क्षत्रिय राजकुमारी को ब्याहने के लिए चाहता हो, वह आज रात को राजकुमारी के घर में निवास करे ॥३२२॥

यह सुनकर साहसी विदूषक इस घोषणा में किसी कारण की आशंका न करके रात में वहाँ जाने के लिए तैयार हो गया ॥३२३॥

उसे उद्यत देखकर मठ-निवासी ब्राह्मणों ने उसे कहा—'हे ब्राह्मणों ! ऐसा साहस न करना। वह राजकुमारी का भवन नहीं, वह मृत्यु का खुला हुआ मुँह है। उसमें रात को जो प्रवेश करता है, वह जीवित नहीं रहता, अनेक साहसी व्यक्ति गये और मर गये ॥३२४-३२५॥

उन मठवासी ब्राह्मणों के बहुत मना करने पर भी उनकी बात को अस्वीकार करके विदूषक राजसेवकों के साथ वहाँ गया ॥३२६॥

वहाँ राजा आर्यवर्मा ने उसे देखकर अभिनन्दन (स्वागत) किया और रात को वह राजकन्या के शयनागार में इस प्रकार घुसा, जैसे रात्रि को अग्नि में सूर्य प्रवेश करता है ॥३२७॥

दर्दश राजकन्यां च तामाकृत्यानुरागिणीम् ।
नैराश्यदुःखविधुरं पश्यन्तीं सास्रया दृशा ।।३२८।।
आसीच्च जाग्रदेवात्र स रात्राववलोकयन् ।
करे कृपाणमाग्नेयं चिन्तितोपनतं दधत् ।।३२९।।
अकस्माच्च महाघोरं ददर्श द्वारि राक्षसम् ।
छिन्नदक्षिणबाहुत्वात् प्रसारितभुजान्तरम् ।।३३०।।
दृष्ट्वा व्यचिन्तयच्चासौ हन्त सोऽयं निशाचरः ।
यस्य बाहुर्मया छिन्नो नगरे पौण्ड्रवर्धने ।।३३१।।
तदद्य न पुनर्बाहौ प्रहरिष्याम्यसौ हि मे ।
पलाय्य पूर्ववद्गच्छेत्तस्मात्साधु निहन्म्यमुम् ।।३३२।।
इत्यालोच्य प्रधाव्यैव केशेष्वाकृष्य तस्य सः ।
राक्षसस्य शिरश्छेत्तुं समारेभे विदूषकः ।।३३३।।
तत्क्षणं भीतभीतश्च तमुवाच स राक्षसः ।
मा मां वधीः सुसत्त्वस्त्वं तत्कुरुष्व कृपामिति ।।३३४।।
किं नामा त्वं च केयं च तव चेष्टेति तेन सः ।
मुक्त्वा पृष्टश्च वीरेण पुनराह स राक्षसः ।।३३५।।
यमदंष्ट्राभिधानस्य ममाभूतां सुते इमे ।
इयमेका तथान्या च पौण्ड्रवर्धनवर्त्तिनी ।।३३६।।
अवीरपुरुषासङ्गाद्रक्षणीये नृपात्मजे ।
शङ्कराज्ञा प्रसादो हि ममाभूदयमीदृशः ।।३३७।।
तत्रादौ बाहुरेकेन छिन्नो मे पौण्ड्रवर्धने ।
त्वया चाद्य जितोऽस्मीह तत्समाप्तमिदं मम ।।३३८।।
तच्छ्रुत्वा स विहस्यैनं प्रत्युवाच विदूषकः ।
मयैव स भुजस्तत्र लूनस्ते पौण्ड्रवर्धने ।।३३९।।
राक्षसोऽप्यवदत्तर्हि देवांशस्त्वं न मानुषः ।
मन्ये त्वदर्थमेवाभूच्छर्वाज्ञानुग्रहः स मे ।।३४०।।
तदिदानीं सुहृन्मे त्वं यदा मां च स्मरिष्यति ।
तदाहं सन्निधास्ये ते सिद्धये सङ्कटेष्वपि ।।३४१।।
एवं स राक्षसो मैत्र्या वरयित्वा विदूषकम् ।
तेनाभिनन्दितवचा यमदंष्ट्रस्तिरोदधे ।।३४२।।

उसने वहाँ जाकर श्राकार से प्रेममयी श्रौर निराशा के दुःख से व्याकुल एवं श्राँसू-भरे नेत्रों से निहारती हुई राजकन्या को देखा ।।३२८।।

विदूषक वहाँ सतर्क होकर स्मरण-मात्र से उपस्थित होनेवाले श्रग्नि-देवता के खड्ग को हाथ में लि` हुए रात-भर जागता रहा। सहसा उसने शयनागार के द्वार पर एक श्रत्यन्त भीषण राक्षस को देखा, जो दाहिना हाथ कट जाने से छाती को फैलाये हुए था ।।३२९–३३०।।

उसे देखकर विदूषक ने सोचा कि श्रोह ! यह तो वही राक्षस है, जिसका हाथ मैंने पौण्ड्रवर्धन नगर में काटा था ।।३३१।।

तो श्राज इसका हाथ नहीं काटता, नहीं तो यह पहले की तरह भागकर कहीं चला जायगा। श्रतः, इसे भली भाँति मार डालता हूँ ।।३३२।।

ऐसा सोचकर श्रौर दौड़कर उसने उसके बालों को पकड़ा श्रौर गला काटने के लिए तलवार उठाई ।।३३३।।

तब वह डरा हुश्रा राक्षस बोला —'तुम मुझे मत मारो, तुम साहसी वीर पुरुष हो। मुझपर दया करो' ।।३३४।।

'तुम कौन हो ? श्रौर तुम्हारा यह क्या कार्य है ?' इस प्रकार वीर विदूषक के पूछने पर वह राक्षस फिर बोला ।।३३५।।

'मैं यमदंष्ट्र नामक राक्षस हूँ। मेरी दो कन्याएँ हैं, एक तो यह श्रौर दूसरी पौण्ड्र-वर्धन राजा की ।।३३६।।

'इन दोनों कन्याश्रों की कायर पुरुषों के संसर्ग से रक्षा करना'—इस प्रकार भगवान् शिव की श्राज्ञा हुई। इसमें एक वीर ने पहले पौण्ड्रवर्धन में मेरी भुजा काटी श्रौर श्राज तुमने मुझे जीत लिया। श्रब मेरा यह कार्य समाप्त हुश्रा' ।।३३७–३३९।।

राक्षस ने श्रौर कहा कि 'तुम पुरुष नहीं, देवता का श्रंश हो। समझता हूँ; तुम्हारे लिए ही शिवजी की श्राज्ञा की कृपा हुई थी ।।३४०।।

श्रब तुम मेरे मित्र हो गये। तुम जब कभी संकट में स्मरण करोगे, तब मैं तुम्हारी सफलता के लिए उपस्थित रहूँगा' ।।३४१।।

इस प्रकार, विदूषक को मित्रता से वरण करके श्रौर उसकी स्वीकृति प्राप्त करके राक्षस यमदंष्ट्र श्रन्तर्धान हो गया ।।३४२।।

विदूषकोऽपि सानन्दमभिनन्दितविक्रमः ।
राजपुत्र्या तया तत्र हृष्टस्तामनयन्निशाम् ॥३४३॥
प्रातश्च ज्ञातवृत्तान्तस्तुष्टस्तस्मै ददौ नृपः ।
विभवैः सह शौर्यैकपताकामिव तां सुताम् ॥३४४॥
स तया सह तत्रासीद्रात्रीः काश्चिद् विदूषकः ।
पदात्पदममुञ्चन्त्या लक्ष्म्येव गुणबद्धया ॥३४५॥
एकदा च निशि स्वैरं ततः प्रायात्प्रियोत्सुकः ।
लब्धदिव्यरसास्वादः को हि रज्येद्रसान्तरे ॥३४६॥
नगराच्च विनिर्गत्य स तं सस्मार राक्षसम् ।
स्मृतमात्रागतं तं च जगाद रचिताननतिम् ॥३४७॥
सिद्धक्षेत्रे प्रयातव्यमुदयाद्रौ मया सखे ।
भद्राविद्याधरीहेतोरतस्त्वं तत्र मां नय ॥३४८॥
तथेत्युक्तवतस्तस्य स्कन्धमारुह्य रक्षसः ।
ययौ च स तया रात्र्या दुर्गमां षष्टियोजनीम् ॥३४९॥
प्रातश्च तीर्त्वा शीतोदामलङ्घ्यां मानुषैर्नदीम् ।
उदयाद्रेरथ प्रापत्सन्निकर्षमयत्नतः ॥३५०॥
अयं स पर्वतः श्रीमानुदयाख्यः पुरस्तव ।
अत्रोपरि च नास्त्येव सिद्धिधाम्नि गतिर्मम ॥३५१॥
इत्युक्त्वा राक्षसे तस्मिन्प्राप्तानुज्ञे तिरोहिते ।
दीर्घिकां स ददर्शैकां रम्यां तत्र विदूषकः ॥३५२॥
वदन्त्याः स्वागतमिव भ्रमद्भ्रमरगुञ्जितैः ।
तस्यास्तीरे न्यषीदच्च फुल्लपद्माननश्रियः ॥३५३॥
स्त्रीणामिवात्र चापश्यत्पदपङ्क्ति सुविस्तरात् ।
अयं प्रियागमे मार्गस्तवेति ब्रुवतीमिव ॥३५४॥
अलङ्घ्योऽयं गिरिर्मर्त्यैस्तदिहैव वरं क्षणम् ।
स्थितो भवामि पश्यामि कस्येयं पदपद्धतिः ॥३५५॥
इति चिन्तयतस्तस्य तत्र तोयार्थमाययुः ।
गृहीतकाञ्चनघटा भव्याः सुबहवः स्त्रियः ॥३५६॥
वारिपूरितकुम्भाश्च ताः स पप्रच्छ योषितः ।
कस्येदं नीयते तोयमिति प्रणयपेशलम् ॥३५७॥

राजकुमारी से साहस और वीरता के लिए प्रशंसित प्रसन्नचित्त विदूषक ने वहीं रात बिताई ।।३४३।।

प्रातःकाल राजा ने, सब वृत्तान्त जानकर विदूषक के शौर्य की अद्वितीय पताका के समान उस राजपुत्री को पर्याप्त दहेज (धन) के साथ उसके लिए दे दिया ।।३४४।।

विदूषक ने उसके गुणों से बँधी हुई, अतएव उसका साथ न छोड़ती हुई लक्ष्मी के समान उन कुछ रात्रियों को राजकुमारी के साथ व्यतीत किया ।।३४५।।

एक दिन भद्रा के प्रति उत्सुक विदूषक रात में चुपचाप चल दिया । सच है, दिव्य रस का आस्वाद प्राप्त कर लेने पर कौन दूसरे रसों की चाह करता है ? ।।३४६।।

नगर से बाहर निकलकर विदूषक ने राक्षस का स्मरण किया । स्मरण करते ही उपस्थित और नमस्कार करते हुए राक्षस को विदूषक ने कहा ।।३४७।।

'मित्र ! मुझे उदय पर्वत पर सिद्धक्षेत्र में भद्रा का नाम की विद्याधरी के लिए जाना है, इसलिए तुम मुझे वहाँ ले चलो' ।।३४८।।

ठीक है, चलो, ऐसा कहते हुए राक्षस के कन्धे पर चढ़कर वह विदूषक रातो-रात दुर्गम और साठ योजन लम्बी शीतोदा नदी के किनारे पहुँचा । प्रातःकाल मनुष्यों के लिए अलंघ्य शीतोदा नामक नदी को पार करके, विना परिश्रम ही, उदयाचल के समीप जा पहुँचा ।।३४९-३५०।।

उदय पर्वत के समीप पहुँचकर राक्षस ने कहा—'श्रीमान् ! यह तुम्हारे सामने उदय पर्वत है । सिद्धों के निवास-स्थान इस पर्वत पर मेरी गति नहीं है' ।।३५१।।

ऐसा कहकर और विदूषक की आज्ञा पाकर राक्षस के अन्तर्धान होने पर विदूषक ने वहाँ एक सुन्दर बावली देखी ।।३५२।।

खिले हुए कमलों से मुख-शोभा को धारण करती हुई वह बावली, गुंजारते हुए भौरों के शब्दों से, मानों उसका स्वागत कर रही थी ।।३५३।।

उस बावली के तट पर उसने स्त्रियों के पैरों की पंक्तियाँ देखीं, जो मानों उसे यह कह रही थीं कि तुम्हारी प्रियतमा के मिलने का मार्ग यही है ।।३५४।।

विदूषक ने सोचा कि यह पर्वत मनुष्यों के लिए अलंघनीय है । अतः, यहीं बैठकर देखता हूँ कि यह पैरों की पक्तियाँ किसकी हैं ? ।।३५५।।

वह ऐसा सोच ही रहा था कि बहुत-सी सुन्दरियाँ, सोने के घड़े लिये हुए जल भरने के लिए बावली पर आई ।।३५६।।

पानी से घड़े भर लेने के अनन्तर विदूषक ने उन सुन्दरियों से स्नेह-सरस शब्दों में पूछा कि जल किसके लिए ले जा रही हो ? ।।३५७।।

आस्ते विद्याधरी भद्र भद्रानामात्र पर्वते ।
इदं स्नानोदकं तस्या इति ताश्च तमब्रुवन् ।।३५८।।
चित्रं धातैव धीराणामारब्धोद्दामकर्मणाम् ।
परितुष्येव सामग्रीं घटयत्युपयोगिनीम् ।।३५९।।
यदेका सहसैव स्त्री तासां मध्यादुवाच तम् ।
महाभाग मम स्कन्धे कुम्भ उत्क्षिप्यतामिति ।।३६०।।
तथेति च घटे तस्याः स्कन्धोत्क्षिप्ते स बुद्धिमान् ।
निदधे भद्रया पूर्वं दत्तं रत्नाङ्गुलीयकम् ।।३६१।।
उपाविशच्च तत्रैव स पुनर्दीर्घिकातटे ।
ताश्च तज्जलमादाय ययुर्भद्रागृहं स्त्रियः ।।३६२।।
तत्र ताभिश्च भद्राया तावत्स्नानाम्बु दीयते ।
तावत्तस्यास्तदुत्सङ्गे निपपाताङ्गुलीयकम् ।।३६३।।
तद्दृष्ट्वा प्रत्यभिज्ञाय भद्रा पप्रच्छ ताः सखीः ।
दृष्टं किं कोऽपि युष्माभिरिहापूर्वः पुमानिति ।।३६४।।
दृष्ट एको युवास्माभिर्मानुषो वापिकातटे ।
तेनोत्क्षिप्तो घटश्चायमिति प्रत्यब्रुवंश्च ताः ।।३६५।।
ततो भद्रा ब्रवीच्छीघ्रं प्रक्लृप्तस्नानमण्डनम् ।
इहानयत गत्वा तं स हि भर्त्ता समागतः ।।३६६।।
इत्युक्ते भद्रया गत्वा यथावस्तु निवेद्य च ।
स्नातश्च तद्वयस्याभिस्तत्रानिन्ये विदूषकः ।।३६७।।
प्रातश्च स ददर्शात्र भद्रां मार्गोन्मुखीं चिरात् ।
निजसत्त्वतरोः साक्षात् पक्वामिव फलश्रियम् ।।३६८।।
सापि दृष्ट्वा तमुत्थाय हर्षबाष्पाम्बुसीकरैः ।
दत्तार्घेव बबन्धास्य कण्ठे भुजलतास्रजम् ।।३६९।।
परस्परालिङ्गितयोस्तयोः स्वेदच्छलादिव ।
अतिपीडनतः स्नेहः सस्यन्दे चिरसम्भृतः ।।३७०।।
अथोपविष्टावन्योन्यमवितृप्तौ विलोकने ।
उभौ शतगुणीभूतामिवोत्कण्ठामुदूहतुः ।।३७१।।
आगतोऽसि कथं भूमिमिमामिति च भद्रया ।
परिपृष्टः स तत्कालमुवाचेदं विदूषकः ।।३७२।।

उन सुन्दरियों ने कहा—भद्र ! इस पर्वत पर भद्रा नाम की विद्याधरी निवास करती है। यह उसके स्नान का जल है ।।३५८।।

यह सत्य है कि साहसिक कार्यों को प्रारम्भ करनेवाले वीरों के लिए विधाता स्वयं ही उपयोगी सामग्री घटित कर देता है ।।३५६।।

इतने में ही उन सुन्दरियों में से एक बोली--हे महापुरुष ! घड़े को मेरे कन्धे पर रख दो ।।३६०।।

उस बुद्धिमान् विदूषक ने घड़े को उसके कन्धे पर रखते हुए, भद्रा की दी हुई रत्नों की अंगूठी को, उस (घड़े) में धीरे से रख दिया ।।३६१।।

और उसी बावली के किनारे फिर बैठ गया। वे स्त्रियाँ पानी लेकर भद्रा के घर चली गई। वहाँ जब वे भद्रा को पानी देकर स्नान कराने लगी, तब वह अंगूठी उसकी (भद्रा) गोद में गिर पड़ी ।।३६२-३६३।।

उसे देखकर भद्रा ने सहेलियों से पूछा कि क्या तुम लोगों ने किसी नये मनुष्य को देखा हैं ।।३६४।।

उन्होंने कहा—हाँ, हमलोगों ने नदी के किनारे एक जवान मनुष्य को देखा है; उसने ही यह घड़ा भी उठवा दिया था ।।३६५।।

तब भद्रा बोली—तुम लोग उसे स्नान और वेश-भूषा आदि से सज्जित करके शीघ्र ही मेरे पास ले आओ, वह मेरा पति आया है ।।३६६।।

भद्रा के इस प्रकार कहने पर और सब कुछ विदूषक से निवेदन करके उसकी सहेलियाँ स्नान किये विदूषक को भद्रा के पास ले आईं ।।३६७।।

विदूषक ने उत्सुकता के साथ राह देखती हुई भद्रा को, अपने साहस-रूपी वृक्ष के पके हुए फल के समान, देखा ।।३६८।।

भद्रा भी उसे देखकर हर्ष के आँसुओं से मानों अर्घ्य देती हुई उसके गले में लिपट गई और उसे अपनी भुज-लता रूपी पाश से बाँध लिया ।।३६९-३७०।।

तदनन्तर, बैठे हुए दोनों परस्पर देखते हुए अघाते नहीं थे। मानों सैकड़ोंगुनी बढ़ी हुई उत्कण्ठा (चाह) उनमें भरी थी ।।३७१।।

'इस स्थान पर कैसे आये ?' भद्रा के इस प्रकार पूछने पर विदूषक उसी समय बोला—।।३७२।।

समालम्ब्य भवत्स्नेहमारुह्य प्राणसंशयान् ।
सुबहूनागतोऽस्मीह किमन्यद् वच्मि सुन्दरि ॥३७३॥
तच्छ्रुत्वा तस्य दृष्ट्वा तामनपेक्षितजीविताम् ।
प्रीतिं काष्ठागतस्नेहा सा भद्रा तमभाषत ॥३७४॥
आर्यपुत्र न मे कार्यं सखीभिर्न च सिद्धिभिः ।
त्वं मे प्राणा गुणक्रीता दासी चाहं तव प्रभो ॥३७५॥
विदूषकस्ततोऽवादीत्तर्ह्यागच्छ मया सह ।
मुक्त्वा दिव्यमिमं भोगं वस्तुमुज्जयिनी प्रिये ॥३७६॥
तथेति प्रतिपेदे सा भद्रा झपदि तद्वचः ।
तत्सङ्कल्पपरिभ्रष्टा विद्याश्च तृणवज्जहौ ॥३७७॥
ततस्तया समं तत्र स विशश्राम तां निशाम् ।
क्लृप्तोपचारस्तत्सख्या योगेश्वर्या विदूषकः ॥३७८॥
प्रातश्च भद्रया साकमवतीर्योदयाद्रितः ।
सस्मार यमदंष्ट्रं तं राक्षसं स पुनः कृती ॥३७९॥
स्मृतमात्रागतस्योक्त्वा गन्तव्याध्वक्रमं निजम् ।
तस्यारुरोह स स्कन्धे भद्रामारोप्य तां पुरः ॥३८०॥
सापि सेहे तदत्युग्रराक्षसांसाधिरोहणम् ।
अनुरागपरायत्ताः कुर्वते किं न योषितः ॥३८१॥
रक्षोधिरूढश्च ततः स प्रतस्थे प्रियासखः ।
विदूषकः पुनः प्राप तच्च कार्कोटकं पुरम् ॥३८२॥
रक्षोदर्शनसत्रासं तत्र चालोकितो जनैः ।
दृष्ट्वार्यवर्मनृपतिं स्वां भार्यां मार्गति स्म सः ॥३८३॥
दत्तां तेन गृहीत्वा च तत्सुतां तां भुजार्जिताम् ।
तथैव राक्षसारूढः स प्रतस्थे पुरात्ततः ॥३८४॥
गत्वाम्बुधेस्तटे प्राप पापं तं वणिजं च सः ।
यनास्य वारिधौ पूर्वं छिन्नाः क्षिप्तस्य रज्जवः ॥३८५॥
जहार तस्य च सुतां वणिजः स धनैः सह ।
प्रागम्बुधौ प्रवहणप्रमोचनपणार्जिताम् ॥३८६॥
धनापहारमेवास्य वधं मेने च पाप्मनः ।
कदर्याणां पुरे प्राणाः प्रायेण ह्यर्थसञ्चयाः ॥३८७॥

'तुम्हारे प्रेम के सहारे अनेक प्रकार के प्राण-संशयों को प्राप्त करते हुए आया हूँ और क्या कहूँ ?' यह सुनकर और प्राणों की परवा न करनेवाले उसके प्रेम को देखकर अत्यन्त स्नेहपूर्ण भद्रा उससे बोली—।।३७३-३७४।।

'आर्यपुत्र ! मुझे अपनी सखियों या सिद्धियों से कुछ भी प्रयोजन नहीं; हे स्वामी ! मैं तुम्हारे गुणों से खरीदी हुई दासी हूँ' ।।३७५।।

तब विदूषक बाला––'यदि ऐसा है, तो मेरे साथ आओ। इस दिव्य योग को छोड़कर उज्जयिनी रहने के लिए चलो' ।।३७६।।

भद्रा ने तुरन्त उसकी बात स्वीकार कर ली और इस प्रकार का विचार करने से नष्ट हुई विद्या को तृण के समान छोड़ दिया ।।३७७।।

भद्रा की सखी योगेश्वरी के समस्त प्रबन्ध करने पर विदूषक ने उस रात को वहीं विश्राम किया ।।३७८।।

और प्रातःकाल ही भद्रा के साथ उदयाचल से नीचे उतरकर यमदंष्ट्र नामक राक्षस को विदूषक ने फिर याद किया ।।३७९।।

स्मरण करते ही उपस्थित राक्षस को मार्ग के कार्यक्रम बताकर और भद्रा का उसके कन्धे पर चढ़ाकर स्वयं भी उसपर सवार हो गया ।।३८०।।

उस अति कोमल भद्रा ने भी राक्षस के कठोर कन्धे पर चढ़ने का कष्ट सहन किया। प्रेम-पराधीन रमणियाँ क्या नहीं करतीं ? ।।३८१।।

प्रेयसी के साथ राक्षस पर सवार विदूषक फिर उसी कार्कोटक नगर में पहुँचा ।।३८२।।

राक्षस को देखने के कारण व्याकुल जनता से देखा जाता हुआ विदूषक राजा आर्यवर्मा के समीप गया और अपनी पत्नी को माँगा ।।३८३।।

अपने बाहुबल से प्राप्त की हुई आर्यवर्मा की लड़की को साथ लेकर उसी प्रकार राक्षस पर सवार होकर वह कार्कोटक नगर से चला ।।३८४।।

समुद्र के तट पर पहुँचकर उसने उस धूर्त्त बनिये को पकड़ा, जिसके फँसे जहाज को छुड़ाकर शर्त्त में उसकी कन्या को जीत लिया था और जिसने पहले रस्सी काटकर उसे समुद्र में डुबाने के लिए छोड़ दिया था ।।३८५।।

विदूषक ने उसका सारा धन अपहरण कर लिया, धनापहरण को ही उसने वैश्य के पाप का दण्ड माना; क्योंकि धन ही कंजूसों का दूसरा प्राण होता है ।।३८६।।

इस प्रकार बनिये की बेटी को लेकर उसी राक्षस-रूपी रथ पर बैठा हुआ विदूषक भद्रा और राजकुमारी के साथ आकाश में उड़ गया ।।३८७।।

ततो रक्षोरथारूढस्तामानीय वणिक्सुताम् ।
स भद्राराजपुत्रीभ्यां सहैवोदपतन्नभः ।।३८८।।
दर्शयन्निजकान्तानां द्युमार्गेण ततार च ।
विलसत्सत्त्वसंरम्भं स्वपौरुषमिवाम्बुधिम् ।।३८९।।
प्राप तच्च स भूयोऽपि नगरं पौण्ड्रवर्धनम् ।
दृष्टः सविस्मयं सर्वैर्वाहनीकृतराक्षसः ।।३९०।।
तत्र तां देवसेनस्य सुतां राज्ञश्चिरोत्सुकाम् ।
भार्यां सम्भावयामास राक्षसावजयार्जिताम् ।।३९१।।
रुध्यमानोऽपि तत्पित्रा स स्वदेशसमुत्सुकः ।
गृहीत्वा तामपि ततः प्रायादुज्जयिनीं प्रति ।।३९२।।
अचिरेण च तां प्राप पुरीं राक्षसयोगतः ।
बहिर्गतामिवात्मीयदेशदर्शननिर्वृतिम् ।।३९३।।
अथोपरिस्थितस्तस्य महाकायस्य राक्षसः ।
अंसस्थतद्वधूचक्रकान्तिप्रकटितात्मनः ।।३९४।।
स जनैर्ददृशे तत्र शिखरे ज्वलितौषधौ ।
शशाङ्क इव पूर्वाद्रेरुदयस्थो विदूषकः ।।३९५।।
ततो विस्मितवित्रस्ते जने बुद्ध्वात्र भूपतिः ।
आदित्यसेनो निरगाच्छ्वशुरोऽस्य दा तपुरः ।।३९६।।
विदूषकस्तु दृष्ट्वा तमवतीर्याशु राक्षसात् ।
प्रणम्य नृपमभ्यागान्नृपोऽप्यभिननन्द तम् ।।३९७।।
अवतार्यैव तत्स्कन्धात्ताः स्वभार्यास्ततोऽखिलाः ।
मुमोच कामचाराय राक्षसं स विदूषकः ।।३९८।।
गते च राक्षसे तस्मिन्स तेन सह भूभुजा ।
श्वशुरेण सभार्यः सन् प्राविशद्राजमन्दिरम् ।।३९९।।
तत्र तां प्रथमां भार्यां तनयां तस्य भूपतेः ।
आनन्दयदुपागत्य चिरोत्कण्ठावशीकृताम् ।।४००।।
कथमेतास्त्वया भार्याः प्राप्ताः कश्चैष राक्षसः ।
इति पृष्टः स राज्ञात्र सर्वमस्मै शशंस तत् ।।४०१।।
ततः प्रभावतुष्टेन तेन तस्य महीभृता ।
जामातुर्निजराज्यार्धं प्रदत्तं कार्यवेदिना ।।४०२।।

आकाश-मार्ग से, समुद्र में किये गये अपने पौरुष का वर्णन करता हुआ विदूषक क्रमश समुद्र पार कर गया ॥३८८॥

इस प्रकार, वह क्रमशः पौण्ड्रवर्धन नगर में पहुँचा। राक्षस को वाहन बनाये हुए उस विदूषक को सभी पुरवासी आश्चर्य से देख रहे थे ॥३८९-३९०॥

पौण्ड्रवर्धन नगर में विदूषक ने राक्षस को पराजित की हुई चिरकाल से उत्सुक देवसेन राजा की कन्या का स्वागत किया ॥३९१॥

राजा देवसेन द्वारा रोका जाता हुआ भी विदूषक उज्जैन जाने के लिए उत्सुक हो रहा था, अतः वहाँ रुका नहीं और उसे भी साथ लेकर उज्जैन पहुँचा ॥३९२-३९३॥

विशाल शरीरवाले राक्षस के ऊपर बैठे हुए और कन्धे पर बैठी हुई अपनी वधू की शोभा से शोभित होते हुए विदूषक को, उज्जयनी की जनता ने जलती हुई औषधियोंवाले पूर्वाचल के शिखर पर चमकते हुए चन्द्रमा के समान देखा ॥३९४-३९५॥

नागरिकों के आश्चर्यचकित और व्याकुल होने पर समस्त वृन्तान्त जानकर विदूषक का श्वसुर राजा आदित्यसेन उसके सम्मुख आया ॥३९६॥

तब विदूषक ने, राक्षस के कन्धे से शीघ्र ही उतरकर राजा को प्रणाम किया। राजा ने भी उसका अभिनन्दन किया ॥३९७॥

तदनन्तर, विदूषक ने राक्षस के कन्धे पर बैठी हुई सभी पत्नियों को उतारकर उसे स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरण करने के लिए छोड़ दिया ॥३९८॥

राक्षस के चले जाने पर विदूषक, अपनी पत्नियों को लिये हुए राजा के साथ राजभवन में गया। राजभवन में जाकर राजा की कन्या और अपनी प्रथम पत्नी से मिला, जो चिरकालीन विरह के कारण अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही थी ॥३९९-४००॥

राजा ने विदूषक से पूछा कि ये इतनी पत्नियाँ कैसे प्राप्त कीं और यह राक्षस कौन है? विदूषक ने क्रमशः सारा वृत्तान्त सुना दिया ॥४०१॥

उज्जयिनी-नरेश आदित्यसेन ने विदूषक के प्रभाव को देखकर उस अपने जामाता को आधा राज्य प्रदान कर दिया ॥४०२॥

तत्क्षणाच्च स राजाभूद् विप्रो भूत्वा विदूषकः ।
समुच्छ्रितसितच्छत्रो विधूतोभयचामरः ।।४०३।।
तदा च मङ्गलातोद्य[३]-वाद्यनिर्ह्रादनिर्भरा ।
प्रहर्षभुक्तनादेव रराजोज्जयिनी पुरी ।।४०४।।
इत्याप्तराज्यविभवः क्रमशः स कृत्स्नां
जित्वा महीमखिलराजकपूजिताङ्घ्रिः ।
ताभिः समं विगतमत्सरनिर्वृताभि-
र्भद्रासखश्चिरमरंस्त निजप्रियाभिः ।।४०५।।
इत्यनुकूले दैवे भजति निजं सत्त्वमेव धीराणाम् ।
लक्ष्मीरभसाकर्षणसिद्धमहामोदमन्त्रत्वम् ।।४०६।।
इत्थं श्रुत्वा वत्सराजस्य वक्त्राच्चित्रामेतामद्भुतार्थां कथां ते ।
पार्श्वासीनामन्त्रिणश्चास्य सर्वे देव्यौ चापि प्रीतिमग्र्यामवापुः ।।४०७।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
लावाणकलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः ।

पञ्चमस्तरङ्गः

वत्सराजकृतं शिवाराधनम्

ततो वत्सेश्वरं प्राह तत्र यौगन्धरायणः ।
राजन् ! दैवानुकूल्यं च विद्यते पौरुषं च ते ।।१।।
नीतिमार्गे च वयमप्यत्र किञ्चित् कृतश्रमाः ।
तद्यथा चिन्तितं शीघ्रं कुरुष्व विजयं दिशाम् ।।२।।
इत्युक्ते मन्त्रिमुख्येन राजा वत्सेश्वरोऽब्रवीत् ।
अस्त्वेतद् बहुविघ्नास्तु सदा कल्याणसिद्धयः ।।३।।
अतस्तदर्थं तपसा शम्भुमाराधयाम्यहम् ।
विना हि तत्प्रसादेन कुतो वाञ्छितसिद्धयः ।।४।।
तच्छ्रुत्वा च तपस्तस्य मन्त्रिणोऽप्यनुमेनिरे ।
सेतुबन्धोद्यतस्याब्धौ रामस्येव कपीश्वराः ।।५।।

---

३. चतुर्विधवाद्यानां सम्मिलितः शब्द 'आतोद्य' इत्युच्यते ।

आधा राज्य प्राप्त करके वह विदूषक उसी क्षण राजा बन गया । उसके मस्तक पर ऊँचा छत्र लग गया और दोनों ओर चँवर डुलने लगे ।।४०३।।

मांगलिक बाजों के शब्द से भरी हुई नगरी ऐसी मालूम हो रही थी, मानों हर्ष के कारण प्रसन्नता प्रकट कर रही हो ।।४०४।।

इस प्रकार, राज्य-वैभव प्राप्त करके विदूषक धीरे-धीरे सारी पृथ्वी को विजय करके, स्नेह से एक साथ रहती हुई भद्रा आदि पत्नियों के साथ चिरकाल तक आनन्द का अनुभव करता रहा ।।४०५।।

इस प्रकार, दैव के अनुकूल होने पर मनुष्य का अपना ही बल और साहस लक्ष्मी को हठपूर्वक आकृष्ट करने का महामन्त्र हो जाता है ।।४०६।।

आश्चर्यमयी इस कथा को वत्सराज के मुँह से सुनकर वे सभी यौगन्धरायण आदि मन्त्री तथा दोनों महारानियाँ (वासवदत्ता, पद्मावती) अत्यन्त प्रसन्न हुईं ।।४०७।।

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के लावाणक लम्बक का चतुर्थ तरंग समाप्त ।

पंचम तरंग

वत्सराज के द्वारा शिव की आराधना

तब यौगन्धरायण ने वत्सराज से कहा—'महाराज ! इस समय आपका दैव (भाग्य) अनुकूल है और पुरुषार्थ (बल) आपमें है ही । इधर हमलोग (मन्त्रिगण) भी राजनीतिक दाँव-पेंचों के जानकार हैं, इसलिए जैसा सोचा गया है, तदनुसार पृथ्वी का विजय करो'।।१-२।।

यह सुनकर वत्सराज ने कहा––'यह ठीक है, किन्तु कल्याण-साधना में विघ्न बहुत होते हैं' ।।३।।

इसलिए, इस विजय की सिद्धि के लिए मैं तप द्वारा शिवजी की आराधना करता हूँ; क्योंकि उनकी कृपा के विना इष्टसिद्धि कैसे हो सकती है' ।।४।।

राजा की इस इच्छा का सभी मन्त्रियों ने इस प्रकार अनुमोदन किया, जिस प्रकार सेतु बाँधने के लिए उद्यत रामजी के शिवाराधन के लिए कभी वानरों ने अनुमोदन किया था ।।५।।

ततस्तं सह देवीभ्यां सचिवैश्च तपःस्थितम् ।
त्रिरात्रोपोषितं भूपं शिवः स्वप्ने समादिशत् ॥६॥
तुष्टोऽस्मि ते तदुत्तिष्ठ निर्विघ्नं जयमाप्स्यसि ।
सर्वविद्याधराधीशं पुत्रं चैवाचिरादिति ॥७॥
ततः स बुबुधे राजा तत्प्रसादहृतक्लमः ।
अर्कांशुरचिताप्यायः प्रतिपच्चन्द्रमा इव ॥८॥
आनन्दयच्च सचिवान् प्रातः स्वप्नेन तेन सः ।
व्रतोपवासक्लान्ते च देव्यौ द्वे पुष्पकोमले ॥९॥
तत्स्वप्नवर्णनेनैव श्रोत्रपेयेन तृप्तयोः ।
तयोश्च विभवायैव जातः स्वाद्वौषधक्रमः ॥१०॥
लेभे स राजा तपसा प्रभावं पूर्वजैः समम् ।
पुण्यां पतिव्रतानां च तत्पत्न्यौ कीर्त्तिमापतुः ॥११॥
उत्सवव्यग्रपौरे च विहितव्रतपारणे ।
यौगन्धरायणोऽन्येद्युरिति राजानमब्रवीत् ॥१२॥
धन्यस्त्वं यस्य चैवेत्थं प्रसन्नो भगवान् हरः ।
तदिदानीं रिपून् जित्वा भज लक्ष्मीं भुजार्जिताम् ॥१३॥
सा हि स्वधर्मसम्भूता भूभृतामन्वये स्थिरा ।
निजधर्मार्जितानां हि विनाशो नास्ति सम्पदाम् ॥१४॥
तथा च चिरभूमिष्ठो निधिः पूर्वजसम्भृतः ।
प्रणष्टो भवता प्राप्तः किं चात्रैतां कथां शृणु ॥१५॥

देवदासवंश्यस्य कथा

बभूव देवदासाख्यः पुरे पाटलिपुत्रके ।
पुरा कोऽपि वणिक्पुत्रो महाधनकुलोद्गतः ॥१६॥
अभवत्तस्य भार्या च नगरात् पौण्ड्रवर्धनात् ।
परिणीता समृद्धस्य कस्यापि वणिजः सुता ॥१७॥
गते पितरि पञ्चत्वं क्रमेण व्यसनान्वितः ।
स देवदासो द्यूतेन सर्वं धनमहारयत् ॥१८॥
ततश्च तस्य सा भार्या दुःखदारिद्र्यदुःखिता ।
एत्य नीता निजं गेहं स्वपित्रा पौण्ड्रवर्धनम् ॥१९॥

तदनन्तर, दोनों रानियों और मन्त्रियों के साथ तीन रात तक उपवास करते हुए राजा को शिवजी ने स्वप्न में आदेश दिय। ॥६॥

'मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, उठो, तुम विना किसी विघ्न-बाधा के विजय प्राप्त करोगे' ॥७॥

शिवजी के प्रसाद से कष्ट-रहित राजा इस प्रकार उद्यत हुआ, जिस प्रकार सूर्य की किरणों से वृद्धि प्राप्त करके प्रतिपदा का चन्द्रमा शोभित होता है ॥८॥

प्रभातकाल में उठकर राजा ने, मन्त्रियों तथा व्रत-उपवास से क्लान्त फूल के समान कोमल दोनों रानियों को, स्वप्न का वर्णन करके हर्षित कर दिया ॥९॥

कानों के द्वारा पीने (सुनने) के योग्य इस स्वप्न के वर्णन से दोनों महारानियों को मानों मीठी औषधि का उपचार हुआ ॥१०॥

राजा वत्सराज ने, तपस्या के प्रभाव से अपने पूर्वजों के समान प्रभाव प्राप्त किया। और, उसकी दोनों पत्नियों ने पतिव्रताओं की पवित्र कीर्त्ति प्राप्त की ॥११॥

व्रत की समाप्ति के अवसर पर समस्त नगरवासी उत्सव में व्यग्र रहे। उसके दूसरे दिन, यौगन्धरायण ने राजा को कहा ॥१२॥

'स्वामी ! तुम धन्य हो, जिसपर शिवजी इस प्रकार प्रसन्न हैं।' इसलिए तुम अब शत्रुओं को जीतकर अपनी भुजा से अर्जित लक्ष्मी प्राप्त करो। अपने धर्म में प्राप्त सम्पत्ति का विनाश नहीं होता ॥१३-१४॥

इसलिए, तुमने अपने पूर्वजों की चिरकाल से भूमि में गड़ी हुई नष्ट लक्ष्मी को प्राप्त किया है। इसपर एक कथा सुनो ॥१५॥

देवदास वैश्य की कथा

पाटलिपुत्र नगर में बड़े धनी कुल में उत्पन्न देवदास नाम का वैश्य-पुत्र था ॥१६॥

उसकी पत्नी, पौण्ड्रवर्धन नगर के किसी धनी वैश्य की कन्या थी ॥१७॥

पिता के मर जाने पर व्यसनी देवदास ने, जूए में सारा धन गँवा दिया ॥१८॥

उसके दरिद्र होने पर उसकी पत्नी दुःख से कष्ट में रहती थी। इसलिए, उसका पिता आकर उसे अपने घर (पौण्ड्रवर्धन) ले गया ॥१९॥

शनैः सोऽपि विपत्खिन्नः स्थातुमिच्छन् स्वकर्मणि।
मूल्यार्थी देवदासस्तं श्वशुरं याचितुं ययौ ॥२०॥
प्राप्तश्च सन्ध्यासमये तत्पुरं पौण्ड्रवर्धनम्।
रजोरूक्षं विवस्त्रं च वीक्ष्यात्मानमचिन्तयत् ॥२१॥
ईदृशः प्रविशामीह कथं श्वशुरवेश्मनि।
वरं हि मानिनो मृत्युर्न दैन्यं स्वजनाग्रतः ॥२२॥
इत्यालोच्यापणे गत्वा स क्वापि विपणेर्बहिः।
नक्तं सङ्कुचितस्तस्थौ तत्कालं कमलोपमः ॥२३॥
क्षणाच्च तस्यां विपणौ प्रविशन्तं व्यलोकयत्।
युवानं वणिजं कञ्चिदुद्घाटितकवाटकम् ॥२४॥
क्षणान्तरे स तत्रैव निःशब्दपदमागताम्।
द्रुतमन्तःप्रविष्टां च स्त्रियमेकां ददर्श सः ॥२५॥
ज्वलत्प्रदीपे यावच्च ददौ दृष्टिं तदन्तरे।
प्रत्यभिज्ञातवांस्तावत्तां निजामेव गेहिनीम् ॥२६॥
ततः सोऽर्गलितद्वारां भार्यां तामन्यगामिनीम्।
दृष्ट्वा दुःखाशनिहतो देवदासो व्यचिन्तयत् ॥२७॥
धनहीनेन देहोऽपि ह्रार्यते स्त्रीषु का कथा।
निसर्गनियतं यासां विद्युतामिव चापलम् ॥२८॥
तदिदं सा विपत्पुंसां व्यसनार्णवपातिनाम्।
गतिः सेयं स्वतन्त्रायाः स्त्रियाः पितृगृहे स्थिते ॥२९॥
इति सञ्चिन्तयंस्तस्या भार्यायाः स बहिः स्थितः।
रतान्तविस्रम्भजुषः कथालापमिवाशृणोत् ॥३०॥
उपेत्य च ददौ द्वारि स कर्णं सापि तत्क्षणम्।
इत्यब्रवीदुपपतिं पापा तं वणिजं रहः ॥३१॥
शृण्विदं कथयाम्यद्य रहस्यं तेऽनुरागिणी।
मद्भर्त्तुर्वीरवर्माख्यः पुराऽभूत्प्रपितामहः ॥३२॥
स्वगृहस्याङ्गणे तेन चत्वारः स्वर्णपरिताः।
कुम्भाश्चतुर्षु कोणेषु निगूढा स्थापिता भुवि ॥३३॥
तदेकस्याः स्वभार्यायाः स चक्रे विदितं तदा।
तद्भार्या चान्तकाले सा स्नुषायै तदवोचत ॥३४॥
सापि स्नुषायै मच्छ्वश्र्वै मच्छ्वश्रूरब्रवीच्च मे।
इत्ययं मत्पतिकुले श्वश्रूक्रममुखागमः ॥३५॥

कुछ दिनों तक स्वयं कष्ट पाता हुआ और कुछ व्यापार के लिए श्वशुर से धन पाने की इच्छा से देवदास उसके पास गया ।।२०।।

और मैला-कुचैला धूल से भरा हुआ वह सायंकाल पौण्ड्रवर्धन नगर में पहुँचा । अपनी ऐसी स्थिति देखकर सोचने लगा कि इस हालत में ससुराल कैसे जाऊँ । दरिद्र व्यक्ति के लिए मर जाना अच्छा है, किन्तु अपने सम्बन्धियों के आगे दीनता-प्रदर्शन उचित नहीं ।।२१-२२।।

ऐसा सोचकर वह बाजार में जाकर किसी दूकान के बाहर चौतरे पर रात में कमल के समान सिमटकर पड़ा रहा ।।२३।।

कुछ ही देर बाद उसने दूकान का दरवाजा खोलकर उसमें घुसते हुए किसी युवक वैश्य को देखा । कुछ ही समय के बाद दबे पाँवों आई हुई और जल्दी से दूकान में घुसी किसी स्त्री को देखा ।।२४-२५।।

दूकान के अन्दर जलते हुए दीप के प्रकाश में दरवाजे की दरार से जब उसने अन्दर झाँका, तब अपनी पत्नी को देखा और पहचान लिया ।।२६।।

अन्दर से द्वार बन्द करके अन्य पुरुष के संसर्ग में अपनी पत्नी को देखकर उसपर मानों वज्रपात-सा हुआ और वह सोचने लगा ।।२७।।

बुरे व्यसनों के समुद्र में पड़े हुए पुरुषों के लिए ऐसी विपत्तियाँ सुलभ हैं । धनहीन व्यक्ति, शरीर को भी बेच देता है, स्त्रियों की तो बात ही क्या, जिसका जीवन स्वभावतः विद्युत् के समान चंचल होता है ? पिता के घर में रहनेवली स्वतन्त्र स्त्री की यही गति होती है ।।२८-२९।।

ऐसा सोचता वह बाहर बठा हुआ अपनी स्त्री तथा उसके उपपति का गुप्त वार्त्तालाप सुनने लगा ।।३०।।

उसने दूकान के द्वार पर आकर कान लगाया, तो वह पापिन स्त्री एकान्त में उस अपने उपपति वैश्य से कह रही थी कि तेरे प्रति मेरा प्रेम है, इसलिए कहती हूँ, सुनो ।।३१।।

मेरे पति का परदादा वीरवर्मा था, उसने अपने घर के आँगन के चारों कोनों में सोने की अशर्फियों से भरे चार घड़े छिपाकर गाड़े हैं । यह बात उसने अपनी एक स्त्री से कही थी, उस स्त्री ने मरने के समय उसकी बहू (पतोहू) से बता दी। उसने अपनी बहू (मेरी सास) को यह बतलाया और मेरी सास ने मुझसे कहा । इस प्रकार, मेरे पति के कुल में सासों के द्वारा इस धन की जानकारी के लिए परम्परा चल रही है ।।३२—३५।।

स्वभर्तुस्तच्च न मया दरिद्रस्यापि वर्णितम् ।
स हि द्यूतरतो द्वेष्यस्त्वं तु मे परमः प्रियः ॥३६॥
तत्तत्र गत्वा मद्भर्त्तुः सकाशात्तद्गृहं धनैः ।
क्रीत्वा तत्प्राप्य च स्वर्णमिहैत्य भज मां सुखम् ॥३७॥
एवमुक्तः कुटिलया स तयोपपतिर्वणिक् ।
तुतोष तस्यै मन्वानो निधिं लब्धमयत्नतः ॥३८॥
देवदासोऽपि कुवधूवाक्शल्यैस्तैर्बहिर्गतः ।
कीलितामिव तत्कालं धनाशां हृदये दधौ ॥३९॥
जगाम च ततः सद्यः पुरं पाटलिपुत्रकम् ।
प्राप्य च स्वगृहं लब्ध्वा निधानं स्वीचकार तत् ॥४०॥
अथाजगाम स वणिक्तद्भार्याच्छन्नकामुकः ।
तमेव देशं वाणिज्यव्याजेन निधिलोलुपः ॥४१॥
देवदाससकाशाच्च क्रीणाति स्म स तद्गृहम् ।
देवदासोऽपि मूल्येन भूयसा तस्य तद्ददौ ॥४२॥
ततो गृहस्थितिं कृत्वा युक्त्या श्वशुरवेश्मनः ।
स देवदासः शीघ्रं तामानिनाय स्वगेहिनीम् ॥४३॥
एवं कृते च तद्भार्याकामुकः स वणिक्शठः ।
अलब्धनिधिरभ्येत्य देवदासमुवाच तम् ॥४४॥
एतद्भवद्गृहं जीर्णं मह्यं न खलु रोचते ।
तद्देहि मे निजं मूल्यं स्वगृहं स्वीकुरुष्व च ॥४५॥
इति जल्पंश्च स वणिक् देवदासश्च विब्रुवन् ।
उभौ विवादसक्तौ तौ राजाग्रमुपजग्मतुः ॥४६॥
तत्र स्वभार्यावृत्तान्तं वक्षःस्थविषदुःसहम् ।
देवदासो नरेन्द्राग्रे कृत्स्नमुद्गिरति स्म तम् ॥४७॥
ततश्चानाय्य तद्भार्यां तत्त्वं चान्विष्य भूपतिः ।
अदण्डयत्तं सर्वस्वं वणिजं परदारिकम्[1] ॥४८॥
देवदासोऽपि कुवधूं कृत्वा तां छिन्ननासिकाम् ।
अन्यां च परिणीयात्र तस्थौ लब्धनिधिः सुखम् ॥४९॥

---

१. परदारासङ्गमसम्बन्धि दण्डम् ।

मेरा पति यद्यपि दरिद्र है, फिर भी मैंने उससे नहीं कहा। वह जुआड़ी है, इसीलिए मेरा शत्रु है और तुम मेरे परम प्रिय हो। इसलिए तुमसे कह रही हूँ ॥३६॥

अतः, तुम जाकर और धन देकर मेरे पति से उसका मकान खरीद लो और उस धन को निकालकर यहाँ आकर मेरे साथ सुख से रहो ॥३७॥

उस कुटिला स्त्री से इस प्रकार कहा गया उसका जार (यार) विना परिश्रम धन-प्राप्ति की आशा से प्रसन्न हो गया ॥३८॥

देवदास ने भी उस दुष्टा स्त्री के वाक्य-बाणों से क्रुद्ध होकर धन की आशा को हृदय में धारण किया और उसी क्षण पाटलिपुत्र जाकर अपने घर के खजाने को अपने अधीन कर लिया ॥३९-४०॥

इसके बाद, उस बनिये की पत्नी का गुप्त पति, वह बनिया, खजाने के लालच से व्यापार के बहाने पाटलिपुत्र को चला ॥४१॥

उसने पटना जाकर देवदास से उस घर को खरीद लिया। देवदास ने भी जान-बूझकर अधिक मूल्य में मकान उसे दे दिया। देवदास ने अपने निवास के लिए नये घर का प्रबन्ध करके श्वशुर गृह से शीघ्र ही अपनी स्त्री को लिवा लाया ॥४२-४३॥

ऐसा होने के बाद उसकी पत्नी का गुप्त कामी वह धूर्त्त बनिया, उस मकान में खजाना न पाकर देवदास से आकर बोला ॥४४॥

'यह तुम्हारा पुराना मकान मुझे अच्छा नहीं लगा, इसलिए मेरा दाम लौटा दो और अपना घर ले लो' ॥४५॥

वह बनिया, इस प्रकार कह रहा था और देवदास इनकार कर रहा था। इस तरह, लड़ते-झगड़ते वे दोनों फैसला कराने के लिए राजा के सम्मुख जा पहुँचे ॥४६॥

राजा के पास जाकर हार्दिक दुःख के कारण देवदास ने अपनी दुष्ट पत्नी का समस्त वृत्तान्त राजा से कहा ॥४७॥

तब राजा ने उसकी स्त्री को बुलवाकर सारी बातों के तत्त्व की खोज की और परदारा-गमन के अपराध में उस वैश्य (गुप्तकर्मी) को भी सर्वस्व-हरण का दण्ड दिया ॥४८॥

देवदास, उस दुष्ट स्त्री की नाक काटकर, दूसरा विवाह करके और गड़े हुए धन को पाकर आनन्द से रहने लगा ॥४९॥

वत्सराजस्य दिग्विजयप्रयाणम्

इत्थं धर्मार्जिता लक्ष्मीरा नन्तत्य ।पायिनी ।
इतरा तु जलापाततुषारकणनश्वरी ।।५०।।
अतो यतेत धर्मेण धनमर्जयितुं पुमान् ।
राजा तु सुतरां येन मूलं राज्यतरोर्धनम् ।।५१।।
तस्माद्यथावत्सम्मान्य सिद्धये मन्त्रिमण्डलम् ।
कुरु दिग्विजयं देव लब्धुं धर्मोत्तरां श्रियम् ।।५२।।
श्वशुरद्वयबन्धूनां प्रसक्तानुप्रसक्तितः ।
विकुर्वते न बहवो राजानस्ते मिलन्ति च ।।५३।।
यस्त्वेष ब्रह्मदत्ताख्यो वाराणस्यां महीपतिः ।
नित्यं वैरी स ते तस्माद् विजयस्य तमग्रतः ।।५४।।
तस्मिञ्जिते जय प्राचीप्रक्रमेणाखिला दिशः ।
उच्चैः कुरुष्व वै पाण्डोर्यशश्च कुमुदोज्ज्वलम् ।।५५।।
इत्युक्तो मन्त्रिमुख्येण तथेति विजयोद्यतः ।
वत्सराजः प्रकृतिषु प्रयाणारम्भमादिशत् ।।५६।।
ददौ वैदेहदेशे च राज्यं गोपालकाय सः ।
सत्कारहेतोर्नृपतिः श्वशुर्यायानुगच्छते ।।५७।।
किं च पद्मावतीभ्रात्रे प्रायच्छत्सिंहवर्मणे ।
सम्मान्य चेदिविषयं सैन्यैः सममुपेयुषे ।।५८।।
आनाययच्च स विभुर्भिल्लराजं पुलिन्दकम् ।
मित्रं बलैर्व्याप्तदिशं प्रावृट्कालमिवाम्बुदैः ।।५९।।
अभूच्च यात्रासंरम्भो राष्ट्रे तस्य महाप्रभोः ।
आकुलत्वं तु शत्रूणां हृदि चित्रमजायत ।।६०।।
यौगन्धरायणश्चाग्रे चारान्वाराणसीं प्रति ।
प्राहिणोद् ब्रह्मदत्तस्य राज्ञो ज्ञातुं विचेष्टितम् ।।६१।।
ततः शुभेऽहनि प्रीतो निमित्तैर्जयशंसिभिः ।
ब्रह्मदत्तं प्रति प्राच्यां पूर्वं वत्सेश्वरो ययौ ।।६२।।
आरूढः प्रोच्छ्रितच्छत्रं प्रोत्तुङ्गजयकुञ्जरम् ।
गिरिं प्रफुल्लैकतरुं मृगेन्द्र इव दुर्मदः ।।६३।।

वत्सराज का दिग्विजय के लिए प्रयाण

इस प्रकार, धर्म से कमाई हुई लक्ष्मी सन्तान-परम्परा तक नष्ट नहीं होती और पाप की कमाई पत्ते पर पड़ी ओस की बूँद के समान विनाशशील होती है ।।५०।।

इसलिए, पुरुष को चाहिए कि धर्म से धन कमावे। राजा के राज्य-रूपी वृक्ष का तो धर्म से अर्जित धन ही मूल है। अतः महाराज ! मन्त्रिमण्डल का विधिवत् सम्मान कर धर्म से धन प्राप्त करने के लिए दिग्विजय करें ।।५१-५२।।

तुम्हारे दो श्वशुरों के सम्बन्ध (मित्रता) के कारण बहुत-से राजा विरोध नहीं करते; बल्कि मित्रता रखते हैं ।।५३।।

यह जो वाराणसी (काशी) में ब्रह्मदत्त नाम का राजा है, वह तुम्हारा सदा का वैरी है, पहले उसी की विजय करो ।।५४।।

उसको जीत लेने पर क्रमशः समूची पूर्व दिशा की विजय करो और पाण्डु के कुमुद के समान शुभ्र यश को ऊँचा करो—विस्तृत करो ।।५५।।

मुख्यमन्त्री से इस प्रकार कहे गये वत्सराज उदयन ने, विजय के लिए तैयार होकर, सारे राज्य की प्रजा में विजय-यात्रा की घोषणा करा दी ।।५६।।

राजा उदयन ने अपने साले और अपने सहायक गोपालक को उसका सम्मान करने के लिए विदेह (मिथिला) का राज्य दे दिया ।।५७।।

अपनी सेनाओं के साथ सहायता के लिए आये हुए पद्मावती के भाई सिंहवर्मा को सम्मानित करके चेदि-देश का राज्य दे दिया ।।५८।।

तदनन्तर, राजा ने मेघों से वर्षाकाल के समान अपनी सेनाओं से चारों ओर घिरे हुए भिल्लों के राजा पुलिन्दक को बुलवाया ।।५९।।

उस महान् राजा के राष्ट्र में विजय-यात्रा की तैयारी हुई और शत्रुओं के हृदय में व्याकुलता उत्पन्न हो गई, यह आश्चर्य की बात है ।।६०।।

प्रधानमन्त्री यौगन्धरायण ने राजा ब्रह्मदत्त की कार्यवाही जानने के लिए अपने गुप्तचरों को वाराणसी भेजा ।।६१।।

इस प्रकार, सभी तैयारी हो जाने पर विजयसूचक शकुनों से प्रसन्न राजा उदयन ने, शुभ दिन में पहले पूर्व दिशा में ब्रह्मदत्त पर चढ़ाई की ।।६२।।

उठे हुए छत्रवाले ऊँचे हाथी पर बैठा हुआ राजा, ऐसा मालूम हो रहा था, जैसे फूले हुए वृक्षवाले पर्वत-शिखर पर मदोन्मत्त सिंह विराजमान हो ।।६३।।

प्राप्तया सिद्धिदूत्येव शरदा दत्तसंमदः ।
दर्शयन्त्यातिसुगमं मार्गं स्वल्पाम्बुनिम्नगम् ॥६४॥
पूरयन्बहुनादाभिर्वाहिनीभिर्भुवस्तलम् ।
कुर्वन्नकाण्ड-निर्मेघ-वर्षा-समय-सम्भ्रमम् ॥६५॥
तदा स सैन्य-निर्घोष-प्रतिशब्दाकुलीकृताः ।
परस्परमिवाचख्युस्तदागमभयं दिशः ॥६६॥
चेलुश्च हेमसंनाहसम्भृतार्कप्रभा हयाः ।
तस्य नीराजनप्रीतपावकानुगता इव ॥६७॥
विरेजुर्वारणाश्चास्य सितश्रवणचामराः ।
विगलद्गण्डसिन्दूरशोणदानजलाः पथि ॥६८॥
शरत्पाण्डुपयोदाङ्काः सधातुरसनिर्झराः ।
यात्रानुप्रेषिता भीतैरात्मजा इव भूधरैः ॥६९॥
नैवैष राजा सहते परेषां प्रसृतं महः ।
इतीव तच्चमूरेणुरर्कतेजस्तिरोदधे ॥७०॥
पदात्पदं च द्वे देव्यौ मार्गे तमनुजग्मतुः ।
नृपं नयगुणाकृष्टे इव कीर्त्तिजयश्रियौ ॥७१॥
नमताथ पलायध्वमित्यूचे विद्विषामिव ।
पवनाक्षिप्तविक्षिप्तैस्तस्य सेनाध्वजांशुकैः ॥७२॥
एवं ययौ स दिग्भागान् पश्यन् फुल्लसिताम्बुजान् ।
महीमर्दभयोद्भ्रान्तशेषोत्क्षिप्तफणानिव ॥७३॥
अत्रान्तरे च ते चारा धृतकापालिकव्रताः ।
यौगन्धरायणादिष्टाः प्रापुर्वाराणसीं पुरीम् ॥७४॥
तेषां च कुहकाभिज्ञो ज्ञानित्वमुपदर्शयन् ।
शिश्रिये गुरुतामेकः शेषास्तच्छिष्यतां ययुः ॥७५॥
आचार्योऽयं त्रिकालज्ञ इति व्याजगुरुं च तम् ।
शिष्यास्ते स्थापयामासुर्भिक्षाशिनमितस्ततः ॥७६॥
यदुवाचाग्निदाहादि स ज्ञानी भावि पृच्छताम् ।
तच्छिष्यास्तत्तथा गुप्तं चक्रुस्तेन स पप्रथे ॥७७॥
रञ्जितं क्षुद्रसिद्ध्या च तत्रत्यं नृपवल्लभम् ।
स्वीचक्रे स कमप्येकं राजपुत्रमुपासकम् ॥७८॥

सफलता की दूती के समान आई हुई जलाशयों और नदियों को सुखाकर[1] मार्गों को सुखद और सुगम बनाती हुई शरद् ऋतु ने राजा को उत्साह प्रदान किया ॥६४॥

विविध प्रकार के शब्द करती हुई सेनाओं से भूतल को भरता हुआ और अकाल में ही वर्षा-काल का भ्रम करता हुआ वह राजा विजय के लिए अग्रसर हुआ ॥६५॥

उसकी सेना के महान् कलकल शब्द की प्रतिध्वनियों से मानों दिशाएँ परस्पर उसके आगमन की सूचनाएँ देने लगीं ॥६६॥

सोने के साजों से सजे हुए, अतएव सूर्य की किरणों से चमकते हुए उसकी सेना के घोड़े ऐसे मालूम होते थे, मानों नीराजनविधि से प्रसन्न अग्नि का अनुगमन कर रहे हैं ॥६७॥

दोनों कानों के समीप झूलते हुए सफेद चामरों से शोभित और मस्तक पर लगे हुए सिन्दूर के कारण लाल मद-जल बहाते हुए उसके हाथी, मार्ग में चलते हुए ऐसे भले मालूम होते थे, मानों राजा के भय से डरे हुए पर्वतों ने, शरत्कालीन श्वेत मेघ-खण्डों से मण्डित एवं धातु-रसों के झरने बहाते हुए अपने पुत्र, सेना की सहायता के लिए भेजे हों ॥६८-६९॥

यह राजा, अपने सामने फैलते हुए दूसरे के तेज को सहन नहीं कर सकता। इसी लिए मानों सेना से उड़ी हुई धूल ने, सूर्य के तेज को ढाँप दिया ॥७०॥

राजा के पीछे-पीछे उसकी दोनों महारानियाँ इस प्रकार चल रही थीं, मानों राजा की नीति और गुणों से आकृष्ट होकर कीर्त्ति और विजयलक्ष्मी चल रही हों ॥७१॥

वायु से इधर-उधर उड़ाये जाते हुए सेना की ध्वजाओं के झण्डे मानों शत्रुओं को चेतावनी दे रहे थे कि या तो नम्र होकर अधीनता करो या भाग जाओ ॥७२॥

वह राजा खिले हुए श्वेत-कमलों से शोभित अगल-बगल के भू-भागों को शेषनाग के उठे हुए फणों के समान देखता हुआ जा रहा था ॥७३॥

इसी बीच यौगन्धरायण से प्रेरित गुप्तचर, कापालिक का वेश बनाकर, वाराणसी नगरी में पहुँचे ॥७४॥

उनमें एक भूत-भविष्य का हाल जाननेवाला ज्ञानी (ज्योतिषी) बन गया और दूसरे सब उसके शिष्य बन गये ॥७५॥

वे उसके शिष्य, नगर में, इधर-उधर घूमते हुए अपने गुरु के सम्बन्ध में यह प्रचार करते थे कि यह हमारा आचार्य त्रिकालज्ञ और केवल भिक्षा लेकर ही खाता है ॥७६॥

वह ज्ञानी गुरु, पूछनेवालों को जो भविष्य में होनेवाली अग्निदाह आदि की बातें बताता था, उसके शिष्य उन बातों को गुप्त रूप से स्वयं प्रचारित करके उसका यश बढ़ाते थे। इस प्रकार वह मिथ्यासिद्ध, काशी नगरी में, प्रसिद्ध सिद्ध बन गया। इस प्रकार उस सिद्ध ने, एक छोटे-से चमत्कार से राजा के अत्यन्त प्यारे एक राजपुत्र को अपना उपासक बना लिया ॥७७-७८॥

---

१. देखिए रघु०, सर्ग ४, श्लो० २४ :
सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥

तन्मुखेनैव राज्ञश्च ब्रह्मदत्तस्य पृच्छतः ।
सोऽभूत्तत्र रहस्यज्ञः प्राप्ते वत्सेशविग्रहे ।।७६।।
अथास्य ब्रह्मदत्तस्य मन्त्री योगकरण्डकः ।
चकार वत्सराजस्य व्याजानागच्छतः पथि ।।८०।।
अदूषयत्प्रतिपथं विषादिद्रव्ययुक्तिभिः ।
वृक्षान् कुसुमवल्लीश्च तोयानि च तृणानि च ।।८१।।
विदधे विषकन्याश्च सैन्ये पण्यविलासिनीः ।
प्राहिणोत्पुरुषांश्चैव निशासु च्छद्मघातिनः ।।८२।।
तच्च विज्ञाय स ज्ञानिलिङ्गी चारो न्यवेदयत् ।
यौगन्धरायणायाशु स्वसहायमुखैस्तदा ।।८३।।
यौगन्धरायणोऽप्येतद् बुद्ध्वा प्रतिपदं पथि ।
दूषितं तृणतोयादि प्रतियोगैरशोधयत् ।।८४।।
अपूर्वस्त्रीसमायोगं कटके निषिषेध च ।
अवधीद् वधकांस्तांश्च लब्ध्वा सह रुमण्वता ।।८५।।
तद्बुद्ध्वा ध्वस्तमायः सन् सैन्यपूरितदिङ्मुखम् ।
वत्सेश्वरं ब्रह्मदत्तो मेने दुर्जयमेव तम् ।।८६।।
सम्मन्त्र्य दत्त्वा दूतं च शिरोविरचिताञ्जलिः ।
ततः स निकटीभूतं वत्सेशं स्वयमभ्यगात् ।।८७।।
वत्सराजोऽपि तं प्राप्तं प्रदत्तोपायनं नृपम् ।
प्रीत्या सम्मानयामास शूरा हि प्रणतिप्रियाः ।।८८।।

वत्सराजस्य दिग्विजयकथा

इत्थं तस्मिञ्जिते प्राचीं शमयन्नमयन् मृदून् ।
उन्मूलयंश्च कठिनान्नृपान्वायुरिव द्रुमान् ।।८६।।
प्राप च प्रबलः प्राच्यं चलद्वीचीविघूर्णितम् ।
वङ्गावजयवित्रासवेपमानमिवाम्बुधिम् ।।६०।।
तस्य वेलातटान्ते च जयस्तम्भं[१] चकार सः ।
पातालाभययाञ्चार्थं नागराजमिवोद्गतम् ।।६१।।

---

१. तुलना कार्या—

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौ साधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः ।।
—रघुवंशे, ४ सर्गे ।

उसी राजपुत्र के द्वारा राजा ब्रह्मदत्त की युद्ध-सम्बन्धी गति-विधियों का ज्ञान प्राप्त करना था ॥७९॥

तदनन्तर, योग नामक ब्रह्मदत्त के मन्त्री ने आते हुए वत्सराज के मार्ग में विविध प्रकार के विनाश के जाल बिछा दिय ॥८०॥

यात्रा में आनेवाली प्रत्येक सड़क पर आनेवाले पेड़ों, लताओं, कुंओं, तालाबों, घास, फूस आदि में जहरीले द्रव्यों का योग करा दिया ॥८१॥

वत्सराज की सेना में विषकन्या[1] को बाजारू वेश्याओं के रूप में और रात में चोरी के आघात करनेवाले गुप्तचरों को वत्सराज की सेना में भेजा ॥८२॥

उस बनावटी सिद्ध कापालिक ने राजपुत्र से सारी बातें जानकर अपने सहायकों द्वारा यौगन्धरायण को शीघ्र सूचनाएँ प्रेषित कीं ॥८३॥

यौगन्धरायण जासूसों से यह सब जानकर मार्ग में विष से दूषित तृण, जल आदि का विपरीत योगों से शोधन कर देता था। उसने सेना-शिविर में आनेवाली अपूर्व स्त्रियों के वध की आज्ञा दे दी और गुप्त घातकों को सेनापति रुमण्वान् के साथ खोज-खोजकर मरवा डाला ॥८४-८५॥

यह जानकर कूटनीति के विफल होने पर ब्रह्मदत्त ने विशाल सेना के साथ सब दिशाओं को घेरकर आक्रमण करते हुए वत्सराज को अजेय समझा ॥८६॥

ऐसा सोचकर और मन्त्रियों से सम्मति करके सन्धि-दूत को भेजकर सिर पर अंजलि रखकर प्रणाम करता हुआ ब्रह्मदत्त निकट आये हुए वत्सराज के समीप स्वयं गया ॥८७॥

वत्सराज ने भी उपहार लेकर स्वयं आये हुए राजा ब्रह्मदत्त का समुचित सम्मान किया; क्योंकि वीर पुरुष प्रणति से प्रसन्न हो जाते हैं ॥८८॥

वत्सराज के दिग्विजय की कथा

इस प्रकार, काशी-नरेश के विजित हो जाने पर पूर्व दिशा को शान्त करता हुआ, मृदु नम्र राजाओं को झुकाता हुआ और कठोर शत्रुओं को, वृक्षों को वायु के समान उखाड़ता हुआ वत्सराज चलती हुई लहरों से घूरते हुए एवं वंग-देश के विजय-त्रास से मानों काँपते हुए पूर्वसमुद्र के तट पर पहुँचा ॥८९-९०॥

वत्सराज ने पूर्वसमुद्र-तट पर एक जयस्तम्भ गाड़ दिया, मानों पाताल के लिए अभय की प्रार्थना करने के निमित्त नागराज उठकर आया हो ॥९१॥

---

१. **विषकन्याएँ दो प्रकार की होती हैं, एकतो ऐसे नक्षत्र या लग्न में उत्पन होती है कि जिनके सहवास से व्यक्ति तुरन्त मर जाता है। दूसरी, प्रारम्भ से ही विष खिलाकर कृत्रिम विषकन्याएँ बनाई जाती हैं, जिनके सम्पर्क में आते ही पुरुष की मृत्यु हो जाती है।—अनु०**

अवनम्य करे दत्ते कलिङ्गैरग्रगैस्ततः ।
आरुरोह महेन्द्राद्रिं यशस्तस्य यशस्विनः ॥९२॥

महेन्द्राभिभवाद् भीतैर्विन्ध्यकूटैरिवागतैः ।
गजैर्जितवाटवीं राज्ञां स ययौ दक्षिणां दिशम् ॥९३॥

तत्र चक्रे स निःसारपाण्डुरानपगर्जितान् ।
पर्वताश्रयिणः शत्रून् शरत्काल इवाम्बुदान् ॥९४॥

उल्लङ्घ्यमाना कावेरी तेन संमर्दकारिणा ।
चोलकेश्वरकीर्त्तिश्च कालष्यं ययतुः समम् ॥९५॥

न परं मुरलानां स सेहे मूर्धसु नोन्नतिम् ।
करैराहन्यमानेषु यावत्कान्ताकुचेष्वपि ॥९६॥

यत्तस्य सप्तधा भिन्नं पपुर्गोदावरीपयः ।
मातङ्गास्तन्मदव्याजात् सप्तधैवामुचन्निव[1] ॥९७॥

अथोत्तीर्य स वत्सेशो रेवामुज्जयिनीमगात् ।
प्रविवेश च तां चण्डमहासेनपुरस्कृतः ॥९८॥

स माल्यश्लथधम्मिल्लशोभाद् वैगुण्यशालिनाम् ।
मालवस्त्रीकटाक्षाणां ययौ चात्रैव लक्ष्यताम् ॥९९॥

तस्थौ च निर्वृतस्तत्र तथा श्वशुरसत्कृतः ।
विसस्मार यथाभीष्टानपि भोगान् स्वदेशज न् ॥१००॥

आसीद् वासवदत्ता च पितुः पार्श्वविवर्त्तिनी ।
स्मरन्ती बालभावस्य सौख्येऽपि विमना इव ॥१०१॥

राजा चण्डमहासेनस्तया तनयया यथा ।
तथैव पद्मावत्यापि नन्दति स्म समागतः ॥१०२॥

विश्रम्य च निशाः काश्चित्प्रीतो वत्सेश्वरस्ततः ।
अन्वितः श्वाशुरैः सैन्यैः प्रययौ पश्चिमां दिशाम् ॥१०३॥

१. असूययेव तन्नागा सप्तधैव प्रसुस्रुवुः—रघु० ४ सर्ग ।

कलिंग-देशों को राजाओं ने नम्र होकर कर दे देने पर (पराजित होकर अधीनता स्वीकार कर लेने पर) उस यशस्वी वत्सराज का यश, महेन्द्र पर्वत पर गड़ गया ॥९२॥

महेन्द्र पर्वत के अपमान से डरे हुए, अतएव अनुगमन करते हुए विन्ध्य-पर्वत के शिखरों के समान हाथियों से उस देश के राजाओं को जीतकर (वत्सराज) दक्षिण दिशा की ओर गया ॥९३॥

दक्षिण दिशा में शरत्काल के समान राजा ने मेघों के समान शत्रुओं को (दक्षिण के राजाओं को) निस्सार और श्वेत बदनवाले, गर्जना-रहित और पर्वतों पर आश्रय लेनेवाला बना दिया ॥९४॥

भीषण संघर्ष करनेवाले उस राजा उदयन ने, कावेरी का उल्लंघन करके उसे और चोल देश के राजा की कीर्त्ति को कलुषित कर डाला, अर्थात् चोल[1] राजा को पराजित कर दिया ॥९५॥

राजा उदयन ने करों से मारे हुए मुरल[2] देश के राजाओं के सिरों की उन्नति को ही सहन नहीं किया; प्रत्युत करों से विताडित उस देश की स्त्रियों की कुचोन्नति को भी सहन नहीं किया ॥९६॥

राजा उदयन के हाथियों ने सात धाराओं में विभक्त गोदावरी का जल पीया था, अतः उन्होंने उस जल को मद के बहाने सात स्थानों से निकाल दिया ॥९७॥

दक्षिण-विजय करने के अनन्तर वत्सराज, नर्मदा नदी को पार करके उज्जयिनी में आया। वहाँ उसके श्वशुर (वासवदत्ता के पिता) ने उसकी अगवानी की ॥९८॥

वहाँ राजा उदयन, मालाओं से शिथिल केशपाशों से दूनी शोभा धारण करते हुए मालव-रमणियों के कटाक्षों का लक्ष्य (शिकार) बन गया ॥९९॥

श्वशुर द्वारा सत्कार किया गया उदयन, उज्जयिनी में कुछ दिनों तक ठहर गया। वहाँ उसकी ऐसी आवभगत हुई कि वह अपने घर के सुखों को भूल गया ॥१००॥

पिता की गोद में लोटती हुई वासवदत्ता अपने बाल्यकाल का स्मरण करके महारानी के सुख में भी निःस्पृह हो गई ॥१०१॥

राजा चण्डमहासेन भी जैसे वासवदत्ता से आनन्दित हुआ, वैसे ही पद्मावती से भी आनन्द अनुभव करता था ॥१०२॥

कुछ रातें उज्जयिनी में व्यतीत करके, ससुर की सेनाओं से युक्त वत्सराज पश्चिम दिशा की ओर चला ॥१०३॥

---

१. देखिए परिशिष्ट । २. देखिए परिशिष्ट ।

तस्य खड्गलता नूनं प्रतापानलधूमिका ।
यच्चक्रे लाट[1]नारीणामुदश्रुकलुषा दृशः ॥१०४॥
असौ मथितुमम्भोधिं मा मामुन्मूलयिष्यति ।
इतीव तद्गजाधूतवनोऽवेपत मन्दरः ॥१०५॥
सत्यं स कोऽपि तेजस्वी भास्वदादिविलक्षणः ।
प्रतीच्यामुदयं प्राप प्रकृष्टमपि यज्जयी ॥१०६॥
ततः कुबेरतिलकामलकासङ्गशंसिनीम् ।
कैलासहाससुभगामाशामभिससार सः ॥१०७॥
सिन्धुराजं वशीकृत्य हरिसैन्यैरनुद्रुतः ।
क्षपयामास च म्लेच्छान्राघवो राक्षसानिव ॥१०८॥
तुरुष्क[2]तुरगव्राताः क्षुब्धस्याब्धेरिवोर्मयः ।
तद्गजेन्द्रघटा वेलावनेषु दलशो ययुः ॥१०९॥
गृहीतारिकरः[3] श्रीमान् पापस्य पुरुषोत्तमः ।
राहोरिव स चिच्छेद पारसीकपतेः शिरः ॥११०॥
हूणहानिकृतस्तस्य मुखरीकृतदिङ्मुखा ।
कीर्त्तिर्द्वितीया गङ्गेव विचचार हिमाचले ॥१११॥
नदन्तीष्वस्य सेनासु भयस्तिमितविद्विषः ।
प्रतीपः शुश्रुवे नादः शैलरन्ध्रेषु केवलम् ॥११२॥
अपच्छत्रेण शिरसा कामरूपेश्वरोऽपि तम् ।
नमन्विच्छायतां भेजे यत्तदा न तदद्भुतम् ॥११३॥
तद्दत्तैरन्वितो नागैः सम्राड् विववृतेऽथ सः ।
अद्रिभिर्जङ्गमैः शैलैः करीकृत्यार्पितैरिव ॥११४॥
एवं विजित्य वत्सेशो वसुधां सपरिच्छदः ।
पद्मावतीपितुः प्राप पुरं मगधभूभृतः ॥११५॥
मगधेशश्च देवीभ्यां सहितेऽस्मिन्नुपस्थिते ।
सोत्सवोऽभून्निशाज्योत्स्नावति चन्द्र इव स्मरः ॥११६॥
अविज्ञातस्थितामादौ पुनश्च व्यक्तिमागताम् ।
मेने वासवदत्तां च सोऽधिकप्रश्रयास्पदम् ॥११७॥

---

१. लाटविषयः परिशिष्टे विवृतः ।

२. अयमपि परिशिष्टे विवृतः ।

३. हरिवत्सराजयोः श्लिष्टविशेषणमिदम् । वत्सराजपक्षे गृहीतः अरीणांकरः येन; हरिपक्षे च गृहीतं, अरिः सुदर्शनं, करे येन ।

अवश्य ही राजा उदयन की तलवार उसके प्रतापानल की धूमरेखा के समान थी; क्योंकि उसने लाट देश की स्त्रियों की आँखों को उमड़ते हुए आँसुओं से कड़ुआ कर दिया था ।।१०४।।

यह राजा, समुद्र-मन्थन के लिए कहीं मुझे उखाड़ न ले, इसी भय से वायु से काँपते हुए वनोंवाला मन्दराचल पर्वत, मानों काँपने लगा ।।१०५।।

राजा उदयन, सचमुच सूर्य से विलक्षण कोई तेजस्वी है; जिसका पश्चिम में उदय हुआ ।।१०६।।

पश्चिम-विजय करने पर राजा उदयन, कुबेर से अलकृत अलका नगरी से विभूषित, कैलास के हास से सुन्दर उत्तर दिशा को चला ।।१०७।।

वहाँ पर घोड़ों की सेना से युक्त उदयन ने सिन्धुराज को वश में करके म्लेच्छों का इस प्रकार संहार किया, जैसे राम ने राक्षसों का किया था । विक्षुब्ध समुद्र की लहरों के समान पारसी घोड़ों के झुण्ड उदयन के हाथी-रूपी तटवनों से आकर टकराये । शत्रुओं से कर लेनेवाले उस महापुरुष उदयनने, हाथ में चक्र लिये हुए विष्णु के समान, पापी पारसीक राजा का सिर राहु के समान काट डाला ।।१०८–११०।।

हूणों का विनाश करनेवाले राजा उदयन की कीर्त्ति दूसरी गंगा के समान, हिमाचल पर विचरण करने लगी ।।१११।।

हिमाचल में, कन्दराओं में भय से ग्रस्त (छिपे हुए) शत्रुवाले राजा की सेना के कोलाहल की केवल प्रतिध्वनि ही सुन पड़ती थी।।११२।।

कामरूप (असम) देश का राजा, विना छत्र के सिर से उसे (उदयन को) प्रणाम करता हुआ जो हतप्रभ हो गया, वह आश्चर्य की बात नहीं ।।११३।।

उस (कामरूप-नरेश) द्वारा जंगम पर्वतों के समान कर के रूप में दिये गये हाथियों के साथ सम्राट् उदयन दिग्विजय-यात्रा से लौट आया ।।११४।।

वह वत्सराज इस प्रकार पृथ्वी को जीत कर सेना के साथ पद्मावती के पिता मगध-नरेश के नगर (राजगृह) लौट आया ।।११५।।

मगध-नरेश, दोनों महारानियों के साथ उसे उपस्थित देखकर इस प्रकार प्रसन्न हुआ, जैसे, निशा में चाँदनी-युक्त चन्द्रमा के होने पर कामदेव प्रसन्न होता है ।।११६।।

पहले छिपे रूप में और पश्चात् प्रकट रूप में स्थित वासवदत्ता को उसने नम्रता के कारण अधिक रूप में माना ।।११७।।

ततो मगधभूभृता सनगरेण तेनार्चितः
समग्रजनमानसैरनुगतोऽनुरागागतैः ।
निगीर्णवसुधातलो बलभरेण लावाणकं
जगाम विषयं निजं स किल वत्सराजो जयी ।।११८।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
लावाणकलम्बके पञ्चमस्तरङ्गः ।

षष्ठस्तरङ्गः

वत्सराजकथा (पूर्वानुसृता)

ततः स सेनाविश्रान्त्यै तत्र लावाणके स्थितः ।
रहस्युवाच वत्सेशो राजा यौगन्धरायणम् ।।१।।
त्वद्बुद्ध्या निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां भूभृतो मया ।
उपायस्वीकृतास्ते च नैव व्यभिचरन्ति मे ।।२।।
वाराणसीपतिस्त्वेष ब्रह्मदत्तो दुराशयः ।
जाने व्यभिचरत्येको विश्वासः कुटिलेषु कः ।।३।।
इति वत्सेश्वरेणोक्त आह यौगन्धरायणः ।
न राजन् ब्रह्मदत्तस्ते भूयो व्यभिचरिष्यति ।।४।।
आक्रान्तोपनतस्त्वेष भृशं सम्मानितस्त्वया ।
शुभाचारस्य कः कुर्यादशुभं हि सचेतनः ।।५।।
कुर्वीत वा यस्तस्यैव तदात्मन्यशुभं भवेत् ।
तथा च श्रूयतामत्र कथां ते वर्णयाम्यहम् ।।६।।

फलभूतेः कथा

बभूव पद्मविषये पुरा कोऽपि द्विजोत्तमः ।
ख्यातिमनग्निदत्ताख्यो भूभृद्दत्ताग्रहार[1]भुक् ।।७।।
तस्यैकः सोमदत्ताख्यः पुत्रो ज्यानजायत ।
द्वितीयश्चाभवद् वैश्वानरदत्ताख्यया सुतः ।।८।।

---

१. राजभिः ब्राह्मणेभ्यो नद्यादिजलाशयसविधे दानरूपेण प्रदत्ता कृषिभूमिरग्रहार इत्युच्यते । दक्षिणदेशेऽग्रहाराणां प्राचुर्यं वर्तते ।

तदनन्तर, नगरवासियों के साथ मगध-नरेश द्वारा सत्कार किया गया स्नेहवश समस्त जनों से अभिनन्दित, सेना के भार से समस्त पृथ्वी को वश में किये हुए विजयी सम्राट् उदयन, अपने देश गया ॥११८॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के लावाणक लम्बक का पंचम तरंग समाप्त ।

षष्ठ तरंग

वत्सराज की कथा (क्रमशः)

विजय-यात्रा से थकी हुई सेना को विश्राम कराने के लिए लावाणक में ठहरे हुए वत्सराज उदयन ने, एक बार एकान्त में, यौगन्धरायण से कहा ॥१॥

तुम्हारे बुद्धि-वैभव से मैंने पृथ्वी के सभी राजाओं को जीत लिया। उपाय से वश में किये गये वे राजा कभी विरोधी नहीं हो सकते ॥२॥

किन्तु, वाराणसी का यह राजा ब्रह्मदत्त अब भी विरोध करता है। कुटिल मनुष्यों पर क्या विश्वास ? ॥३॥

वत्सराज के इस प्रकार कहने पर यौगन्धरायण ने कहा कि महाराज ! ब्रह्मदत्त अब फिर विरोध न करेगा ॥४॥

आक्रमण करके दबाया हुआ वह तुमसे अत्यधिक सम्मानित हुआ है। कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो भला करनेवाले के साथ बुरा बरताव करेगा ॥५॥

यदि करता भी है, तो अपनी ही आत्मा का अकल्याण करता है। इस प्रसंग में एक कथा कहता हूँ, सुनो ॥६॥

फलभूति की कथा

प्राचीन काल में पद्म-प्रदेश में प्रसिद्ध नामवाला अग्निदत्त नाम का ब्राह्मण था, जो राजा के द्वारा दान दिये गये अग्रहार[1] (ग्राम) से जीवन-निर्वाह करता था ॥७॥

उसका बड़ा लड़का सोमदत्त और छोटा वैश्वानरदत्त था ॥८॥

---

१. प्राचीन समय में राजा लोग ब्राह्मणों को जीवन-निर्वाह के लिए जल-सिंचाई आदि सुविधावाली भूमि दान देते थे। उसे अग्रहार कहते हैं। दक्षिण भारत में अब भी ऐसे सहस्रों अग्रहार मिलते हैं। —अनु०

आद्यस्तयोरभून्मूर्खः स्वाकृतिर्दुर्विनीतकः ।
अपरश्चाभवद् विद्वान्विनीतोऽध्ययनप्रियः ।।६।।
कृतदारावुभौ तौ च पितर्यस्तङ्गते ततः ।
तदीयस्याग्रहारादेरर्धमर्धं विभेजतुः ।।१०।।
तन्मध्यात्स कनीयांश्च राज्ञा सम्मानितोऽभवत् ।
ज्येष्ठस्तु सोमदत्तोऽभूच्चपलः क्षत्रकर्मकृत् ।।११।।
एकदा बद्धगोष्ठीकं शूद्रैः सह विलोक्य तम् ।
सोमदत्तं पितृसुहृद्द्विजः कोऽप्येवमब्रवीत् ।।१२।।
अग्निदत्तसुतो भूत्वा शूद्रवन्मूर्ख चेष्टसे ।
निजमेवानुजं दृष्ट्वा राजपूज्यं न लज्जसे ।।१३।।
तच्छ्रुत्वा कुपितः सोऽथ सोमदत्तः प्रधाव्य तम् ।
विप्रं पादप्रहारेण जघानोज्झितगौरवः ।।१४।।
तत्र विप्रः स कृत्वान्यान् साक्षिणस्तत्क्षणं द्विजान् ।
गत्वा पादाहतिक्रुद्धो राजानं तं व्यजिज्ञपत् ।।१५।।
राजापि सोमदत्तस्य बन्धाय प्राहिणोद् भटान् ।
ते च निर्गत्य तन्मित्रैर्जघ्निरे शस्त्रपाणिभिः ।।१६।।
ततो भूयो बलं प्रेष्यावष्टब्धस्याय भूपतिः ।
क्रोधान्धः सोमदत्तस्य शूलारोपणमादिशत् ।।१७।।
आरोप्यमाणः शूलायामथाकस्मात्स च द्विजः ।
प्रक्षिप्त इव केनापि निपपात ततः क्षितौ ।।१८।।
रक्षन्ति भाविकल्याणं भाग्यान्येव यतोऽस्य ते ।
अन्धीबभूवुर्वधकाः पुनरारोपणोद्यताः ।।१६।।
तत्क्षणं श्रुतवृत्तान्तस्तुष्टो राजा कनीयसा ।
भ्रात्रास्य कृतविज्ञप्तिर्वधादेनममोचयत् ।।२०।।
ततो मरणनिस्तीर्णः सोमदत्तो गृहैः सह ।
गन्तुं राजावमानेन देशान्तरमियेष सः ।।२१।।
यदा च नैच्छन्गमनं समेतास्तस्य बान्धवाः ।
त्यक्तराजाग्रहारार्धां प्रतिपेदे तदा स्थितिम् ।।२२।।
ततो वृत्त्यन्तराभावात्कर्तुं स चकमे कृषिम् ।
तद्योग्यां च भुवं द्रष्टुं शुभेऽह्न्यटवीं ययौ ।।२३।।

उनमें ज्येष्ठ पुत्र सोमदत्त सुन्दर होने पर भी, मूर्ख और उद्दण्ड था तथा छोटा पुत्र विद्वान्, विनयी और अध्ययनप्रेमी था। दोनों विवाहित थे, अतः पिता की मृत्यु हो जाने पर दोनों ने गाँव को आधा-आधा बाँट लिया ॥९–१०॥

दोनों में छोटा वैश्वानरदत्त, विद्वान् होने के कारण राजा से सम्मानित था और बड़ा सोमदत्त, उद्दण्ड एवं क्षत्रिय-कर्म (लड़ने-भिड़ने) करनेवाला था ॥११॥

एक बार मूर्ख शूद्रों के साथ गोष्ठी बनाकर बैठे हुए सोमदत्त को उसके पिता के किसी मित्र ने कहा, हे मूर्ख ! अग्निदत्त के पुत्र होकर शूद्रों का-सा व्यवहार करते हो। राजा से सम्मानित अपने छोटे भाई को देखकर लज्जित नहीं होते ॥१२-१३॥

यह सुनकर क्रुद्ध सोमदत्त ने दौड़कर उस ब्राह्मण को लात मारी ॥१४॥

लात खाकर क्रुद्ध ब्राह्मण ने वहाँ बैठे हुए लोगों को गवाह बनाकर राजा के समीप जाकर निवेदन किया ॥१५॥

तब राजा ने सोमदत्त को बाँधकर लाने के लिए सिपाहियों को भेजा। सोमदत्त के गुण्डे मित्रों ने, शस्त्रों से उन सिपाहियों को मारा ॥१६॥

यह सुनकर क्रोध से राजा ने सेना के द्वारा पकड़वाकर उसे फाँसी की आज्ञा दे दी ॥१७॥

शूली पर चढ़ा हुआ वह ब्राह्मण, मानों किसी के द्वारा फेंका हुआ-सा पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥१८॥

भाग्य ही, भविष्य में होनेवाले कल्याण की रक्षा करते हैं। उसे फिर शूली पर चढ़ाने के लिए तैयार वधिक अन्धे हो गये। उसी समय उसके छोटे भाई के अनुनय-विनय करने पर राजा ने, उसे फाँसी से छुड़ा दिया ॥१९-२०॥

मृत्यु-मुख से छूटे हुए सोमदत्त ने, राजा के द्वारा किये गये अपमान के कारण अपनी गृहस्थी के साथ उस देश को छोड़कर दूसरे देश जाने की इच्छा प्रकट की ॥२१॥

जब उसके एकत्र हुए बन्धुओं ने, उसे देश-त्याग के लिए मना किया, तब उसने राजा के आधे ग्राम का अधिकार छोड़ दिया और वहीं रहने लगा ॥२२॥

ग्राम छूट जाने से जीवन-निर्वाह का उपाय न देखकर उसने कृषि (खेती) करने का निश्चय किया और कृषि-योग्य भूमि ढूँढ़ने के लिए किसी शुभ दिन को जंगल में गया ॥२३॥

तत्र लेभे शुभां भूमिं सम्भाव्य फलसम्पदम् ।
तन्मध्ये च महाभोगमश्वत्थतरुमैक्षत ।।२४।।
तं कल्याणघनच्छायाच्छन्नसूर्यांशुशीतलम् ।
प्रावृट्कालमिवालोक्य कृष्यर्थी तोषमाप सः ।।२५।।
योऽधिष्ठातात्र तस्यैव भक्तोऽस्मीत्यभिधाय च ।
कृतप्रदक्षिणोऽश्वत्थवृक्षं तं प्रणनाम सः ।।२६।।
संयोज्याथ बलीवर्दयुगं रचितमङ्गलः ।
कृत्वा बलिं तस्य तरोरारेभे कृषिमत्र सः ।।२७।।
तस्थौ तस्यैव चाधस्ताद्द्रुमस्य स दिवानिशम् ।
भोजनं तस्य चानिन्ये तत्रैव गृहिणी सदा ।।२८।।
काले तत्र च पक्वेषु तस्य सस्येष्वशङ्कितम् ।
सा भूमिः परराष्ट्रेण दैवादेत्य व्यलुण्ठयत ।।२९।।
ततः परबले याते नष्टे सस्ये च सत्त्ववान् ।
आश्वास्य रुदतीं भार्यां किञ्चिच्छेषं तदाददौ ।।३०।।
प्राग्वत्कृतबलिस्तस्थौ तत्रैवाथ तरोरधः ।
निसर्गः हि धीराणां यदापद्यधिकं दृढाः ।।३१।।
अथ चिन्ताविनिद्रस्य स्थितस्यैकाकिनो निशि ।
तस्याश्वत्थतरोस्तस्मादुच्चचार सरस्वती ।।३२।।
भोः सोमदत्त तुष्टोऽस्मि तव तद्गच्छ भूपतेः ।
आदित्यप्रभसंज्ञस्य राष्ट्रं श्रीकण्ठदेशगम् ।।३३।।
तत्र तस्यानवरतं द्वारदेशे महीपतेः ।
वदेः पठित्वा सन्ध्याग्निहोत्रमन्त्रानिदं वचः ।।३४।।
फलभूतिरहं नाम्ना विप्रः शृणुत वच्मि यत् ।
भद्रकृत्प्राप्नुयाद् भद्रमभद्रं चाप्यभद्रकृत् ।।३५।।
एवं वदंश्च तत्र त्वं महतीमृद्धिमाप्स्यसि ।
सन्ध्याग्निहोत्रमन्त्रांश्च मत्त एव पठाधुना ।।३६।।
अहं च यक्ष इत्युक्त्वा स्वप्रभावेण तत्क्षणम् ।
तमध्याप्य च तान्मन्त्रान् वटे वाणी तिरोदधे ।।३७।।
प्रातः स सोमदत्तश्च प्रतस्थे भार्यया सह ।
फलभूतिरिति प्राप्य नाम यक्षकृतं कृती ।।३८।।
अतिक्रम्याटवीस्तास्ता विषमाः परिवर्त्तिनीः ।
दुर्दशा इव सम्प्राप श्रीकण्ठविषयं च सः ।।३९।।

जंगल में उसने अच्छी फसल होने योग्य एक भूमि देखी और उसके मध्य में बड़ी विस्तृत (लम्बी-चौड़ी) घनी छाया के कारण (सूर्य-किरणों को रोकने के कारण) शीतल एक पीपल के वृक्ष को वर्षाकाल के समान देखकर वह कृषक अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ ॥२४-२५॥

तब सोमदत्त ने, इस वृक्ष में रहनेवाला जो भी देवता है, म उसका भक्त हूँ, ऐसा कहकर वृक्ष की प्रदक्षिणा कर उसे प्रणाम किया ॥२६॥

तदनन्तर, बैलों को जोड़कर मंगल के लिए पूजा-पाठ आदि करके और वृक्ष को प्रसाद चढ़ाकर उसने खेती प्रारम्भ कर दी ॥२७॥

खेती करता हुआ वह सोमदत्त उसी वृक्ष के नीचे दिन-रात रहने लगा। उसकी पत्नी, प्रतिदिन उसे वहीं भोजन लाकर देती थी ॥२८॥

कुछ समय के बाद जब उसकी खेती पककर तैयार हुई, तो दूसरे राजा के राष्ट्र पर आक्रमण करने के कारण लूट ली गई। शत्रु-सेना के चले जाने पर और धन के नष्ट होने पर उसने रोती हुई पत्नी को समझा-बुझाकर कुछ बचा-खुचा अन्न समेट लिया ॥२९-३०॥

और, पहले के समान पीपल के वृक्ष में रहनेवाले देवता की बलि (प्रसाद) चढ़ाकर धैर्य के साथ वहीं रहने लगा; क्योंकि धैर्यशाली जीव, विपत्ति के समय स्वभावतः अधिक दृढ हो जाते हैं ॥३१॥

तदनन्तर, एक दिन, रात में चिन्ता से निद्रा न आने के कारण जागते हुए सोमदत्तने पीपल के वृक्ष से निकली हुई यह वाणी सुनी—हे सोमदत्त ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम श्रीकण्ठ-देश में आदित्यप्रभ नामक राज्य के राष्ट्र में जाओ। उस राजा के द्वार पर निरन्तर सन्ध्या और अग्निहोत्र के मन्त्रों का पाठ करते हुए यह कहना कि मैं फलभूति नामक ब्राह्मण हूँ, जो कहता हूँ उसे सुनिए—'शुभ कार्य करनेवाला कल्याण प्राप्त करता है और अशुभ कार्यकारी अशुभ प्राप्त करता है। तुम्हें सन्ध्या और अग्निहोत्र के मन्त्र नहीं आते, उन्हें अभी मुझसे पढ़ो, मैं यक्ष हूँ।' ऐसा कहकर यक्ष ने अपने प्रभाव से उसी समय मन्त्र पढ़ा दिये। मन्त्र पढ़ाकर वाणी मौन हो गई ॥३२–३७॥

प्रातःकाल सोमदत्त यक्ष द्वारा दिये गये फलभूति नाम को पाकर, अपनी पत्नी के साथ श्रीकण्ठ-देश की ओर चल पड़ा। वह अनेक बड़े-बड़े भीषण जंगलों को पारकर दुर्दशा के साथ श्रीकण्ठ-देश में पहुँचा ॥३८-३९॥

तत्र सन्ध्याग्निकार्यादि पठित्वा द्वारि भूपते।
यथावन्नाम संश्राव्य फलभूतिरिति स्वकम् ॥४०॥

सोऽवादीद् भद्रकृद् भद्रमभद्रं चाप्यभद्रकृत्।
प्राप्नुयादिति लोकस्य कौतुकोत्पादकं वचः ॥४१॥

मुहुश्च तद्वदन्तं तं तत्रादित्यप्रभो नृपः।
बुद्ध्वा प्रवेशयामास फलभूतिं कुतूहली ॥४२॥

सोऽपि प्रवेश्य तस्याग्रे तदेव मुहुरब्रवीत्।
जहास तेन स नृपस्तदा पार्श्वस्थितैः सह ॥४३॥

ससामन्तश्च वस्त्राणि दत्वा चाभरणानि सः।
ग्रामान् राजा ददौ तस्मै न तोषो महतां मृषा ॥४४॥

एवं च तत्क्षणं प्राप गुह्यकानुग्रहेण सः।
फलभूतिः कृशो भूत्वा विभूतिं भूभृदर्पिताम् ॥४५॥

सदा तदेव च वदन् पूर्वोक्तं प्राप भूपतेः।
वाल्लभ्यमीश्वराणां हि विनोदरमिकं मनः ॥४६॥

क्रमाद्राजगृहे चास्मिन् राष्ट्रेष्वन्तःपुरेषु च।
राजप्रिय इति प्रीतिं बहुमानामवाप सः ॥४७॥

कदाचिदथ सोऽटव्याः कृत्वाखेटकमागतः।
आदित्यप्रभभूपालः सहसान्तःपुरं ययौ ॥४८॥

द्वाःस्थसम्भ्रमसाशङ्कः प्रविश्यैव ददर्श सः।
देवीं देवार्चनव्यग्रां नाम्ना कुवलयावलीम् ॥४९॥

दिगम्बरामूर्ध्वकेशीं निमीलितविलोचनाम्।
स्थूलसिन्दूरतिलकां जपप्रस्फुटिताधराम् ॥५०॥

विचित्रवर्णकन्यस्तमहामण्डलमध्यगाम्।
असृक्सुरामहामांसकल्पितोग्रबलिक्रियाम् ॥५१॥

सोऽपि प्रविष्टे नृपतौ सम्भ्रमाकलितांशुका।
तेन पृष्टा क्षणादेवमवोचद्याचिताभया ॥५२॥

तदैवोदयलाभार्थं कृतवत्यस्मि पूजनम्।
अत्र चागमवृत्तान्तं सिद्धिं च शृणु मे प्रभो! ॥५३॥

कुवलयावलीकथिता वार्त्ता

पुराहं पितृवेश्मस्था कन्या मधुमहोत्सवे।
एवमुक्त्वा वयस्याभिः समेत्योद्यानवर्त्तिनी ॥५४॥

अस्तीह प्रमदोद्याने तरुमण्डलमध्यगः।
दृष्टप्रभावो वरदो देवदेवो विनायकः ॥५५॥

वहाँ राजद्वार पर सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि के मन्त्र पढ़कर और अपना फलभूति, नाम सुनाकर बोला—'कल्याणकारी कल्याण प्राप्त करता है और अशुभकर्त्ता अशुभ प्राप्त करता है।' लोगों में आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले ये वचन बोलने लगा ॥४०-४१॥

उसे बार-बार ऐसा कहते हुए सुनकर चकित हुए राजा आदित्यप्रभ ने, उसे अन्दर बुलवाया ॥४२॥

वह फलभूति भीतर राजा के समीप जाकर भी बार-बार वही वाक्य कहने लगा, जिसे सुनकर राजा और उसके समीप बैठे हुए व्यक्ति हँसने लगे। इस प्रकार प्रसन्न राजा ने, उसे अच्छे-अच्छे वस्त्र, गहने और अनेक गाँव पुरस्कार में दिये। बड़ों की प्रसन्नता झूठी (व्यर्थ) नहीं होती ॥४३-४४॥

इस प्रकार, यक्ष की कृपा से निर्धन फलभूति ने राजा द्वारा दी गई विभूति प्राप्त की और सदा इसी प्रकार बकता हुआ राजा का प्रेमपात्र बन गया। राजाओं का मन, विनोद का सदा रसिक होता है। क्रमशः वह फलभूति (सोमदत्त) धीरे-धीरे राज्य में, रनिवास में और सर्वत्र ही राजप्रिय होने के कारण सम्मानित हुआ ॥४५–४७॥

किसी समय राजा आदित्यप्रभ, जंगल से शिकार खेलकर एकाएक रनिवास में चला गया। द्वारपाल की घबराहट से शंकित राजा ने रानी के भवन में प्रवेश करते ही रानी कुवलयावली को देव-पूजा में संलग्न देखा ॥४८-४९॥

राजा ने वहाँ उठे हुए बालोंवाली, आँखें मूँदे हुए, मोटा सिन्दूर का तिलक लगाये हुए, जप से फड़कते हुए ओठोंवाली रंग-विरंगे बड़े-से मण्डल के भीतर बैठी हुई तथा रक्त, मद्य और नरमांस से उग्र बलि देती हुई नंगी रानी को देखा ॥५०-५१॥

रानी भी राजा के सहसा आ जाने पर घबराहट से धोती पहनने लगी, राजा के पूछने पर अभय-प्रार्थना करके बोली—'महाराज ! तुम्हारी उन्नति के लिए ही यह पूजन कर रही हूँ। इस पूजा की प्राप्ति और सिद्धि का वृत्तान्त सुनो ॥५२-५३॥

रानी कुवलयावली द्वारा कही गई कथा

पहले पिता के घर में जब मैं कन्या (अविवाहित) थी, तब एक बार वसन्तोत्सव के समय, मुझे उद्यान में बैठी हुई सहेलियों ने आकर कहा—'इस जनाने उद्यान में पेड़ों की झुरमुट में सिद्धिदाता वरदानी गणेशजी की मूर्त्ति है। वह भक्तों की मनस्कामना पूर्ण करते हैं ॥५४-५५॥

तमुपागत्य भक्त्या त्वं पूजय प्रार्थितप्रदम् ।
येन निर्विघ्नमेवाशु स्वोचितं पतिमाप्स्यसि ॥५६॥
तच्छ्रुत्वा पर्यपृच्छ्यन्त सख्यस्ता मौग्ध्यतो मया ।
कन्या लभन्ते भर्त्तारं किं विनायकपूजया ॥५७॥
अथ ताः प्रत्यवोचन्मां किमेतावत्त्वयोच्यते ।
तस्मिन्नपूजिते नास्ति सिद्धिः कापीह कस्यचित् ॥५८॥
तथा चैतत्प्रभावं ते वर्णयामो वयं शृणु ।
इत्युक्त्वा च वयस्या मे कथामकथयन्निमाम् ॥५९॥

गणपतिकथा

पुरा पुरारेस्तनयं सेनान्यं प्राप्तुमिच्छति ।
तारकोपद्रुते शक्रे दग्धे च कुसुमायुधे ॥६०॥
ऊर्ध्वरेतसमत्युग्रं सुदीर्घतपसि स्थितम् ।
गौरी कृततपाः प्रार्थ्य प्राप्य च त्र्यम्बकं पतिम् ॥६१॥
आचकांक्ष सुतप्राप्तिं मदनस्य च जीवितम् ।
न च सस्मार सिद्ध्यर्थं सा विघ्नेश्वरपूजनम् ॥६२॥
अभीष्टाभ्यर्थिनीं तां च कान्तामित्यवदच्छिवः ।
प्रिये प्रजापतेः पूर्वं मानसादजनि स्मरः ॥६३॥
कं दर्पयामीति मदाज्जातमात्रो जगाद च ।
तेन कन्दर्पनामानं तं चकार चतुर्मुखः ॥६४॥
अतिदृप्तोऽसि चेत्पुत्र तत्त्रिनेत्रस्य लङ्घनम् ।
एकस्य रक्षेर्मा नाम मृत्युं तस्मादवाप्स्यसि ॥६५॥
इत्थं स वेधसोक्तोऽपि संक्षोभायागतः शठः ।
मया दग्धो न तस्यास्ति सदेहस्योद्भवः पुनः ॥६६॥
भवत्यास्तु स्वशक्त्यैव पुत्रमुत्पादयाम्यहम् ।
नहि मे मदनोत्साहहेतुका लोकवत्प्रजा ॥६७॥
एवं वदत एवास्य पार्वती वृषलक्ष्मणः ।
आविर्बभूव पुरतो ब्रह्मा शतमखान्वितः ॥६८॥
तेन स्तुत्वा स विज्ञप्तस्तारकासुरशान्तये ।
अङ्गीचक्रे शिवः स्रष्टुं देव्यामात्मजमौरसम् ॥६९॥

मनोरथ पूरा करनेवाले उनकी पूजा कर, अवश्य ही तुम अपने अनुकूल पति को प्राप्त करोगी' ।।५६।।

यह सुनकर मैंने अपने स्वाभाविक भोलेपन से सखियों से पूछा कि क्या विनायक (गणेश) की पूजा से कुमारियाँ, अपने योग्य पति को प्राप्त करती हैं ? ।।५७।।

मेरे पूछने पर उन्होंने कहा— 'तुम क्या कह रही हो ? उनकी पूजा के विना किसी को कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। हम गणेशजी का प्रभाव तुम्हें बतलाती हैं, सुनो।' ऐसा कहकर सहेलियों ने मुझे कथा सुनाई ।।५८-५९।।

गणपति की कथा

प्राचीन काल में देवता लोग सेनापतित्व के लिए शिवजी के पुत्र को चाहते थे; क्योंकि तारकासुर ने इन्द्र को भगा दिया था और शिवजी ने कामदेव को दग्ध कर दिया था। ऊर्ध्वरेता (आजन्म ब्रह्मचारी) एवं अत्यन्त उग्र लम्बी तपस्या में बैठे हुए शिवजी को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए पार्वती ने तप किया और पुत्र की प्राप्ति एवं कामदेव का पुनर्जन्म माँगा; किन्तु उसने कार्यसिद्धि के लिए गणेशजी के पूजन का स्मरण नहीं किय। ।।६०–६२।।

तब अपना अभीष्ट चाहनेवाली पार्वती से शिव ने कहा—'प्रिये ! सबसे पहले प्रजापति ब्रह्मा के मन से कामदेव उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही मद से बोला, 'किसे उन्मत्त करूँ ?' तब प्रजापति ने उसका नाम कंदर्प रख दिया और उससे बोले— 'बेटा, तुम्हें अत्यन्त दर्प हो गया है, तो एक त्रिनेत्र शिव से अपनी रक्षा करना। कहीं उससे तुम्हारी मृत्यु न हो'। ब्रह्मा से इस प्रकार समझाया गया भी दुष्ट कामदेव मुझे क्षुब्ध करने के लिए आया और मैंने उसे दग्ध कर दिया। वह पुनः देह के साथ जीवित नहीं हो सकता ।।६३–६६।।

तुम्हें तो मैं अपनी ही शक्ति से पुत्र उत्पन्न कर दूँगा। साधारण सांसारिक जनों के समान मुझे कामदेव की प्रेरणा से प्रजोत्पादन-शक्ति की आवश्यकता नहीं है ।।६७।।

जब शिवजी पार्वती से इस प्रकार कह रहे थे, तभी उनके सम्मुख ब्रह्मा, इन्द्र के साथ प्रकट हुए। उन्होंने स्तुति करके शिवजी से तारकासुर से शान्ति के लिए प्रार्थना की। शिवजी ने भी पार्वती की कोख से सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया'।।६८-६९।।

मनोरथ पूरा करनेवाले उनकी पूजा कर, अवश्य ही तुम अपने अनुकूल पति को प्राप्त करोगी' ।।५६।।

यह सुनकर मैंने अपने स्वाभाविक भोलेपन से सखियों से पूछा कि क्या विनायक (गणेश) की पूजा से कुमारियाँ, अपने योग्य पति को प्राप्त करती हैं ? ।।५७।।

मेरे पूछने पर उन्होंने कहा— 'तुम क्या कह रही हो ? उनकी पूजा के विना किसी को कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती । हम गणेशजी का प्रभाव तुम्हें बतलाती हैं, सुनो ।' ऐसा कहकर सहेलियों ने मुझे कथा सुनाई ।।५८-५९।।

गणपति की कथा

प्राचीन काल में देवता लोग सेनापतित्व के लिए शिवजी के पुत्र को चाहते थे; क्योंकि तारकासुर ने इन्द्र को भगा दिया था और शिवजी ने कामदेव को दग्ध कर दिया था । ऊर्ध्वरेता (आजन्म ब्रह्मचारी) एवं अत्यन्त उग्र लम्बी तपस्या में बैठे हुए शिवजी को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए पार्वती ने तप किया और पुत्र की प्राप्ति एवं कामदेव का पुनर्जन्म माँगा; किन्तु उसने कार्यसिद्धि के लिए गणेशजी के पूजन का स्मरण नहीं किया ।।६०–६२।।

तब अपना अभीष्ट चाहनेवाली पार्वती से शिव ने कहा—'प्रिये ! सबसे पहले प्रजापति ब्रह्मा के मन से कामदेव उत्पन्न हुआ । वह उत्पन्न होते ही मद से बोला, 'किसे उन्मत्त करूँ ?' तब प्रजापति ने उसका नाम कंदर्प रख दिया और उससे बोले— 'बेटा, तुम्हें अत्यन्त दर्प हो गया है, तो एक त्रिनेत्र शिव से अपनी रक्षा करना । कहीं उससे तुम्हारी मृत्यु न हो' । ब्रह्मा से इस प्रकार समझाया गया भी दुष्ट कामदेव मुझे क्षुब्ध करने के लिए आया और मैंने उसे दग्ध कर दिया । वह पुनः देह के साथ जीवित नहीं हो सकता ।।६३–६६।।

तुम्हें तो मैं अपनी ही शक्ति से पुत्र उत्पन्न कर दूँगा । साधारण सांसारिक जनों के समान मुझे कामदेव की प्रेरणा से प्रजोत्पादन-शक्ति की आवश्यकता नहीं है ।।६७।।

जब शिवजी पार्वती से इस प्रकार कह रहे थे, तभी उनके सम्मुख ब्रह्मा, इन्द्र के साथ प्रकट हुए । उन्होंने स्तुति करके शिवजी से तारकासुर से शान्ति के लिए प्रार्थना की। शिवजी ने भी पार्वती की कोख से सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया' ।।६८-६९।।

अनुमेने च कामस्य जन्म चेतसि देहिनाम् ।
सर्गविच्छेदरक्षार्थममूर्त्तस्यैव तद्गिरा ॥७०॥
ददौ च निजचित्तेऽपि सोऽवकाशं मनोभुवः ।
तेन तुष्टो ययौ धाता मुदं प्राप च पार्वती ॥७१॥
ततो यातेषु दिवसेष्वेकदा रहसि स्थितः ।
सिषेवे सुरतक्रीडामुमया सह. शङ्करः ॥७२॥

कुमारजन्मकथा

यदा नाभूद्व्रतान्तोऽस्य गतेष्वब्दशतेष्वपि ।
तदा तदुपमर्दैन चकम्पे भुवनत्रयम् ॥७३॥
ततो जगन्नाशभयाद्व्रतविघ्नाय शूलिनः ।
वह्निं स्मरन्ति स्म सुराः पितामहनिदेशतः ॥७४॥
सोऽप्यग्निः स्मृतमात्रः सन्नधृष्यं मदनान्तकम् ।
मत्वा पलाय्य देवेभ्यः प्रविवेश जलान्तरम् ॥७५॥
तत्तेजोदह्यमानश्च तत्र भेका दिवौकसाम् ।
विचिन्वतां शशंसुस्तमग्निमन्तर्जलस्थितम् ॥७६॥
ततस्ताननभिव्यक्तवाचः शापेन तत्क्षणम् ।
भेकान्कृत्वा तिरोभूय भूयोग्निर्मन्दरं ययौ ॥७७॥
तत्र तं कोटरान्तःस्थं देवा शम्बूकरूपिणम् ।
प्रापुर्गजशुकाख्यातं स चैषां दर्शनं ददौ ॥७८॥
कृत्वा जिह्वाविपर्यासं शापेन शुकदन्तिनाम् ।
प्रतिपेदे च देवानां स कार्यं तैः कृतस्तुतिः ॥७९॥
गत्वा च स्वोष्मणा सोऽग्निर्निवार्य सुरताच्छिवम् ।
शापभीत्या प्रणम्यास्मै देवकार्यं न्यवेदयत् ॥८०॥
शर्वोऽप्यारूढवेगोऽग्नौ तस्मिन्वीर्यं स्वमादधे ।
तद्धि धारयितुं शक्तो न वह्निर्नाम्बिकापि वा ॥८१॥
न मया तनयस्त्वत्तः सम्प्राप्त इति वादिनीम् ।
खेदकोपाकुलां देवीमित्युवाच ततो हरः ॥८२॥
विघ्नोऽत्र तव जातोऽयं विना विघ्नेशपूजनम् ।
तदर्चयैनं येनाशु वह्नौ नो जनिता सुतः ॥८३॥

और, ब्रह्मा के कहने पर प्राणियों के चित्त में कामदेव का जन्म होना भी स्वीकार किया, जिससे सृष्टि का विच्छेद न हो। उन्होंने अपने चित्त में भी कामदेव को स्थान दिया। इससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा चले गये और पार्वती प्रसन्न हुईं ।।७०-७१।।

कुछ दिन व्यतीत होने पर एक बार एकान्त में शिव-पार्वती का समागम हुआ ।।७२।।

स्वामि कार्त्तिकेय की उत्पत्ति

सैंकड़ों वर्ष व्यतीत होने पर भी क्रीडा समाप्त न हुई, प्रत्युत उनसे तीनों लोक काँप गये। संसार के नाश के भय से शिव की क्रीडा में विघ्न डालने के लिए देवताओं ने ब्रह्मा की आज्ञा से अग्नि का स्मरण किया। स्मरण करते ही उपस्थित हुआ अग्नि शिवजी के भीषण क्रोध का स्मरण करके देवताओं से भागकर जल में जा छिपा ।।७३–७५।।

जल में अग्नि के ताप से जलते हुए मेढकों ने अग्नि को खोजते हुए देवताओं से जल में छिपे अग्नि का पता बता दिया ।।७६।।

अग्नि मेढकों को अस्पष्ट वाणीवाले होने का शाप देकर और छिपकर मन्दराचल पर चला गया। वहाँ देवताओं ने, पर्वत के दर्रे में शम्बूक (घोंघा) के रूप में उस अग्नि को देखा। वहाँ उसने गजशुक नाम से देवताओं को दर्शन दिया ।।७७-७८।।

अग्नि ने सुग्गों की जिह्वा को पलटने का शाप दिया और देताओं के स्तुति करने पर अग्नि ने देवताओं के कार्य को स्वीकार कर लिया ।।७९।।

अग्नि ने जाकर अपनी गर्मी से शिवजी को तुरत क्रीड़ा से विरत करके और प्रणाम करके देवताओं का कार्य निवेदित किया। प्रचण्ड वेगवान् शिवजी ने वह्नि में ही अपना वीर्य स्थापित कर दिया; लेकिन उसे पार्वती और अग्नि दोनों ही धारण करने में असमर्थ थे ।।८०–८१।।

'मैंने तुमसे पुत्र नहीं प्राप्त किया'—ऐसा कहती हुई पार्वती को शिव ने कहा—।।८२।।

'इस कार्य में विघ्नेश (गणेश) का पूजन न करने से यह विघ्न तुम्हें प्राप्त हुआ। इसलिए गणेश-पूजा करो, तो अग्नि में हम दोनों का पुत्र उत्पन्न होगा' ।।८३।।

इत्युक्ता शम्भुना देवी चक्रे विघ्नेश्वरार्चनम् ।
अनलोऽपि सगर्भोऽभूत्तेन वीर्येण धूर्जटेः ॥८४॥
तत्तेजः शाम्भवं बिभ्रत्स सदा दिवसेष्वपि ।
अन्तःप्रविष्टतिग्मांशुरिव सप्तार्चिराबभौ ॥८५॥
उद्ववाम च गङ्गायां तत्तेजः सोऽथ दुर्धरम् ।
गङ्गैनमत्यजन्मेरौ वह्निकुण्डे हराज्ञया ॥८६॥
तत्र संरक्ष्यमाणः सन् स गर्भः शाम्भवैर्गणैः ।
निःसृत्याब्दसहस्रेण कुमारोऽभूत्षडाननः ॥८७॥
ततो गौरीनियुक्तानां कृत्तिकानां पयोधरान् ।
षण्णां षड्भिर्मुखैः पीत्वा स्वल्पैः स ववृधे दिनैः ॥८८॥
अत्रान्तरे देवराजस्तारकासुरनिर्जितः ।
शिश्रिये मेरुशृङ्गाणि दुर्गाण्युज्झितसङ्गरः ॥८९॥
देवाश्च साकमृषिभिः षण्मुखं शरणं ययुः ।
षण्मुखोऽपि सुरान् रक्षन्नासीत्तैः परिवारितः ॥९०॥
तद्बुद्ध्वा हारितं मत्वा राज्यमिन्द्रोऽथ चुक्षुभे ।
योधयामास गत्वा च कुमारं स समत्सरः ॥९१॥
तद्वज्राभिहतस्याङ्गात् षण्मुखस्योद्बभूवतुः ।
पुत्रौ शाखविशाखाख्यावुभावतुलतेजसौ ॥९२॥
सपुत्रं च तमाक्रान्तिशतक्रतुपराक्रमम् ।
उपेत्य तनयं शर्वः स्वयं युद्धादवारयत् ॥९३॥
जातोऽसि तारकं हन्तुं राज्यं चेन्द्रस्य रक्षितुम् ।
तत्कुरुष्व निजं कार्यमिति चैनं शशास सः ॥९४॥
ततः प्रणम्य प्रीतेन तत्क्षणं वृत्रवैरिणा ।
सैनापत्याभिषेकोऽस्य कुमारस्योपचक्रमे ॥९५॥
स्वयमुत्क्षिप्तकलशस्तब्धबाहुरभूद्यदा ।
ततः शक्रः शुचमगादथैनमवदच्छिवः ॥९६॥
न पूजितो गजमुखः सेनान्यं वाञ्छता त्वया ।
तेनैष विघ्नो जातस्ते तत्कुरुष्व तदर्चनम् ॥९७॥
तच्छ्रुत्वा तत्तथा कृत्वा मुक्तबाहुः शचीपतिः ।
अभिषेकोत्सवं सम्यक्सेनान्ये निरवर्तयत् ॥९८॥

शिवजी से इस प्रकार कही गई पार्वती ने विघ्ननाशक गणेश का पूजन किया और उस शिवजी के अमोघ वीर्य से अग्नि को गर्भ रह गया ।।८४।।

शिवजी के तेज को धारण किये हुए अग्नि ऐसा चमक रहा था, जैसे सूर्य के तेज के अन्दर प्रविष्ट होने से आग चमकती है ।।८५।।

कुछ समय के अनन्तर अग्नि ने उस असह्य शिव के तेज को गंगा में वमन करके गिरा दिया और गंगा ने, शिव की आज्ञा से उसे सुमेरु पर्वत पर वह्नि-कुण्ड में छोड़ दिया ।।८६।।

वहाँ पर शिवजी के गणों से रक्षा किया जाता हुआ वह तेज, एक हजार वर्ष के अनन्तर छह मुँहवाले कुमार के रूप में उत्पन्न हुआ ।।८७।।

तब गौरी (पार्वती) के द्वारा नियुक्त छह कृत्तिकाओं के स्तनों से छह मुखों द्वारा दूध पीकर वह कुमार कुछ दिनों में बड़ा हो गया ।।८८।।

इसी बीच तारकासुर से भगाया हुआ इन्द्र, युद्ध छोड़कर सुमेरु पर्वत की चोटियों में छिप रहा था ।।८९।।

ऋषियों के साथ देवतागण षण्मुख कुमार की शरण में गये, कुमार ने भी उनकी रक्षा की ।।९०।।

यह जानकर और राज्य को हारा हुआ समझकर, इन्द्र को क्षोभ हुआ और उसने ईर्ष्यायुक्त होकर कुमार से युद्ध किया ।।९१।।

इन्द्र के वज्र के प्रहार से षण्मुख के अंग से शाख और विशाख दो अनुपम तेजस्वी बालक उत्पन्न हुए ।।९२।।

पुत्रों के साथ इन्द्र के पराक्रम को दबाते हुए बालक षण्मुख को देखकर शिवजी स्वयं आये और उन्हें युद्ध करने से रोक दिया और कहा—'तुम तारकासुर को मारने और इन्द्र की रक्षा करने के लिए उत्पन्न हुए हो, इसीलिए अपने उसी यथार्थ कार्य को करो ।।९३-९४।।

इसी समय प्रसन्न हुए इन्द्र ने, सेनापतित्व के लिए कुमार का अभिषेक किया ।।९५।।

अभिषेक के लिए कलश उठाये हुए इन्द्र का हाथ जब रुक गया, तब इन्द्र को शोक हुआ। उसे देखकर शिवजी ने कहा—'इन्द्र! तुमने सेनापति का निर्वाचन करते हुए गणेश की पूजा नहीं की थी, उसी से यह विघ्न हुआ, अब उसका पूजन करो' ।।९६-९७।।

ऐसा सुनकर, गणेश-पूजन करने पर इन्द्र के हाथ खुल गये और कुमार के सेनापतित्व का अभिषेक निर्विघ्न हो गया ।।९८।।

ततो जघान नचिरात् सेनानीस्तारकासुरम् ।
ननन्दुः सिद्धकार्याश्च देवा गौरी च पुत्रिणी ।।९९।।
तदेवं देवि देवानामपि सन्ति न सिद्धयः ।
हैरम्बेऽनर्चिते तस्मात्पूजयैनं वरार्थिनी ।।१००।।
इत्युक्ताऽहं वयस्याभिरुद्यानैकान्तवर्त्तिनम् ।
आर्यपुत्र पुरा गत्वा विघ्नराजमपूजयम् ।।१०१।।
पूजावसाने चापकश्यमकस्माद् गगनाङ्गणे ।
उत्पत्य विहरन्तीस्ताः स्वसखीर्निजसिद्धितः ।।१०२।।
तद्दृष्ट्वा कौतुकाद् व्योम्नः समाहूयावतार्य च ।
मया सिद्धिस्वरूपं ताः पृष्टाः सद्योऽब्रुवन्निदम् ।।१०३।।
इमा नृमांसाशनजा डाकिनीमन्त्रसिद्धयः ।
कालरात्रिरिति ख्याता ब्राह्मणी गुरुरत्र नः ।।१०४।।
एवं सखीभिरुक्ताहं खेचरी सिद्धिलोलुपा ।
नृमांसाशनभीता च क्षणमासं ससंशया ।।१०५।।
अथ तत्सिद्धिलुब्धत्वादवोचं ताः सखीरहम् ।
उपदेशो ममाप्येष युष्माभिर्दाप्यतामिति ।।१०६।।
ततो मदभ्यर्थनया गत्वा तत्क्षणमेव ताः ।
आनिन्युः कालरात्रिं तां तत्रैव विकटाकृतिम् ।।१०७।।
मिलद्भ्रुवं कातराक्षीं न्यञ्चच्चिपिटनासिकाम् ।
स्थूलगण्डीं करालोष्ठीं दन्तुरां दीर्घकन्दराम् ।।१०८।।
लम्बस्तनीमुदरिणीं विदीर्णोत्फुल्लपादुकाम् ।
धात्रा वैरूप्यनिर्माणवैदग्धीं दर्शितामिव ।।१०९।।
सा मां पादानतां स्नातां कृतविघ्नेश्वरार्चनाम् ।
विवस्त्रां मण्डले भीमां भैरवार्चामकारयत् ।।११०।।
अभिषिच्य च सा मह्यं तांस्तान् मन्त्रान्निजान् ददौ ।
भक्षणाय नृमांसं च देवार्चनबलीकृतम् ।।१११।।
आत्तमन्त्रगणा भुक्तमहामांसा च तत्क्षणम् ।
निरम्बरैवोत्पतिता ससखीकाहमम्बरम् ।।११२।।
कृतक्रीडावतीर्याथ गगनाद् गुर्वनुज्ञया ।
गताऽभूवमहं देव कन्यकान्तःपुरं निजम् ।।११३।।

तदनन्तर, सेनापति षण्मुखकुमार ने, शीघ्र ही तारकासुर को मारा। देवतागण प्रसन्न हुए और पार्वती ने अपने को पुत्रवती माना ॥९९॥

तो, विना गणेश-पूजन के देवताओं को भी सिद्धि सम्भव नहीं। इसलिए, तू भी उचित पति की प्राप्ति के लिए उनका पूजन कर ॥१००॥

सखियों से इस प्रकार कही गई मैंने बगीचे के एकान्त स्थान में स्थित विघ्नराज की पूजा की थी। पूजा के अन्त में मैंने अकस्मात् देखा कि मेरी सखियाँ, अपनी सिद्धि के प्रभाव से उछलकर आकाश में पक्षियों के समान उड़ रही हैं ॥१०१-१०२॥

यह देखकर आश्चर्य से मैंने उन्हें बुलाकर और नीचे उतारकर पूछा कि यह क्या है? तब उन्होंने तुरन्त कहा—मनुष्य का मांस खाने से प्राप्त होनेवाली ये डाकिनी-मन्त्रों की सिद्धियाँ हैं। कालरात्रि नाम की ब्राह्मणी इस विषय में हमारा गुरु है। आकाश में चलने की सिद्धि के लिए लोलुप होने पर मानव-मांस खाने से भयभीत मैं कुछ समय तक सोचती रही। किन्तु, उस सिद्धि का लोभ न रोक सकी और सखियों से बोली कि 'तुमलोग यह दीक्षा मुझे दिलवाओ' ॥१०३–१०६॥

तब मेरी प्रार्थना पर वे मेरी सहेलियाँ उसी समय विकट आकृतिवाली कालरात्रि को बुला लाईं। उस कालरात्रि का विकट रूप था—जैसे मिली हुई भौंहें, नीली आँखें, धँसी हुई चिपटी नाक, फूले लटके हुए स्तन, फूला हुआ पेट, फटे और फूले पाँव, मानों विधाता ने कुरूरता के निर्माण में अपनी विशेषता का प्रदर्शन किया हो ॥१०७–१०९॥

परों पर झुकी हुई और स्नान करके गणेश का पूजन किये हुए मुझे नंगी करके वह कालरात्रि मण्डल के बीच बैठकर भैरव की पूजा करने लगी ॥११०॥

तदनन्तर, मेरा अभिषेक करके उसने उन मन्त्रों की दीक्षा दी और देवताओं द्वारा भोग लगाया हुआ मनुष्य का मांस मुझे खाने के लिए दिया ॥१११॥

मन्त्रों की दीक्षा लेकर और मनुष्य के मांस का भक्षण करके मैं नंगी ही सखियों के साथ आकाश में उड़ने लगी ॥११२॥

इस प्रकार, आकाश में खेल-कूद करके गुरु की आज्ञा से भूमि पर उतरकर मैं अपने निवास-स्थान पर गई ॥११३॥

एवं बाल्येऽपि जाताहं डाकिनीचक्रवर्त्तिनी ।
भक्षितास्तत्र चास्माभिः समेत्य बह्वो नराः ॥११४॥

कालरात्र्याः कथा

अस्मिन्कथान्तरे चैतां महाराज कथां शृणु ।
विष्णुस्वामीत्यभूत्तस्याः कालरात्र्याः पतिर्द्विजः ॥११५॥
स च तस्मिन्नुपाध्यायो देशे नानादिगागतान् ।
शिष्यानध्यापयामास वेदविद्याविशारदः ॥११६॥
शिष्यमध्ये च तस्यैको नाम्ना सुन्दरको युवा ।
बभूव शिष्यः शीलेन विराजितवपुर्गुणैः ॥११७॥
तमुपाध्यायपत्नी सा कालरात्रिः कदाचन ।
वव्रे रहसि कामार्त्ता पत्यौ क्वापि बहिर्गते ॥११८॥
नूनं विरूपैरधिकं हासनैः क्रीडति स्मरः ।
यत्सानवेक्ष्य स्वं रूपं चक्रे सुन्दरकस्पृहाम् ॥११९॥
स तु सर्वात्मना नैच्छद्दर्थ्यमानोऽपि विप्लवम् ।
स्त्रियो यथा विचेष्टन्तां निष्कम्पं तु सतां मनः ॥१२०॥
ततः सापसृते तस्मिन्कालरात्रिः क्रुधा तदा ।
स्वमङ्गं पाटयामास स्वयं दत्तनखक्षतैः ॥१२१॥
विकीर्णवस्त्रकेशान्ता रुदती तावदास्त च ।
गृहं यावदुपाध्यायो विष्णुस्वामी विवेश सः ॥१२२॥
प्रविष्टं तमवादीच्च पश्य सुन्दरकेण मे ।
अवस्था विहिता स्वामिन् बलात्काराभिलाषिणा ॥१२३॥
तच्छ्रुत्वा स उपाध्यायः क्रुधा जज्वाल तत्क्षणम् ।
प्रत्ययः स्त्रीषु मुष्णाति विमर्शं विदुषामपि ॥१२४॥
सायं च तं सुन्दरकं गृहप्राप्तं प्रधाव्य सः ।
सशिष्यो मुष्टिभिः पादैर्लगुडैश्चाप्यताडयन् ॥१२५॥
किं च प्रहारनिश्चेष्टं शिष्यानादिश्य तं बहिः ।
त्याजयामास रथ्यायां निरपेक्षतया निशि ॥१२६॥
ततः शनैः सुन्दरकः स निशानिलवीजितः ।
तथाभिभूतमात्मानं पश्यन्नेवमचिन्तयत् ॥१२७॥

महाराज ! इस प्रकार डाकिनियों की चक्रवर्त्तिनी होकर मैंने सहेलियों के साथ बहुत-से मनुष्यों का मांस खाया ।।११४।।

कालरात्रि की कथा

महाराज ! इसी कथा के बीच एक और कथा सुने । हमारी उस गुरुआनी कालरात्रि का पति विष्णुदत्त नाम का एक ब्राह्मण प्रसिद्ध अध्यापक और वेदविद्या-विशारद था और दूर-दूर देश से आते हुए शिष्यों को पढ़ाता था ।।११५-११६।।

विष्णुदत्त के शिष्यों में सुन्दरक नामक एक युवक शिष्य था, जो बहुत ही विनयी और सदाचारी था ।।११७।।

एक बार विष्णुदत्त की पत्नी, उस कालरात्रि ने मोहित कर एकान्त में सुन्दरक से अनुचित प्रस्ताव किया, जबकि उसके पति कहीं बाहर चले गये थे ।।११८।।

यह सच है कि हँसने योग्य कुरूप व्यक्तियों से कामदेव क्रीडा करता है, अर्थात् हास्य करता है। तभी तो कुरूपा कालरात्रि ने, अपने रूप को न देखकर सुन्दरक को चाहा ।।११९।।

प्रार्थना करने पर भी सुन्दरक ऐसा कुकृत्य करना नहीं चाहता था। स्त्रियाँ चाहे जितनी चेष्टाएँ करें; किन्तु सज्जनों का मन हिलता नहीं ।।१२०।।

सुन्दरक के हाथ न लगने पर कालरात्रि ने क्रोध से दाँतों और नखों से अपने अंगों को काटा और नोंच-खसोट डाला ।।१२१।।

वह कपड़ों और बालों को बिखेरे हुए रो रही थी। उसी बीच उसका पति विष्णु-स्वामी घर आया ।।१२२।।

उसके आते ही उसने पति से कहा --'देखो, बलात्कार करने की चेष्टा में सुन्दरक ने मेरी यह हालत बना डाली है' ।।१२३।।

यह सुनकर अध्यापक विष्णुस्वामी क्रोध से जल उठा। सत्य है, स्त्रियों पर विश्वास करना, विद्वानों की भी विचार-शक्ति को नष्ट कर देता है ।।१२४।।

सायंकाल सुन्दरक के घर आने पर विष्णुस्वामी ने अपने अन्य शिष्यों के साथ उसे दौड़ाकर मुक्कों, लातों और डण्डों से खूब पीटा ।।१२५।।

मार खाकर बेहोश सुन्दरक को गुरु ने रात में बाहर गली में लापरवाही से फेंकवा दिया ।।१२६।।

रात की ठण्डी वायु से होश में आये सुन्दरक ने अपनी अवस्था को देखा और वह सोचने लगा ।।१२७।।

अहो स्त्री प्रेरणा नाम रजसा लङ्घितात्मनाम् ।
पुंसां वात्येव सरसामाशयक्षोभकारिणी ॥१२८॥
येनाऽविचार्य वृद्धोऽपि विद्वानपि न तत्तथा ।
अतिक्रोधादुपाध्यायो विरुद्धमकरोन्मयि ॥१२९॥
अथवा दैवसंसिद्धावासृष्टेर्विदुषामपि ।
कामक्रोधौ हि विप्राणां मोक्षद्वारार्गलावुभौ ॥१३०॥
तथा हि किं न मुनयः स्वदारभ्रंशशङ्किनः ।
देवदारुवने पूर्वमपि शर्वाय चुक्रुधुः ॥१३१॥
न चैनं विविदुर्देवं कृतक्षपणकाकृतिम् ।
उमायै दर्शयिष्यन्तमृषीणामप्यशान्तताम् ॥१३२॥
दत्तशापाश्च ते सद्यस्त्रिजगत्क्षोभकारणम् ।
बुद्ध्वा तं देवमीशानं तमेव शरणं ययुः ॥१३३॥
तदेवं कामकोपादिरिपुषड्वर्गवञ्चिताः ।
मुनयोऽपि विमुह्यन्ति श्रोत्रियेषु कथैव का ॥१३४॥
इति सुन्दरकस्तत्र ध्यायन्दस्युभयान्निशि ।
आरुह्य शून्यगोवाट[1]हर्म्ये तस्थौ समीपगे ॥१३५॥
तत्रैकदेशे यावच्च क्षणं तिष्ठत्यलक्षितः ।
तावत्तत्रैव हर्म्ये सा कालरात्रिरुपाययौ ॥१३६॥
आकृष्टवीरच्छुरिका मुक्तफूत्कारभीषणा ।
नयनाननवान्तोल्का डाकिनीचक्रसङ्गता ॥१३७॥
तां दृष्ट्वा तादृशीं तत्र कालरात्रिमुपागताम् ।
सस्मार मन्त्रान् रक्षोघ्नान् भीतः सुन्दरकोऽथ सः ॥१३८॥
तन्मन्त्रमोहिता चाथ तं ददर्श न सा तदा ।
भयसम्पिण्डितैरङ्गैरेकान्ते निभृतस्थितम् ॥१३९॥
अथोत्पतनमन्त्रं सा पठित्वा ससखीजना ।
कालरात्रिः सगोवाटहर्म्यैवोदपतन्नभः ॥१४०॥
तं च मन्त्रं स जग्राह श्रुत्वा सुन्दरकस्तदा ।
सहर्म्या सापि नभसा क्षिप्रमुज्जयिनीं ययौ ॥१४१॥

---

१. गोवाटः गवां स्थानं गोष्ठमित्यर्थः ।

जिस प्रकार आँधी, निर्मल जलवाले तालाबों को क्षुब्ध और मलिन कर देती है, उसी प्रकार स्त्री की प्रेरणा रजोगुणी पुरुषों के निर्मल हृदय को क्षुब्ध कर डालती है। इसी कारण वृद्ध और विद्वान् गुरु ने विना विचारे अति क्रोध से मेरे विरुद्ध भयंकर व्यवहार किया ।।१२८-१२९।।

यह भी बात है कि इस सृष्टि के आरम्भ-काल से ही, मोक्ष-मार्ग के विरोधी काम और क्रोध ब्राह्मणों में दैवयोग से प्रकृति-सिद्ध होते ह ।।१३०।।

जैसे पूर्वकाल में अपनी स्त्रियों के नष्ट होने की शंका से देवदारु-वन में, मुनिगण, शिव के ऊपर क्रुद्ध हो गये थे। उन्होंने पार्वती को ऋषियों की अशान्तता दिखलाते हुए क्षपणक-रूपधारी शिव को नहीं पहिचाना। शिवजी के शाप देने पर तीनों जगत् को हिला देनेवाले शिवजी को पहचान करके वे लोग फिर शिवजी की शरण में गये ।।१३१--१३३।।

इस प्रकार काम, क्रोध आदि छह शत्रुओं से ठगे हुए ऋषिगण भी जब मोहित हो जाते हैं, तब वेदपाठी ब्राह्मणों की तो बात ही क्या ? ।।१३४।।

इस प्रकार, सोचता हुआ सुन्दरक रात को चोर-डाकुओं के भय से पास की सूनी गोशाला में ठहरा ।।१३५।।

वह गोशाला के एक कोने में अभी बैठ ही रहा था कि उस मकान में कालरात्रि आ पहुँची ।।१३६।।

वह छुरी लिये हुए भीषण फूत्कार करती हुई आँखों और मुख से आग की ज्वाला फेंक रही थी और अनेक डाकिनियों के झुण्ड के साथ थी ।।१३७।।

इस प्रकार, आई हुई कालरात्रि को देखकर डरा हुआ सुन्दरक राक्षसों का नाश करनेवाले मन्त्रों का जप करने लगा ।।१३८।।

उसके मन्त्र-जप से मोहित कालरात्रि ने भय से एक कोने में सिकुड़े हुए उसे नहीं देखा ।।१३९।।

तदनन्तर, डाइन सहेलियों के साथ उस कालरात्रि ने उड़ने का मन्त्र पढ़ा और गौओं के बाड़े के साथ उड़कर आकाश-मार्ग से उज्जयिनी चली गई। उसी समय सुन्दरक ने सुनकर उसके मन्त्र को जान लिया ।।१४०-१४१।।

तत्रावतार्य हर्म्ये सा मन्त्रतः शाकवाटके।
गत्वा श्मशाने चिक्रीड डाकिनीचक्रमध्यगा ॥१४२॥
तत्क्षणं च क्षुधाक्रान्तः शाकवाटेऽवतीर्य सः।
तत्र सुन्दरकश्चक्रे वृत्तिमुत्खातमूलकैः ॥१४३॥
कृतक्षुत्प्रतिघातेऽस्मिन्प्राग्वद् गोवाटमाश्रिते।
प्रत्याययौ कालरात्री रात्रिमध्ये निकेतनात् ॥१४४॥
ततोऽधिरूढगोवाटा पूर्ववन्मन्त्रसिद्धितः।
आकाशेन सशिष्या सा निशि स्वगृहमाययौ ॥१४५॥
स्थापयित्वा यथास्थानं तच्च गोवाटवाहनम्।
विसृज्यानुचरीस्ताश्च शय्यावेश्म विवेश सा ॥१४६॥
सोऽपि सुन्दरको नीत्वा तां निशां विघ्नविस्मितः।
प्रभाते त्यक्तगोवाटो निकटं सुहृदां ययौ ॥१४७॥
तत्राख्यातस्ववृत्तान्तो विदेशगमनोन्मुखः।
तैः समाश्वासितो मित्रैस्तन्मध्ये स्थितिमग्रहीत् ॥१४८॥
उपाध्यायगृहं त्यक्त्वा भुञ्जानो सत्रसद्मनि।
उवास तत्र विहरन् स्वच्छन्दः सखिभिः सह ॥१४९॥
एकदा निर्गता क्रेतुं गृहोपकरणानि सा।
ददर्श तं सुन्दरकं कालरात्रिः किलापणे ॥१५०॥
उपेत्य च जगादैनं पुनरेव स्मरातुरा।
भज सुन्दरकाद्यापि मां त्वदायत्तजीविताम् ॥१५१॥
एवमुक्तस्तया सोऽथ साधुः सुन्दरकोऽब्रवीत्।
मैवं वादीर्न धर्मोऽयं माता मे गुरुपत्न्यसि ॥१५२॥
ततोऽब्रवीत्कालरात्रिर्धर्मं चेद्वेत्सि देहि तत्।
प्राणान्मे प्राणदानाद्धि धर्मः कोऽभ्यधिको भवेत् ॥१५३॥
अथ सुन्दरकोऽवादीन्मातर्मैवं कृथा हृदि।
गुरुतल्पाभिगमनं कुत्र धर्मो भविष्यति ॥१५४॥
एवं निराकृता तेन तर्जयन्ती च तं रुषा।
पाटयित्वा स्वहस्तेन स्वोत्तरीयमगाद् गृहम् ॥१५५॥
पश्य सुन्दरकेणेदं धावित्वा पाटितं मम।
इत्युवाच पतिं तत्र दर्शयित्वोत्तरीयकम् ॥१५६॥

---

१. शाकवाटकः=शाकस्थितिस्थानम्।

तत्रावतार्य हर्म्ये सा मन्त्रतः शाकवाटके[1]।
गत्वा श्मशाने चिक्रीड डाकिनीचक्रमध्यगा ॥१४२॥
तत्क्षणं च क्षुधाक्रान्तः शाकवाटेऽवतीर्य सः।
तत्र सुन्दरकश्चक्रे वृत्तिमुत्खातमूलकैः ॥१४३॥
कृतक्षुत्प्रतिघातेऽस्मिन्प्राग्वद् गोवाटमाश्रिते।
प्रत्याययौ कालरात्री रात्रिमध्ये निकेतनात् ॥१४४॥
ततोऽधिरूढगोवाटा पूर्ववन्मन्त्रसिद्धितः।
आकाशेन सशिष्या सा निशि स्वगृहमाययौ ॥१४५॥
स्थापयित्वा यथास्थानं तच्च गोवाटवाहनम्।
विसृज्यानुचरीस्ताश्च शय्यावेश्म विवेश सा ॥१४६॥
सोऽपि सुन्दरको नीत्वा तां निशां विघ्नविस्मितः।
प्रभाते त्यक्तगोवाटो निकटं सुहृदां ययौ ॥१४७॥
तत्राख्यातस्ववृत्तान्तो विदेशगमनोन्मुखः।
तैः समाश्वासितो मित्रैस्तन्मध्ये स्थितिमग्रहीत् ॥१४८॥
उपाध्यायगृहं त्यक्त्वा भुञ्जानो सत्रसद्मनि।
उवास तत्र विहरन् स्वच्छन्दः सखिभिः सह ॥१४९॥
एकदा निर्गता क्रेतुं गृहोपकरणानि सा।
ददर्श तं सुन्दरकं कालरात्रिः किलापणे ॥१५०॥
उपेत्य च जगादैनं पुनरेव स्मरातुरा।
भज सुन्दरकाद्यापि मां त्वादायत्तजीविताम् ॥१५१॥
एवमुक्तस्तया सोऽथ साधुः सुन्दरकोऽब्रवीत्।
मैवं वादीर्न धर्मोऽयं माता मे गुरुपत्न्यसि ॥१५२॥
ततोऽब्रवीत्कालरात्रिर्धर्मं चेद्वेत्सि देहि तत्।
प्राणान्मे प्राणदानाद्धि धर्मः कोऽभ्यधिको भवेत् ॥१५३॥
अथ सुन्दरकोऽवादीन्मातर्मैवं कृथा हृदि।
गुरुतल्पाभिगमनं कुत्र धर्मो भविष्यति ॥१५४॥
एवं निराकृता तेन तर्जयन्ती च तं रुषा।
पाटयित्वा स्वहस्तेन स्वोत्तरीयमगाद् गृहम् ॥१५५॥
पश्य सुन्दरकेणेदं धावित्वा पाटितं मम।
इत्युवाच पतिं तत्र दर्शयित्वोत्तरीयकम् ॥१५६॥

---
१. शाकवाटकः=शाकस्थितिस्थानम्।

वहाँ (उज्जैन में) मन्त्र से उसने उस मकान को एक साग के बाड़े में उतारा और वहाँ से श्मशान में जाकर डाइनों के साथ क्रीडा करने लगी ।।१४२।।

उसी समय भूख लगने पर सागबाड़े में उतर कर सुन्दरक ने वहाँ से उखाड़ी हुई मूलियों से भूख शान्त की ।।१४३।।

भूख मिटाकर सुन्दरक फिर पहले के समान गोवाट में आकर बैठ गया । कालरात्रि भी रात को आई और पहले के समान शिष्याओं के साथ मन्त्र-सिद्धि के बल से गोवाट को उड़ाकर अपने घर आ गई ।।१४४-१४५।।

गोवाट को पुनः अपने स्थान पर रखकर शिष्याओं को भेजकर वह अपने शयनागार में चली गई ।।१४६।।

विघ्नों से चकित सुन्दरक ने वह रात किसी प्रकार बिताई । प्रातःकाल गोवाट को छोड़कर वह अपने मित्रों के समीप गया । उनसे अपना वृत्तान्त सुनाकर वह विदेश जाने के लिए तैयार हुआ, किन्तु मित्रों के समझाने-बुझाने से उसने वहीं रहना स्वीकार किया ।।१४७-१४८।।

गुरु-गृह को छोड़कर वह सत्र (अन्नसत्र) में भोजन करने लगा और मित्रों के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक विहार करने लगा ।।१४९।।

एक बार वह कालरात्रि घर का सामान खरीदने के लिए निकली और उसने बाजार में सुन्दरक को देखा और निकट जाकर कहा—'हे सुन्दरक ! काम से पीडित मुझे अब भी स्वीकार कर लो, मेरा जीवन सदा के लिए तुम्हारे अधीन है' ।।१५०-१५१।।

उसके ऐसा कहने पर वह सज्जन सुन्दरक बोला—'माता, ऐसा न कहो । गुरुपत्नी का गमन करना धर्म नहीं है । तुम मेरी माता और गुरुपत्नी हो' ।।१५२।।

कालरात्रि फिर बोली—यदि तुम धर्म पर ध्यान देते हो, तो मेरे प्राणों की रक्षा करना भी महान् धर्म है' ।।१५३।।

तब सुन्दरक बोला—'माता, हृदय में ऐसी बात न लाओ । गुरुपत्नी का गमन करना कहाँ का धर्म है ?' ।।१५४।।

इस प्रकार, उससे तिरस्कृत कालरात्रि उसे फटकारती हुई अपने हाथ से अपनी चादर फाड़कर घर चली गई और पति से बोली—'देखो, सुन्दरक ने मेरी यह दशा की है' '।।१५५-१५६।।

स च तस्याः पतिः क्रोधाद् गत्वावध्यमुदीर्य च ।
सत्रे सुन्दरकस्याशु वारयामास भोजनम् ॥१५७॥
ततः सुन्दरकः खेदात्तं देशं त्यक्तुमुद्यतः ।
जानन्नुत्पतने व्योमि मन्त्रं गोवाटशिक्षितम् ॥१५८॥
ततोऽवरोहेऽप्यपरं शिक्षितुं श्रुतविस्मितम् ।
तदैव शून्यगोवाटहर्म्यं निशि पुनर्ययौ ॥१५९॥
तत्र तस्मिन् स्थिते प्राग्वत्कालरात्रिरुपेत्य सा ।
तथैवोत्पत्य हर्म्यस्था व्योम्नैवोज्जयिनीं ययौ ॥१६०॥
तत्रावतार्य मन्त्रेण गोवाटं शाकवाटके ।
जगाम रात्रिचर्यायै पुनः सा पितृकाननम् ॥१६१॥
तं च सुन्दरको मन्त्रं भूयः श्रुत्वापि नाग्रहीत् ।
विना हि गुर्वादेशेन सम्पूर्णाः सिद्धयः कुतः ॥१६२॥
ततोऽत्र भुक्त्वा कतिचिन्मूलकान्यपराणि च ।
नेतुं प्रक्षिप्य गोवाटे तत्र तस्थौ स पूर्ववत् ॥१६३॥
अथैत्यारूढगोवाटा सा गत्वा नभसा निशि ।
विवेश कालरात्रिः स्वं सद्म स्थापितवाहना ॥१६४॥
सोऽपि सुन्दरकः प्रातर्गोवाटान्निर्गतस्ततः ।
ययौ भोजनमूल्यार्थी विपणीमात्तमूलकः ॥१६५॥
विक्रीणानस्य तस्यात्र मूलकं राजसेवकाः ।
मालवीया विना मूल्यं जह्रुर्दृष्ट्वा स्वदेशजम् ॥१६६॥
ततः स कलहं कुर्वन्बद्ध्वा सुहृदनुद्रुतः ।
पाषाणघातदायीति राजाग्रं तैरनीयत ॥१६७॥
मालवात्कथमानीय कान्यकुब्जेऽत्र मूलकम् ।
विक्रीणीषे सदेत्येष पृष्ठोऽस्माभिर्न जल्पसि ॥१६८॥
हन्ति प्रत्युत पाषाणैरित्युक्तस्तैः शठैर्नृपः ।
तं तदद्भुतमप्राक्षीत्ततस्तत्सुहृदोऽब्रुवन् ॥१६९॥
अस्माभिः सह यद्येष प्रासादमधिरोप्यते ।
तदैतत्कौतुकं देव कृत्स्नं जल्पति नान्यथा ॥१७०॥
तथेत्यारोपितो राज्ञा सप्रासादोऽस्य पश्यतः ।
उत्पपात स मन्त्रेण सद्यः सुन्दरको नभः ॥१७१॥

यह सुनकर उसके पति ने क्रोध से जाकर उसके वध की घोषणा की और सत्र में उसका भोजन बन्द करा दिया ।।१५७।।

गोबाट में सीखे हुए उड़ने के मन्त्र को जानता हुआ सुन्दरक, उस नगर को छोड़कर जाने को उद्यत हुआ; किन्तु उतरने का मन्त्र नहीं जानता था, जो सुनने पर भी भूल गया था । उसे पुनः सीखने के लिए वह फिर उसी सूने गौ-बाड़े में गया ।।१५८-१५९।।

जब वह उस बाड़े में छिपकर बैठा था, तब पहले के समान कालरात्रि वहाँ आई और मकान-सहित उड़कर उज्जैन गई ।।१६०।।

वहाँ पर मन्त्र से साग के बाड़े में गोवाट को उतारकर रात का नृत्य करने के लिए फिर श्मशान में गई ।।१६१।।

सुन्दरक ने, आकाश से उतरने का मन्त्र सुनकर भी याद नहीं किया, गुरु के उपदेश के विना मन्त्र-सिद्धि कैसे पूरी हो सकती है ।।१६२।।

वहाँ पर उसने पहले के समान मूलियाँ खाईं और कुछ ले जाने के लिए वहीं रख लीं और पहले के समान छिप गया ।।१६३।।

तदनन्तर कालरात्रि, उस गोवाट-रूपी वाहन पर चढ़कर अपने नगर में आई और वाहन को वैसे ही रखकर अपने घर चली गई ।।१६४।।

वह सुन्दरक भी सबेरे गोवाट से निकलकर मूलियों को बेचकर भोजन का दाम प्राप्त करने के लिए बाजार में गया ।।१६५।।

जब वह मूली बेच ही रहा था, तब मालवा की मूलियाँ बताकर मालवा के सिपाहियों ने अपने देश की बताकर उससे मूलियाँ छीन लीं ।।१६६।।

उनसे झगड़ते हुए सुन्दरक को उसके मित्रों के साथ सिपाही उसे राजा के समीप ले गये ।।१६७।।

उन दुष्ट सिपाहियों ने राजा से कहा—'हमलोग उससे पूछते हैं कि तुम मालवा से मूली लाकर कन्नौज में कैसे बेचते हो ? हमारे पूछने पर यह उत्तर नहीं देता, उल्टे ढेलों और पत्थरों से मारता है ।' तब राजा ने भी उससे उस आश्चर्य के सम्बन्ध में पूछा। तब सुन्दरक के मित्र बोले—'महाराज ! यदि इसको हमलोगों के साथ राजमहल पर चढ़ा दिया जाय, तो यह सब आश्चर्य-वृत्तान्त सुना देगा ।।१६८-१७०।।

स्वीकार करके राजा ने उसे महल पर चढ़ा दिया और वह सुन्दरक राजा के देखते-देखते मन्त्र के प्रभाव से राजभवन-समेत आकाश में उड़ गया ।।१७१।।

समित्रस्तेन गत्वा च प्रयागं प्राप्य च क्रमात् ।
श्रान्तः कमपि राजानं स्नान्तं तत्र ददर्श सः ॥१७२॥
संस्तभ्य चात्र प्रासादं गङ्गायां सन्निपत्य च ।
विस्मयोद्वीक्षितः सर्वैस्तं स राजानमभ्यगात् ॥१७३॥
कस्त्वं किं चावतीर्णोऽसि गगनादिति शंस नः ।
राज्ञा प्रह्वेण पृष्टः सन्नेवं सुन्दरकोऽब्रवीत् ॥१७४॥
अहं मुरजको नाम गणो देवस्य धूर्जटेः ।
प्राप्तो मानुषभोगार्थी त्वत्सकाशं तदाज्ञया ॥१७५॥
तच्छ्रुत्वा सत्यमाशङ्क्य सस्याढ्यं रत्नपूरितम् ।
सस्त्रीकं सोपकरणं ददौ तस्मै पुरं नृपः ॥१७६॥
प्रविश्याथ पुरे तस्मिन्नुत्पत्य दिवि सानुगः ।
चिरं सुन्दरकः स्वेच्छं निर्दैन्यं विचचार सः ॥१७७॥
शयानो हेमपर्यङ्के वीज्यमानश्च चामरैः ।
सेव्यमानो वरस्त्रीभिरैन्द्रं सुखमवाप सः ॥१७८॥
अथैकदा ददौ तस्मै मन्त्रं व्योमावरोहणे ।
सिद्धः कोऽपि किलाकाशचारी सञ्जातसंस्तवः ॥१७९॥
प्राप्तावतारमन्त्रः स गत्वा सुन्दरकस्ततः ।
कान्यकुब्जे निजे देशे व्योममार्गादवातरत् ॥१८०॥
सपुरं पूर्णलक्ष्मीकमवतीर्णं नभस्तलात् ।
बुद्ध्वा तत्र स्वयं राजा कौतुकात्तमुपाययौ ॥१८१॥
परिज्ञातश्च पृष्टश्च राजाग्रे सोऽथ कालवित् ।
कालरात्रिकृतं सर्वं स्ववृत्तान्तं न्यवेदयत् ॥१८२॥
ततश्चानाय्य पप्रच्छ कालरात्रिं महीपतिः ।
निर्भया साप्यविनयं स्वं सर्वं प्रत्यपद्यत ॥१८३॥
कुपिते च नृपे तस्याः कर्णौ च च्छेत्तुमुद्यते ।
सा गृहीतापि पश्यत्सु सर्वेष्वेव तिरोदधे ॥१८४॥
ततः स्वराष्ट्रे वासोऽस्यास्तत्र राज्ञा न्यषिध्यत ।
तत्पूजितः सुन्दरकः शिश्रिये च नभः पुनः ॥१८५॥
इत्युक्त्वा तत्र भर्त्तारमादित्यप्रभभूपतिम् ।
अभाषत पुनश्चैनं राज्ञी कुवलयावली ॥१८६॥
भवन्त्येवंविधा देव डाकिनीमन्त्रसिद्धयः ।
एतच्च मत्पितुर्देशे वृत्तं सर्वत्र विश्रुतम् ॥१८७॥

मित्रों के साथ उड़कर वह प्रयाग पहुँचा और थक गया। प्रयाग में उसने स्नान करते हुए किसी राजा को देखा ॥१७२॥

वहाँ पर राजभवन को रोककर लोगों द्वारा आश्चर्य से देखा जाता हुआ सुन्दरक आकाश से गंगा में कूद पड़ा और राजा की ओर गया ॥१७३॥

राजा ने नम्रता से पूछा—'तुम कौन हो ? और आकाश से क्यों उतरे हो ?' तब सुन्दरक बोला—'मैं शिवजी का मुरजक नाम का गण हूँ। मनुष्यों के भोग भोगने के लिए उनकी आज्ञा से तुम्हारे पास आया हूँ।' यह सुनकर और उसे सच मानकर राजा ने उसे अन्न, धन, स्त्री, रत्न आदि से भरा हुआ एक नगर मनुष्य-भोग के लिए दे दिया ॥१७४-१७६॥

उस नगर में जाकर अपने मित्रों के साथ आकाश में उड़कर सुन्दरक चिरकाल के लिए स्वच्छतापूर्वक विचरण करने लगा ॥१७७॥

सोने के पलंगों पर सोता हुआ, चँवरों से डुलाया जाता हुआ एवं सुन्दरी स्त्रियों से सेवित वह इन्द्र के समान सुख भोगने लगा ॥१७८॥

एक बार, किसी आकाशचारी सिद्ध ने, उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे आकाश से उतरने का मन्त्र भी दे दिया। उतरने का मन्त्र प्राप्त कर वह सुन्दरक उड़कर अपने देश कान्यकुब्ज (कन्नौज) में उतरा। उसे नगर के साथ पूर्ण लक्ष्मी से युक्त एवं आकाश से उतरे हुए जानकर कान्यकुब्ज का राजा स्वयं उसके समीप आया। आजा ने उसे पहचान-कर पूछा, तो उसने अवसर समझकर कालरात्रि का सारा कृत्य उसे सुना दिया। तब राजा ने कालरात्रि को बुलवाकर पूछा। उसने भी निर्भय होकर अपनी दुष्टता बता दी और स्वीकार किया ॥१७९—१८३॥

राजा क्रुद्ध होकर उसके कान काटने के लिए जैसे ही उद्यत हुआ, वैसे ही सबके देखते-देखते पकड़ी हुई कालरात्रि गुम हो गई ॥१८४॥

तब राजा ने अपने राज्य से उसके निर्वासन की आज्ञा दे दी और राजा से सम्मानित सुन्दरक फिर आकाश में उड़ गया। रानी कुवलयावली राजा आदित्यप्रभ को इस प्रकार कथा सुनाकर बोली—महाराज! डाकिनी-मन्त्रों की सिद्धियाँ इसी प्रकार की होती हैं। मेरे पिता के देश में यह बात सर्वप्रसिद्ध है ॥१८५—१८७॥

कालरात्रेश्च शिष्याहमित्यादौ वर्णितं मया ।
पतिव्रतात्वात्सिद्धिस्तु ततोऽप्यभ्यधिका मम ॥१८८॥
भवता चाद्य दृष्टाहं श्रेयोऽर्थं ते कृतार्चना ।
उपहाराय पुरुषं मन्त्रेणाक्रष्टुमुद्यता ॥१८९॥
तदस्मदीयेऽत्र नये त्वमपि प्रविशाधुना ।
सिद्धियोगजितानां च राज्ञां मूर्ध्नि पदं कुरु ॥१९०॥
तच्छ्रुत्वा क्व महामांसभोजनं डाकिनीनये ।
क्व च राजत्वमित्युक्त्वा स राजा निषिषेध तत् ॥१९१॥
प्राणत्यागोद्यतायां तु राज्ञ्यां तत्प्रत्यपद्यत ।
विषयाकृष्यमाणा हि तिष्ठन्ति सुपथे कथम् ॥१९२॥
ततः सा तं प्रवेश्यैव मण्डले पूर्वपूजिते ।
गृहीतसमयं सन्तं राजानमिदमब्रवीत् ॥१९३॥
य एष फलभूत्याख्यः स्थितो विप्रस्तवान्तिके ।
स मयात्रोपहारार्थमाक्रष्टुमपकल्पितः ॥१९४॥
आकर्षणं च सायासं तत्कश्चित्सूपकृद् वरम् ।
नयेऽत्र स्थाप्यतां यस्तं स्वयं हन्ति पचत्यपि ॥१९५॥
न कार्या च घृणा यस्मात्तन्मांसबलिभक्षणात् ।
समापितेऽर्चने पूर्णा सिद्धिः स्यादुत्तमो हि सः ॥१९६॥
इत्युक्तः प्रियया राजा पापभीतोऽपि तत्पुनः ।
अङ्गीचकार धिगहो कष्टां स्त्रीष्वनुरोधिताम् ॥१९७॥
आनाय्य सूपकारं च ततः साहसिकाभिधम् ।
विश्वास्य दीक्षितं कृत्वा दम्पती तौ सहोचतुः ॥१९८॥
'राजा देवीद्वितीयोऽद्य भोक्ष्यते तत्त्वरां कुरु' ।
आहारस्येति योऽभ्येत्य त्वां ब्रूयात्तं निपातयेः ॥१९९॥
तन्मांसैश्च रहः कुर्याः प्रातर्नौ स्वादु भोजनम् ।
इति सूपकृतादिष्टस्तथेत्युक्त्वा गृहं ययौ ॥२००॥
प्रातश्च फलभूतिं तं प्राप्तं राजा जगाद सः ।
गच्छ साहसिकं ब्रूहि सूपकारं महानसे ॥२०१॥
'राजा देवीद्वितीयोऽद्य भोक्ष्यते स्वादुभोजनम्' ।
अतस्त्वरितमाहारमुत्तमं साधयेरिति ॥२०२॥

मैं भी उसी कालरात्रि की शिष्या हूँ, यह मैंने पहले ही कहा था, किन्तु पतिव्रता होने के कारण मेरी सिद्धि उससे भी बढ़ी-चढ़ी है ।।१८८।।

तुम्हारे कल्याण के लिए ही पूजन करते हुए मुझे तुमने आज देख लिया है । मैं बलि देने के लिए उपयुक्त मनुष्य को आकृष्ट करने के लिए तैयार थी ।।१८९।।

इसलिए तुम्हीं हमारे सम्प्रदाय में अब प्रवेश करो—आ जाओ । सिद्धियों के प्रभाव से जीते हुए राजाओं के सिर पर पैर रखो ।।१९०।।

डाइनों के मत में आकर कहाँ महामांस का भोजन और कहाँ मैं राजा ! यह सम्भव नहीं है--ऐसा कहकर राजा ने निषेध कर किया ।।१९१।।

तब रानी प्राण-त्याग करने के लिए तैयार हो गई, तब राजा ने विवश होकर डाकिनी के मत में आने की स्वीकृति दे दी । विषयी लोग सुपथ में कैसे रह सकते हैं ?।।१९२।।

तब प्रसन्न रानी ने पहले ही पूजा किये हुए मण्डल में राजा को बुला लिया और बोली—'यह जो तुम्हारे पास फलभूति नाम का ब्राह्मण है, उसे ही मैंने बलिदान के लिए आकृष्ट करने का निश्चय किया था । किन्तु, आकृष्ट करने में अत्यन्त परिश्रम होता है, इसलिए अच्छा हो कि तुम रसोइयों में से किसी एक को अपने मत में मिलाओ, जो स्वयं मारे भी और पकावे भी ।।१९३–१९५।।

तुम्हें उस मांस-भक्षण से घृणा नहीं करनी चाहिए, पूजा समाप्त होने पर सिद्धि अवश्य होगी; क्योंकि सफलता ही सर्वोत्तम है ।।१९६।।

प्यारी पत्नी से इस प्रकार बाधित राजा ने पाप से डरते हुए भी उसकी बात मान ली । सच है स्त्रियों के प्रति अनुरोध होना दुःखद होता है ।।१९७।।

तब राजा, ने साहसिक नामक रसोइये को बुलाकर और विश्वास दिलाकर तथा अपने मत में दीक्षित करके (चेला बनाकर) राजा और रानी दोनों ने उससे साथ ही कहा– ।।१९८।।

'आज राजा, रानी के साथ भोजन करेंगे, इसलिए जल्दी भोजन तैयार करो'—इस प्रकार का सन्देश, जो भी व्यक्ति तुम्हारे पास आकर कहे, उसे मार डालना और उसके मांस से प्रातःकाल, एकान्त में, हम दोनों के लिए तुम स्वादिष्ठ भोजन बनाना । इस प्रकार, आज्ञा पाकर रसोइया 'ठीक है'— ऐसा कहकर अपने घर चला गया ।।१९९-२००।।

तदनन्तर, समीप आये हुए राजा ने फलभूति से कहा कि 'जाओ ! साहसिक नामक रसोइये से रसोईघर में जाकर कह दो कि 'आज राजा, रानी के साथ स्वादिष्ठ भोजन करेंगे, इसलिए शीघ्र ही अच्छा स्वादिष्ठ भोजन बनाओ' ।।२०१-२०२।।

तथेति निर्गतं तं च फलभूतिं बहिस्तदा ।
एत्य चन्द्रप्रभो नाम राज्ञः पुत्रोऽब्रवीदिदम् ॥२०३॥
अनेन शीघ्रं हेम्ना मे कारयाद्यैव कुण्डले ।
यादृशे भवता पूर्वमार्य तातस्य कारिते ॥२०४॥
इत्युक्तो राजपुत्रेण फलभूतिस्तदैव सः ।
कृतानुरोधः प्रहितो ययौ कुण्डलयोः कृते ॥२०५॥
राजपुत्रोऽप्यगात्स्वैरं कथितं फलभूतिना ।
राजादेशं गृहीत्वा तमेकाक्येव महानसम् ॥२०६॥
तत्रोक्तराजादेशं तं स्थितसंवित् स सूपकृत् ।
राजपुत्रं छुरिकया सद्यः साहसिकोऽवधीत् ॥२०७॥
तन्मांसैः साधितं तेन भोजनं च कृतार्चनौ ।
अभुञ्जातामजानन्तौ तत्त्वं राज्ञी नृपस्तदा ॥२०८॥
नीत्वा च सानुतापस्तां रात्रिं राजा ददर्श सः ।
प्रातः कुण्डलहस्तं तं फलभूतिमुपागतम् ॥२०९॥
विभ्रान्तः कुण्डलोद्देशात्तं च पप्रच्छ तत्क्षणम् ।
तेनाख्यातस्ववृत्तान्तः पपात च भुवस्तले ॥२१०॥
'हा पुत्रेति' च चक्रन्द निन्दन् भार्यां सहात्मना ।
पृष्टश्च सचिवैः सर्वं यथातत्त्वमवर्णयत् ॥२११॥
उवाच चैतदुक्तं तत्प्रत्यहं फलभूतिना ।
भद्रकृत् प्राप्नुयाद् भद्रमभद्रं चाप्यभद्रकृत् ॥२१२॥
कन्दुको भित्तिनिःक्षिप्त इव प्रतिफलन्मुहुः ।
आपतत्यात्मनि प्रायो दोषोऽन्यस्य चिकीर्षितः ॥२१३॥
पापाचारैर्यदस्माभिर्ब्रह्महत्यां चिकीर्षुभिः ।
स्वपुत्रघातनं कृत्वा प्राप्तं तन्मांसभक्षणम् ॥२१४॥
इत्युक्त्वा बोधयित्वा च मन्त्रिणः स्वानधोमुखान् ।
तमेव फलभूतिं च निजे राज्येऽभिषिच्य सः ॥२१५॥
राजा प्रदत्तदानः सन्नपुत्रः पापशुद्धये ।
सभार्यः प्रविवेशाग्निं दग्धोऽप्यनुशयाग्निना ॥२१६॥
फलभूतिश्च तद्राज्यं प्राप्य पृथ्वीं शशास सः ।
एवं भद्रमभद्रं वा कृतमात्मनि कल्प्यते ॥२१७॥

'ऐसा ही होगा' कहकर फलभूति जैसे ही बाहर निकला, वैसे ही चन्द्रप्रभ नाम का राजपुत्र (राजकुमार) आकर उससे बोला कि यह सोना लो और इस सोने से मेरे लिए वैसे ही कानों के कुण्डल शीघ्र बनवाकर लाओ; जैसे तुमने पिताजी के लिए बनवाये थे ।।२०३-२०४।।

राजकुमार की आज्ञा से फलभूति सोना लेकर तुरन्त कुण्डल बनवाने के लिए चला गया। उधर फलभूति का सन्देश लेकर अकेला ही राजकुमार रसोईघर में साहसिक रसोइये के समीप गया।।२०५-२०६।।

रसोईघर में राजा की आज्ञा से रसोइया पहले से ही तैयार बैठा था। उसने छुरी से राजकुमार का वध कर डाला ।।२०७।।

उसके मांस से पकाये हुए भोजन को राजा और रानी ने पूजन करने के अनन्तर खाया; क्योंकि वे सच्ची बात नहीं जानते थे कि फलभूति के स्थान पर अपने ही पुत्र का मांस खा रहे हैं ।।२०८।।

पश्चात्ताप से पीड़ित राजा ने किसी प्रकार रात बिताकर प्रातःकाल हाथ में कुण्डल लेकर आये हुए फलभूति को देखा ।।२०९।।

घबराये हुए राजा ने कुण्डल के बहाने उससे समाचार पूछा। उसके द्वारा सारा समाचार सुनाने पर राजा अचेत होकर भूमि पर गिर पड़ा, फिर होश में आकर अपने साथ रानी को कोसता हुआ 'हाय बेटा !' इस प्रकार चिल्लाने लगा। मन्त्रियों के पूछने पर उसने सारा सच्चा समाचार सुना दिया ।।२१०-२११।।

फलभूति का वह वचन भी बोला, जिसे वह प्रतिदिन कहा करता था कि 'भला करनेवाले का भला होता है और बुरा करनेवाले का बुरा ही होता है' ।।२१२।।

जैसे सामने दीवार पर फेंका हुआ गेंद लौटकर फेंकनेवाले पर आ गिरता है, उसी प्रकार दूसरे का बुरा चाहनेवाले का अपना बुरा होता है ।।२१३।।

हम पापियों ने ब्रह्महत्या करनी चाही थी, उसी के फलस्वरूप अपने ही पुत्र का मांस खाना पड़ा ।।२१४।।

ऐसा कहकर और शोक एवं आश्चर्य से नीचे मुँह लटकाये हुए मन्त्रियों को समझा-कर और अपने राज्य पर उसी फलभूति को बैठाकर तथा दान देकर अपुत्र राजा अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए रानी के साथ आग में जल मरा, यद्यपि पश्चात्ताप की आग से वह पहले ही जल चुका था ।।२१५-२१६।।

इधर फलभूति राज्य पाकर देश का शासन करने लगा। ठीक है, अच्छा या बुरा जो कुछ भी किया जाता है, वह अपने ऊपर ही घटित होता है ।।२१७।।

इति वत्सेश्वरस्याग्रे कथयित्वा कथामिमाम् ।
यौगन्धरायणो भूयो भूपतिं तमभाषत ।।२१८।।

तस्मात्तव स राजेन्द्र जित्वाप्याचरतः शुभम् ।
ब्रह्मदत्तो विकुर्वीत यदि हन्यास्त्वमेव तम् ।।२१९।।

इत्युक्तो मन्त्रिमुख्येण तद्वाक्यमभिनन्द्य सः ।
उत्थाय दिनकर्त्तव्यं वत्सेशो निरवर्त्तयत् ।।२२०।।

अन्येद्युश्च स सम्पन्नसर्वदिग्विजयः कृती ।
लावाणकादुदचलत्कौशाम्बीं स्वपुरीं प्रति ।।२२१।।

क्रमेण नगरीं प्राप क्षितीशः सपरिच्छदः ।
उत्पताकाभुजलतां नृत्यन्तीमुत्सवादिव ।।२२२।।

विवेश चैनां पौरस्त्रीनयनोत्पलकानने ।
वितन्वानः प्रतिपदं प्रवातारम्भविभ्रमम् ।।२२३।।

चारणोद्गीयमानश्च स्तूयमानश्च बन्दिभिः ।
नृपैः प्रणम्यमानश्च राजा मन्दिरमाययौ ।।२२४।।

ततौ विनम्रेष्वधिरोप्य शासनं
स वत्सराजोऽखिलदेशराजसु ।
पूर्वं निधानाधिगतं कुलोचितं
प्रसह्य सिंहासनमारुरोह तत् ।।२२५।।

तत्कालमङ्गल - समाहत - तारधीर-
तूर्यारवप्रतिरवैश्च नभः पुपूरे ।
तन्मन्त्रिमुख्य-परितोषित - लोकपाल-
दत्तैरिव प्रतिदिशं समसाधुवादैः ।।२२६।।

विविधमथ वितीर्य वीतलोभो वसुधाविजयार्जितं द्विजेभ्यः ।
अकृत कृतमहोत्सवः कृतार्थ क्षितिपतिमण्डलमात्ममन्त्रिणश्च ।।२२७।।

क्षेत्रेषु वर्षति तदानुगुणं नरेन्द्रे
तस्मिन्ध्वनद्घनमृदङ्गनिनादितायाम् ।
सम्भाव्य भाविबहुधान्यफलं जनोऽपि ।
तस्यां पुरि प्रतिगृहं विहितोत्सवोऽभूत् ।।२२८।।

यौगन्धरायण, वत्सराज के सम्मुख यह कथा कहकर राजा से फिर बोला—'हे राजेन्द्र ! जीतकर भी उसकी कल्याण-कामना करते हुए तुम्हारा यदि ब्रह्मदत्त (काशिराज) अपकार करता है, तो तुम उसे दण्ड दे सकते हो' ॥२१८-२१९॥

मुख्य मन्त्री से इस प्रकार कहे गये राजा ने उसकी सम्मति का अभिनन्दन किया और उठकर प्रातःकालीन कृत्यों से निवृत होने में लग गया ॥२२०॥

और दूसरे दिन वह नीतिकुशल राजा उदयन समस्त दिशाओं को जीतकर लावाणक से अपनी नगरी कौशाम्बी को चला ॥२२१॥

वत्सराज सभी साधनों के साथ क्रमशः चलकर अपनी नगरी पहुँचा। जो (नगरी) पताका-रूपी भुजलता को उपर उठाकर आनन्द से नाचती-सी मालूम हो रही थी ॥२२२॥

नागरिकों की कमल-कानन जैसी आँखों को पग-पग पर हवा के झोकों के समान झकोरता हुआ (वत्सराज) ने नगरी में प्रवेश किया ॥२२३॥

चरणों से प्रशंसित, वन्दियों से अभिवन्दित और राजाओं से प्रणाम किया जाता हुआ राजा अपने भवन में गया ॥२२४॥

तब सभी देशों के विनम्र राजाओं को अपने शासन में लाकर परम्परा के अनुसार पूर्वार्जित सिंहासन पर साधिकार बैठा ॥२२५॥

उस समय मांगलिक वाद्यों के धीर-गम्भीर घोष से आकाश इस प्रकार गूँज उठा, मानों राजा के मुख्य मन्त्रियों द्वारा परितोषित लोकपालों ने प्रत्येक दिशा से एक साथ साधुवाद दिये हों ॥२२६॥

इसके बाद लोभरहित राजा ने दिग्विजय के क्रम में अर्जित विपुल धन ब्राह्मणों को दिया और महोत्सव मनाकर सभी नरेशों तथा अपने मन्त्रियों को कृतार्थ किया ॥२२७॥

इस प्रकार, वह राजा जब अपने गुणों के अनुसार पात्रों में दान कर रहे थे, तब बजते हुए मृदंग की मेघ-मन्द्र ध्वनि से प्रतिध्वनित उस नगरी की प्रजा भी अनेक प्रकार के धन-धान्य की सम्भावना करती हुई अपने घरों में उत्सव मनाने लगी ॥२२८॥

एवं विजित्य जगतीं स कृती रुमण्वद्-
यौगन्धरायणनिवेशितराज्यभारः
तस्थौ यथेच्छमथ वासवदत्तयात्र
पद्मावती. सहितया सह वत्सराजः ॥२२९॥
कीर्त्तिश्रियोरिव तयोरुभयोश्च देव्यो-
र्मध्यस्थितः स वरचारणगीयमानः ।
चन्द्रोदयं निजयशोधवलं सिषेवे
शत्रुप्रतापमिव सीधु पपौ च शश्वत् ॥२३०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे लावाणकलम्बके षष्ठस्तरङ्गः ।
समाप्तश्चायं लावाणकलम्बकस्तृतीयः ।

इस प्रकार, वह नीतिनिपुण राजा वत्सराज समस्त संसार को जीतकर रुमण्वान् और यौगन्धरायण को राज्य का भार सौंपकर पद्मावती और वासवदत्ता के साथ स्वच्छन्द विहार करने लगा ।।२२९।।

कीर्त्ति और श्री के समान उन दोनों देवियों के बीच में बैठा वह वत्सराज श्रेष्ठ चारणों से प्रशंसित अपने यश के समान उज्ज्वल चन्द्रोदय का आनन्द लेता हुआ, शत्रु के प्रताप के समान मद्य का निरन्तर पान करने लगा ।।२३०।।

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के लावाणक नामक लम्बक का षष्ठ तरंग समाप्त ।

लावाणक नामक तृतीय लम्बक भी समाप्त ।

नरवाहनदत्तजननं नाम चतुर्थो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ॥

प्रथमस्तरङ्गः

उदयनराज्ञः कथा (पूर्वानुवृत्ता)

कर्णतालबलाघातसीमन्तितकुलाचलः ।
पन्थानमिव सिद्धीनां दिशं जयति विघ्नजित् ॥१॥
ततो वत्सेश्वरो राजा स कौशाम्ब्यामवस्थितः ।
एकातपत्रां बुभुजे जितामुदयनो महीम् ॥२॥
विधाय सरुमण्वत्के भारं यौगन्धरायणे ।
विहारैकरसश्चाभूद् वसन्तकसखः सुखी ॥३॥
स्वयं स वादयन् वीणां देव्या वासवदत्तया ।
पद्मावत्या च सहितः सङ्गीतकमसेवत ॥४॥
देवीकाकलिगीतस्य तद्वीणानिनदस्य च ।
अभेदे वादनाङ्गुष्ठकम्पोऽभूद् भेदसूचकः ॥५॥
हर्म्याग्रे निजकीर्त्येव ज्योत्स्नया धवले च सः ।
धाराविगलितं सीधु पपौ मदमिव द्विषाम् ॥६॥
आजह्रुः स्वर्णकलशैस्तस्य वाराङ्गना रहः ।
स्मरराज्याभिषेकाम्भ इव रागोज्ज्वलं मधु ॥७॥
आरक्तसुरसस्वच्छमन्तःस्फुरिततन्मुखम् ।
उपनिन्ये द्वयोर्मध्ये स स्वचित्तमिवासवम् ॥८॥
ईर्ष्यारुषामभावेऽपि भङ्गुरभ्रुणि रागिणि ।
न मुखे तत्तयो राज्ञ्योस्तद्दृष्टिस्तृप्तिमाययौ ॥९॥

नरवाहनदत्तजनन नामक चतुर्थ लम्बक

(मंगल-श्लोक का अर्थ प्रथम लम्बक के प्रथम तरंग के प्रारम्भ में देखें।)

प्रथम तरंग

राजा उदयन की कथा (क्रमशः)

कर्णताल के प्रबल आघात से कुलपर्वतों को एक ओर करके मानों सफलता का मार्ग प्रदर्शन कर रहे हों, ऐसे विघ्नराज गणेश की जय हो ॥१॥

तदनन्तर, कौशाम्बी में रहता हुआ राजा उदयन, विजित पृथ्वी का एकच्छत्र राज्यभोग कर रहा था ॥२॥

वह राजा, सेनापति रुमण्वान् के साथ मुख्यमन्त्री यौगन्धरायण पर समस्त राज्य-शासन का भार देकर, अपने नर्मसचिव वसन्तक के साथ सुखपूर्वक सांसारिक भोग-विलास का आनन्द लेने लगा ॥३॥

वह स्वयं वीणा बजाता हुआ रानी वासवदत्ता और पद्मावती के साथ संगीत का सेवन करता था ॥४॥

वासवदत्ता के सूक्ष्म और मधुर संगीत-स्वर और उसकी वीणा के स्वर की एकता (समता) होने पर बजाने के लिए चलते हुए अँगूठे से ही दोनों का भेद लक्षित होता था। अर्थात्, गायन और वादन का स्वर एक साथ मिलने पर यह प्रतीत नहीं होता था कि रानी गा रही है या वीणा बज रही है ॥५॥

राजमहल के सामने अपनी कीर्त्ति के समान शुभ्र चाँदनी से धवल बरामदे में बैठकर वह राजा प्यालों में अनवरत धारा से गिरते हुए मद्य का शत्रुओं के मद के समान पान करता था ॥६॥

उस एकान्त स्थान में बैठे हुए राजा के लिए सुन्दरियाँ, मद्य के घड़ों में राग से उज्ज्वल मद्य को ऐसे पहुँचा रही थीं, मानों कामदेव के राज्याभिषेक के लिए स्वर्ण के कलशों में तीर्थों का जल लाया जा रहा हो ॥७॥

वह राजा, दोनों रानियों के बीच में बैठकर अपने रागपूर्ण चित्त के समान रक्त-वर्ण, स्वादु, स्वच्छ और रानियों के मुखों से प्रतिविम्बित मद्य का प्रेमपूर्वक पान करता था ॥८॥

ईर्ष्या और क्रोध के विना भी (मद्य के नशे में) टेढ़ी भौहोंवाले एवं प्रेमपूर्ण रानियों के मुखों को निरन्तर देखते हुए राजा को तृप्ति नहीं होती थी ॥९॥

समधुस्फटिकानेकचषका तस्य पानभूः ।
बभौ बालातपारक्तसितपद्मेव पद्मिनी ॥१०॥

वत्सराजस्य मृगयावर्णनम्

अन्तरा च मिलद्व्याधः पलाशश्यामकञ्चुकः ।
स सबाणासनो भेजे स्वोपमं मृगकाननम् ॥११॥
जघान पङ्ककलुषान्वराहनिवहान्शरैः ।
तिमिरौघानविरलैः करैरिव मरीचिमान् ॥१२॥
वित्रस्तप्रसृतास्तस्मिन्कृष्णसाराः प्रधाविते ।
बभुः पूर्वाभिभूतानां कटाक्षाः ककुभामिव ॥१३॥
रेजे रक्तारुणा चास्य मही महिषघातिनः ॥
सेवागतेव तच्छृङ्गपातमुक्ता वनाब्जिनी ॥१४॥
व्यात्तवक्त्रपतत्प्रासप्रोतेष्वपि मृगारिषु ।
सान्तर्गर्जितनिष्क्रान्तजीवितेषु तुतोष सः ॥१५॥
श्वानः श्वभ्रे वने तस्मिंस्तस्य वर्त्मसु वागुराः ।
सा स्वायुधैकसिद्धेऽभूत्प्रक्रिया मृगयारसे ॥१६॥

वत्सराजं प्रति नारदोपदेशः

एवं सुखोपभोगेषु वर्त्तमानं तमेकदा ।
राजानमास्थानगतं नारदो मुनिरभ्यगात् ॥१७॥
निजदेहप्रभाबद्धमण्डलो मण्डनं दिवः ।
कृतावतारस्तेजस्विजातिप्रीत्यांशुमानिव ॥१८॥
स तेन रचितातिथ्यो मुहुः प्रह्वेण भूभृता ।
प्रीतः क्षणमिव स्थित्वा राजानं तमभाषत ॥१९॥

पाण्डुराज्ञः कथा

शृणु संक्षिप्तमेतत्ते वत्सेश्वर वदाम्यहम् ।
बभूव पाण्डुरिति ते राजा पूर्वपितामहः ॥२०॥
तवेव तस्य द्वे एव भव्ये भार्ये बभूवतुः ।
एका कुन्ती द्वितीया च माद्री नाम महौजसः ॥२१॥
स पाण्डुः पृथिवीमेतां जित्वा जलधिमेखलाम् ।
सुखी कदाचित्प्रययौ मृगयाव्यसनी वनम् ॥२२॥

सुरापूर्ण अनेक स्फटिक के प्यालों से भरी हुई राजा की पानभूमि, प्रभातकालीन सूर्य की लाल किरणों से रक्त और श्वेत कमलों से युक्त कमल-लता के समान सुशोभित हो रही थी ॥१०॥

वत्सराज का मृगया-वर्णन

इसी विलास-क्रीड़ा के बीच कभी-कभी राजा बहेलियों के साथ हरे पत्तों का-सा वेष धारण किये हुए और धनुष लिये हुए मृगवनों का भी सेवन करता था, (अर्थात् शिकार खेलने के लिए भी जाता था) ॥११॥

इस क्रीड़ा में कीचड़ से सने हुए शूकरों के झुण्डों को वह बाणों से वेधकर मार देता था। उसके पीछा करने पर भय से इधर-उधर भागे हुए कृष्णसार मृग ऐसे मालूम होते थे; जैसे मानों पूर्वकाल में विजय की हुई दिशाएँ उसपर कटाक्षपात कर रही हों ॥१२-१३॥

जंगली भैंसों को मारने के कारण उसके रक्त से रंजित वनभूमि ऐसी मालूम होती थी, मानों वन-कमलिनी राजा की सेवा के लिए उपस्थित हुई हो ॥१४॥

मुँह फाड़े हुए, अतएव भालों से बिंधे (पिरोये) हुए मुखोंवाले सिंहों को देखकर राजा प्रसन्न होता था ॥१५॥

अपने शस्त्र पर विश्वास रखनेवाले उस राजा की मृगया-क्रीडा में गड्ढों में छिपे हुए शिकारी कुत्ते और मार्ग में बिछे हुए जाल— यह परिस्थिति थी ॥१६॥

वत्सराज को नारदजी का उपदेश

इस प्रकार के आनन्द के दिनों में एक बार नारद मुनि, सभा (दरबार) में बैठे हुए राजा के समीप आये ॥१७॥

अपनी देह के कान्ति-मण्डल से आवृत वे ऐसे मालूम होते थे; मानों तेजस्वी राजा के प्रेम से तेजस्वी सूर्य, अवतार धारण करके आये हों ॥१८॥

सादर प्रणाम करते हुए राजा से समुचित सत्कार प्राप्त करने पर प्रसन्नचेता मुनि कुछ ठहरकर बोले ॥१९॥

राजा पाण्डु की कथा

हे वत्सराज ! संक्षेप में ही कहता हूँ, सुनो। पहले समय में पाण्डु नाम का राजा था, जो तेरा पहला पितामह (परदादा) था ॥२०॥

तुम्हारे ही समान उस महान् प्रतापी राजा के दो पत्नियाँ थीं— एक कुन्ती और दूसरी माद्री ॥२१॥

अपने अतुल बल से आसमुद्र पृथ्वी का विजय करके एक बार शिकार का व्यसनी होने के कारण वह पाण्डु वन को गया ॥२२॥

तत्र किन्दमनामानं स मुनिं मुक्तसायकः ।
जघान मृगरूपेण सभार्यं सुरतस्थितम् ॥२३॥
स मुनिर्मृगरूपं तत्त्यक्त्वा कण्ठविवर्त्तिभिः ।
प्राणैः शशाप तं पाण्डुं विषण्णं मुक्तकार्मुकम् ॥२४॥
स्वैरस्थो निर्विमर्षेण हतोऽहं यत्त्वया ततः ।
भार्यासम्भोगकाले ते मद्वन्मृत्युर्भविष्यति ॥२५॥
इत्याप्तशापस्तद्भीत्या त्यक्तभोगस्पृहोऽथ सः ।
पत्नीभ्यामन्वितः पाण्डुस्तस्थौ शान्ते तपोवने ॥२६॥
तत्रस्थोऽपि स शापेन प्रेरितस्तेन चकैदा ।
अकस्माच्चकमे माद्रीं प्रियां प्राप च पञ्चताम् ॥२७॥
तदेवं मृगया नाम प्रमादो नृप भूभृताम् ।
क्षपिता ह्यनयान्येऽपि नृपास्ते ते मृगा इव ॥२८॥
घोरनादामिषैकाग्रा रूक्षा धूम्रोर्ध्वमूर्ध्वजा ।
कुन्तदन्ता कथं कुर्याद्राक्षसीव हि सा शिवम् ॥२९॥
तस्माद् विफलमायासं जहीहि मृगयारसम् ।
वन्यवाहनहन्तॄणां समानः प्राणसंशयः ॥३०॥
त्वं च त्वत्पूर्वजप्रीत्या प्रियः कल्याणपात्र मे ।
पुत्रश्च तव कामांशो यथा भावी तथा शृणु ॥३१॥
पुरानङ्गाङ्गसम्भूत्यै रत्या स्तुतिभिरर्चितः ।
तुष्टो रहसि संक्षेपमिदं तस्याः शिवोऽभ्यधात् ॥३२॥
अवतीर्य निजांशेन भूमावाराध्य मां स्वयम् ।
गौरी पुत्रार्थिनी कामं जनयिष्यत्यसाविति ॥३३॥
अतश्चण्डमहासेनसुता देवी नरेन्द्र सा ।
जाता वासवदत्तेयं सम्पन्ना महिषी च ते ॥३४॥
तदेषा शम्भुमाराध्य कामांशं सोष्यते सुतम् ।
सर्वविद्याधराणां यश्चक्रवर्त्ती भविष्यति ॥३५॥
इत्युक्तेनादृतवचा राज्ञा पृथ्वीं तदर्पिताम् ।
प्रत्यर्प्य तस्मै स ययौ नारदर्षिरदर्शनम् ॥३६॥
तस्मिन्गते वत्सराजः स तद्वासवदत्तया ।
जातपुत्रेच्छया साकं निन्ये तच्चिन्तया दिनम् ॥३७॥

वन में किन्दम नाम का एक मुनि, मृग का रूप धारण करके अपनी पत्नी के साथ आनन्द कर रहा था ।।२३।।

राजा ने उसे मृग समझकर और बाण चलाकर मार डाला । उस मुनि ने, प्राणों का परित्याग करते हुए, धनुष छोड़कर खिन्न बैठे राजा को शाप दिया—हे राजन् ! विना विचारे तुमने मुझे मार डाला । अतः, पत्नी का समागम करने पर मेरे ही समान तुम्हारी भी मृत्यु होगी ।।२४-२५।।

इस प्रकार, शापित और शाप के भय से सांसारिक भोगों से विरक्त राजा पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों के साथ प्रशान्त तपोवन में रहने लगा ।।२६।।

तपोवन में रहते हुए शाप से प्रेरित राजा ने अकस्मात् छोटी पत्नी माद्री के साथ समागम किया और मर गया ।।२७।।

इसलिए, हे राजन् ! यह शिकार राजाओं में प्रमाद करानेवाला बुरा व्यसन है । इसने और भी अनेक राजाओं का मृगों के समान नाश कर दिया है ।।२८।।

यह शिकार राक्षसी के समान है । इससे किसका कल्याण हो सकता ? यह घोर शब्द के साथ मांस निकालती है, रूखी है, धूमिल और उठे हुए बालोंवाली है और भाले इसके दाँत हैं, अर्थात् शिकारी दौड़ते-दौड़ते धूल में रूखा हो जाता है । उसके धूल से भरे केश हवा से ऊपर उठे रहते हैं ।।२९।।

इसलिए, व्यर्थ परिश्रमवाले इस शिकार के प्रेम को छोड़ दो । इसमें शिकार, शिकारी और वाहन तीनों के प्राणों का सन्देह साथ ही बना रहता है ।।३०।।

तुम्हारे पूर्वज मेरे मित्र थे, उन्हीं के प्रेम से तुम भी मेरे प्यारे हो । साथ ही, तुम्हारा पुत्र कामदेव के अंशरूप से उत्पन्न होनेवाला है । सुनो—।।३१।।

प्राचीन समय में काम का दहन होने पर उसकी पत्नी रति ने शिवजी की स्तुति द्वारा आराधना की । उससे प्रसन्न होने पर शिवजी ने संक्षेप में उससे कहा—पार्वती अपने अंश से पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर और पुत्र की कामना से स्वयं मेरी आराधना करके उसे अपने गर्भ से जन्म देगी ।।३२-३३।।

इसलिए हे राजन् ! चण्डमहासेन की पुत्री यह वासवदत्ता गौरी के अंश से उत्पन्न हुई है और तुम्हारी महारानी है ।।३४।।

यह रानी शिवजी की आराधना करके कामदेव के अंशभूत बालक को जन्म देगी, जो सब विद्याधरों का चक्रवर्त्ती राजा बनेगा ।।३५।।

ऐसा सुनकर मुनि के वचन का आदर करके राजा ने सम्पूर्ण पृथ्वी, मुनि को दान कर दी । नारद मुनि, उसे पुनः शासन के लिए राजा को लौटाकर अन्तर्धान हो गये ।।३६।।

मुनि के चले जाने पर राजा ने पुत्र की इच्छावाली रानी वासवदत्ता के साथ पुत्र की चिन्ता में ही दिन व्यतीत किया ।।३७।।

पिङ्गलिकाब्राह्मणीकथा

अन्येद्युस्तं स वत्सेशमुपेत्यास्थानवर्त्तिनम् ।
नित्योदिताख्य: प्रवर: प्रतीहारो व्यजिज्ञपत् ।।३८।।
शिशुकद्वयसंयुक्ता ब्राह्मणी कापि दुर्गता ।
द्वारि स्थिता महाराज देवदर्शनकांक्षिणी ।।३९।।
तच्छ्रुत्वैवाभ्यनुज्ञाते तत्प्रवेशे महीभृता ।
ब्राह्मणी सा विवेशात्र कृशपाण्डुरधूसरा ।।४०।।
मानेनेव विशीर्णेन वाससा विधुरीकृता ।
दु:खदैन्यनिभावङ्के बिभ्रती बालकावुभौ ।।४१।।
कृतोचितप्रणामा च सा राजानं व्यजिज्ञपत् ।
ब्राह्मणी कुलजा चाहमीदृशीं दुर्गतिं गता ।।४२।।
दैवाद्युगपदेतौ च जातौ द्वौ तनयौ मम ।
तद्देव नास्ति मे स्तन्यमेतयोर्भोजनं विना ।।४३।।
तेनेह कृपणा नाथ शरणागतवत्सलम् ।
प्राप्तास्मि देव शरणं प्रमाणमधुना प्रभु: ।।४४।।
तच्छ्रुत्वा सदयो राजा स प्रतीहारमादिशत् ।
इयं वासवदत्तायै देव्यै नीत्वार्प्यतामिति ।।४५।।
ततश्च कर्मणा स्वेन शुभेनैवाग्रयायिना ।
नीताऽभून्निकटं देव्या प्रतीहारेण तेन सा ।।४६।।
राज्ञा विसृष्टां बुद्ध्वा तां प्रतीहारादुपागताम् ।
देवी वासवदत्ता सा ब्राह्मणीं श्रद्दधेतराम् ।।४७।।
युग्मापत्यां च पश्यन्ती दीनामेतां व्यचिन्तयत् ।
अहो वामैकवृत्तित्वं किमप्येतत्प्रजापते: ।।४८।।
अहो वस्तुनि मात्सर्यमहो भक्तिरवस्तुनि ।
नाद्याप्येकोऽपि मे जातो जातौ त्वस्या यमाविभौ ।।४९।।
एवं सञ्चिन्तयन्ती च सा देवी स्नानकाङ्क्षिणी ।
ब्राह्मण्याश्चेटिकास्तस्या: स्नपनादौ समादिशत् ।।५०।।
स्नपिता दत्तवस्त्रा च ताभि: स्वादु च भोजिता ।
ब्राह्मणी साम्बुसिक्तेव तप्ता भू: समुदश्वसत् ।।५१।।

पिंगलिका ब्राह्मणी की कथा

किसी एक दिन प्रातःकालीन सभा (दरबार) में बैठे हुए वत्सराज से नित्योदित नामक मुख्य द्वारपाल ने आकर निवेदन किया— हे महाराज, दो बच्चोंवाली एक दरिद्र ब्राह्मणी आपके दर्शन की अभिलाषा से द्वार पर खड़ी है ।।३८-३९।।

यह सुनते ही राजा से उसके प्रवेश की आज्ञा पाकर दुबली-पतली, मैली-कुचैली एक ब्राह्मणी राजा के सम्मुख उपस्थित हुई ।।४०।।

अपने सम्मान के समान फटे-पुराने वस्त्र से लिपटी हुई और दैन्य एव दुःख के समान अपने दोनों बालकों को गोद में लिये हुई वह ब्राह्मणी, राजा का समुचित अभिवादन करके बोली—मैं कुलीन घर की ब्राह्मणी हूँ और परिस्थितिवश ऐसी दरिद्रावस्था में आ गई हूँ । ये एक साथ दो, अर्थात् जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न हो गये । मेरे भोजन का ठिकाना नहीं है । इसलिए इन बच्चों को मैं दूध नहीं पिला सकती ।।४१— ४३।।

इसलिए हे महाराज, मैं दरिद्रा, शरण में आये हुए पर दया करनेवाले आपकी शरण में आई हूँ । अब आप जो उचित समझें, करें ।।४४।।

यह सुनकर दयालु राजा ने द्वारपाल को आज्ञा दी कि इसे ले जाकर महारानी वासवदत्ता को सौंप दो ।।४५।।

तब वह शुभकर्म के समान आगे चलनेवाले उस द्वारपाल ने उसे महारानी वासवदत्ता के पास पहुँचा दिया ।।४६।।

द्वारपाल से यह जानकर कि 'उसे महाराज ने भेजा है'—रानी वासवदत्ता ने उस ब्राह्मणी पर अत्यन्त श्रद्धा प्रकट की ।।४७।।

दो बच्चोंवाली उस दीन ब्राह्मणी को देखकर रानी सोचने लगी कि विधि की यह विपरीत गति है कि अच्छी वस्तु से उसे डाह होता है और अ-वस्तु से प्रेम होता है । अभी तक मुझे एक बालक भी नहीं हुआ और इसके एक साथ ही दो हो गये ।।४८-४९।।

ऐसा सोचती हुई रानी स्नान करने गई और दासियों को उस ब्राह्मणी के स्नानादि के लिए आज्ञा दे गई ।।५०।।

दासियों द्वारा स्नान, नवीन वस्त्र और स्वादिष्ठ भोजनों से सम्मानित वह ब्राह्मणी इस प्रकार आश्वस्त होकर लम्बी साँस लेने लगी, जैसे सन्तप्त भूमि पानी सींचने पर सोंधी सुगन्ध छोड़ती है ।।५१।।

समाश्वस्ता च सा युक्त्या कथालापैः परीक्षितुम् ।
क्षणान्तरे निजगदे देव्या वासवदत्तया ।।५२।।
भो ब्राह्मणि ! कथा काचित्त्वया नः कथ्यतामिति ।
तच्छ्रुत्वा सा तथेत्युक्त्वा कथां वक्तुं प्रचक्रमे ।।५३।।

राज्ञः देवदत्तस्य तद्वेश्यात्पन्याश्च कथा

पुराभूज्जयदत्ताख्यः सामान्यः कोऽपि भूपतिः ।
देवदत्ताभिधानश्च पुत्रस्तस्योदपद्यत ।।५४।।
यौवनस्थस्य तस्याथ विवाहं तनयस्य सः ।
विधातुमिच्छन्नृपतिर्मतिमानित्यचिन्तयत् ।।५५।।
वेश्येव बलवद्भोग्या राजश्रीरतिचञ्चला ।
वणिजां तु कुलस्त्रीव स्थिरा लक्ष्मीरनन्यगा ।।५६।।
तस्माद् विवाहं पुत्रस्य करोमि वणिजां गृहात् ।
राज्येऽस्य बहुदायादे येन नापद् भविष्यति ।।५७।।
इति निश्चित्य पुत्रस्य कृते वव्रे स भूपतिः ।
वणिजो वसुदत्तस्य कन्यां पाटलिपुत्रकात् ।।५८।।
वसुदत्तोऽपि स ददौ श्लाघ्यसम्बन्धवाञ्छया ।
दूरदेशान्तरेऽप्यस्मै राजपुत्राय तां सुताम् ।।५९।।
पूरयामास च तथा रत्नैर्जामातरं स तम् ।
अगलद्बहुमानोऽस्य यथा स्वपितृवैभवे ।।६०।।
अवाप्ताढ्यवणिक्पुत्रीसहितेनाथ तेन सः ।
तनयेन समं तस्थौ जयदत्तनृपः सुखम् ।।६१।।
एकदा तत्र चागत्य सोत्कः सम्बन्धिसद्मनि ।
स वणिग्वसुदत्तस्तां निनाय स्वगृहं सुताम् ।।६२।।
ततोऽकस्मात्स नृपतिर्जयदत्तो दिवं ययौ ।
उद्भूय गोत्रजैस्तस्य तच्च राज्यमधिष्ठितम् ।।६३।।
तद्भीत्या तस्य तनयो जनन्या निजया निशि ।
देवदत्तस्तु नीतोऽभूदन्यदेशमलक्षितः ।।६४।।
तत्राह राजपुत्रं तं माता दुःखितमानसा ।
देवोऽस्ति चक्रवर्ती नः प्रभुः पूर्वदिगीश्वरः ।।६५।।

भोजनोपरान्त स्वस्थ हुई उस ब्राह्मणी की परीक्षा लेने के लिए महारानी ने कहा 'हे ब्राह्मणी ! मनोविनोद के लिए कोई कथा सुनाओ'—यह सुनकर वह ब्राह्मणी 'जो आज्ञा'— कहकर कथा सुनाने लगी ।।५२-५३।।

राजा देवदत्त और उसकी वेश्या-पत्नी की कथा

किसी समय जयदत्त नाम का एक साधारण राजा (जमीन्दार) था। उसके देवदत्त नाम का एक पुत्र हुआ ।।५४।।

कुमार के युवक होने पर उसके विवाह के लिए बुद्धिमान् राजा ने इस प्रकार सोचा—।।५५।।

राजलक्ष्मी अत्यन्त चंचल, अतएव बलवान् के योग्य है। किन्तु वैश्यों की लक्ष्मी कुलवधू के समान स्थिर और एक ही के पास रहनेवाली है। इसलिए इस कुमार का विवाह बनिये के घर करता हूँ। इससे इसके राज्य में कोई विपत्ति न आयगी; क्योंकि इसके अनेक हिस्सेदार हैं ।।५६-५७।।

ऐसा सोचकर उस राजा ने पाटलिपुत्र नगर से वसुदत्त नाम के वैश्य की कन्या माँगी ।।५८।।

वसुदत्त ने भी उच्च सम्बन्ध की अभिलाषा से, दूर होने पर भी, उस राजपुत्र को अपनी कन्या दे दी ।।५९।।

उसने दहेज में अपने दामाद को रत्नों से इतना भर दिया कि पिता की सम्पत्ति पर भी उसका अधिक सम्मान न रह गया ।।६०।।

धनी की कन्या से विवाहित उस पुत्र के साथ राजा जयदत्त सुख से रहने लगा ।।६१।।

एक बार बनिया वसुदत्त अपनी कन्या को देखने की उत्कण्ठा से समधी जयदत्त के घर आकर कन्या को अपने घर ले गया ।।६२।।

कुछ दिनों के बाद वह राजा जयदत्त अकस्मात् ही स्वर्ग सिधार गया। फलतः, उसके रिश्तेदारों ने आक्रमण कर उसके राज्य को अपने अधीन कर लिया ।।६३।।

शत्रुओं के भय से डरी हुई देवदत्त की माता, रातों-ही-रात उसे लेकर छिपकर भाग गई ।।६४।।

वहाँ दुःखिता माता ने राजकुमार से कहा कि 'हमारा स्वामी पूर्व दिशा का चक्रवर्त्ती राजा है—।।६५।।

तत्पार्श्वं व्रज राज्यं ते साधयिष्यति वत्स सः ।
इत्युक्तः स तदा मात्रा राजपुत्रो जगाद ताम् ॥६६॥
तत्र मां निष्परिकरं गतं को बहु मंस्यते ।
तच्छ्रुत्वा पुनरप्येवं सा माता तमभाषत ॥६७॥
श्वशुरस्य गृहं गत्वा त्वं हि प्राप्य ततो धनम् ।
कृत्वा परिकरं गच्छ निकटं चक्रवर्त्तिनः ॥६८॥
इति स प्रेरितो मात्रा सलज्जोऽपि नृपात्मजः ।
क्रमात्प्रतस्थे सायं च प्राप तच्छ्वाशुरं गृहम् ॥६९॥
पितृहीनो विनष्टश्रीर्बाष्पपाताभिशङ्कया ।
अकाले नाशकच्चात्र प्रवेष्टं लज्जया निशि ॥७०॥
निकटे सत्रबाह्येऽथ स्थितः श्वशुरमन्दिरात् ।
नक्तं रज्ज्वावरोहन्तीमकस्मात्स्त्रियमैक्षत ॥७१॥
क्षणाच्च भार्यां स्वामेव तां रत्नद्युतिभास्वराम् ।
उल्कामिवाभ्रपतितां परिज्ञायाभ्यतप्यत ॥७२॥
सा तु तं धूसरक्षामं दृष्ट्वाप्यपरिजानती ।
कोऽसीत्यपृच्छत्तच्छ्रुत्वा पान्थोऽहमिति सोऽब्रवीत् ॥७३॥
ततः सा सत्रशालान्तः प्रविवेश वणिक्सुता ।
अन्वगाद्राजपुत्रोऽपि स तां गुप्तमवेक्षितुम् ॥७४॥
सा चात्र पुरुषं कञ्चिदुपागात्पुरुषोऽपि ताम् ।
त्वं चिरेणागतासीति पादाघातैरताडयत् ॥७५॥
ततः सा द्विगुणीभूतरागा पापा प्रसाद्य तम् ।
पुरुषं तेन सहिता तत्र तस्थौ यदृच्छया ॥७६॥
तद्दृष्ट्वा तु स सुप्रज्ञो राजपुत्रो व्यचिन्तयत् ।
कोपस्यायं न कालो मे साध्यमन्यद्धि वर्त्तते ॥७७॥
कथं च प्रसरत्वेतच्छस्त्रं कृपणयोर्द्वयोः ।
शत्रुयोग्यं स्त्रियामस्यामस्मिन्वा नृपतौ मम ॥७८॥
किमेतया कुवध्वा वा कृत्यमेतद्धि दुर्विधेः ।
मद्धैर्यालोकनक्रीडानैपुण्ये दुःखवर्षिणः ॥७९॥
अतुल्यकुलसम्बन्धः सैषा किं वापराध्यति ।
भुक्त्वा बलिभुजं काकी कोकिले रमते कथम् ॥८०॥

बेटा ! तुम उसके पास जाओ । वह तुम्हारा राज्य दिला देगा' । माता के इस प्रकार कहने पर राजकुमार बोला कि 'विना राजा के योग्य साज-सामान के वहाँ जाने पर कौन मेरा सम्मान करेगा ।' यह सुनकर माता ने बेटे से फिर कहा कि 'तुम श्वशुर के घर जाकर उससे धन लेकर अपना साज-सामान आदि ठीक करके चक्रवर्त्ती के पास जाओ ॥६६–६८॥

इस प्रकार माता से प्रेरित वह राजकुमार श्वशुर से धन माँगने में लज्जित होता हुआ भी गया और सायंकाल ससुराल में पहुँचा ॥६९॥

पितृहीन, नष्टराज्य और धनवाला वह राजकुमार रोने की शंका से उस समय घर में जाना उचित न समझकर श्वशुर-गृह के समीप ही एक धर्मशाला में ठहर गया ॥७०॥

धर्मशाला में रहते हुए उसने रात को सहसा रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ती हुई एक स्त्री को देखा ॥७१॥

कुछ समय में ही रत्नों की चमक से चमकती हुई अपनी स्त्री को उसने पहचान लिया और आकाश से गिरी हुई उल्का के समान उसे देखकर सन्तप्त हो गया ॥७२॥

उसकी स्त्री, मार्ग-क्लेश से दुर्बल और धूल से धूसरित उसके शरीर को देखकर भी उसे न पहचान सकी और पूछने लगी कि तुम कौन हो ? उत्तर में उसने कहा—मैं पथिक (बटोही) हूँ ॥७३॥

तब वह स्त्री धर्मशाला के अन्दर गई । राजकुमार भी रहस्य जानने की इच्छा से छिपकर उसका पीछा करने लगा ॥७४॥

वहाँ पर एक पुरुष भी आया और उसने 'तू देर से आई' ऐसा कहकर उस स्त्री को लातें मारीं ॥७५॥

लातें खाकर वह पापिन दुगुने प्रेम से उसे मनाकर उसके साथ विहार करने लगी ॥७६॥

उसे देखकर वह बुद्धिमान् राजकुमार सोचने लगा कि यह क्रोध करने का समय नहीं है । मुझे तो इस समय दूसरा ही कार्य सिद्ध करना है ॥७७॥

शत्रुओं के योग्य अपने शस्त्र को इस पापिन स्त्री और नरपशु पर क्यों चलाऊँ ? ऐसी दुष्टा स्त्री से भी क्या प्रयोजन ? यह मेरे दुर्भाग्य का ही काम है, जो मेरे धैर्य की परीक्षा का तमाशा देखने के लिए मुझपर दुःखों की वर्षा कर रहा है ॥७८-७९॥

असमान कुलों के सम्बन्ध का यह परिणाम है । इसमें उस स्त्री का क्या दोष है । कौवी कौवे को छोड़कर कोयल (नर) को कैसे चाह सकती है ॥८०॥

इत्यालोच्य स तां भार्यामुपैक्षत सकामुकाम् ।
सतां गुरु जिगीषे हि चेतसि स्त्रीतृणं कियत् ।।८१।।
तत्कालं च रतावेगवशात्तस्याः किलापतत् ।
वणिक्सुतायाः श्रवणात् सन्मुक्ताढ्यं विभूषणम ।।८२।।
तच्च सा न ददर्शैव सुरतान्ते च सत्वरा ।
ययौ यथागतं गेहमापृच्छ्योपपतिं ततः ।।८३।।
तस्मिन्नपि गते क्वापि द्रुतं प्रच्छन्नकामुके ।
स राजपुत्रो दृष्ट्वा तद्रत्नाभरणमग्रहीत् ।।८४।।
स्फुरद्रत्नशिखाजालं धात्रा मोहतमोपहम् ।
हस्तदीपमिव प्रत्तं प्रणष्टश्रीगवेषणे ।।८५।।
महार्घं च तदालोक्य राजपुत्रः स तत्क्षणम् ।
निर्गत्य सिद्धकार्यः सन्कान्यकुब्जं ततो ययौ ।।८६।।
तत्र बन्धाय दत्वा तत्स्वर्णलक्षेण भूषणम् ।
क्रीत्वा हस्त्यश्वमगमत्स पार्श्वं चक्रवर्त्तिनः ।।८७।।
तद्दत्तैश्च बलैः साकमेत्य हत्वा रिपून् रणे ।
प्राप तत्पैतृकं राज्यं कृती मात्राभिनन्दितः ।।८८।।
तच्च बन्धाद् विनिर्मोच्य भूषणं श्वशुरान्तिकम् ।
प्राहिणोत् प्रकटीकर्त्तुं रहस्यं तदशङ्कितम् ।।८९।।
सोऽपि तच्छ्वशुरो दृष्ट्वा स्वसुताकर्णभूषणम् ।
तत्तथोपागतं तस्मै सम्भ्रान्तः समदर्शयत् ।।९०।।
सापि पूर्वपरिभ्रष्टं चारित्रमिव वीक्ष्य तत् ।
बुद्ध्वा च भर्त्रा प्रहितं व्याकुलैव समस्मरत् ।।९१।।
इदं मे पतितं तस्या रात्रौ सत्रगृहान्तरे ।।
यस्यां तत्र स्थितो दृष्टः स कोऽपि पथिको मया ।।९२।।
तन्नूनं सोऽत्र भर्त्ता मे शीलजिज्ञासयाययौ ।
मया तु स न विज्ञातस्तेनेदं प्रापि भूषणम् ।।९३।।
इत्येवं चिन्तयन्त्याश्च दुर्नयव्यक्तिविक्लवम् ।
वणिक्सुताया हृदयं तस्याः कातरमस्फुटत् ।।९४।।
ततस्तस्या रहस्यज्ञां पृष्ट्वा चेटीं स्वयुक्तितः ।
तत्पिता स वणिग्बुद्ध्वा तत्त्वं तत्याज तच्छुचम् ।।९५।।

ऐसा सोचकर उसने उपपति के साथ उस स्त्री की उपेक्षा कर दी। शत्रु-विजय की प्रबल इच्छा रखनेवाले सज्जनों के हृदय में स्त्री-रूपी तृण का क्या महत्त्व है ।।८१।।

उसी समय विहार की हलचल में उस बनिये की बेटी का मोती से जड़ा हुआ कान का बहूमूल्य आभूषण (तरकी) कहीं गिर पड़ा। जाने की शीघ्रता में उसने गिरे हुए कान के आभूषण को नहीं देखा और अपने प्रेमी से आज्ञा लेकर अपने घर चली गई ।।८२-८३।।

कुछ समय के उपरान्त उस प्रेमी के भी चले जाने पर राजकुमार ने उस जड़ाऊ गहने को उठा लिया ।।८४।।

चमकीले रत्नों की चमकती हुई किरणोंवाले बहूमूल्य मोतियों से जड़ा हुआ वह आभूषण, विनष्ट राज्यलक्ष्मी को ढूँढ़ने में सहायक, हाथ के दीपक के समान दैव ने मानों राजकुमार के हाथ में दे दिया था ।।८५।।

सफलमनोरथ राजकुमार वहाँ से निकलकर उसी समय कान्यकुब्ज (कन्नौज) देश को चला गया ।।८६।।

राजकुमार कन्नौज जाकर कान के उस आभूषण को एक लाख मुहरों पर बन्धक (गिरवी) रखकर उस धन से हाथी, घोड़े आदि खरीदकर राजोचित ठाट-बाट से कान्यकुब्ज के चक्रवर्त्ती के समीप गया ।।८७।।

उससे मिलकर और सहायता-स्वरूप उसकी सेनाओं को लेकर वह शत्रुओं पर चढ़ आया। फलतः, युद्ध में विजयी होकर उसने पिता का राज्य प्राप्त किया और माता ने भी उसका अभिनन्दन किया ।।८८।।

राज्य प्राप्त करने पर उसने बन्धक का रुपया देकर पत्नी के उस कर्णाभूषण को छुड़ा लिया और अपनी पत्नी का रहस्य प्रकट करने के लिए उस आभूषण को अपने श्वशुर के पास भेज दिया। वह वैश्य इस प्रकार अपनी कन्या के कर्णाभूषण को पाकर घबराया हुआ उसके पास गया और उसे दिखाया ।।८९-९०।।

वह वैश्यपुत्री, उसे देखकर और वह भी पति के द्वारा भेजा हुआ जानकर, अत्यन्त व्याकुल हुई ।।९१।।

मेरे कान का यह आभूषण, उस दिन रात को धर्मशाला के भीतर गिर गया था, जिस दिन मैंने किसी अज्ञात पथिक को देखा था ।।९२।।

अवश्य ही वह मेरा पति था; जो मेरा चरित्र जानने की इच्छा से छिपकर आया था। मैंने उसे नहीं पहचाना। अतः, उसी ने यह कर्णाभूषण वहाँ पाया होगा ।।९३।।

इस प्रकार, सोचते हुए, पापाचार से व्याकुल उस वैश्य-कन्या का हृदय उसी समय फट गया और वह मर गई ।।९४।।

तदनन्तर, उसने रहस्य को जाननेवाली उसकी अन्तरंग दासी से युक्तिपूर्वक सब रहस्य जानकर उसके पिता ने भी उसके मरने पर दुःख नहीं मनाया। प्रत्युत, उसका मरना श्रेयस्कर ही समझा ।।९५।।

राजपुत्रोऽथ सम्प्राप्तराज्यो लब्ध्वा गुणार्जिताम् ।
स चक्रवर्त्तितनयां भार्यां भेजेऽपरां श्रियम् ॥९६॥
तदित्थं साहसे स्त्रीणां हृदयं वज्रकर्कशम् ।
तदेव साध्वसावेगसम्पाते पुष्पपेलवम् ॥९७॥
तास्तु काश्चन सद्वंशजाता मुक्ता इवाङ्गनाः ।
याः सुवृत्ताच्छहृदया यान्ति भूषणतां भुवि ॥९८॥
हरिणीव च राजश्रीरेवं विप्लविनी सदा ।
धैर्यपाशेन बन्द्धुं च तामेके जानते बुधाः ॥९९॥
तस्मादापद्यपि त्याज्यं न सत्त्वं सम्पदेषिभिः ।
अयमेवात्र वृत्तान्तो ममात्र च निदर्शनम् ॥१००॥
यन्मया विधुरेऽप्यस्मिंश्चारित्रं देवि रक्षितम् ।
युष्मद्दर्शनकल्याणप्राप्त्या तत्फलितं हि मे ॥१०१॥
इति तस्या मुखाच्छ्रुत्वा ब्राह्मण्यास्तत्क्षणं कथाम् ।
देवी वासवदत्ता सा सादरा समचिन्तयत् ॥१०२॥
ब्राह्मणी कुलवत्येषा ध्रुवमस्या ह्युदारताम् ।
भङ्गिः स्वशीलोपक्षेपे वचःप्रौढिश्च शंसति ॥१०३॥
राजसंसत्प्रवेशोऽस्याः प्रावीण्यमत एव च ।
इति सञ्चिन्त्य देवी तां ब्राह्मणीं पुनरब्रवीत् ॥१०४॥
भार्या त्वं कस्य को वा ते वृत्तान्तः कथ्यतां त्वया ।
तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी भूयः साथ वक्तुं प्रचक्रमे ॥१०५॥

पिङ्गलिकाया आत्मकथा

मालवे देवि कोऽप्यासीदग्निदत्त इति द्विजः ।
निलयः श्रीसरस्वत्योः स्वयमात्तधनोऽर्थिभिः ॥१०६॥
तस्य च स्वानुरूपौ द्वावुत्पन्नौ तनयो क्रमात् ।
ज्येष्ठः शङ्करदत्ताख्यो नाम्ना शान्तिकरोऽपरः ॥१०७॥
तयोः शान्तिकरोऽकस्माद् विद्यार्थी स्वपितुर्गृहात् ।
स बाल एव निर्गत्य गतः क्वापि यशस्विनि ॥१०८॥
द्वितीयश्च स तद्भ्राता ज्येष्ठो मां परिणीतवान् ।
तनयां यज्ञदत्तस्य यज्ञार्थभृतसम्पदः ॥१०९॥

राजकुमार भी अपने पैतृक राज्य को प्राप्त कर और अपने गुणों से प्राप्त चक्रवर्त्ती की कन्या को पत्नी-रूप में स्वीकार कर परम आनन्द का उपभोग करने लगा। अर्थात्, कान्यकुब्जनरेश ने उसकी वीरता से प्रसन्न होकर उसे अपनी कन्या दे दी ॥९६॥

इस प्रकार, साहस करने में स्त्रियों का जो हृदय वज्र के समान कठिन होता है, वही आकस्मिक व्याकुलता होने पर पुष्प से भी कोमल हो जाता है ॥९७॥

अच्छे वंश में उत्पन्न मोती के समान चरित्रवती और स्वच्छ हृदयवाली स्त्रियाँ तो इनी-गिनी ही होती हैं, जो संसार का भूषण होती हैं ॥९८॥

राजलक्ष्मी हरिणी के समान सदा उछलती-कूदती और छलाँगें मारती रहती हैं। उसे धैर्य-रूपी पाश में बाँधना कुछ ही बुद्धिमान् जानते हैं, सभी नहीं ॥९९॥

इसलिए, सम्पत्ति चाहनेवाले को घोर विपत्ति में भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए ॥१००॥

मैंने भी इस घोर विपत्ति-काल में अपने चरित्र की जो रक्षा की है, आपका दर्शन, उसी का परिणाम है ॥१०१॥

इस प्रकार ब्राह्मणी के मुख से इस कथा को सुनकर महारानी वासवदत्ता उसके प्रति आदर की भावना से सोचने लगी— ॥१०२॥

अवश्य ही यह ब्राह्मणी उच्चकुलप्रसूता है। इसकी उदारता और अपने चरित्र को प्रकट करन का ढंग और वार्त्तालाप की शैली यह बात बता रही है ॥१०३॥

इसी प्रकार, राजसभा में आने की चतुरता भी इसकी उच्चता बता रही है। ऐसा सोचकर रानी ब्राह्मणी से फिर बोली—'तुम किसकी स्त्री हो और क्या विशेष परिस्थिति है, कहो।' यह सुनकर ब्राह्मणी कहने लगी ॥१०४–१०५॥

पिंगलिका की आत्मकथा

हे महारानी ! मालवदेश में अग्निदत्त नाम का एक ब्राह्मण था। वह लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का आश्रय था, याचकों को स्वयं धन देनेवाला था ॥१०६॥

उसीके समान उसके क्रमशः दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें बड़े का नाम शंकरदत्त और छोटे का नाम शान्तिकर था ॥१०७॥

छोटा पुत्र शान्तिकर, बाल्यकाल में ही विद्याध्ययन के लिए पिता के घर से कहीं चला गया ॥१०८॥

बड़े पुत्र शंकरदत्त ने, यश के लिए सम्पत्ति एकत्र करनेवाले यज्ञदत्त की कन्या (मुझसे) विवाह कर लिया ॥१०९॥

कालेन तस्य मद्भर्त्तुः सोऽग्निदत्ताभिधः पिता ।
वृद्धो लोकन्तरं यातो भार्ययानुगतः स्वया ॥११०॥
तीर्थोद्देशाच्च मद्भर्त्ता धृतगर्भां विमुच्य माम् ।
गत्वा सरस्वतीपूरे शोकेनान्धो जहौ तनुम् ॥१११॥
वृत्तान्ते कथिते चास्मिन्नेत्य तत्सहयायिभिः ।
स्वजनेभ्यो मया लब्धं नानुगन्तुं सगर्भया ॥११२॥
ततो मय्यार्द्रशोकायामकस्मादेत्य दस्युभिः ।
अस्मन्निवाससकलोऽप्यग्रहारो विलुण्ठितः ॥११३॥
तत्क्षणं तिसृभिः सार्धं ब्राह्मणीभिरहं ततः ।
शीलभ्रंशभयादात्तस्वल्पवस्त्रा पलायिता ॥११४॥
देशभङ्गाद् विदूरं च गत्वा देशं तदन्विता ।
मासमात्रं स्थिताऽभूवं कृच्छ्रकर्मोपजीविनी ॥११५॥
श्रुत्वा चानाथशरणं लोकाद् वत्सेश्वरं ततः ।
सब्राह्मणीका शीलैकपाथेयाहमिहागता ॥११६॥
आगत्यैव प्रसूतास्मि युगपत्तनयावुभौ ।
स्थितासु चासु तिसृषु ब्राह्मणीषु सखीष्वपि ॥११७॥
शोको विदेशो दारिद्र्यं द्विगुणः प्रसवोऽप्ययम् ।
अहो अपावृतं द्वारमापदां मम वेधसा ॥११८॥
तदेतयोर्गतिर्नास्ति बालयोर्वर्द्धनाय मे ।
इत्यालोच्य परित्यज्य लज्जां योषिद्विभूषणम् ॥११९॥
मया प्रविश्य वत्सेशो राजा सदसि याचितः ।
क शक्तः सोढुमापन्नबालापत्यार्त्तिदर्शनम् ॥१२०॥
तदादेशेन च प्राप्तं मया त्वच्चरणान्तिकम् ।
विपदश्च निवृत्ता मे द्वारात्प्रतिहता इव ॥१२१॥
इत्येष मम वृत्तान्तो नाम्ना पिङ्गलिकाऽस्म्यहम् ।
आबाल्याग्निक्रियाधूमैर्यन्मे पिङ्गलिते दृशौ ॥१२२॥
स तु शान्तिकरो देवि देवरो मे विदेशगः ।
कुत्र तिष्ठति देशेऽसाविति नाद्यपि बुद्ध्यते ॥१२३॥
एवमुक्तस्ववृत्तान्तां कुलीनेत्यवधार्य ताम् ।
प्रीत्यैनां ब्राह्मणीं देवी सा वितर्क्यैवमब्रवीत् ॥१२४॥

समय के अनुसार मेरे पति के पिता अग्निदत्त वृद्धावस्था के कारण परलोक सिधार गये और उनकी पत्नी (मेरी सास) उनके साथ सती हो गई ।।११०।।

मेरे पति ने तीर्थयात्रा के उद्देश्य से मुझ गर्भवती को घर पर छोड़कर और पितृशोक से अन्धे होकर सरस्वती नदी के प्रवाह में अपना शरीर त्याग कर दिया ।।१११।।

उसके साथी अन्यान्य यात्रियों द्वारा उसका समाचार कहने पर गर्भवती होने के कारण मैंने अपने बन्धुओं से सती होने की आज्ञा नहीं प्राप्त की ।।११२।।

जब मैं पति-शोक में मग्न ही थी कि एकाएक लुटेरों ने हमारे निवास-स्थान गाँव को ही लूट लिया ।।११३।।

उस समय मैं गाँव की तीन ब्राह्मणियों के साथ चरित्र नष्ट होने के भय से थोड़े-से वस्त्रों को साथ लेकर घर से भाग गई ।।११४।।

अपना देश नष्ट हो जाने पर उन तीनों के साथ दूर देश को चली गई और एक मास तक परिश्रम के कार्य करके जीवन-निर्वाह करती रही ।।११५।।

यहाँ आकर यह सुना कि 'वत्स देश के राजा अनाथों की रक्षा करते हैं', तो मैं उन ब्राह्मणियों के साथ एकमात्र चरित्र के सहारे यहाँ आ गई ।।११६।।

यहाँ आते ही एक साथ दो बालकों को उत्पन्न किया । उस समय वे तीनों ब्राह्मणी सहेलियाँ मेरे साथ थीं ।।११७।।

पति का शोक, विदेश, दरिद्रता और दूना प्रसव आदि—यह सब देखकर भाग्य ने मेरी विपत्तियों का द्वार खोल दिया है ।।११८।।

इन दोनों बच्चों के पालन-पोषण के लिए मेरे पास अब कोई रास्ता नहीं है, यह सोचकर इसीलिए स्त्रियों के भूषण—लज्जा—को छोड़कर मैंने दरबारमें आकर वत्सराज से प्रार्थना की । सच है, निरीह शिशुओं की वेदना को, कौन सहन कर सकता है ।।११९-१२०।।

उन्हीं की आज्ञा से मैंने तुम्हारे चरणों में स्थान पाया है । फलतः, मेरी सारी विपत्तियाँ मानों राजद्वार से टकराकर पीछे लौट गई ।।१२१।।

यही मेरा वृत्तान्त है । मेरा नाम पिंगलिका है । बालकपन से अग्निहोत्र के धूम से मेरी आँखें पीली हो गई, इसीलिए मेरा नाम पिंगलिका हुआ ।।१२२।।

विदेश गया हुआ मेरा देवर शान्तिकर, किस देश में है, इसका अभी तक मुझे पता नहीं है ।।१२३।।

इस प्रकार अपना वृत्तान्त कहती हुई उस ब्राह्मणी को कुलीन समझकर रानी प्रेमपूर्वक कहने लगी—।।१२४।।

इह शान्तकरो नाम स्थितोऽस्माकं पुरोहितः ।
वैदेशिकः स जानेऽहं देवरस्ते भविष्यति ॥१२५॥
इत्युक्त्वा ब्राह्मणीमुत्कां नीत्वा रात्रिं तदैव ताम् ।
देवी शान्तिकरं प्रातरानाय्यापृच्छदन्वयम् ॥१२६॥
उक्तान्वयाय तस्मै च सा सञ्जातसुनिश्चया ।
इयं ते भ्रातृजायेति ब्राह्मणी तामदर्शयत् ॥१२७॥
जातायां च परिज्ञप्तौ ज्ञातबन्धुक्षयोऽथ सः ।
ब्राह्मणीं भ्रातृजायां तां निन्ये शान्तिकरो गृहम् ॥१२८॥
तत्रानुशोच्य पितरौ भ्रातरं च यथोचितम् ।
आश्वासयामास स तां बालकद्वितयान्वितम् ॥१२९॥
देवी वासवदत्तापि तस्यास्तौ बालकौ सुतौ ।
पुरोहितौ स्वपुत्रस्य भाविनः पर्यकल्पयत् ॥१३०॥
ज्येष्ठस्तयोः शान्तिसोमो नाम्ना वैश्वानरोऽपरः ।
कृतस्तयैव देव्या च वितीर्णबहुसम्पदा ॥१३१॥
अन्धस्येवास्य लोकस्य फलभूमिं स्वकर्मभिः ।
पुरोगैर्नीयमानस्य हेतुमात्रं स्वपौरुषम् ॥१३२॥
यदेत्य लब्धविभवास्तत्र सर्वेऽपि सङ्गताः ।
बालकौ तौ तयोः सा च माता शान्तिकरश्च सः ॥१३३॥
ततो गच्छत्सु दिवसेष्वेकदा पञ्चभिः सुतैः ।
सहागतामुपादाय शरावान्कुम्भकारिकाम् ॥१३४॥
दृष्ट्वा स्वमन्दिरे काञ्चिद्देव्या वासवदत्तया ।
सा ब्राह्मणी पिङ्गलिका जगदे पार्श्ववर्त्तिनी ॥१३५॥
पञ्चैतस्याः सुतोऽद्यापि नैको मे सखि दृश्यताम् ।
पुण्यानामीदृशं पात्रमीदृश्यपि न मादृशी ॥१३६॥
ततः पिङ्गलिकावादीद्देवि दुःखाय जायते ।
प्रजेयं पापभूयिष्ठा दरिद्रेष्वेव भूयसी ॥१३७॥
युष्मादृशेषु जायेत यः स कोऽप्युत्तमो भवेत् ।
तदलं त्वरया प्राप्स्यस्यचिरात्स्वोचितं सुतम् ॥१३८॥
इति पिङ्गलिकोक्तापि सोत्सुका सुतजन्मनि ।
अभूद् वासवदत्ता सा तच्चिन्ताक्रान्तमानसा ॥१३९॥

यहाँ शान्तिकर नाम का हमारा एक पुरोहित रहता है; वह इस देश का नहीं, परदेशी है। मैं समझती हूँ, वह तुम्हारा ही देवर होगा ॥१२५॥

ऐसा कहकर उत्कण्ठित ब्राह्मणी की रात्रि में उसी प्रकार व्यवस्था करके प्रातःकाल ही रानी ने पुरोहित को बुलाकर उसके कुल और देश का पता पूछा ॥१२६॥

उसके अपने कुल का पता बताने पर भली भाँति निश्चय कर रानी ने 'यह तुम्हारी भाभी हैं'—ऐसा कहकर उस ब्राह्मणी को उसे दिखाया ॥१२७॥

परिचय होने पर और अपने भाई की मृत्यु का समाचार जानने पर शान्तिकर अपनी भाभी को अपने घर ले गया ॥१२८॥

घर आकर पिता और भाई के लिए समुचित शोक प्रकट करके दोनों बच्चों-सहित भाभी को उसने धैर्य प्रदान किया ॥१२९॥

रानी वासवदत्ता ने भी उन दोनों बालकों को उत्पन्न होनेवाले अपने पुत्र का पुरोहित नियुक्त कर दिया ॥१३०॥

रानी ने ही उन दोनों पुत्रों में से बड़े का नाम शान्तिसोम और छोटे का नाम वानर रखा। साथ ही, उनके लिए प्रचुर सम्पत्ति प्रदान की ॥१३१॥

अन्धे के समान जीव के आगे-आगे चलनेवाला और अपने कर्मों द्वारा फल की ओर ले जाने वाला भाग्य ही होता है; पुरुषार्थ तो एक निमित्तमात्र है ॥१३२॥

यही कारण है कि वह ब्राह्मणी, दोनों बालक और शान्तिकर इधर-उधर से आकर प्रचुर राज-सम्पत्ति पाकर परस्पर मिल गये ॥१३३॥

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर एक बार एक कुम्हारिन अपने पाँच पुत्रों को साथ लेकर मिट्टी के कुछ पात्रों-सहित वहाँ आई ॥१३४॥

उसे अपने भवन में देखकर रानी ने समीप बैठी हुई पुरोहितानी ब्राह्मणी से कहा—'सखि! देखो, इसके पाँच-पाँच लड़के हैं और मुझे अभी तक एक भी नहीं है, यह इतनी पुण्यवती है। गरीब होकर भी यहाँ मेरे जैसी निपूती नहीं है ॥१३५-१३६॥

तब पिंगलिका बोली—'महारानी! पाप के फलस्वरूप अधिक सन्तान कष्ट देती है और दरिद्रों के ही होती है ॥१३७॥

तुम्हारे समान उच्च लोगों की जो एकाध सन्तान होती है, वह उत्तम होती है। ज करो। शीघ्र ही अपने कुल के योग्य सन्तान प्राप्त करोगी ॥१३८॥

पिंगलिक के इस प्रकार कहने पर भी पुत्र के लिए उत्कण्ठित रानी चिन्ता करने लगी ॥१३९॥

गिरिशाराधनप्राप्यं पुत्रं ते नारदोऽभ्यधात् ।
तद्देवि वरदोऽवश्यमाराध्यः स शिवोऽत्र नः ॥१४०॥
इत्युक्ता वत्सराजेन तत्कालं चागतेन सा ।
देवी लब्धाशयेनाशु चकार व्रतनिश्चयम् ॥१४१॥
तस्यामात्तव्रतायां तु स राजापि समन्त्रिकः ।
सराष्ट्रश्चापि विदधे शङ्कराराधनव्रतम् ॥१४२॥
त्रिरात्रोपोषितौ तौ च दम्पती स विभुस्ततः ।
प्रसादप्रकटीभूतः स्वयं स्वप्ने समादिशत् ॥१४३॥
उत्तिष्ठतं स युवयोः कामांशो जनिता सुतः ।
नाथो विद्याधराणां यो भविता मत्प्रसादतः ॥१४४॥
इति वचनमुदीर्य चन्द्रमौलौ सपदि तिरोहिततां गते प्रबुध्य ।
अधिगतवरमाशु दम्पती तौ प्रमदमकृत्रिममापतुः कृतार्थौ ॥१४५॥
उत्थाय चोषसि ततः प्रकृतीर्विधाय
तत्स्वप्नकीर्त्तनसुधारसतर्पितास्ताः ।
देवी च सा नरपतिश्च सबन्धुभृत्यौ ।
बद्धोत्सवौ विदधतुर्व्रतपारणानि १४६॥
कतिपयदिवसापगमे तस्याः स्वप्ने जटाधरः पुरुषः ।
कोऽप्यथ देव्या वासवदत्तायाः फलमुपेत्य ददौ ॥१४७॥
ततः स विनिवेदितस्फुटतथाविधस्वप्नया सह
सह प्रमुदितस्तया समभिनन्दितो मन्त्रिभिः ।
विचिन्त्य शशिमौलिना फलनिभेन दत्तं सुतं ।
मनोरथमदूरगं गणयति स्म वत्सेश्वरः ॥१४८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
नरवाहनदत्तजननलम्बके प्रथमस्तरङ्गः ।

द्वितीयस्तरङ्गः

वत्सराजकथा—पुत्रजन्म (पूर्वानुवृत्ता)

अथ वासवदत्ताया वत्सेशहृदयोत्सवः ।
सम्बभूवाचिराद् गर्भः कामांशावतरोज्ज्वलः ॥१॥

उसी समय आये हुए वत्सराज उदयन ने, रानी की चिन्ता का कारण जानकर कहा—देवि ! नारद मुनि ने कहा है कि 'शिवजी की आराधना करने पर तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा' ॥१४०॥

ऐसा कहकर राजा ने शिवजी का व्रत करने का निश्चय किया। रानी के व्रत ग्रहण करने पर राजा ने भी मन्त्रियों और राज्य की प्रजाओं के साथ शंकर की आराधना का व्रत किया ॥१४१-१४२॥

तीन रातों तक उपवास करते हुए राजा और रानी को, प्रसन्नता से प्रकट होकर शिवजी ने स्वयं आज्ञा दी—'तुम दोनों उठो ! तुम्हें कामदेव का अंश पुत्र उत्पन्न होगा, जो मेरी कृपा से विद्याधरों का राजा होगा ॥१४३-१४४॥

स्वप्न में ऐसा वरदान देकर शिवजी के अन्तर्धान हो जाने पर, प्रातःकाल उठकर वर को पाये हुए राजा और रानी ने हार्दिक आनन्द का अनुभव किया ॥१४५॥

तदनन्तर, उठकर राजा ने मन्त्रियों तथा प्रजाओं को देखे हुए स्वप्न के समाचार-रूपी अमृत-रस से तृप्त कर दिया और उन दोनों ने अपने बन्धु-बान्धवों और सेवकों के साथ उत्सव मनाते हुए व्रत का पारण (समाप्ति) किया ॥१४६॥

और कुछ दिनों के बीतने पर स्वप्न में रानी वासवदत्ता को किसी जटाधारी पुरुष ने आकर फल प्रदान किया ॥१४७॥

रानी के द्वारा उस स्वप्न का वृत्तान्त जानकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और मन्त्रियों ने उसे बधाइयाँ दीं। राजा भी फल के समान शिवजी द्वारा दिये गये पुत्र को समझकर शीघ्र ही पूर्ण होने की आशा करने लगा ॥१४८॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के नरवाहनदत्तजनन नामक लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त ।

द्वितीय तरंग

वत्सराज की कथा—पुत्र-जन्म (क्रमशः)

कुछ दिनों के अनन्तर वासवदत्ता ने शीघ्र ही वत्सराज के हृदय को आनन्द देनेवाले और कामदेव के अंशावतार से उज्ज्वल गर्भ को धारण किया ॥१॥

सा बभौ लोलनेत्रेण मुखेनापाण्डुकान्तिना ।
शशाङ्केनेव गर्भस्थकामप्रेमोपगामिना ॥२॥
आसीनायाः पतिस्नेहाद्रतिप्रीती इवागते ।
रेजतुः प्रतिमे तस्या मणिपर्यङ्कपार्श्वयोः ॥३॥
भाविविद्याधराधीशगर्भसेवार्थमिष्टदाः ।
मूर्त्ता विद्या इवायाताः सख्यस्तां पर्युपासत ॥४॥
विनीलपल्लवश्याममुखौ साथ पयोधरौ ।
सूनोर्गर्भाभिषेकाय बभार कलशाविव ॥५॥
स्वच्छस्फुरितसच्छायमणिकुट्टिमशोभिनः ।
सुखशय्यागता मध्ये मन्दिरस्य रराज सा ॥६॥
भावितत्तनयाक्रान्तिशङ्काकम्पितवारिभिः ।
उपेत्य सेव्यमानेव समन्ताद्रत्नराशिभिः ॥७॥
तस्या विमानमध्यस्थरत्नोत्था प्रतिभा बभौ ।
विद्याधरश्रीर्नभसा प्रणामार्थमिवागता ॥८॥
मन्त्रसाधनसन्नद्धा साधकेन्द्रकथासु च ।
बभूव सा दोहदिनी प्रसङ्गोपनतासु च ॥९॥
सरसारब्धसङ्गीता विद्याधरवराङ्गनाः ।
स्वप्ने तामम्बरोत्सङ्गमारूढामुपतस्थिरे ॥१०॥
प्रबुद्धा सेवितुं साक्षात्तदेवाभिललाष सा ।
नभःक्रीडाविलसितं लक्ष्यभूतलकौतुकम् ॥११॥
तं च दोहदमेतस्या देव्या यौगन्धरायणः ।
यन्त्रमन्त्रेन्द्रजालादिप्रयोगैः समपूरयत् ॥१२॥
विजहार च सा तैस्तैः प्रयोगैर्गगनस्थिता ।
पौरनारीजनोत्पक्ष्मलोचनाश्चर्यदायिभिः ॥१३॥
एकदा वासकस्थायास्तस्याश्च समजायत ।
हृदि विद्याधरोदारकथाश्रवणकौतुकम् ॥१४॥
ततस्तदर्थितो देव्या तत्र यौगन्धरायणः ।
तस्याः सर्वेषु शृण्वत्सु निजगाद कथामिमाम् ॥१५॥

उस गर्भवती रानी का मुख चन्द्रमा के समान शोभित होने लगा। उस मुख में नेत्र चंचल थे। उसकी शोभा कुछ पीलापन लिये हुई थी, मानों चन्द्रमा अपने मित्र कामदव के प्रेम से आकर, रानी के मुँह में निवास करने लगा था ॥२॥

उस रानी के मणिमय पलंग के दोनों ओर पति 'कामदेव' के प्रेम से आई हुई रति और प्रीति दोनों पत्नियाँ मानों प्रतिमा के रूप में चमकती थीं ॥३॥

ऐसा लगता था कि विद्याधरों के भावी चक्रवर्त्ती उस गर्भस्थ बालक की सेवा के लिए आई हुई विद्याएँ रानी की सेवा कर रही थीं ॥४॥

रानी मानों गर्भस्थ बालक के अभिषेक के लिए गहरे हरे रंग के नवपल्लवों के समान श्याम मुखवाले दो कुचों को कलशों के सदृश वहन करती थी ॥५॥

स्वच्छ, चमकीले और प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेवाली भूमि से युक्त शयन-गृह में सुखद शय्या पर सोई हुई रानी बहुत ही भली मालूम पड़ती थी ॥६॥

वह रानी, मानों उत्पन्न होनेवाले बालक की सुन्दर कान्ति से पराजित होने के भय से चंचल पानीवाले रत्नों की राशि से शोभित हो रही थी। (अर्थात्, उसके शरीर पर धारण किये हुए बहुमूल्य रत्नों का पानी चंचल हो रहा था, झलमल-झलमल कर रहा था) ॥७॥

भवन के मध्य में जड़े हुए रत्न के अन्दर दीखती हुई छाया, ऐसी मालूम होती थी कि मानों गर्भस्थ चक्रवर्त्ती को प्रणाम करने के लिए विद्याधरों की राजलक्ष्मी आकाश से उतर रही हो ॥८॥

वह गर्भवती रानी, मन्त्रसिद्धि में लगे हुए साधकों की कथाओं तथा इसी प्रकार की बातों में रुचि रखती थी ॥९॥

सरस गान गाती हुई विद्याधरों की सुन्दर रमणियाँ, स्वप्न में रानी की स्तुति करती हुई दीखती थीं ॥१०॥

रानी जागने पर भी आकाश में उड़कर विहार करने और भूमि के कौतुक (तमाशे) देखने की इच्छा करती थी ॥११॥

मन्त्री यौगन्धरायण तन्त्र, मन्त्र और ऐन्द्रजालिक प्रयोगों से रानी की इच्छा को पूरी करता था ॥१२॥

नागरिक स्त्रियों की आँखों को आश्चर्य देनेवाले उन आकाश-विहार के प्रयोगों से वह आक.श में विहार करती थी ॥१३॥

एक बार जब वह अपने भवन में बैठी हुई थी, उसके हृदय में विद्याधरों की उदारतापूर्ण कथा सुनने की इच्छा उत्पन्न हुई ॥१४॥

तब उस रानी की प्रार्थना पर सभी लोगों के सामने यौगन्धरायण ने यह कथा कही ॥१५॥

जीमूतवाहनकथा[1]

अस्त्यम्बिकाजनयिता नगेन्द्रो हिमवानिति ।
न केवलं गिरीणां यो गुरुर्गौरीपतेरपि ।।१६।।

विद्याधरनिवासे च तस्मिन्विद्याधराधिपः ।
उवास राजा जीमूतकेतुर्नाम महाचले ।।१७।।

नास्याभूत्कल्पवृक्षश्च गृहे पितृक्रमागतः ।
नाम्नान्वर्थेन विख्यातो यो मनोरथदायकः ।।१८।।

कदाचिच्च स जीमूतकेतू राजाभ्युपेत्य तम् ।
उद्याने दैवतात्मानं कल्पद्रुममयाचत ।।१९।।

सर्वदा प्राप्यतेऽस्माभिस्त्वत्तः सर्वमभीप्सितम् ।
तदपुत्राय मे देहि देव पुत्रं गुणान्वितम् ।।२०।।

ततः कल्पद्रुमोऽवादीद्राजन्नुत्पत्स्यते तव ।
जातिस्मरो दानवीरः सर्वभूतहितः सुतः ।।२१।।

तच्छ्रुत्वा स प्रहृष्टः सन्कल्पवृक्षं प्रणम्य तम् ।
गत्वा निवेद्य तद्राजा निजां देवीमनन्दयत् ।।२२।।

अथ तस्याचिरादेव राज्ञः सूनुरजायत ।
जीमूतवाहनं तं च नाम्ना स विदधे पिता ।।२३।।

ततः सहजया साकं सर्वभूतानुकम्पया ।
जगाम स महासत्त्वो वृद्धिं जीमूतवाहनः ।।२४।।

क्रमाच्च यौवराजस्थः परिचर्याप्रसादितम् ।
लोकानुकम्पी पितरं विजने स व्यजिज्ञपत् ।।२५।।

जानामि तात यद्भावा भवेऽस्मिन्क्षणभङ्गुराः ।
स्थिरं तु महतामेकमाकल्पममलं यशः ।।२६।।

परोपकृतिसम्भूतं तदेव यदि हन्त तत् ।
किमन्यत्स्यादुदाराणां धनं प्राणाधिकप्रियम् ।।२७।।

सम्पच्च विद्युदिव सा लोकलोचनखेदकृत् ।
लोला क्वापि लयं याति या परानुपकारिणी ।।२८।।

---

१. इयमेव कथा श्रीहर्षप्रणीतस्य नागानन्दनाटकस्याधारभूता ।

जीमूतवाहन की कथा

पार्वती का पिता और पर्वतों का राजा हिमालय नाम का पर्वत है, जो गौरी का ही पिता नहीं, गौरीपति शिवजी का भी गुरु (श्वशुर) है ।।१६।।

उस पर्वत में विद्याधरों[1] का निवास है। अतः, उस महान् पर्वत पर जीमूतकेतु नाम का विद्याधरों का राजा निवास करता था ।।१७।।

उसके घर के उद्यान में कुल-परम्परा से एक उद्यान था; जो अपने नाम के अनुसार मनोरथ पूर्ण करने में प्रसिद्ध,था ।।१८।।

किसी समय राजा जीमूतकेतु ने उद्यान में उस कल्पवृक्ष के समीप जाकर देवता-स्वरूप उस वृक्ष प्रार्थना की—।।१६।।

'हे देवस्वरूप, हमलोग सदा से तुम्हारे द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करते आये हैं। इसलिए, मुझ पुत्रहीन को पुत्र प्रदान करो' ।।२०।।

तब कल्पवृक्ष ने कहा—'हे राजन् ! तुम्हें, पूर्वजन्म का स्मरण करनेवाला, प्राणियों का हित करनेवाला और दानवीर पुत्र उत्पन्न होगा' ।।२१।।

यह सुनकर प्रसन्न उस राजा ने यह समाचार रानी को सुनाकर उसे भी प्रसन्न किया ।।२२।।

तदनन्तर, शीघ्र ही राजा जीमूतकेतु के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ और पिता ने उसका नाम जीमूतवाहन रखा ।।२३।।

प्राणियों पर दया के साथ-साथ वह महात्मा बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा ।।२४।।

एक बार युवराज-पद को प्राप्त वह परोपकारी जीमूतवाहन, एकान्त में सेवा से प्रसन्न पिता से बोला—'पिताजी ! इस संसार में जो कुछ भी है, वह सब नश्वर (नाशवान्) है। स्थिर रहनेवाला केवल महान् व्यक्तियों का निर्मल यश ही है ।।२५-२६।।

यदि परोपकार से उत्पन्न यह यश है, तो फिर उदार व्यक्तियों के लिए प्राणों से प्यारा धन क्या है ? ।।२७।।

सम्पत्ति बिजली के समान नश्वर तथा लोगों की आँखों को कष्ट देनेवाली, चंचल और दूसरों को हानि पहुँचानेवाल वस्तु है ।।२८।।

---

१. मन्त्र-तन्त्र-विद्याओं के द्वारा बने हुए देवताओं की एक जाति।

तदेष कल्पविटपी कामदो योऽस्ति नः स चेत् ।
परार्थं विनियुज्येत तदाप्तं तत्फलं भवेत् ॥२९॥
तत्तथाहं करोमीह यथैतस्य समृद्धिभिः ।
अदरिद्रा भवत्येषा सर्वार्थिजनसंहतिः ॥३०॥
इति विज्ञाप्य पितरं तदनुज्ञामवाप्य सः ।
जीमूतवाहनो गत्वा तं कल्पद्रुममब्रवीत् ॥३१॥
देव त्वं शश्वदस्माकमभीष्टफलदायकः ।
तदेकमिदमद्य त्वं मम पूरय वाञ्छितम् ॥३२॥
अदरिद्रां कुरुष्वैतां पृथिवीमखिलां सखे ।
स्वस्त्यस्तु ते प्रदत्तोऽसि लोकाय द्रविणार्थिने ॥३३॥
इत्युक्तस्तेन धीरेण कल्पवृक्षो ववर्ष सः ।
कनकं भूतले भूरि ननन्दुश्चाखिलाः प्रजाः ॥३४॥
दयालुर्बोधिसत्त्वांशः कोऽन्यो जीमूतवाहनात् ।
शक्नुयादर्थिसात्कर्त्तुमपि कल्पद्रुमं कृती ॥३५॥
इति जातानुरागासु ततो दिक्षु विदिक्ष्वपि ।
जीमूतवाहनस्योच्चैः पप्रथे विशदं यशः ॥३६॥
ततः पुत्रप्रथाबद्धमूलं राज्यं समत्सराः ।
दृष्ट्वा जीमूतकेतोस्तद्गोत्रजा विकृतिं ययुः ॥३७॥
दानोपयुक्तसत्कल्पवृक्षमुक्तास्पदं च तत् ।
मेनिरे निष्प्रभावत्वाज्जेतुं सुकरमेव ते ॥३८॥
ततः सम्भूय युद्धाय कृतबुद्धिषु तेषु च ।
पितरं तमुवाचैवं धीरो जीमूतवाहनः ॥३९॥
यथा शरीरमेवेदं जलबुद्बुदसन्निभम् ।
प्रवातदीपचपलास्तथा कस्य कृते श्रियः ॥४०॥
ता अप्यन्योपमर्दैन मनस्वी कोऽभिवाञ्छति ।
तस्मात्तात मया नैव योद्धव्यं गोत्रजैः सह ॥४१॥
राज्यं त्यक्त्वा तु गन्तव्यमितः क्वापि वनं मया ।
आसतां कृपणा एते मा भूत्स्वकुलसंक्षयः ॥४२॥
इत्युक्तवन्तं जीमूतवाहनं स पिता ततः ।
जीमूतकेतुरप्येवं जगाद कृतनिश्चयः ॥४३॥

इसलिए, हमारे यहाँ यह जो वांछित फल देनेवाला कल्पवृक्ष है, उसे यदि परोपकार के लिए प्रयुक्त किया जाय, तो उसकी सफलता हो ॥२९॥

इसलिए, मैं चाहता हूँ कि इस वृक्ष की सम्पत्ति से संसार के समस्त याचक धनी हो जायँ ॥३०॥

पिता से इस प्रकार निवेदन करके और उनकी आज्ञा प्राप्त करके जीमूतवाहन ने कल्पद्रुम से जाकर कहा—॥३१॥

'हे देव ! तुम सर्वदा हमारे अभीष्ट फलों को देते रहो। आज तुम मेरी एक अभिलाषा पूर्ण करो ॥३२॥

हे देव ! तुम इस सारी पृथ्वी को दरिद्रों से रहित कर दो। तुम्हारा कल्याण हो। मैंने तुम्हें धन चाहनेवाले याचकों के लिए दे दिया' ॥३३॥

धैर्यशाली जीमूतवाहन द्वारा इस प्रकार प्रार्थित उस कल्पवृक्ष ने भूमि पर प्रचुर स्वर्ण की वर्षा की और सारी प्रजा प्रसन्न हो गई ॥३४॥

दयालु और बोधिसत्त्व के अंश जीमूतवाहन को छोड़कर और कौन ऐसा उदार है, जो कल्पवृक्ष को भी यांचकों के लिए दे डाले ॥३५॥

इस प्रकार, जीमूतवाहन के प्रति दिग्दिगन्त अनुरागपूर्ण हो गये और जीमूतवाहन का उज्ज्वल तथा महान् यश चारों ओर फैल गया ॥३६॥

तब जीमूतकेतु के राज्य को पुत्र-परम्परा से चलनेवाला देखकर, उसके कुटुम्बियों को ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वे राजा के विरुद्ध हो गये ॥३७॥

दान के लिए उपयोग किये गये कल्पवृक्ष के निःसार हो जाने पर, अतएव राजा को प्रभाव-हीन समझकर उन्होंने उसपर विजय प्राप्त करना आसान समझा ॥३८॥

तदनन्तर, उनके इकट्ठे होकर युद्ध के लिए तैयार हो जाने पर धैर्यशाली जीमूतवाहन ने पिता से कहा—'जैसे यह शरीर जल के बुलबुलों के सामान है, उसी प्रकार आँधी में दीपक के समान यह राजलक्ष्मी किसके उपयोग में आ सकती है। ऐसी अस्थिर लक्ष्मी के लिए कौन बुद्धिमान् आपस में संघर्ष करना चाहता है। इसलिए पिता ! मैं अपने कुटुम्बियों के साथ युद्ध करना नहीं चाहता। सोचता हूँ कि इस राज्य को छोड़कर कहीं वन में चला जाना चाहिए। ये बेचारे राज्य भोगें और अपने कुल का भी क्षय न हो, ऐसा कहते हुए जीमूतवाहन को पिता जीमूतकेतु ने निश्चय करके कहा—॥३९–४३॥

मयापि पुत्र गन्तव्यं का हि वृद्धस्य मे स्पृहा ।
राज्ये तृण इव त्यक्ते यूनापी कृपया त्वया ।।४४।।
एवमुक्तवता साकं सभार्येण तथेति सः ।
पित्रा जगाम जीमूतवाहनो मलयाचलम् ।।४५।।
तत्राधिवासे सिद्धीनां चन्दनच्छन्ननिर्झरे ।
स तस्थावाश्रमपदे परिचर्यापरः पितुः ।।४६।।
अथ सिद्धाधिराजस्य वशी विश्वावसोः सुतः ।
मित्रं मित्रावसुर्नाम तस्यात्र समपद्यत ।।४७।।
तत्स्वसारं च सोऽपश्यदेकान्ते जातु कन्यकाम् ।
जन्मान्तरप्रियतमां ज्ञानी जीमूतवाहनः।।४८।।
तत्कालं च तयोस्तुल्यं यूनोरन्योन्यदर्शनम् ।
अभून्मनोमृगामन्दवागुराबन्धसन्निभम् ।।४९।।
ततोऽकस्मात्समभ्येत्य त्रिजगत्पूज्यमेकदा ।
जीमूतवाहनं प्रीतः स मित्रावसुरभ्यधात् ।।५०।।
कन्या मलयवत्याख्या स्वसा मेऽस्ति कनीयसी ।
तामहं ते प्रयच्छामि ममेच्छां मान्यथा कृथाः ।।५१।।
तच्छ्रुत्वैव स जीमूतवाहनोऽपि जगाद तम् ।
युवराज ममाभूत्सा भार्या पूर्वेऽपि जन्मनि ।।५२।।
त्वं च तत्रैव मे जातो द्वितीयं हृदयं सुहृत् ।
जातिस्मरोऽस्म्यहं सर्वं पूर्वजन्म स्मरामि तत् ।।५३।।
इत्युक्तवन्तं तत्कालमित्रावसुरुवाच तम् ।
जन्मान्तरकथां तावच्छंसैतां कौतुकं हि मे ।।५४।।
एतन्मित्रावसोः श्रुत्वा तस्मै जीमूतवाहनः ।
सुकृती कथयामास पूर्वजन्मकथामिमाम् ।।५५।।

जीमूतवाहनस्य पूर्वजन्मकथा

अस्ति पूर्बमहं व्योमचारी विद्याधरोऽभवम् ।
हिमवच्छृङ्गमार्गेण गतोऽभूवं कदाचन ।।५६।।
ततश्चाधः स्थितस्तत्र क्रीडन्गौर्या समं हरः ।
शशापोल्लङ्घनक्रुद्धो मर्त्ययोनौ पतेति माम् ।।५७।।

बेटा ! मैं भी कहीं वन में जाना चाहता हूँ । मुझ वृद्ध की अब कौन-सी चाह शेष रह गई है, जबकि युवक होकर तुम राज्य को तृण के समान त्याग रहे हो' ।।४३-४४।।

पत्नी के साथ राजा के इस प्रकार कहने पर जीमूतवाहन पिता के साथ मलयाचल को चला गया ।।४५।।

चन्दन-वृक्षों से आवृत झरनोंवाले और सिद्ध-महात्माओं के निवासस्थान मलयाचल में वह आश्रम बनाकर पिता की सेवा में तत्पर हो गया ।।४६।।

वहाँ सिद्धों के राजा विश्वावसु का पुत्र मित्रावसु जीमूतवाहन का मित्र बन गया । ज्ञानी जीमूतवाहन ने अपने मित्र विश्वावसु की बहिन को किसी समय एकान्त में देखा जो पूर्वजन्म में उसकी प्यारी पत्नी थी ।।४७-४८।।

उस समय उन दोनों युवकों का परस्पर दर्शन, मन-रूपी मृग का दृढ बन्धन करने में रस्सी के समान हुआ—अर्थात् दोनों ही दोनों के प्रति प्रेम-बन्धन में बँध गये ।।४९।।

कुछ समय के अनन्तर तीनों लोक के पूज्य जीमूतवाहन के समीप आकर मित्रावसु प्रसन्नतापूर्वक बोला—।।५०।।

'मित्र ! मलयवती नाम की मेरी छोटी बहिन है । उसे मैं तुम्हें देता हूँ । तुम मना न करना' ।।५१।।

यह सुनते ही जीमूतवाहन भी बोला कि 'युवराज ! पूर्वजन्म में भी वह मेरी पत्नी थी और उसी जन्म में तुम मेरे दूसरे हृदय के समान मित्र थे ।।५२।।

मैं पूर्वजन्म का ज्ञानी हूँ । इसलिए अपने, तुम्हारे और उसके पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मरण करता हूँ' ।।५३।।

इस प्रकार कहते हुए जीमूतवाहन को मित्रावसु ने कहा कि 'पूर्वजन्म की कथा सुनाओ ! उसे सुनने की मेरी बहुत इच्छा है' ।।५४।।

जीमूतवाहन के पूर्वजन्म की कथा

मित्रावसु से यह सुनकर जीमूतवाहन ने पूर्वजन्म की कथा उसके लिए कहनी प्रारम्भ की ।।५५।।

मैं पूर्वजन्म में आकाश में विचरण करनेवाला विद्याधर था । किसी समय उड़ते-उड़ते मैं हिमालय के शिखर का उल्लंघन कर गया । उस शिखर के नीचे शिवजी पार्वती के साथ विहार कर रहे थे ।।५६।।

इस प्रकार शिखर-लंघन से क्रुद्ध शिवजी ने मुझे शाप दिया कि 'मर्त्ययोनि में तेरा पतन हो' ।।५७।।

प्राप्य विद्याधरीं भार्यां नियोज्य स्वपदे सुतम् ।
पुनर्वैद्याधरीं योनिं स्मृतजातिः प्रपत्स्यते ॥५८॥
एवं निशम्य शापान्तमुक्त्वा शर्वे तिरोहिते ।
अचिरेणैव जातोऽहं भूतले वणिजां कुले ॥५९॥
नगर्यां वलभीनाम्न्यां महाधनवणिक्सुतः ।
वसुदत्ताभिधानः सन्वृद्धिं च गतवानहम् ॥६०॥
कालेन यौवनस्थश्च पित्रा कृतपरिच्छदः ।
द्वीपान्तरं गतोऽभूवं वणिज्यायै तदाज्ञया ॥६१॥
आगच्छन्तं ततोऽटव्यां तस्करा विनिपत्य माम् ।
हृतस्वमनयन्बद्ध्वा स्वपत्नीं चण्डिकागृहम् ॥६२॥
विलोलदीर्घया घोरं रक्तांशुकपताकया ।
जिघत्सतः पशुप्राणान् कृतान्तस्येव जिह्वया ॥६३॥
तत्राहमुपहारार्थमुपनीतो निजस्य तैः ।
प्रभोः पुलिन्दकाख्यस्य देवीं पूजयतोऽन्तिकम् ॥६४॥
स दृष्ट्वैवार्द्रहृदयः शबरोऽप्यभवन्मयि ।
वक्ति जन्मान्तरप्रीतिं मनः स्निह्यदकारणम् ॥६५॥
ततो मां मोचयित्वैव वधात्स शबराधिपः ।
ऐच्छदात्मोपहारेण कर्त्तुं पूजासमापनम् ॥६६॥
मैवं कृथाः प्रसन्नास्मि तव याचस्व मां वरम् ।
इत्युक्तो दिव्यया वाचा प्रहृष्टश्च जगाद सः ॥६७॥
त्वं प्रसन्ना वरः कोऽन्यस्तथात्येतावदर्थये ।
जन्मान्तरेऽपि मे सख्यमनेन वणिजास्त्विति ॥६८॥
एवमस्त्विति शान्तायां वाचि मां शबरोऽथ सः ।
प्रदत्तसविशेषार्थं प्रजिघाय निजं गृहम् ॥६९॥
मृत्योर्मुखात्प्रवासाच्च ततः प्रत्यागते मयि ।
अकरोज्ज्ञातवृत्तान्तः पिता मम महोत्सवम् ॥७०॥
कालेन तत्र चापश्यमहं सार्थविलुण्ठनात् ।
वष्टभ्यानायितं राज्ञा तमेव शबराधिपम् ॥७१॥
तत्क्षणं पितुरावेद्य विज्ञप्य च महीपतिम् ।
मोचितः स्वर्णलक्षेण स मया वधनिग्रहात् ॥७२॥

'विद्याधरी पत्नी को प्राप्त करके अपने स्थान पर अपने पुत्र को बैठाकर पूर्वजन्म का स्मरण करते हुए पुनः विद्याधर-योनि प्राप्त करोगे' ॥५८॥

इस प्रकार शाप का अन्त कहकर शिवजी के अन्तर्धान होने पर मैं पृथ्वी पर वलभी नाम की नगरी में बड़े ही धनी वैश्यकुल में वसुदत्त नाम से उत्पन्न हुआ और बड़ा हुआ ॥५६-६०॥

कुछ समय के पश्चात् युवावस्था में पिता के तैयार कर देने पर मैं उनकी आज्ञा से व्यापार के लिए दूसरे द्वीप में गया ॥६१॥

वहाँ से लौटते हुए मुझे जंगल में लुटेरों ने गिराकर पकड़ लिया। वे मेरा सब कुछ छीनकर और मुझे बाँधकर अपने गाँव के चण्डिका मन्दिर में ले गये ॥६२॥

उस चण्डिका-गृह में, लाल रंग की लम्बी-लम्बी झण्डियाँ, मानों पशुओं के प्राणों का भक्षण करने की इच्छावाले काल की लपलपाती हुई जीभ के समान मालूम हो रही थीं ॥६३॥

उस मन्दिर में, बलिदान करने के लिए वे लुटेरे, मुझे देवी के पूजक पुलिन्दक नामक अपने सरदार के पास ले गये ॥६४॥

वह पुलिन्दक जंगली भिल्ल होते हुए भी मुझे देखते ही दया से पिघल गया। विना कारण ही स्नेह करनेवाला मन, पूर्वजन्म के प्रेम-सम्बन्ध को बताता है ॥६५॥

तब उस भील ने मुझे बलिदान से बचाकर अपनी बलि देकर देवी को प्रसन्न करना चाहा ॥६६॥

'ऐसा न करो, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। वर माँगो।' इस प्रकार आकाशवाणी से कहा गया वह भीलराज बोला–'हे देवि, तू प्रसन्न है तो और क्या वर माँगू, इस वैश्य के साथ अगले जन्म में भी मेरी मित्रता बनी रहे, यही वर दो' ॥६७-६८॥

'ऐसा ही हो'—इस प्रकार वर देकर वाणी के बन्द हो जाने पर उस भील ने मेरे धन से भी अधिक धन देकर मुझे अपने घर भेज दिया ॥६६॥

इस प्रकार, लम्बी यात्रा और मृत्यु के मुख से मेरे लौटकर आने पर, समस्त वृत्तान्त जानकर मेरे पिता ने, प्रसन्नता में भारी उत्सव किया ॥७०॥

कुछ समय के अनन्तर मैंने अपने नगर में व्यापारियों को लूट लेने के कारण राजा द्वारा पकड़वाकर लाये गये उन लुटेरों के सरदार भीलराज को देखा ॥७१॥

उसी समय मैंने पिता से कहकर, राजा को सूचित कर और एक लाख स्वर्ण-मुद्रा देकर उस भीलराज को प्राणदण्ड से बचा लिया ॥७२॥

प्राणदानोपकारस्य कृत्वैवं प्रत्युपक्रियाम् ।
आनीय च गृहं प्रीत्या पूर्णं सम्मानितश्चिरम् ॥७३॥
सत्कृत्य प्रेषितश्चाथ हृदयं प्रेमपेशलम् ।
निधाय मयि पल्लीं स्वां प्रायात्स शबराधिपः ॥७४॥
तत्र प्रत्युपकारार्थं चिन्तयन्प्राभृतं मम ।
स्वल्पं स मेने स्वाधीनं मुक्ताकस्तूरिकाद्यपि ॥७५॥
ततः सातिशयं प्राप्तं मुक्तासारं स मत्कृते ।
धनुर्द्वितीयः प्रययौ गजान् हन्तुं हिमाचलम् ॥७६॥
भ्रमंश्च तत्र तीरस्थदेवागारं महत्सरः ।
प्राप तुल्यैः कृतप्रीतिस्तदब्जैर्मित्ररागिभिः ॥७७॥
तत्राशङ्क्याम्बुपानार्थमागमं वन्यहस्तिनाम् ।
छन्न. स तस्थावेकान्ते सचापस्तज्जिघांसया ॥७८॥
तावत्तत्र सरस्तीरगतं पूजयितुं हरम् ।
आगतामद्भुताकारां कुमारीं सिंहवाहनाम् ॥७९॥
स ददर्श तुषाराद्रिराजपुत्रीमिवापराम् ।
परिचर्यापरां शम्भोः कन्यकाभाववर्त्तिनीम् ॥८०॥
दृष्ट्वा च विस्मयाक्रान्तः शबरः स व्यचिन्तयत् ॥
केयं स्याद्यदि मर्त्यस्त्री तत्कथं सिंहवाहना ॥८१॥
अथ दिव्या कथं दृश्या मादृशैस्तदियं ध्रुवम् ।
चक्षुषोः पूर्वपुण्यानां मूर्त्ता परिणतिर्मम ॥८२॥
कन्यया यदि मित्रं ते योजयेयमहं ततः ।
काप्यन्यैव मया तस्य कृता स्यात्प्रत्युपक्रिया ॥८३॥
तदेतामुपसर्पामि तावज्जिज्ञासितुं वरम् ।
इत्यालोच्य स मित्रं मे शबरस्तामुपाययौ ॥८४॥
तावच्च सावतीर्यैव सिंहाच्छायानिषादिनः ।
कन्यागत्य सरः पद्मान्यवचेतुं प्रचक्रमे ॥८५॥
तं च दृष्ट्वान्तिकप्राप्तं शबरं सा कृतानतिम् ।
अपूर्वमतिथिप्रीत्या स्वागते नान्वरञ्जयत् ॥८६॥
कस्त्वं किं चागतोऽस्यैतां भूमिमत्यन्तदुर्गमाम् ।.
इति पृष्टवतीं तां च शबरः प्रत्युवाच सः ॥८७॥

मैंने अपने प्राणदान का बदला इस प्रकार चुकाकर और प्रेम से भीलराज को अपने घर लाकर उसका बहुत दिनों तक स्वागत-सत्कार किया ।।७३।।

अन्त में उसका समुचित सत्कार करके उसे घर भेज दिया। वह भीलराज भी अपना प्रेमपूर्ण हृदय देकर अपने गाँव की ओर गया ।।७४।।

घर जाकर मेरा प्रत्युपकार करने (बदला देने) के लिए अपने समीप के मोती, कस्तूरी आदि को भी उसने पर्याप्त नहीं समझा ।।७५।।

इसलिए, मेरे लिए बहुमूल्य और दुर्लभ गजमुक्ता[1] प्राप्त करने के लिए वह धनुष-बाण के साथ हिमाचल को गया ।।७६।।

वहाँ घूमते हुए उसने देवमन्दिर के साथ एक बड़े तालाब को देखा, जहाँ मित्र, अर्थात् सूर्य से प्रीति रखनेवाले खिले कमलों को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ ।।७७।।

उस तालाब में पानी पीने के लिए आनेवाले हाथियों की आशा से उन्हें मारने के लिए धनुष लिये हुए वह एकान्त में वहीं छिप गया ।।७८।।

छिपकर उसने देखा कि एक अद्भुत सुन्दरी कुमारी, शिव-पूजन के लिए सिंह पर सवार होकर तालाब पर आई ।।७९।।

वह भीलराज, शिवजी की पूजा के लिए कन्या के रूप में आई हुई दूसरी हिमाचल-नन्दिनी पार्वती के समान उसे देखकर आश्चर्यचकित हो, मन में सोचने लगा कि 'यह कौन कन्या है, यदि मानव-कन्या है, तो वह सिंहवाहिनी कैसे, यदि देवकन्या है, तो मुझ-जैसे लोग इसे कैसे देख सकते हैं ?' अतः, अवश्य ही यह मेरी आँखों के पूर्व-पुण्यों की शरीरधारिणी मूर्त्ति है ।।८०-८२।।

यदि इस सुन्दरी से मैं अपने मित्र वसुदत्त का सम्बन्ध करा दूँ, तो यह उसका समुचित प्रत्युपकार हो सकता है ।।८३।।

'इसलिए, इसकी इच्छा जानने के लिए मैं इसके समीप जाता हूँ'— यह सोचकर वह मित्र उसके पास गया ।।८४।।

तब वह कन्या, छाया में बैठे हुए शेर से उतरकर पूजा के लिए पुष्प-चयन करने तालाब में उतरी ।।८५।।

उस कन्या ने, पास आकर प्रणाम करते हुए, प्रथम बार ही देखे हुए भिल्लराज को, अतिथि-प्रेम के कारण स्वागत करते हुए प्रसन्न किया— और पूछा, 'तू कौन है तथा इस दुर्गम भूमि में कैसे आया है ?' उसके इस प्रकार पूछने पर भीलराज बोला—।।८६-८७।।

---

१. गज=हाथी, मुक्ता=मोती। हाथी के मस्तक से निकला मोती बहुमूल्य और कल्याणकारी होता है।

अहं भवानीपादैकशरणः शबराधिपः ।
आगतोऽस्मि च मातङ्गमुक्ताहेतोरिदं वनम् ॥८८॥
त्वां च दृष्ट्वाधुनात्मीयो देवि प्राणप्रदः सुहृत् ।
सार्थवाहसुतः श्रीमान् वसुदत्तो मया स्मृतः ॥८९॥
स हि त्वमिव रूपेण यौवनेन च सुन्दरि ।
अद्वितीयोऽस्य विश्वस्य नयनामृतनिर्झरः ॥९०॥
सा धन्या कन्यका लोके यस्यास्तेनेह गृह्यते ।
मैत्रीदानदयाधैर्यनिधिना कङ्कणी करः ॥९१॥
तत्त्वदाकृतिरेषा चेत्तादृशेन न युज्यते ।
व्यर्थं वहति तत्कामः कोदण्डमिति मे व्यथा ॥९२॥
इति व्याधेन्द्रवचनैः सद्योऽपहृतमानसा ।
साभूत्कुमारीं कन्दर्पमोहमन्त्राक्षरैरिव ॥९३॥
उवाच तं च शबरं प्रेर्यमाणा मनोभुवा ।
क्व स ते सुहृदानीय तावन्मे दर्श्यतामिति ॥९४॥
तच्छ्रुत्वा च तथेत्युक्त्वा तामामन्त्र्य तदैव सः ।
कृतार्थमानी मुदितः प्रतस्थे शबरस्ततः ॥९५॥
प्राप्य स्वपल्लीमादाय मुक्तामृगमदादिकम् ।
भूरि भारशतैर्हार्यमस्मद्गृहमथाययौ ॥९६॥
सर्वैः पुरस्कृतस्तत्र प्रविश्य प्राभृतं च तत् ।
मत्पित्रे स बहुस्वर्णलक्षमूल्यं न्यवेदयत् ॥९७॥
उत्सवेन च यातेऽस्मिन्दिने रात्रौ स मे रहः ।
कन्यादर्शनवृत्तान्तं तमामूलादवर्णयत् ॥९८॥
एहि तत्रैव गच्छाव इत्युक्त्वा च समुत्सुकम् ।
मामादाय निशि स्वैरं स प्रायाच्छबराधिपः ॥९९॥
प्रातश्च मां गतं क्वापि बुद्ध्वा सशबराधिपम् ।
तत्प्रीतिप्रत्ययात्तस्थौ धृतिमालम्ब्य मत्पिता ॥१००॥
अहं च प्रापितोऽभूवं क्रमात्तेन तरस्विना ।
शबरेण तुषाराद्रिं कृताध्वपरिकर्मणा ॥१०१॥
तच्च प्राप्यः सरः सायं स्नात्वा स्वादुफलाशनौ ।
अहं च स च तामेकां वने तत्रोषितौ निशाम् ॥१०२॥
लताभिः कीर्णकुसुमं भृङ्गीसङ्गीतसुन्दरम् ।
शुभगन्धवहं हारि ज्वलितौषधिदीपिकम् ॥१०३॥

'मैं भवानीभक्त शबरराज हूँ। गजमुक्ता लेने के हेतु इस जंगल में आया हूँ, तुम्हें देखकर मुझे अपना एक जीवनाधार आत्मीय मित्र स्मरण आ गया, जो एक बड़े व्यापारी और धनी का पुत्र है, उसका नाम वसुदत्त है' ।।८८-८९।।

'हे सुन्दरि ! वह रूप और यौवन में तुम्हारे ही समान सुन्दर है। आँखों के लिए मानों अमृत का झरना है, एसा पुरुष इस विश्व में दूसरा नहीं है ।।९०।।

इस संसार में वह लड़की धन्य होगी, जिसका वह पाणिग्रहण करेगा। वह मित्रता, दया, दान और धैर्य का समुद्र है ।।९१।।

यदि तुम्हारी ऐसी सुन्दर आकृति उसे न मिली, तो कामदेव का धनुष-बाण धारण करना ही व्यर्थ हो जायगा। इसका मुझे दुःख है ।।९२।।

इस प्रकार, कामदेव के मोहन-मन्त्रों के समान भीलराज के वचनों से वह कुमारी तुरन्त अन्यमनस्क हो उठी ।।९३।।

साथ ही, कामदेव से प्रेरित हो उस भील से बोली कि 'तुम्हारा वह मित्र कहाँ है, उसे लाकर दिखाओ' ।।९४।।

यह सुनकर और 'अच्छा लाता हूँ'— कहकर वह भील अपने को सफल समझता हुआ प्रसन्नता से चला ।।९५।।

तदनन्तर, अपने घर आकर मोती, कस्तूरी आदि के सैकड़ों बोझे लदवाकर वह वसुदत्त के घर पहुँचा ।।९६।।

वहाँ सभी लोगों द्वारा स्वागत किये गये भीलराज ने, कई लाख मुद्राओं के मूल्य के उस उपहार को वसुदत्त के पिता को भेंट किया ।।९७।।

हँसी-खुशी में दिन व्यतीत होने पर रात्रि में एकान्त के समय, भीलराज ने मेरे पास आकर कन्या को देखने का समस्त वृत्तान्त प्रारम्भ से सुनाया और कहा कि 'चलो, वहीं चलें'—ऐसा कहकर रात्रि में ही मुझे साथ लेकर भीलराज चल पड़ा ।।९८-९९।।

प्रातःकाल ही भीलराज के साथ मुझे कहीं चला गया जानकर मेरे पिता ने, भीलराज से विश्वस्त होकर धैर्यपूर्वक दिन व्यतीत किये ।।१००।।

शीघ्र चलनेवाले उस भीलराज ने, मार्ग में मेरी सहायता करते हुए मुझे हिमालय पर पहुँचा दिया ।।१०१।।

मैं और वह दोनों सायंकाल उस तालाब पर पहुँचे और स्नान करके स्वादिष्ठ फल खाकर उस रात वहीं सो गये। वह सुन्दर स्थान खिले हुए विविध पुष्पों से सुगन्धित, भ्रमरियों के संगीत से आकर्षक और रात्रि में जलनेवाली औषधियों से आलोकित था ।।१०२-१०३।।

रतेस्तद्वासवेश्मेव विश्रान्त्यै गिरिकाननम् ।
आवयोरभवन्नक्तं पिबतोस्तत्सरोजलम् ॥१०४॥
ततोऽन्येद्युः प्रतिपदं तत्तदुत्कलिकाभृता ।
प्रत्युद्गतेव मनसा मम तन्मार्गधाविना ॥१०५॥
चक्षुषा दक्षिणेनापि सूचितागमनामुना ।
दिदृक्षयेव स्फुरता सा कन्यात्रागताभवत् ॥१०६॥
सटालसिंहपृष्ठस्था सुभ्रूर्दृष्टा मया च सा ।
शरदम्भोधरोत्सङ्गसङ्गिनीवैन्दवी कला ॥१०७॥
विलसद्विस्मयौत्सुक्यसाध्वसं पश्यतश्च ताम् ।
ममावर्त्तत तत्कालं न जाने हृदयं कथम् ॥१०८॥
अथावतीर्य सिंहात्सा पुष्पाण्युच्चित्य कन्यका ।
स्नात्वा सरसि तत्तीरगतं हरमपूजयत् ॥१०९॥
पूजावसाने चोपेत्य स सखा शबरो मम ।
प्रणम्यात्मानमावेद्य तामवोचत् कृतादराम् ॥११०॥
आनीतः स मया देवी सुहृद्योग्यो वरस्तव ।
मन्यसे यदि तत्तुभ्यं दर्शयाम्यधुनैव तम् ॥१११॥
तच्छ्रुत्वा दर्शयेत्युक्ते तया स शबरस्ततः ।
आगत्य निकटं नीत्वा मां तस्याः समदर्शयत् ॥११२॥
सापि मां तिर्यगालोक्य चक्षुषा प्रणयस्नुता ।
मदनावेशवशगा शबरेशं तमभ्यधात् ॥११३॥
सखा ते मानुषो नायं कामं कोऽप्ययमागतः ।
मद्वञ्चनाय देवोऽद्य मर्त्यस्यैषाकृतिः कुतः ॥११४॥
तदाकर्ण्योक्तवानस्मि तां प्रत्याययितुं स्वयम् ।
सत्यं सुन्दरि मर्त्योऽहं किं व्याजेनार्जवे जने ॥११५॥
अहं हि सार्थवाहस्य वलभीवासिनः सुतः ।
महाधनाभिधानस्य महेश्वरवराजितः ॥११६॥
तपस्यन्स हि पुत्रार्थमुद्दिश्य शशिशेखरम् ।
समादिश्यत तेनैवं स्वप्ने देवेन तुष्यता ॥११७॥
उत्तिष्ठोत्पत्स्यते कोऽपि महात्मा तनयस्तव ।
रहस्यं परमं चैतदलमुक्त्वात्र विस्तरम् ॥११८॥

वह पर्वतीय प्रदेश, उस सरोवर के निर्मल जल को पीते हुए लोगों के विश्राम के लिए रति के निवास-स्थान के समान सुखद हुआ ।।१०४।।

दूसरे दिन, प्रातःकाल विविध प्रकार की उत्कण्ठाओं के कारण उछलते हुए और उस कन्या के मार्ग पर दौड़ते हुए मन से तथा उसे देखने की इच्छा से फड़कते हुए दाहिने नेत्र से उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि इतने में वह वहाँ आ गई। लहराते अयालवाले सिंह की पीठ पर बैठी उस सुभ्रू को मैंने देखा, जो शरद् के मेघ की गोद में चमकती चन्द्रकला की तरह लग रही थी। विस्मय, उत्सुकता और भय से उसे देखते हुए हृदय जाने क्यों धड़कने लगा ।।१०५–१०८।।

वह कन्या वहाँ आकर, तालाब में स्नान कर पुष्प-चयन करने लगी। और, तत्पश्चात् वह उस तालाब के तीर पर स्थित शिवजी के मन्दिर में जाकर उसका पूजन करने लगी ।।१०९।।

पूजा समाप्त होने पर वह मेरा मित्र भील उसके समीप जाकर प्रणामपूर्वक अपना परिचय देने के पश्चात् स्वागत करती हुई उस कन्या से बोला—।।११०।।

'हे देवि, मैं तुम्हारे अनुरूप वर, उस मित्र को लाया हूँ। यदि तुम चाहो, तो उसे अभी तुम्हें दिखा दूँ' ।।१११।।

यह सुनकर 'दिखाओ'––उसके ऐसा कहने पर वह भील मेरे पास आया और उसने मुझे ले जाकर उसे दिखाया ।।११२।।

परिणामस्वरूप वह भी मुझे प्रेम बरसाती हुई तिरछी आँखों से देखकर काम के वशीभूत होकर भीलराज से बोली––।।११३।।

'यह तुम्हारा मित्र मनुष्य नहीं, कोई देवता है, जो मुझे ठगने के लिए आया है; क्योंकि मनुष्य की ऐसी आकृति कहाँ हो सकती है' ।।११४।।

यह सुनकर उसे विश्वास दिलाने के लिए मैंने स्वयं ही कहा—'हे सुन्दरि ! मैं सचमुच मनुष्य हूँ। तुम्हारे समान सरल मनुष्य से ठगी करने से क्या लाभ है। मैं वलभी के रहनेवाले महाधन नामक व्यापारी का पुत्र हूँ; जो शिवजी की आराधना से उत्पन्न हुआ हूँ ।।११५-११६।।

मेरे पिता ने पुत्र-प्राप्ति के लिए शिवजी की तपस्या की थी और स्वप्न में शिवजी ने प्रसन्न होकर आदेश दिया था कि तुम तपस्या से उठो, एक महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा। यही मेरी उत्पत्ति का रहस्य है और अधिक कहना व्यर्थ है ।।११७-११८।।

एतच्छ्रुत्वा प्रबुद्धस्य तस्य कालेन चात्मजः ।
अहमेष समुत्पन्नो वसुदत्त इति श्रुतः ॥११९॥
अयं च शबराधीशः स्वयंवरसुहृन्मया ।
देशान्तरगतेन प्राक्प्राप्तः कृच्छ्रैकबान्धवः ॥१२०॥
एष मे तत्त्वसंक्षेप इत्युक्त्वा विरते मयि ।
अभाषताथ कन्या सा लज्जयावनतानना ॥१२१॥
अस्त्येतन्मां च जानेऽद्य स्वप्नेऽर्चितवतीं हरः ।
प्रातः प्राप्स्यसि भर्तारमिति तुष्टः किलादिशत् ॥१२२॥
तस्मात्त्वमेव मे भर्ता भ्रातायं च भवत्सुहृत् ।
इति वाक्सुधया स मामानन्द्य विरताभवत् ॥१२३॥
सम्मन्त्र्याथ तया साकं विवाहाय यथाविधि ।
अकार्षं निश्चयं गन्तुं समित्रोऽहं निजं गृहम् ॥१२४॥
ततः सा सिंहमाहूय वाहनं तं स्वसंज्ञया ।
अत्रारोहार्यपुत्रेति मामभाषत सुन्दरी ॥१२५॥
अथाहं तेन सुहृदानुयातः शबरेण तम् ।
सिंहमारुह्य दयितामुत्सङ्गे तां गृहीतवान् ॥१२६॥
ततः प्रस्थितवानस्मि कृतकृत्यो निजं गृहम् ।
कान्तया सह सिंहस्थो मित्रे तस्मिन्पुरःसरे ॥१२७॥
तदीयशरनिर्भिन्नहरिणामिषवृत्तयः ।
क्रमेण ते वयं सर्वे सम्प्राप्ता वलभीं पुरीम् ॥१२८॥
तत्र मामागतं दृष्ट्वा सिंहारूढं सवल्लभम् ।
साश्चर्यस्तद्द्रुतं गत्वा मम पित्रेऽब्रवीज्जनः ॥१२९॥
सोऽपि प्रत्युद्गतो हर्षादवतीर्णं मृगेन्द्रतः ।
पादावनम्रं दृष्ट्वा मामभ्यनन्दत् सविस्मयः ॥१३०॥
अनन्यसदृशीं तां च कृतपादाभिवन्दनाम् ।
पश्यन्ममोचितां भार्यां न माति स्म मुदा क्वचित् ॥१३१॥
प्रवेश्य मन्दिरं चास्मान् वृत्तान्तं परिपृच्छ्य च ।
प्रशंसन्शबराधीशसौहार्दं चोत्सवं व्यधात् ॥१३२॥
ततो मौहूर्त्तिकादेशादन्येद्युर्वरकन्यका ।
सा मया परिणीताऽभून्मिलिताखिलबन्धुना ॥१३३॥

यह आदेश सुनकर उठे हुए अपने पिता के यहाँ मैं पुत्र-रूप में उत्पन्न हुआ। मेरा नाम वसुदत्त है और भिल्लराज मेरा स्वयं वरण किया हुआ कठिन समय का मित्र है ।।११९-१२०।।

संक्षेप में यह मेरा तत्त्व है।' ऐसा कहकर मेरे चुप हो जाने पर लज्जा से नीचे की ओर मुँह करके वह कन्या कहने लगी—'यह ठीक है। आज मैंने स्वप्न में शिवजी की पजा की, तो उन्होंने प्रसन्न होकर वरदान दिया कि तुम प्रातःकाल ही अपने वर (पति) को प्राप्त करोगी ।।१२१-१२२।।

इसलिए, तुम्हीं मेरे पति हो और तुम्हारा यह मित्र मेरा भाई है।' इस प्रकार वाणी-रूपी अमृत से वह कन्या मेरा अभिनन्दन करके चुप हो गई ।।१२३।।

तदनन्तर, विधिपूर्वक विवाह के लिए उससे परामर्श करके मैंने मित्र के साथ अपने घर चलने का निश्चय किया ।।१२४।।

तब उस कन्या ने, संकेत-मात्र से अपने वाहन सिंह को पास बुलाया और वसुदत्त से कहा कि 'आर्यपुत्र ! आप सिंह पर सवार हों' ।।१२५।।

मैं भी अपने मित्र भील के साथ उस सिंह पर बैठा और गोद में अपनी प्रियतमा को बैठा लिया ।।१२६।।

वहाँ से सफलमनोरथ होकर मैं अपनी पत्नी और मित्र के साथ सिंह पर बैठा हुआ घर की ओर चला और शबर आगे-आगे मार्ग बताता हुआ चला ।।१२७।।

भील के बाणों से मारे गये हरिणों के मांस से जीवन-रक्षा करते हुए हमलोग क्रमशः वलभी नगरी में पहुँचे ।।१२८।।

उस नगरी में सिंह पर चढ़े और पत्नी के साथ मुझे आये हुए देखकर आश्चर्यचकित परिचित नागरिकों ने मेरे पिता से कहा ।।१२९।।

वे सब प्रसन्न होकर मेरी अगवानी को आये और सिंह से उतरकर उनके चरणों में प्रणाम के लिए झुके हुए मुझे उन्होंने आशीर्वाद दिया ।।१३०।।

अनुपम सुन्दरी मेरी उस पत्नी को भी चरणों पर प्रणाम करते हुए देखकर और उसे मेरे अनुरूप भार्या समझकर वे (पिताजी) हर्ष से फूले न समाये ।।१३१।।

वे हमलोगों को लेकर घर के अन्दर गये। वहाँ जाकर सब समाचार सुनकर उन्होंने भीलराज की प्रशंसा करते हुए बहुत बड़ा उत्सव मनाया ।।१३२।।

तदनन्तर, दूसरे दिन, ज्योतिषी से मुहूर्त्त निकलवाकर सभी बन्धु-बान्धवों के साथ मिलकर मैंने उस कन्या के साथ विधिपूर्वक विवाह किया ।।१३३।।

तदालोक्य च सोऽकस्माद् मद्वधूवाहनस्तदा ।
सिंहः सर्वेषु पश्यत्सु सम्पन्नः पुरुषाकृतिः ॥१३४॥
किमेतदिति विभ्रान्ते जने तत्र स्थितेऽखिले ।
स दिव्यवस्त्राभरणो नमन्मामेवमब्रवीत् ॥१३५॥
अहं चित्राङ्गदो नाम विद्याधर इयं च मे ।
सुता मनोवती नाम कन्या प्राणाधिकप्रिया ॥१३६॥
एतामङ्के सदा कृत्वा विपिनेन भ्रमन्नहम् ।
प्राप्तवानेकदा गङ्गां भूरितीरतपोवनाम् ॥१३७॥
तपस्विलङ्घनत्रासात्तस्या मध्येन गच्छतः ।
अपतन्मम दैवाच्च पुष्पमाला तदम्भसि ॥१३८॥
ततोऽकस्मात्समुत्थाय नारदोऽन्तर्जलस्थितः ।
पृष्ठे तया पतितया क्रुद्धो मामशपन्मुनिः ॥१३९॥
औद्धत्येनामुना पाप गच्छ सिंहो भविष्यसि ।
हिमाचले गतश्चैतां सुतां पृष्ठेन वक्ष्यसि ॥१४०॥
यदा च मानुषेणैषा सुता ते परिणेष्यते ।
तदा तद्दर्शनादेव शापादस्माद् विमोक्ष्यसे ॥१४१॥
इत्यहं मुनिना शप्तः सिंहीभूय हिमाचले ।
अतिष्ठं तनयामेतां हरपूजापरां वहन् ॥१४२॥
अनन्तरं यथा यत्नाच्छबराधिपतेरिदम् ।
सम्पन्नं सर्वकल्याणं तथा विदितमेव ते ॥१४३॥
तत्साधयामि भद्रं वस्तीर्णः शापो मयैष सः ।
इत्युक्त्वा सोऽभ्युदपतत्सद्यो विद्याधरो नभः ॥१४४॥
ततस्तद्विस्मयाक्रान्तो नन्दत्स्वजनबान्धवः ।
श्लाघ्यसम्बन्धहृष्टो मे पिताकार्षीन्महोत्सवम् ॥१४५॥
को हि निर्व्याजमित्राणां चरितं चिन्तयिष्यति ।
सुहृत्सु नैव तृप्यन्ति प्राणैरप्युपकृत्य ये ॥१४६॥
इति चात्र न को नाम सचमत्कारमभ्यधात् ।
ध्यायं ध्यायमुदारं तच्छबराधिपचेष्टितम् ॥१४७॥
राजापि तत्तथा बुद्ध्वा तत्रत्यस्तस्य सन्मतेः ।
अतुष्यदस्मत्स्नेहेन शबराधिपतेः परम् ॥१४८॥
तुष्टश्च तस्मै मत्पित्रा दापितः सहसैव च ।
अशेषमटवीराज्यं रत्नोपायनदायिना ॥१४९॥

विवाह हो जाने पर सब लोगों के देखते ही-देखते मेरी पत्नी का वाहन सिंह पुरुष बन गया ।।१३४।।

उसका यह परिवर्त्तित रूप देखकर वहाँ बैठे हुए सभी लोगों के विस्मित हो जाने पर, दिव्य वस्त्र और आभूषण पहने हुए वह मुझे प्रणाम करता हुआ इस प्रकार कहने लगा--।।१३५।।

मैं चित्रांगद नामक विद्याधर हूँ और यह प्राणों से भी अधिक प्यारी मेरी कन्या है ।।१३६।।

मैं इसे गोद में लेकर सदा जंगलों में घूमता रहता था। एक बार मैं अनेक तपोवनों से अलंकृत तटोंवाली गंगा के समीप पहुँचा ।।१३७।।

तपस्वियों का लंघन न हो, इस भय से मैं तट से न जाकर उसके मध्य से जा रहा था। मेरे जाते हुए दैवयोग से मेरी पुष्पमाला गंगा में गिर पड़ी। वह पुष्पमाला जल के अन्दर गोता लगाते हुए नारदजी की पीठ पर गिरी। फलतः, इससे क्रुद्ध होकर नारद-मुनि ने उस समय मुझे शाप दिया कि 'हे पापी। तूने मेरे साथ उद्धतता की है, इसलिए तू सिंह बनेगा और हिमाचल में जाकर इस कन्या को पीठ पर वहन करता रहेगा ।।१३८–१४०।।

जब यह कन्या मनुष्य से अपना विवाह कर लेगी, तब यह देखकर ही तू शाप से मुक्त हो जायगा ।।१४१।।

इस प्रकार, नारदमुनि से शापित होकर मैं हिमाचल में सिंह बनकर शिव-पूजन में रत इस कन्या को वहन करता रहता था ।।१४२।।

इसके पश्चात् भीलराज के प्रयत्न से यह सब जो कुछ मंगलमय घटना हुई, वह सब आपको विदित ही है ।।१४३।।

अतः, अब मैं स्वर्ग-लोक को जाता हूँ। तुम लोगों का कल्याण हो। मैं शाप से मुक्त हो गया हूँ। ऐसा कहकर वह विद्याधर तुरत आकाश में उड़ गया ।।१४४।।

उस सिंह द्वारा आश्चर्यान्वित और प्रसन्न बन्धुओंवाले एवं उच्चकोटि के विद्याधर के साथ हुए सम्बन्ध से उत्साहित और प्रसन्न मेरे पिता ने मेरे विवाह का महान् उत्सव मनाया ।।१४५।।

अपने प्राणों से उपकार करने पर भी जो उपकारी मित्र सन्तुष्ट नहीं होते, ऐसे मित्रों के चरित्र को कौन सोच या समझ सकता है। इस प्रकार, भीलराज के उदारतामय चरित्र की चारों ओर चर्चा चलती रही ।।१४६-१४७।।

वलभी के राजा भी उसकी अतिशय उदारता की कथा सुनकर सन्तुष्ट हुए और मेरे पिता ने बहुमूल्य रत्नों का उपहार देकर और प्रत्युपकार के रूप में उसे वलभी के राजा की ओर से जंगल का राज्य दिला दिया ।।१४८–१४९।।

ततस्तया मनोवत्या पत्न्या मित्रेण तन च ।
कृतार्थः शबरेन्द्रेण तत्रातिष्ठमहं सुखी ॥१५०॥
स च श्लथीकृतात्मीयदेशवासरसस्ततः ।
भूयसास्मद्गृहेष्वेव न्यवसच्छबराधिपः ॥१५१॥
परस्परोपकार्येषु सर्वकालमतृप्तयोः ।
स द्वयोरगमत्कालो मम तस्य च मित्रयोः ॥१५२॥
अचिराच्च मनोवत्यां तस्यामजनि मे सुतः ।
बहिष्कृतः कुलस्येव कृत्स्नस्य हृदयोत्सवः ॥१५३॥
हिरण्यदत्तनामा च स शनैर्वृद्धिमाययौ ।
कृतविद्यो यथावच्च परिणीतोऽभवत्ततः ॥१५४॥
तद्दृष्ट्वा जीवितफलं पूर्णं मत्वा च मत्पिता ।
वृद्धो भागीरथीं प्रायात्सदारो देहमुज्झितुम् ॥१५५॥
ततोऽहं पितृशोकार्त्तः कथञ्चिद् बान्धवैर्धृतिम् ।
ग्राहितो गृहभारं स्वमुद्वोढुं प्रतिपन्नवान् ॥१५६॥
तदा मनोवतीमुग्धमुखदर्शनमेकतः ।
अन्यतः शबरेन्द्रेण सङ्गमो मां व्यनोदयत् ॥१५७॥
ततः सत्पुत्रसानन्दाः सुकलत्रमनोरमाः ।
सुहृत्समागमसुखा गतास्ते दिवसा मम ॥१५८॥
कालेनाथ प्रवृद्धं मामग्रहीच्चिबुके जरा ।
किं गृहेऽद्यापि पुत्रेति प्रीत्येव ब्रुवती हितम् ॥१५९॥
तेनाहं सहसोत्पन्नवैराग्यस्तनयं निजम् ।
कुटुम्बभारोद्वहने वनं वाञ्छन्नयोजयम् ॥१६०॥
सदारश्च गतोऽभूवं गिरिं कालञ्जरं ततः ।
मत्स्नेहत्यक्तराज्येन समं शबरभूभृता ॥१६१॥
तत्र प्राप्तेन चात्मीया जातिर्वैद्याधरी मया ।
शापश्च प्राप्तपर्यन्तः स शार्वः सहसा स्मृतः ॥१६२॥
तच्च पत्न्यै मनोवत्यै तदैवाख्यातवाहनम् ।
सख्ये च शबरेन्द्राय मुमुक्षुर्मानुषीं तनुम् ॥१६३॥
भार्यामित्रे इमे एव भूयास्तां स्मरतो मम ।
अन्यजन्मन्यपीत्युक्त्वा हृदि कृत्वा च शङ्करम् ॥१६४॥
मया गिरितटात्तस्मान्निपत्य प्रसभं ततः ।
ताभ्यां स्वपत्नीमित्राभ्यां सह मक्तं शरीरकम् ॥१६५॥

तदनन्तर, मैं उस मनोवती पत्नी और अभिन्नहृदय मित्र भीलराज के साथ सुखपूर्वक वलभी में रहने लगा ।।१५०।।

वह भीलराज, अपने देश का प्रेम छोड़कर अधिकतर हमारे घर में ही रहने लगा ।।१५१।।

परस्पर उपकार के कामों में सर्वदा अतृप्त रहनेवाले हम दोनों मित्रों का समय व्यतीत हुआ ।।१५२।।

कुछ ही दिनों में मनोवती द्वारा मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ, मानों सारे कुटुम्ब के हार्दिक उत्सव का मूर्त्त रूप वह प्रकट हुआ हो ।।१५३।।

हिरण्यदत्त नामक वह कुमार, धीरे-धीरे बड़ा हुआ और पढ़ने-लिखने के पश्चात् मैंने उसका विवाह कर दिया ।।१५४।।

मेरे पिता यह देखकर और अपने जीवन का अन्तिम फल समझकर वृद्धावस्था में शरीर त्याग करने के लिए गंगातट पर चले गये ।।१५५।।

पिता के चले जाने पर शोक से अत्यन्त दुःखी होकर मैंने अपने बन्धु-बान्धवों के धैर्य देने और समझाने-बूझाने पर घर-गृहस्थी का भार उठाना स्वीकार किया ।।१५६।।

उस समय एक ओर तो मनोवती के भोले-भाले मुँह को देखना और दूसरी ओर मित्र शबरराज की मित्रता— ये दो मेरे मनोविनोद के साधन थे ।।१५७।।

सुपुत्र के कारण असीम आनन्ददायक, सपत्नी के कारण मनोरम एवं सच्चे मित्र के समागम से सुखद वे मेरे दिन व्यतीत हुए ।।१५८।।

कुछ समय के पश्चात् मुझ वयस्क को 'बेटा, अबतक घर में क्या कर रहे हो' मानों इस प्रकार प्रेमपूर्वक हित वचन कहती हुई वृद्धावस्था ने मेरी ठोढ़ी या दाढ़ी पकड़ ली ।।१५९।।

इस कारण अकस्मात् वैराग्य उत्पन्न होने पर वन में जाने की इच्छा से मैंने कुटुम्ब का भार अपने पुत्र को दे दिया ।।१६०।।

तदनन्तर, मैं अपनी पत्नी के साथ कालंजर नामक पर्वत पर चला गया और भीलराज मेरे प्रेम से राज्य को छोड़कर मेरे साथ हो लिया ।।१६१।।

वहाँ जाकर मैंने अपनी पूर्वजन्म की विद्याधर-जाति का स्मरण किया और अन्त होनेवाले शिवजी के शाप का भी सहसा स्मरण किया ।।१६२।।

उस शाप को मैंने अपनी पत्नी मनोवती तथा मित्र भीलराज को भी बता दिया ।।१६३।।

तदनन्तर, मानव-शरीर को छोड़ने की इच्छा से मैंने अन्तिम समय यही कामना की है कि अगले जन्म में भी ये ही दोनों मेरी पत्नी और मित्र बनें। इस प्रकार, मन में शंकर का ध्यान कर पर्वत (हिमालय) की चोटी से गिरकर[१] उसने पत्नी और मित्र के साथ शरीर का त्याग कर दिया ।।१६४-१६५।।

---

१. इसको शिलापात—मृत्युग्रावा कहते हैं, इसपर चढ़कर प्राण-त्याग करने से अगले जन्म में मनोवांछित सिद्धि होती है।—अनु०

सोऽहं ततः समुत्पन्नो नाम्ना जीमूतवाहनः ।
विद्याधरकुलेऽमुस्मिन्नेष जातिस्मरोऽधुना ॥१६६॥
स चापि शबरेन्द्रस्त्वं जातो मित्रावसुः पुनः ।
त्र्यक्षप्रसादात्सिद्धानां राज्ञो विश्वावसोः सुतः ॥१६७॥
सापि विद्याधरी मित्रं मम भार्या मनोवती ।
तव स्वसा समुत्पन्ना नाम्ना मलयवत्यसौ ॥१६८॥
एवं मे पूर्वपत्न्येषा भगिनी ते भवानपि ।
पूर्वमित्रमतो युक्ता परिणेतुमसौ मम ॥१६९॥
किं तु पूर्वमितो गत्वा मम पित्रोर्निवेदय ।
तयोः प्रमाणीकृतयोः सिद्ध्यत्येतत्तवेप्सितम् ॥१७०॥

जीमूतवाहनमलयवत्योर्विवाहः

इत्थं निशम्य जीमूतवाहनात् प्रीतमानसः ।
गत्वा मित्रावसुः सर्वं तत्पितृभ्यां शशंस तत् ॥१७१॥
अभिनन्दितवाक्यश्च ताभ्यां हृष्टस्तदैव सः ।
उपगम्य तदेवार्थं स्वपितृभ्यां न्यवेदयत् ॥१७२॥
तयोरीप्सितसम्पत्तिस्तुष्टयोः सत्वरं च सः ।
युवराजो विवाहाय सम्भारमकरोत् स्वसुः ॥१७३॥
ततो जग्राह विधिवत्तस्या जीमूतवाहनः ।
पाणिं मलयवत्याः स सिद्धराजपुरस्कृतः ॥१७४॥
बभूव चोत्सवस्तत्र चञ्चद्द्युचरचारणः ।
सम्मिलत्सिद्धसङ्घातो वल्गद्विद्याधरोद्धुरः ॥१७५॥
कृतोद्वाहस्ततस्तस्थौ तस्मिञ्जीमूतवाहनः ।
मलयाद्रौ महार्हेण विभवेन वधूसखः ॥१७६॥
एकदा च श्वशुर्येण स मित्रावसुना सह ।
वेलावनानि जलधेरवलोकयितुं ययौ ॥१७७॥
तत्रापश्यच्च पुरुषं युवानं विग्नमागतम् ।
निवर्त्तयन्तं जननी 'हा पुत्रे' ति विराविणीम् ॥१७८॥
अपरेण परित्यक्तं भटेनेवानुयायिना ।
पुरुषेण पृथूत्तुङ्गं प्रापय्यैकं शिलातलम् ॥१७९॥

वह जातिस्मर मैं अब जीमूतवाहन नाम से विद्याधर-कुल में उत्पन्न हुआ, वही शबरेन्द्र तुम मित्रावसु हो, जो शिवजी की कृपा से सिद्धों के राजा विश्वावसु के पुत्र हो ।।१६६-१६७।।

हे मित्र, वह मेरी विद्याधरी पत्नी मनोवती, मलयवती नाम से तुम्हारी बहिन है। वह तुम्हारी बहिन, मेरे पूर्वजन्म की पत्नी है और तुम भी मेरे उसी जन्म के मित्र हो। अतः, म इससे विवाह करना उचित समझता हूँ ।।१६८-१६६।।

किन्तु, इसके पूर्व तुम मेरे पिता से निवेदन करो। उनके स्वीकार करने पर ही तुम्हारा यह अभीष्ट सिद्ध होगा ।।१७०।।

जीमूतवाहन और मलयवती का विवाह

जीमूतवाहन से ऐसा सुनकर प्रसन्नचित मित्रावसु ने मेरे पिता के समीप जाकर यह प्रस्ताव उपस्थित किया। उनके द्वारा समर्थन प्राप्त कर लेने पर सन्तुष्ट मित्रावसु ने यही प्रस्ताव अपनी माता और पिता से किया ।।१७१।।

वे यह सुनकर अभिलषित सम्पत्ति मिल जाने के समान प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक इस सम्बन्ध को स्वीकार किया ।।१७२।।

तदनन्तर, युवराज मित्रावसु ने अपने विवाह की तैयारी की और जीमूतवाहन ने भी विधिपूर्वक मलयवती का पाणिग्रहण किया ।।१७३।।

आकाशचारी चारणों के गीतों से मनोहर उनका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। इस विवाह में सिद्धों और विद्याधरों के दल भी सम्मिलित हुए थे ।।१७४-१७५।।

विवाह के उपरान्त जीमूतवाहन अपनी पत्नी के साथ अपने राजसी ठाटबाट से से वहाँ रहने लगा।।१७६।।

एकबार वे अपने साले मित्रावसु के साथ समुद्र-तट के जंगलों की सैर करता हुआ टहल रहा था कि इतने में उसने एक व्याकुल युवा पुरुष को अपनी ओर आते हुए देखा और उसके पीछे एक वृद्धा स्त्री 'हाय बेटा', 'हाय बेटा', कहकर रोती-चिल्लाती आ रही थी ।।१७७-१७८।।

पीछे आते हुए सैनिक के समान किसी पुरुष ने एक ऊँची चट्टान के समीप लाकर उसे छोड़ दिया था ।।१७९।।

कस्त्वं किमीहसे किं च माता त्वां शोचतीति तम् ।
स पप्रच्छ ततः सोऽपि तस्मै वृत्तान्तमब्रवीत् ॥१८०॥

कद्रूविनतयोः कथा

पुरा कश्यपभार्ये द्वे कद्रूश्च विनता तथा ।
मिथः कथाप्रसङ्गेन विवादं किल चक्रतुः ॥१८१॥
आद्या श्यामान् हरेरश्वानवादीदपरा सितान् ।
अन्योन्यदासभावं च पणमत्र बबन्धतुः ॥१८२॥
ततो जयार्थिनी कद्रूः स्वैरं नागैर्निजात्मजैः ।
विषफूत्कारमलिनानर्कस्याश्वानकारयत् ॥१८३॥
तादृशांश्चोपदर्श्यैतान्विनतां छद्मना जिताम् ।
दासीचकार कष्टा हि स्त्रीणामन्यासहिष्णुता ॥१८४॥
तद्बुद्ध्वागत्य विनतातनयो गरुडस्तदा ।
सान्त्वेन मातुर्दासित्वमुक्तिं कद्रूमयाचत ॥१८५॥
ततः कद्रूसुता नागा विचिन्त्यैवं तमब्रुवन् ।
भो वैनतेय क्षीराब्धिः प्रारब्धो मथितुं सुरैः ॥१८६॥
ततः सुधां समाहृत्य प्रतिवस्तु प्रयच्छ नः ।
मातरं स्वीकुरुष्वाथ भवान्हि बलिनां वरः ॥१८७॥
एतन्नागवचः श्रुत्वा गत्वा च क्षीरवारिधिम् ।
सुधार्थं दर्शयामास गरुडो गुरुपौरुषम् ॥१८८॥
ततः पराक्रमप्रीतो देवस्तत्र स्वयं हरिः ।
तुष्टोऽस्मि ते वरं कञ्चिद् वृणीष्वेत्यादिदेश तम् ॥१८९॥
नागा भवन्तु मे भक्ष्या इति सोऽपि हरेस्ततः ।
वैनतेयो वरं वव्रे मातुर्दास्येन कोपितः ॥१९०॥
तथेति हरिणादिष्टो निजवीर्यार्जितामृतः ।
स चैवमथ शक्रेण गदितो ज्ञातवस्तुना ॥१९१॥
तथा पक्षीन्द्र कार्यं ते यथा मूढैर्न भुज्यते ।
नागैः सुधा यथा चैनां तेभ्यः प्रत्याहराम्यहम् ॥१९२॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा स वैष्णववरोद्धुरः ।
सुधाकलशमादाय तार्क्ष्यो नागानुपाययौ ॥१९३॥

'तू कौन है तथा क्या चाहता है ? माता तेरे सम्बन्ध में शोच क्यों कर रही है ?' इत्यादि। जीमूतवाहन ने उस युवक से यह सब वृत्तान्त पूछा। उत्तर में उसने जीमूतवाहन को सारा वृत्तान्त इस प्रकार कहा—॥१८०॥

कद्रू और विनता की कथा

प्राचीन समय में कश्यप की दो पत्नियाँ विनता और कद्रू किसी कथा के प्रसंग में परस्पर विवाद कर बैठीं ॥१८१॥

कद्रू ने कहा कि सूर्य के घोड़े काले हैं और विनता ने कहा श्वेत। बस, इसी बात पर उन्होंने आपस में शर्त्त लगा ली कि जिसकी बात झूठी होगी, वह सच्ची बातवाली की दासता करेगी ॥१८२॥

जीतने की इच्छा रखनेवाली कद्रू ने अपने पुत्र सर्पों के द्वारा बिषैली फूत्कार से सूर्य के घोड़ों का रंग काला करवा दिया और छल से जीती हुई कद्रू ने विनता को दासी बना लिया। सच है कि स्त्रियों की पारस्परिक ईर्ष्या भी दुःखद होती है ॥१८३-१८४॥

यह जानकर विनता ने पुत्र गरुड ने शान्ति के साथ अपनी माता की दासता की मुक्ति के लिए कद्रू से प्रार्थना की ॥१८५॥

तब कद्रू के पुत्र नागगण आपस में विचार करके बोले कि 'हे गरुड ! देवताओं ने अभी क्षीरसागर का मन्थन प्रारम्भ किया है। वहाँ से इसके बदले में अमृत लाकर हमें दो, तब अपनी माता को स्वीकार करो; क्योंकि तुम अत्यन्त बलवान् हो ॥१८६-१८७॥

नागों के यह वचन सुनकर और अमृत के लिए क्षीर समुद्र पर जाकर गरुड ने अत्यन्त पौरुष प्रकट किया ॥१८८॥

गरुड के पराक्रम से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने स्वयं गरुड से कहा कि 'मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, अतः कुछ वर माँगो' ॥१८९॥

माता के दासत्व के अपमान से क्रुद्ध गरुड ने भगवान् से वर माँगा कि 'नाग मेरे भक्ष्य हों' ॥१९०॥

भगवान् ने 'ऐसा ही हो'—कहकर उसे यही वरदान दिया। तत्पश्चात् गरुड अपके पराक्रम से अमृत को प्राप्त कर जब चलने लगा, तब तत्त्वज्ञ इन्द्र ने उससे कहा—॥१९१॥

'हे पक्षिराज, तुम्हें ऐसा करना चाहिए कि जिससे वे मूर्ख सर्प, अमृत को न खा पकें। अतः, मैं इसे सर्पों से हरण कर लूँगा' ॥१९२॥

ऐसा सुनकर विष्णु के वर से प्रचण्ड गरुड ने, इन्द्र के प्रस्ताव को स्वीकार किया और अमृत-कलश लेकर सर्पों के समीप गया ॥१९३॥

वरप्रभावभीतांश्च मुग्धानाराज्जगाद तान् ।
इदमानीतममृतं मुक्त्वाम्बां मम गृह्यताम् ।।१९४।।
भयं चेत्स्थापयाम्येतदहं वो दर्भसंस्तरे ।
उन्मोच्याम्बां च गच्छामि स्वीकुरुध्वमितः सुधाम् ।।१९५।।
तथेत्युक्ते च तैर्नागैः स पवित्रे कुशास्तरे ।
सुधाकलशमाधत्त ते चास्य जननीं जहुः ।।१९६।।
दास्यमुक्तां च कृत्वैवं मातरं गरुडे गते ।
यावदाददते नागा निःशङ्कास्तत्किलामृतम् ।।१९७।।
तावन्निपत्य सहसा तान् विमोह्य स्वशक्तितः ।
तं सुधाकलशं शक्रो जहार कुशसंस्तरात् ।।१९८।।
विषण्णास्तेऽथ नागास्तं लिलिहुर्दर्भसंस्तरम् ।
कदाचिदमृतश्च्योतलेपोऽप्यस्मिन् भवेदिति ।।१९९।।
तेन पाटितजिह्वास्ते वृथा प्रापुर्द्विजिह्वताम् ।
हास्यादृते किन्यत्स्यादतिलौल्यवतां फलम् ।।२००।
अथालब्धामृतरसान्नागान्वैरी हरेर्वरात् ।
तार्क्ष्यः प्रववृते भोक्तुं तान्निपत्य पुनः पुनः ।।२०१।।
तदापाते च पातालं त्रासनिर्जीवराजिलम् ।
प्रभ्रष्टगर्भिणीगर्भमभूत्क्षपितपन्नगम् ।।२०२।।

नागानां कृते जीमूतवाहनस्यात्मोत्सर्गः

तं दृष्ट्वा चान्वहं तत्र वासुकिर्भुजगेश्वरः ।
कृत्स्नमेकपदे नष्टं नागलोकममन्यत ।।२०३।।
ततो दुर्वारवीर्यस्य सद्यस्तस्य विचिन्त्य सः ।
समयं प्रार्थनापूर्वं चकारैवं गरुत्मतः ।।२०४।।
एकमेकं प्रतिदिनं नागं ते प्रेषयाम्यहम् ।
आहारहेतोः पक्षीन्द्र पयोधिपुलिनाचले ।।२०५।।
पाताले तु प्रवेष्टव्यं न त्वया मर्दकारिणा ।
नागलोकक्षयात्स्वार्थस्तवैव हि विनश्यति ।।२०६।।
इति वासुकिना प्रोक्तस्तथेति गरुडोऽन्वहम् ।
तत्प्रेषितमिहैकैकं नागं भोक्तुं प्रचक्रमे ।।२०७।।

और, वर के प्रभाव से डरे हुए नागों से बोला कि 'मने अमृत ला दिया है, मेरी माता को दासता से मुक्त करके इसे लो ।।१६४।।

यदि तुम्हें मुझसे भय है, तो मैं इसे कुशा के आसन पर रख देता हूँ और अपनी माता को छुड़ा ले जाता हूँ । तुमलोग इसे स्वीकार करो' ।१६५।।

'ऐसा ही करो' नागों के इस प्रकार कहने पर पवित्र कुशासन पर अमृत-कलश को रखवाकर नागों ने गरुड की माता विनता को छोड़ दिया ।।१६६।।

माता को दासता से मुक्त कराकर गरुड के चले जाने पर नाग निर्भयतापूर्वक जब अमृतपान करने के लिए एकत्र हुए, तब इन्द्र ने अपनी शक्ति से कुशासन पर रखे हुए सुधा-कलश का अपहरण कर लिया ।।१६७-१६८।।

हताश नागों से कहीं अमृत गिरकर कुशा में न लगा हो—ऐसा सोचकर कुशाओं को चाटना प्रारम्भ किया ।।१६६।।

कुशाओं को चाटने से उनकी जीभों के दो टुकड़े[1] हो गये । सच है, अत्यन्त लोभियों को हँसी के सिवा और क्या फल मिलता है ।।२००।।

अमृत के स्वाद से वंचित नागों का शत्रु गरुड, विष्णु के वरदान के कारण बार-बार नागों पर टूटकर उन्हें खाने लगा ।।२०१।।

फलतः, गरुड के आक्रमण से सारा पाताल व्याकुल हो गया । भय के कारण सर्प निर्जीव से हो गये । गर्भिणी नागपत्नियां के गर्भपात होने लगे और इसी भय-मात्र से अनेक नाग प्राणों से भी हाथ धो बैठे ।।२०२।।

नागों के लिए जीमूतवाहन का आत्मसमर्पण

प्रतिदिन इस प्रकार का आतंक देखकर नागराज वासुकि ने सोचा कि इस प्रकार तो सारा नागलोक सहसा नष्ट हो जायगा और गरुड भी अजेय है । ऐसा सोचकर उसने गरुड के साथ मिलकर एक नियम बना लिया कि प्रतिदिन एक नाग, समुद्र-तट के पर्वत पर गरुड के भोजन के लिए भेज दिया जायगा । तब नागराज ने गरुड से कहा कि 'तुम पाताल में उपद्रव करने या आतंक फैलाने न आया करो । अन्यथा, इस प्रकार एक साथ ही समस्त नागों के नाश हो जाने पर तुम्हारा स्वार्थ नष्ट हो जायगा' ।।२०३–२०६।।

गरुड ने भी इस व्यवस्था को मान लिया और वासुकि द्वारा भेजे गये एक-एक नाग को वह प्रतिदिन खाने लगा ।।२०७।।

---

१. सर्प इसीलिए 'द्विजिह्व' या दो जिह्वावाले कहे जाते हैं ।

तेन क्रमेण चासङ्ख्याः फणिनोऽत्र क्षयं गताः ।
अहं च शङ्खचूडाख्यो नागो वारो ममाद्य च ॥२०८॥
अतोऽहं गरुडाहारहेतोर्वध्यशिलामिमाम् ।
मातुश्च शोच्यतां प्राप्तो नागराजनिदेशतः ॥२०९॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा शङ्खचूडस्य दुःखितः ।
सान्तःखेदः स जीमूतवाहनस्तमभाषत ॥२१०॥
अहो किमपि निःसत्त्वं राजत्वं बत वासुकेः ।
यत्स्वहस्तेन नीयन्ते रिपोरामिषतां प्रजाः ॥२११॥
किं न प्रथममात्मैव तेन दत्तो गरुत्मते ।
क्लीबेनाभ्यर्थिता केयं स्वकुलक्षयसाक्षिता ॥२१२॥
उत्पद्य कश्यपात्पापं तार्क्ष्योऽपि कुरुते कियत् ।
देहमात्रकृते मोहः कीदृशो महतामपि ॥२१३॥
तदहं तावदद्यैकं रक्षामि त्वां गरुत्मतः ।
स्वशरीरप्रदानेन मां विषादं कृथाः सखे ॥२१४॥
तच्छ्रुत्वा शङ्खचूडोऽपि धैर्यादितदुवाच तम् ।
शान्तमेतन्महासत्त्व मा स्मैवं भाषथाः पुनः ॥२१५॥
न काचस्य कृते जातु युक्ता मुक्तामणेः क्षतिः ।
न चाप्यहं गमिष्यामि कथां कुलकलङ्किताम् ॥२१६॥
इत्युक्त्वा तां निषिध्यैव साधुर्जीमूतवाहनम् ।
मत्वा गरुडवेलां च स क्षणान्तरगामिनीम् ॥२१७॥
शङ्खचूडो ययौ तत्र वारिधेस्तीरवर्त्तिनम् ।
अन्तकाले नमस्कर्त्तुं गोकर्णाख्यमुमापतिम् ॥२१८॥
गते तस्मिन्स कारुण्यनिधिर्जीमूतवाहनः ।
तत्त्राणायात्मदानेन बुबुधे लब्धमन्तरम् ॥२१९॥
ततस्तद्विस्मृतमिव क्षिप्रं कृत्वा स्वयुक्तितः ।
कार्यापदेशाद्व्यसृजन्निजं मित्रावसुं गृहम् ॥२२०॥
तत्क्षणं च समासन्नतार्क्ष्यपक्षानिलाहता ।
तत्सत्त्वदर्शनाश्चर्यादिव सा भूरघूर्णयत् ॥२२१॥
तेनाहिरिपुमायान्तं मत्वा जीमूतवाहनः ।
परानुकम्पी तां वध्यशिलामध्यारुरोह सः ॥२२२॥

अतः, नागवध के उसी क्रम में आज मेरी बारी है। मेरा नाम शंखचूड है। मैं भी नागराज की आज्ञा से आज गरुड के आहार के लिए इस वध्यशिला पर लाया गया हूँ। अतः, मैं माता के लिए शोचनीय हो रहा हूँ। इस प्रकार शंखचूड के वचन सुनकर और उसके दुःख से दुःखी जीमूतवाहन खेदपूर्वक उससे बोला—॥२०८–२१०॥

अहो! वासुकि का नागराज होना कितना सारहीन है, जो स्वयं अपने हाथों से अपनी प्रजा को शत्रु का आमिष (भोजन) बना रहा है ॥२११॥

क्यों नहीं; उसने सबसे पहले अपने को ही गरुड के लिए प्रदान किया। प्रत्युत इसके विपरीत ही नपुंसक के समान उसने अपने कुल का ही नाश स्वीकार किया ॥२१२॥

उधर, गरुड भी कश्यप ऋषि की सन्तान होकर कितना पाप कर रहा है! महान् पुरुषों को भी इस देह के लिए कितना मोह है ॥२१३॥

इसलिए, आज मैं तुम एक नाग की, अपना शरीर-दान करके रक्षा करता हूँ। तुम व्यर्थ शोक न करो ॥२१४॥

यह सुनकर शंखचूड भी धैर्य के साथ बोला—'हे महात्मन्! ऐसा फिर न कहना ॥२१५॥

काँच के लिए मोती की हानि करना उचित नही है। मैं भी कुल-कलंक बनना नहीं चाहता' ॥२१६॥

ऐसा कहकर और जीमूतवाहन को रोककर वह सज्जन नाग शंखचूड तुरन्त आने-वाले गरुड के समय को जानकर समुद्रतीरवासी गोकर्ण नामक शिव को अन्तिम समय का प्रणाम करने के लिए गया। उसके जाने पर दयानिधि जीमूतवाहन को उसकी रक्षा के लिए अपना प्राणदान करने का अवसर मिल गया ॥२१७—२१९॥

तब उसने युक्ति से मानों किसी भली बात का स्मरण करके किसी काम के बहाने से अपने साथी मित्रावसु को वहाँ से भेज दिया ॥२२०॥

उसी समय समीप आये गरुड के पंखों की वायु से काँपती हुई भूमि मानों उस महापुरुष के दर्शन से आश्चर्यान्वित हो घूमने लगी ॥२२१॥

इस लक्षण से परोपकारी जीमूतवाहन गरुड को आया हुआ जानकर उस वध्यशिला पर चढ़ गया ॥२२२॥

क्षणाच्चात्र निपत्यैव महासत्त्वं जहार तम् ।
आहत्य चञ्च्वा गरुडः स्वच्छायाच्छादिताम्बरः ।।२२३।।
परिस्रवदसृग्धारं च्युतोत्खातमशिखामणिम् ।
नीत्वा भक्षयितुं चैनमारेभे शिखरे गिरेः ।।२२४।।
तत्कालं पुष्पवृष्टिश्च निपपात नभस्तलात् ।
तद्दर्शनाच्च किं न्वेतदिति तार्क्ष्यो विसिस्मये ।।२२५।।
तावत्स शङ्खचूडोऽत्र नत्वा गोकर्णमागतः ।
ददर्श रुधिरासारसिक्तं वध्यशिलातलम् ।।२२६।।
हा धिङ्मदर्थं तेनात्मा दत्तो नूनं महात्मना ।
तत्कुत्र नीतस्तार्क्ष्येण क्षणेऽस्मिन् स भविष्यति ।।२२७।।
अन्विष्यामि द्रुतं तावत्कदाचित्तमवाप्नुयाम् ।
इति साधुः स तद्रक्तधारामनुसरन्ययौ ।।२२८।।
अत्रान्तरे च हृष्टं तं दृष्ट्वा जीमूतवाहनम् ।
गरुडो भक्षणं मुक्त्वा सविस्मयमचिन्तयत् ।।२२९।।
कश्चित्किमन्य एवायं भक्ष्यमाणोऽपि यो मया ।
विपद्यते न तु परं धीरः प्रत्युत हृष्यति ।।२३०।।
इत्यन्तर्विमृशन्तं च तार्क्ष्यं तादृग्विधोऽपि सः ।
निजगाद निजाभीष्टसिद्ध्यै जीमूतवाहनः ।।२३१।।
पक्षिराज ममास्त्येव शरीरे मांसशोणितम् ।
तदकस्मादतृप्तोऽपि किं निवृत्तोऽसि भक्षणात् ।।२३२।।
तच्छ्रुत्वाश्चर्यवशगस्तं स पप्रच्छ पक्षिराट् ।
नागः साधो न तावत्त्वं ब्रूहि तत्को भवानिति ।।२३३।।
नाग एवास्मि भुङ्क्ष्व त्वं यथारब्धं समापय ।
आरब्धा ह्यसमाप्तैव किं धीरैस्त्यज्यते क्रिया ।।२३४।।
इति यावच्च जीमूतवाहनः प्रतिवक्ति तम् ।
तावत्स शङ्खचडोऽत्र प्राप्तो दूरादभाषत ।।२३५।।
मा मा गरुत्मन्नैवेष नागो नागोऽह्यहं तव ।
तदेनं मुञ्च कोऽयं ते जातोऽकाण्डे बत भ्रमः ।।२३६।।
तच्छ्रुत्वातीव विभ्रान्तो बभूव स खगेश्वरः ।
वाञ्छितासिद्धिखेदं च भेजे जीमूतवाहनः ।।२३७।।

अपने विशाल पंखों की छाया से आकाश को छाये हुए गरुड ने चोंच मारकर उस महाप्राणी जीमूतवाहन को उठा लिया ।।२२३।।

बहती हुई रक्तधारावाले और उखड़कर गिरी हुई शिर की मणिवाले जीमूतवाहन को पहाड़ की चोटी पर ले जाकर गरुड उसका भक्षण करने लगा ।।२२४।।

इसी समय आकाश से पुष्पवृष्टि हुई । गरुड भी यह क्या है, ऐसा सोचकर आश्चर्य-चकित हो गया ।।२२५।।

इतने में ही वह शंखचूड भी गोकर्णेश्वर शिव को प्रणाम करके आ गया और उसने वध्यशिला को रक्त से लथपथ पाया ।।२२६।।

और सोचने लगा कि धिक्कार है मुझे। उस महात्मा ने अवश्य ही मेरे लिए जीवन-दान किया है । गरुड इस समय उसे कहाँ ले गया होगा ।।२२७।।

मैं उसे शीघ्र खोजता हूँ । सम्भव है, मैं उसे प्राप्त कर लूँ । ऐसा सोचकर वह सज्जन रक्त की धारा के पीछे-पीछे चला ।।२२८।।

उधर, जीमूतवाहन को प्रसन्न देखकर गरुड ने उसका भोजन करना छोड़ दिया और आश्चर्यान्वित हो उसे देखने लगा ।।२२६।।

'यह नाग नहीं, कोई दूसरा ही जीव है, जो मेरे खाये जाने पर भी मरता नहीं, प्रत्युत इसके विपरीत प्रसन्न हो रहा है' ।।२३०।।

इस प्रकार मन में सोचते हुए गरुड को अपनी इष्टसिद्धि के लिए जीमूतवाहन बोला—।।२३१।।

'हे पक्षिराज ! अब भी मेरे शरीर में मांस और रक्त है । फिर भी, तुम विना तृप्त हुए ही खाने से सहसा क्यों रुक गये हो ?'।।२३२।।

यह सुनकर आश्चर्यचकित गरुड ने पूछा—'हे सज्जन, तुम नाग नहीं, बताओ कौन हो ?'।।२३३।।

'मैं नाग ही हूँ, तुम खाओ । जो प्रारम्भ किया है, उसे समाप्त करो । महान् व्यक्ति किसी कार्य को, जिसको आरम्भ किया हो, समाप्त किये विना नहीं छोड़ते' ।।२३४।।

जीमूतवाहन जबतक ऐसा कह ही रहा था, तबतक शंखचूड दूर से चिल्लाकर बोला—।।२३५।।

'हे, गरुड ! इसे मत खाओ, मत खाओ । यह नाग नहीं है, तुम्हारा भक्ष्य नाग मैं हूँ ! तुम्हे यह सहसा भ्रम कैसे हो गया । इसे छोड़ दो' ।।२३६।।

यह सुनकर पक्षिराज गरुड अत्यत व्याकुल हो गया और जीमूतवाहन को अपनी अभीष्टसिद्धि न होने का खेद हुआ ।।२३७।।

ततोऽन्योन्यसमालापकन्दद्विद्याधराधिपम्
बुद्ध्वा तं भक्षितं मोहाद् गरुत्मानभ्यतप्यत ॥२३८॥
अहो बत नृशंसस्य पापमापतितं मम ।
किं वा सुलभपापा हि भवन्त्युन्मार्गवृत्तयः ॥२३९॥
श्लाध्यस्त्वेष महात्मैकः परार्थप्राणदायिना ।
ममेति मोहैकवशं येन विश्वमधः कृतम् ॥२४०॥
इति तं चिन्तयन्तं च गरुडं पापशुद्धये ।
वह्निं विविक्षुं जीमूतवाहनोऽथ जगाद सः ॥२४१॥
पक्षीन्द्र किं विषण्णोऽसि सत्यं पापाद् बिभेषि चेत् ।
तदिदानीं न भूयस्ते भक्ष्याहीमे भुजङ्गमाः ॥२४२॥
कार्यश्चानुशयस्तेषु पूर्वभक्तेषु भोगिषु ।
एषोऽत्र हि प्रतीकारो वृथान्यच्चिन्तितं तव ॥२४३॥
इत्युक्तस्तेन स प्रीतस्तार्क्ष्यो भूतानुकम्पिना ।
तथेति प्रतिपेदे तद्वाक्यं तस्य गुरोरिव ॥२४४॥
ययौ चामृतमानेतुं नाकाज्जीवयितुं जवात् ।
क्षताङ्गं तत्र तं चान्यानस्थिशेषानहीनपि ॥२४५॥
ततश्च साक्षादागत्य देव्या सिक्तोऽमृतेन सः ।
जीमूतवाहनो गौर्या तद्भार्याभक्तितुष्टया ॥२४६॥
तेनाधिकतरोद्भूतकान्तीन्यङ्गानि जज्ञिरे ।
तस्य सानन्दगीर्वाणदुन्दुभिध्वनिभिः सह ॥२४७॥
स्वस्थोत्थिते ततस्तस्मिन्नानीय गरुडोऽपि तत् ।
कृत्स्ने वेलातटेऽप्यत्र ववर्षामृतमम्बरात् ॥२४८॥
तेन सर्वे समुत्तस्थुर्जीवन्तस्तत्र पन्नगाः ।
बभौ तच्च तदा भूरिभुजङ्गकुलसङ्कुलम् ॥२४९॥
वेलावनं विनिर्मुक्तवैनतेयभयं ततः ।
पातालमिव जीमूतवाहनालोकनागतम् ॥२५०॥
ततोऽक्षयेण देहेन यशसा च विराजितम् ।
बुद्ध्वाभ्यनन्दत्तं बन्धुजनो जीमूतवाहनम् ॥२५१॥
ननन्द तस्य भार्या च सज्ञातिः पितरौ तथा ।
को न प्रहृष्येद्दुःखेन सुखत्वपरिवर्तिना ॥२५२॥

तदनन्तर, परस्पर वार्त्तालाप के प्रसंग में मिसकते हुए उसे विद्याधरों का राजा जानकर और भ्रम से उसे खाकर गरुड को भारी मानसिक ताप हुआ ।।२३८।।

वह सोचने लगा कि मुझ जैसा क्रूर ने भारी पाप किया। उच्छृंखल वृत्ति के व्यक्तियों से पाप हो जाना सुलभ या स्वाभाविक है। यह एक प्रशंसनीय महात्मा है, जो दूसरों के लिए अपने प्राण दे रहा है। मैंने अज्ञानवश संसार को नीचा कर दिया ।।२३९-२४०।।

इस प्रकार पश्चात्ताप कर पापमुक्ति के लिए आग में जलकर प्राण-त्याग करने की बात सोचते हुए गरुड को जीमूतवाहन ने कहा--।।२४१।।

'हे पक्षीराज ! दुःखी क्यों हो रहे हो। यदि सचमुच पाप से डरते हो, तो आज से इन सर्पों का भक्षण करना छोड़ दो। पहले जिन्हें खा चुके हो, उनके लिए पश्चात्ताप करो। यही इसका प्रायश्चित्त या प्रतिक्रिया है और कुछ सोचना व्यर्थ है' ।।२४२-२४३।।

इस प्रकार प्राणियों पर दया करनेवाले जीमूतवाहन के कहने पर गरुड ने उसके वचन को गुरु की आज्ञा के समान माना ।।२४४।।

और, तत्पश्चात् वह खाये हुए नागों को जीवित करने के लिए अमृत लेने गया। उस क्षत-विक्षत अंगोंवाले जीमूतवाहन पर उसकी पत्नी मलयवती की भक्ति से सन्तुष्ट गौरी ने स्वयं आकर अमृत-सिंचन किया। स्वयं गौरी के अमृत-सिंचन से अधिक मनोहर अंगों के कारण उसकी शोभा और बढ़ गई। आनन्दयुक्त देवताओं के गान-वाद्य के साथ स्वस्थ होकर उठे जीमूतवाहन को देखकर गरुड ने समूचे समुद्र-तट पर अमृत की वर्षा कर दी ।।२४५-२४८।।

इस अमृत-सिंचन से तट पर इधर-उधर बिखरे हुए सभी नाग-कंकाल पुनर्जीवित हो उठे। फलतः, वह वेला-वन नागों के झुण्डों से भर गया और उन्हें सर्वदा के लिए गरुड के भय से मुक्ति मिल गई ।।२४९।।

ऐसा प्रतीत होता था कि नागकुल के रक्षक जीमूतवाहन को देखने के लिए मानों सारा पाताल वहाँ आ गया हो ।।२५०।।

तदनन्तर, अक्षय शरीर और अक्षय यश से शोभित जीमूतवाहन का समस्त बन्धुओं ने अभिनन्दन किया ।।२५१।।

जीमूतवाहन की पत्नी और उसके माता-पिता सभी परम प्रसन्न हुए। सच है, दुःख के सुख-रूप में परिणत हो जाने पर कौन प्रसन्न नहीं होता ।।२५२।।

विसृष्टस्तेन च ययौ शङ्खचूडो रसातलम् ।
स्वच्छन्दमविसृष्टं च लोकांस्त्रीनपि तद्यशः ॥२५३॥
ततः प्रीतिप्रह्वाभरनिकरमागत्य गरुडं
प्रणेमुस्तं विद्याधरतिलकमभ्येत्य सभयाः ।
स्वदायादाः सर्वे हिमगिरिसुतानुग्रहवशा-
न्मतङ्गाख्याद्या ये सुचिरमभजन्नस्य विकृतिम् ॥२५४॥
तैरेव चार्थ्यमानः सुकृती जीमूतवाहनः स ततः ।
मलयाचलादगच्छन्निजनिलयं तुहिनशैलतटम् ॥२५५॥
तत्र पितृभ्यां सहितो मित्रावसुना च मलयवत्या च ।
धीरश्चिराय बुभुजे विद्याधरचक्रवर्त्तिपदम् ॥२५६॥
एवं सकलजगत्त्रयहृदयचमत्कारकारिचरितानाम् ।
स्वयमनुधावन्ति सदा कल्याणपरम्पराः पदवीम् ॥२५७॥
इत्याकर्ण्य कथां किल देवी यौगन्धरायणस्य मुखात् ।
मुमुदे वासवदत्ता गर्भभरोदारदोहदिनी ॥२५८॥
तदनु तदनुषङ्गप्राप्तया प्रीतिभाजा-
मनवरतनिदेशप्रत्ययाद्देवतानाम् ।
निजपतिनिकटस्था भाविविद्याधरेन्द्र-
स्वतनयकथया तं वासरं सा निनाय ॥२५९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे नरवाहनदत्तजननलम्बके द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

वासवदत्तायाः स्वप्नदर्शनम्

ततो वासवदत्ता सा वत्सराजसमीपगम् ।
विजने सन्निवैर्युक्तमन्येद्युरिदमब्रवीत् ॥१॥
यतः प्रभृति गर्भोऽयमार्यपुत्र धृतो मया ।
ततः प्रभृत्ति तद्रक्षा तीव्रा मां हृदि बाधते ॥२॥
अद्य तच्चिन्तया चाहं सुप्ता निशि कथञ्चन ।
जाने दृष्टवती कञ्चित्स्वप्ने पुरुषमागतम् ॥३॥

जीमूतवाहन के कहने पर शंखचूड भी रसातल को गया और जीमूतवाहन का यश तीनों लोकों में फैल गया ।।२५३।।

तदनन्तर, प्रेम से नम्र देवताओं का समूह गरुड के पास आकर उस विद्याधर-कुल के तिलक जीमूतवाहन को प्रणाम करने लगा। पार्वती की कृपा से मतंग नामक जीमूतवाहन के सम्बन्धी भी भय से आकर उसे प्रणाम करने लगे, जो पहले उसके विरुद्ध थे ।।२५४।।

उन्हीं पूर्वविरोधी बन्धुओं से प्रार्थना किया गया जीमूतवाहन अपनी पत्नी मलयवती और प्रियमित्र मित्रावसु के साथ मलयाचल से हिमाचल पर अपनी प्राचीन राजधानी को गया ।।२५५।।

इस प्रकार, उस धैर्यशाली जीमूतवाहन ने चिरकाल तक विद्याधर-चक्रवर्त्ती-पद का उपभोग किया ।।२५६।।

अपने इस उज्ज्वल चरित्र से तीनों लोकों के हृदयों को चमत्कृत करनेवाले महापुरुषों की कल्याण-परम्परा स्वयं उनके समीप आती है ।।२५७।।

महारानी वासवदत्ता यौगन्धरायण के मुख से इस अद्भुत कथा को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई ।।२५८।।

तदनन्तर, प्रसन्न देवताओं के निरन्तर आदेश प्राप्त होते रहने के कारण इसी प्रसंग की चर्चा करती हुई अपने पति के निकट बैठी वासवदत्ता ने विद्याधरों के भावी चक्रवर्त्ती अपने पुत्र की कथा में वह दिन व्यतीत किया ।।२५९।।

महाकवि श्रीसोमदेव भट्ट विरचित कथासरित्सागर के नरवाहनदत्तजनन नामक चतुर्थ लम्बक का दूसरा तरंग समाप्त ।

तृतीय तरंग

वासवदत्ता का स्वप्न

कुछ समय के अनन्तर एक दिन वासवदत्ता मन्त्रियों के साथ बैठे हुए वत्सराज से एकान्त में इस प्रकार कहने लगी— ।।१।।

'हे आर्यपुत्र ! जबसे मैंने इस गर्भ को धारण किया है, तबसे मुझे इसकी रक्षा के लिए हृदय में अत्यधिक व्याकुलता बढ़ रही है ।।२।।

इसी प्रकार की चिन्ता करती हुई मैं आज रात किसी प्रकार सोई। नींद आने पर मैंने स्वप्न में एक पुरुष को देखा ।।३।।

भस्माङ्गरागसितया शेखरीकृतचन्द्रया ।
पिशङ्गजटया मूर्त्या शोभितं शूलहस्तया ॥४॥
स च मामभ्युपेत्यैव सानुकम्प इवावदत् ।
पुत्रि गर्भकृते चिन्ता न कार्या काचन त्वया ॥५॥
अहं तवैनं रक्षामि दत्तो ह्येष मयैव ते ।
किञ्चान्यच्छृणु वच्म्येव तव प्रत्ययकारणम् ॥६॥
श्वः कापि नारी विज्ञप्तिहेतोर्युष्मानुपैष्यति ।
अवष्टभ्येव साक्षेपमाकर्षन्ती निजं पतिम् ॥७॥
सा च दुश्चारिणी योषित् स्वबान्धवबलात् पतिम् ।
तं घातयितुमिच्छन्ती सर्वं मिथ्या ब्रवीति तत् ॥८॥
त्वं चात्र पुत्रि वत्सेशं पूर्वं विज्ञापयेस्तथा ।
तस्याः सकाशात्स यथा साधुर्मुच्येत कुस्त्रियः ॥९॥
इत्यादिश्य गते तस्मिन्नन्तर्धानं महात्मनि ।
प्रबुद्धा सहसैवाहं विमाता च विभावरी ॥१०॥
एवमुक्ते तया देव्या शर्वानुग्रहवादिनः ।
तत्रासन्विस्मिताः सर्वे संवादापेक्षिमानसाः ॥११॥
तस्मिन्नेव क्षणे चात्र प्रविश्यार्त्तानुकम्पिनम् ।
वत्सराजं प्रतीहारमुख्योऽकस्माद्व्यजिज्ञपत् ॥१२॥
आगता देव विज्ञप्त्यै कापि स्त्री बान्धवैर्वृता ।
पञ्चपुत्रान् गृहीत्वा स्वमाक्षिप्य विवशं पतिम् ॥१३॥
तच्छ्रुत्वा नृपतिर्देवीस्वप्नसंवादविस्मितः ।
प्रवेश्यतामिहैवेति प्रतीहारं तमादिशत् ॥१४॥
स्वप्नसत्यत्वसञ्जातसत्पुत्रप्राप्तिनिश्चया ।
देवी वासवदत्तापि सा सम्प्राप परां मुदम् ॥१५॥
अथ द्वारोन्मुखैः सर्वैर्वीक्ष्यमाणा सकौतुकम् ।
प्रतीहाराज्ञया योषिद् भर्तृयुक्ता विवेश सा ॥१६॥
प्रविश्याश्रितदैन्या च यथाक्रमकृतानतिः ।
अथ संसदि राजानं सदेवीकं व्यजिज्ञपत् ॥१७॥
अयं निरपराधाया मम भर्त्ता भवन्नपि ।
न प्रयच्छत्यनाथाया भोजनाच्छादनादिकम् ॥१८॥

उस पुरुष की मूर्त्ति भस्म के अंगराग से श्वेत थी और मस्तक पर चन्द्रमा था। उसकी लम्बी-लम्बी और पीले रंग की जटाएँ थीं और हाथ में त्रिशूल था ।।४।।

उसने मेरे पास आकर मानों दयार्द्र होकर कहा—'बेटी ! तुम्हें अपने गर्भ के सम्बन्ध में कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।।५।।

मैं तेरे गर्भ की रक्षा करता हूँ और मैंने ही तुझे यह गर्भ दिया है। तुम्हारे विश्वास के लिए एक बात और बता दूँ, सुनो ।।६।।

प्रातःकाल कोई एक स्त्री अपने पति को पकड़कर डाँटती-डपटती और उसे खींचती हुई कुछ निवेदन करने के लिए तुमलोगों के पास आयगी ।।७।।

वह स्त्री दुराचारिणी है और अपने बन्धुओं के बलपर पति को मारना चाहती है। वह मिथ्या भाषण करती है ।।८।।

यह बात सुनकर वत्सराज उदयन को पहले ही बता देना, जिससे वह सज्जन पति उस दुष्टा से छूट जाय' ।।९।।

इस प्रकार स्वप्न में आज्ञा देने पर और उसके सहसा अदृश्य हो जाने पर मैं एकाएक जागी, तो देखा कि रात भी बीत चुकी और प्रातःकाल हो गया ।।१०।।

रानी का यह स्वप्न-समाचार सुनकर शिवजी की कृपा का वर्णन करते हुए उस स्त्री के आने की प्रतीक्षा करते हुए सभी व्यक्ति आश्चर्यचकित हो रहे थे ।।११।।

उसी क्षण प्रधान द्वारपाल ने आकर दीनों पर दयालु वत्सराज से एकाएक निवेदन किया ।।१२।।

'महाराज ! अपने बान्धवों के साथ पाँच पुत्रों को लिये हुए और विवश पति को डाँटती-फटकारती हुई कोई स्त्री महाराज से निवेदन करने के लिए द्वार पर आई है' ।।१३।।

रानी के स्वप्न-समाचार से आश्चर्यचकित राजा ने यह सुनते ही 'उसे यहीं लाओ'—इस प्रकार की आज्ञा द्वारपाल को दी ।।१४।।

स्वप्न की सत्यता से उत्तम पुत्र की प्राप्ति का पूर्व विश्वास हो जाने के कारण रानी वासवदत्ता ने परम प्रसन्नता प्राप्त की ।।१५।।

तदनन्तर, बड़े ही कौतुक के साथ द्वार की ओर देखते हुए सभी उपस्थित व्यक्तियों के सामने पति से युक्त वह स्त्री द्वारपाल की आज्ञा से सम्मुख आई ।।१६।।

आते ही दीनतापूर्ण मुख बनाकर और क्रमशः सभी उपस्थित व्यक्तियों का अभिवादन करके रानी के साथ बैठे हुए राजा से उसने निवेदन किया— ।।१७।।

'हे महाराज ! मुझ निरपराधिनी का पति होकर भी यह व्यक्ति मुझ अनाथिनी को भोजन-वस्त्र नहीं देता' ।।१८।।

इत्युक्तवत्यां तस्यां च स तद्भर्त्ता व्यजिज्ञपत् ।
देव मिथ्या वदत्येषा सबन्धुर्मद्विषिणी ॥१९॥
आ वत्सरान्तं सर्वं हि दत्तमस्या मयाग्रतः ।
एतद् बन्धव एवान्ये तटस्था मेऽत्र साक्षिणः ॥२०॥
एवं विज्ञापितस्तेन राजा स्वयमभाषत ।
देवीस्वप्ने कृतं साक्ष्यं देवेनैवात्र शूलिना ॥२१॥
तत्किं साक्षिभिरेषैव निग्राह्या स्त्री सबान्धवा ।
इति राज्ञोदितेऽवादीद्धीमान् यौगन्धरायणः ॥२२॥
तथापि साक्षिवचनात्कार्यं देव यथोचितम् ।
लोको ह्येतदजानानो न प्रतीयात् कथञ्चन ॥२३॥
तच्छ्रुत्वा साक्षिणो राज्ञा तथेत्यानाय्य तत्क्षणम् ।
पृष्टाः शशंसुस्ते चात्र तां मिथ्यावादिनीं स्त्रियम् ॥२४॥
ततः प्रख्यातसद्भर्तृद्रोहामेतां सबान्धवाम् ।
सपुत्रां च स वत्सेशः स्वदेशान्निरवासयत् ॥२५॥
विससर्ज च तं साधुं तद्भर्त्तारं दयार्द्रधीः ।
विवाहान्तरपर्याप्तं वितीर्य विपुलं वसु ॥२६॥
पुमांसमाकुलं क्रूरा पतितं दुर्दशावटे ।
जीवन्तमेव कृष्णाति काकीव कुकुटुम्बिनी ॥२७॥
स्निग्धा कुलीना महती गृहिणी तापहारिणी ।
तरुच्छायेव मार्गस्था पुण्यैः कस्यापि जायते ॥२८॥
इति चैतत्प्रसङ्गेन वदन्तं तं महीपतिम् ।
वसन्तकः स्थितः पार्श्वे कथापटुरवोचत ॥२९॥
किं च देव विरोधो वा स्नेहो वापीह देहिनाम् ।
प्राग्जन्मवासनाभ्यासवशात्प्रायेण जायते ॥३०॥
तथा च श्रूयतामत्र कथेयं वर्ण्यते मया ।

सिंहविक्रमस्य कलहकारिण्यास्तद्भार्यायाश्च कथा

आसीद् विक्रमचण्डाख्यो वाराणस्यां महीपतिः ॥३१॥
तस्याभूद् वल्लभो भृत्यो नाम्ना सिंहपराक्रमः ।
यो रणेष्विव सर्वेषु द्यूतेष्वप्यसमो जयी ॥३२॥

पत्नी के ऐसा कहने पर उसके पति ने कहा—'महाराज ! अपने भाई-बन्धुओं के साथ मुझे मार डालना चाहती हुई यह स्त्री झूठ बोलती है। एक वर्ष पर्यन्त मैंने इसे भोजन-वस्त्र आदि सब कुछ दिया है। इसके सभी भाई-बन्धु तथा और भी निष्पक्षपात व्यक्ति इस बात के साक्षी हैं' ॥१६-२०॥

इस प्रकार, उससे निवेदित राजा स्वयं बोला—'इस बात का साक्ष्य रानी के स्वप्न में भगवान् शिवजी ने स्वयं किया है; तो अब और दूसरे साक्षियों की क्या आवश्यकता है। अतः, इस दुष्टा स्त्री को बन्धु-बान्धवों-सहित पकड़कर कैद कर लेना चाहिए ॥२१॥

राजा के इस प्रकार कहने पर बुद्धिमान् मन्त्री यौगन्धरायण ने कहा—'महाराज ! यह तो ठीक है। फिर भी नियमानुसार साक्षियों की बातों पर ही यथोचित दण्ड दिया जाना चाहिए; क्योंकि जनता स्वप्न की बात को न जानती हुई इस समुचित न्याय पर कैसे विश्वास करेगी ॥२२-२३॥

यह सुनकर यौगन्धरायण की सम्मति को उचित मानकर राजा ने साक्षियों को बुलाकर साक्षी ली। सभी ने उस स्त्री को झूठी बताया ॥२४॥

तब राजा ने उस स्त्री के लिए बन्धुओं के साथ सज्जन पति के द्रोह का अपराध लगाकर पुत्रों और बन्धुओं के साथ देश-निकाले का दण्ड दिया ॥२५॥

और, उसके सज्जन पति को छोड़कर दयालु राजा ने उसका दूसरा विवाह करने के लिए स्वयं प्रचुर द्रव्य भी उसे दिया ॥२६॥

सच है, क्रूर और कुलटा स्त्रियाँ, दुर्दशाग्रस्त एवं व्याकुल पतियों को जीते-ही-जीते कौवियों के समान नोच खाती हैं ॥२७॥

वृक्ष की छाया के समान स्नेहपूर्ण, कुलीन, उदारहृदया, दुःखहारिणी और सन्मार्ग-स्थित पत्नी किसी को ही बड़े पुण्यों से प्राप्त होती है ॥२८॥

इस प्रकार कहते हुए राजा के समीप बैठा हुआ कथा कहने में निपुण विदूषक वसन्तक बोला—॥२९॥

'महाराज ! एक बात और भी है कि मनुष्य में परस्पर स्नेह या विरोध प्रायः पूर्व जन्म के संस्कारों से ही होता है ॥३०॥

मैं इस सम्बन्ध में एक कथा सुनाता हूँ, उसे सुनो—

सिंहविक्रम और उसकी कलहकारिणी भार्या की कथा

किसी समय वाराणसी नगरी में विक्रमचण्ड नाम का एक राजा था। उसका सिंह-विक्रम नाम का एक प्यारा सेवक था, जो युद्ध में और जूआ खेलने में अति निपुण था ॥३१-३२॥

तस्याऽभवच्च विकृता वपुषीवाशयेऽप्यलम् ।
ख्याता कलहकारीति नाम्नान्वर्थेन गेहिनी ॥३३॥
स तस्याः सततं भूरि राजतो द्यूततस्तथा ।
प्राप्य प्राप्य धनं धीरः सर्वमेव समर्पयत् ॥३४॥
सा तु तस्य समुत्पन्नपुत्रत्रययुता शठा ।
तथापि क्षणमप्येकं न तस्थौ कलहं विना ॥३५॥
बहिः पिबसि भुङ्क्षे च नैव किञ्चिद्ददासि नः ।
इत्यारटन्ती ससुता सा तं नित्यमतापयत् ॥३६॥
प्रसाद्यमानाप्याहारपानवस्त्रैरहर्निशम् ।
दुरन्ता भोगतृष्णेव भृशं जज्वाल तस्य सा ॥३७॥
ततः क्रमेण तन्मन्युखिन्नस्त्यक्त्वैव तद्गृहम् ।
स विन्ध्यवासिनीं द्रष्टुमागात्सिहपराक्रमः ॥३८॥
सा तं स्वप्ने निराहारस्थितं देवी समादिशत् ।
उत्तिष्ठ पुत्र तामेव गच्छ वाराणसीं पुरीम् ॥३९॥
तत्र सर्वमहानेको योऽस्ति न्यग्रोधपादपः ।
तन्मूलात् खन्यमानात्त्वं स्वैरं निधिमवाप्स्यसि ॥४०॥
तन्मध्याल्लप्स्यसे चैकं नभःखण्डमिव च्युतम् ।
पात्रं गरुडमाणिक्यमयं निस्त्रिंशनिर्मलम् ॥४१॥
तत्रार्पितेक्षणो द्रक्ष्यस्यन्तः प्रतिमितामिव ।
सर्वस्य जन्तोः प्राग्जातिं या स्याज्जिज्ञासिता तव ॥४२॥
तेनैव बुद्ध्वा भार्यायाः पूर्वजातिं तथात्मनः ।
अवाप्तार्थः सुखी तत्र गतखेदो निवत्स्यसि ॥४३॥
एवमुक्तश्च देव्याः स प्रबुद्धः कृतपारणः ।
वाराणसीं प्रति प्रायात्प्रातः सिंहपराक्रमः ॥४४॥
गत्वा च तां पुरीं प्राप्य तस्मान्न्यग्रोधमूलतः ।
लेभे निधानं तन्मध्यात् पात्रं मणिमयं महत् ॥४५॥
अपश्यच्चात्र जिज्ञासुः पात्रे पूर्वत्र जन्मनि ।
घोरामृक्षीं स्वभार्यां तामात्मानं च मृगाधिपम् ॥४६॥
पूर्वजातिमहावैरवासनानिश्चलं ततः ।
बुद्ध्वा भार्यात्मनोर्द्वेषं शोकमोहौ मुमोच सः ॥४७॥

उसकी कलहकारिणी नाम की पत्नी यथार्थ नामवाली थी, जो शरीर और हृदय दोनों से कुटिल थी ॥३३॥

वह धैर्यशाली सिंहविक्रम नौकरी से और जूए से भी प्राप्त सभी धन उस पत्नी को अर्पण कर देता था ॥३४॥

तीन पुत्रोंवाली वह दुष्टा स्त्री एक क्षण भी विना कलह किये नहीं रह सकती थी ॥३५॥

वह अपने पति से कहा करती थी कि 'तुम बाहर ही खाते-पीते हो, मुझे कुछ नहीं देते हो'। इस प्रकार, वह उसे प्रतिदिन सन्ताप देती थी ॥३६॥

भोजन, वस्त्र और आभूषण आदि से सदा उसको प्रसन्न रखने की चेष्टा करते रहने पर भी वह अनन्त भोग-तृष्णा के समान सदा जलती ही रहती थी ॥३७॥

इस प्रकार, उसके दुःख से दुःखी सिंहविक्रम उस घर को छोड़कर विन्ध्यवासिनी देवी का दर्शन करने के लिए चला गया ॥३८॥

वहाँ जाकर उसके निराहार धरना देने पर प्रसन्न देवी ने स्वप्न में उससे कहा— 'बेटा, उठो, उसी वाराणसी नगरी को जाओ ॥३९॥

वहाँ एक बहुत विशाल वटवृक्ष है, उसकी जड़ खोदने पर तुम बहुत बड़ा खजाना पाओगे। उसके भीतर तुम मानों आकाश से गिरा हुआ और तलवार-सा चमकता हुआ एक मणिमय पात्र पाओगे। उसके भीतर देखने से सभी प्राणियों के पूर्वजन्म तुम देख सकोगे। उससे तुम अपनी पत्नी तथा अपने पूर्वजन्म की जाति को जानकर सफल, सुखी और शोकरहित हो जाओगे' ॥४०–४३॥

देवी से इस प्रकार आदिष्ट वह सिंहविक्रम प्रातःकाल उठकर और व्रत का पारण (समाप्ति) करके वाराणसी को गया ॥४४॥

वहाँ जाकर उसने वटवृक्ष की जड़ से खजाना प्राप्त किया और वह पात्र भी उसे मिल गया ॥४५॥

उस पात्र में उसने अपनी पत्नी को पूर्वजन्म में भीषण भालू (मादा) के रूप में और अपने को सिंह के रूप में देखा। अतः, उसने पूर्वजन्म के जातिगत संस्कारों के कारण अपना और पत्नी का घोर मतभेद समझकर दुःख और मोह छोड़ दिया ॥४६-४७॥

अथ बह्वीः परिज्ञातास्तत्र पात्रप्रभावतः ।
प्राग्जन्मभिन्नजातीयाः परिहृत्यैव कन्यकाः ।।४८।।
तुल्यां जन्मान्तरे सिंहीं परिणिन्ये विचिन्त्य सः ।
भार्यां द्वितीयां सिंहश्रीनाम्नीं सिंहपराक्रमः ।।४९।।
कृत्वा कलहकारीं च तां स ग्रासैकभागिनीम् ।
निधानप्राप्तिमुखितस्तस्थौ नववधूसखः ।।५०।।
इत्थं दारादयोऽपीह भवन्ति भुवने नृणाम् ।
प्राक्संस्कारवशायातवैरस्नेहा महीपते ।।५१।।
इत्याकर्ण्य कथां चित्रां वत्सराजो वसन्तकात् ।
भृशं तुतोष सहितो देव्या वासवदत्तया ।।५२।।
एवं दिनेषु गच्छत्सु राज्ञस्तस्य दिवानिशम् ।
अतृप्तस्य लसद्गर्भदेवीवक्त्रेन्दुदर्शने ।।५३।।

मन्त्रिपुत्राणामुत्पत्तिः

मन्त्रिणामुदपद्यन्त सर्वेषां शुभलक्षणाः ।
क्रमेण तनयास्तत्र भाविकल्याणसूचकाः ।।५४।।
प्रथमं मन्त्रिमुख्यस्य जायते स्म किलात्मजः ।
यौगन्धरायणस्यैव मरुभूतिरिति श्रुतः ।।५५।।
ततो रुमण्वतो जज्ञे सुतो हरिशिखाभिधः ।
वसन्तकस्याप्युत्पेदे तनयोऽथ तपन्तकः ।।५६।।
ततो नित्योदिताख्यास्य प्रतीहाराधिकारिणः ।
इत्यकापरसंज्ञस्य पुत्रोऽजायत गोमुखः ।।५७।।
वत्सराजसुतस्येह भाविनश्चक्रवर्त्तिनः ।
मन्त्रिणोऽमी भविष्यन्ति वैरिवंशावमर्दिनः ।।५८।।
इति तेषु च जातेषु वर्त्तमाने महोत्सवे ।
तत्राशरीरा नभसो निःससार सरस्वती ।।५९।।
दिवसेष्वथ जातेषु वत्सराजस्य तस्य सा ।
देवी वासवदत्ताभूदासन्नप्रसवोदया ।।६०।।

नरवाहनदत्तजन्म

अध्यास्त सा च तच्चित्रं पुत्रिणीभिः परिष्कृतम् ।
जातवासगृहं सार्कशमीगुप्तगवाक्षकम् ।।६१।।

उसके पश्चात् उसने पात्र से प्रभाव के अनेक कन्याओं के पूर्वजन्म को देखा और पूर्वजन्म की भिन्न-भिन्न जातीय उन कन्याओं को छोड़कर अपने पूर्व जाति के समान सिंह जाति की एक कन्या से उसने विवाह किया। उस स्त्री का नाम सिंहश्री था ॥४८-४९॥

उस कलहकारिणी स्त्री को केवल भोजन-मात्र देकर, खजाना मिलने से सुखी सिंहविक्रम नवीन वधू के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥५०॥

इस कथा को सुनकर वसन्तक ने कहा—महाराज ! इस प्रकार पूर्वजन्म के जातिगत संस्कारों के कारण भी स्त्री, पुत्र, मित्र आदि इस जन्म में स्नेही या विरोधी हो जाते हैं ॥५१॥

वत्सराज उदयन वसन्तक के मुख से इस कथा को सुनकर महारानी के साथ अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥५२॥

इस प्रकार गर्भवती रानी के मुखचन्द्र को निरन्तर देखते हुए राजा के दिन व्यतीत होने लगे ॥५३॥

मन्त्रियों के पुत्रों की उत्पत्ति

इन्हीं दिनों राजा के सभी मन्त्रियों के यहाँ शुभ लक्षणोंवाले पुत्र उत्पन्न हुए, जो भविष्य के लिए कल्याण-प्राप्ति की सूचना देनेवाले थे ॥५४॥

सबसे पहले मन्त्रिप्रमुख यौगन्धरायण का मरुभूति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५५॥

तब सेनापति रुमण्वान् का हरिशिख नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और नर्मसचिव वसन्तक का भी तपन्तक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५६॥

तब नित्योदित नाम के द्वारपालाध्यक्ष के, जिसका दूसरा नाम 'इत्यक' था, गोमुख नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५७॥

ये सभी बालक विद्याधरों के भावी चक्रवर्त्ती एवं वैरियों के वंश का नाश करनेवाले वत्सराज के कुमार के भावी मन्त्री होंगे ॥५८॥

इन बालकों के उत्पन्न होने पर जब महोत्सव मनाये जा रहे थे, तब उस समय वहाँ पर आकाश से देववाणी हुई—॥५९॥

'कुछ ही और दिनों के व्यतीत होने पर वत्सराज की रानी वासवदत्ता का प्रसवकाल भी सन्निकट होगा' ॥६०॥

नरवाहनदत्त का जन्म

अब वह रानी आक और शमी के पत्तों से ढकी हुई खिड़कियोंवाले, रत्न-दीपकों की किरणों और शस्त्रास्त्रों की चमक-दमक से आलोकित एवं पुत्रवती सुहागिनों से भरे हुए प्रसूति-गृह में रहने लगी ॥६१॥

रत्नदीपप्रभासङ्गमङ्गलैर्विविधायुधैः ।
गर्भरक्षाक्षमं तेजो ज्वलयद्भिरिवावृतम् ॥६२॥
मन्त्रिभिस्तन्त्रितानेकमन्त्रतन्त्रादिरक्षितम् ।
जातं मातृगणस्येव दुर्गं दुरितदुर्जयम् ॥६३॥
तत्रासूत च सा काले कुमारं कान्तदर्शनम् ।
द्यौरिन्दुमिव निर्गच्छदच्छामृतमयद्युतिम् ॥६४॥
येन जातेन न परं मन्दिरं तत्प्रकाशितम् ।
यावद्धृदयमप्यस्या मातुर्निःशोकतामसम् ॥६५॥
ततः प्रमोदे प्रसरत्यत्रान्तःपुरवासिनाम् ।
वत्सेशः सुतजन्मैतच्छुश्रावाभ्यान्तराज्जनात् ॥६६॥
तस्मै स राज्यमपि यत्प्रीतः प्रियनिवेदिने ।
न ददौ तदनौचित्यभयेन न तु तृष्णया ॥६७॥
एत्य चान्तःपुरं सद्यो बद्धौत्सुक्येन चेतसा ।
चिरात्फलितसङ्कल्पः स ददर्श सुतं नृपः ॥६८॥
रक्तायताधरदलं चलोर्णाचारुकेसरम् ।
मुखं दधानं साम्राज्यलक्ष्मीलीलाम्बुजोपमम् ॥६९॥
प्रागेवान्यनृपश्रीभिर्भीत्येव निजलाञ्छनैः ।
उज्झितैरङ्कितं मृद्वोः पादयोश्छत्रचामरैः ॥७०॥
ततो हर्षभरापूरपीडनोत्फुल्लया दृशा ।
सास्रया स्रवतीवास्मिन्सुतस्नेहमहीपतौ ॥७१॥
नन्दत्स्वपि च यौगन्धरायणादिषु मन्त्रिषु ।
गगनादुच्चचारैवं काले तस्मिन् सरस्वती ॥७२॥
कामदेवावतारोऽयं राजन् जातस्तवात्मजः ।
नरवाहनदत्तञ्च जानीह्येनमिहाख्यया ॥७३॥
अनेन भवितव्यं च दिव्यं कल्पमतन्द्रिणा ।
सर्वविद्याधरेन्द्राणामचिराच्चक्रवर्त्तिना ॥७४॥
इत्युक्त्वा विरतं वाचा तत्क्षणं नभसः क्रमात् ।
पुष्पवर्षैर्निपतितं प्रसृतं दुन्दुभिःस्वनैः ॥७५॥
ततः सुरकृतारम्भजनिताभ्यधिकादरम् ।
स राजा सुतरां हृष्टश्चकार परमुत्सवम् ॥७६॥

वह प्रसूति-गृह, मन्त्रियों द्वारा अनेक मन्त्र-तन्त्रों से सुरक्षित किया गया, मानों मृगों की रक्षा के लिए और कष्टों के लिए दुर्गम दुर्ग बन गया हो। उस प्रसूति-गृह में रानी ने समय आने पर सुन्दर और दर्शनीय पुत्र को इस प्रकार जन्म दिया, जिस प्रकार आकाश स्वच्छ और अमृतमय चन्द्रमा को जन्म देता है ।।६२–६४।।

इस कुमार के जन्म लेने से केवल प्रसूति-गृह ही आलोकित नहीं हुआ, प्रत्युत माता का हृदय-मन्दिर भी शोक-रहित हो, प्रसन्नता से आलोकित हो उठा ।।६५।।

पुत्र-जन्म से, सारे रनिवास में, प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और रनिवास के व्यक्ति से ही राजा उदयन ने यह शुभ समाचार सुना ।।६६।।

पुत्र-जन्म का समाचार सुननेवाले दूत को प्रसन्न राजा ने, अपना राज्य लालचवश नहीं दिया, यह नहीं, प्रत्युत अनुचित समझकर ही नहीं दिया ।।६७।।

इस प्रकार, चिरकाल के पश्चात् सफल मनोरथवाले महाराजा ने अत्यन्त उत्सुक हृदय से प्रसूति-गृह में आकर बालक को देखा ।।६८।।

उस बालक का मुख लाल और चौड़े अधरोंवाला, ऊन के रेशों के समान सिर के कोमल बालोंवाला और साम्राज्य-लक्ष्मी के लीला-कमल के समान शोभित हो रहा था।।६९।।

अन्य राजाओं की राज्य-लक्ष्मी ने मानों भय से उसके कोमल चरणों को पहले से ही छत्र और चामर से चिह्नित कर दिया था ।।७०।।

पुत्र का मुख देखने पर हर्ष की अधिकता से फैली हुई और हर्षाश्रु-धारा बहाती हुई आँखों से प्रतीत होता था कि राजा की पुत्रस्नेह-धारा मानों बह निकली ।।७१।।

उस अवसर पर राजा के परम हितैषी यौगन्धरायण आदि भी अति प्रसन्न हो रहे थे। उसी समय आकाश से इस प्रकार की वाणी हुई—'राजन्! तुम्हारा यह पुत्र कामदेव का अवतार है, इसका नाम नरवाहनदत्त होगा। यह वीर एक दिव्य युग तक विद्याधरों का चक्रवर्त्ती राजा रहेगा' ।।७२–७४।।

ऐसा कहकर वाणी बन्द हो गई। आकाश से पुष्पवर्षा हुई और शहनाइयों के संगीत फैलने लगे ।।७५।।

देवताओं द्वारा मनाये गये उत्सव से अत्यन्त उत्साहित और प्रसन्न होकर राजा ने अपने विस्तृत राज्य में व्यापक पुत्रजन्म-महोत्सव मनाया ।।७६।।

बभ्रमुस्तूर्यनिनदा नभस्तो मन्दिरोद्गताः ।
विद्याधरेभ्यः सर्वेभ्यो राजजन्मेव शंसितुम् ॥७७॥
सौधाग्रेष्वनिलोद्धूताः शोणरागा स्वकान्तिभिः ।
पताका अपि सिन्दूरमन्योन्यमकिरन्निव ॥७८॥
भुवि साङ्गस्मरोत्पत्तितोषादिव सुराङ्गनाः ।
समागताः प्रतिपदं ननर्त्तुर्वारयोषितः ॥७९॥
अदृश्यत च सर्वा सा समानविभवा पुरी ।
राज्ञो बद्धोत्सवात् प्राप्तैर्नववस्त्रविभूषणैः ॥८०॥
तदा हर्षान्नृपे तस्मिन्वर्षत्यर्थ्यनुजीविषु ।
कोषादृते न तत्रत्यो दधौ कश्चन रिक्तताम् ॥८१॥
मङ्गल्यपूर्वाः स्वाचारदक्षिणा नर्त्तितापराः ।
सत्प्राभृतोत्तरास्तैस्तैः सुरक्षिभिरधिष्ठिताः ॥८२॥
प्रसृतातोद्यनिर्ह्रादाः साक्षाद्दिव इवाखिलाः ।
समन्तादाययुश्चात्र सामन्तान्तःपुराङ्गनाः ॥८३॥
चेष्टा नृत्तमयी तत्र पूर्णपात्रमयं वचः ।
व्यवहारो महात्यागमयस्तूर्यमयो ध्वनिः ॥८४॥
चीनपिष्टमयोलोकश्चारणैकमयी च भूः ।
आनन्दमय्यां सर्वस्यामपि तस्यामभूत्पुरि ॥८५॥
एवं महोत्सवस्तत्र भूरिवासरवर्धितः ।
निर्वर्त्तते स्म स समं पूर्णैः पौरमनोरथैः ॥८६॥
सोऽपि व्रजत्सु दिवसेष्वथ राजपुत्रो
वृद्धिं शिशुः प्रतिपदिन्दुरिवाजगाम ।
पित्रा यथाविधिनिवेदितदिव्यवाणी-
निर्दिष्टपूर्वनरवाहनदत्तनाम्ना ॥८७॥
यानि स्फुरन्मसृणमुग्धनखप्रभाणि
द्वित्राणि यानि च खचद्दशनाङ्कुराणि ।
तानि स्खलन्ति ददतो वदतश्च तस्य
दृष्ट्वा निशम्य च पदानि पिता तुतोष ॥८८॥
अथ तस्मै मन्त्रिवराः स्वसुतानानीय राजपुत्राय ।
शिशवे शिशून् महीपतिहृदयानन्दान् समर्पयामासुः ॥८९॥

वाद्यों के शब्द घरों से निकलकर आकाश में फैलने लगे, मानों समस्त विद्याधरों को नवीन राजा के जन्म लेने की सूचना दे रहे हों ।।७७।।

ऊँचे-ऊँचे महलों पर फहराती हुई लाल रंग की पताकाएँ मानों प्रसन्नता से आपस में गुलाल उड़ा रही हों— ऐसी प्रतीत होती थीं ।।७८।।

घर-घर में प्रसन्नता से वेश्याओं के नाच-गान चल रहे थे। ऐसा लगता था, मानों स्वर्ग की सुन्दरियाँ प्रसन्नता से भूमि पर उतर आई हों ।।७९।।

उत्सव के उपलक्ष्य में राजा द्वारा बाँटे गये एक समान वस्त्रों और आभूषणों से सारी नगरी एक समान वैभवशाली मालूम होती थी ।।८०।।

जब राजा ने उत्सव के उपलक्ष्य में अपने सेवकों को धन लुटाना प्रारम्भ किया, तब खजाने के अतिरिक्त और कोई भी खाली न रहा ।।८१।।

पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी मंगलगान करती हुई, रीति-रिवाजों को जाननेवाली, नाचती-गाती और विविध प्रकार के उपहार हाथों में ली हुई अपने रक्षकों के साथ-साथ रनिवास में एकत्र हुईं, तो ऐसा लगता था, मानों स्वर्ग की स्त्रियाँ प्रसन्नता से राजभवन में उतर आई हों ।।८२-८३।।

उस समय सभी की चेष्टाएँ नृत्यमयी, सभी के वचन पूर्णपात्रमय, सभी का व्यवहार त्यागमय और सभी का स्वर वाद्यमय हो रहा था ।।८४।।

आनन्दमयी उस नगरी में सभी जन अबीर-गुलालमय और सारी भूमि वन्दियों से भरी हुई थी ।।८५।।

इस प्रकार, अनेक दिनों तक चलता हुआ यह उत्सव नागरिकों के मनोरथ के समान पूर्ण हुआ ।।८६।।

आकाशवाणी के आज्ञानुसार पिता द्वारा दिये गये नरवाहनदत्त नामवाला वह राजकुमार कुछ दिनों में ही प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान क्रमशः बड़ा हुआ ।।८७।।

चमकते, चिकने और सुन्दर नखों की कान्तिवाले, दो-चार निकले हुए आगे के सुन्दर दाँतोंवाले उस राजकुमार के मुँह से निकलते हुए कुछ अस्पष्ट और तुतले बोलों तथा लीलापूर्वक दो-चार डग भरने की उसकी चालों को देखकर उसका पिता मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव करता था ।।८८।।

इस प्रकार, उसके कुछ बड़े होने पर सभी मन्त्रियों ने हृदयों को आनन्द देनेवाले अपने-अपने बालकों को लाकर खेलने के लिए राजकुमार को सौंप दिया ।।८९।।

यौगन्धरायणः प्राङ्मरुभूतिं हरिशिखं रुमण्वांश्च ।
गोमुखमित्यकनामा तपन्तकाख्यं वसन्तकश्च सुतम् ॥९०॥
शान्तिकरोऽपि पुरोधा भ्रातृसुतं शान्तिसोममपरं च ।
वैश्वानरमर्पितवान्पिङ्गलिकापुत्रकौ यमजौ ॥९१॥
तस्मिन्क्षणे च नभसो निपपात दिव्या
नान्दीनिनादसुभगा सुरपुष्पवृष्टिः ।
राजा ननन्द च तदा महिषीसमेतः
सत्कृत्य तत्र सचिवात्मजमण्डलं तत् ॥९२॥
बाल्येऽपि तैरभिमतैरथ मन्त्रिपुत्रैः
षड्भिस्तदेकनिरतैश्च स राजपुत्रः ।
युक्तः सदैव नरवाहनदत्त आसी-
द्युक्तो गुणैरिव महोदयहेतुभूतैः ॥९३॥
तं च क्रीडाकलितललिताव्यक्तनर्माभिलाषं
यान्तं प्रीतिप्रवणमनसामङ्कतोऽङ्कं नृपाणाम् ।
पुत्रं स्मेराननसरसिजं सादरं पश्यतस्ते
बद्धानन्दाः किमपि दिवसा वत्सराजस्य जग्मुः ॥९४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
नरवाहनदत्तजननलम्बके तृतीयस्तरङ्गः।
समाप्तश्चायं नरवाहनदत्तजननलम्बकश्चतुर्थः।

सबसे पहले यौगन्धरायण ने अपने पुत्र मरुभूति को, इसी प्रकार क्रमशः रुमण्वान् ने हरिशिख को, इत्यक (नित्योदित) ने गोमुख को, वसन्तक ने तपन्तक को और पुरोहित शान्तिकर ने अपने दोनों जुड़वाँ भतीजे शान्तिसोम और वैश्वानर नामक पिंगलिका के पुत्रों को लाकर समर्पित कर दिया ॥६०-६१॥

उस समय सुन्दर मंगलवाद्यों के साथ आक..श में दिव्य पुष्पों की वृष्टि हुई और राजा तथा रानी नवीन मन्त्रिमण्डल का सत्कार करके अत्यन्त आनन्दित हुए ॥६२॥

बाल्यकाल में उन छह अनन्य प्रेमी मन्त्रिपुत्रों के साथ युक्त वह राजकुमार नरवाहनदत्त, अभ्युदय के कारणभूत गुणों के समान शोभित हो रहा था ॥६३॥

अपनी विविध और सुन्दर बाल-लीलाओं से प्रेमपूर्ण हृदयोंवाले राजाओं की एक गोद से दूसरी गोद में जाते हुए, एवं मुस्कराते हुए उस राजकुमार के मुखकमल को देखते हुए वत्सराज के दिन आनन्दपूर्वक व्यतीत होने लगे ॥६४॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-रचित कथासरित्सागर के नरवाहनदत्तजनन नामक लम्बक का तृतीय तरंग समाप्त ।

नरवाहनदत्त जनन नामक चतुर्थ लम्बक समाप्त ।

चतुर्दारिका नाम पञ्चमो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ॥

प्रथमस्तरङ्गः

मदघूर्णितवक्त्रोत्थैः सिन्दूरैश्छुरयन् महीम् ।
हेरम्बः पातु नो विघ्नान् स्वतेजोभिर्दहन्निव ॥१॥
एवं स देवीसहितस्तस्थौ वत्सेश्वरस्तदा ।
नरवाहनदत्तं तमेकपुत्रं विवर्धयन् ॥२॥
तद्रक्षाकातरं तं च दृष्ट्वा राजानमेकदा ।
यौगन्धरायणो मन्त्री विजनस्थितमब्रवीत् ॥३॥
राजन्न राजपुत्रस्य कृते चिन्ता त्वयाधुना ।
नरवाहदत्तस्य विधातव्या कदाचन ॥४॥
असौ भगवता भावी भर्गेण हि भवद्गृहे ।
सर्वविद्याधराधीशचक्रवर्त्ती विनिर्मितः ॥५॥
विद्याप्रभावादेतच्च बुद्ध्वा विद्यधराधिपाः ।
गताः पापेच्छवः क्षोभं हृदयैरसहिष्णवः ॥६॥
तद्विदित्वा च देवेन रक्षार्थं शशिमौलिनः ।
एतस्य स्तम्भको नाम गणेशः स्थापितो निजः ॥७॥
स च तिष्ठत्यलक्ष्यः सन् रक्षन्नेतं सुतं तव ।
एतच्च क्षिप्रमभ्येत्य नारदो मे न्यवेदयत् ॥८॥

वत्सराजसभायां शक्तिवेगस्यागमनकथा

इति तस्मिन् वदत्येव मन्त्रिणि व्योममध्यतः ।
किरीटी कुण्डली दिव्यः खड्गी चावातरत्पुमान् ॥९॥

चतुर्दारिका नामक पंचम लम्बक

[मंगलश्लोक का अर्थ प्रथम लम्बक के प्रथम तरंग के प्रारम्भ में देखें।]

प्रथम तरंग

वत्सराज की सभा में शक्तिवेग का आगमन

मद-घूर्णित मुख से छिटकते हुए सिन्दूर से सुशोभित मानों अपने तेज से विघ्नों को नष्ट, करते हुए और सिन्दूरी आभा से पृथ्वी को रंजित करते हुए गजानन आपकी रक्षा करें ॥१॥

इस प्रकार, उस एकमात्र कुमार नरवाहनदत्त का पालन-पोषण करता हुआ वत्सराज उदयन महारानी वासवदत्ता के साथ सुखपूर्वक रहने लगा ॥२॥

एक बार पुत्र की रक्षा के लिए व्याकुल राजा को देखकर मन्त्री यौगन्धरायण ने एकान्त में राजा से कहा ॥३॥

'राजन् ! तुम्हें राजकुमार नरवाहनदत्त के लिए अब किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥४॥

इस राजकुमार को भगवान् शिव ने होनेवाले विद्याधरों के चक्रवर्त्ती के रूप में तुम्हारे घर में उत्पन्न किया है ॥५॥

विद्याधरों के राजा, अपनी विद्याओं के प्रभाव से इस बात को जानकर ईर्ष्या (जलन) के कारण अत्यन्त क्षुब्ध हो गये हैं ॥६॥

इस बात को जानकर शिवजी ने उसकी रक्षा के लिए अपने स्तम्भक नामक गणों के सरदार को नियुक्त किया है ॥७॥

वह गणेश, इस तुम्हारे बालक की रक्षा करता हुआ अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ निवास करता है। यह बात नारदमुनि ने शीघ्र ही आकर मुझसे कही है' ॥८॥

जब मन्त्री यौगन्धरायण यह बात राजा से कह रहा था कि इसी समय किरीट और कुण्डल धारण कर और हाथ में खड्ग लिये हुए एक दिव्य पुरुष आकाश से उतरा ॥९॥

प्रणतं कल्पितातिथ्यं क्षणाद् वत्सेश्वरोऽथ तम्
कस्त्वं किमिह ते कार्यमित्यपृच्छत् सकौतुकम् ॥१०॥
सोऽप्यवादीदहं मर्त्यो भूत्वा विद्याधर धिपः ।
सम्पन्नः शक्तिवेगाख्यः प्रभूताश्च ममारयः ॥११॥
सोऽहं प्रभावाद् विज्ञाय भाव्यस्मच्चक्रवर्त्तिनम् ।
भवतस्तनयं द्रष्टुमागतोऽस्म्यवनीपते ॥१२॥
इत्युक्तवन्तं तं दृष्टभविष्यच्चक्रवर्त्तिनम् ।
प्रीतं वत्सेश्वरो हृष्टः पुनः पप्रच्छ विस्मयात् ॥१३॥
विद्याधरत्वं प्राप्येत कथं कीदृग्विधं च तत् ।
त्वया च तत्कथं प्राप्तमेतत् कथय नः सखे ॥१४॥
तच्छ्रुत्वा वचनं राज्ञः स तदा विनयानतः ।
विद्याधरः शक्तिवेगस्तमेवं प्रत्यवोचत ॥१५॥
राजन्निहैव पूर्वे वा जन्मन्याराध्य शङ्करम् ।
विद्याधरपदं धीरा लभन्ते तदनुग्रहात् ॥१६॥
तच्चानेकविधं विद्याखड्गमालादिसाधनम् ।
मया च तद्यथा प्राप्तं कथयामि तथा शृणु ॥१७॥
एवमुक्त्वा स्वसम्बद्धां शक्तिवेगः स सन्निधौ ।
देव्या वासवदत्तायाः कथामाख्यातवानिमाम् ॥१८॥

कनकपुरीशक्तिवेगयोः कथा

अभवद् वर्धमानाख्ये पुरे भूतलभूषणे ।
नाम्ना परोपकारीति पुरा राजा परन्तपः ॥१९॥
तस्योन्नतिमतश्चाभून्महिषी कनकप्रभा ।
विद्युद्धाराधरस्येव सा तु निर्मुक्तचापला ॥२०॥
तस्यां तस्य च कालेन देव्यामजनि कन्यका ।
रूपदर्पोपशान्त्यै या लक्ष्म्या धात्रेव निर्मिता ॥२१॥
अवर्धत शनैः सा च लोकलोचनचन्द्रिका ।
पित्रा कनकरेखेति मातृनाम्ना कृतात्मजा ॥२२॥
एकदा यौवनस्थायां तस्यां राजा च तत्पिता ।
विजनोपस्थितां देवीं जगाद कनकप्रभाम् ॥२३॥

प्रणाम करके आथित्य-सत्कार किये गये उस पुरुष को वत्सराज उदयन ने उत्सुकता से पूछा कि 'तुम कौन हो ?' और तुम्हारा यहाँ क्या कार्य है। अर्थात्, किसलिए आये हो' ॥१०॥

उसने कहा, 'मैं मनुष्य होकर भी शक्तिवेग नाम से विद्याधरों का राजा बन गया। अतः, मेरे बहुत शत्रु हैं ॥११॥

इसलिए हे राजन् ! मैं अपनी विद्या के प्रभाव से यह जानकर कि तुम्हारा पुत्र भविष्य में हम विद्याधरों का चक्रवर्त्ती होगा, इसलिए उसे देखने को आया हूँ" ॥१२॥

ऐसा कहकर भावी विद्याधर-चक्रवर्त्ती का दर्शन कर प्रसन्न शक्तिवेग से राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा—॥१३॥

'मित्र ! विद्याधरत्व कैसे प्राप्त होता है। वह कैसा होता है और तुमने विद्याधरत्व को कैसे प्राप्त किया'। यह सब मुझसे कहो ॥१४॥

राजा की बातें सुनकर विनय से नम्र शक्तिवेग नामक विद्याधर बोला—॥१५॥

'राजन् ! इस जन्म में या अगले जन्म में शिवजी की आराधना करने पर धैर्यशाली व्यक्ति, उनकी कृपा से विद्याधर-पद को प्राप्त होता है ॥१६॥

वह विद्याधर अनेक प्रकार का होता है, जो विद्या, खड्ग या भाला आदि की सिद्धि द्वारा प्राप्त होता है। मैंने उसे जिस प्रकार पाया, कहता हूँ, सुनो' ॥१७॥

ऐसा कहकर शक्तिवेग ने महारानी वासवदत्ता के समक्ष राजा से अपनी कथा कहनी प्रारम्भ की ॥१८॥

कनकपुरी और शक्तिवेग की कथा

प्राचीन काल में वर्धमान[1] नाम का एक नगर था; जो भूतल का भूषण था। उस नगर में परोपकारी नामक वीर राजा हुआ ॥१९॥

उस उन्नतिशील राजा की महारानी मेघ की रानी विद्युत् के समान 'कनकप्रभा' नाम की थी। वह चंचलता से रहित, अर्थात् अति गम्भीर थी ॥२०॥

कुछ समय के पश्चात् उस राजा को रानी कनकप्रभा के गर्भ से एक कन्या उत्पन्न हुई, जो विधाता ने मानों लक्ष्मी के रूप का अभिमान नष्ट करने के लिए निर्मित की थी ॥२१॥

लोकों की आँखों के लिए चाँदनी के समान वह राजकुमारी धीरे-धीरे बढ़ने लगी। पिता ने माता के ही नाम पर उसका नाम कनकरेखा रख दिया ॥२२॥

कन्या के युवती होने पर एक बार राजा ने एकान्त में आई हुई महारानी कनकप्रभा से कहा—॥२३॥

---

१. बंगाल का प्रसिद्ध वर्द्धमान (बर्दवान) नगर।

वर्धमाना सहैवैतत्समानोद्वाहचिन्तया ।
एषा कनकरेखा मे हृदयं देवि बाधते ॥२४॥
स्थानप्राप्तिविहीना हि गीतिवत् कुलकन्यका ।
उद्वेजिनी परस्यापि श्रूयमाणैव कर्णयोः ॥२५॥
विद्येव कन्यका मोहादपात्रे प्रतिपादिता ।
यशसे न न धर्माय जायेतानुशयाय तु ॥२६॥
तत्कस्मै दीयते ह्येषा मया नृपयते सुता ।
कोऽस्याः समः स्यादिति मे चिन्ता देवि ! गरीयसी ॥२७॥
तच्छ्रुत्वा सा विहस्यैवं बभाषे कनकप्रभा ।
त्वमेवमात्थ कन्या तु नेच्छत्युद्वाहमेव सा ॥२८॥
अद्यैव नर्मणा सा हि कृतकृत्रिमपुत्रका ।
वत्से कदा विवाहं ते द्रक्ष्यामीत्युदिता मया ॥२९॥
सा तच्छ्रुत्वैव साक्षेपमेवं मां प्रत्यवोचत ।
मा मैवमम्ब दातव्या नैव कस्मैचिदप्यहम् ॥३०॥
मद्वियोगो न चादिष्टः कन्यैवास्मि सुशोभना ।
अन्यथा मां मृतां विद्धि किञ्चिदस्त्यत्र कारणम् ॥३१॥
एवं तयोक्ता त्वत्पार्श्वं राजन् विग्ना¹हमागता ।
तन्निषिद्धविवाहायाः का वरस्य विचारणा ॥३२॥
इति राज्ञीमुखाच्छ्रुत्वा समुद्भ्रान्तः स भूपतिः ।
कन्यकान्तः पुरं गत्वा तामवादीत्तदा सुताम् ॥३३॥
प्रार्थयन्तेऽपि तपसा यं सुरासुरकन्यकाः ।
भर्तृलाभः कथं वत्से स निषिद्धः किल त्वया ॥३४॥
एतत्पितुर्वचः श्रुत्वा भूतलन्यस्तलोचना ।
तदा कनकरेखा सा निजगाद नृपात्मजा ॥३५॥
तात नैवेप्सितस्तावद् विवाहो मम साम्प्रतम् ।
तत्तातस्यापि किं तेन कार्यं कश्चात्र वो ग्रहः ॥३६॥
इत्युक्तः स तया राजा दुहित्रा धीमतां वरः ।
परोपकारी स पुनरेवमेतामभाषत ॥३७॥

१. व्याकुला ।

"यह कन्या कनकरेखा, विवाह की चिन्ता के साथ समान रूप से बढ़ती हुई मेरे हृदय को व्यथित कर रही है ।।२४।।

समुचित स्थान से भ्रष्ट गीति (गान) के समान कन्या पराये व्यक्ति के भी कानों में उद्वेग उत्पन्न करती है ।।२५।।

अज्ञान से कुपात्र में दी हुई विद्या के समान कुपात्र को दी हुई कन्या न यश के लिए होती है, न धर्म के लिए ही, प्रत्युत पश्चात्ताप के लिए होती है ।।२६।।

अतः, मैं इस कन्या को किस राजा के लिए दूँ । इसके योग्य वर कौन होगा, यह मेरे हृदय में भारी चिन्ता हो रही है" ।।२७।।

यह सुनकर महारानी कनकप्रभा हँसकर राजा से बोली कि 'आप तो इस प्रकार चिन्तित हैं; किन्तु वह कनकरेखा तो विवाह ही नहीं करना चाहती' ।।२८।।

आज ही खेल में गुड़िया बनाती हुई उससे मैंने कहा कि 'मैं तुम्हारा विवाह कब देखूँगी?' ।।२९।।

मेरे ऐसा प्रश्न करते ही उसने रोष के साथ मुझसे कहा—'माँ ऐसा मत कहो, ऐसा मत कहो, मुझे किसी के लिए भी न दो ।।३०।।

तुम्हारे साथ मेरा वियोग न होगा । मैं अविवाहित ही ठीक हूँ । यदि तुमने मेरा विवाह किया, तो मुझे मरी ही समझो । इसमें कुछ कारण है' ।।३१।।

यह सुनकर व्याकुल मैं तुम्हारे पास आई हूँ । विवाह न करनेवाली कन्या के लिए वर का सोचना ही व्यर्थ है ।।३२।।

रानी के मुख से ऐसा सुनकर घबराया हुआ राजा कन्या के भवन में जाकर उससे बोला—'बेटी, जिस पति की प्राप्ति के लिए देवताओं और दैत्यों की कन्याएँ तपस्या करके भगवान् से प्रार्थना करती हैं, उसे तू ने मना कर दिया' ।।३३-३४।।

पिता की बातें सुनकर भूमि पर दृष्टि गड़ाई राजकुमारी कनकरेखा बोली—।।३५।।

"पिताजी मुझे विवाह की चाह नहीं है, तो इसमें आपको इतना आग्रह क्यों है?" ।।३६।।

पुत्री के इस प्रकार कहने पर बुद्धिमान् और परोपकारी राजा इस तरह कहने लगा—।।३७।।

कन्यादानादृते पुत्रि किं स्यात् किल्वषशान्तये ।
न च बन्धुपराधीना कन्या स्वातन्त्र्यमर्हति ॥३८॥
जातैव हि परस्यार्थे कन्यका नाम रक्ष्यते ।
बाल्यादृते विना भर्त्तुः कीदृक्तस्याः पितुर्गृहम् ॥३९॥
ऋतुमत्यां हि कन्यायां बान्धवा यान्त्यधोगतिम् ।
वृषली[1] सा वरश्चास्या वृषलीपतिरुच्यते ॥४०॥
इति तेनोदिता पित्रा राजपुत्री मनोगताम् ।
वाचं कनकरेखा सा तत्क्षणं समुदैरयत् ॥४१॥
यद्येवं तात तद्येन विप्रेण क्षत्रियेण वा ।
दृष्टा कनकपुर्याख्या नगरी कृतिना किल ॥४२॥
तस्मै त्वयाहं दातव्या स मे भर्त्ता भविष्यति ।
नान्यथा तात मिथ्यैव कर्त्तव्या मे कदर्थना ॥४३॥
एवं तयोक्ते सुतया स राजा समचिन्तयत् ।
दिष्ट्योद्वाहस्य तत्तावत् प्रसङ्गोऽङ्गीकृतोऽनया ॥४४॥
नूनं च कारणोत्पन्ना देवीयं कापि मद्गृहे ।
इयत्कथं विजानाति बाला भूत्वान्यथा ह्यसौ ॥४५॥
इति सञ्चिन्त्य तत्कालं तथेत्युक्त्वा च तां सुताम् ।
उत्थाय दिनकर्त्तव्यं स चकार महीपतिः ॥४६॥
अन्येद्युरास्थानगतो जगाद स च पार्श्वगान् ।
दृष्टा कनकपुर्याख्या पुरी युष्मासु केनचित् ॥४७॥
येन दृष्टा च सा तस्मै विप्राय क्षत्रियाय वा ।
मया कनकरेखा च यौवराज्यं च दीयते ॥४८॥
श्रुतापि नैव सास्माभिर्दर्शने देव का कथा ।
इति ते चावदन् सर्वे अन्योन्याननदर्शिनः ॥४९॥
ततो राजा प्रतीहारमानीयादिशति स्म सः ।
गच्छ भ्रमय कृत्स्नेऽत्र पुरे पटहघोषणाम् ॥५०॥
जानीहि यदि केनापि दृष्टा सा नगरी न वा ।
इत्यादिष्टः प्रतीहारः स तथेति विनिर्ययौ ॥५१॥

---

१. शूद्रा ।

'बेटी कन्यादान के बिना पुरुष की पापशान्ति के लिए दूसरा कौन-सा उपाय है ? माता, पिता और बन्धु (भाई) से पराधीन कन्या स्वतन्त्र नहीं रह सकती' ।।३८।।

कन्या उत्पन्न होते ही दूसरे के लिए पालित, पोषित और रक्षित की जाती है । बाल्यावस्था के अनन्तर पति के बिना, पिता के घर पर कन्या का जीवन क्या है ? अर्थात्, कुछ नहीं ।।३९।।

पितृगृह में कन्या के ऋतुमती होने पर उसके बन्धु-बान्धव अधोगति को प्राप्त होते हैं। वह कन्या वृषली[१] हो जाती है और उसके पति को वृषलीपति कहा जाता है' ।।४०।।

राजा के इस प्रकार कहने पर वह कनकरेखा ने अपने मन की बात राजा से कही—।।४१।।

'पिता, यदि ऐसी बात है, तो जिस वीर ब्राह्मण या क्षत्रिय ने कनकपुरी नाम की नगरी देखी हो, उसे आप मुझे दे दीजिए और वही मेरा पति होगा । अन्यथा व्यर्थ में आप मेरी दुर्दशा न करें' ।।४२-४३।।

कन्या के ऐसा कहने पर राजा ने सोचा, भला, भाग्य से इस कन्या ने विवाह करना तो स्वीकार किया ।।४४।।

अवश्य ही किसी कारण से मेरे घर में यह कोई देवी उत्पन्न हुई है । अन्यथा, यह छोटी कन्या होकर भी यह सब कैसे जानती है ।।४५।।

उस समय ऐसा सोचकर और उसकी बात को स्वीकर करके राजा उठकर चला गया और अपने दैनिक कार्य में व्यस्त हो गया ।।४६।।

दूसरे ही दिन दरबार में बैठकर राजा ने दरबारियों ने कहा— 'क्या ाप लोगों में से किसी ने कनकपुरी नाम की नगरी देखी है ? ।।४७।।

जिसने देखी हो, वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, उसे अपनी कन्या कनकरेखा और उसके साथ युवराज-पद प्रदान करूँगा' ।।४८।।

परस्पर एक दूसरे का मुख देखते हुए सभासदों ने कहा—'महाराज, उसे देखने की बात कौन कहे, हमलोगों ने यह नाम तक सुना नहीं' ।।४९।।

तब राजा ने प्रतिहार को यह आज्ञा दी कि—'जाओ, इस नगर में डुग्गी के साथ घोषणा कर दो कि किसी ने कनकपुरी देखी है या नहीं ? और, तुम इस बात का पता लगाओ' । राजा से आज्ञा पाकर प्रतिहार 'जो आज्ञा' कहकर चला गया ।।५०-५१।।

---

१. वृषली—शूद्र जाति की स्त्री=शूद्रा ।

निर्गत्य च समादिश्य तत्क्षणं राजपूरुषान् ।
भ्रामयामास पटहं कृतश्रवणकौतुकम् ॥५२॥
'विप्रः क्षत्रयुव वा कनकपुरीं योऽत्र दृष्टवान्नगरीम् ।
वदतु स तस्मै राजा ददति तनयां च यौवराज्यं च' ॥५३॥
इति चेतस्ततस्तत्र नगरे दत्तविस्मयम् ।
उदघोष्यत सर्वत्र पटहानन्तरं वचः ॥५४॥
केयं पुरेऽस्मिन्कनकपुरीनामाद्य घोष्यते ।
या वृद्धैरपि नास्माभिर्दृष्टा जातु न च श्रुता ॥५५॥
इत्येवं चावदन्पौराः श्रुत्वा तां तत्र घोषणाम् ।
न पुनः कश्चिदेकोऽपि मया दृष्टेत्यभाषत ॥५६॥
तावच्च तान्निवास्येकः शक्तिदेव इति द्विजः ।
बलदेवतनूजस्तामशृणोत्तत्र घोषणाम् ॥५७॥
स युवा व्यसनी सद्यो द्यूतेन विधनीकृतः ।
अचिन्तयद्राजसुताप्रदानाकर्णनोन्मनाः ॥५८॥
द्यूतहारितनिःशेषवित्तस्य मम नाधुना ।
प्रवेशोऽस्ति पितुर्गेहे नापि पण्याङ्गनागृहे ॥५९॥
तस्मादगतिकस्तावद् वरं मिथ्या ब्रवीम्यहम् ।
मया सा नगरी दृष्टेत्येवं पटहघोषकान् ॥६०॥
को मां प्रत्येत्यविज्ञानं केन दृष्टा कदा हि सा ।
स्यादेवं च कदाचिन्मे राजपुत्र्या समागमः ॥६१॥
इति सञ्चिन्त्य गत्वा तान् स राजपुरुषाँस्तदा ।
शक्तिदेवो मय दृष्टा सा पुरीत्यवदन्मृषा ॥६२॥
दिष्ट्या तर्हि प्रतीहारपार्श्वमेहीहि तत्क्षणम् ।
उक्तवद्भिश्च तैः साकं स प्रतीहारमभ्यगात् ॥६३॥
तस्मै तथैव चाशंसत्तत्पुरीदर्शनं मृषा ।
तेनापि सत्कृत्य ततो राजान्तिकमनीयत ॥६४॥
राजाग्रेऽप्यविकल्पः संस्तथैव च तदब्रवीत् ।
द्यूततान्तस्य किं नाम कितवस्य हि दुष्करम् ॥६५॥

और लौटकर उसने राजकर्मचारियों को आदेश दिया कि वे नगर में सुनने के लिए आश्चर्यजनक इस घोषणा को डिण्डिम-घोष के साथ प्रसारित कर दें ।।५२।।

'कोई भी ब्राह्मण या क्षत्रिययुवक, जिसने कनकपुरी नाम की नगरी देखी हो; वह राजदरबार में उपस्थित हो जाय, राजा उसे अपनी कन्या और युवराज-पद दोनों ही देंगे' ।।५३।।

सारे नगर में व्यापक रूप से आश्चर्यजनक यह घोषणा होने लगी ।।५४।।

'आज कनकपुरी की यह क्या घोषणा की जा रही है, जो हम बूढ़ों ने भी कभी न देखी और न सुनी' ।।५५।।

नगर-निवासी, वृद्धजन इस घोषणा को सुनकर परस्पर इस प्रकार वार्त्तालाप करने लगे। नगर में एक भी व्यक्ति यह नहीं कह सका कि मैंने कनकपुरी देखी है ।।५६।।

इतने में ही उस नगर-निवासी बलदेव के पुत्र शक्तिदेव ने भी यह घोषणा सुनी ।।५७।।

वह व्यसनी युवक उस समय जूए में दरिद्र हो चुका था। वह राजकुमारी की प्राप्ति के समाचार से उत्साहित होकर सोचने लगा ।।५८।।

मैं जूए में सब कुछ हार चुका हूँ, अतः अब मैं पिता के घर में प्रवेश नहीं पा सकता और न वेश्या के घर में ही जाकर रह सकता हूँ ।।५९।।

इसलिए, अब मैं कहीं का भी न रहा, अतः अब अवसर है कि मैं झूठ बोलूँ कि मैंने वह नगरी देखी है ।।६०।।

मुझे झूठा कौन समझेगा। वह नगरी किसने देखी है। अतः सम्भव है, राजकुमारी से मेरा समागम हो जाय ।।।६१।

ऐसा सोचकर उसने राजपुरुषों के समीप जाकर झूठ कह दिया कि मैंने कनकपुरी नगरी देखी है ।।६२।।

तब उन्होंने कहा—'आओ, द्वारपाल के पास चलें। उनके ऐसा कहने पर उनके साथ वह द्वारपाल के पास गया ।।६३।।

घोषणा करनेवाले ने कहा कि 'इसने कनकपुरी देखी है'। यह सुनकर द्वारपाल, उसे स्वागत-सत्कार के साथ राजा के पास ले गया ।।६४।।

राजा के सम्मुख उपस्थित होकर भी उस धूर्त्त जुआरी ने वैसा ही मिथ्या भाषण किया। सच है, जूए में हारे हुए धूर्त्त जुआरी के लिए कौन-सा कार्य दुष्कर है ।।६५।।

राजापि निश्चयं ज्ञातुं ब्राह्मणं विसृष्टवान् ।
तस्याः कनकरेखाया दुहितुर्निकटं तदा ॥६६॥
तया च स प्रतीहारमुखाज्ज्ञात्वान्तिकागतः ।
कच्चित्त्वया सा कनकपुरी दृष्टेत्यपृच्छ्यत ॥६७॥
बाढं मया सा नगरी दृष्टा विद्यार्थिना सता ।
भ्रमता भुवमित्येवं सोऽपि तां प्रत्यभाषत ॥६८॥
केन मार्गेण तत्र त्वं गतवान् कीदृशी च सा ।
इति भूयस्तया पृष्टः स विप्रोऽप्येवमब्रवीत् ॥६९॥
इतो हरपुरं नाम नगरं गतवानहम् ।
ततोऽपि प्राप्तवानस्मि पुरीं वाराणसीं क्रमात् ॥७०॥
वाराणस्याश्च दिवसैर्नगरं पौण्ड्रवर्धनम् ।
तस्मात् कनकपुर्याख्यां नगरीं तां गतोऽभवम् ॥७१॥
दृष्टा मया च साभोगभूमिः सुकृतकर्मणाम् ।
अनिमेषेक्षणास्वाद्यशोभा शक्रपुरी यथा ॥७२॥
तत्राधिगतविद्यश्च कालेनाहमिहागमम् ।
इति तेनास्मि गतवान् पथा सापि पुरीदृशी ॥७३॥
एवं विरचितोक्तौ च धूर्त्ते तस्मिन्द्विजन्मनि ।
शक्तिदेवे सहासं सा व्याजहार नृपात्मजा ॥७४॥
अहो सत्यं महाब्रह्मन् दृष्टा सा नगरी त्वया ।
ब्रूहि ब्रूहि पुनस्तावत्केनासि गतवान् पथा ॥७५॥
तच्छ्रुत्वा स यदा धाष्ट्र्यं शक्तिदेवोऽकरोत् पुनः ।
तदा तं राजपुत्री सा चेटीभिर्निरवासयत् ॥७६॥
निर्वासिते ययौ चास्मिन्पितुः पार्श्वं तदैव सा ।
किं सत्यमाह विप्रोऽसाविति पित्राप्यपृच्छ्यत ॥७७॥
ततश्च सा राजसुता जनकं निजगाद तम् ।
तात ! राजापि भूत्वा त्वमविचार्यैव चेष्टसे ॥७८॥
किं न जानासि धूर्त्ता यद् वञ्चयन्ते जनानृजून् ।
स हि मिथ्यैव विप्रो मां प्रतारयितुमीहते ॥७९॥
न पुनर्नगरी तेन दृष्टा सालीकवादिना ।
धूर्त्तैरनेकाकाराश्च क्रियन्ते भुवि वञ्चनाः ॥८०॥

राजा ने भी उसकी सत्यता जाँचने के लिए उसे राजकुमारी के पास भेज दिया ॥६६॥

राजकन्या ने द्वारपाल से समाचार सुनकर पास आये हुए उस ब्राह्मण से पूछा, 'क्या तुमने कनकपुरी देखी है ?' ॥६७॥

उसने स्वीकार करते हुए कहा कि विद्यार्थी-अवस्था में घूमते हुए नगरी को मैंने देखा था ॥६८॥

'किस प्रकार तुम वहाँ गये थे और वह कैसी नगरी है ?' राजकुमारी के पुनः इस प्रकार पूछने पर उस ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा--॥६९॥

यहाँ से मैं हरपुर नामक नगर में गया और वहाँ से चलकर क्रमशः वाराणसी पहुँचा ॥७०॥

वाराणसी से चलकर मैं पौण्ड्रवर्धन नामक नगर में पहुँचा और उसके पश्चात् मैं उस कनकपुरी नगरी में पहुँचा ॥७१॥

पुण्यात्माओं के लिए इन्द्रपुरी के समान वह भोगभूमि है। उसकी शोभा अपलक नेत्रों से देखने योग्य है ॥७२॥

वहाँ विद्या प्राप्त कर कुछ समय पश्चात् मैं यहाँ आ गया ! इस प्रकार, इस मार्ग से मैं गया और वह ऐसी नगरी है' ॥७३॥

उस धूर्त्त ब्राह्मण शक्तिदेव की इस प्रकार की बनावटी बातों को सुनकर राजकन्या मुस्कराती हुई बोली—"हे ब्राह्मण ! यह सत्य है कि तुमने वह नगरी देखी। किन्तु यह तो बताओ कि तुम उस नगरी में किस मार्ग से गये थे, फिर से एक बार बताओ" ॥७४-७५॥

राजकुमारी के इस प्रकार पूछने पर जब शक्तिदेव पुनः धृष्टता करने पर उतारू हुआ, तब राजकुमारी ने दासियों से कहकर उसे बाहर निकलवा दिया ॥७६॥

उसके निकल जाने पर राजपुत्री पिता के पास गई। पिता ने उससे पूछा कि 'वह ब्राह्मण सत्य कहता था अथवा नहीं' ॥७७॥

तब वह राजपुत्री कहने लगी—'पिताजी आप राजा होकर भी ऐसी अविवेकपूर्ण बातें क्यों करते हैं ? क्या आप नहीं जानते कि धूर्त्त जन सरल व्यक्तियों को ठग लेते हैं। यह ब्राह्मण झूठ बोलकर मुझे ठग लेना चाहता था। इस झूठे ने कनकपुरी नहीं देखी है। धूर्त्त लोग अनेक प्रकार से ठगी किया करते हैं ॥७८—८०॥

शिवमाधवधूर्त्तयोः कथा

शिवमाधववृत्तान्तं तथाहि शृणु वच्मि ते ।
इत्युक्त्वा राजकन्या सा व्याजहार कथामिमाम् ॥८१॥
अस्ति रत्नपुरं नाम यथार्थं नगरोत्तमम् ।
शिवमाधवसंज्ञौ च धूर्त्तौ तत्र बभूवतुः ॥८२॥
परिवारीकृतानेकधूर्त्तौ तौ चक्रतुश्चिरम् ।
माया प्रयोगनिःशेषमुषिताढ्यजनं[1] पुरम् ॥८३॥
एकदा द्वौ च तावेव मन्त्रं विदधतुर्मिथः ।
इदं नगरमावाभ्यां कृत्स्नं तावद् विलुण्ठितम् ॥८४॥
अतः सम्प्रति गच्छामो वस्तुमुज्जयिनीं पुरीम् ।
तत्र तु श्रूयते राज्ञः पुरोधाः सुमहाधनः ॥८५॥
शङ्करस्वामिनामा च तस्माद्युक्त्या हृतैर्धनैः ।
मालवस्त्रीविलासानां यास्यामोऽत्र रसज्ञताम् ॥८६॥
आस्कन्दी दक्षिणार्धस्य स तत्र भ्रकुटीमुखः ।
सप्तकुम्भीनिधानो हि कीनाशो गीयते द्विजैः ॥८७॥
कन्यारत्नं च तस्यास्ति विप्रस्यैकमिति श्रुतम् ।
तदप्येतत्प्रसङ्गेन ध्रुवं तस्मादवाप्स्यते ॥८८॥
इति निश्चित्य कृत्वा च मिथः कर्त्तव्यसंविदम् ।
शिवमाधवधूर्त्तौ तु पुरात् प्रययुस्ततः ॥८९॥
शनैश्चोज्जयिनीं प्राप्य माधवः सपरिच्छदः ।
राजपुत्रस्य वेषेण तस्थौ ग्रामे क्वचिद् बहिः ॥९०॥
शिवस्त्वविकलं कृत्वा वर्णिवेषं[2] विवेश ताम् ।
नगरीमेक एवाग्रे बहुमायाविचक्षणः ॥९१॥
तत्राध्युवास क्षिप्राया मठिकां तीरसीमनि ।
दृश्यस्थापितमृद्दर्भभिक्षाभाण्डमृगाजिनाम् ॥९२॥

---

१. मायाप्रयोगेण धूर्त्ततया, निःशेषं सम्पूर्णतया, मुषिताः वञ्चिताः, आढ्यजनाः धनिकजनाः यस्य पुरस्य, ईदृशं पुरमवेक्ष्येत्यर्थः ।

२. ब्रह्मचारिवेषम् ।

शिव और माधव नामक धूर्त्तों की कथा

'सुनो, मैं इस प्रसंग में तुम्हें शिव और माधव दो धूर्त्तों की कथा सुनाती हूँ।' ऐसा कहकर उसने यह कथा सुनानी प्रारम्भ की ॥८१॥

सब नगरों में श्रेष्ठ रत्नपुर नाम का यथार्थ नामवाला एक नगर है। उसमें शिव और माधव नाम के दो धूर्त्त रहते थे ॥८२॥

उन्होंने अनेक ठगों का एक दल बनाकर अपनी ठगी के हथकण्डों से नगर के सभी धनी व्यक्तियों को ठग लिया था ॥८३॥

एक बार उन दोनों ने आपस में यह विचार किया कि 'हमलोगों द्वारा यह सारा नगर ठग लिया गया है। अब इसे छोड़ कर चलें और उज्जैन में डेरा डालें। सुनते हैं कि वहाँ के राजा का पुरोहित बहुत बड़ा धनी है। उसका नाम शंकरस्वामी है। उससे धन लेकर मालवा देश की रमणियों के विलास का आनद लेंगे। वह आधी दक्षिणा के हिस्सेदार, अर्थात् आधी घूस पर काम करनेवाला, चढ़ी हुई भौंहोंवाला है। उसके पास सात घड़े स्वर्ण का खजाना है। किन्तु वह स्वयं बड़ा ही कृपण या अर्थपिशाच है—ऐसा ब्राह्मण लोग कहा करते हैं। उस ब्राह्मण की एक रत्नस्वरूपा कन्या भी है। इसी प्रसंग में हमलोग उसे भी अवश्य प्राप्त कर लेंगे' ॥८४—८८॥

ऐसा सोचकर और उसे ठगने की योजना बनाकर शिव और माधव दोनों धूर्त्त उस रत्नपुर नगर से उज्जैन को चले ॥८९॥

धीरे-धीरे उज्जैन पहुँचकर माधव तो नगर के बाहर किसी ग्राम में अपने को राजकुमार घोषित कर अपने साथियों के साथ ठहर गया ॥९०॥

और अत्यन्त मायावी शिव, भली भाँति ब्रह्मचारी का वेष बनाकर उस उज्जयिनी नगरी में जा पहुँचा ॥९१॥

वह वहाँ जाकर क्षिप्रा नदी के तट के समीप किसी मठ में ठहर गया और अपने आसपास पूर्ण आडम्बर के लिए मिट्टी, कुश, भिक्षापात्र, मृगचर्म आदि रख लिये ॥९२॥

सा च प्रभातकालेषुघनमङ्गं मृदालिपत् ।
अवीचि[1]कर्दमालेपसूत्रपातमिवाचरन् ॥९३॥
सरित्तोये च स चिरं निमज्ज्यासीदवाङ्मुखः ।
कुकर्मजामिवाभ्यस्यन् भविष्यन्तीमधोगतिम् ॥९४॥
स्नानोत्थितोऽर्काभिमुखस्तस्थावूर्ध्वं चिरं च सः ।
शूलाधिरोपणौचित्यमात्मनो दर्शयन्निव ॥९५॥
ततो देवाग्रतो गत्वा कुशकूर्चकरो जपन् ।
आस्त पद्मासनासीनः सदम्भचतुराननः[2] ॥९६॥
अन्तरा हृदयानीव साधूनां कैतवेन सः ।
स्वच्छान्याहृत्य पुष्पाणि पुरारिं पर्यपूजयत् ॥९७॥
कृतपूजश्च भूयोऽपि मिथ्याजपपरोऽभवत् ।
दत्तावधानः कुसृतिष्विव[3] ध्यानं ततान सः ॥९८॥
अपराह्णे च भिक्षार्थी कृष्णसाराजिनाम्बरः ।
पुरि तद्वञ्चनामायाकटाक्ष इव सोऽभ्रमत् ॥९९॥
आदाय द्विजगेहेभ्यो मौनी भिक्षात्रयं ततः ।
सदण्डाजिनकश्चक्रे त्रिःसत्यमिव खण्डशः ॥१००॥
भागं ददौ च काकेभ्यो भागमभ्यागताय च ।
भागेन दम्भबीजेन कुक्षिभस्त्रामपूरयत् ॥१०१॥
पुनः स सर्वपापानि निजानि गणयन्निव ।
जपन्नावर्तयामास चिरं मिथ्याक्षमालिकाम् ॥१०२॥
रजन्यामद्वितीयश्च स तस्थौ मठिकान्तरे ।
अपि सूक्ष्माणि लोकस्य तर्कस्थानानि चिन्तयन् ॥१०३॥
एवं प्रतिदिनं कुर्वन् कष्टं व्याजमयं तपः ।
स तत्रावर्जयामास नगरीवासिनां मनः ॥१०४॥
अहो तपस्वी शान्तोऽयमिति ख्यातिश्च सर्वतः ।
उदपद्यत तत्रास्य भक्तिनम्रेऽखिले जने ॥१०५॥

---

१. अवीचिर्नाम नरकः, तद्भेदास्तपनावीचिमहारौरवरौरवाः।—इत्यमरः।
२. धूर्तत्वात् चतुरं आननं यस्य सः । यस्य मुख एव चातुर्यं प्रतिभासते स्मः ।
३. कुसृतिः=शाठ्यम् ।

वह प्रातःकाल ही घनी और चिकनी मिट्टी से शरीर पर लेप करता था, मानों विना तरंगों के कीचड़ के लेप का सूत्रपात कर रहा हो ।।६३।।

वह नदी के तट पर स्नान करके बहुत देर तक नीचे की ओर मुँह किये खड़ा रहता था, मानों अपने कुकर्मों से होनेवाली अधोगति का अभ्यास कर रहा हो ।।६४।।

स्नान करके उठा हुआ वह चिरकाल तक सूर्य की ओर मुह करके खड़ा रहता था, मानों अपने को शूली पर चढ़ाने के योग्य बता रहा हो ।।६५।।

स्नान करके हाथ में कुश की मुट्ठी लेकर जप करता हुआ वह पद्मासन लगाकर बैठा हुआ दम्भी ब्राह्मण के समान मालूम होता था ।।६६।।

बीच-बीच में वह साधु पुरुषों के हृदयों के समान सुन्दर पुष्पों का हरण करके शिवजी की पूजा किया करता था ।।६७।।

पूजन करने के पश्चात् भी वह जप करने की बनावटी मुद्रा बनाये रहता था, मानों अपने कुकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले नरकों का ध्यान करता हो ।।६८।।

अपराह्न के समय वह मौन धारण करके द्विजों (ब्राह्मणों) के घरों से भिक्षा प्राप्त करने के लिए दण्ड लेकर और कृष्णाजिन[1] पहनकर जाता था और तीन भिक्षाएँ लेता था और तीन सत्य ने समान वह भिक्षा के तीन भाग करता था ।।६६-१००।।

एक भाग कौओं को, एक भाग अतिथि को और दम्भ के बीज के समान एकभाग से वह अपना पेट भरता था ।।१०१।।

भोजन के बाद मानों अपने प्रापों को गिनता हुआ वह फिर जप-माला लेकर जप करने का झूठा ढोंग रचा करता था ।।१०२।।

वह रात में मठ के अन्दर नगरवासियों के सूक्ष्म तर्कस्थानों को सोचता हुआ अकेला ही रहता था ।।१०३।।

इस प्रकार, प्रतिदिन वंचनापूर्ण कठोर तप करते हुए उसने नागरिकों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया ।।१०४।।

'ओह यह तो बड़ा ही शान्त तपस्वी है'—इस प्रकार चारों ओर उसकी प्रसिद्धि हो गई और सभी नागरिक उसके सामने भक्ति से प्रणाम करने लगे ।।१०५।।

---

१. कृष्णाजिन= काले मृग का चर्म ।

तावच्च स द्वितीयोऽस्य सखा चारमुखेन तम् ।
विज्ञाय माधवोऽप्येतन्नगरीं प्रविवेश ताम् ॥१०६॥
गृहीत्वा वसतिं चात्र दूरे देवकुलान्तरे ।
स राजपुत्रच्छद्मा सन् स्नातुं क्षिप्रातटं ययौ ॥१०७॥
स्नात्वा सानुचरो दृष्ट्वा देवाग्रे जपतत्परम् ।
तं शिवं परमप्रह्वो निपपातास्य पादयोः ॥१०८॥
जगाद च जनस्याग्रे नास्तीदृक्तापसोऽपरः ।
असकृद्धि मया दृष्टस्तीर्थान्येव भ्रमन्निति ॥१०९॥
शिवस्तु तं विलोक्यापि दम्भस्तम्भितकन्धरः ।
तथैवासीत्ततः सोऽपि माधवो वसतिं ययौ ॥११०॥
रात्रौ मिलित्वा चैकत्र भुक्त्वा पीत्वा च तावुभौ ।
मन्त्रयामासतुः शेषं कर्त्तव्यं यदतः परम् ॥१११॥
यामे च पश्चिमे स्वैरमागात् स्वमठिकां शिवः ।
माधवोऽपि प्रभाते स्वं धूर्त्तमेकं समादिशत् ॥११२॥
एतद् गृहीत्वा गच्छ त्वं वस्त्रयुग्म[1]मुपायनम् ।
शङ्करस्वामिनः पार्श्वमिह राजपुरोधसः ॥११३॥
राजपुत्रः पराभूतो माधवो नाम गोत्रजैः ।
पित्र्यं बहुगृहीत्वार्थमागतो दक्षिणापथात् ॥११४॥
समैः कतिपयैरन्यै राजपुत्रैरनुद्रुतः ।
स चेह युष्मदीयस्य राज्ञः सेवां करिष्यति ॥११५॥
तेन त्वद्दर्शनायाहं प्रेषितो यशसां निधे ।
इति त्वया सविनयं स च वाच्यः पुरोहितः ॥११६॥
एवं स माधवेनोक्तो धूर्त्तः सम्प्रेषितस्तदा ।
जगामोपायनकरो गृहं तस्य पुरोधसः ॥११७॥
उपेत्यावसरे दत्वा प्राभृतं[2] विजने च तत् ।
तस्मै माधवसन्देशं शंसति स्म यथोचितम् ॥११८॥
सोऽप्युपायनलोभात्तच्छ्रद्दधे कल्पितायतिः ।
उपप्रदानं[3] लिप्सूनामेकं ह्याकर्षणौषधम् ॥११९॥

---

१. दक्षिणदेशनिर्मितं धौतं प्रावारकं चेति युगम् ।
२. प्राभृतम्=उपायनम् ।'भेंट' इति भाषायाम् ।
३. 'भेंट', 'घूस' इति प्रसिद्धम् ।

शिव के इस प्रकार अपना प्रभाव जमा लेने पर उसके दूसरे साथी माधव ने अपने गुप्तचरों से जानकर नगरी में प्रवेश किया ॥१०६॥

और शिव के स्थान से दूर एक मन्दिर में अपना निवास स्थिर किया। एक बार माधव, राजपुत्र के नकली वेष में स्नान करने के लिए शिप्रा नदी के तट पर गया ॥१०७॥

स्नान करने के पश्चात् वह देव-मन्दिर में जप करते हुए शिव को देखकर अत्यन्त भक्तिभाव से नम्र होकर उसके चरणों में गिर पड़ा ॥१०८॥

और जनता के सामने कहने लगा कि ऐसा दूसरा तपस्वी इस समय नहीं है। मैंने तीर्थों में भ्रमण करते हुए इस बात का बार-बार अनुभव किया है ॥१०९॥

शिव भी दम्भ से गरदन टेढ़ी करके उसे देखता हुआ मौन ही रहा और माधव प्रणाम करके घर चला गया ॥११०॥

फिर, रात में मिलकर और खा-पीकर उन दोनों ने अपने आगे के कर्त्तव्य की योजना बनाई। कुछ रात्रि शेष रहते ही शिव अपने मठ में लौट आया और माधव ने भी प्रातःकाल अपने साथियों में से एक धूर्त्त को आदेश दिया ॥१११-११२॥

कि ये दो वस्त्र (धोती और दुपट्टा) लेकर राजपुरोहित शंकरस्वामी के घर जाओ और उससे कहो कि 'अपने बन्धु-बान्धवों के द्वारा सताया गया माधव नामक राजकुमार दक्षिण देश से कुछ राजपुत्रों के साथ बहुत-सा धन लेकर यहाँ आया है। वह आपके राजा की सेवा करेगा ॥११३—११५॥

उसने आपके दर्शन के लिए (समय माँगने के लिए) मुझे आपके पास भेजा है,' इस प्रकार नम्रता के साथ राजपुरोहितजी से कहना ॥११६॥

माधव द्वारा इस प्रकार कहा गया वह धूर्त्त हाथ में भेंट लिये उसने माधव का सन्देश उसे सुनाया ॥११७-११८॥

राजपुरोहित ने भी भविष्य में लाभ की कल्पना और वर्त्तमान में भेंट के लोभ में फँसकर उसकी बात मान ली। सच है, लोभियों के लिए भेंट, उपहार आदि एकमात्र आकर्षणकारी औषधि है ॥११९॥

ततः प्रत्यागते तस्मिन्धूर्तेऽन्येद्युः स माधवः ।
लब्धावकाशस्तमगात्स्वयं द्रष्टुं पुरोहितम् ॥१२०॥

धृतकार्पटिकाकारै राजपुत्रापदेशिभिः ।
वृतः पार्श्वचरै रात्तकाष्ठखण्डकलाञ्छनैः ॥१२१॥

पुरोगावेदितश्चैनमभ्यगात्स पुरोहितम् ।
तेनाप्यभ्युद्गमानन्दस्वागतैरभ्यनन्द्यत ॥१२२॥

ततस्तेन सह स्थित्वा कथालापैः क्षणं च सः ।
आययौ तदनुज्ञातो माधवो वसतिं निजाम् ॥१२३॥

द्वितीयेऽह्नि पुनः प्रेष्य प्राभृतं वस्त्रयोर्युगम् ।
भूयोऽपि तमुपागच्छ पुरोहितमुवाच च ॥१२४॥

परिवारानुरोधेन किल सेवार्थिनो वयम् ।
तेन त्वमाश्रितोऽस्माभिरर्थमात्रास्ति नः पुनः ॥१२५॥

तच्छ्रुत्वा प्राप्तिमाशङ्क्य तस्मात्सोऽथ पुरोहितः ।
प्रतिशुश्राव[1] तत्तस्म माधवाय समीहितम् ॥१२६॥

क्षणाच्च गत्वा राजानमेतदर्थं व्यजिज्ञपत् ।
तद्गौरवेण राजापि तत्तथा प्रत्यपद्यत ॥१२७॥

अपरेऽह्नि च नीत्वा तं माधवं सपरिच्छदम् ।
नृपायादर्शयत्तस्मै स पुरोधाः सगौरवम् ॥१२८॥

नृपोऽपि माधवं दृष्ट्वा राजपुत्रोपमाकृतिम् ।
आदरेणानुजग्राह वृत्तिं चास्य प्रदिष्टवान् ॥१२९॥

ततोऽत्र सेवमानस्तं नृपं तस्थौ स माधवः ।
रात्रौ रात्रौ च मन्त्राय शिवेन समगच्छत ॥१३०॥

इहैव वस मद्गेहे इति तेन पुरोधसा ।
सोऽर्थितश्चाभवल्लोभादुपचारोपजीविना ॥१३१॥

ततः सहचरैः साकं तस्यैवाशिश्रियद् गृहम् ।
विनाशहेतु[2]र्वासाय मद्गुः स्कन्धं तरोरिव ॥१३२॥

कृत्वा कृत्रिममाणिक्यमयैराभरणैर्भृतम् ।
भाण्डं च स्थापयामास तदीये कोषवेश्मनि ॥१३३॥

---

१. स्वीचकार ।

२. 'विनाशहेतुर्वासोऽयमाखोः स्कन्धे तरोरिव' इति पुस्तकान्तरे पाठः । 'मद्गुः पानीयकाकिका 'जलकुक्कुट' इति प्रसिद्धः । मद्गुर्यस्मिन्वृक्षे निवसति तदेवाश्रयतरुं विनाशयति, तथैव माधवोऽपि पुरोहितविनाशाय तद्गृहेऽवस्थितः ।

उस धूर्त के लौट आने पर दूसरे दिन वह माधव, मौका देखकर स्वयं पुरोहित से मिलने के लिए गया ॥१२०॥

नकली राजपुत्र बना हुआ पथिक का वेश धारण किये हुए और अपने सभी धूर्तों के साथ लाठी आदि लिये हुए सेवकों से युक्त वह माधव, पहले से ही अपने आगमन की सूचना देकर, राजपुरोहित से मिला ॥१२१॥

पुरोहित ने भी अगवानी के लिए आगे जाकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए उसका स्वागत और अभिनन्दन किया ॥१२२॥

माधव, कुछ समय तक उसके साथ बैठकर और इधर-उधर की बातें करने के तत्पश्चात् राजपुरोहित से आज्ञा लेकर अपने घर लौट आया ॥१२३॥

दूसरे दिन फिर से एक भेंट (उपहार) भेजकर माधव पुरोहित के पास गया और बोला कि 'हम अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए सेवावृत्ति (नौकरी) करना चाहते हैं, इसीलिए आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं। वैसे तो हमारे पास धन की कुछ मात्रा है' ॥१२४–१२५॥

यह सुनकर उस पुरोहित ने उससे कुछ (घूस) प्राप्ति की आशा से माधव की इच्छापूर्त्ति करना, अर्थात् नौकरी दिलाना स्वीकार किया ॥१२६॥

और तुरन्त राजा के पास माधव को लेजाकर, उसके प्रशंसनीय परिचय का बखान करते हुए गौरव के साथ उसे राजा से मिला दिया ॥१२७-१२८॥

राजा ने भी राजकुमार के समान आकृतिवाले माधव को देखकर आदर के साथ उसपर कृपा की और उसे नौकरी पर नियुक्त करा दिया ॥१२९॥

इस प्रकार माधव, दिन में, राजसेवा में लगा रहता था और रात में शिव से मिलकर ठगी की योजना बनाया करता था ॥१३०॥

कुछ दिनों के बाद लोभी पुरोहित ने माधव से कहा कि 'तुम यहाँ मेरे घर पर ही रहा करो' ॥१३१॥

पुरोहित के आग्रह करने पर उसके ही नाश का कारण माधव, अपने धूर्त्त मित्रों के साथ, उसके घर पर उसी प्रकार रहने लगा, जिस प्रकार 'मद्गु' नामक जन्तु (पक्षी) वृक्ष पर रहा करता है। माधव ने, नकली माणिक्य के कुछ गहने बनवाकर एक पेटी में बन्द किये और उस पेटी को उसने पुरोहित के खजाने में रखवा दिया ॥१३२-१३३॥

अन्तरा च तदुद्‌घाट्य तैस्तैर्व्याजार्धदर्शितैः ।
जहाराभरणैस्तस्य शष्पैरिव पशोर्मनः ॥१३४॥
विश्वस्ते च ततस्तस्मिन्पुरोधसि चकार सः ।
मान्द्यमल्पतराहारकृशीकृततनुर्मृषा ॥१३५॥
याते कतिपयाहे च तं शय्योपान्तवर्त्तिनम् ।
पुरोहितं स वक्ति स्म धूर्त्तराजोऽल्पया गिरा[1] ॥१३६॥
मम तावच्छरीरेऽस्मिन्वर्त्तते विषमा दशा ।
तद्विप्रवर कञ्चित्त्वं ब्राह्मणोत्तममानय ॥१३७॥
यस्मै दास्यामि सर्वस्वमिहामुत्र च शर्मणे ।
अस्थिरे जीविते ह्यास्था का धनेषु मनस्विनः ॥१३८॥
इत्युक्तः स पुरोधाश्च तेन दानोपजीवकः ।
एवं करोमीत्याह स्म सोऽपतच्चास्य पादयोः ॥१३९॥
ततः स ब्राह्मणं यं यमानिनाय पुरोहितः ।
विशेषेच्छानिभात्तं तं श्रद्दधे न स माधवः ॥१४०॥
तद्दृष्ट्वा तस्य पार्श्वस्थो धूर्त्त एकोऽब्रवीदिदम् ।
न तावदस्मै सामान्यो विप्रः प्रायेण रोचते ॥१४१॥
तद्य एष शिवो नाम शिप्रातीरे महातपाः ।
स्थितः सम्प्रति भात्यस्य न वेत्येतन्निरूप्यताम् ॥१४२॥
तच्छ्रुत्वा माधवोऽवादीत् कृतार्त्तिस्तं पुरोहितम् ।
हन्त प्रसीदानय तं विप्रो नान्यो हि तादृशः ॥१४३॥
इत्युक्तस्तेन च ययौ स शिवस्यान्तिकं ततः ।
पुरोधास्तमपश्यच्च रचितध्याननिश्चलम् ॥१४४॥
उपाविशच्च तस्याग्रे ततः कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
तत्क्षणं सोऽपि धर्त्तोऽभूच्छनैरुन्मीलितेक्षणः ॥१४५॥
ततः प्रणम्य तं प्रह्वः स उवाच पुरोहितः ।
न चेत्कुप्यसि तत्किञ्चित्प्रभो विज्ञापयाम्यहम् ॥१४६॥
तन्निशम्य च तेनोष्ठपुटोन्नमनसंज्ञया ।
अनुज्ञातः शिवेनैवं तमवादीत्पुरोहितः ॥१४७॥

---

१. दुर्बलत्वात् मन्दस्वरेण संक्षेपेण वा ।

बीच-बीच में उस पेटी को खोलकर माधव पुरोहित के मन को इस प्रकार ललचाता रहा, जैसे घास दिखा-दिखाकर पशु को ललचाया जाता है ।।१३४।।

कुछ दिनों पश्चात् पुरोहित के विश्वस्त हो जाने पर माधव ने भोजन कम करके अपने को जान-बूझकर अत्यन्त दुर्बल बना लिया ।।१३५।।

कुछ दिन व्यतीत होने पर एक बार उसकी शय्या के पास बैठे हुए पुरोहित को धूर्तराज माधव ने क्षीण स्वर में कहा—।।१३६।।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मेरे शरीर की दशा दिनानुदिन बिगड़ती जा रही है, इसलिए तुम किसी अच्छे सत्पात्र ब्राह्मण को लाओ ।।१३७।।

जिसे मैं इहलोक और परलोक के कल्याणार्थ अपना सब कुछ दान कर दूँ । महान् व्यक्ति, इस अस्थिर जीवन में धन के प्रति श्रद्धा या प्रेम नहीं रखते ।।१३८।।

दान से जीवित रहनेवाला लालची पुरोहित माधव के इस प्रकार कहने पर उससे बोला कि 'ऐसा ही करूँगा' ।—पुरोहित के ऐसा कहने पर वह धूर्त्त माधव उनके पैरों पर गिर पड़ा ।।१३९।।

तदनन्तर, पुरोहित जिस-जिस ब्राह्मण को उसके पास लाता, उसे माधव किसी विशेष कारण से अयोग्य बता देता ।।१४०।।

यह देखकर माधव के पास बैठा हुआ उसका साथी एक धूर्त्त उस पुरोहित से बोला—'इनको साधारण ब्राह्मण पसन्द नहीं आते । इसलिए शिप्रा नदी के किनारे शिव नाम का एक ब्राह्मण आजकल रहता है । वह इन्हें भाता है या नहीं, देखो ।' यह सुनकर दुःखी मुँह बनाकर माधव पुरोहित से बोला--'हाँ, हाँ कृपा करके उसी ब्राह्मण को ले आओ । उसके समान ब्राह्मण दूसरा नहीं है' ।।१४१—१४३।।

माधव से इस प्रकार कहा गया राजपुरोहित शिव के पास गया और वहाँ उसने शिव को कपट ध्यान-मुद्रा में निश्चल बैठा देखा ।।१४४।।

यह देखकर पुरोहित उसकी प्रदक्षिणा करके उसके आगे नम्र होकर बैठ गया । उस धूर्त्त शिव ने भी धीरे-धीरे आँखें खोलकर उसकी ओर देखा ।।१४५।।

तब पुरोहित ने झुककर प्रणाम किया और कहा—'हे प्रभु, यदि आप क्रोध न करें, तो कुछ निवेदन करूँ' ।।१४६।।

पुरोहित से यह सुनकर शिव ने ठों को उठाकर संकेत करते हुए उसे कहने की आज्ञा दी । तदनन्तर, पुरोहित इस प्रकार कहने लगा—।।१४७।।

इह स्थितो दाक्षिणात्यो राजपुत्रो महाधनः ।
माधवाख्यः स चास्वस्थः सर्वस्वं दातुमुद्यतः ।।१४८।।
मन्यसे यदि तत्तुभ्यं स सर्वं तत्प्रयच्छति ।
नानानर्घमहारत्नमयालङ्करणोज्ज्वलम् ।।१४६।।
तच्छ्रुत्वा स शनैर्मुक्तमौनः किल शिवोऽब्रवीत् ।
ब्रह्मन् भिक्षाशनस्यार्थैः कोऽर्थो मे ब्रह्मचारिणः ।।१५०।।
ततः पुरोहितोऽप्येवं स तं पुनरभाषत ।
मैवं वादीर्महाब्रह्मन् किं न वेत्स्याश्रमक्रमम् ।।१५१।।
कृतदारो गृहे कुर्वन्देवपित्रतिथिक्रियाः ।
धनैस्त्रिवर्गं प्राप्नोति गृही ह्याश्रमिणां वरः ।।१५२।।
ततः सोऽपि शिवोऽवदीत् कुतो मे दारसङ्ग्रहः ।
नह्यहं परिणेष्यामि कुलाद्यादृशतादृशात् ।।१५३।।
तच्छ्रुत्वा सुखभोग्यं च मत्वा तस्य तथा धनम् ।
स प्राप्तावसरो लुब्धः पुरोधास्तमभाषत ।।१५४।।
अस्ति तर्हि सुता कन्या विनयस्वामिनीति मे ।
अतिरूपवती सा च तां च तुभ्यं ददाम्यहम् ।।१५५।।
यच्च प्रतिग्रहधनं तस्मात् प्राप्नोषि माधवात् ।
तदहं तव रक्षामि तद्भजस्व गृहाश्रमम् ।।१५६।।
इत्याकर्ण्य स सम्पन्नयथेष्टार्थः शिवोऽब्रवीत् ।
ब्रह्मन् ग्रहस्तवायं चेत्तत्करोमि वचस्तव ।।१५७।।
हेमरत्नस्वरूपे तु मुग्ध एवास्मि तापसः ।
त्वद्वाचैव प्रवर्त्तेऽहं यथा वेत्सि तथा कुरु ।।१५८।।
एतच्छिववचः श्रुत्वा परितुष्टस्तथेति तम् ।
मूढो निनाय गेहं स्वं तथैव स पुरोहितः ।।१५६।।
सन्निवेश्य च तत्रैनं शिवाख्यमशिवं ततः ।
यथाकृतं शशंसैतन्माधवायाभिनन्दते ।।१६०।।
तदैव च ददौ तस्मै सुतां क्लेशविवर्धिताम् ।
निजां शिवाय सम्पत्तिमिव मूढत्वहारिताम्[1] ।।१६१।।

---

१. स्वमूर्खतया अपहारितामिति भावः ।

'दक्षिण देश का एक महाधनी माधव नाम का राजकुमार यहाँ उज्जैन में ठहरा है। वह अस्वस्थ है और अपना सर्वस्व दान करना चाहता है। यदि आप स्वीकार करें, तो वह सब आपको ही देना चाहता है। उसके पास अनेक प्रकार के रत्न-जटित आभूषण हैं' ।।१४८-१४६।।

पुरोहित की यह बात सुनकर वह धूर्त्त शिव, धीरे-धीरे मौन छोड़कर बोला—'महाराज ! भिक्षामात्र से जीवित रहनेवाले मुझ ब्राह्मण को धन से क्या प्रयोजन ?' ।।१५०।।

तब वह पुरोहित फिर बोला—'हे ब्राह्मण देवता ! ऐसा न कहो। क्या तुम आश्रमों का क्रम नहीं जानते ? अर्थात्, अब तुम्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना है, जिसमें धन की ही आवश्यकता पड़ेगी ।।१५१।।

विवाह के उपरान्त मनुष्य, देवता, पितर और अतिथियों की सेवा करके धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को प्राप्त करता है; क्योंकि गृहस्थी ही चारों आश्रमों में श्रेष्ठ हैं' ।।१५२।।

तब वह शिव बोला—'मेरा विवाह कहाँ हो सकता है। मैं ऐसे-वैसे साधारण कुल से विवाह न करूँगा' ।।१५३।।

यह सुनकर और राजकुमार की ओर से दान दिये जानेवाले धन को जीवन-भर सुख भोगने के लिए पर्याप्त समझकर लालची पुरोहित, अवसर पाकर शिव से बोला—"यदि ऐसा आपका निश्चय है, तो मेरी विनयस्वामिनी नाम की अत्यन्त सुन्दरी कन्या है। उसे मैं दान करके तुम्हें दे दूँगा और माधव द्वारा दान से जो धन तुम्हें मिलेगा, उसे मैं सुरक्षित रखूँगा। इसलिए तुम अब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो" ।।१५४–१५६।।

यह सुनकर और अपनी योजना को पूर्ण रूप से सफल होते देखकर धूर्त्त शिव ने कहा—'हे ब्राह्मणदेव ! यदि तुम्हारा यही आग्रह है, तो मैं तुम्हारी बात मान लेता हूँ। रत्न और सोना आदि धन के सम्बन्ध में तो मैं तपस्वी मूर्ख ही हूँ; किन्तु तुम्हारे आग्रह से मैं तैयार हो जाता हूँ, जैसा उचित समझो करो' ।।१५७-१५८।।

इस प्रकार शिव की बातें सुनकर प्रसन्न पुरोहित उस अशिव (अकल्याण) शिव को वैसे ही अपने घर ले गया ।।१५६।।

शिव को बैठाकर उसके साथ जो कुछ वार्त्तालाप हुआ था, वह सब पुरोहित ने माधव से कहा। माधव ने भी उसकी पर्याप्त प्रशंसा की ।।१६०।।

उसी समय बड़े कष्ट से पाली हुई कन्या, पुरोहित ने लाकर शिव को समर्पित कर दी, मानों जीवन-भर की अपनी कमाई उसने अपनी मूर्खता से गँवा दी ।।१६१।।

कृतोद्वाहं तृतीयेऽह्नि प्रतिग्रहकृते च तम् ।
निनाय व्याजमन्दस्य[1] माधवस्य ततोऽन्तिकम् ॥१६२॥
अतर्क्यतपसं वन्दे त्वामित्यवितथं वदन् ।
माधवोऽप्यपतत्तस्य शिवस्योत्थाय पादयोः ॥१६३॥
ददौ च तस्मै विधिवत् कोषागारात्तदाहृतम् ।
भूरिकृत्रिममाणिक्यमयाभरणभाण्डकम् ॥१६४॥
शिवोऽपि प्रतिगृह्यैतत्तस्य हस्ते पुरोधसः ।
नाहं वेद्मि त्वमेवैतद् वेत्सीत्युक्त्वा समर्पयत् ॥१६५॥
अङ्गीकृतमिदं पूर्वं मया चिन्ता तवात्र का ।
इत्युक्त्वा तच्च जग्राह तत्क्षणं स पुरोहितः ॥१६६॥
कृताशिषि ततो याते स्ववधूवासकं शिवे ।
नीत्वा स स्थापयामास तन्निजे कोषवेश्मनि ॥१६७॥
माधवोऽपि तदन्येद्युर्मान्द्यव्याजं शनैस्त्यजन् ।
रोगोपशान्ति वक्ति स्म महादानप्रभावतः ॥१६८॥
त्वया धर्मसहायेन समुत्तीर्णोऽहमापदः ।
इति चान्तिकमायान्तं प्रशशंस पुरोहितम् ॥१६९॥
एतत्प्रभावादेतन्मे शरीरमिति कीर्त्तयन् ।
प्रकाशमेव चक्रे च शिवेन सह मित्रताम् ॥१७०॥
शिवोऽपि यातेषु दिनेष्ववादीत्तं पुरोहितम् ।
एवमेव भवद्गेहे भोक्ष्यते च कियन्मया ॥१७१॥
तत्किं त्वमेव मूल्येन गृह्णास्याभरणं न तत् ।
महार्घमिति चेन्मूल्यं यथासम्भवि देहि मे ॥१७२॥
तच्छ्रुत्वा तदनर्घं च मत्वा तन्निष्क्रयं ददौ ।
तथेति तस्मै सर्वस्वं शिवाय स पुरोहितः ॥१७३॥
तदर्थं च स्वहस्तेन जीवं लेख्यमकारयत् ।
स्वयं चाप्यकरोद् बुद्ध्वा तद्धनं स्वधनाधिकम् ॥१७४॥
अन्योन्यलिखितं हस्ते गृहीत्वा स पुरोहितः ।
पृथगासीत्पृथक्सोऽपि शिवो भेजे गृहस्थितिम् ॥१७५॥

---

१. मृषा रोगव्याजं कृतवतः ।

विवाह होने के तीसरे दिन पुरोहित, शिव को कपट से बीमार बने हुए माधव के पास ले गया ॥१६२॥

'अद्भुत तप करनेवाले आपको प्रणाम करता हूँ'— इन शब्दों से माधव ने शिव का अभिवादन करके और उठकर उसके चरणों का स्पर्श किया ॥१६३॥

और पुरोहित ने स्वयं खजाने से निकालकर नकली माणिक्य आदि रत्नों के आभूषणों और रत्नों से भरी हुई पेटी उसे दे दी ॥१६४॥

शिव ने भी उसे लेकर पुनः पुरोहित को सौंप दिया और पुरोहित से भी यह कहकर उसे ले लिया कि 'यह तो मैंने पहले ही स्वीकार कर लिया है, तुम्हें इसकी क्या चिन्ता है' इस प्रकार आशीर्वाद देकर शिव के अपने शयनागार में चले जाने पर पुरोहित ने उस रत्नपेटी को तुरन्त अपने खजाने में रख दिया ॥१६५—१६७॥

दूसरे दिन, माधव भी अपनी दुर्बलता को छोड़कर महादान के प्रभाव से स्वस्थ होने का ढोंग रचने लगा ॥१६८॥

'तुमने मेरे धर्म-कार्य में सहायता देकर मेरा बहुत बड़ा उपकार किया'—इस प्रकार पास में आये हुए पुरोहित की प्रशंसा करने लगा ॥१६९॥

'शिव जैसे तपस्वी के प्रभाव से मेरा शरीर स्वस्थ हो गया । मैं बच गया, इस प्रकार कहकर उसने शिव के साथ प्रकट रूप से मित्रता कर ली ॥१७०॥

कुछ दिनों के पश्चात् शिव ने भी पुरोहित से कहा—'मैं इस प्रकार कितने दिनों तक तुम्हारे यहाँ भोजन करता रहूँगा, इसलिए तुम ही दान में दिये माल का मूल्य चुकाकर उन आभूषणों और रत्नों को क्यों नहीं ले लेते । यदि माल अधिक द्रव्य का हो तो यथा-सम्भव इस समय जो दे सकते हो, वही दे दो' ॥१७१-१७२॥

यह सुनकर और उस माल को बहुमूल्य या अमूल्य समझकर पुरोहित ने उस माल का कुछ मूल्य दे दिया ॥१७३॥

और इसकी दृढता के लिए शिव से हस्ताक्षर कराकर उसका प्रमाण-पत्र भी राज-पुरोहित ने ले लिया । इस प्रकार, पुरोहित ने उसके धन से अपने धन को बढ़ा लिया ॥१७४॥

इसी प्रकार दोनों ने परस्पर लिखित रूप से धन ले-देकर प्रमाणपत्र लिख दिये और अलग-अलग हो गये । शिव ने भी अपना अलग घर बसा लिया ॥१७५॥

ततश्च स शिवः सोऽपि माधवः सङ्गतावुभौ ।
पुरोहितार्थान् भुञ्जानौ यथेच्छं तत्र तस्थतुः ॥१७६॥
गते काले च मूल्यार्थी स पुरोधाः किलापणे ।
ततोऽलङ्करणादेकं विक्रेतुं कटकं ययौ ॥१७७॥
तत्रैतद्रत्नतत्त्वज्ञाः परीक्ष्य वणिजोऽब्रुवन् ।
अहो कस्यास्ति विज्ञानं येनैतत्कृत्रिमं कृतम् ॥१७८॥
काचस्फटिकखण्डा हि नाना रागोपरञ्जिताः ।
रीतिबद्धा[1] इमे नैते मणयो न च काञ्चनम् ॥१७९॥
तच्छ्रुत्वा विह्वलो गत्वा स पुरोधास्तदैव तत् ।
आनीयाभरणं गेहात् कृत्स्नं तेषामदर्शयत् ॥१८०॥
ते दृष्ट्वा तद्वदेवास्य सर्वं कृत्रिममेव तत् ।
ऊचिरे च स तच्छ्रुत्वा वज्राहत इवाभवत् ॥१८१॥
ततश्च गत्वा तत्कालं स मूढः शिवमभ्यधात् ।
गृह्णीष्व स्वानलङ्कारांस्तन्मे देहि निजं धनम् ॥१८२॥
कुतो ममाद्यापि धनं तद्ध्यशेषं गृहे मया ।
कालेन भुक्तमिति तं शिवोऽपि प्रत्यभाषत ॥१८३॥
ततो विवदमानौ तौ पार्श्वावस्थितमाधवम् ।
पुरोधाश्च शिवश्चोभौ राजानमुपजग्मतुः ॥१८४॥
काचस्फटिकयोः खण्डैः रीतिबद्धैः सुरञ्जितैः ।
रचितं देव तत्रैव व्याजालङ्करणं महत् ॥१८५॥
शिवेन मम सर्वस्वमजानानस्य भक्षितम् ।
इति विज्ञापयामास नृपतिं स पुरोहितः ॥१८६॥
ततः शिवोऽब्रवीद्राजन्ना बाल्यात्तापसोऽभवम् ।
अनेनैव तदभ्यर्थ्य ग्राहितोऽहं प्रतिग्रहम् ॥१८७॥
तदैव भाषितं चास्य मुग्धेनापि सता मया ।
रत्नादिष्वनभिज्ञस्य प्रमाणं मे भवानिति ॥१८८॥
अहं स्थितस्तवात्रेति प्रत्यपद्यत चैष तत् ।
प्रतिगृह्य च तत्सर्वं हस्तेऽस्यैव मयार्पितम् ॥१८९॥

---

१. रीतिः पित्तलम् तस्मिन् बद्धाः—जटिताः ।

तदुपरान्त वह शिव और माधव परस्पर मिलकर पुरोहित का धन उड़ाते हुए स्वतन्त्र रूप से रहने लगे ॥१७६॥

कुछ समय के पश्चात् पुरोहित, रत्न और आभूषण बेचकर रुपये लेने के लिए जौहरी के बाजार में गया और उन आभूषणों में से एक कड़ा या हाथ का कंगन बेचने लगा ॥१७७॥

वहाँ पर रत्नपरीक्षक जौहरियों ने उसकी परीक्षा करके पुरोहित से कहा—'यह कौन चतुर कारीगर है, जिसने इस नकली माल को बनाया है' ॥१७८॥

भिन्न-भिन्न रंगों में रँगे हुए काँच और स्फटिक के टुकड़ों को पीतल में ऐसा जड़ दिया गया है कि वे सच्चे रत्न-से प्रतीत होते हैं। किन्तु ये सब नकली रत्न हैं, असली एक भी नहीं ॥१७९॥

यह सुनकर घबराया हुआ पुरोहित घर से सब आभूषणों को लेकर माधव को दिखाने के लिए उसके पास ले गया ॥१८०॥

यह देखकर माधव बोला कि 'यह तो तुम्हारे ही सब नकली गहने या आभूषण हैं। तुमने असली आभूषण पहले ही निकाल लिये और नकली बनवाकर रख दिये' ॥१८१॥

यह सुनकर पुरोहित पर मानों वज्रपात-सा हुआ और वह तुरन्त शिव के पास जाकर कहने लगा कि अपने अभूषण ले लो और मेरा धन मुझे दे दो ॥१८२॥

उत्तर में शिव ने कहा—'अब मेरे पास तुम्हारा धन कहाँ रह गया, वह तो मैंने इतने समय तक खा डाला' ॥१८३॥

इस प्रकार झगड़ते हुए वे दोनों शिव और पुरोहित माधव को साथ लेकर राजा के पास गये। राजा से पुरोहित ने प्रार्थना की—'महाराज ! पीतल में विशेष प्रकार से जड़े हुए शीशे और स्फटिक के रंगीन टुकड़ों से बने हुए नकली आभूषणों से मुझे ठगकर शिव ने मेरा सर्वस्व लूट लिया' ॥१८४—१८६॥

तब शिव ने राजा से कहा—"राजन् ! मैं बाल्यावस्था से ही तपस्वी ब्रह्मचारी रहा। इसी ने आग्रह करके मुझे यह दान लेने के लिए बाध्य किया। मैंने इस सम्बन्ध में अपनी मूर्खता (अनभिज्ञता) बताते हुए इससे उसी समय कह दिया था कि मैं रत्न आदि के सम्बन्ध में सर्वथा अनभिज्ञ हूँ और मुझे इसका कुछ पता नहीं। इस सम्बन्ध में तुम जैसा समझो, करो ॥१८७-१८८॥

'मैं तुम्हारे कहने से दान ले रहा हूँ'—इसने इस बात को स्वीकार किया था। इसीलिए मैंने दान लेकर उसी समय इसे सौंप दिया था ॥१८९॥

ततोऽनेन गृहीतं तत्स्वेच्छं मूल्येन मे प्रभो।
विद्यते चावयोरत्र स्वहस्तलिखितं मिथः ॥१९०॥
इदानीं चैव साहाय्यं परं जानात्यतः प्रभुः।
एवं शिवे समाप्तोक्तावुवाच स च माधवः ॥१९१॥
मैवमादिश मान्यस्त्वमपराधो ममात्र कः।
न गृहीतं मया किञ्चिद् भवतो वा शिवस्य वा ॥१९२॥
पैतृकं धनमन्यत्र चिरं न्यासीकृतं स्थितम्।
तदा तदेव चानीतं मया दत्तं द्विजन्मने ॥१९३॥
सत्यं यदि च तत्स्वर्णं न च रत्नानि तानि तत्।
रीतिस्फटिककाचानां प्रदानादस्तु मे फलम् ॥१९४॥
निर्व्याजहृदयत्वेन दाने च प्रत्ययो मम।
दृष्ट एवावतीर्णोऽस्मि यद्रोगमतिदुस्तरम् ॥१९५॥
इत्यभिन्नमुखच्छायमुक्तवत्यत्र माधवे।
जहास मन्त्रिसहितो राजा तस्मै तुतोष च ॥१९६॥
नैवमन्यायतः किञ्चिन्माधवस्य शिवस्य वा।
इति तत्र सभासद्भिः सान्तर्हासमुदीरिते ॥१९७॥
पुरोहितः सोऽथ ययौ हारितार्थो विलज्जितः।
कासां हि नापदां हेतुरतिलोभान्धबुद्धिता ॥१९८॥
तौ च धूर्तौ ततस्तत्र तस्थतुः शिवमाधवौ।
परितुष्टनृपावाप्तप्रसादसुखितौ चिरम् ॥१९९॥
एवं सूत्रशतैस्तैस्तैर्जिह्वाजालानि तन्वते।
जालोपजीविनो धूर्त्ता धारायां धीवरा इव ॥२००॥
तत्तात मिथ्या कनकपुरीं दृष्टामिव ब्रुवन्।
एषोऽपि वञ्चयित्वा त्वां विप्रो मत्प्राप्तिमिच्छति ॥२०१॥
अतः सम्प्रति माभूत्ते मद्विवाहकृते त्वरा।
स्थिताऽस्मि तावत्कन्यैव पश्यामो भवितात्र किम् ॥२०२॥
इत्युक्तः सुतया राजा तया कनकरेखया।
परोपकारी स सदा तामेवं प्रत्यभाषत ॥२०३॥
यौवने कन्यकाभावश्चिरं पुत्रि न युज्यते।
मिथ्या वदन्ति तोषं हि दुर्जना गुणमत्सराः ॥२०४॥

इसने अपने इच्छानुसार ही उसका मूल्य देकर वह मुझसे खरीद लिया। इस विषय में हम दोनों से क्रय-विक्रय-सम्बन्धी लिखित प्रमाण भी सुरक्षित हैं ।।१९०।।

अब क्या करना चाहिए, यह आप स्वयं जानते हैं।" ऐसा कहकर शिव के चुप हो जाने पर पुरोहित से माधव कहने लगा—'ऐसा न कहो। मेरा इसमें क्या अपराध है। न मैंने तुम्हारा कुछ लिया है और न शिव का ।।१९१–१९३।।

यह मेरा पैत्रिक धन यहीं अमानत में रखा था। मैंने उसे लाकर पुरोहित को दे दिया। और पुन: उसी के लाने पर मैंने ब्राह्मण को दान दे दिया। यदि यह असली आभूषण नहीं है, तो मुझे शीशा और पीतल के दान देने का क्या लाभ होगा ।।१९४।।

मैंने निष्कपट भाव से दान दिया और परिणामस्वरूप तत्काल ही भीषण रोग से छुटकारा भी पा गया। इसलिए मुझे तो अपने दान पर पूरा विश्वास है' ।।१९५।।

इस प्रकार, अपनी मुखमुद्रा को विना किसी रूप से विकृत किये स्वाभाविक रूप से माधव के कहने पर मन्त्रियों के साथ राजा हँसने लगा ।।१९६।।

तब सभी सभासदो ने मन-ही-मन मुस्काते हुए कहा कि 'इसमें माधव या शिव का कोई अपराध नहीं है'। सच है, अत्यन्त लोभ से अन्धा हो जाना किसके लिए विपत्ति का कारण नहीं होता है ।।१९७।।

तदनन्तर वह पुरोहित, अपना धन गँवाकर राज-दरबार से भी हँसी का पात्र बनकर अत्यन्त लज्जित होकर अपने घर आ गया ।।१९८।।

वे दोनों धूर्त्त शिव और माधव प्रसन्न राजा की कृपा से आनन्द लेते हुए यहीं उज्जयिनी में आनन्दपूर्वक रहने लगे ।।१९९।।

इस प्रकार, इस कथा को सुनाकर राजकुमारी ने अपने पिता से कहा कि "इसी प्रकार इस पृथ्वी पर जाल (फरेब) से जीतनेवाले धूर्त्त, अपनी जिह्वा के जाल बुनते रहते हैं, जिनमें सरलहृदय मनुष्य मछलियों के समान फँसते रहते हैं ।।२००।।

इसी प्रकार, 'मैंने कनकपुरी देखी है' ऐसा कहकर यह धूर्त्त ब्राह्मण, तुम्हें ठगकर मुझे और युवराज-पद को प्राप्त करना चाहता है ।।२०१।।

इसलिए, मेरे विवाह के लिए तुम्हें शीघ्रता न करनी चाहिए। अभी मैं कुमारी अवस्था में ही हूँ देखती हूँ, क्या होता है" ।।२०२।।

कन्या कनकरेखा के इस प्रकार कहने पर राजा परोपकारी कहने लगा—'बेटी, युवावस्था से अधिक समय तक कन्या बना रहना उचित नहीं है। गुणों से डाह करनेवाले ईर्ष्यालु व्यक्ति मिथ्या कलंक लगा देते हैं ।।२०३-२०४।।

उत्तमस्य विशेषेण कलङ्कोत्पादको जनः ।
हरस्वामिकथामत्र शृण्वेतां कथयामि ते ॥२०५॥

हरस्वामिनः कथा

गङ्गोपकण्ठे कुसुमपुरं नामास्ति यत्पुरम् ।
हरस्वामीति कोऽप्यासीत्तीर्थार्थी तत्र तापसः ॥२०६॥
स भैक्षवृत्तिर्विप्रोऽत्र गङ्गातीरे कृतोटजः ।
तपःप्रकर्षाल्लोकस्य गौरवास्पदतां ययौ ॥२०७॥
कदाचिच्चात्र तं दृष्ट्वा दूराद् भिक्षाविनिर्गतम् ।
जनमध्ये जगादैकस्तद्गुणासहनः खलः ॥२०८॥
अपि जानीथ जातोऽयं कीदृक्कपटतापसः ।
अनेनैवार्भकाः सर्वे नगरेऽमुत्र भक्षिताः ॥२०९॥
तच्छ्रुत्वा च द्वितीयोऽत्र तत्राबोधत तादृशः ।
सत्यं श्रुतं मयाप्येतदुच्यमानं जनैरिति ॥२१०॥
एवमेतदिति स्माह तृतीयोऽपि समर्थयन् ।
बध्नात्यार्यपरीवादं खलसंवादशृङ्खला ॥२११॥
तैनैव च क्रमेणैष गतः कर्णपरम्पराम् ।
प्रवादो बहुलीभावं सर्वत्राऽत्र पुरे ययौ ॥२१२॥
पौराश्च सर्वे गेहेभ्यो बलाद् बालान्न तत्यजुः ।
हरस्वामी शिशून् नीत्वा भक्षयत्यखिलानिति ॥२१३॥
ततश्च ब्राह्मणास्तत्र सन्ततिक्षयभीरवः ।
सम्भूय मन्त्रयामासुः पुरात्तस्य प्रवासनम् ॥२१४॥
ग्रसेत कुपितः सोऽस्मानिति साक्षाद् भयान्न ते ।
यदा तस्याशकन् वक्तुं दूतान् विससृजुस्तदा ॥२१५॥
ते च गत्वा तदा दूता दूरादेव तमब्रुवन् ।
नगराद् गम्यतामस्मादित्याहुस्त्वां द्विजातयः ॥२१६॥
किं निमित्तमिति प्रोक्ता विस्मितेनाथ तेन ते ।
पुनरूचुस्त्वमश्नासि बालदर्शमिहेति तम् ॥२१७॥
तच्छ्रुत्वा स हरस्वामी स्वयं प्रत्यायनेच्छया ।
विप्राणां निकटं तेषां भीतिनश्यज्जनो ययौ ॥२१८॥

विशेषकर उच्च व्यक्तियों को तो अधिकतर झूठे ही कलंकित कर देते हैं। इस प्रसंग में तुम्हें हरस्वामी की एक कथा सुनाता हूँ, सुनो' ॥२०५॥

हरस्वामी की कथा

गंगा के तट पर कुसुमपुर[1] नाम का जो नगर है, उसमें हरस्वामी नाम का एक तपस्वी तीर्थयात्री रहता था ॥२०६॥

वह भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह करता हुआ वहाँ पर्णकुटी बनाकर रहता था। वह अपनी कठोर तपस्या के प्रभाव से जनता के सम्मान एवं श्रद्धा का भाजन बन गया ॥२०७॥

एक बार भिक्षा के लिए निकले उसे दूर से देखकर ईर्ष्या करनेवाले एक दुष्ट ने लोगों के सम्मुख कहा—॥२०८॥

'क्या आप लोग जानते हैं कि यह कैसा कपटी तपस्वी है। इसी ने इस नगर के सभी बच्चों को खा डाला' ॥२०९॥

यह सुनकर उसी के समान एक दूसरा मनुष्य बोला—'सच है, मैंने भी लोगों को ऐसा करते हुए सुना है' ॥२१०॥

'यह ठीक है' इन शब्दों से एक तीसरे ने भी उनका समर्थन किया। कारण यह है कि दुष्टों की चर्चा सज्जन व्यक्तियों की निन्दा की लड़ी बाँध देती है ॥२११॥

इस क्रम से यह चर्चा (अफवाह) सारे नगर में फैल गई। फलतः, उसने व्यापक रूप धारण कर लिया ॥२१२॥

नगरनिवासी अब अपने बच्चों को घरों से निकलने नहीं देते थे कि हरस्वामी बच्चों को ले जाकर खा जाता है ॥२१३॥

तब नगर के ब्राह्मणों ने बच्चों के वध से डरकर एक गोष्ठी[2] करके निश्चय किया कि जिससे हरस्वामी को नगर से निकाल दिया जाय ॥२१४॥

यह निश्चय करके भी भयभीत ब्राह्मण उससे स्पष्ट रूप से यह कहने में डरने लगे कि कहीं वह हम लोगों को ही न खा जाय। इसलिए, दूतों के द्वारा वे ब्राह्मण उसके पास सन्देश भेजने लगे। वे दूत, दूर से ही उस हरस्वामी से कहने लगे कि 'तुम इस नगर से बाहर चले जाओ। ऐसा तुम्हें ब्राह्मणों ने कहलाया है' ॥२१५-२१६॥

आश्चर्यचकित हरस्वामी के यह पूछने पर कि 'किस कारण मुझे निकाला जा रहा है,' दूतों ने उत्तर दिया कि 'तुम यहाँ छोटे बच्चों को खा जाते हो' ॥२१७॥

यह सुनकर वह स्वयं विश्वास दिलाने के लिए ब्राह्मणों के पास गया, जब कि उसके भय से वे लोग दूर भाग रहे थे ॥२१८॥

---

१. कुसुमपुर=फूलों का नगर, आधुनिक पटना नगर।

२. गोष्ठी—सभा, समिति (Meeting)।

विप्राश्चारुरुहुस्त्रासात्तं दृष्ट्वैव मठोपरि ।
प्रवादमोहितः प्रायो न विचारक्षमो जनः ।।२१९।।
अथ द्विजान् हरस्वामी तानेकैकमधःस्थितः ।
नामग्राहं समाहूय स जगादोपरि स्थितान् ।।२२०।।
कोऽयं मोहोऽद्य वो विप्रा नावेक्षध्वं परस्परम् ।
कियन्तो बालकाः कस्य मया कुत्र च भक्षिताः ।।२२१।।
तच्छ्रुत्वा यावदन्योन्यं विप्राः परिमृशन्ति ते ।
तावत्सर्वेऽपि सर्वेषां जीवन्तो बालकाः स्थिताः ।।२२२।।
क्रमान्नियुक्ताश्चान्येऽपि पौरास्तत्र तथैव तत् ।
प्रत्यपद्यन्त सर्वेऽपि सविप्रवणिजोऽब्रुवन् ।।२२३।।
अहो विमूढैरस्माभिः साधुर्मिथ्यैव दूषितः ।
जीवन्ति बालाः सर्वेषां तत्कस्यानेन भक्षिताः ।।२२४।।
इत्युक्तवत्सु सर्वेषु हरस्वामी तदैव सः ।
सम्पन्नशुद्धिर्नगराद् गन्तुं प्रववृते ततः ।।२२५।।
दुर्जनोत्पादितावद्यावरक्तीकृतचेतसा ।
अविवेकिनि दुर्देशे रतिः का हि मनस्विनः ।।२२६।।
ततो वणिग्भिर्विप्रैश्च प्रार्थितश्चरणानतैः ।
कथञ्चित् स हरस्वामी तत्र वस्तुममन्यत ।।२२७।।
इत्थं सच्चरितावलोकनलसद्विद्वेषवाचालिता
मिथ्यादूषणमेवमेव ददसि प्रायः सतां दुर्जनाः ।
किञ्चित्किं पुनराप्नुवन्ति यदि ते तत्रावकाशं मनाग्
द्रष्टुं तज्ज्वलितेऽनले निपतितः प्राज्याज्यधारोत्करः ।।२२८।।
तस्माद् विशल्ययितुमिच्छसि मां यदि त्वं
वत्से तदुन्मिषति नूतनयौवनेऽस्मिन् ।
न स्वेच्छमर्हसि चिरं खलु कन्यकात्व-
मासेवितुं सुलभदुर्जनदुष्प्रवादम् ।।२२९।।
इत्युक्ता नरपतिना पित्रा प्रायेण कनकरेखा सा ।
निजगाद राजतनया तमवस्थितनिश्चया भूयः ।।२३०।।
दृष्टा कनकपुरी सा विप्रेण क्षत्रियेण वा येन ।
तर्हि तमाशु गवेषय तस्मै मां देहि भाषितं हि मया ।।२३१।।

उसे आते देखकर वे ब्राह्मण मठ के ऊपर भाग गये। सच है, अफवाहों से भीत व्यक्तियों में विचार करने का सामर्थ्य नहीं होता ॥२१९॥

यह देखकर नीचे ही खड़े हरस्वामी ने मठ के ऊपर खड़े हुए ब्राह्मणों में से एक-एक का नाम लेकर बुलाया और कहा'॥२२०॥

'अरे ब्राह्मणो, यह क्या मूर्खता तुममें आ गई है। क्या तुम परस्पर नहीं देख रहे हो कि मैंने कितने बच्चे कहाँ खाये ?' ॥२२१॥

यह सुनकर जब सभी जाँच करने लगे, तब देखा कि सभी के बच्चे जीते-जागते खेल रहे हैं ॥२२२॥

तब सभी ब्राह्मण और बनिये विश्वस्त हुए और हरस्वामी की बात सच मानकर देखने लगे कि सभी के बालक जीवित हैं। तब वे कहने लगे कि 'हमने झूठे ही बेचारे तपस्वी को दूषित किया, सभी के बच्चे तो जीवित हैं। तब किसके बच्चे इसने खाये ?' ॥२२३-२२४॥

जब सभी एकस्वर से इस प्रकार कहने लगे, तब निष्कलंक हरस्वामी उस नगर से जाने को उद्यत हुआ; क्योंकि पहले उठाई गई अपनी निन्दा से उसका मन विरक्त हो गया था ॥२२५॥

स्वतन्त्र विचारवाले मनस्वी का दुष्ट देश में रहनेवाले विचारहीनों के साथ प्रेम कैसे हो सकता है ? तदनन्तर, चरणों में गिरे हुए ब्राह्मणों और बनियों के प्रार्थना करने पर किसी प्रकार हरस्वामी ने वहाँ रहना स्वीकार किया ॥२२६-२२७॥

इस प्रकार, सज्जनों के सच्चरित्रों को देखकर जलते हुए तथा उनकी नाना प्रकार से निन्दा करते हुए दुष्टजन, सज्जनों को प्रायः झूठे कलंक लगा देते हैं। यदि उन्हें सचमुच ही कोई छोटा-सा भी अवसर मिल जाय, तो वह उसके लिए जलती हुई आग में घी का-सा काम करता है ॥२२८॥

इसलिए 'हे बेटी, यदि तू मेरे हृदय का काँटा निकालकर मुझे स्वस्थ देखना चाहती है, तो इस उभरते हुए नवयौवन में अपनी इच्छा से कुमारी नहीं रह सकती। यह दुष्ट लोगों के लिए निन्दा करने का सुलभ अवसर है' ॥२२९॥

राजा से इस प्रकार कही गई कनकरेखा अपने दृढ निश्चय के साथ फिर राजा से बोली कि 'जिस ब्राह्मण या क्षत्रिय युवक ने वह कनकपुरी देखी हो, उसे शीघ्र ढूँढ़ो और मुझे उसके लिए दान कर दो। यह मैंने पहले ही कह दिया है' ॥२३०-२३१॥

तच्छ्रुत्वा दृढनिश्चयां विगणयञ्जातिस्मरां तां सुताम्
नास्याश्चान्यमभीष्टभर्तृघटने पश्यन्नुपायक्रमम् ।
देशे तत्र ततः प्रभृत्यनुदिनं प्रष्टुं नवागन्तुकान्
भूयो भूमिपतिः स नित्यपटहप्रोद्घोषणामादिशत् ॥२३२॥
'यो विप्रः क्षत्रियो वा ननु कनकपुरीं दृष्टवान्सोऽभिधत्तां
तस्मै राजा किल स्वां वितरति तनयां यौवराज्येन साकम्' ।
सर्वत्राघोष्यतैवं पुनरपि पटहानन्तरं चात्र शश्व-
न्न त्वेकः कोऽपि तावत्कृतकनकपुरीदर्शनो लभ्यते स्म ॥२३३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे चतुर्दारिकालम्बके प्रथमस्तरङ्गः ।

द्वितीयस्तरङ्गः

कनकपुरीदर्शनार्थं शक्तिदेवस्य प्रस्थानम्

अत्रान्तरे द्विजयुवा शक्तिदेवः स दुर्मनाः ।
अचिन्तयदभिप्रेतराजकन्यावमानितः ॥१॥
मयेह मिथ्याकनकपुरीदर्शनवादिना ।
विमानना परं प्राप्ता न त्वसौ राजकन्यका ॥२॥
तदेतत्प्राप्तये तावद् भ्रमणीया मही मया ।
यावत्सा नगरी दृष्टा प्राणैर्वापि गतं मम ॥३॥
तां हि दृष्ट्वा पुरीमेत्य तत्पणोपार्जितां न चेत् ।
लभेय राजतनयामेनां किं जीवितेन तत् ॥४॥
एवं कृतप्रतिज्ञः सन् वर्धमानपुरात्ततः ।
दक्षिणां दिशमालम्ब्य स प्रतस्थे तदा द्विजः ॥५॥
क्रमेण गच्छंश्च प्राप सोऽथ विन्ध्यमहाटवीम् ।
विवेश च निजां वाञ्छामिव तां गहनायताम् ॥६॥
तस्यां च मारुताधूतमृदुपादपपल्लवैः ।
वीजयन्त्यामिवात्मानं तप्तमर्ककरोत्करैः ॥७॥
भूरिचौरपराभूतिदुःखादिव दिवानिशम् ।
क्रोशन्त्यां तीव्रसिंहादिहन्यमानमृगारवैः ॥८॥

राजा ने पूर्वजन्म का स्मरण करनेवाली उस कन्या को अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ देखकर और उसके मनोनुकूल वर मिलने में कोई दूसरा उपाय न देखकर अपने देश में आये हुए यात्रियों के लिए प्रतिदिन इसी प्रकार का ढिंढ़ोरा पीटने की आज्ञा दे दी ॥२३२॥

'जिस ब्राह्मण या क्षत्रिय-युवक ने कनकपुरी देखी हो, वह बताये। राजा उसे युवराज-पद के साथ अपनी कन्या देंगे'। इस प्रकार, नक्कारे से सभी जगह घोषणा होने लगी, किन्तु, कनकपुरी देखा हुआ एक भी व्यक्ति भी नहीं मिल पाया ॥२३३॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के
चतुर्दारिका-लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त

द्वितीय तरंग

शक्तिदेव का कनकपुरी देखने के लिए जाना

इसी बीच चाही हुई राजकन्या द्वारा अपमानित, अतएव दुःखित वह युवक ब्राह्मण शक्तिदेव सोचने लगा ॥१॥

'कनकपुरी मैंने देखी है'—इस प्रकार झूठ बोलकर मैंने उस राज्यकन्या के बदले अत्यन्त अपमान प्राप्त किया ॥२॥

अतः, उस राजकन्या की प्राप्ति के लिए मुझे तबतक सारी पृथ्वी का चक्कर काटना पड़ेगा, जबतक मैं उस नगरी को न देख लूँ या प्राणों का त्याग न कर दूँ ॥३॥

उस नगरी को देखकर उसी शर्त्त पर मैं राजकन्या को न ब्याह लूँ, तो मेरे इस जीवन से ही क्या लाभ है ? ॥४॥

ऐसी प्रतिज्ञा करके वह वर्धमान नगर से दक्षिण दिशा का मार्ग पकड़कर चल पड़ा ॥५॥

क्रमशः चलते हुए उस शक्तिदेव को मार्ग में विन्ध्य नाम का महान् और घोर वनप्रान्त मिला। वह ब्राह्मण-युवक, अपनी लम्बी दृढ इच्छा के समान उस महान् वनप्रान्त में प्रविष्ट हुआ ॥६॥

वायु से हिलाये गये कोमल पल्लवों से वह वन, अत्यन्त उष्ण सूर्य की किरणों से सन्तप्त उसके शरीर पर मानों पंखा झल रहा था ॥७॥

सिंह आदि हिंस्र जन्तुओं से मारे जाते हुए मृग आदि के करुण चीत्कारों के बहाने, अनेकानेक चोर-डाकुओं के पराभव-दुःख के कारण मानों वह दिन-रात रोता रहता था ॥८॥

स्वच्छन्दोच्छलदुद्दाममहामरुमरीचिभिः ।
जिगीषन्त्यामिवात्युग्राण्यपि तेजांसि भास्वतः ॥९॥
जलसङ्गतिहीनायामप्यहो सुलभापदि ।
सततोल्लङ्घ्यमानायामपि दूरीभवद्भुवि ॥१०॥
दिवसैर्दूरमध्वानमतिक्रम्य ददर्श सः ।
एकान्त शीतलस्वच्छसलिलं सुमहत्सरः ॥११॥
पुण्डरीकोच्छ्रितच्छत्रं प्रोल्लसद्धंसचामरम् ।
कुर्वाणमिव सर्वेषां सरसामधिराजताम् ॥१२॥
तस्मिन्स्नानादि कृत्वा च तत्पार्श्वे पुनरुत्तरे ।
अपश्यदाश्रमपदं सफलस्निग्धपादपम् ॥१३॥
तत्राश्वत्थतरोर्मूले निषण्णं तापसैर्वृतम् ।
स सूर्यतपसं नाम स्थविरं मुनिमैक्षत ॥१४॥
स्ववयोऽब्दशतग्रन्थिसंख्ययेवाक्षमालया ।
जराधवलकर्णाग्रसंश्रियिण्या विराजितम् ॥१५॥
प्रणामपूर्वकं तं च मुनिमभ्याजगाम सः ।
तेनाप्यतिथिसत्कारैर्मुनिना सोऽभ्यनन्द्यत ॥१६॥
अपृच्छ्यत च तेनैव संविभज्य फलादिभिः ।
कुतः प्राप्तोऽसि गन्तासि क्व च भद्रोच्यतामिति ॥१७॥
वर्धमानपुरात्तावद् भगवन्नहमागतः ।
गन्तुं प्रवृत्तः कनकपुरीमस्मि प्रतिज्ञया ॥१८॥
न जाने क्व भवेत्सा तु भगवान्वक्तु वेत्ति चेत् ।
इति तं शक्तिदेवोऽपि स प्रह्वो मुनिमभ्यधात् ॥१९॥
वत्स वर्षशतान्यष्टौ ममाश्रमपदे त्विह ।
अतिक्रान्तानि न च सा श्रुतापि नगरी मया ॥२०॥
इति तेनापि मुनिना गदितः स विषादवान् ।
पुनरेवाब्रवीत्तर्हि मृतोऽस्मि क्ष्मां भ्रमन्निह ॥२१॥
ततः क्रमेण ज्ञातार्थः स मुनिस्तमभाषत ।
यदि ते निश्चयस्तर्हि यदहं वच्मि तत्कुरु ॥२२॥
अस्ति काम्पिल्यविषयो योजनानां शतेष्वितः ।
त्रिषु तत्रोत्तराख्यश्च गिरिस्तत्रापि चाश्रमः ॥२३॥

स्वतन्त्रता से उछलती हुई मरुभूमि की किरणों से वह वन मानों सूर्य के उग्र तेज को जीतना चाहता था ।।९।।

जल के सम्पर्क से रहित निरन्तर चलते रहने पर भी समाप्त न होनेवाले एवं पग-पग पर विपत्तियों से भरे लम्बे रास्तोंवाले उस वन को कुछ दिनों में लाँघकर उसने एकान्त और शान्त स्थान में शीतल और स्वच्छ जल से भरे हुए एक बड़े सरोवर को देखा ।।१०–११।।

उस सरोवर में खिले हुए कमल ऊपर उठे हुए छत्र के समान लग रहे थे और हंस-रूपी भँवर इधर-उधर चलायमान हो रहे थे । मानों वह सरोवर, सभी सरोवरों के राजा की शोभा धारण कर रहा हो ।।१२।।

शान्तिदेव ने उसमें स्नान आदि किये और तत्पश्चात् उसने उस सरोवर के उत्तर की ओर सफल एवं सघन वृक्षों से भरे हुए आश्रम-स्थल को देखा । उसमें एक पीपल-वृक्ष के नीचे अनेक तपस्वियों से घिरे हुए सूर्यतपा नामक ऋषि को देखा । वह ऋषि अपनी अवस्था के सौ वर्षों के समान मानों सौ गाँठों से गूँथी हुई एवं वृद्धावस्था से श्वेत कनपटी में लटकती हुई स्फटिक की माला से शोभित हो रहा था ।।१३—१५।।

वह शक्तिदेव, प्रणाम करके उस मुनि के समीप गया और मुनि ने भी अतिथि-सत्कार करते हुए उसका स्वागत किया ।।१६।।

मुनि ने भोजन के लिए फल आदि देकर उससे पूछा—'हे भद्र, कहाँ से आये हो और कहाँ जाओगे, बताओ' ।।१७।।

'भगवन् ! मैं वर्धमान नगर से आया हूँ और प्रतिज्ञा करके कनकपुरी जाने के लिए उद्यत हूँ' ।।१८।।

पता नहीं, वह नगरी कहाँ है, यदि आप जानते हों, तो कृपाकर कहें ।' इस प्रकार नम्रतापूर्वक शक्तिदेव ने मुनि से कहा ।।१९।।

'बेटा, मुझे इस आश्रम-स्थान में एक सौ आठ वर्ष व्यतीत हो गये । आजतक मैंने कनकपुरी का नाम भी नहीं सुना । इस प्रकार मुनि से कहा गया शक्तिदेव अत्यन्त निराश और दुःखी हुआ ।।२०।।

तब फिर वह बोला—'यदि ऐसा है, तो मैं इस पृथ्वी पर घूमते-घूमते मर जाऊँगा ।' क्रमशः उसकी सारी बातें सुनकर मुनि उससे बोला—'यदि तुम्हारा यह निश्चय है, तो मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ।' यहाँ से तीन सौ योजन (अर्थात् बारह सौ कोस) पर काम्पिल्य नाम का नगर है । वहाँ उत्तर नाम का पर्वत है, उसमें एक आश्रम है ।।२१—२३।।

तत्रार्योऽस्ति मम भ्राता ज्येष्ठो दीर्घतपा इति ।
तत्पार्श्वं ज जानीयात्स वृद्धो जातु तां पुरीम् ।।२४।।
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा जातास्थस्तत्र तां निशाम् ।
नीत्वा प्रतस्थे स प्रातः शक्तिदेवो द्रुतं ततः ।।२५।।
क्लेशातिक्रान्तकान्तारशतश्चासाद्य तं चिरात् ।
काम्पिल्यविषयं तस्मिन्नारुरोहोत्तरे गिरौ ।।२६।।
तत्र तं दीर्घतपसं मुनिमाश्रमवर्त्तिनम् ।
दृष्ट्वा प्रणम्य च प्रीतः कृतातिथ्यमुपाययौ ।।२७।।
व्यजिज्ञपच्च कनकपुरीं राजसुतोदिताम् ।
प्रस्थितोऽहं न जानामि भगवन्क्वास्ति सा पुरी ।।२८।।
सा च मेऽवश्यगन्तव्या ततस्तदुपलब्धये ।
ऋषिणा सूर्यतपसा प्रेषितोऽस्मि तवान्तिकम् ।।२९।।
इत्युक्तवन्तं तं शक्तिदेवं सोऽप्यब्रवीन्मुनिः ।
इयता वयसा पुत्र पुरी साद्य श्रुता मया ।।३०।।
देशान्तरागतैः कैः कैर्जातः परिचयो न मे ।
न च तां श्रुतवानस्मि दूरे तद्दर्शनं पुनः ।।३१।।
जानाम्यहं च नियतं दवीयसि तया क्वचित् ।
भाव्यं द्वीपान्तरे वत्स तत्रोपायं च वच्मि ते ।।३२।।
अस्ति वारिनिधेर्मध्ये द्वीपमुत्स्थलसंज्ञकम् ।
तत्र सत्यव्रताख्योऽस्ति निषादाधिपतिर्धनी ।।३३।।
तस्य द्वीपान्तरेष्वस्ति सर्वेष्वपि गतागतम् ।
तेन सा नगरी जातु भवेद्दृष्टा श्रुतापि वा ।।३४।।
तस्मात्प्रयाहि जलधेरुपकण्ठप्रतिष्ठितम् ।
नगरं प्रथमं तावद् विटङ्कपुरसंज्ञकम् ।।३५।।
ततः केनापि वणिजा समं प्रवहणेन तत् ।
निषादस्यास्पदं गच्छ द्वीपं तस्येष्टसिद्धये ।।३६।।
इत्युक्तस्तेन मुनिना शक्तिदेवः स तत्क्षणम् ।
तथेत्युक्त्वा तमामन्त्र्य प्रयाति स्म तदाश्रमात् ।।३७।।
कालेन प्राप्य चोल्लङ्घ्य देशान् क्रोशान्बहूंश्च सः ।
वारिधेस्तीरतिलकं तद्विटङ्कपुरं परम् ।।३८।।

'वहाँ पर मेरा माननीय बड़ा भाई दीर्घतपा नाम का ऋषि है। उसके पास जाओ। वह बहुत वृद्ध है। सम्भव है, वह उस पुरी को जानता हो' ॥२४॥

यह सुनकर 'ठीक है' ऐसा कहकर और मुनि की बातों में विश्वास करके शक्तिदेव ने वह रात वहीं व्यतीत की और प्रातःकाल ही काम्पिल्य नगरी की ओर शीघ्रता से चला गया ॥२५॥

अनेक कष्टों से सैकड़ों दुर्गम पथ पार करते हुए वह बहुत दिनों के पश्चात् काम्पिल्य नगर में पहुँचा और उस पर्वत पर चढ़ा ॥२६॥

वहाँ जाकर उसने आश्रम में रहनेवाले दीर्घतपा मुनि को देखा और प्रणाम करके उसके समीप गया। मुनि ने भी उसका स्वागत किया ॥२७॥

तत्पश्चात् शक्तिदेव ने राजकुमारी द्वारा बताई हुई कनकपुरी नगरी के सम्बन्ध में निवेदन किया और कहा कि 'मैं उसी ओर जा रहा हूँ, किन्तु ज्ञात नहीं कि वह नगरी कहाँ है ॥२८॥

मुझे वहाँ अवश्य जाना है। उसका पता प्राप्त करने के लिए सूर्यतपा ऋषि ने आपके पास मुझे भेजा है' ॥२९॥

इस प्रकार कहते हुए शक्तिदेव से मुनि ने कहा—"बेटा ! इतनी लम्बी अवस्था में भी मैंने आजतक इस नगरी का नाम नहीं सुना था ॥३०॥

दूर-दूर देशों से आये हुए किन-किन से मेरा परिचय नहीं हुआ, किन्तु किसी से भी यह नाम मैंने नहीं सुना, दर्शन तो दूर की बात है ॥३१॥

बेटा ! मैं तो समझता हूँ कि वह दूर कहीं किसी दूसरे ही द्वीप में है। उसका उपाय तुम्हें बताता हूँ ॥३२॥

समुद्र के मध्य में उत्स्थल नाम का एक द्वीप है, वहाँ सत्यव्रत नाम का एक धनी निषादराज है। उसका प्रायः सभी दूर-दूर के द्वीपों में आना-जाना होता है। इसलिए, सम्भव है कि उसने वह नगरी कहीं देखी या सुनी हो। इसलिए, तुम यहाँ से पहले समुद्र के समीपस्थित विटंकपुर नामक नगर को जाओ। वहाँ से किसी बनिये के साथ उसकी नाव से उस निषादराज के पास अपनी इष्टसिद्धि के लिए जाओ" ॥३३—३६॥

इस प्रकार, उस मुनि से कहा हुआ शक्तिदेव उसी समय मुनि से आज्ञा लेकर उसके आश्रम से चला गया ॥३७॥

समयानुसार वह बहुत-से देशों और कोसों को पार करके समुद्र-तट के भूषण-स्वरूप विटंकपुर में जा पहुँचा ॥३८॥

तस्मिन् समुद्रदत्ताख्यमुत्स्थलद्वीपयायिनम् ।
अन्विष्य वणिजं तेन सह सख्यं चकार सः ।।३९।।
तदीयं यानपात्रं च समं तेनाधिरुह्य सः ।
तत्प्रीतिपूर्णपाथेयः प्रतस्थेऽम्बुधिवर्त्मना ।।४०।।
ततोऽल्पदेशे गन्तव्ये समुत्तस्थाकशङ्कितम् ।
कालो विद्युल्लताजिह्वो गर्जन्पर्जन्यराक्षसः ।।४१।।
लघूनुन्नमयन्भावान्गुरूनप्यवपातयन् ।
ववौ विधेरिवारम्भः प्रचण्डश्च प्रभञ्जनः ।।४२।।
वाताहताश्च जलधेरुदतिष्ठन्महोर्मयः ।
आश्रयाभिभवक्रोधादिव शैलाः सपक्षकाः ।।४३।।
ययौ च तत्प्रवहणं क्षणमूर्ध्वमधः क्षणम् ।
उच्छ्रायपातपर्यायं[1] दर्शयद्धनिनामिव ।।४४।।
क्षणान्तरे च वणिजामाक्रन्दैस्तीव्रपूरितम् ।
भरादिव तदुत्पत्य वहनं समभज्यत ।।४५।।
भग्ने च तस्मिंस्तत्स्वामी स वणिक्पतितोऽम्बुधौ ।
तीर्णश्च फलकारूढः प्राप्यान्यद् वहनं चिरात् ।।४६।।
शक्तिदेवं पतन्तं तु तं व्यात्तमुखकन्दरः ।
अपरिक्षतसर्वाङ्गं महामत्स्यो निगीर्णवान् ।।४७।।
स च मत्स्योऽब्धिमध्येन तत्कालं स्वेच्छया चरन् ।
उत्स्थलद्वीपनिकटं जगाम विधियोगतः ।।४८।।
तत्र तस्यैव कैवर्तपतेः सत्यव्रतस्य सः ।
शफरग्राहिभिर्भृत्यैः प्राप्य दैवादगृह्यत ।।४९।।
ते च तं सुमहाकायं निन्युराकृष्य कौतुकात् ।
तदैव धीवरास्तस्य निजस्य स्वामिनोऽन्तिकम् ।।५०।।
सोऽपि तं तादृशं दृष्ट्वा तैरेव सकुतूहलः ।
पाठीनं पाटयामास भृत्यैः सत्यव्रतो निजैः ।।५१।।
पाटितस्योदराज्जीवञ्शक्तिदेवोऽथ तस्य सः ।
अनुभूतापराश्चर्यगर्भवासो विनिर्ययौ ।।५२।।

---

१. क्रममित्यर्थः ।

वहाँ उसने पता लगाकर उत्स्थल द्वीप जानेवाले समुद्रदत्त नामक बनिये से मित्रता की और उसी के जहाज पर प्रेमपूर्ण पाथेय लेकर समुद्री मार्ग से वह उत्स्थल द्वीप को चला ॥३९-४०॥

समुद्र में कुछ दूर जाने पर बिजली-रूपी जीभ को लपलपाता हुआ काल-रूपी मेघ-राक्षस एकाएक उमड़ पड़ा। साथ ही विधि के समान भारी को हल्का और हल्के को भारी करता हुआ प्रचण्ड पवन भी चलने लगा ॥४१-४२॥

समुद्र में वायु से विताडित बड़ी-बड़ी पर्वताकार लहरें उठने लगीं। मानों अपने आधार का अपमान होने के कारण पक्षधारी पर्वत उठ खड़े हुए हों ॥४३॥

वह जहाज, कभी ऊपर और कभी नीचे इस प्रकार उछलने लगा, मानों धनिकों में उत्थान और पतन का आदर्श उपस्थित कर रहा हो ॥४४॥

कुछ ही समय में बनिये की चिल्लाहट से शब्दायमान वह जहाज, मानों भार वहन न कर सकने के कारण टूट गया ॥४५॥

जहाज के टूटने पर उसका स्वामी एक तख्ते से सहारे तैरता हुआ, दूसरे जहाज के मिल जाने पर उसके द्वारा पार हो गया ॥४६॥

गिरते हुए शक्तिदेव को मुँह बाये हुए एक बड़े मच्छ (ह्वेल) ने समूचा ही निगल लिया ॥४७॥

वह मच्छ, समुद्र में स्वेच्छा से घूमता हुआ दैवयोग से उत्स्थल द्वीप के समीप जा पहुँचा ॥४८॥

वहाँ पर उसी सत्यव्रत मछुआ के मछली पकड़नेवाले व्यक्तियों (मछियारों) द्वारा दैववश वह पकड़ लिया गया ॥४९॥

वे मछुए कौतूहलवश उस महामत्स्य को खींचकर अपने स्वामी सत्यव्रत के पास ले गये ॥५०॥

सत्यव्रत ने भी उस भारी मत्स्य को देखकर कौतुकवश उन दासों से उसे फड़वा दिया ॥५१॥

उसके फाड़ने पर, उसके पेट से, आश्चर्यमय दूसरे गर्भवास का अनुभव करनेवाला जीवित शक्तिदेव निकल पड़ा ॥५२॥

निर्यातं च कृतस्वस्तिकारं तं च सविस्मयः ।
युवानं वीक्ष्य पप्रच्छ दाशः सत्यव्रतस्ततः ॥५३॥
कस्त्वं कथं कुतश्चैषा शफरोदरशायिता ।
ब्रह्मंस्त्वयाप्ता कोऽयं ते वृत्तान्तोऽत्यन्तमद्भुतः ॥५४॥
तच्छ्रुत्वा शक्तिदेवस्तं दाशेन्द्रं प्रत्यभाषत ।
ब्राह्मणः शक्तिदेवाख्यो वर्धमानपुरादहम् ॥५५॥
अवश्यगम्या कनकपुरी च नगरी मया ।
अजानानश्च तां दूराद् भ्रान्तोऽस्मि सुचिरं भुवम् ॥५६॥
ततो दीर्घतपोवाक्यात्सम्भाव्य द्वीपगां च ताम् ।
तज्ज्ञप्तये दाशपतेरुत्स्थलद्वीपवासिनः ॥५७॥
पार्श्वं सत्यव्रतस्याहं गच्छन्वहनभङ्गतः ।
मग्नोऽम्बुधौ निगीर्णोऽहं मत्स्येन प्रापितोऽधुना ॥५८॥
इत्युक्तवन्तं तं शक्तिदेव सत्यव्रतोऽब्रवीत् ।
सत्यव्रतोऽहमेवैतद्द्वीपं तच्चेदमेव ते ॥५९॥
किन्तु दृष्टा बहुद्वीपदृश्वनापि[1] न सा मया ।
नगरी त्वदभिप्रेता द्वीपान्तेषु श्रुता पुनः ॥६०॥
इत्युक्त्वा शक्तिदेवं च विषण्णं वीक्ष्य तत्क्षणम् ।
पुनरभ्यागतप्रीत्या तं स सत्यव्रतोऽभ्यधात् ॥६१॥
ब्रह्मन् मा गा विषादं त्वमिहैवाद्या निशां वस ।
प्रातः कञ्चिदुपायं ते विधास्याभीष्टसिद्धये ॥६२॥
इत्याश्वास्य स तेनैव दाशेन प्रहितस्ततः ।
सुलभातिथिसत्कारं द्विजो विप्रमठं ययौ ॥६३॥
तत्र तद्वासिनैकेन कृताहारो द्विजन्मना ।
विष्णुदत्ताभिधानेन सह चक्रे कथाक्रमम् ॥६४॥
तत्प्रसङ्गाच्च तेनैव पृष्टस्तस्मै समासतः ।
निजं देशं कुलं कृत्स्नं वृत्तान्तं च शशंस सः ॥६५॥
तद्बुद्ध्वा परिरभ्यैनं विष्णुदत्तः स तत्क्षणम् ।
बभाषे हर्षबाष्पाम्बुघर्घराक्षरजर्जरम् ॥६६॥
दिष्ट्या मातुलपुत्रस्त्वमेकदेशभवश्च मे ।
अहं च बाल्य एव प्राक्तस्माद्देशादिहागतः ॥६७॥

---
१. दृष्टवतेत्यर्थः ।

मच्छ के पेट से निकले हुए और कल्याण-कामना करते हुए उस युवक को देखकर चकित सत्यव्रत ने पूछा—'हे ब्राह्मण ! तुम कौन हो ? कैसे हो ? इस मत्स्य के पेट में तुमने शयन कैसे किया ? तुम्हारा यह वृत्तान्त अत्यन्त अद्भुत है' ।।५३-५४।।

यह सुनकर शक्तिदेव, उस निषादराज से बोला—'मैं शक्तिदेव नाम का ब्राह्मण वर्धमान नगर से आया हूँ । मुझे कनकपुरी अवश्य जाना है । उसका पता न जानने के कारण चिरकाल तक दूर-दूर घूमा हूँ । तत्पश्चात् दीर्घतपा मुनि के कथन से उसके किसी द्वीपान्त में होने का अनुमान करके उत्स्थल द्वीप-निवासी निषादराज सत्यव्रत के पास जाने के लिए जहाज पर आया और जहाज के टूट जाने पर मुझे मत्स्य ने निगल लिया और उसीने मुझे यहाँ पहुँचा दिया' ।।५५-५८।।

इस प्रकार कहते हुए शक्तिदेव को सत्यव्रत ने पुनः कहा—'मैं ही सत्यव्रत हूँ और यह उत्स्थल द्वीप है । किन्तु, अनेक द्वीपों को देखनेवाले मैंने तुम्हारी ईप्सित कनकपुरी नहीं देखी है । हाँ, द्वीपों के अन्त में है, ऐसा सुना गया है' ।।५९-६०।।

उसके ऐसा कहने पर शक्तिदेव को निराश और खिन्न देखकर अतिथि-प्रेम से सत्यव्रत बोला—।।६१।।

'हे ब्राह्मणदेवता, खेद न करो । आज रात को यहीं निवास करो । प्रातःकाल तुम्हारी सफलता के लिए कोई उपाय करूँगा ।।६२।।'

ऐसा आश्वासन देकर निषाद के द्वारा भेजा गया वह शक्तिदव एक ब्राह्मण-मठ में गया, जहाँ अतिथियों का सत्कार सुलभ था । उस मठ में रहनेवाला विष्णुदत्त नामक एक ब्राह्मण द्वारा भोजन कर लेने पर शक्तिदेव ने उसके साथ अपनी जीवन-चर्चा प्रारम्भ की ।।६३-६४।।

उसका परिचय सुनकर तुरन्त ही विष्णुदत्त ने उसका आलिंगन करके हर्ष के आँसुओं के कारण रुँधे हुए कण्ठ से गद्गद होकर कहा—'भाग्य से तू मेरे मामा का लड़का (ममेरा भाई) है और हम दोनों एक ही देश में उत्पन्न हुए हैं । मैं बहुत पहले अपने देश से यहाँ आ गया था ।।६५-६७।।

तदिहैवास्व न चिरात् साधयिष्यति चात्र ते ।
इष्टं द्वीपान्तरागच्छद्वणिक्कर्णपरम्परा ॥६८॥

इत्युक्त्वान्वयमावेद्य विष्णुदत्तो यथोचितैः ।
तं शक्तिदेवं तत्कालमुपचारैरुपाचरत् ॥६९॥

शक्तिदेवोऽपि सम्प्राप्य विस्मृताध्वक्लमो मुदम् ।
विदेशे बन्धुलाभो हि मरावमृतनिर्झरः ॥७०॥

अमंस्त च निजाभीष्टसिद्धिमभ्यर्णवर्त्तिनीम् ।
अन्तरापाति हि श्रेयः कार्यसम्पत्तिसूचकम् ॥७१॥

ततो रात्रावनिद्रस्य शयनीये निषेदुषः ।
अभिवाञ्छितसम्प्राप्तिगतचित्तस्य तस्य सः ॥७२॥

शक्तिदेवस्य पार्श्वस्थो विष्णुदत्तः समर्थनम् ।
विनोदपूर्वकं कुर्वन्कथां कथितवानिमाम् ॥७३॥

अशोकदत्तस्य कपालस्फोटराक्षसाधिपतेश्च कथा

पुराभूत् सुमहाविप्रो गोविन्दस्वामिसंज्ञकः ।
महाग्रहारे कालिन्द्या उपकण्ठनिवेशिनि ॥७४॥

जायेते स्म च तस्य द्वौ सदृशौ गुणशालिनः ।
अशोकदत्तो विजयदत्तश्चेति सुतौ क्रमात् ॥७५॥

कालेन तत्र वसतां तेषामजनि दारुणम् ।
दुर्भिक्षं तेन गोविन्दस्वामी भार्यामुवाच सः ॥७६॥

अयं दुर्भिक्षदोषेण देशस्तावद् विनाशितः ।
तन्न शक्नोम्यहं द्रष्टुं सुहृद्बान्धवदुर्गतिम् ॥७७॥

दीयते च कियत् कस्य तस्मादन्नं यदस्ति नः ।
तद्दत्वा मित्रबन्धुभ्यो व्रजामो विषयादितः ॥७८॥

वाराणसीं च वासाय सकुटुम्बाः श्रयामहे ।
इत्युक्तया सोऽनुमतो भार्ययान्नमदान्निजम् ॥७९॥

सदारसुतभृत्यश्च स देशात्प्रययौ ततः ।
उत्सहन्ते न हि द्रष्टुमुत्तमाः स्वजनापदम् ॥८०॥

अब तुम यही रहो। शीघ्र ही द्वीपान्तरों से आनेवाले व्यापारी बनियों के कानों-कान तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा' ।।६७-६८।।

ऐसा कहकर अपने कुल का पता लगाकर विष्णुदत्त ने उस समय के योग्य उपचारों से शक्तिदेव की सेवा की ।।६९।।

शक्तिदेव भी उसे पाकर मार्ग के दुःखप्रद कष्टों को भूल गया। विदेश में अपने बन्धुजन का मिलना मरुभूमि में अमृत के झरने के समान सुखद होता है ।।७०।।

उसने अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि को भी समीप आया हुआ समझा। किसी कार्य के प्रसंग के बीच में आनेवाला श्रेय कार्य की समृद्धि का सूचक होता है ।।७१।।

तब रात्रि में शय्या पर लेटे हुए, अपनी कार्य-सिद्धि की चिन्ता में जागते हुए शक्तिदेव के पास सोया हुआ विष्णुदत्त, उसकी कार्य-सिद्धि का समर्थन करता हुआ इस प्रकार की कथा उसको सुनाने लगा—।।७२-७३।।

अशोकदत्त तथा राक्षसराज कपालस्फोटक की कथा

पुराने समय में यमुना नदी के तट पर एक विशाल गाँव में गोविन्दस्वामी नाम का एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहता था ।।७४।।

उस गुणी ब्राह्मण के उसी के समान दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें बड़े का नाम अशोकदत्त और छोटे का नाम विजयदत्त था ।।७५।।

उसके वहाँ रहते हुए दैवयोग से उस ग्राम में भीषण अकाल पड़ गया। तब गोविन्दस्वामी ने अपनी पत्नी से कहा—अकाल के कारण यह देश नष्ट हो रहा। अतः, मैं अपने सामने अपने मित्रों और बन्धु-बान्धवों की दुर्दशा नहीं देख सकता ।।७६-७७।।

इसलिए, हमारे घर में जितना अन्न है, उसे 'किसे कितना देना है'—यह निश्चय करके मित्रों और बन्धुओं को दे डालो। तब यहाँ से किसी दूसरे देश को चलें ।।७८।।

यहाँ से चलकर कुटम्ब के साथ वाराणसी नगरी को पहुँचें। इस प्रकार, अपनी पत्नी से परामर्श करके उसने अपने घर का सारा अन्न बाँट दिया ।।७९।।

तदनन्तर, अपनी स्त्री, बालक और सेवक के साथ उस देश से चल पड़ा। उच्च-कोटि के व्यक्ति, अपने व्यक्तियों का कष्ट नहीं देखना चाहते ।।८०।।

गच्छंश्च मार्गे जटिलं भस्मपाण्डुं कपालिनम् ।
सार्धचन्द्रमिवेशानं महाव्रतिनमैक्षत ॥८१॥
उपेत्य ज्ञानिनं तं च नत्वा स्नेहेन पुत्रयो: ।
शुभाशुभं स पप्रच्छ सोऽथ योगी जगाद तम् ॥८२॥
पुत्रौ ते भाविकल्याणौ किं त्वेतेन कनीयसा ।
ब्रह्मन्विजयदत्तेन वियोगस्ते भविष्यति ॥८३॥
ततोऽस्याशोकदत्तस्य द्वितीयस्य प्रभावत: ।
एतेन सह युष्माकं भूयो भावी समागम: ॥८४॥
इत्युक्तस्तेन गोविन्दस्वामी स ज्ञानिना तदा ।
सुखदु:खाद्भुताक्रान्तस्तमामन्त्र्य ततो ययौ ॥८५॥
प्राप्य वाराणसीं तां च तद्बाह्ये चण्डिकागृहे ।
दिनं तत्रातिचक्राम देवीपूजादिकर्मणा ॥८६॥
सायं च तत्रैव बहि: सकुटुम्बस्तरोस्तले ।
समावसत् कार्पटिकै: सोऽन्यदेशागतै: सह ॥८७॥
रात्रौ च तत्र सुप्तेषु सर्वेष्वधिगताध्वसु ।
श्रान्तेष्वास्तीर्णपर्णादिपान्थशय्यनिषादिषु ॥८८॥
तदीयस्य विबुद्धस्य तस्याकस्मात्कनीयस: ।
सूनोर्विजयदत्तस्य महान् शीतज्वरोऽजनि ॥८९॥
स तेन सहसा भावि बन्धुविश्लेषहेतुना ।
भयेनेव ज्वरेणाभूदूर्ध्वरोमा सवेपथु: ॥९०॥
शीतार्त्तश्च प्रबोध्यैव पितरं स्वमुवाच तम् ।
बाधते तात तीव्रो मामिह शीतज्वरोऽधुना ॥९१॥
तन्मे समिधमानीय शीतघ्नं ज्वलयानलम् ।
नान्यथा मम शान्ति: स्यान्नयेयं न च यामिनीम् ॥९२॥
तच्छ्रुत्वा तं स गोविन्दस्वामी तद्वेदनाकुल: ।
तावत्कुतोऽधुना वह्निर्वत्सेति च समभ्यधात् ॥९३॥
नन्वयं निकटे तात दृश्यतेऽग्निर्ज्वलन्नित: ।
भूयिष्ठेऽत्रैव तद्गत्वा किं नाङ्गं तापयाम्यहम् ॥९४॥
तस्मात् सकम्पं हस्ते मां गृहीत्वा प्रापय द्रुतम् ।
इत्युक्तस्तेन पुत्रेण पुनर्विप्रोऽपि सोऽब्रवीत् ॥९५॥

गोविन्दस्वामी ने मार्ग में चलते हुए जटाधारी, भस्म रमाये, खप्पर लिये और अर्धचन्द्र धारण किये हुए शिव के समान एक तपस्वी को देखा ॥८१॥

उसने उस तपस्वी से अपना शुभ-अशुभ पूछा। तब वह योगी कहने लगा—'तुम्हारे दोनों बालकों का भविष्य कल्याणमय है; किन्तु इनमें छोटे बालक विजयदत्त से तुम्हारा वियोग हो जायगा। तब बड़े पुत्र अशोकदत्त के प्रभाव से उसके साथ फिर तुम्हारा समागम होगा' ॥८२–८४॥

इस प्रकार, इस ज्ञानी से कहा हुआ गोविन्दस्वामी, सुख और दुःख दोनों से आक्रान्त होकर वहाँ से चला गया ॥८५॥

तदनन्तर, वाराणसी पहुँचकर उसके बाहरी भाग में स्थित चण्डिका के मन्दिर में ठहरा। वहाँ देवी की पूजा आदि कार्यों में उसका दिन बीत गया। रात में भी वह मन्दिर के बाहर, वृक्ष के नीचे, अन्य देशों से आये हुए यात्रियों के साथ सपरिवार सो गया ॥८६-८७॥

यात्रा से होनेवाली थकावट के कारण अन्य सभी यात्रियों के पत्ते आदि के बिछावनों पर सो जाने के पश्चात् जागते हुए उस ब्राह्मण के छोटे पुत्र को शीतज्वर का महान् प्रकोप हुआ। भविष्य में होनेवाले अपने परिवार के वियोग के कारण-स्वरूप उसके ज्वर का प्रकोप बढ़ गया। रोएँ खड़े हो गये और शरीर काँपने लगा ॥८८–९०॥

ठण्डक से काँपते हुए उसने पिता को जगाकर कहा—'पिता! मुझे भीषण शीतज्वर कष्ट दे रहा है। इसलिए, इस शीत को दूर करने के लिए लकड़ी लाकर आग जलाओ। इसके विना न तो मुझे शान्ति मिलेगी और न रात ही बिता सकूँगा' ॥९१-९२॥

यह सुनकर उसके कष्ट से घबराया हुआ गोविन्दस्वामी बोला—'इस समय रात को आग कहाँ से जलाऊँ?' तब विजयदत्त ने कहा—'पिताजी, वह देखो, पास कहीं आग जल रही है। इसलिए, काँपते हुए मुझे हाथ पकड़कर वहाँ ले चलो' ॥९३–९५॥

श्मशानमेतदेषा च चिता ज्वलति तत्कथम् ।
गम्यऽत्र पिशाचादिभीषणे त्वं हि बालकः ॥९६॥
एतच्छ्रुत्वा पितुर्वाक्यं वत्सलस्य विहस्य सः ।
वीरो विजयदत्तस्तं, सावष्टम्भमभाषत ॥९७॥
किं पिशाचादिभिस्तात वराकैः क्रियते मम ।
किमल्पसत्त्वः कोऽप्यस्मि तदशङ्कं नयात्र माम् ॥९८॥
इत्याग्रहाद् वदन्तं तं स पिता तत्र नीतवान् ।
सोऽप्यङ्गं तापयन् बालश्चितामुपससर्प ताम् ॥९९॥
ज्वलन्तीमनलज्वालाधूमव्याकुलमूर्धजाम् ।
नृमांसग्राहिणीं साक्षादिव रक्षोधिदेवताम् ॥१००॥
क्षणात्तत्र समाश्वस्य सोऽर्भकः पितरं च तम् ।
चितान्तर्दृश्यते वृत्तं किमेतदिति पृष्टवान् ॥१०१॥
कपालं मानुषस्यैतच्चितायां पुत्र दह्यते ।
इति तं प्रत्यवादीच्च सोऽपि पार्श्वस्थितः पिता ॥१०२॥
ततः स्वसाहसेनेव दीप्ताग्रेण निहत्य तम् ।
कपालं स्फोटयामास काष्ठेनैकेन सोऽर्भकः ॥१०३॥
तेनोच्चैः प्रसृता तस्मान् मुखे तस्यापतद् वसा ।
श्मशानवह्निना नक्तञ्चरीसिद्धिरिवार्पिता ॥१०४॥
तदास्वादेन बालश्च सम्पन्नोऽभूत्स राक्षसः ।
ऊर्ध्वकेशः शिखोत्खातखड्गो दंष्ट्राविशङ्कटः ॥१०५॥
आकृष्य च कपालं तद् वसां पीत्वा लिलेह सः ।
अस्थिलग्नानलज्वालालोलया निजजिह्वया ॥१०६॥
ततस्त्यक्तकपालः सन्पितरं निजमेव तम् ।
गोविन्दस्वामिनं हन्तुमुद्यतासिरियेष सः ॥१०७॥
कपालस्फोट भो देव न हन्तव्यः पिता तव ।
इत एहीति तत्कालं श्मशानादुदभूद् वचः ॥१०८॥
तच्छ्रुत्वा नाम लब्ध्वा च कपालस्फोट इत्यदः ।
स बटुः पितरं मुक्त्वा रक्षोभूतस्तिरोदधे ॥१०९॥

---

१. वृत्तम्=गोलाकारम् ।

पुत्र के ऐसा कहने पर पिता हरगोविन्दस्वामी ने कहा–'बटा ! वह तो श्मशान है ग्रौर वह चिता जल रही है। पिशाच, भूत, प्रेत ग्रादि से युक्त भीषण श्मशान में तुम्हें कैसे ले जाऊँ ? तुम ग्रभी बच्चे हो।' इस प्रकार पिता के वचन सुनकर वीर बालक विजयदत्त पिता को फटकारते हुए बोला—'पिताजी, ये बेचारे पिशाच ग्रादि मेरा क्या कर लेंगे ? क्या मैं दुर्बल हूँ ? तुम विना किसी शंका के मुझे वहाँ ले चलो' ।।९६–९८।।

ग्राग्रहपूर्वक इस प्रकार कहते हुए पुत्र को पिता वहाँ ले गया ग्रौर वह बालक भी, शरीर को तपाता हुग्रा चिता के पास जा पहुँचा ।।९९।।

जलती हुई ग्राग की लपटों के केशोंवाली ग्रौर नर-मांस को ग्रहण करनेवाली वह चिता मानों राक्षसों की गृहदेवी थी ।।१००।।

कुछ देर तक शरीर तपाने से सावधान होकर बालक ने पिता से पूछा,—'चिता के ग्रन्दर यह गोल-सा क्या दीखता है ?' ।।१०१।।

पास बैठे हुए पिता ने कहा—'बेटा ! यह मनुष्य का कपाल (शिर) जल रहा है' ।।१०२।।

तब उस लड़के ने साहस के समान जलती हुई चिता की लकड़ी से उस सिर को फोड़ दिया ।।१०३।।

सिर को फोड़ते ही उससे निकलती हुई चर्बी की धारा उस बालक के मुँह में ग्रा गिरी। मानों श्मशान की ग्राग ने उसे राक्षसी सिद्धि प्रदान की हो ।।१०४।।

उस चर्बी के चखने से वह बालक राक्षस बन गया। उसके सिर के बाल खड़े हो गये।' विकट दाँत निकल ग्राये ग्रौर उसने तलवार तान ली ।।१०५।।

तत्पश्चात् लकड़ी से उस कपाल को खींचकर वह बालक उसकी सारी चर्बी को ग्राग के समान लपलपाती जीभ से चटपट चाट गया ।।१०६।।

तब वह कपाल को फेंककर ग्रौर तलवार खींचकर ग्रपने पिता गोविन्दस्वामी को ही मारने के लिए उसके पीछे दौड़ा ।।१०७।।

इतने में ही श्मशान से ग्रावाज ग्राई कि 'हे कपालस्फोट देव ! ग्रपने पिता को मत मारो। इधर ग्राग्रो' ।।१०८।।

यह सुनकर कपालस्फोट नाम प्राप्त करके वह बालक, पिता को छोड़कर राक्षस बनकर ग्रन्तर्धान हो गया ।।१०९।।

तत्पिता सोऽपि गोविन्दस्वामी हा पुत्र या गुणिन् ।
हा हा विजयदत्तेति मुक्ताक्रन्दस्ततो ययौ ॥११०॥
एत्य चण्डीगृहं तच्च प्रातः पत्न्यै सुताय च ।
ज्यायसेऽशोकदत्ताय यथावृत्तं शशंस सः ॥१११॥
ततस्ताभ्यां सहानभ्रविद्युदापातदारुणम् ।
तथा शोकानलावेशमाजगाम स तापसः ॥११२॥
यथा वाराणसीसंस्थो देवीसन्दर्शनागतः ।
तत्रोपेत्य जनोऽप्यन्यो ययौ तत्समदुःखताम् ॥११३॥
तावच्च देवी पूजार्थमागत्यैको महावणिक् ।
अपश्यदत्र गोविन्दस्वामिनं तं तथाविधम् ॥११४॥
समुद्रदत्तनामासावुपेत्याश्वास्य तं द्विजम् ।
तदैव स्वगृहं साधुर्निनाय सपरिच्छदम् ॥११५॥
स्नानादिनोपचारेण तत्र चैनमुपाचरत् ॥
निसर्गो ह्येष महतां यदापन्नानुकम्पनम् ॥११६॥
सोऽपि जग्राह गोविन्दस्वामी पत्न्या समं धृतिम् ।
महाव्रतिवचः श्रुत्वा जातास्थः सुतसङ्गमे ॥११७॥
ततः प्रभृति चैतस्यां वाराणस्यामुवास सः ।
अभ्यर्थितो महाढ्यस्य तस्यैव वणिजो गृहे ॥११८॥
तत्रैवाधीतविद्योऽस्य स सुतः प्राप्तयौवनः ।
द्वितीयोऽशोकदत्ताख्यो बाहुयुद्ध[1]मशिक्षत ॥११९॥
क्रमेण च ययौ तत्र प्रकर्षं स तथा यथा ।
अजीयत न केनापि प्रतिमल्लेन भूतले ॥१२०॥
एकदा देवयात्रायां तत्र मल्लसमागमे ।
अगादेको महामल्लः ख्यातिमान् दक्षिणापथात् ॥१२१॥
तेनात्र निखिला मल्ला राज्ञो वाराणसीपतेः ।
प्रतापमुकुटाख्यस्य पुरतोऽन्ये पराजिताः ॥१२२॥
ततः स राजा मल्लस्य युद्धे तस्य समादिशत् ।
आनाय्याशोकदत्तं तं श्रुतं तस्माद् वणिग्वरात् ॥१२३॥

---

१. मल्लयुद्धम्; कुश्तीति भाषायाम् ।

तदनन्तर, उसका पिता गोविन्दस्वामी 'हाय बेटा ! हाय गुणी विजयदत्त !'—इन शब्दों के साथ रोता-चिल्लाता हुआ वहाँ से चला गया ।।११०।।

वहाँ से चण्डी के मन्दिर में आकर उसने प्रातःकाल अपनी पत्नी और ज्येष्ठ पुत्र अशोकदत्त से रात की वह सारी घटना सुना दी ।।१११।।

देवी-दर्शन के लिए आया हुआ वाराणसी रहनेवाला का एक तपस्वी तथा समागत अन्य यात्री— अभी बिना मेघ के वज्रपात के समान इस घटना के सम्बन्ध में सुनकर गोविन्दस्वामी के दुःख में समवेदना प्रकट करने लगे ।।११२-११३।।

इतने में ही देवी-पूजन के लिए वहाँ समुद्रदत्त नाम का एक धनी वैश्य आया। उसने इस प्रकार दुःखी गोविन्दस्वामी के पास जाकर उसे धैर्य प्रदान किया ।।११४।।

तदनन्तर, वह सज्जन बनिया, गोविन्दस्वामी को सपरिवार अपने घर ले गया और स्नान, भोजन आदि की आवश्यक व्यवस्था करा दी। विपद्ग्रस्त प्राणियों पर दया करना उच्च व्यक्तियों का स्वभाव होता है ।।११५-११६।।

महातपस्वी के वचन पर विश्वास करके पुत्र के पुनर्मिलन की आशा से गोविन्दस्वामी ने किसी प्रकार धैर्य धारण किया ।।११७।।

तबसे लेकर उस महाधनी बनिये की प्रार्थना पर उसने वाराणसी में उस बनिये के घर ही रहना निश्चित किया ।।११८।।

वहीं पर विद्या प्राप्त करके उसका पुत्र अशोकदत्त युवक हो गया और कुश्ती लड़ना सीखने लगा ।।११९।।

धीरे-धीरे वह मल्लविद्या (पहलवानी) में निपुण हो गया। संसार में किसी भी दूसरे पहलवान के लिए उसे जीतना कठिन था ।।१२०।।

एक बार किसी देवयात्रा के मेले में दक्षिण-देश का एक विख्यात मल्ल (पहलवान) वाराणसी आया और उसने काशिराज प्रतापमुकुट के सभी पहलवानों को उसके सामने ही पछाड़ दिया ।।१२१-१२२।।

तब राजा ने, उस बनिये से अशोकदत्त की प्रशंसा सुनकर उसे बुलवाकर लड़ने की आज्ञा दी ।।१२३।।

सोऽपि मल्लो भुजं हत्वा हस्तेनारभताहवम् ।
मल्लं चाशोकदत्तस्तु भुजं हत्वा न्यपातयत् ।।१२४।।
ततस्तत्र महामल्लनिपातोत्थितशब्दया ।
युद्धभूम्यापि सन्तुष्य साधुवाद इवोदिते ।।१२५।।
स राजाशोकदत्तं तं तुष्टो रत्नैरपूरयत् ।
चकार चात्मनः पार्श्ववर्त्तिनं दृष्टविक्रमम् ।।१२६।।
सोऽपि राज्ञः प्रियो भूत्वा दिनैः प्राप परां श्रियम् ।
शेवधिः शूरविद्यस्य विशेषज्ञो विशाम्पतिः ।।१२७।।
सोऽथ जातु ययौ राजा चतुर्दश्यां बहिःपुरे ।
सुप्रतिष्ठापितं दूरे देवमर्चयितुं शिवम् ।।१२८।।
कृतार्चनस्ततो नक्तं श्मशानस्यान्तिकेन सः ।
आगच्छन्नशृणोदेतां तन्मध्यादुद्गतां गिरम् ।।१२९।।
अहं दण्डाधिपेनेह मिथ्या वध्यानुकीर्त्तनात् ।
द्वेषेण विद्धः शूलायां तृतीयं दिवसं प्रभो ।।१३०।।
अद्यापि च न निर्यान्ति प्राणा मे पापकर्मणः ।
तद्देव तृषितोऽत्यर्थमहं दापय मे जलम् ।।१३१।।
तच्छ्रुत्वा कृपया राजा स पार्श्वस्थमुवाच तम् ।
अशोकदत्तमस्याम्भः प्रहिणोतु भवानिति ।।१३२।।
कोऽत्र रात्रौ व्रजेद्देव तद्गच्छाम्यहमात्मना ।
इत्युक्त्वाशोकदत्तः स गृहीत्वाम्भस्ततो ययौ ।।१३३।।
याते च स्वपुरीं राज्ञि स वीरो गहनान्तरम् ।
महत्तरेण तमसा सर्वतोऽन्तरधिष्ठितम् ।।१३४।।
शिवावकीर्णपिशितप्रत्तसन्ध्यामहाबलि ।
क्वचित् क्वचिच्चिताज्योतिर्दीप्रदीपप्रकाशितम् ।।१३५।।
लसदुत्तालवेतालतालवाद्यं विवेश तम् ।
श्मशानं कृष्णरजनीनिवासभवनोपमम् ।।१३६।।
केनाम्भो याचितं भूपादित्युच्चैस्तत्र स ब्रुवन् ।
मया याचितमित्येवमशृणोद् वाचमेकतः ।।१३७।।
गत्वा तदनुसारेण निकटस्थं चितानलम् ।
ददर्श तत्र शूलाग्रे विद्धं कञ्चित्स पूरुषम् ।।१३८।।

वह दक्षिणी म भी हाथ से भुजाओं पर ताल ठोंकता हुआ अखाड़े में आया। अशोकदत्त ने उस मल्ल (पहलवान) का हाथ मरोड़कर उसे पटक दिया ॥१२४॥

तब उस पहलवान के पटके जाने पर उठे हुए जनरव से मानों अखाड़े की भूमि उस अशोकदत्त को धन्यवाद देने लगी ॥१२५॥

काशिराज पमुकुट ने प्रसन्न होकर पुरस्कार में अशाकदत्त को रत्नों से लाद दिया ॥१२६॥

साथ ही, उसके पराक्रम से प्रसन्न होकर उसे अपना अंग-रक्षक नियुक्त कर लिया। फलतः, वह अशोकदत्त कुछ ही दिनों में राजा से अतुल सम्पत्ति प्राप्त कर धनी हो गया राजा भी मल्लविद्या का विशेषज्ञ था ॥१२७॥

एक बार वह राजा चतुर्दशी तिथि को नगर के बाहर स्थापित किये गये शिवजी के दर्शन के लिए गया। उनकी पूजा करके वह रात में श्मशान-मार्ग से ही लौटा। आते हुए उसने श्मशान से निकली हुई यह वाणी सुनी कि 'हे स्वामी! मुझे दण्डाधिकारी ने झूठ ही प्राणदण्ड की सजा देकर शूली पर चढ़वा दिया है। आज तीसरा दिन है। मुझ पापी के प्राण नहीं निकल रहे हैं। मैं अत्यन्त प्यासा हूँ। मुझे पानी पिलाओ'॥१२८—१३१॥

यह सुनकर राजा ने दया करके अपने साथ चल रहे अशोकदत्त से कहा कि 'तुम इसके लिए जल भेजो ॥१३२॥

उसने कहा—'महाराज, इस समय रात को श्मशान में कौन जायगा, इसलिए मैं स्वयं ही जाता हूँ'—ऐसा कहकर अशोकदत्त पानी लेकर स्वयं ही वहाँ गया ॥१३३॥

राजा के अपनी नगरी में चले जाने पर वह वीर अशोकदत्त चारों ओर घने अँधेरे से भरे हुए, शृगालों द्वारा इधर-उधर फेंके गये मांस के टुकड़ों से मानों बलि दिये गये, चिताओं की चमक से कहीं-कहीं प्रकाशमान, नाचते हुए वैतालों से शब्दायमान और काली रात के निवास-भवन के समान उस श्मशान में उसने प्रवेश किया ॥१३४–१३६॥

वहाँ जाकर उसने ऊँचे स्वर में कहा—'राजा से किसने पानी माँगा है?' तब उसने एक से 'मैंने माँगा है' इस प्रकार का शब्द सुना ॥१३७॥

उसी शब्द के अनुसार उसने चिता की आग देखी और वहीं शूली से बिंधे हुए किसी पुरुष को देखा ॥१३८॥

अधश्च तस्य रुदतीं सदलङ्कारभूषिताम् ।
अदृष्टपूर्वां सर्वाङ्गसुन्दरीं स्त्रियमैक्षत ॥१३९॥
कृष्णपक्षपरिक्षीण. गतेऽस्तं रजनीपतौ ।
चितारोहाय तद्रश्मिरम्यां रात्रिमिवागताम् ॥१४०॥
का त्वमम्ब कथं चेह रुदत्यहमवस्थिता ।
इति पृष्टा च सा तेन योषिदेवं तमब्रवीत् ॥१४१॥
अस्याहं शूलविद्धस्य भार्या विगतलक्षणा ।
निश्चिताशा स्थितास्मीह चितारोहे सहामुना ॥१४२॥
कञ्चित्कालं प्रतीक्षेऽत्र प्राणानामस्य निष्क्रमम् ।
तृतीयेऽह्नि तेऽप्यद्य यान्त्येतस्य हि नासवः ॥१४३॥
याचते मुहुस्तोयमानीतं च मयेह तत् ।
किं त्वहं नोन्नते शूले प्राप्नोम्यस्य मुखं सखे ॥१४४॥
इति तस्या वचः श्रुत्वा स प्रवीरोऽप्युवाच ताम् ।
इदं त्वस्य नृपेणाऽपि हस्ते मे प्रेषितं जलम् ॥१४५॥
यन्मे पृष्ठे पदं दत्वा देह्येतस्यैतदानने ।
न परस्पर्शमात्रं हि स्त्रीणामापदि दूषणम् ॥१४६॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्यात्तजला दत्वा पदद्वयम् ।
शूलमूलावनम्रस्य पृष्ठं तस्यारुरोह सा ॥१४७॥
क्षणाद् भुवि स्वपृष्ठे च रक्तबिन्दुष्वशङ्कितम् ।
पतत्सु मुखमुन्नम्य स वीरो यावदीक्षते ॥१४८॥
तावत्स्त्रियमपश्यत्तां छित्वा छुरिकया मुहुः ।
खादन्तीं तस्य मांसानि पुनः शूलाग्रवर्त्तिनः ॥१४९॥
ततस्तां विकृतिं मत्वा क्रोधादाकृष्य सा क्षितौ ।
आस्फोटयिष्यन्जग्राह पादे रणितनूपुरे ॥१५०॥
सापि तं तरसा पादमाक्षिप्यैव स्वमायया ।
क्षिप्रं गगनमुत्पत्य जगाम क्वाप्यदर्शनम् ॥१५१॥
तस्य चाशोकदत्तस्य तत्पादान्मणिनूपुरम् ।
तस्मादाकर्षणत्रस्तमवतस्थे करान्तरे ॥१५२॥
ततस्तां पेशलामादावधःकर्त्रीं च मध्यतः ।
अन्ते विकारघोरां च दुर्जनैरिव सङ्गतिम् ॥१५३॥

उसने उस शूली के नीचे सुन्दर आभूषणों से सुशोभित एक रोती हुई स्त्री को देखा। वह अपूर्व रमणी सर्वांगसुन्दरी थी, मानों कृष्णपक्ष के बीतने के कारण चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर चाँदनी के समान रजनी-रमणी, चिता पर चढ़कर सती होने के लिए आई हो ।।१३६-१४०।।

'हे माता, तू कौन है, यहाँ क्यों रो रही है और इस प्रकार क्यों बैठी है ?— इस प्रकार, अशोकदत्त के प्रश्न करने पर वह स्त्री बोली—'मैं शूली पर चढ़े हुए इस पुरुष की अभागिन स्त्री हूँ। इसके साथ सती होने का निश्चय करके यहाँ बैठी हूँ। कुछ समय तक इसके प्राणों के निकलने की प्रतीक्षा कर रही हूँ। तीन दिन बीत जाने पर भी इसके प्राण नहीं निकले हैं ।।१४१— १४३।।

यह बार-बार पानी माँगता है। मैं पानी लाई भी, किन्तु ऊँची शूली पर लटके हुए इसके मुँह तक नहीं पहुँच पा रही हूँ' ।।१४४।।

स्त्री की बातें सुनकर अशोकदत्त बोला—'राजा ने मेरे हाथों यह जल भेजा है। अब तू मेरी पीठ पर पैर रखकर इसके मुख में यह जल डाल दे। आपत्ति के समय पुरुष का स्पर्श स्त्री के लिए दूषित नहीं है' ।।१४५-१४६।।

यह सुनकर और उसकी बात मानकर वह स्त्री, पानी लेकर, शूली की जड़ में नीचे मुँह किये हुए अशोकदत्त की पीठ पर दोनों पैर से चढ़ गई ।।१४७।।

कुछ ही समय पश्चात् उसने भूमि पर और अपनी पीठ पर रक्त की बूँदों के गिरने से शंकित हो, मुँह उठाकर ऊपर देखा, तो मालूम हुआ कि वह स्त्री, शूली पर चढ़े हुए उस पुरुष का मांस कटार से काटकर खा रही है ।।१४८-१४९।।

उस स्त्री की इस प्रकार विकृति को देखकर उस वीर ने उसे पछाड़ने के लिए उसके पैर पकड़े, जिनमें पैरों का आभूषण (पायजेब) बज रहा था ।।१५०।।

वह स्त्री भी पैरों को छुड़ाकर और अपनी माया से आकाश में उड़कर अदृश्य हो गई ।।१५१।।

पैरों को छुड़ाते समय अशोकदत्त के बलपूर्वक खींचने पर उसके एक पैर का पायजेब उसी अशोकदत्त के हाथ में ही रह गया ।।१५२।।

और, दुष्टों की संगति के समान प्रारम्भ में अच्छी, मध्य में अधःपातकारिणी और अन्त में घोर विकारवाली वह स्त्री हाथ से निकल गई ।।१५३।।

नष्टां विचिन्तयन्पश्यन्हस्ते दिव्यं च नूपुरम् ।
सविस्मयः साभितापः सहर्षश्च बभूव सः ॥१५४॥
ततः श्मशानतस्तस्मात्स जगामात्तनूपुरः ।
निजगेहं प्रभाते च स्नातो राजकुलं ययौ ॥१५५॥
किं तस्य शूलबिद्धस्य दत्तं वारीति पृच्छते ।
राज्ञे स च तथेत्युक्त्वा तं नूपुरमुपानयत् ॥१५६॥
एतत्कुत इति स्वैरं पृष्टस्तेन स भूभृता ।
तस्मै स्वरात्रिवृत्तान्तं शशंसाद्भुतभीषणम् ॥१५७॥
ततश्चानन्यसामान्यं सत्त्वं तस्यावधार्य सः ।
तुष्टोऽप्यन्यगुणोत्कर्षात्तुतोष सुतरां नृपः ॥१५८॥
गृहीत्वा नूपुरं तं च गत्वा देव्यै ददौ स्वयम् ।
हृष्टस्तत्प्राप्तिवृत्तान्तं तस्य च समवर्णयत् ॥१५९॥
सा तद्बुद्ध्वा च दृष्ट्वा च तं दिव्यं मणिनूपुरम् ।
अशोकदत्तश्लाघैकतत्परा मुमुदे रहः ॥१६०॥
ततो जगाद तां राजा देवी जात्येव विद्यया ।
सत्येनेव च रूपेण महतामप्ययं महान् ॥१६१॥
अशोकदत्तो भव्याया भर्त्ता च दुहितुर्यदि ।
भवेन्मदनलेखायास्तद्भद्रमिति मे मतिः ॥१६२॥
वरस्यामी गुणाः प्रेक्ष्या न लक्ष्मीः क्षणभङ्गिनी ।
तदेतस्मै प्रवीराय ददाम्येतां सुतामहम् ॥१६३॥
इति भर्त्तुर्वचः श्रुत्वा देवी सा सादरावदत् ।
युक्तमेतदसौ ह्यस्या युवा भर्त्तानुरूपतः ॥१६४॥
सा च तेन मधूद्यानदृष्टेन हृतमानसा ।
शून्याशया दिनेष्वेषु न शृणोति न पश्यति ॥१६५॥
तत्सखीतश्च तद्बुद्ध्वा सचिन्ताहं निशाक्षये ।
सुप्ता जाने स्त्रिया स्वप्ने कयाप्युक्तास्मि दिव्यया ॥१६६॥
वत्से मदनलेखेयं देयान्यस्मै न कन्यका ।
एषा ह्यशोकदत्तस्य भार्या जन्मान्तरार्जिता ॥१६७॥
तच्च श्रुत्वा प्रबुध्यैव गत्वा प्रत्यूष एव च।
स्वयं तत्प्रत्ययाद् वत्सां समाश्वासितवत्यहम् ॥१६८॥

यह देखकर वह अशोकदत्त आश्चर्य और सन्ताप करने लगा, किन्तु अपने हाथ में उसके दिव्य पायजेब को देखकर प्रसन्न भी हुआ ॥१५४॥

तदनन्तर, वह अशोकदत्त, पायजेब हाथ में लेकर श्मशान से घर आया और प्रातःकाल स्नान करके राजभवन को गया ॥१५५॥

'क्या उस शूली पर चढ़े हुए को तुमने पानी दिया ?'—इस प्रकार पूछते हुए राजा को उसने 'हाँ' कहकर वह पायजेब भेंट किया ॥१५६॥

'यह कहाँ से मिला ?'—इस प्रकार प्रश्न करते हुए राजा को उसने रात की अद्भुत और भीषण घटना कह सुनाई ॥१५७॥

इस प्रकार, उसके असाधारण मनोबल को जानकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उस दिव्य आभूषण को लेकर रनिवास में गया। उसे महारानी को देते हुए उसने रात का सारा वृत्तान्त रानी से कह सुनाया ॥१५८-१५९॥

यह सब सुनकर और दिव्य आभूषण को देखकर रानी अशोकदत्त की प्रशंसा करती हुई मन में अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥१६०॥

तब राजा ने रानी से कहा—'देवी, यह अशोकदत्त जाति से, विद्या से और अपने सच्चे स्वरूप से बड़ों में बड़ा है। अतः, यदि यह मेरी भव्य बेटी मदनलेखा का पति हो, तो अच्छा हो। यह मेरा विचार है ॥१६१-१६२॥

वर के ये ही गुण देखे जाते है, न कि क्षण में नष्ट होनेवाली चंचल लक्ष्मी। इसलिए उस उत्तम वीर पुरुष को मैं कन्या देता हूँ' ॥१६३॥

यह सुनकर आदर के साथ उसका समर्थन करती हुई रानी ने कहा—"यह उचित है। यह युवा अपनी कन्या के सर्वथा अनुरूप और योग्य है। वह कन्या भी, मधु-उद्यान में उसे देखकर उसपर आसक्त हो चुकी है। इन दिनों वह शून्य-हृदय होकर न कुछ सुनती है और न कुछ देखती ही है ॥१६४-१६५॥

उसकी सखी से यह जानकर चिन्ता करती हुई मैं सो गई और रात बीतने पर (उषःकाल में) स्वप्न में किसी दिव्य स्त्री द्वारा मानों इस प्रकार कही गई। 'बेटी, इस मदनलेखा को दूसरे के लिए न देना, यह अशोकदत्त की पूर्वजन्म की अर्जित पत्नी है' ॥१६६-१६७॥

यह सुनकर, जागकर और बहुत ही सबेरे के उस स्वप्न में विश्वास कर, मैं बेटी को धीरज भी दे आई हूँ ॥१६८॥

इदानीं चार्यपुत्रेण स्वयमेव ममोदितम् ।
तस्मात् समेतु तेनासौ वृक्षेणेवार्त्तवा लता ॥१६९॥
इत्युक्तः प्रियया प्रीतः स राजा रचितोत्सवः ।
आहूयाशोकदत्ताय तस्मै तां तनयां ददौ ॥१७०॥
तयोश्च सोऽभूद्राजेन्द्रपुत्रीविप्रेन्द्रपुत्रयोः ।
सङ्गमोऽन्योन्यशोभायै लक्ष्मीविनययोरिव ॥१७१॥
ततः कदाचिद्राजानं तं देवी वदति स्म सा ।
अशोकदत्तानीतं तदुद्दिश्य मणिनूपुरम् ॥१७२॥
आर्यपुत्रायमेकाकी नूपुरो न विराजते ।
अनुरूपस्तदेतस्य द्वितीयः परिकल्प्यताम् ॥१७३॥
तच्छ्रुत्वा हेमकारादीनादिदेश स भूपतिः ।
नूपुरस्यास्य सदृशो द्वितीयः क्रियतामिति ॥१७४॥
ते तन्निरूप्य जगदुर्नेदृशो देव शक्यते ।
अपरः कर्त्तुमेतद्धि दिव्यं शिल्पं न मानुषम् ॥१७५॥
रत्नानीदृंशि भूयांसि न भवन्त्येव भूतले ।
तस्मादेष यतः प्राप्तस्तत्रैवान्यो गवेष्यताम् ॥१७६॥
एतच्छ्रुत्वा सदेवीके विषण्णे राज्ञि तत्क्षणम् ।
अशोकदत्तस्तत्रस्थस्तद्दृष्ट्वा सहसाब्रवीत् ॥१७७॥
अहमेवानयाम्यस्य द्वितीयं नूपुरस्य ते ।
एवं कृतप्रतिज्ञश्च राज्ञा साहसशङ्किना ॥१७८॥
स्नेहान्निवार्यमाणोऽपि निश्चयान्न चचाल सः ।
गृहीत्वा नूपुरं तच्च श्मशानं स पुनर्ययौ ॥१७९॥
निशि कृष्णचतुर्दश्यां यत्रैव तमवाप्तवान् ।
प्रविश्य तत्र च प्राज्यचिताधूममलीमसैः ॥१८०॥
पाशोपवेष्टितगलस्कन्धोल्लम्बितमानुषैः ।
पादपैरिव रक्षोभिराकीर्णे पितृकानने ॥१८१॥
अपश्यन्पूर्वदृष्टां तां स्त्रियं तन्नूपुराप्तये ।
उपायमेकं बुबुधे स महामांसविक्रयम् ॥१८२॥
तरुपाशाद् गृहीत्वाथ शवं बभ्राम तत्र सः ।
विक्रीणानो महामांसं गृह्यतामिति घोषयन् ॥१८३॥

इस समय आपने स्वयं कह दिया, तो ऋतु की लता जैसे वृक्ष का समागम करती है, उसी प्रकार इन दोनों का भी समागम हो जाय" ॥१६९॥

पत्नी द्वारा इस प्रकार कहे गये प्रसन्न राजा ने विवाहोत्सव का आयोजन करके वह कन्या अशोकदत्त को दे दी ॥१७०॥

उन दोनों, राजेन्द्र की कन्या और विप्रेन्द्र के पुत्र का समागम, परस्पर शोभा बढ़ाने के लिए लक्ष्मी और विनय के सगंम के समान हुआ ॥१७१॥

एक बार रानी ने राजा से उस दिव्य मणि के पायजेब के सम्बन्ध में कहा—'आर्यपुत्र, यह अकेला पायजेब अच्छा नहीं लगता, इसलिए इसी के समान दूसरा भी बनवाओ' ॥१७२-१७३॥

यह सुनकर राजा ने सोनार, जड़िये आदि को आज्ञा दी कि 'इसी के समान दूसरा पायजेब बनाओ' ॥१७४॥

वे उसे भली भाँति जाँचकर बोले—'महाराज, इस प्रकार का दूसरा पायजेब नहीं बनाया जा सकता। यह तो देवताओं की कारीगरी है, मनुष्यों की नहीं ॥१७५॥

इसमें के बहुत-से रत्न तो भूतल में मिलते ही नहीं, इसलिए जहाँ से यह एक मिला है, वहीं इसका जोड़ा भी ढूँढ़िए' ॥१७६॥

यह सुनकर राजा और रानी के निराश और खिन्न हो जाने पर वहाँ बैठा हुआ अशोकदत्त बोला—'मैं तुम्हारे पायजेब का जोड़ा लाता हूँ' ॥१७७॥

उसकी इस प्रकार की प्रतिज्ञा को राजा ने केवल साहस समझा। अतः, स्नेह से बार-बार मना करने पर भी अशोकदत्त, अपने निश्चय से विचलित न हुआ और उस पायजेब को लेकर फिर श्मशान में गया ॥१७८–१७९॥

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात में, जहाँ उसने वह आभूषण पाया था, वहीं पहुँचा। वहाँ जाकर धधकती हुई चिता के धुएँ से मलिन (काले) पाश में लपेटे हुए मनुष्यों के गलों को अपने गलों में लटकाये हुए, वृक्षों के समान दीर्घकाय राक्षसों से संकीर्ण उस श्मशान में उसने पहले देखी हुई उस स्त्री को देखा। उसका पायजेब लेने के लिए उसने नरमांस बचने का उपाय सोचा ॥१८०–१८२॥

उसने एक वृक्ष में बँधी हुई मनुष्य की लाश को खींचकर और कन्धे पर लादकर घूमना आरम्भ किया और चिल्लाने लगा कि 'मैं मानव-मांस बेच रहा हूँ, जिसे लेना हो, ले' ॥१८३॥

महासत्त्व ! गृहीत्वैतदेहि तावन्मया सह ।
इति क्षणाच्च जगदे स दूरादेकया स्त्रिया ॥१८४॥
तच्छ्रुत्वा स तथैवैतामुपेत्यानुसरन् स्त्रियम् ।
आरात्तरुतले दिव्यरूपां योषितमैक्षत ॥१८५॥
स्त्रीभिर्वृतामासनस्थां रत्नाभरणभासुराम् ।
असम्भाव्यस्थितं तत्र मरावम्भोजिनीमिव ॥१८६॥
स्त्रिया तयोपनीतश्च तामुपेत्य तथा स्थिताम् ।
नृमांसमस्मि विक्रीणे गृह्यतामित्युवाच सः ॥१८७॥
भो महासत्त्व ! मूल्येन केनैतद्दीयते त्वया ।
इति सापि तदाह स्म दिव्यरूपा किलाङ्गना ॥१८८॥
ततः स वीरो हस्तस्थं तमेकं मणिनूपुरम् ।
सन्दर्श्य स्कन्धपृष्ठस्थप्रेतकायो जगाद ताम् ॥१८९॥
यो ददात्यस्य सदृशं द्वितीयं नूपुरस्य मे ।
मांसं तस्य ददाम्येतदस्त्यसौ यदि गृह्यताम् ॥१९०॥
तच्छ्रुत्वा साप्यवादीत्तमस्त्यन्यो नूपुरो मम ।
असौ मदीय एवैको नूपुरो हि हृतस्त्वया ॥१९१॥
सैवाहं या त्वया दृष्टा शूलविद्धस्य पार्श्वतः ।
कृतान्यरूपा भवता परिज्ञातास्मि नाधुना ॥१९२॥
तत्किं मांसेन यदहं ब्रवीमि ते तत्करोषि चेत् ।
तद्द्वितीयं ददाम्यस्य तुल्यं तुभ्यं स्वनूपुरम् ॥१९३॥
इत्युक्तः स तदा वीरः प्रतिपद्य तदब्रवीत् ।
यत्त्वं वदसि तत्सर्वं करोम्येव क्षणादिति ॥१९४॥

अशोकदत्तविद्युत्प्रभयोः परिणयकथा

ततस्तस्मै जगादैवमामूलात्सा मनीषितम् ।
अस्ति भद्र त्रिघण्टाख्यं हिमवच्छिखरे पुरम् ॥१९५॥
तत्रासील्लम्बजिह्वाख्यः प्रवीरो राक्षसाधिपः ।
तस्य विद्युच्छिखा नाम भार्याहं कामरूपिणी ॥१९६॥
स चैकस्यां सुतायां मे जातायां दैवतः पतिः ।
प्रभोः कपालस्फोटस्य पुरतो निहतो रणे ॥१९७॥

'हे महामना ! इसे लेकर मेरे साथ आओ।' इस प्रकार दूर बैठी हुई स्त्री बोली —॥१८४॥

यह सुनकर उसका पीछा करते हुए उसने समीप ही एक वृक्ष के नीचे बैठी हुई, दिव्य रूपवाली और रत्नों तथा आभूषणों से चमकती हुई, अनेक स्त्रियों से घिरी हुई और आसन पर बैठी हुई एक स्त्री को देखा। मरुभूमि में कमलिनी के समान उस स्थान (श्मशान) पर ऐसी स्त्री का रहना सम्भव नहीं था। उस स्त्री के द्वारा ले जाया गया अशोकदत्त, उस बैठी हुई सुन्दरी के पास जाकर बोला—'मैं मनुष्य-मांस बेचता हूँ ले लो' ॥१८५—१८७॥

तब वह दिव्य रमणी बोली कि 'हे महापुरुष ! तुम इसे किस मूल्य पर देते हो ?' ॥१८८॥

तब वीर अशोकदत्त ने हाथ में लिये हुए एक पायजेब दिखाकर कहा—'जो इसके समान ही दूसरा पायजेब मुझे देगा, उसे दूँगा। यदि वह है, तो ले लो' ॥१८६॥

यह सुनकर वह बोली—'हाँ, इसी का जोड़ा दूसरा पायजेब मेरे पास है। यह मेरा ही पायजेब तुमने छीना है ॥१६०॥

मैं वही स्त्री हूँ, जिसे तुमने शूली में बिंधे हुए उस मनुष्य के पास उस दिन देखा था। इस समय दूसरा रूप बदलने के कारण तुमने मुझे नहीं पहचाना ॥१६१-१६२॥

तो अब मांस लेकर क्या होगा; मैं जो कहती हूँ, वह करो, तो इसी के समान दूसरा पायजेब तुम्हें दूँगी' ॥१६३॥

इस प्रकार कहे गये उस वीर ने उसकी बात स्वीकार करके कहा—'जो तू कहेगी, वह उसी समय करूँगा' ॥१६४॥

अशोकदत्त और विद्युत्प्रभा की विवाह-कथा

तब उस दिव्य स्त्री ने उससे अपने मन की बात इस प्रकार कही—'हे भले आदमी ! हिमालय के शिखर पर त्रिघण्ट नाम का एक नगर है। वहाँ स्तम्भजिह्व नाम का एक राक्षसराज है। मैं उसकी विद्युच्छिखा नाम की पत्नी हूँ और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली हूँ ॥१६५-१६६॥

वह मेरा पति एक कन्या के उत्पन्न होने पर कपालस्फोटक नाम के राक्षसराज द्वारा युद्ध में मारा गया ॥१६७॥

प्राप्ताब्जनूपुरस्तस्मात्स पुरान्निर्ययौ ततः ।
अशोकदत्तो वचसा नियम्यागमनं पुनः ॥२१३॥
तया श्वश्र्वैव चाकाशपथेनं पुनरेव तम् ।
श्मशानं प्रापितः सोऽभून्निजसिद्धिप्रभावतः ॥२१४॥
तरुमूले च तत्रैव स्थित्वा सा तं ततोऽब्रवीत् ।
सदा कृष्णचतुर्दश्यामिह रात्रावुपैम्यहम् ॥२१५॥
तस्मान्निशि च भूयोऽपि त्वमेष्यसि यदा यदा ।
तदा तदा वटतरोर्मूलात् प्राप्स्यसि मामितः ॥२१६॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा तामामन्त्र्य निशाचरीम् ।
अशोकदत्तः स ततो ययौ तावत्पितुर्गृहम् ॥२१७॥
कनीयः सुतविश्लेषदुःखद्वैगुण्यदायिना ।
तादृशा तत्प्रवासेन पितरौ तत्र दुःखितौ ॥२१८॥
अतर्कितागतो यावदानन्दयति तत्क्षणात् ।
तावत् स बुद्ध्वा श्वशुरस्तत्रैवास्याययौ नृपः ॥२१९॥
स तं साहसिकस्पर्शभीतैरिव सकण्टकैः ।
अङ्गैः प्रणतमालिङ्ग्य मुमुदे भूपतिश्चिरम् ॥२२०॥
ततस्तेन समं राज्ञा विवेश नृपमन्दिरम् ।
अशोकदत्तः स तदा प्रमोदो मूर्त्तिमानिव ॥२२१॥
ददौ राज्ञे स संयुक्तं तद्दिव्यं नूपुरद्वयम् ।
कुर्वाणमिव तद्वीर्यस्तुतिं झणझणारवैः ॥२२२॥
अर्पयामास तच्चास्मै कान्तं कनकपङ्कजम् ।
रक्षःकोषश्रियो हस्ताल्लीलाम्बुजमिवाहृतम् ॥२२३॥
पृष्टोऽथ कौतुकात्तेन राज्ञा देवीयुतेन सः ।
अवर्णयद्यथावृत्तं स्वं कर्णानन्ददायि तत् ॥२२४॥
विचित्रचरितोल्लेखचमत्कारितचेतनम् ।
प्राप्यते किं यशः शुभ्रमनङ्गीकृत्य साहसम् ॥२२५॥
एवं वदंस्ततस्तेन जामात्रा कृतकृत्यताम् ।
मेने स राजा देवी च प्राप्तनूपुरयुग्मका ॥२२६॥
उत्सवातोद्यनिर्ह्रादि तदा राजगृहं च तत् ।
अशोकदत्तस्य गुणानुद्गायदिव निर्बभौ ॥२२७॥

अशोकदत्त, पुनः आने का निश्चय करके आभूषण और कमल लेकर उस नगर से निकला और उसकी सास ने अपनी सिद्धि द्वारा आकाश-मार्ग से उसी श्मशान में पहुँचा दिया ।।२१४।।

उसी वृक्ष की जड़ में बैठकर वह उससे फिर कहने लगी कि मैं सदा कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में यहाँ आती हूँ। इसलिए, तू उस दिन रात को जब-जब यहाँ आयगा, तब-तब मुझे इसी वटवृक्ष के नीचे पायगा ।।२१५-२१६।।

ऐसा सुनकर और 'ठीक है' ऐसा कहकर, उस राक्षसी से विदा लेकर अशोकदत्त अपने पिता के घर आया ।।२१७।।

छोटे लड़के (विजयदत्त) के वियोग-दुःख को दूना करनेवाले अशोकदत्त के वियोग से उसके माता-पिता अत्यन्त दुःखी हो गये थे ।।२१८।।

जब अशोकदत्त ने, अचानक आकर अपने माता-पिता को सुखी किया, तब यह समाचार सुनकर उनका श्वशुर राजा भी वहीं आ गया ।।२१९।।

वहाँ आकर साहसिक के स्पर्श से मानों डरे हुए, अतएव रोमांचयुक्त अंगों से, राजा ने प्रणाम करते हुए अशोकदत्त को लिपटा लिया ।।२२०।।

तब अशोकदत्त, राजा के साथ राजभवन में गया। वहाँ जाकर उसने मूर्त्तिमान् आनन्द के समान पायजेब का जोड़ा और लक्ष्मी के लीला-कमल के समान वह सुन्दर स्वर्ण-कमल उसने राजा को समर्पित किया ।।२२१—२२३।।

कुछ समय के अनन्तर रानी के साथ बैठे हुए राजा से कौतूहलवश पूछे गये अशोकदत्त ने, कानों को आनन्द देनेवाले अपने वृत्तान्त को विस्तार के साथ सुनाया ।।२२४।।

साहस विना किये विचित्र चरित्रों के उल्लेख से चेतना को चमत्कृत करनेवाला स्वच्छ यश प्राप्त नहीं होता ।।२२५।।

इस प्रकार, कहते हुए राजा और रानी उस जामाता से अपने को धन्य-धन्य समझने लगे ।।२२६।।

उत्सव में बजनेवाले वाद्यों और गीतों से गूँजनेवाला राजभवन, मानों अशोदत्त के गुणों का गान कर रहा था ।।२२७।।

अन्येद्युश्च स राजा तत् स्वकृते सुरसद्मनि ।
हैमाब्जं स्थापयामास सद्रौप्यकलशोपरि ॥२२८॥
उभौ कलशपद्मौ च शुशुभाते सितारुणौ ।
यशः प्रतापाविव तौ भूपालाशोकदत्तयोः ॥२२९॥
तदृशौ च विलोक्यैतौ स हर्षोत्फुल्ललोचनः ।
राजा माहेश्वरो भक्तिरसावेशादभाषत ॥२३०॥
अहो विभाति पद्मेन तुङ्गोऽयं कलशोऽमुना ।
भूतिशुभ्रः कपर्दीव जटाजूटेन बभ्रुणा ॥२३१॥
अभविष्यद्द्वितीयं चेदीदृशं कनकाम्बुजम् ।
अस्थापयिष्यतामुष्मिन् द्वितीये कलशेऽपि तत् ॥२३२॥
इति राजवचः श्रुत्वाशोकदत्तस्ततोऽब्रवीत् ।
आनेष्याम्यहमम्भोजं द्वितीयमपि देव ते ॥२३३॥
तच्छ्रुत्वा न ममान्येन पङ्कजेन प्रयोजनम् ।
अलं ते साहसेनेति राजापि प्रत्युवाच तम् ॥२३४॥
दिवसेष्वथ यातेषु हेमाब्जहरणैषिणि ।
अशोकदत्ते सा भूयोऽप्यागात्कृष्णचतुर्दशी ॥२३५॥
तस्यां चास्य सुवर्णाब्जवाञ्छां बुद्ध्वा भयादिव ।
द्युसरःस्वर्णकमले यातेऽस्तशिखरं रवौ ॥२३६॥
सन्ध्यारुणाभ्रपिशितग्रासगर्वादिव क्षणात् ।
तमोरक्षःसु धावत्सु धूमधूम्रेषु सर्वतः ॥२३७॥
स्फुरद्दीपावलीदन्तमालाभास्वरभीषणे ।
जृम्भमाणे महारौद्रे निशानक्तञ्चरीमुखे ॥२३८॥
प्रसुप्तराजपुत्रीकात्स्वैरं निर्गत्य मन्दिरात् ।
अशोकदत्तः स ययौ श्मशानं पुनरेव तत् ॥२३९॥
तत्र तस्मिन्वटतरोर्मूले तां पुनरागताम् ।
ददर्श राक्षसीं श्वश्रूं विहितस्वागतादराम् ॥२४०॥
तया च सह भूयस्तदगमत्तन्निकेतनम् ।
स युवा हिमवच्छृङ्गं मार्गोन्मुखवधूजनम् ॥२४१॥
कञ्चित्कालं समं वध्वा तत्र स्थित्वाब्रवीच्च ताम् ।
श्वश्रूं देहि द्वितीयं मे कुतश्चित् कनकाम्बुजम् ॥२४२॥

दूसरे दिन, राजा ने, अपने पूजा-गृह में उस स्वर्ण-कमल को चाँदी के कलश पर स्थापित कर दिया ॥२२८॥

श्वेत और रक्त वे दोनों कलश और पद्म इस प्रकार शोभित हो रहे थे, मानों राजा और अशोकदत्त के क्रमशः यश और प्रताप हों ॥२२९॥

उसकी अनुपम शोभा देखकर शिवभक्त राजा ने हर्ष से आँखें फाड़ते हुए भक्तिरस के आवेश में कहा—'अहा ! इस स्वर्ण-कमल से यह कलश ऊँचा होकर ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे हिम-धवल शिवजी, अपने लाल-पीले जटाभार से ऊँचे शोभित होते हैं' ॥२३०-२३१॥

यह सुनकर अशोकदत्त ने कहा—'महाराज ! मैं आपके लिए दूसरा कमल भी ला दूँगा।' तब उत्तर देते हुए राजा ने उससे कहा—'मुझे दूसरे कमल की आवश्यकता नहीं, तुम साहस न करो' ॥२३२—२३४॥

कुछ दिन व्यतीत होने पर भी अशोकदत्त की दूसरे स्वर्ण-कमल को लाने की इच्छा बनी रही। इतने में ही कृष्ण-चतुर्दशी आ गई ॥२३५॥

उस दिन अशोकदत्त की, स्वर्ण-कमल लाने की इच्छा जानकर, आकाश-सरोवर के स्वर्ण-कमल सूर्य के भय से अस्त हो जाने पर, सन्ध्या के समान लाल मेघ-रूपी मांस का ग्रास करने के गर्व से मानों तम-रूपी धुएँ से धूमिल राक्षसों के इधर-उधर दौड़-धूप करने पर, चमकती हुई दीपमाला-रूपी दाँतों की पंक्ति से भीषण रात्रि-राक्षसी के मुँह के खुलने पर वह अशोकदत्त शयन करती हुई राजपुत्रीवाले अपने भवन से चुपचाप निकलकर फिर उसी श्मशान में जा पहुँचा ॥२३६—२३९॥

वहाँ पर उसने उसी वटवृक्ष की जड़ में बैठी हुई और स्वागत करती हुई अपनी राक्षसी सास को देखा ॥२४०॥

तदनन्तर, वह युवक, उसके साथ फिर हिमालय-शिखर पर स्थित उसके घर पर गया, जहाँ उसकी पत्नी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥२४१॥

कुछ समय तक अपनी पत्नी के साथ वहाँ निवास करके अशोकदत्त अपनी सास से बोला कि 'मुझे दूसरा स्वर्ण-कमल दो' ॥२४२॥

तच्छ्रुत्वा साप्यवादीत्तं कुतोऽन्यत् पङ्कजं मम ।
एतत्कपालस्फोटस्य विद्यतेऽस्मत्प्रभोः सरः ।।२४३।।

यत्रेदृशानि जायन्ते हेमाब्जानि समन्ततः ।
तस्मात्तदेकं मद्भर्त्रे प्रीत्या पद्मं स दत्तवान् ।।२४४।।

एवं तयोक्ते सोऽवादीत्तर्हि तन्मां सरोवरम् ।
नय यावत्स्वयं तस्मादादास्ये कनकाम्बुजम् ।।२४५।।

न शक्यमेतद्रक्षोभिर्दारुणैस्तद्धि रक्ष्यते ।
एवं निषिद्धोऽपि तया निर्बन्धं न स तं जहौ ।।२४६।।

ततः कथञ्चिन्नीतश्च तया श्वश्र्वा ददर्श तम् ।
दूरात् सरोवरं दिव्यं तुङ्गाद्रिकटकाश्रितम् ।।२४७।।

छन्नं निरन्तरोद्दण्डदीप्तहेमसरोरुहैः ।
सततोन्मुखतापीतसंक्रान्तार्कप्रभैरिव ।।२४८।।

गत्वैव तत्र यावच्च पद्मान्यवचिनोति सः ।
तावत्तद्रक्षिणो घोरा रुरुधुस्तं निशाचराः ।।२४९।।

सशस्त्रः सोऽवधीच्चैनानन्यानन्ये पलाय्य च ।
गत्वा कपालस्फोटाय स्वामिने तन्न्यवेदयन् ।।२५०।।

स तद्बुद्ध्वैव कुपितस्तत्र रक्षःपतिः स्वयम् ।
आगत्याशोकदत्तं तमपश्यल्लुण्ठिताम्बुजम् ।।२५१।।

कथं भ्राता ममाशोकदत्तः सोऽयमिहागतः ।
इति प्रत्यभ्यजानाच्च तत्क्षणं तं सविस्मयः ।।२५२।।

ततः शस्त्रं समुत्सृज्य हर्षबाष्पाप्लुतेक्षणः ।
धावित्वा पादयोः सद्यः पतित्वा च जगाद तम् ।।२५३।।

अहं विजयदत्ताख्यः सोदर्यः स तवानुजः ।
आवां द्विजवरस्योभौ गोविन्दस्वामिनः सुतौ ।।२५४।।

इयच्चिरं च जातोऽहं दैवादीदृङनिशाचरः ।
चिताकपालदलनात् कपालस्फोटनामकः ।।२५५।।

त्वद्दर्शनादिदानीं च ब्राह्मण्यं तत्स्मृतं मया ।
गतं च राक्षसत्वं मे मोहाच्छादितचेतनम् ।।२५६।।

यह सुनकर वह कहने लगी कि 'मेरे पास दूसरा स्वर्ण-कमल कहाँ है। यह हमारे राजा कपालस्फोट का सरोवर दीख रहा है, उसमें इस प्रकार के स्वर्ण-कमल होते हैं। उन्हीं में से एक कमल राजा ने मेरे पति को प्रेम से दिया था' ॥२४३-२४४॥

सास के ऐसा कहने पर अशोकदत्त ने कहा—'तब तुम मुझे उस सरोवर पर ले चलो। मैं स्वयं स्वर्णकमल ले लूँगा' ॥२४५॥

उसकी सास ने उससे कहा—'यह सम्भव नहीं है। बड़े-बड़े भीषण राक्षस उस सरोवर की रक्षा करते हैं।' इस प्रकार, सास द्वारा निषेध करने पर भी उसने अपना हठ नहीं छोड़ा ॥२४६॥

तब किसी प्रकार उस सास द्वारा वहाँ ले जाये जाने पर उसने दिव्य स्वर्ण-कमलों से युक्त और हिमालय की ऊँची चोटी पर स्थित उस सरोवर को देखा ॥२४७॥

वह सरोवर, सूर्य की किरणों का निरन्तर पान करने के कारण सूर्य की प्रभा के समान चमकते हुए ऊँचे-ऊँचे एवं विकसित स्वर्ण-कमलों से ढका हुआ था ॥२४८॥

वहाँ जाकर जब वह कमलों को चुनने लगा, तब भयानक रक्षक राक्षसों ने उसे रोका ॥२४९॥

तब अशोकदत्त ने भी शस्त्र निकालकर उन्हें मारना प्रारम्भ किया। फलतः, कुछ राक्षस भय से भागकर अपने स्वामी कपालस्फोट के पास पहुँचे और उन्होंने उससे निवेदन किया ॥२५०॥

यह सुनकर क्रोध से भरे हुए राक्षसराज ने, स्वयं आकर लूटे हुए स्वर्ण-कमलों के साथ अशोकदत्त को देखा ॥२५१॥

उसने आश्चर्य के साथ अपने भाई को पहचान कर सोचा कि 'यह मेरा भाई अशोकदत्त यहाँ कैसे आ गया' ॥२५२॥

तब हर्ष के आँसुओं से भरी हुई आँखोंवाला वह राक्षसराज शस्त्र को फेंककर दौड़कर उसके पैरों पर पड़कर कहने लगा—'मैं विजयदत्त नाम का तुम्हारा छोटा सहोदर भाई हूँ। हम दोनों ब्राह्मणश्रेष्ठ गोविन्दस्वामी के पुत्र हैं। दैववश मैं इतने दिनों तक राक्षस बन गया था। चिता में पड़े हुए कपाल (सिर) को फोड़ने के कारण मेरा नाम कपालस्फोट पड़ गया। इस समय तुम्हारे दर्शन से मुझे ब्राह्मणत्व का स्मरण हो आया और अज्ञान से बुद्धि को ढक देनेवाला मेरा राक्षसपन अब मुझसे निकल गया ॥२५३—२५६॥

एवं विजयदत्तस्य वदतः परिरभ्य सः ।
यावत्क्षालयतीवाङ्गं राक्षसीभावदूषितम् ॥२५७॥
अशोकदत्तो बाष्पाम्बुपूरैस्तावदवातरत् ।
प्रज्ञप्तिकौशिको नाम विद्याधरगुरुर्दिवः ॥२५८॥
स तौ ।वत्युपेत्यैव भ्रातरौ गुरुरब्रवीत् ।
यूयं विद्याधराः सर्वे शापादेतां दशां गताः ॥२५९॥
अधुना च स शापो वः सर्वेषां शान्तिमागतः ।
तद्गृह्णीत निजा विद्या बन्धुसाधारणीरिमाः ॥२६०॥
व्रजतं च निजं धाम स्वीकृत्स्वजनौ युवाम् ।
इत्युक्त्वा दत्तविद्योऽसौ तयोर्यामुद्ययौ गुरुः ॥२६१॥
तौ च विद्याधरीभूतौ प्रबुद्धो जग्मतुस्ततः ।
व्योम्ना तद्धिमवच्छृ गृहीतकनकाम्बुजौ ॥२६२॥
तत्र चाशोकदत्तस्तां रक्षःपतिसुतां प्रियाम् ।
उपागात् साप्यभूत्क्षीणशापा विद्याधरी तदा ॥२६३॥
तया च साकं सुदृशा भ्रातरौ तावुभावपि ।
वाराणसीं प्रययतुः क्षणाद्गगनगामिनौ ॥२६४॥
तत्र चोपेत्य पितरौ विप्रयोगाग्नितापितौ ।
निरवापयतां सद्यो दर्शनामृतवर्षिणौ ॥२६५॥
अदेहभेदेऽप्याक्रान्तचित्रजन्मान्तरौ च तौ ।
न पित्रोरेव लोकस्याप्युत्सवाय बभूवतुः ॥२६६॥
चिराद् विजयदत्तश्च गाढमाश्लिष्यतः पितुः ।
भुजमध्यमिवात्यर्थं मनोरथमपूरयत् ॥२६७॥
ततस्तत्रैव तद्बुद्ध्वा प्रतापमुकुटोऽपि सः ।
अशोकदत्तश्वशुरो राजा हर्षादुपाययौ ॥२६८॥
तत्सत्कृतश्च तद्राजधानीं सोत्कस्थितप्रियाम् ।
अशोकदत्तः स्वजनैः सार्धं बद्धोत्सवामगात् ॥२६९॥
ददौ च कनकाब्जानि राज्ञे तस्मै बहूनि सः ।
अभ्यर्थिताधिकप्राप्तिहृष्टः सोऽप्यभवन्नृपः ॥२७०॥
ततो विजयदत्तं तं सर्वेष्वत्र स्थितेषु सः ।
पिता पप्रच्छ गोविन्दस्वामी साश्चर्यकौतुकः ॥२७१॥

इस प्रकार कहते हुए विजयदत्त को छाती से चिपकाकर अशोकदत्त अपनी अश्रु-धाराओं से जबतक उसके राक्षस-भाव से दूषित शरीर को धो रहा था कि इतने में ही प्रज्ञप्ति-कौशिक नामक विद्याधरों के गुरु आकाश-मार्ग से उतरकर उन दोनों भाइयों से बोले—'तुम सभी विद्याधर हो, शाप के कारण इस दशा को प्राप्त हुए हो। अब तुमलोगों का वह शाप समाप्त हो गया है। अतः, अब तुम अपनी विद्याओं को ले लो और अपने बन्धु विद्याधरों की श्रेणी में मिल जाओ। अब अपने स्थान को जाओ और बन्धु-बान्धवों को स्वीकार करो'। उनसे ऐसा कहकर और विद्या देकर गुरु चले गये ।।२५७—२६१।।

तदनन्तर, उन्होंने अपने को पहचाना और वे दोनों विद्याधर हो गये और स्वर्ण-कमलों को लेकर विद्या के प्रभाव से आकाश-मार्ग द्वारा हिमालय-शिखर-स्थित अपने स्थान को चले गये ।।२६२।।

वहाँ पर अशोकदत्त, राक्षसराज की पुत्री, अपनी पत्नी के पास गया। फलतः, वह भी विद्याधरी हो गई ।।२६३।।

उस सुनयना के साथ वे दोनों भाई आकाश-मार्ग से क्षण-भर में वाराणसी आ गये ।।२६४।।

वहाँ आकर वियोग की अग्नि से तपे हुए माता-पिता को अपने दर्शन-रूपी अमृत-वर्षा से उन्होंने शान्त किया ।।२६५।।

शरीर का भेद न होने पर भी, उसी शरीर से दूसरे जन्म का अनुभव करते हुए वे दोनों, न केवल माता-पिता के ही, प्रत्युत सारी जनता के लिए प्रसन्नता देनेवाले हुए ।।२६६।।

विजयदत्त को बहुत दिनों के पश्चात् प्राप्त करने पर प्रगाढ आलिंगन करते हुए उसके पिता का मनोरथ पूर्ण हुआ ।।२६७।।

वाराणसी का राजा और अशोकदत्त का श्वशुर प्रतापमुकुट भी यह समाचार सुनकर प्रसन्न होकर वहाँ आ गया ।।२६८।।

उसके द्वारा सम्मानित अशोकदत्त, उत्सवों से सुन्दर वाराणसी नगरी में गया, जहाँ उसकी पत्नी राजकुमारी उत्कण्ठा से उसकी प्रतीक्षा कर रही थी ।।२६९।।

राजभवन में राजा को अशोकदत्त ने बहुत-से स्वर्ण-कमल दिये। इच्छा से भी अधिक कमलों के मिलने से राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ ।।२७०।।

एकबार परिवार के साथ बैठे हुए गोविन्दस्वामी ने आश्चर्य के साथ विजयदत्त से पूछा—।।२७१।।

तदा श्मशाने यामिन्यां राक्षसत्वं गतस्य ते ।
अभवत्कीदृशो वत्स वृत्तान्तो वर्ण्यतामिति ॥२७२॥
ततो विजयदत्तस्तं बभाषे तात चापलात् ।
प्रस्फोटितचितादीप्तकपालोऽहं विधेर्वशात् ॥२७३॥
मुखप्रविष्टया सद्यस्तद्वसाच्छटया तदा ।
रक्षोभूतस्त्वया तावद्दृष्टो मायाविमोहितः ॥२७४॥
'कपालस्फोट' इत्येवं नाम कृत्वा हि राक्षसैः ।
ततोऽन्यैरहमाहूतस्तन्मध्ये मिलितोऽभवम् ॥२७५॥
तैश्च नीतो निजस्यास्मि पार्श्वं रक्षःपतेः क्रमात् ।
सोऽपि दृष्ट्वैव मां प्रीतः सेनापत्ये न्ययोजयत् ॥२७६॥
ततः कदाचिद् गन्धर्वानभियोक्तुं मदेन सः ।
गतो रक्षःपतिस्तत्र संग्रामे निहतोऽरिभिः ॥२७७॥
तदैव प्रतिपन्नं च तद्भृत्यैर्मम शासनम् ।
ततोऽहं रक्षसां राज्यमकार्षं तत्पुरे स्थितः ॥२७८॥
तत्राकस्माच्च हेमाब्जहेतोः प्राप्तस्य दर्शनात् ।
आर्यस्याशोकदत्तस्य प्रशान्ता सा दशा मम ॥२७९॥
अनन्तरं यथास्माभिः शापमोक्षवशान्निजाः ।
विद्याः प्राप्तास्तथार्यो वः कृत्स्नमावेदयिष्यति ॥२८०॥
एवं विजयदत्तेन तेन तत्र निवेदिते ।
अशोकदत्तः स तदा तदामूलादवर्णयत् ॥२८१॥
पुरा विद्याधरौ सन्तौ गगनाद् गालवाश्रमे ।
आवां स्नान्ती[1]रपश्याव गङ्गायां मुनिकन्यकाः ॥२८२॥
तुल्याभिलाषास्ताश्चात्र वाञ्छन्तौ सहसा रहः ।
बुद्ध्वा तद्बन्धुभिः क्रोधाच्छप्तौ स्वो दिव्यदृष्टिभिः ॥२८३॥
पापाचारौ प्रजायेथां मर्त्ययोनौ युवामुभौ ।
तत्रापि विप्रयोगाच्च विचित्रो वा भविष्यति ॥२८४॥
मानुषागोचरे देशे विप्रकृष्टेऽप्युपागतम् ।
एकं दृष्ट्वा द्वितीयो वां यदा प्रज्ञानमाप्स्यति ॥२८५॥

---

१. स्नानमाचरन्तीः ।

'बेटा, उस समय श्मशान में रात के समय जब तू राक्षस बन गया था, तब क्या हुआ, बताओ' ।।२७२।।

तब विजयदत्त ने कहा—'पिताजी, मैंने बाल-स्वभाव-सुलभ चंचलता से चिता में चलते हुए कपाल को दैववश फोड़ डाला ।।२७३।।

उससे निकली हुई चर्बी की धारा जब मेरे मुख में गई, तब माया से मूढ़ मैं उसी समय राक्षस बन गया ।।२७४।।

तदनन्तर, दूसरे राक्षसों ने मेरा नाम कपालस्फोट रखकर अपनी मंडली में बुलाया और मैं भी उसमें सम्मिलित हो गया ।।२७५।।

वे लोग मुझे अपने साथ राक्षसों के राजा के समीप ले गये । उसने मुझे देखकर प्रसन्नता प्रकट की और मुझे अपना सेनापति बना दिया ।।२७६।।

उसके पश्चात् एक बार राक्षसराज ने घमण्ड में आकर गन्धर्वों पर चढ़ाई कर दी और वह स्वयं युद्ध में मारा गया ।।२७७।।

तब से उसके सेवकों ने मेरा शासन स्वीकार किया और मैंने उसके नगर में रहकर राक्षसों पर राज्य किया ।।२७८।।

वहाँ पर अकस्मात् सोने के कमल लेने के लिए आये हुए आर्य (बड़े भाई) अशोकदत्त के दर्शन से वह मेरी राक्षसी दशा समाप्त हो गई ।।२७९।।

उसके पश्चात् शाप से मोक्ष होने पर हमलोगों ने अपनी विद्याएँ कैसे प्राप्त कीं, यह सब आर्य अशोकदत्त आपको सुनावेंगे' ।।२८०।।

विजयदत्त के इस प्रकार कहने पर अशोकदत्त ने सारी कथा प्रारम्भ से सुनाई—।।२८१।।

पूर्वकाल में हम दोनों विद्याधर थे । उस समय हम दोनों ने गालव मुनि के आश्रम में गंगा स्नान करती हुई मुनि-कन्याओं को देखा ।।२८२।।

समान अभिलाषावाली उन कन्याओं को चाहते हुए हमलोग एकान्त स्थान ढूँढ़ने लगे । दिव्य दृष्टिवाले हमारे बन्धुओं ने इस रहस्य को जानकर हमें शाप दिया ।।२८३।।

तुम दोनों पापाचारी मनुष्य-योनि में उत्पन्न होओ । उस योनि में भी तुम दोनों का विचित्र वियोग होगा ।।२८४।।

मनुष्यों से अगम्य दूर देश में एक-दूसरे को देखकर अपने तत्त्व को जानोगे ।।२८५।।

तदा विद्याधरगुरोर्विद्यां प्राप्य भविष्यथः ।
पुनर्विद्याधरौ युक्तौ शापमुक्तौ स्वबन्धुभिः ॥२८६॥
एवं तैर्मुनिभिः शप्तौ जातावावामुभाविह ।
वियोगोऽत्र यथाभूतस्तत्सर्वं विदितं च वः ॥२८७॥
इदानीं पद्महेतोश्च श्वश्रूसिद्धिप्रभावतः ।
रक्षःपतेः पुरं गत्वा प्राप्तोऽयं चानुजो मया ॥२८८॥
तत्रैव च गुरोः प्राप्य विद्याः प्रज्ञप्तिकौशिकात् ।
सद्यो विद्याधरीभूय वयं क्षिप्रमिहागताः ॥२८९॥
इत्युक्त्वा पितरौ च तौ प्रियतमां तां चात्मजां भूपतेः ।
सद्यः शापतमोविमोक्षमुदितो विद्याविशेषैर्निजैः ॥
तैस्तैः संव्यभजद् विचित्रचरितः सोऽशोकदत्तस्तदा ।
येनैते सपदि प्रबुद्धमनसोऽजायन्त विद्याधराः ॥२९०॥
ततस्तमामन्त्र्य नृपं स साकं मातापितृभ्यां दयिताद्वयेन ।
उत्पत्य धन्यो निजचक्रवर्त्तिधाम द्युमार्गेण जवी जगाम ॥२९१॥
तत्रालोक्य तमाज्ञां प्राप्य च तस्मादशोकवेग इति ।
नाम स बिभ्रत् सोऽपि च तद्भ्राता विजयवेग इति ॥२९२॥
विद्याधरवरतरुणौ स्वजनानुगतावुभौ निजनिवासम् ।
गोविन्दकूटसंज्ञकमचलवरं भ्रातरौ ययतुः ॥२९३॥
सोऽप्याश्चर्यवशः प्रतापमुकुटो वाराणसीभूपतिः
स्वस्मिन् देवकुले द्वितीयकलशन्यस्तैकहेमाम्बुजः ।
तद्दत्तैरपरैः सुवर्णकमलैरभ्यर्चितत्र्यम्बक-
स्तत्सम्बन्धमहत्तया प्रमुदितो मेने कृतार्थं कुलम् ॥२९४॥
एवं दिव्या कारणेनावतीर्णा जायन्तेऽस्मिञ्जन्तवो जीवलोके ।
सत्त्वोत्साहौ स्वोचितौ ते दधाना दुष्प्रापामप्यर्थसिद्धिं लभन्ते ॥२९५॥
तत्सत्त्वसागर भवानपि कोऽपि जाने
देवांश एव भविता च यथेष्टसिद्धिः ।
प्रायः क्रियासु महतामपि दुष्करासु
सोत्साहता कथयति प्रकृतेर्विशेषम् ॥२९६॥
सापि त्वदीप्सिता ननु दिव्या राजात्मजा कनकरेखा ।
बालान्यथा हि वाञ्छति कनकपुरीदर्शिनं कथं हि पतिम् ॥२९७॥

उस समय विद्याधरों के गुरु से विद्या प्राप्त करके तुम दोनों शाप से मुक्त होकर पुनः विद्याधर बनोगे ॥२८६॥

इस प्रकार, उन मुनियों से शापित होकर हम दोनों यहाँ मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए। यहाँ हमलोगों का जैसे वियोग हुआ, यह सब आपको ज्ञात ही है ॥२८७॥

इस समय स्वर्ण-कमल लाने के कारण, सास के प्रभाव से, राक्षसराज के नगर में जाकर मैंने इस छोटे भाई को प्राप्त किया ॥२८८॥

और, वहीं गुरु प्रज्ञप्तिकौशिक से विद्याएँ प्राप्त करके पुनः विद्याधर होकर शीघ्र यहाँ आये ॥२८९॥

शाप-रूपी अन्धकार के दूर हो जाने से प्रसन्न अशोकदत्त ने इस प्रकार माता-पिता को तथा अपनी राजकुमारी पत्नी को अपनी विद्या की विशेषता से विद्या-प्रदान करके सभी को विचित्र चरित्र-वाला विद्याधर बना दिया ॥२९०॥

तब वह राजा प्रतापमुकुट से मिलकर माता-पिता, दोनों प्रियतमाओं और भाई के साथ वह धन्य अशोकदत्त, आकाश-मार्ग से उड़कर अपने चक्रवर्त्ती-स्थान को गया ॥२९१॥

वहाँ जाकर और वहाँ से आज्ञा प्राप्त करके उसने अपना नाम अशोकवेग और छोटे भाई का नाम विजयवेग रखा ॥२९२॥

वे दोनों सुन्दर विद्याधर, तरुण भाई, अपने बन्धु-बान्धवों से मिलकर गोविन्दकूट नामक अपने मिवासस्थान को गये ॥२९३॥

अपने देव-मन्दिर में दूसरे कलश में भी एक स्वर्ण-कमल रखकर और अशोकदत्त द्वारा प्रदत्त अन्य स्वर्ण-कमलों से शिवजी की पूजा करके अपनी कन्या के महान् सम्बन्ध से वह काशिराज प्रतापमुकुट भी अत्यन्त प्रसन्न और चकित हुआ ॥२९४॥

इसी प्रकार, दिव्य व्यक्ति, किसी प्रकार शाप आदि किन्हीं कारणों से जीवलोक में जन्म लेते हैं और अपने स्वरूप के अनुरूप बल और उत्साह धारण करते हुए दुष्प्राप्य कार्यों में भी सफलता प्राप्त करते हैं ॥२९५॥

इसलिए हे बल के समुद्र ! मैं समझता हूँ कि तुम भी अपने मनोरथ सिद्ध करनेवाले किसी देवता के अंश हो। उच्च व्यक्तियों का कठिन-से-कठिन कार्यों में उत्साहित होना, उनके स्वभाव की महत्ता को प्रकट करता है ॥२९६॥

वह तुम्हारी प्यारी राजकुमारी भी अवश्य दिव्य स्त्री है। नहीं तो वह कन्या कनकपुरी देखनेवाले पति को ही क्यों चाहती ? ॥२९७॥

इति रहसि निशम्य विष्णुदत्तात्
सरसकथाप्रकरं स शक्तिदेवः ।
हृदि कनकपुरीविलोकनैषी
धृतिमवलम्ब्य निनाय च त्रियामाम् ॥२९८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
चतुर्दारिकालम्बके द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

शक्तिदेवस्य कनकपुरीं प्रति प्रस्थानम्

ततस्तत्रोत्स्थलद्वीपे प्रभाते तं मठस्थितम् ।
शक्तिदेवं स दाशेन्द्रः सत्यव्रत उपाययौ ॥१॥
स च प्राक्प्रतिपन्नः सन्नुपेत्यैनमभाषत ।
ब्रह्मंस्त्वदिष्टसिद्ध्यर्थमुपायश्चिन्तितो मया ॥२॥
अस्ति द्वीपवरं मध्ये रत्नकूटाख्यमम्बुधेः ।
कृतप्रतिष्ठस्तत्रास्ते भगवान्हरिरब्धिना ॥३॥
आषाढशुक्लद्वादश्यां तत्र यात्रोत्सवे सदा ।
आयान्ति सर्वद्वीपेभ्यः पूजायै यत्नतो जनाः ॥४॥
तत्र ज्ञायेत कनकपुरी सा जातुचित् पुरी ।
तदेहि तत्र गच्छावः प्रत्यासन्ना हि सा तिथिः ॥५॥
इति सत्यव्रतेनोक्तः शक्तिदेवस्तथेति सः ।
जग्राह हृष्टः पाथेयं विष्णुदत्तोपकल्पितम् ॥६॥
ततो वहनमारुह्य स सत्यव्रतढौकितम् ।
तेनैव साकं त्वरितः प्रायाद् वारिधिवर्त्मना ॥७॥
गच्छंश्च तत्र स द्वीपनिभनक्रे[1]ऽद्भुतालये ।
सत्यव्रतं तं पप्रच्छ कर्णधारतया स्थितम् ॥८॥
इतो दूरं महाभोगं किमेतद्दृश्यतेऽम्बुधौ ।
यदृच्छाप्रोद्गतोदग्रसपक्षगिरिविभ्रमम् ॥९॥

---

१. समुद्रे 'हेल'प्रभृतयो द्वीपतुल्या मत्स्या भवन्तीति प्रसिद्धिः ।

विष्णुदत्त से इस प्रकार एकान्त रात्रि में सरस कथा सुनकर उस शक्तिदेव ने हृदय में कनकपुरी देखने की अभिलाषा रखते हुए धैर्य के साथ वह रात्रि व्यतीत की ।।२९८।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के चतुर्दारिकालम्बक का द्वितीय तरंग समाप्त ।

तृतीय तरंग

शक्तिदेव का कनकपुर के लिए प्रस्थान

तदनन्तर, उस उत्स्थल द्वीप के मठ में ठहरे हुए शक्तिदेव के समीप नाविकों का सरदार सत्यव्रत आया ।।१।।

उसने पहले ही शक्तिदेव से कनकपुरी का पता लगाने की प्रतिज्ञा की थी। इसीलिए, उसने आकर शक्तिदेव से कहा—'हे ब्राह्मणदेव, मैंने तुम्हारी इष्ट-सिद्धि का एक उपाय सोचा है ।।२।।

समुद्र के मध्य रत्नकूट नाम का एक द्वीप है। उसमें समुद्र ने भगवान् विष्णु की स्थापना की है ।।३।।

आषाढ मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी को वहाँ यात्रा का मेला लगता है। उस अवसर पर भगवान् विष्णु के पूजन के लिए सभी द्वीपों से यात्री आते हैं ।।४।।

वहाँ जाने पर सम्भव है कि किसी यात्री से उस कनकपुरी का पता लग सके। इसलिए चलो, वहीं चलें। वह तिथि (द्वादशी) भी समीप ही है ।।५।।

सत्यव्रत के इस प्रकार कहने पर शक्तिदेव 'ठीक है' ऐसा कहकर चलने को उद्यत हुआ और विष्णुदत्त द्वारा बनाया गया पाथेय उसने साथ ले लिया ।।६।।

तदनन्तर, वह सत्यव्रत के बताये हुए जहाज से उसी के साथ शीघ्र ही समुद्री मार्ग से चला गया ।।७।।

टापुओं के समान बड़े-बड़े मत्स्यों से भरे हुए और आश्चर्यों के भवन उस समुद्र में यात्रा करते हुए उसने नाव को ले जाते हुए सत्यव्रत से पूछा कि यहाँ से दूर पर सहसा निकले हुए पक्ष-सहित पर्वत के समान वह क्या दीख रहा है? ।।८–९।।

तता सत्यव्रतोऽवादीदसौ देवो वटद्रुमः ।
अस्याहुः सुमहावर्त्तमधस्ताद् वडवामुखम् ॥१०॥
एतं च परिहृत्यैव प्रदेशमिह गम्यते ।
अत्रावर्त्ते गतानां हि न भवत्यागमः पुनः ॥११॥
इति सत्यव्रते तस्मिन् वदत्येवाम्बुवेगतः ।
तस्यामेव प्रववृते गन्तुं तद्वहनं दिशि ॥१२॥
तद्दृष्ट्वा शक्तिदेवं स पुनः सत्यव्रतोऽब्रवीत् ।
ब्रह्मन् विनाशकालोऽयं ध्रुवमस्माकमागतः ॥१३॥
यदकस्मात् प्रवहणं पश्यात्रैव प्रयात्यदः ।
शक्यते नैव रोद्धुं च कथमप्यधुना मया ॥१४॥
तदावर्त्ते गभीरेऽत्र वयं मृत्योरिवानने ।
क्षिप्ता एवाम्बुनाकृष्य कर्मणेव बलीयसा ॥१५॥
एतच्च नैव मे दुःखं शरीरं कस्य हि स्थिरम् ।
दुःखं तु यन्न सिद्धिस्ते कृच्छ्रेणापि मनोरथः ॥१६॥
तद्यावद् वारयाम्येतदहं प्रवहणं मनाक् ।
स्तावदस्यावलम्बेथाः शाखां वटतरोर्द्रुतम् ॥१७॥
कदाचिज्जीवितोपायो भवेद् भव्याकृतेस्तव ।
विधेर्विलासानब्धेश्च तरङ्गान्को हि तर्कयेत् ॥१८॥
इति सत्यव्रतस्यास्य धीरसत्त्वस्य जल्पतः ।
बभूव निकटे तस्य तरोः प्रवहणं ततः ॥१९॥
तत्क्षणं स कृतोत्फालः शक्तिदेवो विसाध्वसः ।
पृथुलामग्रहीच्छाखां तस्याब्धितटशाखिनः ॥२०॥
सत्यव्रतस्तु वहता देहेन वहनेन च ।
परार्थकल्पितेनात्र विवेश वडवामुखम् ॥२१॥
शक्तिदेवश्च शाखाभिः पूरिताशस्य तस्य सः ।
आश्रित्यापि तरोः शाखां निराशः समचिन्तयत् ॥२२॥
न तावत्सा च कनकपुरी दृष्टा मया पुरी ।
अपदे नश्यता तावद्दाशेन्द्रोऽप्येष नाशितः ॥२३॥
यदि वा सततन्यस्तपदा सर्वस्य मूर्धनि ।
कामं भगवती केन भज्यते भवितव्यता ॥२४॥

---

१. भाग्येनेत्यर्थः ।

यह सुनकर सत्यव्रत ने कहा—वह वटवृक्ष रूपी देवता है। इसके नीचे आनेवाले आवर्त्त (भँवर) को वड़वानल (समुद्री अग्नि) का मुँह बताते हैं। इसीलिए, नाववाले उस स्थान को छोड़कर चलते हैं; क्योंकि उस भँवर में पड़े हुए लोग फिर लौटते नहीं ॥१०–११॥

जबतक सत्यव्रत इस प्रकार कह ही रहा था, इतने में ही उसकी नाव पानी के वेग से उसी ओर बढ़ गई ॥१२॥

यह देखकर सत्यव्रत ने शक्तिदेव से फिर कहा—'ब्राह्मण देवता ! हमारे विनाश का समय आ गया है ! ॥१३॥

क्योंकि, यह नाव अकस्मात् उसी ओर बही जा रही है। इसे अब मैं किसी तरह भी नहीं रोक सकता ॥१४॥

हम लोग मृत्यु-मुख के समान इस गहरे भँवर में पड़ गये हैं। हमें बलवान कर्म के समान वेगवान् जल ने इसमें ढकेल दिया है ॥१५॥

मुझे मृत्यु का दुःख नहीं है, किसका शरीर अमर रहा है? दुःख केवल इसी बात का है कि इतना कष्ट उठाने पर भी तुम्हारे कार्य में सफलता न मिली ॥१६॥

मैं भरसक नाव को कुछ हटाने का यत्न कर रहा हूँ। तुम शीघ्र ही इस वटवृक्ष की शाखा को पकड़ने का यत्न करना ॥१७॥

तुम भव्य (सुन्दर) आकृतिवाले हो। सम्भव है, तुम्हारा कल्याण हो। दैव के विधानों और सुदृढ तरंगों को कौन जान सकता है' ॥१८॥

धैर्यशाली सत्यव्रत के इस प्रकार कहने पर नाव वटवृक्ष के पास आ गई। उसी समय शक्तिदेव ने विना व्याकुलता के उछलकर वटवृक्ष की एक मोटी शाखा पकड़ ली ॥१९–२०॥

किन्तु सत्यव्रत, परोपकार के लिए निर्मित नाव से और अपने शरीर से वडवानल के मुख में चला गया ॥२१॥

शक्तिदेव भी शाखाओं से आशा को पूर्ण करनेवाले उस वृक्ष की शाखा पर आश्रय पाकर, निराश हो, सोचने लगा। मैंने कनकपुरी अभी तक नहीं देखी और ऐसे अवसर पर धीवरराज सत्यव्रत को भी खो दिया। सभी के शिर पर पैर रखकर खड़ी भवितव्यता (होनहार) को कौन मिटा सकता है ॥२२—२४॥

इत्यवस्थोचितं तस्य ततश्चिन्तयतस्तदा ।
विप्रयूनस्तरुस्कन्धे दिनं तत्पर्यहीयत ॥२५॥
सायं च सर्वतस्तस्मिन् स महाविहगान् बहून् ।
वटवृक्षे प्रविशतः शब्दापूरितदिक्तटान् ॥२६॥
अपश्यत् पृथुतत्पक्षवातधूतार्णवोर्मिभिः ।
गृध्रान् परिचयप्रीत्या कृतप्रत्युद्गमानिव ॥२७॥
ततः शाखाविलीनानां स तेषां पक्षिणां मिथः ।
मनुष्यवाचा संलापं पत्रौघैश्छादितोऽशृणोत् ॥२८॥
कश्चिद् द्वीपान्तरं कश्चिद् गिरिं कश्चिद् दिगन्तरम् ।
तदहश्चरणस्थानमेकैकः समवर्णयत् ॥२९॥
एकश्च वृद्धविहगस्तेषां मध्यादभाषत ।
अहं विहर्तुं कनकपुरीमद्य गतोऽभवम् ॥३०॥
प्रातः पुनश्च तत्रैव गन्तास्मि चरितुं सुखम् ।
श्रमावहेन कोऽर्थो मे विदूरगमनेन हि ॥३१॥
इत्यकाण्डसुधासारसदृशेनास्य पक्षिणः ।
वचसा शान्ततापः सन् शक्तिदेवो व्यचिन्तयत् ॥३२॥
दिष्ट्या सास्त्येव नगरी तत्प्राप्त्यै चायमेव मे ।
उपायः सुमहाकायो विहगो वाहनीकृतः ॥३३॥
इत्यालोच्य शनैरेत्य तस्य सुप्तस्य पक्षिणः ।
पृष्ठपक्षान्तरे सोऽथ शक्तिदेवो व्यलीयत ॥३४॥
प्रातश्चेतस्ततस्तेषु गतेष्वन्येषु पक्षिषु ।
स पक्षी दर्शिताश्चर्यपक्षपातो विधिर्यथा ॥३५॥
दत्तास्कन्दो वहन् पृष्ठे शक्तिदेवमलक्षितम् ।
क्षणादगच्छत्कनकपुरीं तां चरितुं पुनः ॥३६॥
तत्रोद्यानान्तरे तस्मिन्नुपविष्टे विहङ्गमे ।
स शक्तिदेवो निभृतं तस्य पृष्ठादवातरत् ॥३७॥
अपसृत्य स तत्पार्श्वाद्यावद् भ्राम्यति तत्र सः ।
द्वे पुष्पावचयव्यग्रे तावदैक्षत योषितौ ॥३८॥
उपगत्य शनैस्ते च तद्विलोकनविस्मिते ।
सोऽपृच्छत्कः प्रदेशोऽयं के च भद्रे युवामिति ॥३९॥

उस ब्राह्मण युवक के इस प्रकार समयानुसार सोचते हुए सारा दिन समाप्त हो गया ॥२५॥

सायंकाल होते ही उसने उस वृक्ष पर अपने शब्दों से दिशाओं को मुखरित करनेवाले बड़े-बड़े पक्षियों को देखा ॥२६॥

बड़े-बड़े पंखों की वायु से समुद्र में लहर-सी उठाते हुए गीधों को उसने देखा, जो मानों परिचय और प्रेम के कारण उसे लेने के लिए आये हों ॥२७॥

तदनन्तर, उसने पत्रों की झुरमुट में छिपे हुए और शाखाओं में चिपके हुए एवं मनुष्यों की वाणी में होनेवाले वार्त्तालापों को सुना ॥२८॥

वहाँ जो उस दिन चरने गये थे, उनमें से कोई पक्षी किसी नवीन द्वीप का, कोई किसी पर्वत का और कोई किसी दिशा का वर्णन कर रहा था ॥२९॥

उनमें से एक वृद्ध पक्षी ने कहा—'आज मैं चरने के लिए कनकपुरी गया था। प्रातःकाल फिर वहीं सुख से चरने के लिए जाऊँगा। व्यर्थ थकावट देनेवाले दूरदेश जाने से क्या लाभ ?' ॥३०-३१॥

इस प्रकार, सहसा अमृत के सार के समान उस पक्षी के वचन से शक्तिदेव का हृदय शान्त हुआ और वह सोचने लगा ॥३२॥

भाग्य से कनकपुरी का पता तो लगा; किन्तु उसे प्राप्त करने का साधन-स्वरूप अब इस पक्षी को वाहन बनाना है ॥३३॥

वह ऐसा सोचकर और धीरे-धीरे चलकर सोये हुए उस वृद्ध पक्षी के पास पहुँचा और उसके पंखों के अन्दर जाकर चिपक गया ॥३४॥

प्रातःकाल होते ही अन्य पक्षियों के इधर-उधर उड़ जाने पर दैव के समान पक्षपात करता हुआ वह पक्षी भी, कन्धे पर छिपे हुए शक्तिदेव को लेकर चरने के लिए क्षणभर में कनकपुरी पहुँचा ॥३५-३६॥

कनकपुरी के एक उद्यान में उतरकर उस पक्षी के बैठ जाने पर शक्तिदेव धीरे से उसकी पीठ से नीचे उतर आया ॥३७॥

तत्पश्चात्, वह उससे दूर हटकर उस उद्यान में घूमने लगा। घूमते हुए उसने पुष्प-चयन में लगी हुई दो स्त्रियों को देखा ॥३८॥

शक्तिदेव को देखकर चकित हुई उन स्त्रियों के समीप जाकर उसने पूछा—'यह कौन स्थान है और तुम दोनों कौन हो ?' ॥३९॥

इयं कनकपुर्याख्या पुरो विद्याधरास्पदा ।
चन्द्रप्रभेति चैतस्यामास्ते विद्याधरी सखे ॥४०॥
तस्याश्चावामिहोद्याने जानीह्युद्यानपालिके ।
पुष्पोच्चयस्तदर्थोऽयमिति ते च तमूचतुः ॥४१॥
ततः सोऽप्यवदद् विप्रो युवां मे कुरुतं तथा ।
यथाहमपि पश्यामि तां भवत्स्वामिनीमिह ॥४२॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा नीत्यावुभे च ते ।
स्त्रियावन्तर्नगर्यास्तं युवानं राजमन्दिरम् ॥४३॥
सोऽपि प्राप्तस्तदद्राक्षीन्माणिक्यस्तम्भभास्वरम् ।
सौवर्णभित्तिसङ्केतकेतनं सम्पदामिव ॥४४॥
तत्रागतं च दृष्ट्वा तं सर्वः परिजनोऽब्रवीत् ।
गत्वा चन्द्रप्रभायास्तन्मानुषागमनाद्भुतम् ॥४५॥
साप्यादिश्य प्रतीहारमविलम्बितमेव तम् ।
अभ्यन्तरं स्वनिकटं विप्रं प्रावेशयत्ततः ॥४६॥
प्रविष्टः सोऽप्यपश्यत्तां तत्र नेत्रोत्सवप्रदाम् ।
धातुरद्भुतनिर्माणपर्याप्तिमिव रूपिणीम् ॥४७॥
सा च सद्रत्नपर्यङ्कादुदूरादुत्थाय तं स्वयम् ।
स्वागतेनादृतवती तद्दर्शनवशीकृता ॥४८॥
उपविष्टमपृच्छच्च कल्याणिन् कस्त्वमीदृशः ।
कथं च मानुषागम्यामिमां प्राप्तो भवान्भुवम् ॥४९॥
इत्युक्तः स तया चन्द्रप्रभया सकुतूहलम् ।
शक्तिदेवो निजं देशं जातिं चावेद्य नाम च ॥५०॥
तत्पुरीदर्शनपणात्प्राप्तुं तां राजकन्यकाम् ।
यथा कनकरेखाख्यामागतस्तदवर्णयत् ॥५१॥
तद्बुद्ध्वा किमपि ध्यात्वा दीर्घं निःश्वस्य सा ततः ।
चन्द्रप्रभा तं विजने शक्तिदेवमभाषत ॥५२॥
श्रूयतां वच्मि ते किञ्चिदिदं सुभग सम्प्रति ।
अस्त्यस्यां शशिखण्डाख्यो विद्याधरपतिर्भुवि ॥५३॥
वयं तस्य चतस्रश्च जाता दुहितरः क्रमात् ।
ज्येष्ठा चन्द्रप्रभेत्यस्मि चन्द्ररेखेति चापरा ॥५४॥

उत्तर में वे बोलीं—'यह कनकपुरी नाम की नगरी, विद्याधरों का स्थान है। यहाँ चन्द्रप्रभा नाम की विद्याधरी है। हमें उसी की उद्यानपालिका (मालिन) समझो। यह पुष्प हम उसी के लिए चुन रही हैं' ॥४०-४१॥

तब वह ब्राह्मण कहने लगा कि 'तुमलोग ऐसा यत्न करो कि जिससे मैं तुम्हारी स्वामिनी को देख सकूँ' ॥४२॥

ऐसा सुनकर और उसे स्वीकार कर वे दोनों उस युवक को नगरी के अन्दर स्थित राजभवन में ले गईं ॥४३॥

राजभवन में जाकर उसने माणिक्य के स्तम्भों और सोने की दीवारों से चमकते हुए लक्ष्मी के भवन के समान उस भवन को सम्पत्तियों का निवास-स्थान समझा ॥४४॥

भवन में आये हुए उसे देखकर चन्द्रप्रभा की सभी सेविकाओं ने जाकर अपनी स्वामिनी से मनुष्य के आश्चर्यमय आगमन की सूचना दी ॥४५॥

चन्द्रप्रभा ने भी अपने प्रतीहार को आज्ञा देकर शीघ्र ही उसे भवन के भीतर अपने निकट बुला लिया ॥४६॥

अन्दर आये हुए उस शक्तिदेव ने आँखों को आनन्द-देनेवाली और विधाता के आश्चर्यमय निर्माण की मूर्त्तिमती सीमा के समान उस चन्द्रप्रभा को देखा ॥४७॥

वह चन्द्रप्रभा उसे देखकर सुन्दर रत्नों के पलंग से उठकर उसका स्वागत करने के लिए आदर के साथ आगे बढ़ी ॥४८॥

शक्तिदेव के प्रथम दर्शन-मात्र से उसके वश में हुई चन्द्रप्रभा उसके बैठने पर कहने लगी—'हे कल्याणमय ! मनुष्यों के लिए अगम्य इस भूमि में तुम कैसे आ गये ?' चन्द्रप्रभा द्वारा उत्सुकता से इस प्रकार पूछे जाने पर शक्तिदेव ने अपना देश, अपनी जाति और नाम बताकर यह बताया कि कनकपुरी देखने की प्रतिज्ञा पर राजकुमारी कनकरेखा को प्राप्त करने के लिए यहाँ आया हूँ। इस प्रसंग का समस्त वृतान्त उसने चन्द्रप्रभा को सुना दिया ॥४९–५१॥

यह सब सुनकर, कुछ सोचकर तथा लम्बी साँस लेकर चन्द्रप्रभा ने एकान्त में शक्तिदेव से कहा—सुनो, मैं तुमसे यह कहती हूँ। इस भूमि पर शशिधर नाम का विद्याधर राज्य करता है। उसकी क्रमशः हम चार कन्याएँ हैं। सबसे बड़ी चन्द्रप्रभा मैं हूँ, दूसरी चन्द्ररेखा है ॥५२—५४॥

इयं कनकपुर्याख्या पुरो विद्याधरास्पदा ।
चन्द्रप्रभेति चैतस्यामास्ते विद्याधरी सखे ॥४०॥
तस्याश्चावामिहोद्याने जानीह्युद्यानपालिके ।
पुष्पोच्चयस्तदर्थोऽयमिति ते च तमूचतुः ॥४१॥
ततः सोऽप्यवदद् विप्रो युवां मे कुरुतं तथा ।
यथाहमपि पश्यामि तां भत्स्वामिनीमिह ॥४२॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा नी त्यावुभे च ते ।
स्त्रियावन्तर्नगर्यास्तं युवानं राजमन्दिरम् ॥४३॥
सोऽपि प्राप्तस्तदद्राक्षीन्माणिक्यस्तम्भभास्वरम् ।
सौवर्णभित्तिसङ्केतकेतनं सम्पदामिव ॥४४॥
तत्रागतं च दृष्ट्वा तं सर्वः परिजनोऽब्रवीत् ।
गत्वा चन्द्रप्रभायास्तन्मानुषागमनाद्भुतम् ॥४५॥
साप्यादिश्य प्रतीहारमविलम्बितमेव तम् ।
अभ्यन्तरं स्वनिकटं विप्रं प्रावेशयत्ततः ॥४६॥
प्रविष्टः सोऽप्यपश्यत्तां तत्र नेत्रोत्सवप्रदाम् ।
धातुरद्भुतनिर्माणपर्याप्तिमिव रूपिणीम् ॥४७॥
सा च सद्रत्नपर्यङ्कादुद्दूरादुत्थाय तं स्वयम् ।
स्वागतेनादृतवती तद्दर्शनवशीकृता ॥४८॥
उपविष्टमपृच्छच्च कल्याणिन् कस्त्वमीदृशः ।
कथं च मानुषागम्यामिमां प्राप्तो भवान्भुवम् ॥४९॥
इत्युक्तः स तया चन्द्रप्रभया सकुतूहलम् ।
शक्तिदेवो निजं देशं जातिं चावेद्य नाम च ॥५०॥
तत्पुरीदर्शनपणात्प्राप्तुं तां राजकन्यकाम् ।
यथा कनकरेखाख्यामागतस्तदवर्णयत् ॥५१॥
तद्बुद्ध्वा किमपि ध्यात्वा दीर्घं निःश्वस्य सा ततः ।
चन्द्रप्रभा तं विजने शक्तिदेवमभाषत ॥५२॥
श्रूयतां वच्मि ते किञ्चिदिदं सुभग सम्प्रति ।
अस्त्यस्यां शशिखण्डाख्यो विद्याधरपतिर्भुवि ॥५३॥
वयं तस्य चतस्रश्च जाता दुहितरः क्रमात् ।
ज्येष्ठा चन्द्रप्रभेत्यस्मि चन्द्ररेखेति चापरा ॥५४॥

उत्तर में वे बोलीं—'यह कनकपुरी नाम की नगरी, विद्याधरों का स्थान है। यहाँ चन्द्रप्रभा नाम की विद्याधरी है। हमें उसी की उद्यानपालिका (मालिन) समझो। यह पुष्प हम उसी के लिए चुन रही हैं' ॥४०-४१॥

तब वह ब्राह्मण कहने लगा कि 'तुमलोग ऐसा यत्न करो कि जिससे मैं तुम्हारी स्वामिनी को देख सकूँ" ॥४२॥

ऐसा सुनकर और उसे स्वीकार कर वे दोनों उस युवक को नगरी के अन्दर स्थित राजभवन में ले गईं ॥४३॥

राजभवन में जाकर उसने माणिक्य के स्तम्भों और सोने की दीवारों से चमकते हुए लक्ष्मी के भवन के समान उस भवन को सम्पत्तियों का निवास-स्थान समझा ॥४४॥

भवन में आये हुए उसे देखकर चन्द्रप्रभा की सभी सेविकाओं ने जाकर अपनी स्वामिनी से मनुष्य के आश्चर्यमय आगमन की सूचना दी ॥४५॥

चन्द्रप्रभा ने भी अपने प्रतीहार को आज्ञा देकर शीघ्र ही उसे भवन के भीतर अपने निकट बुला लिया ॥४६॥

अन्दर आये हुए उस शक्तिदेव ने आँखों को आनन्द-देनेवाली और विधाता के आश्चर्यमय निर्माण की मूर्त्तिमती सीमा के समान उस चन्द्रप्रभा को देखा ॥४७॥

वह चन्द्रप्रभा उसे देखकर सुन्दर रत्नों के पलंग से उठकर उसका स्वागत करने के लिए आदर के साथ आगे बढ़ी ॥४८॥

शक्तिदेव के प्रथम दर्शन-मात्र से उसके वश में हुई चन्द्रप्रभा उसके बैठने पर कहने लगी—'हे कल्याणमय ! मनुष्यों के लिए अगम्य इस भूमि में तुम कैसे आ गये ?' चन्द्रप्रभा द्वारा उत्सुकता से इस प्रकार पूछे जाने पर शक्तिदेव ने अपना देश, अपनी जाति और नाम बताकर यह बताया कि कनकपुरी देखने की प्रतिज्ञा पर राजकुमारी कनकरेखा को प्राप्त करने के लिए यहाँ आया हूँ। इस प्रसंग का समस्त वृतान्त उसने चन्द्रप्रभा को सुना दिया ॥४९-५१॥

यह सब सुनकर, कुछ सोचकर तथा लम्बी साँस लेकर चन्द्रप्रभा ने एकान्त में शक्तिदेव से कहा—सुनो, मैं तुमसे यह कहती हूँ। इस भूमि पर शशिधर नाम का विद्याधर राज्य करता है। उसकी क्रमशः हम चार कन्याएँ हैं। सबसे बड़ी चन्द्रप्रभा मैं हूँ, दूसरी चन्द्ररेखा है ॥५२—५४॥

शशिरेखा तृतीया च चतुर्थी च शशिप्रभा ।
ता वयं क्रमशः प्राप्ता वृद्धिमत्र पितुर्गृहे ।।५५।।
एकदा च भगिन्यो मे स्नातुं तिस्रोऽपि ताः समम् ।
मयि कन्याव्रतस्थायां जग्मुर्मन्दाकिनीतटम् ।।५६।।
तत्राग्र्यतपसं नाम मुनिं यौवनदर्पतः ।
तोयैर्जलस्थमसिचन्नारब्धजलकेलयः ।।५७।।
अतिनिर्बन्धिनीस्ताश्च मुनिः क्रुद्धः शशाप सः ।
कुकन्यकाः प्रजायध्वं मर्त्यलोकेऽखिला इति ।।५८।।
तद्बुद्ध्वा सोऽस्मदीयेन पित्रा गत्वा प्रसादितः ।
पृथक् पृथक् स शापान्तमुक्त्वा तासां यथायथम् ।।५९।।
जातिस्मरत्वं दिव्येन विज्ञानेनोपबृंहितम् ।
मर्त्यभावेन सर्वासामादिदेश महामुनिः ।।६०।।
ततस्तासु तनूस्त्यक्त्वा मर्त्यलोकं गतासु सः ।
दत्त्वा मे नगरीमेतां पिता खेदाद् गतो वनम् ।।६१।।
अथेह निवसन्तीं मां देवी स्वप्ने किलाम्बिका ।
मानुषः पुत्रि भर्त्ता ते भवितेति समादिशत् ।।६२।।
तेन विद्याधरांस्तांस्तान् वरानुद्दिशतो बहून् ।
पितुर्विधारणं कृत्वा कन्यैवाद्याप्यहं स्थिता ।।६३।।
इदानीं चामुनाश्चर्यमयेनागमनेन ते ।
वपुषा च वशीकृत्य तुभ्यमेवाहमर्पिता ।।६४।।
तद्व्रजामि चतुर्दश्यामागामिन्यां भवत्कृते ।
कर्त्तुं तातस्य विज्ञप्तिमृषभाख्यं महागिरिम् ।।६५।।
तत्र तस्यां तिथौ सर्वे मिलन्ति प्रतिवत्सरम् ।
देवं हरं पूजयितुं दिग्भ्यो विद्याधरोत्तमाः ।।६६।।
तातस्तत्रैव चायाति तदनुज्ञामवाप्य च ।
इहागच्छाम्यहं तूर्णं ततः परिणयस्व माम् ।।६७।।
तत्तिष्ठ तावदित्युक्त्वा सा तं विद्याधरोचितैः ।
चन्द्रप्रभा शक्तिदेवं तैस्तैर्भोगैरुपाचरत् ।।६८।।
तस्य चाभूत्तथैत्यत्र तिष्ठतस्तत्तदा सुखम् ।
यद्दावानलतप्तस्य सुधाह्रदनिमज्जने ।।६९।।

तीसरी शशिरेखा है और चौथी शशिप्रभा। हम चारों पिता के घर में बड़ी हुईं। एक बार मुझसे छोटी वे तीनों बहनें साथ ही गंगा-स्नान के लिए गईं ।।५५-५६।।

वे तीनों यौवन-मद में मस्त होकर जलक्रीडा करती हुई उग्रतपा नामक ऋषि को पानी से सींचने लगीं ।।५७।।

ऋषि के बार-बार मना करने पर भी जब वह न मानीं, तब क्रुद्ध होकर उसने शाप दिया कि तुम तीनों दुष्ट कन्याएँ मर्त्यलोक में उत्पन्न होओ ।।५८।।

इस शाप का समाचार सुनकर हमारे पिता ने ऋषि को अनुनय-विनय करके प्रसन्न किया, तो ऋषि उनके शाप का अन्त पृथक्-पृथक् रूप में किया, किन्तु दिव्य ज्ञान से बढ़े हुए पूर्वजन्म के स्मरण को मानव-जन्म में भी बने रहने का आदेश दिया ।।५९-६०।।

तब उन तीनों के अपने-अपने विद्याधर-शरीर को छोड़कर मर्त्यलोक में चले जाने पर मेरे पिता, यह नगरी मुझे देकर वन को चले गये ।।६१।।

तदनन्तर, यहाँ रहती हुई मुझे स्वप्न में माता पार्वती ने यह आदेश दिया कि 'बेटी, तेरा पति मनुष्य होगा' ।।६२।।

इसी कारण विद्याधर जाति के अनेक वीरों को छोड़कर मैं अभी तक कन्या ही रह गई ।।६३।।

इस समय तुम्हारे इस आश्चर्यमय आगमन ने और तुम्हारे सुन्दर शरीर ने मुझे अपने वश में कर लिया। फलतः, तुम्हारे इन सब आकर्षणों ने ही मुझे अपने को तुम्हारे लिए अर्पण करने को बाध्य कर दिया है ।।६४।।

इसलिए आगामी चतुर्दशी के दिन, तुम्हारे इस प्रसंग को पिता को सूचित करने, मैं ऋषभ नामक पर्वत पर जाऊँगी ।।६५।।

वहाँ प्रतिवर्ष उस अवसर पर शिव-पूजन के लिए मेला लगता है और सभी दिशाओं से बड़े-बड़े विद्याधर आते हैं ।।६६।।

वहीं मेरे पिता भी आते हैं। अतः, वहाँ जाकर उनसे आज्ञा लेकर मैं शीघ्र ही आती हूँ, तत्पश्चात् तुम मुझसे विवाह कर लो ।।६७।।

तबतक यहीं ठहरो—ऐसा कहकर उसने विद्याधरों के अनुरूप विविध उपचारों से शक्तिदेव का स्वागत-सत्कार किया ।।६८।।

वहाँ रहकर उन दिव्य भोगों का उपभोग करते हुए उसे ऐसा सुख प्राप्त हुआ, जैसे दावानल से दग्ध (झुलसे हुए) व्यक्ति को अमृत-सरोवर में स्नान करने से होता है ।।६९।।

प्राप्तायां च चतुर्दश्यां सा तं चन्द्रप्रभाब्रवीत् ।
अद्य गच्छामि विज्ञप्त्यै तातस्याहं भवत्कृते ॥७०॥
सर्वः परिजनश्चायं मयैव सह यास्यति ।
त्वया चैकाकिना दुःखं न भाव्यं दिवसद्वयम् ॥७१॥
एकेन पुनरेतस्मिन्मन्दिरेऽप्यवतिष्ठता ।
मध्यमा भवता भूमिर्नारोढव्या कथञ्चन ॥७२॥
इत्युक्त्वा सा युवानं तं न्यस्तचित्ता तदन्तिके ।
तदीयचित्तानुगता ययौ चन्द्रप्रभा ततः ॥७३॥
सोऽप्येकाकी ततस्तत्र स्थितश्चेतो विनोदयन् ।
स्थानस्थानेषु बभ्राम शक्तिदेवो महर्द्धिषु ॥७४॥
किंस्विदत्र निषिद्धं मे तया पृष्ठेऽधिरोहणम् ।
विद्याधरदुहित्रेति जातकौतूहलोऽथ सः ॥७५॥
तस्यैव मध्यमां भूमिं मन्दिरस्यारुरोह ताम् ।
प्रायो वारितवामा हि प्रवृत्तिर्मनसो नृणाम् ॥७६॥
आरूढस्तत्र चापश्यद् गुप्तांस्त्रीन् रत्नमण्डपान् ।
एवं चोद्घाटितद्वारं तन्मध्यात् प्रविवेश सः ॥७७॥
प्रविश्य चान्तः सद्रत्नपर्यङ्के व्यस्ततूलिके ।
पटावगुण्ठिततनुं शयानं कञ्चिदैक्षत ॥७८॥
वीक्षते यावदुत्क्षिप्य पटं तावन्मृतां तथा ।
परोपकारिनृपतेस्तनयां वरकन्यकाम् ॥७९॥
दृष्ट्वा चाचिन्तयत्सोऽथ किमिदं महदद्भुतम् ।
किमप्रबोधसुप्तेयं किं वा भ्रान्तिरबाधका ॥८०॥
यस्याः कृते प्रवासोऽयं मम सैवेह तिष्ठति ।
असावपगतप्राणा तत्र देशे च जीवति ॥८१॥
अम्लानकान्तिरस्याश्च तद् विधात्रा मम ध्रुवम् ।
केनापि कारणेनेदमिन्द्रजालं वितन्यते ॥८२॥
इति सञ्चिन्त्य निर्गत्य तावन्यौ मण्डपौ क्रमात् ।
प्रविश्यान्तः स ददृशे तद्वदन्ये च कन्यके ॥८३॥
ततोऽपि निर्गतस्तस्य साश्चर्यो मन्दिरस्य सः ।
उपविष्टः स्थितोऽपश्यद् वापीमत्युत्तमामधः ॥८४॥

कुछ समय पश्चात् चतुर्दशी के आने पर चन्द्रप्रभा, शक्तिदेव से कहने लगी—'आज मैं तुम्हारे लिए पिता से निवेदन करने जाती हूँ, मेरे सभी सेवक मेरे साथ ही जायेंगे। इन दो दिनों तक तुम अकेले दुःखी न होना ।।७०-७१।।

इस भवन में अकेले रहते हुए भी तुम बीच की मंजिल में कभी न जाना' ।।७२।।

उस युवक को ऐसा कहकर और उसी में अपने हृदय को रखकर तथा इसी प्रकार उसके हृदय को चन्द्रप्रभा अपने साथ लेकर वहाँ से चली गई ।।७३।।

वह शक्तिदेव अब वहाँ अकेला रहता हुआ, मन बहलाने के लिए, इधर-उधर अत्यन्त समृद्धि-सम्पन्न उन मकानों में घूमता रहता था ।।७४।।

उस विद्याधर-कन्या ने मेरा ऊपर (बीच की मंजिल में) जाना क्यों वारित किया, इस प्रकार के कुतूहल से वह उसी मंजिल में पहुँचा। मनुष्यों के मन की प्रवृत्ति प्रायः निषेध के विपरीत ही चलती है ।।७५-७६।।

ऊपर चढ़कर उसने गुप्त रूप से सुरक्षित तीन मण्डपों को देखा। उस मंजिल का द्वार खोलकर, उसमें प्रविष्ट होकर उसने सुन्दर बिछावनों से युक्त रत्नों के पलंग पर दुपट्टा ओढ़ने से ढके हुए शरीर से शयन करते हुए किसी व्यक्ति को देखा ।।७७-७८।।

जब उसने कपड़ा उठाकर उसे देखा, तब तो उसे परोपकारी राजा की मरी हुई कन्या कनकरेखा दिखाई पड़ी ।।७९।।

उसे देखकर शक्तिदेव सोचने लगा—'यह क्या महान् आश्चर्य है? क्या यह अचेतनावस्था (बेहोशी) में सोई है या मुझे ही भ्रम हो रहा है ।।८०।।

जिसके लिए मेरी इतनी लम्बी और कष्टप्रद यात्रा हुई, वह निर्जीव होकर यहाँ पड़ी है और वहाँ (वर्द्धमान में) जीवित है ।।८१।।

इसकी मुखकान्ति भी मलिन नहीं पड़ी है। प्रतीत होता है कि विधाता ने किसी कारणवश मेरे लिए अवश्य ही यह इन्द्रजाल रचा है ।।८२।।

ऐसा सोचते-सोचते उसने दूसरे दोनों मण्डपों के अन्दर क्रमशः जाकर उसी प्रकार सोई हुई और दो कन्याएँ देखीं ।।८३।।

उन मण्डपों से निकलकर आश्चर्यचकित शक्तिदेव ने ऊपर बैठे हुए वहीं से नीचे एक अत्यन्त सुन्दर बावली देखी और उसके किनारे पर रत्नों की जीनवाले एक सुन्दर घोड़े[1] को देखा ।।८४।।

---

१. 'अरेबियन नाइट्स' में तीन राजयोगियों की कहानी में ऐसी राजकन्याओं की चर्चा है और इसी प्रकार एक मंजिल देखने की मनाही है। वहाँ ऐसे ही एक घोड़े का वर्णन भी है।—अनु०

कुछ समय पश्चात् चतुर्दशी के आने पर चन्द्रप्रभा, शक्तिदेव से कहने लगी—'आज तुम्हारे लिए पिता से निवेदन करने जाती हूँ, मेरे सभी सेवक मेरे साथ ही जायेंगे। इन दिनों तक तुम अकेले दुःखी न होना ॥७०-७१॥

इस भवन में अकेले रहते हुए भी तुम बीच की मंजिल में कभी न जाना' ॥७२॥

उस युवक को ऐसा कहकर और उसी में अपने हृदय को रखकर तथा इसी प्रकार सके हृदय को चन्द्रप्रभा अपने साथ लेकर वहाँ से चली गई ॥७३॥

वह शक्तिदेव अब वहाँ अकेला रहता हुआ, मन बहलाने के लिए, इधर-उधर अत्यन्त मृद्धि-सम्पन्न उन मकानों में घूमता रहता था ॥७४॥

उस विद्याधर-कन्या ने मेरा ऊपर (बीच की मंजिल में) जाना क्यों वारित किया, स प्रकार के कुतूहल से वह उसी मंजिल में पहुँचा। मनुष्यों के मन की प्रवृत्ति प्रायः षेध के विपरीत ही चलती है ॥७५-७६॥

ऊपर चढ़कर उसने गुप्त रूप से सुरक्षित तीन मण्डपों को देखा। उस मंजिल का र खोलकर, उसमें प्रविष्ट होकर उसने सुन्दर बिछावनों से युक्त रत्नों के पलंग पर दुपट्टा ोढ़ने से ढके हुए शरीर से शयन करते हुए किसी व्यक्ति को देखा ॥७७-७८॥

जब उसने कपड़ा उठाकर उसे देखा, तब तो उसे परोपकारी राजा की मरी हुई न्या कनकरेखा दिखाई पड़ी ॥७९॥

उसे देखकर शक्तिदेव सोचने लगा—'यह क्या महान् आश्चर्य है? क्या यह चेतनावस्था (बेहोशी) में सोई है या मुझे ही भ्रम हो रहा है ॥८०॥

जिसके लिए मेरी इतनी लम्बी और कष्टप्रद यात्रा हुई, वह निर्जीव होकर यहाँ ड़ी है और वहाँ (वर्द्धमान में) जीवित है ॥८१॥

इसकी मुखकान्ति भी मलिन नहीं पड़ी है। प्रतीत होता है कि विधाता ने किसी ारणवश मेरे लिए अवश्य ही यह इन्द्रजाल रचा है ॥८२॥

ऐसा सोचते-सोचते उसने दूसरे दोनों मण्डपों के अन्दर क्रमशः जाकर उसी प्रकार सोई हुई और दो कन्याएँ देखीं ॥८३॥

उन मण्डपों से निकलकर आश्चर्यचकित शक्तिदेव ने ऊपर बैठ हुए वहीं से नीचे एक अत्यन्त सुन्दर बावली देखी और उसके किनारे पर रत्नों की जीनवाले एक सुन्दर घोड़े[1] को देखा ॥८४॥

---

१. 'अरेबियन नाइट्स' में तीन राजयोगियों की कहानी में ऐसी राजकन्याओं की चर्चा है और इसी प्रकार एक मंजिल देखने की मनाही है। वहाँ ऐसे ही एक घोड़े का वर्णन भी है। —अनु०

तत्तीरे रत्नपर्याणं[1] ददर्शैकं च वाजिनम् ।
तेनावतीर्यैव ततस्तत्पार्श्वं कौतुकाद्ययौ ॥८५॥

इयेष च तमारोढुं शून्यं दृष्ट्वा स तेन च ।
अश्वेनाहत्य पादेन तस्यां वाप्यां निचिक्षिपे ॥८६॥

तन्निमग्नः स च क्षिप्रं वर्द्धमानपुरान्निजात् ।
उद्यानदीर्घिकामध्यादुन्ममज्ज ससम्भ्रमः ॥८७॥

ददर्श जन्मभूमौ च सद्यो वापीजले स्थितम् ।
आत्मानं कुमुदैस्तुल्यं दीनं चन्द्रप्रभां विना ॥८८॥

वर्द्धमानं पुरं क्वेदं क्व सा वैद्याधरी पुरी ।
अहो किमेतदाश्चर्यमायाडम्बरजृम्भितम् ॥८९॥

कष्टं किमपि केनापि मन्दभाग्योऽस्मि वञ्चितः ।
यदि वा कोऽत्र जानाति कीदृशी भवितव्यता ॥९०॥

इत्यादि चिन्तयन्सोऽथ वापीमध्यात् समुत्थितः ।
सविस्मयः शक्तिदेवो ययौ पितृगृहं निजम् ॥९१॥

तत्रापदिष्टपटहभ्रमणः कृतकैतवः ।
पित्राभिनन्दितस्तस्थौ सोत्सवैः स्वजनैः सह ॥९२॥

द्वितीयेऽह्नि बहिर्गेहान्निर्गतश्चाशृणोत् पुनः ।
घोष्यमाणं सपटहं पुरे तस्मिन्निदं वचः ॥९३॥

'विप्रक्षत्रियमध्यात्कनकपुरी येन तत्त्वतो दृष्टा ।
वक्तुं स तस्मै तनयां सयौवराज्यां ददाति नृपः' ॥९४॥

तच्छ्रुत्वैव स गत्वा तान् पटहोद्घोषकान्कृती ।
मया दृष्टा पुरी सेति शक्तिदेवोऽब्रवीत्पुनः ॥९५॥

तैस्तूर्णं नृपतेरग्रं स नीतोऽभून्नृपोऽपि तम् ।
प्राग्वन्मेने परिज्ञाय पुर्नवितथवादिनम् ॥९६॥

मिथ्या चेद्वच्मि-न मया दृष्टा सा नगरी यदि ।
तदिदानीं शरीरस्य निग्रहेण पणो मम ॥९७॥

अद्य सा राजपुत्री मां पृच्छत्वित्युदिते ततः ।
गत्वा चानुचरै राजा तत्रैवानाययत् सुताम् ॥९८॥

---

१. रत्नजटितमश्वपृष्ठास्तरणम् ।

उसे देखकर वह बीच की मंजिल से उतरकर कौतुक के साथ उस घोड़े के समीप आया ।।८५।।

वहाँ एकान्त देखकर उसने घोड़े पर चढ़ने की इच्छा प्रकट की। ज्यों ही उसने उसपर चढ़ने का प्रयत्न किया, त्यों ही घोड़े ने लात मारकर उसे पासवाली बावली में गिरा दिया। बावली में गिरा हुआ वह शक्तिदेव अकस्मात् ही वर्द्धमान नगर-स्थित अपने घर के उद्यान की बावली में जा निकला।।८६–८७।।

और, उसने बावली के जल में खड़े हुए अपने को, चन्द्रप्रभा के विना मुरझाये हुए कुमुद के समान, अपनी जन्मभूमि में पाया ।।८८।।

शक्तिदेव का पुनः वर्द्धमाननगर में आगमन

वह सोचने लगा, कहाँ यह वर्द्धमाननगर और कहाँ वह विद्याधरों की कनकपुरी नगरी ! यह क्या आश्चर्य है ? क्या मायाजाल है ? दुःख है कि किसी ने मुझ अभागे को ठग लिया है। या यह कौन जानता है कि आगे क्या होनेवाला है ।।८६–६०।।

इन सब बातों को सोचता हुआ वह चकित शक्तिदेव बावली से निकला और अपने पिता के घर गया ।।६१।।

वहाँ पर वह राजा की घोषणा के अनुसार, कनकपुरी का भ्रमण-वृत्तान्त किसी को न बताकर, और इधर-उधर की झूठी बातें बनाकर पिता द्वारा प्यार किया गया वह शक्तिदेव, उसके आने की प्रसन्नता मनाते हुए अपने घर के व्यक्तियों के साथ घर में ही रह गया ।।६२।।

दूसरे दिन, घर से बाहर निकलकर उसने उसी ढिंढोरे को फिर से सुना, जो उस नगर में पीटा जा रहा था ।।६३।।

'कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय-युवक, जिसने कनकपुरी देखी हो, वह कहे और राजकन्या तथा युवराज-पद प्राप्त करे' ।।६४।।

यह सुनकर वह सफल शक्तिदेव ढिंढोरा पीटनेवालों के पास गया और बोला— 'मैंने वह नगरी देखी है' ।।६५।।

उन लोगों ने उसे शीघ्रता से राजा के पास ले जाकर खड़ा कर दिया और राजा ने भी उसे पहिचानकर पहले के समान झूठ बोलनेवाला समझा ।।६६।।

तब वह शक्तिदेव कहने लगा— 'यदि मैं झूठ बोल रहा हूँ कि वह नगरी मैंने नहीं देखी है, तो मुझे प्राणदण्ड दिया जाय ।।६७।।

'आज वह राजपुत्री तुझसे (शक्तिदेव से). उस नगरी के सम्बन्ध में पूछे, ऐसा कहकर राजा ने अपने सेवकों से राजकुमारी को वहीं बुलवा लिया ।।६८।।

सा दृष्टा दृष्टपूर्वं तं विप्रं राजानमभ्यधात् ।
तात मिथ्यैव भूयोऽपि किञ्चिद् वक्ष्यत्यसाविति ।।९९।।
शक्तिदेवस्ततोऽवादीदहं सत्यं मृषैव वा ।
वच्मि राजसुते त्वं तु वदवं मम कौतुकम् ।।१००।।
मया कनकपुर्यां त्वं पर्यङ्के गतजीविता ।
दृष्टा चेह न पश्यामि जीवन्तीं भवतीं कथम् ।।१०१।।
इत्युक्ता शक्तिदेवेन साभिज्ञानं नृपात्मजा ।
सद्यः कनकरेखा सा जगादैवं पितुः पुरः ।।१०२।।
तात दृष्टामुना सत्यं नगरी सा महात्मना ।
अचिराच्चैष भर्त्ता मे तत्रस्थाया भविष्यति ।।१०३।।
तत्र मद्भगिनीश्चान्यास्तिस्रोऽयं परिणेष्यति ।
विद्याधराधिराज्यं च तस्यां पुरि करिष्यति ।।१०४।।
मया त्वद्य प्रवेष्टव्या स्वा तनुश्च पुरी च सा ।
मुनेः शापादहं ह्यत्र जाताभूवं भवद्गृहे ।।१०५।।
यदा कनकपुर्यां ते देहमालोक्य मानुषः ।
मर्त्यभावभृतस्तत्त्वप्रतिभेदं करिष्यति ।।१०६।।
तदा ते शापमुक्तिश्च स च स्यान्मानुषः पतिः ।
इति मे च स शापान्तं पुनरेवाऽदिशन्मुनिः ।।१०७।।
जातिस्मरा च मानुष्येऽप्यहं ज्ञानवती तथा ।
तद्व्रजाम्यधुना सिद्ध्यै निजं वैद्याधरं पदम् ।।१०८।।
इत्युक्त्वा राजपुत्री सा तनुं त्यक्त्वा तिरोदधे ।
तुमुलश्चोदभूत्तस्मिन्नाक्रन्दो राजमन्दिरे ।।१०९।।
शक्तिदेवोऽप्युभयतो भ्रष्टस्तैस्तैर्दुरुत्तरैः ।
क्लेशैः प्राप्यापि न प्राप्ते ध्यायंस्ते द्वे अपि प्रिये ।।११०।।
निन्दन्खिन्नोऽपि चात्मानमसम्पूर्णमनोरथः ।
निर्गत्य राजभवनात् क्षणादेवमचिन्तयत् ।।१११।।
अभीष्टं भावि मे तावदुक्तं कनकरेखया ।
तत्किमर्थं विषीदामि सत्त्वाधीना हि सिद्धयः ।।११२।।
पथा तेनैव कनकपुरीं गच्छामि तां पुनः ।
भूयोऽप्यवश्यं दैवं मे तत्रोपायं करिष्यति ।।११३।।
इत्यालोच्यैव स प्रायाच्छक्तिदेवो पुरात्ततः ।
असिद्धार्था निवर्त्तन्ते नहि धीराः कृतोद्यमाः ।।११४।।

राजकन्या, पहले ही देखे हुए उस ब्राह्मण-युवक को देखकर बोली—'पिताजी यह फिर भी कुछ इधर-उधर की मनमानी झूठ बोलेगा' ॥९९॥

तब शक्तिदेव ने राजकुमारी से कहा—'मैं सच हूँ या झूठ, लेकिन राजकुमारी, तू मेरे एक कौतुक को दूर कर, मैं कहता हूँ, मैंने कनकपुरी में तुझे पलंग पर मरी हुई पड़ी देखा है। यहाँ यह बात नहीं देख रहा हूँ, तू कैसे जी रही है, यह रहस्य मुझे बता' ॥१००- १०१॥

शक्तिदेव द्वारा सच्ची जानकारी के साथ इस प्रकार कहने पर वह राजकन्या कनकरेखा पिता के सामने बोली—॥१०२॥

पिताजी, इसने सचमुच वह नगरी देखी है। अतः, यह शीघ्र ही कनकपुरी में जाने पर मेरा पति होगा ॥१०३॥

वहाँ पर मेरी और भी तीन बहिनों को ब्याहेगा और नगरी में विद्याधरों पर राज्य करेगा ॥१०४॥

अब आज ही मुझे अपनी नगरी और अपने पूर्व कलेवर में प्रवेश करना चाहिए। मुनि के शाप से मैं तुम्हारे घर में उत्पन्न हुई थी ॥१०५॥

शाप देने के पश्चात् मुनि ने शाप का अन्त इस प्रकार कहकर किया था कि जब कोई मनुष्य कनकपुरी में तेरा मृत शरीर देखकर मनुष्य-शरीर धारण करनेवाली तेरा रहस्य प्रकट करेगा, तब तेरी शाप से मुक्ति होगी और वह मनुष्य तेरा पति होगा ॥१०६–१०७॥

मानव-शरीर पाकर भी मैं पूर्वजन्म का स्मरण करती थी और मुझे सब ज्ञान था। तो अब मैं अपनी सिद्धि के लिए अपने विद्याधर-स्थान को जाती हूँ ॥१०८॥

इतना कहकर राजपुत्री अपना शरीर त्यागकर अन्तर्हित हो गई और राजभवन में जोर से रोना-चिल्लाना मच गया ॥१०९॥

दोनों ओर से मारा गया शक्तिदेव, उन-उन कष्टों को प्राप्त करके भी उन दोनों (चन्द्रप्रभा और कनकरेखा) प्रेयसियों में से एक को भी न पाकर स्तब्ध-सा रह गया ॥११०॥

असफल मनोरथवाला वह खिन्नता से अपनी निन्दा करता हुआ उसी समय राजभवन से निकलकर सोचने लगा ॥१११॥

'कनकरेखा ने कहा है, अतः मेरी अभिलाषा पूर्ण होगी ही, तब क्यों व्यर्थ दुःखी होऊँ। सिद्धियाँ मनोबल के अधीन होती है ॥११२॥

फिर मैं उसी मार्ग से कनकपुरी को जाऊँ। भाग्य पुनः अवश्य ही मेरी सहायता करेगा।' ऐसा सोचकर शक्तिदेव वर्द्धमान नगर से चल पड़ा। सच है, उद्यमी धीर जन, विना सफलता प्राप्त किये प्रयत्न से हटते नहीं ॥११३–११४॥

गच्छंश्चिराच्च सम्प्राप जलधेः पुलिनस्थितम् ।
तद्विटङ्कपुरं नाम नगरं पुनरेव सः ॥११५॥
तत्रापश्यच्च वणिजं तं सम्मुखमुपागतम् ।
येन साकं गतस्याब्धि पोतमादावभज्यत ॥११६॥
सोऽयं समुद्रदत्तः स्यात् कथं च पतितोऽम्बुधौ ।
उत्तीर्णोऽयं न वा चित्रमहमेव निदर्शनम् ॥११७॥
इत्यालोच्य स यावत्तमभ्येति वणिजं द्विजः ।
तावत्स तं परिज्ञाय हृष्टः कण्ठेऽग्रहीद् वणिक् ॥११८॥
अनैषीच्च निजं गेहं कृतातिथ्यश्च पृष्ठवान् ।
पोतभङ्गे त्वमम्भोधेः कथमुत्तीर्णवानिति ॥११९॥
शक्तिदेवोऽपि वृत्तान्तं तथा तं कृत्स्नमब्रवीत् ।
यथा मत्स्यनिगीर्णः प्रागुत्स्थलद्वीपमाप सः ॥१२०॥
अनन्तरं च तमपि प्रत्यपृच्छद् वणिग्वरम् ।
कथं तदा त्वमप्यब्धिमुत्तीर्णो वर्ण्यतामिति ॥१२१॥
अथाब्रवीत्सोऽपि वणिक् तदाहं पतितोऽम्बुधौ ।
दिनत्रयं भ्रमन्नासमेकं फलककं श्रितः ॥१२२॥
ततस्तेन पथाकस्मादेकं वहनमागतम् ।
तत्रस्थैश्चाहमाक्रन्दन् दृष्ट्वा चात्राधिरोपितः ॥१२३॥
आरूढश्चात्र पितरं स्वमपश्यमहं तदा ।
गत्वा द्वीपान्तरं पूर्वं चिरात्तत्कालमागतम् ॥१२४॥
स मां दृष्ट्वा परिज्ञाय कृतकण्ठग्रहः पिता ।
रुदन्नपृच्छद् वृत्तान्तमहं चैव तमब्रुवम् ॥१२५॥
चिरकालप्रयातेऽपि तात त्वय्यनुपागते ।
स्वधर्म इति वाणिज्ये स्वयमस्मि प्रवृत्तवान् ॥१२६॥
ततो द्वीपान्तरं गच्छन्नहं वहनभङ्गतः ।
अद्याम्बुधौ निमग्नः सन् प्राप्य युष्माभिरुद्धृतः ॥१२७॥
एवं मयोक्तस्तातो मां सोपालम्भमभाषत ।
आरोहसि किमर्थं त्वमीदृशान् प्राणसंशयान् ॥१२८॥
धनमस्ति हि मे पुत्र ! स्थितश्चाहं तदर्जने ।
पश्यानीतं मयेदं ते वहनं हेमपूरितम् ॥१२९॥
इत्युक्त्वाश्वास्य तेनैव वहनेन निजं गृहम् ।
विटङ्कपुरमानीतस्तेनैवेदमहं ततः ॥१३०॥

चलते-चलते वह बहुत बिलम्ब से समुद्र-तट पर स्थित उस विटंकपुर नगर में फिर पहुंचा ॥११५॥

विटंकपुर में उसने सामने आये हुए उस बनिये को देखा, जिसके साथ पहली बार जाने पर समुद्र में जहाज टूट गया था। यह तो वही समुद्रदत्त है, जो समुद्र में गिरकर भी बाहर कैसे निकल आया, यह आश्चर्य है ! अथवा इसमें आश्चर्य ही क्या है? मैं ही इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ। ऐसा सोचकर उस ब्राह्मण ने बनिये के पास आते ही उसे अपना परिचय दिया। बनिये ने उसे गले लगाकर हर्ष प्रकट किया और उसे अपने घर ले जाकर स्वागत-सत्कार करने के पश्चात् पूछा कि नाव के टूटने पर तुम समुद्र से कैसे पार हुए। उत्तर में शक्तिदेव ने अपना सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया, जैसे कि मत्स्य के निगले जाने पर उत्स्थल-द्वीप में वह पहुँचा था ॥११६–१२०॥

अपना समाचार सुनाकर शक्तिदेव ने भी उस वैश्य से पूछा कि 'तुम कैसे समुद्र से बच निकले, सुनाओ' ॥१२१॥

बनिये ने अपना वृत्तान्त सुनाते हुए उससे कहा—"उस समय समुद्र में गिर जाने पर मैं एक काष्ठपट्ट (तख्ते) के सहारे तीन दिनों तक समुद्र में ही चक्कर काटता रह गया ॥१२२॥

तीसरे दिन, उसी मार्ग से एक नाव आई। उसमें बैठे हुए लोगों ने मुझे चिल्लाते हुए देखकर उसपर चढ़ा लिया ॥१२३॥

उसपर चढ़कर मैंने उसमें अपने पिता को बैठा हुआ पाया, जो बहुत दिनों से यात्रा पर गये हुए थे और किसी दूसरे द्वीप से आ रहे थे ॥१२४॥

मेरे पिता ने मुझे देखकर और गले लगाकर रोते हुए मेरा वृत्तान्त पूछा और मैंने सब बताया ॥१२५॥

मैंने उनसे कहा, पिताजी, बहुत दिन व्यतीत होने पर और आपके न लौटने पर मैं अपना कर्त्तव्य समझकर व्यापार में लग गया ॥१२६॥

इसी प्रसंग में दूसरे द्वीप को जाते हुए, नाव के टूट जाने से मैं समुद्र में गिरा और आप लोगों ने आकर मेरा उद्धार किया ॥१२७॥

तब मेरे पिता ने मुझसे कहा—'मेरे रहते हुए तुम ऐसे जीवन के सन्देह में पड़ जानेवाले कार्यों में क्यों लगते हो? देखो, मैं इस जहाज को सोने से भरा हुआ लाया हूँ', ऐसा कहकर धैर्य देते हुए वे मुझे घर ले आये" ॥१२८–१३०॥

इत्येतद् वणिजस्तस्माच्छक्तिदेवो निशम्य सः ।
विश्रम्य च त्रियामां तामन्येद्युस्तमपोषत ॥१३१॥
गन्तव्यमुत्स्थलद्वीपं सार्थवाह पुनर्मया ।
तत्कथं तत्र गच्छामि साम्प्रतं कथ्यतामिति ॥१३२॥
गन्तुं प्रवृत्तास्तत्राद्य मदीया व्यवहारिणः[1] ।
तद्यानपात्रमारुह्य प्रयातु सह तैर्भवान् ।१३३॥
इत्युक्तस्तेन वणिजा स तैस्तद्व्यवहारिभिः ।
साकं तदुत्स्थलद्वीपं शक्तिदेवो ययौ ततः ॥१३४॥
यः स बन्धुर्महात्मा मे विष्णुदत्तोऽत्र तिष्ठति ।
प्राग्वत्तस्यैव निकटं वस्तुमिच्छामि तन्मठम् ॥१३५॥
इति सम्प्राप्य च द्वीपं तत्कालं च विचिन्त्य सः ।
विपणीमध्यमार्गेण गन्तुं प्रावर्त्तत द्विजः ॥१३६॥
तावच्च तत्र दैवात्तं दृष्ट्वा दाशपतेः सुताः ।
सत्यव्रतस्य तस्यारात् परिज्ञायैवमब्रुवन् ॥१३७॥
तातेन साकं कनकपुरीं चिन्वन्नितस्तदा ।
ब्रह्मन्नगास्त्वमेकश्च कथमत्रागतो भवान् ॥१३८॥
शक्तिदेवस्ततोऽवादीदम्बुराशौ स वः पिता ।
पतितोऽम्बुभिराकृष्टवहनो वडवामुखे ॥१३९॥
तच्छ्रुत्वा दाशपुत्रास्ते क्रुद्धा भृत्यान्बभाषिरे ।
बध्नीतैनं दुरात्मानं हतोऽनेन स नः पिता ॥१४०॥
अन्यथा कथमेकस्मिन् सति प्रवहणे द्वयोः ।
वडवाग्नौ पतेदेको द्वितीयश्चोत्तरे ततः ॥१४१॥
तदेष चण्डिकादेव्याः पुरस्तात् पितृघातकः ।
अस्माभिरुपहन्तव्यः श्वः प्रभाते पशूकृतः[2] ॥१४२॥
इत्युक्त्वा दाशपुत्रास्ते भृत्यान्बद्ध्वैव तं तदा ।
शक्तिदेवं ततो निन्युर्भयकृच्चण्डिकागृहम् ॥१४३॥
शश्वत्कवलितानेकजीवं प्रविततोदरम् ।
खचद्घण्टावलीदन्तमालं मृत्योरिवाननम् ॥१४४॥

---
१. व्यापारिणः ।
२. अपशुरपि पशुवत् कृत इति भावः ।

वैश्य का समाचार सुनकर शक्तिदेव ने रात को वहीं विश्राम किया और दूसरे दिन उससे कहा—'हे व्यापारी, मुझे पुनः उत्स्थल-द्वीप जाना है। तो बताओ, मुझे कैसे जाना चाहिए' ॥१३१–१३२॥

वैश्य ने कहा—'आज ही मेरे व्यवहारी वैश्य, वहाँ जाने के लिए तैयार हैं, तुम उन्हीं के जहाज पर चढ़कर वहाँ जाओ' ॥१३३॥

इस प्रकार, उस वैश्य द्वारा वहाँ जाने की सारी व्यवस्था कर देने पर शक्तिदेव, उन्हीं के साथ उत्स्थल-द्वीप को गया ॥१३४॥

वहाँ जाकर उसने निश्चय किया कि यहाँ जो मेरा भाई विष्णुदत्त रहता है, वह अत्यन्त उदार है, पहले उसी मठ में निवास के लिए जाना चाहिए ॥१३५॥

ऐसा सोचकर वह ब्राह्मण उस द्वीप के बाजार के बीच से वहाँ जाने लगा ॥१३६॥

इसी बीच दैवयोग से सत्यव्रत नामक निषादराज के पुत्रों ने उसे देखा और पहिचान कर इस प्रकार पूछा—॥१३७॥

'हे ब्राह्मण, तुम तो कनकपुरी को ढूँढ़ते हुए मेरे पिता के साथ यहाँ से गये थे। अब तुम अकेले कैसे आ गये ?' ॥१३८॥

तब शक्तिदेव ने कहा—'वह तुम्हारा पिता समुद्री भँवर द्वारा नाव को अपनी ओर खींच लेने पर वडवानल के मुँह में जा गिरा' ॥१३९॥

यह सुनकर धीवर के पुत्र क्रुद्ध हो गये और उन्होंने अपने सेवकों से कहा—'इस दुष्ट को बाँध लो। इसने हमारे पिता को मार डाला है ॥१४०॥

अन्यथा, एक ही नाव पर एक साथ यात्रा करते हुए कैसे एक व्यक्ति वडवानल में गिर गया और एक बच गया ॥१४१॥

इसलिए, अपने पिता के इस हत्यारे को हम कल प्रातःकाल चण्डिका देवी के सामने पशु की तरह इसका बलिदान करेंगे' ॥१४२॥

इस प्रकार कहकर धीवर-पुत्रों ने नौकरों से उसे बँधवाकर चण्डिका के मन्दिर में पहुँचा दिया ॥१४३॥

वह चण्डिका-मन्दिर, निरन्तर प्राणियों को निगलनेवाला, विशाल उदरवाला और लटकते हुए घण्टे-रूपी दाँतोंवाला मानों मौत का प्रत्यक्ष मुँह था ॥१४४॥

तत्र बद्धः स्थितो रात्रौ संशयानः स्वजीविते ।
स शक्तिदेवो देवीं तां चण्डीमेवं व्यजिज्ञपत् ॥१४५॥
"बालार्कबिम्बनिभया भगवति मूर्त्या त्वया परित्रातम् ।
निर्भरपीतप्रविसृतरुरुदानवकण्ठरुधिरयेव जगत् ॥१४६॥
तन्मां सततप्रणतं निष्कारणविधुरवर्गहस्तगतम् ।
रक्षस्व सुदूरागतमिष्टजनप्राप्तितृष्णया वरदे" ॥१४७॥
इति देवीं स विज्ञप्य प्राप्य निद्रां कथञ्चन ।
अपश्यद्योषितं स्वप्ने तद्गर्भगृहनिर्गताम् ॥१४८॥
सा दिव्याकृतिरभ्येत्य सदयेव जगाद तम् ।
भोः शक्तिदेव मा भैषीर्न तेऽनिष्टं भविष्यति ॥१४९॥
अस्त्येषां दाशपुत्राणां नाम्ना बिन्दुमती स्वसा ।
सा प्रातर्वीक्ष्य कन्या त्वां भर्तृत्वेऽभ्यर्थयिष्यति ॥१५०॥
तच्च त्वं प्रतिपद्येथाः सैव त्वां मोचयिष्यति ।
न चा सा धीवरी सा हि दिव्या स्त्री शापतश्च्युता ॥१५१॥
एतच्छ्रुत्वा प्रबुद्धस्य तस्य नेत्रामृतच्छटा ।
प्रभाते दाशकन्या सा तद्देवीगृहमाययौ ॥१५२॥
बभाषे चैनमभ्येत्य निवेद्यात्मानमुत्सुका ।
इतोऽहं मोचयामि त्वां तत्कुरुष्वेप्सितं मम ॥१५३॥
भ्रातृणां सम्मता ह्येते प्रत्याख्याता वरा मया ।
त्वयि दृष्टे तु मे प्रीतिः सञ्जाता तद्भजस्व माम् ॥१५४॥
इत्युक्तः स तया बिन्दुमत्या दाशेन्द्रकन्यया ।
शक्तिदेवः स्मरन् स्वप्नं हृष्टस्तत्प्रत्यपद्यत ॥१५५॥
तयैव मोचितस्तां च सुमुखीं परिणीतवान् ।
स्वप्नलब्धाम्बिकादेशैर्भ्रातृभिर्विहितेप्सिताम् ॥१५६॥
तस्थौ च सुखसिद्ध्येव तत्र पुण्यैकलब्धया ।
रूपान्तरोपागतया स तया सह दिव्यया ॥१५७॥
एकदा हर्म्यपृष्ठस्थो धृतगोमांसभारकम् ।
मार्गागतं स चण्डालं दृष्ट्वा तामब्रवीत् प्रियाम् ॥१५८॥
वन्द्यास्त्रिजगतोऽप्येता याः कृशोदरि धेनवः ।
तासां पिशितमश्नाति पश्यायं पापकृत्कथम् ॥१५९॥

वहाँ बाँधकर रखा गया शक्तिदेव, अपने जीवन में संशय करता हुए चण्डिका की स्तुति करने लगा—॥१४५॥

"हे भगवति, भरपेट पिये हुए दैत्य के रुधिर से मानों उदय होते हुए सूर्य-बिम्ब के समान वर्णवाली अपनी मूर्त्ति से तुमने संसार की रक्षा की है। इसलिए, निरन्तर प्रणाम करते हुए, विना कारण ही पागलों के हाथों में पड़े हुए और प्रेमी जनों की प्राप्ति के लिए दूर देश से आये हुए मेरी रक्षा करो" ॥१४६-१४७॥

शक्तिदेव, इस प्रकार देवी की स्तुति करके सो गया। उसने स्वप्न में देखा कि उस मन्दिर के गर्भगृह से एक दिव्य स्त्री निकली और उसपर मानों दिया करती हुई कहने लगी—"हे शक्तिदेव, तेरा अनिष्ट नहीं होगा ॥१४८-१४९॥

इन धीवर-पुत्रों की बिन्दुमती नाम की बहन है। वह अभी कुमारी है। प्रातःकाल तुझे देखकर वह अपना पति बनाने के लिए तुझसे प्रार्थना करेगी ॥१५०॥

तुम उसे स्वीकार कर लेना, वही तुम्हें छुड़वा देगी। वह निषाद-जाति की कन्या नहीं है, प्रत्युत शाप के प्रभाव से पतित दिव्य-स्त्री है" ॥१५१॥

यह सुनकर शक्तिदेव के जागने पर प्रातःकाल ही आँखों से अमृत की वर्षा करनेवाली धीवर-कन्या उस देवी-मन्दिर में आई ॥१५२॥

वह धीवर-कन्या, शक्तिदेव के समीप आकर और अपना परिचय देकर उत्सुकता के साथ कहने लगी—'मैं तुम्हें छुड़वा दूँगी; पर प्रतिज्ञा करो कि तुम मेरी इच्छा पूरी करोगे'। मेरे विवाह के लिए मेरे भाइयों द्वारा सम्मत और लाये गये सभी वरों को मैंने अस्वीकृत कर दिया है, किन्तु तुम्हें देखकर मुझे तुम पर प्रेम हो गया है, इसलिए मुझे स्वीकार करो' ॥१५३-१५४॥

धीवर-राज की कन्या बिन्दुमती के इस प्रकार कहने पर अपने स्वप्न का स्मरण करते हुए शक्तिदेव ने, उसके प्रस्ताव को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। और, इसी प्रतिज्ञा पर छुड़ाये गये उसने बिन्दुमती से विवाह भी कर लिया; क्योंकि स्वप्न में चण्डिका का आदेश पाकर उसके भाई अपनी बहन की इच्छा से सम्मत हो गये थे ॥१५५-१५६॥

पुण्य से प्राप्त की हुई सिद्धि के समान दूसरा रूप धारण की हुई उस दिव्य रमणी बिन्दुमती के साथ वह वहीं रहने लगा। एक बार भवन की छत पर उसी के साथ बैठे हुए शक्तिदेव ने सिर पर गोमांस का बोझ उठाये हुए और मार्ग पर चलते हुए एक चाण्डाल को देखकर अपनी उस पत्नी से पूछा—॥१५७-१५८॥

'हे कृशोदरि, जो गाय तीनों लोकों के लिए वन्दनीय है, उसका मांस यह पापी कैसे खाता है?' ॥१५९॥

तच्छ्रुत्वा साप्यवादीत्तं पतिं बिन्दुमती तदा ।
अचिन्त्यमार्यपुत्रैतत्पापमत्र किमुच्यते ॥१६०॥
अहं गवां प्रभावेण स्वल्पादप्यपराधतः ।
जाता दाशकुलेऽमुष्मिन् का त्वेतस्यात्र निष्कृतिः ॥१६१॥
एवमुक्तवतीमेव शक्तिदेवो जगाद ताम् ।
चित्रं ब्रूहि प्रिये का त्वं दाशजन्म कथं च ते ॥१६२॥
अतिनिर्बन्धतश्चैवं पृच्छन्तं तमुवाच सा ।
वदामि गोप्यमप्येतद् वचनं मे करोषि चेत् ॥१६३॥
बाढं प्रिये करोमीति तनोक्ते शपथोत्तरम् ।
सा तदैनं जगादैवमादौ तावत् समीहितम् ॥१६४॥

बिन्दुमत्याः कथा

अस्मिन् द्वीपे द्वितीयापि भार्या ते भविताधुना ।
सा चार्यपुत्र न चिराद्धृतगर्भा भविष्यति ॥१६५॥
अष्टमे गर्भमासे च पाटयित्वोदरं त्वया ।
तस्याः स गर्भः ऋष्टव्यो नैव कार्या घृणात्र च ॥१६६॥
एवमुक्तवती तस्मिन् किमेतदिति विस्मिते ।
लसद्घृणे च भूयः सा दाशेन्द्रतनयाब्रवीत् ॥१६७॥
इत्येतत्तव कर्त्तव्यं हेतोः कस्यापि मद्वचः ।
अथेदं शृणु या चाहं दाशजन्म यथा च मे ॥१६८॥
अहं जन्मान्तरेऽभूवं कापि विद्याधरी पुरा ।
मर्त्यलोके च शापेन परिभ्रष्टास्मि साम्प्रतम् ॥१६९॥
विद्याधरत्वे च यदा छित्त्वा दन्तैरयोजयम् ।
वीणासु तन्त्रीस्तेनेह जाताहं दाशवेश्मनि ॥१७०॥
तदेवं वदने स्पृष्टे शुष्केण स्नायुना गवाम् ।
ईदृश्यधोगतिः का तु वार्त्ता तन्मांसभक्षणे ॥१७१॥
इत्येवं कथयन्त्या च तत्र तस्यां ससम्भ्रमम् ।
एकोऽभ्युपेत्य तद्भ्राता शक्तिदेवमभाषत ॥१७२॥
उत्तिष्ठ सुमहानेष कुतोऽप्युत्थाय सूकरः ।
हतानेकजनो दर्पादितोऽभिमुखमागतः ॥१७३॥
तच्छ्रुत्वा सोऽवतीर्यैव शक्तिदेवः स स्वहर्म्यतः ।
आरुह्य शक्तिहस्तोऽश्वमधावत्सूकरं प्रति ॥१७४॥

यह सुनकर बिन्दुमती अपने पति से कहने लगी—'आर्यपुत्र, गोमास-भक्षण का पाप तो अचिन्त्य है, इस विषय में यहाँ क्या कहा जा सकता है। मैं गायों के ही थोड़े-से अपराध के कारण धीवरों के कुल में जनमी। अब इससे कैसे उद्धार होगा, यह पता नहीं' ॥१६०-१६१॥

ऐसा कहती हुई पत्नी से शक्तिदेव बोला—'आश्चर्य है प्रिये ! तुम कौन हो और इस धीवर के कुल में तुम्हारा जन्म कैसे हुआ ?' ॥१६२॥

इस प्रकार अत्यन्त आग्रह के साथ पूछते हुए शक्तिदेव से उसने कहा—'यह अत्यन्त गोपनीय बात है। यदि तुम मेरी बात मानो, तो मैं तुमसे कहती हूँ' ॥१६३॥

तब शक्तिदेव के शपथ खाकर उसे गुप्त रखने की प्रतिज्ञा करने पर, उस बिन्दुमती ने प्रारम्भ से इस प्रकार उसे बताया ॥१६४॥

बिन्दुमती की कथा

'इस द्वीप में तुम्हारी एक दूसरी पत्नी भी होगी और वह शीघ्र ही गर्भवती हो जायगी ॥१६५॥

गर्भ के आँठवें महीने में तुम्हें उसका पेट फाड़कर उस गर्भ को निकालना पड़ेगा और इस कार्य में तुम्हें घृणा न करनी होगी' ॥१६६॥

धीवर-कन्या के इस प्रकार कहने पर शक्तिदेव अत्यन्त आश्चर्य-चकित हुआ और घृणा प्रकट करने लगा। यह देखकर धीवर-कन्या ने फिर उससे कहा—'यह कार्य किसी गुप्त कारण से तुम्हें करना ही पड़ेगा। अब सुनो, मैं कौन हूँ और धीवर-जाति में मेरा जन्म कैसे हुआ ?' ॥१६७-१६८॥

"मैं पहले जन्म में विद्याधरी थी। इस समय शाप से पतित होकर मर्त्यलोक में मेरा जन्म हुआ है ॥१६९॥

मैंने विद्याधर-जन्म में वीणा के तारों को दाँतों से तोड़कर जोड़ा था, इसी से धीवर-कुल में मेरा जन्म हुआ ॥१७०॥

इस प्रकार, गाय के सूखे चमड़े को दाँतों से छूने पर जब मेरी इस प्रकार अधोगति हुई, तब मांस-भक्षण की तो बात ही क्या कही जा सकती है ॥१७१॥

उसके ऐसा कहते हुए मध्य में ही उसका एक भाई आकर शक्तिदेव से बोला—'उठो, देखो, यह सूअर उठकर अनेक मनुष्यों को मारता हुआ इधर ही सामने आ गया है' ॥१७२-१७३॥

यह सुनकर वह शक्तिदेव, अपने भवन से उतरकर, घोड़े पर सवार होकर और हाथ में शक्ति (शस्त्र) लिये हुए सूअर की ओर दौड़ा ॥१७४॥

प्रजहार च दृष्ट्वैव तस्मिन्वीरेऽभिधावति ।
पलाय्य व्रणितः सोऽपि वराहः प्राविशद् बिलम् ।।१७५।।
शक्तिदेवोऽपि तत्रैव तदन्वेषी प्रविश्य च ।
क्षणादपश्यत्, सावासमुद्यानगहनं महत् ।।१७६।।
तत्रस्थश्च दर्शैकां कन्यामत्यद्भुताकृतिम् ।
ससम्भ्रममुपायातां प्रीत्येव वनदेवताम् ।।१७७।।
तामपृच्छच्च कल्याणि का त्वं किं सम्भ्रमश्च ते ।
तच्छ्रुत्वा स खी तमेवं प्रत्यभाषत ।।१७८।।
अस्ति दक्षिणादङ्गनाथो नृपतिश्चण्डविक्रमः ।
तस्याहं बिन्दुरेखाख्या सुता सुभगकन्यका ।।१७९।।
इहाकस्माच्च पापो मां दैत्यो ज्वलितलोचनः ।
अपहृत्यच्छेलनाद्य पितुरानीतवान् गृहात् ।।१८०।।
स चामिषार्थी वाराहं रूपं कृत्वा बहिर्गतः ।
विद्धोऽद्यैव क्षुधार्त्तः सन् शक्त्या वीरेण केनचित् ।।१८१।।
विद्धमात्रः प्रविश्येह पञ्चतामागतश्च सः ।
तददूषितकौमारा पलाय्याहं च निर्गता ।।१८२।।
तच्छ्रुत्वा शक्तिदेवस्तामूचे कस्तर्हि सम्भ्रमः ।
मयैव स वराहो हि हतः शक्त्या नृपात्मजे ।।१८३।।
ततः साप्यवदत्तर्हि ब्रूहि मे को भवानिति ।
विप्रोऽहं शक्तिदेवाख्य इति प्रत्यब्रवीच्च सः ।।१८४।।
तर्हि त्वमेव मे भर्त्तेत्युदितः स तया ततः ।
तथेत्यादाय तां धीरो बिलद्वारेण निर्ययौ ।।१८५।।
गृहं गत्वा च भार्यायै बिन्दुमत्यै निवेद्य तत् ।
तच्छुद्धितः कुमारीं तां बिन्दुरेखामुदूढवान् ।।१८६।।
ततस्तस्य द्विभार्यस्य शक्तिदेवस्य तिष्ठतः ।
तत्रैका बिन्दुरेखा सा भार्या गर्भमधारयत् ।।१८७।।
अष्टमे गर्भमासे च तस्याः स्वैरमुपेत्य तम् ।
आद्या बिन्दुमती भार्या शक्तिदेवमुवाच सा ।।१८८।।
वीर तत्स्मर यन्मह्यं प्रतिश्रुतमभूत्त्वया ।
सोऽयं द्वितीयभार्याया गर्भमासोऽष्टमस्तव ।।१८९।।

उसने भागते हुए सूअर पर प्रहार किया। आहत सूअर भी भागकर अपने बिल में चला गया ।।१७५।।

उसे ढूँढ़ता हुआ वह शक्तिदेव भी बिल में घुसा और अन्दर जाकर क्षण-भर में उसने सुन्दर बने हुए निवास-गृहवाले एक घने उद्यान को देखा ।।१७६।।

वहाँ जाकर उसने अद्भुत स्वरूपवाली और घबराई हुई एक कन्या को प्रेम से *स्वागत के लिए आई हुई, साक्षात् वनदेवी के समान देखा ।।१७७।।*

और, उससे पूछा—'कल्याणमयी, तू कौन है? और, तुझे इतनी व्याकुलता क्यों है?' यह सुनकर वह सुन्दरी उससे इस प्रकार कहने लगी—।।१७८।।

'हे सुन्दर! दक्षिण देश में चण्डविक्रम नाम का एक राजा है। मैं उसी की कन्या हूँ। मेरा नाम बिन्दुरेखा है। यह पापी दैत्य छलकर मुझे पिता के घर से हरण करके यहाँ ले आया है ।।१७९–१८०।।

वह दैत्य मांस-भक्षण के लिए सूअर का रूप धारण करके बाहर गया। किसी से शक्ति द्वारा आहत होने पर वह भूखा यहाँ आकर मर गया। इसीलिए, मैं भी घर से बाहर निकलकर भाग आई हूँ, किन्तु मेरी कुमारावस्था को उसने दूषित (नष्ट) नहीं किया है' ।।१८१–१८२।।

यह सुनकर शक्तिदेव ने उससे कहा—'तब चिन्ता की क्या बात है? हे राजपुत्रि! मैंने ही शक्ति से इस सूअर को मारा है' ।।१८३।।

तब वह कन्या कहने लगी कि 'तुम कौन हो, यह बताओ।' उत्तर में उसने कहा—'मैं शक्तिदेव नामक ब्राह्मण हूँ' ।।१८४।।

कन्या ने कहा—'तब तू ही मेरा स्वामी है।' उसके ऐसा कहने पर शक्तिदेव उसे लेकर बिल-मार्ग से बाहर निकल आया ।।१८५।।

तदनन्तर, उस कन्या को ले जाकर अपनी पत्नी बिन्दुमती को सौंप दिया। और, पत्नी के विश्वास दिलाने पर शक्तिदेव ने उस कन्या बिन्दुरेखा से पाणिग्रहण कर लिया ।।१८६।।

तत्पश्चात् दो पत्नियोंवाले शक्तिदेव के वहाँ रहते हुए दूसरी पत्नी बिन्दुरेखा गर्भवती हो गई। इस गर्भ का अष्टम मास निकट आने पर शक्तिदेव की पहली पत्नी बिन्दुमती उसके पास जाकर धीरे-से कहने लगी—'वीर, उस बात का स्मरण करो, जो तुमने पहले मुझसे प्रतिज्ञा की थी। तुम्हारी दूसरी भार्या को आठ महीने का गर्भ हो गया है ।।१८७–१८९।।

तद्गत्वा गर्भमेतस्या विपाट्योदरमाहर ।
अनतिक्रमणीयं हि निजं सत्यवचस्तव ॥१६०॥
एवमुक्तस्तया शक्तिदेवः स्नेहकृपाकुलः ।
प्रतिज्ञापरतन्त्रश्च क्षणमासीदनुत्तरः ॥१६१॥
जातोद्वेगश्च निर्गत्य बिन्दुरेखान्तिकं ययौ ।
सापि खिन्नमुपायान्तं तं विलोक्यैवमब्रवीत् ॥१६२॥
आर्यपुत्र विषण्णोऽसि किमद्य ननु वेद्म्यहम् ।
बिन्दुमत्या नियुक्तस्त्वं गर्भस्योत्पाटने मम ॥१६३॥
तच्च तेऽवश्यकर्त्तव्यं कार्यं किञ्चिद्धि विद्यते ।
नृशंसता च नास्त्यत्र काचित्तन्मा घृणां कृथाः ॥१६४॥

देवदत्तब्राह्मणस्य कथा

तथाहि शृणु नाथात्र देवदत्तकथामिमाम् ।
पुराभूद्धरिदत्ताख्यः कम्बुकाख्ये पुरे द्विजः ॥१६५॥
तस्य च श्रीमतः पुत्रः कृतविद्योऽपि शैशवे ।
देवदत्ताभिधानोऽभूद्द्यूतैकव्यसनी युवा ॥१६६॥
द्यूतहारितवस्त्रादिर्गन्तुं नालं पितुर्गृहम् ।
एकदा च विवेशैकं स शून्यं देवतागृहम् ॥१६७॥
तत्र चापश्यदेकाकी साधितानेककार्मणम्[1] ।
जपन्तं जालपादाख्यं महाव्रतिनमेककम् ॥१६८॥
चकार च शनैस्तस्य प्रणाममुपगम्य सः ।
तेनाप्यपास्तमौनेन स्वागतेनाभ्यनन्द्यत ॥१६९॥
स्थितः क्षणाच्च तेनैव पृष्टो वैधुर्यकारणम् ।
शशंसास्मै स्वविपदं व्यसनक्षीणवित्तजाम् ॥२००॥
ततस्तं स जगादैवं देवदत्तं महाव्रती ।
नास्ति व्यसनिनां वत्स भुवि पर्याप्तये धनम् ॥२०१॥
इच्छा च विपदं हातुं यदि ते कुरु मद्वचः ।
विद्याधरत्वं प्राप्तं यत् कृतः परिकरो मया ॥२०२॥
तत्साधय त्वमप्येतन्मया सह सुलक्षण ।
मच्छासनं तु पाल्यं ते नश्यन्तु विपदस्तव ॥२०३॥

1. विविधकामनामन्त्राणां साधकम् ।

इसलिए, अब तुम उसके पास जाकर, उसका पेट फाड़कर गर्भ का आहरण करो। अब तुम्हें अपनी कही हुई सत्य बात से विचलित न होना चाहिए' ॥१९०॥

पत्नी के द्वारा इस प्रकार कहा गया शक्तिदेव, प्रेम और दया से व्याकुल तथा प्रतिज्ञा से पराधीन होकर कुछ देर चुप रहा ॥१९१॥

कुछ क्षण आवेश में आकर और वहाँ से निकलकर वह बिन्दुरेखा के पास गया। बिन्दुरेखा ने उसे दुःखी और चिन्तित होकर अपने पास आते हुए देखकर कहा— 'आर्यपुत्र, आज दुःखी क्यों हो? यह मैं जानती हूँ कि तुम्हें बिन्दुमती ने मेरा गर्भ फाड़ने के लिए कहा है। यह कार्य तुम्हें अवश्य करना चाहिए। उससे कुछ काम बनेगा, इसमें कुछ भी क्रूरता नहीं है। इसलिए घृणा न करो' ॥१९२—१९४॥

देवदत्त ब्राह्मण की कथा

'हे नाथ, इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें देवदत्त की कथा कहती हूँ, सुनो'—प्राचीन समय में कम्बुक नामक नगर में हरिदत्त नाम का एक ब्राह्मण था। उस धनी ब्राह्मण का देवदत्त नामक एक पुत्र हुआ, जो बाल्यावस्था से ही विद्वान् होकर भी युवावस्था में जूए का व्यसनी हो गया था ॥१९५-१९६॥

एक बार जूए में अपने कपड़े तक हार जाने के कारण वह अपने पिता के घर न जा सका और लज्जित होकर वह एक देवमन्दिर में जाकर ठहरा ॥१९७॥

वहाँ मन्दिर में अकेले उसने अनेक सामग्री एकत्र करके एकान्त में जप करते हुए महाव्रती जालपाद नामक तपस्वी को देखा ॥१९८॥

देवदत्त, धीरे से उसके पास जाकर प्रणाम करके बैठा। जालपाद ने भी मौन त्यागकर उसका प्रेमपूर्ण वचनों से स्वागत किया ॥१९९॥

कुछ समय बैठने के पश्चात् व्रती जालपाद ने उसकी चिन्ता और दुर्दशा का कारण पूछा। उसके पूछने पर देवदत्त ने अपनी दुर्दशा का कारण जूए के व्यसन में धन का नष्ट हो जाना बताया ॥२००॥

तब महातपस्वी जालपाद ने कहा—'बेटा, व्यसनियों के लिए पृथ्वी में पूरा धन ही नहीं है' ॥२०१॥

यदि तुम मेरी बात मानो, तो मेरी इच्छा तुम्हारा कष्ट दूर करने की है। मैंने अपनी साधना से जैसे विद्याधरत्व प्राप्त किया है और सिद्धि प्राप्त की है, उसे तुम भी मेरे साथ प्राप्त करो; किन्तु मेरी आज्ञा का पालन करना होगा। तुम्हारी सब विपत्तियाँ दूर हो जायेंगी' ॥२०२—२०३॥

इत्युक्तो व्रतिना तेन प्रतिश्रुत्य[1] तथेति तत् ।
स देवदत्तस्तत्पार्श्वे तदैव स्थितिमग्रहीत् ॥२०४॥
अन्येद्युश्च श्मशानान्ते गत्वा वटतरोरधः ।
विधाय रजनौ पूजां परमान्नं[2] निवेद्य च ॥२०५॥
बलीन्दिक्षु च विक्षिप्य सम्पादिततदर्चनः ।
तं पार्श्वव्रतिनं विप्रमुवाच स महाव्रती ॥२०६॥
एवमेव त्वया कार्यमिह प्रत्यहमर्चनम् ।
विद्युत्प्रभे गृहाणेमां पूजामित्यभिधायिना ॥२०७॥
अतः परं च जानेऽहं सिद्धिश्चैवं ध्रुवावयोः ।
इत्युक्त्वा स ययौ तेन समं स्वनिलयं व्रती ॥२०८॥
सोऽपि नित्यं तरोस्तस्य मूलं गत्वा तथैव तत् ।
देवदत्तोऽर्चनं चक्रे तथैव विधिना ततः ॥२०९॥
एकदा च सपर्यान्ते द्विधाभूतात्तरोस्ततः ।
अकस्मात्पश्यतस्तस्य दिव्या नारी विनिर्ययौ ॥२१०॥
एह्यस्मत्स्वामिनी भद्र वक्ति त्वामिति वादिनी ।
सा तं प्रवेशयामास तस्यैवाभ्यन्तरं तरोः ॥२११॥
स प्रविश्य ददर्शात्र दिव्यां मणिमयं गृहम् ।
पर्यङ्कवर्त्तिनीमेकां तत्र चान्तर्वरस्त्रियम् ॥२१२॥
रूपिणी सिद्धिरस्माकमियं स्यादिति स क्षणात् ।
यावद्ध्यायति तावत्सा कृतातिथ्या वराङ्गना ॥२१३॥
रणिताभरणैरङ्गैर्विहितस्वागतैरिव ।
उत्थाय निजपर्यङ्के तमुपावेशयत स्वयम् ॥२१४॥
जगाद च महाभाग सुता यक्षपतेरहम् ।
कन्या हि रत्नवर्षस्य ख्याता विद्युत्प्रभाख्यया ॥२१५॥
आराधयच्च मामेष जालपादो महाव्रती ।
तस्यार्थसिद्धिदं वास्मि त्वं प्राणेष्वपि मे प्रभुः ॥२१६॥
तस्माद्दृष्टानुरागिण्याः कुरु पाणिग्रहं मम ।
इत्युक्तः स तया चक्रे देवदत्तस्तथेति तत् ॥२१७॥

---

१. स्वीकृत्येति भावः ।
२. परमान्नं तु पायसम् इत्यमरः ।

तपस्वी साधक द्वारा इस प्रकार कहे गये देवदत्त ने, उसकी बात स्वीकार कर ली और तब से उसी के पास रहने लगा ।।२०४।।

महाव्रती जालपाद ने दूसरी रात्रि में श्मशान के पास जाकर वटवृक्ष के नीचे पूजा करके, खीर और नैवेद्य चढ़ाकर दिशाओं को बलि अर्पित करते हुए पूजा की और साथ में बैठे हुए देवदत्त से कहा—।।२०५-२०६।।

'देवदत्त, तुम्हें भी प्रतिदिन इसी प्रकार पूजन करना चाहिए और पूजा करके कहना चाहिए—विद्युत्प्रभे ! इस पूजा को ग्रहण करो ।।२०७।।

इससे आगे मैं नहीं जानता। किन्तु, हम दोनों को सिद्धि अवश्य मिलेगी। इतना कहकर वह तपस्वी उसको साथ लेकर अपने घर लौट आया ।।२०८।।

वह ब्राह्मण देवदत्त भी प्रतिदिन उस वटवृक्ष के नीचे जाकर उसी विधि से पूजन करने लगा ।।२०९।।

एक दिन देवदत्त के पूजा कर लेने के उपरान्त उस वृक्ष के तने को चीरकर सहसा एक दिव्य स्त्री निकली ।।२१०।।

वह कहने लगी—'हे भले आदमी ! मेरी स्वामिनी तुम्हें बुलाती है।' इस प्रकार कहकर उसे वह वृक्ष के अन्दर ले गई ।।२११।।

देवदत्त ने अन्दर जाकर मणियों से निर्मित एक सुन्दर भवन देखा और उसके भीतर पलंग पर बैठी हुई एक सुन्दरी स्त्री देखी। उसे देखकर देवदत्त सोचने लगा, सम्भव है, यही हमारी मूर्त्तिमती सिद्धि हो। जबतक वह ऐसा सोचता है, तबतक वह सुन्दरी रमणी, उसका आतिथ्य करके शब्दायमान आभूषणों से सुशोभित अंगों से उसका स्वागत करती हुई कहने लगी—'मैं रत्नवर्ष नामक यक्ष की पुत्री विद्युत्प्रभा हूँ। इस महाव्रती जालपाद ने मेरी आराधना की है, उसको मैं अष्टसिद्धि देनेवाली हूँ। किन्तु तुम तो मेरे प्राणों के भी स्वामी हो ।।२१२—२१६।।

इसलिए, देखने मात्र से प्रेम करनेवाली मुझसे तुम पाणिग्रहण कर लो। उसके इस प्रकार कहने पर देवदत्त ने उससे विवाह कर लिया ।।२१७।।

स्थित्वा च कञ्चित्कालं स गर्भभारे तया धृते ।
जगाम पुनरागन्तुं तं महाव्रतिनं प्रति ॥२१८॥
शशंस च यथावृत्तं तं तस्मै सभयं ततः ।
सोऽप्येवमात्मसिद्ध्यर्थी जगादैनं महाव्रती ॥२१९॥
भद्र साधु कृतं किं तु गत्वास्या यक्षयोषितः ।
विपाट्योदरमाकृष्य शीघ्रं गर्भं तमानय ॥२२०॥
इत्युक्त्वा स्मारयित्वा च व्रतिना पूर्वसङ्गरम्[1] ।
प्रेषितस्तेन भूयस्तां देवदत्तोऽप्यगात् प्रियाम् ॥२२१॥
तत्र तिष्ठति यावच्च तद्विभावनदुर्मनाः ।
तावद् विद्युत्प्रभा सा तं यक्षी स्वयमभाषत ॥२२२॥
आर्यपुत्र विषण्णोऽसि किमर्थं विदितं मया ।
आदिष्टं जालपादेन तव मद्गर्भपाटनम् ॥२२३॥
तद्गर्भमेतमाकर्ष पाटयित्वा ममोदरम् ।
न चेत् स्वयं करोम्येतत्कार्यं ह्यस्त्यत्र किञ्चन ॥२२४॥
एवं तयोक्तः स यदा कर्त्तुं तन्नाशकद् द्विजः ।
तदाकृष्टवती गर्भं सा स्वयं पाटितोदरा ॥२२५॥
तं च कृष्टं पुरस्त्यक्त्वा देवदत्तं तमभ्यधात् ।
भोक्तुर्विद्याधरत्वस्य कारणं गृह्यतामयम् ॥२२६॥
अहं च शापाद्यक्षीत्वे जाता विद्याधरी सती ।
अयमीदृक्च शापान्तो मम जातिस्मरा ह्यहम् ॥२२७॥
इदानीं यामि धाम स्वं सङ्गमश्चावयोः पुनः ।
तत्रैवेत्यभिधायैषा क्वापि विद्युत्प्रभा ययौ ॥२२८॥
देवदत्तोऽपि तं गर्भं गृहीत्वा खिन्नमानसः ।
जगाम जालपादस्य तस्य स व्रतिनोऽन्तिकम् ॥२२९॥
उपानयच्च तं गर्भं तस्मै सिद्धिप्रदायिनम् ।
भजन्त्यात्मम्भरित्वं हि दुर्लभेऽपि न साधवः ॥२३०॥
सोऽपि तत्पाचयित्वैव गर्भमांसं महाव्रती ।
व्यसृजद्देवदत्तं तं भैरवार्चाकृतेऽटवीम् ॥२३१॥
तनो दत्तबलिर्यावदेत्य पश्यति स द्विजः ।
तावन्मांसमशेषं तद् व्रतिना तेन भक्षितम् ॥२३२॥

---

१. मदाज्ञापालनं कार्यमिति पूर्वप्रतिज्ञाम् ।

और कुछ समय तक उसके गर्भागार में रहकर फिर अपने गुरु उस महातपस्वी के पास लौट आया और आकर उसने डरते-डरते वह सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया। यह सब सुनकर महातपस्वी बोला—॥२१८-२१९॥

'भद्र ! तुमने जो कुछ किया, अच्छा किया। किन्तु, अब जाकर उस यक्षिणी का पेट फाड़कर शीघ्र ही उसके गर्भ को ले आओ ॥२२०॥

ऐसा कहकर और उस पूर्व-प्रतिज्ञा को स्मरण कराकर साधक ने देवदत्त को फिर वहाँ भेजा, और देवदत्त उस प्रेयसी के पास गया ॥२२१॥

जब वह इस कर्म को करने की असमर्थता से दुःखी होकर विद्युत्प्रभा के पास खड़ा हुआ, तब वह स्वयं उससे कहने लगी—'आर्यपुत्र, तुम जिसलिए चिन्तित हो, मुझे विदित है। तुम्हें जालपाद ने मेरा पेट फाड़कर मेरा गर्भ लाने के लिए कहा। इसलिए, तुम इस गर्भ को मेरा पेट फाड़कर खींच लो। नहीं तो, मैं स्वयं यह कार्य करती हूँ। इसमें कुछ रहस्य है' ॥२२२-२२४॥

विद्युत्प्रभा के ऐसा कहने पर भी जब वह ब्राह्मण देवदत्त उसका पेट फाड़ने के लिए उद्यत न हुआ, तब उसने स्वयं अपना पेट फाड़कर गर्भ को पेट से बाहर खींच लिया ॥२२५॥

निकाले हुए गर्भ को आगे रखकर वह देवदत्त से कहने लगी—'इसे खानेवाले को विद्याधर बनाने के लिए इसे ले लो। मैं विद्याधरी होकर भी शाप से यक्षिणी बन गई थी। बस, यहीं और इसी प्रकार मेरे शाप का अन्त था। मैं पूर्वजन्म की जाति का स्मरण करती हूँ ॥२२६-२२७॥

अब मैं अपने स्थान को जाती हूँ और हम दोनों का फिर वहीं समागम होगा।' इतना कहकर विद्युत्प्रभा अन्तर्हित हो गई ॥२२८॥

व्यथितहृदय देवदत्त भी उस गर्भ को लेकर उस साधक जालपाद के पास आया। आकर उसने उस गर्भ को उसे भेंट कर दिया। सज्जन लोग कठिनाई में भी केवल अपना पेट भरना ही नहीं जानते ॥२२९-२३०॥

उस महासाधक ने उसका मांस पकाकर उसका कुछ अंश भैरव को देने के लिए देवदत्त को जंगल में भेज दिया ॥२३१॥

वन से बलि देकर लौटने पर देवदत्त ने देखा कि जालपाद सारे मांस को खा चुका है ॥२३२॥

कथं सर्वं त्वया भुक्तमिति चात्रास्य जल्पतः ।
जिह्मो[१] विद्याधरो भूत्वा जालपादः खमुद्ययौ ॥२३३॥
व्योमश्यामलनिस्त्रिंशे[२] हारकेयूरराजिते ।
तस्मिन्नुत्पतिते सोऽथ देवदत्तो व्यचिन्तयत् ॥२३४॥
कष्टं कीदृगनेनाहं वञ्चितः पापबुद्धिना ।
यदि वात्यन्तमृजुता न कस्य परिभूतये ॥२३५॥
तदेतस्यापकारस्य कथमद्य प्रतिक्रियाम् ।
कुर्यां विद्याधरीभूतमप्येनं प्राप्नुयां कथम् ॥२३६॥
तन्नास्त्युपायो वेतालसाधनादपरोऽत्र मे ।
इति निश्चित्य स ययौ रात्रौ पितृवनं[३] ततः ॥२३७॥
तत्राहूय तरोर्मूले वेतालं नृकलेवरे ।
पूजयित्वाऽकरोत्तस्य नृमांसबलितर्पणम् ॥२३८॥
अतृप्यन्तं च वेतालं तमन्यानयनासहम् ।
तर्पयिष्यन् स्वमांसानि च्छेत्तुमारभते स्म सः ॥२३९॥
तत्क्षणं तं स वेतालो महासत्त्वमभाषत ।
सत्त्वेनानेन तुष्टोऽस्मि तव मा साहसं कृथाः ॥२४०॥
तद् भद्र किमभिप्रेतं तव यत्साधयामि ते ।
इत्युक्तवन्तं वेतालं स वीरः प्रत्युवाच तम् ॥२४१॥
विश्वस्तवञ्चको यत्र जालपादो व्रती स्थितः ।
विद्याधरनिवासं तं नय तन्निग्रहाय माम् ॥२४२॥
तथेत्युक्तवता तेन वेतालेन स तत्क्षणात् ।
स्कन्धेऽधिरोप्य नभसा निन्ये वैद्याधरं पदम्[४] ॥२४३॥
तत्रापश्यच्च तं जालपादं प्रासादवर्त्तिनम् ।
स विद्याधरराजत्वदृप्तं रत्नासनस्थितम् ॥२४४॥
प्रतारयन्तं तामेव लब्धविद्याधरीपदाम् ।
विद्युत्प्रभामनिच्छन्तीं भार्यात्वे तत्तदुक्तिभिः ॥२४५॥

---

१. कुटिलः ।
२. आकाशवत् श्यमलः निस्त्रिंशः खड्गो यस्य सः । खड्गस्य श्यामो वर्णः कविसमयप्रसिद्धः ।
३. श्मशानम् ।
४. स्थानम् ।

'तुमने अकेले ही सारा मांस क्यों खा लिया, मेरे लिए क्यों नहीं रखा ?'—देवदत्त के इस प्रकार कहते हुए ही वह कुटिल जालपाद विद्याधर बनकर आकाश में उड़ गया ।।२३३।।

आकाश के समान नीले रंग की तलवार लिये हुए और हार, केयूर से सुशोभित जालपाद के उड़ जाने पर देवदत्त सोचने लगा ।।२३४।।

दुःख है कि उस दुष्टबुद्धि ने मुझे ठगा । सच है, अत्यन्त सरलता किसे अपमानित नहीं करती ? ।।२३५।।

तो अब उसके इस अपकार का बदला मैं कैसे लूँ । विद्याधर बने हुए भी इसे किस प्रकार पकड़ लूँ ।।२३६।।

अब इसके लिए वेताल-साधना के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, यह सोचकर वह रात को श्मशान में गया ।।२३७।।

वहाँ पर एक वृक्ष की जड़ में जाकर मनुष्य के मुर्दे को नरमांस की बलि देकर तथा तर्पण आदि करके उसने वेताल का आवाहन किया ।।२३८।।

उससे भी वेताल को तृप्त होते न देखकर उसकी तृप्ति के लिए वह अपने शरीर का मांस काटने लगा । तब वेताल उस महान् आत्मावाले देवदत्त से कहने लगा—'मैं तुम्हारे इतने ही साहस से प्रसन्न हूँ, अब अधिक साहस न करो । तुम अपना अभीष्ट कार्य बताओ, मैं उसे तुम्हारे लिए सिद्ध करूँ ।' वेताल के ऐसा कहने पर वह वीर देवदत्त बोला—'विश्वासी व्यक्ति को ठगनेवाला साधक जालपाद जहाँ भी हो, उस विद्याधरों के निवास-स्थान में उसे मारने के लिए मुझे ले चलो' ।।२३९—२४२।।

देवदत्त के ऐसा कहने पर वह वेताल उसी क्षण उसे कन्धे पर चढ़ाकर आकाश-मार्ग से विद्याधरों के लोक को ले गया ।।२४३।।

विद्याधर-लोक के राजभवन में रत्न-सिंहासन पर बैठे हुए, विद्याधर-पद प्राप्त करके अभिमान में अन्धे एवं विद्याधरी-पद को प्राप्त यक्षिणी विद्युत्प्रभा को, उसके न चाहते हुए भी, विविध प्रकार की बातों से उसे पत्नी बनाने की चेष्टा करते हुए, उसने जालपाद को देखा ।।२४४-२४५।।

दृष्ट्वैव च सवेतालोऽप्यभ्यधावत्स तं युवा ।
हृष्यद्विद्युत्प्रभानेत्रचकोरामृतचन्द्रमाः ॥२४६॥
जालपादोऽपि सोऽकस्मात्तं दृष्ट्वैवागतं तथा ।
वित्रासाद् भ्रष्टनिस्त्रिंशो[१] निपपातासनाद् भुवि ॥२४७॥
देवदत्तोऽपि तत्खड्गं स लब्ध्वाप्यवधीन्न तम् ।
रिपुष्वपि हि भीतेषु सानुकम्पा महाशयाः ॥२४८॥
जिघांसन्तं च वेतालं तं जगाद स तारयन् ।
पाखण्डिना किमेतेन कृपणेन हतेन नः ॥२४९॥
स्थाप्यतां भुवि नीत्वायं तस्मात्स्वनिलये त्वया ।
आस्तां तत्रैव भूयोऽपि पापः कापालिको वरम् ॥२५०॥
इत्येवं वदतस्तस्य देवदत्तस्य तत्क्षणम् ।
दिवोऽवतीर्य शर्वाणी देवी प्रत्यक्षतां ययौ ॥२५१॥
सा जगाद च तं प्रह्वं पुत्र तुष्टास्मि तेऽधुना ।
अनन्यसदृशेनेह सत्त्वोत्कर्षेण सम्प्रति ॥२५२॥
तद्विद्याधरराजत्वं मया दत्तमिहैव ते ।
इत्युक्त्वार्पितविद्या सा देवी सद्यस्तिरोऽभवत् ॥२५३॥
जालपादश्च नीत्वैव वेतालेन स भूतले ।
विभ्रष्टसिद्धिर्निदधे नाधर्मश्चिरमृद्धये ॥२५४॥
देवदत्तोऽपि सहितः स विद्युत्प्रभया तया ।
विद्याधराधिराज्यं तत्प्राप्य तत्र व्यजृम्भत ॥२५५॥
इत्याख्याय कथां पत्ये शक्तिदेवाय सत्वरा ।
सा बिन्दुरेखा भूयस्तं बभाषे मृदुभाषिणी ॥२५६॥
इतीदृंशि भवन्त्येव कार्याणि तदिदं मम ।
बिन्दुमत्युदितं गर्भं मुक्तशोकं विपाटय ॥२५७॥

शक्तिदेवस्य विद्याधरत्वप्राप्तिः

इत्येवं बिन्दुरेखायां वदन्त्यां पापशङ्किते ।
शक्तिदेवे च गगनादुदभूत्तत्र भारती ॥२५८॥
'भोः शक्तिदेव निःशङ्कं गर्भोऽस्याः कृष्यतां त्वया ।
कण्ठे मुष्ट्या गृहीतो हि खड्गोऽसौ ते भविष्यति' ॥२५९॥

---

१. हस्तच्युतखड्गः ।

उसे देखते ही मदमत्त विद्युत्प्रभा के नेत्र-चकोरों के लिए चन्द्रमा के समान वह युवक देवदत्त, वेताल के सहित जालपाद की ओर दौड़ पड़ा। जालपाद ने भी उसे अकस्मात् आया हुआ देखकर, भय और व्याकुलता के कारण उसके हाथ से तलवार के गिर जाने पर वह सिंहासन से भूमि पर गिर पड़ा ।।२४६-२४७।।

देवदत्त ने उसकी गिरी हुई तलवार को पाकर भी उसे मारा नहीं। उदार पुरुष डरे हुए शत्रुओं पर भी दयालु होते हैं ।।२४८।।

जालपाद को मारते हुए वेताल को भी उसने रोककर कहा—'इस बेचारे पाखण्डी को मारने से क्या लाभ ? इसे पृथ्वी पर ले जाकर इसी के घर में रख दो। यह पापी फिर वहाँ कापालिक-व्रत करता रहे, तो ठीक है' ।।२४९-२५०।।

इस प्रकार की घटना होने पर उसी क्षण देवी पार्वती स्वर्ग से उतरकर आई और देवदत्त से प्रेमपूर्वक कहने लगी—'बेटा, तेरे इस असाधारण आत्मोत्कर्ष से मैं प्रसन्न हूँ। इसलिए अब मैं तुझे स्वयं विद्याधरराज-पद और विद्या प्रदान करती हूँ'। इतना कहकर और देवदत्त को विद्या प्रदान कर देवी अन्तर्धान हो गई ।।२५१—२५३।।

जालपाद को वेताल ने लाकर भूमि पर पटक दिया और उसकी सिद्धि भ्रष्ट हो गई। सच है, अधर्म की सम्पत्ति चिरकाल तक नहीं रह सकती ।।२५४।।

तदनन्तर देवदत्त, विद्युत्प्रभा के साथ विद्याधर-राज्य प्राप्त करके सुखपूर्वक वहाँ रहने लगा और उन्नति करने लगा ।।२५५।।

मधुरभाषिणी बिन्दुरेखा इस प्रकार अपने पति शक्तिदेव को कथा सुनाकर फिर बोली—'ये कार्य इस प्रकार के होते हैं। इसलिए, तुम भी बिन्दुमती के कहने के अनुसार मेरे गर्भ को पेट फाड़कर निकाल लो' ।।२५६-२५७।।

शक्तिदेव द्वारा विद्याधरत्व की प्राप्ति

बिन्दुमती के इस प्रकार कहने पर भी पाप की शंका करते हुए शक्तिदेव ने आकाशवाणी सुनी—'हे शक्तिदेव ! तुम विना किसी शंका के गर्भ को निकाल लो। उस गर्भ के शिशु की गरदन की मुट्ठी से पकड़ोगे, तो वह खड्ग बन जायगा' ।।२५८–२५९।।

इति दिव्यां गिरं श्रुत्वा पाटितोदरमाशु सः ।
गर्भं तस्याः समाकृष्य पाणिना कण्ठतोऽग्रहीत् ॥२६०॥
गृहीतमात्रो जज्ञे च स खड्गस्तस्य हस्तगः ।
आकृष्टः सत्त्वतः सिद्धेः केशपाश इवायतः ॥२६१॥
ततो विद्याधरः क्षिप्रात्स विप्रः समजायत ।
बिन्दुरेखा च तत्कालमदर्शनमियाय सा ॥२६२॥
तद्दृष्ट्वा च स गत्वैव दाशपुत्र्यै न्यवेदयत् ।
बिन्दुमत्यै द्वितीयस्यै पत्न्यै सर्वं तथाविधः ॥२६३॥
सा तमाह वयं नाथ विद्याधरपतेः सुताः ।
तिस्रो भगिन्यः कनकपुरीतः शापतश्च्युता ॥२६४॥
एका कनकरेखा सा वर्द्धमानपुरे त्वया ।
यस्या दृष्टः स शापान्तः सा च तां स्वां पुरीं गता ॥२६५॥
शापान्तो हीदृशस्तस्या विचित्रो विधियोगतः ।
अहमेव तृतीया च शापान्तश्चाधुनैव मे ॥२६६॥
मया चाद्यैव गन्तव्या नगरी सा निजा प्रिया ।
विद्याधरशरीराणि तत्रैवास्माकमासते ॥२६७॥
चन्द्रप्रभा च भगिनी ज्यायसी हि स्थिताऽत्र नः ।
तदायाहि तवमप्याशु खड्गसिद्धिप्रभावतः ॥२६८॥
तत्र ह्यस्मांश्चतस्रोऽपि भार्याः सम्प्राप्य चाधिकाः ।
वनस्थेनार्पिताः पित्रा पुरि राज्य करिष्यसि ॥२६९॥
इति निजपरमार्थमुक्तवत्या सममनया पुनरेव बिन्दुमत्या ।
अथ कनकपुरीं स शक्तिदेवो गगनपथेन[1] तथेति तां जगाम ॥२७।
तस्यां च यानि योषिद्वपूंषि पर्यङ्कतल्पवर्त्तीनि ।
निर्जीवितान्यपश्यत्पूर्वं त्रिषु मण्डपेषु दिव्यानि ॥२७१॥
तानि यथावत् स्वात्मभिरनुप्रविष्टाः स कनकरेखाद्याः ।
प्राप्तो भूयः प्रणता अद्राक्षीत्ता निजप्रियास्तिस्रः ॥२७२॥
तां च चतुर्थीमैक्षत तज्ज्येष्ठां रचितमङ्गलां तत्र ।
चन्द्रप्रभां पिबन्तीं चिरदर्शनसोत्कया दृष्ट्या ॥२७३॥

---

१. खड्गसिद्धत्वात्तस्य विद्याधरत्वं खेचरत्वञ्च सम्प्राप्तम् ।

इस प्रकार दिव्यवाणी सुनकर शक्तिदेव ने उसका पेट फाड़कर गर्भ को गले से पकड़ा ॥२६०॥

बिन्दुरेखा उसी समय अदृश्य हो गई और गर्भ को पकड़ते ही वह आत्मबल से प्राप्त सिद्धि के लम्बे केशपाश के समान, तलवार बनकर उसके हाथ में रह गया। इस प्रकार, हाथ में तलवार के आते ही वह ब्राह्मण शक्तिदेव भी तुरन्त विद्याधर बन गया। यह सब दृश्य शक्तिदेव ने जाकर अपनी दूसरी पत्नी धीवर-कन्या बिन्दुमती से कहा। तब वह रहस्योद्‌घाटन करती हुई बताने लगी—'हे स्वामिन्! हम तीनों विद्याधरों के राजा की कन्याएँ तीन बहनें हैं; जो शाप के कारण कनकपुरी से पतित हुई हैं ॥२६१–२६४॥

एक कन्या कनकरेखा नाम से वर्द्धमान नगर में राजकन्या हुई; जिसके शाप का अन्त तुमने स्वयं देखा। वह अपनी नगरी को चली गई। दैवयोग से उसके शाप का अन्त ही ऐसा विचित्र था। मैं तीसरी बहिन हूँ। अब मेरे शाप का भी अन्त हो गया। आज ही मैं अपनी प्रिय नगरी को चली जाऊँगी। वहीं पर हमारे विद्याधर-शरीर सुरक्षित हैं ॥२६५–२६७॥

हमारी बड़ी बहिन चन्द्रप्रभा भी वहीं है। अब तुम भी खड्‌गसिद्धि के प्रभाव से शीघ्र वहीं आओ ॥२६८॥

तुम वहाँ हम चारों बहिनों को पत्नी-रूप में प्राप्त करके और वनवासी हमारे पिता का राज्य लाभ करके कनकपुरी का शासन करोगे ॥२६९॥

इस प्रकार, अपनी वास्तविक स्थिति बतलानेवाली बिन्दुमती के साथ ही वह शक्तिदेव आकाश-मार्ग से कनकपुरी को गया ॥२७०॥

उसने पहली बार उस राजभवन में तीनों मण्डपों के भीतर पलंगों पर पड़े जो तीन निर्जीव शरीर देखे थे, अब वहाँ पहुँचने पर, उनमें अपने-अपने जीवों के प्रवेश करने पर उसने प्रणाम करती हुई तीनों पत्नियों को देखा ॥२७१-२७२॥

तदनन्तर, उसने उनकी बड़ी बहिन चन्द्रप्रभा को भी देखा; जो चिरकाल के पश्चात् दर्शन मिलने के कारण उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से मंगल-रचना करके देख रही थी ॥२७३॥

स्वस्वनियोगव्यापृतपरिजनवनिताभिनन्दितागमनः ।
वासगृहान्तः प्राप्तश्चन्द्रप्रभया तया जगदे ॥२७४॥
या तत्र कनकरेखा राजसुता सुभग वर्द्धमानपुरे ।
दृष्टा भवता सेयं भगिनी मे चन्द्ररेखाख्या ॥२७५॥
या दाशाधिपपुत्री बिन्दुमती प्रथममुत्स्थलद्वीपे ।
परिणीताभूद्भवता शशिरेखा मत्स्वसा सेयम् ॥२७६॥
या तदनु बिन्दुरेखा राजसुता तत्र दानवानीता ।

शक्तिदेवस्य विद्याधरीणां सह विवाहः

भार्या च ते तदाभूच्छशिप्रभा सेयमनुजा मे ॥२७७॥
तदिदानीमेहि कृतिन्नस्मत्पितुरन्तिकं सहास्माभिः ।
तेन प्रत्ताश्चैता द्रुतमखिलाः परिणयस्वास्मान् ॥२७८॥
इति कुसुमशराज्ञासप्रगल्भं च तस्यां
त्वरितमुदितवत्यामत्र चन्द्रप्रभायाम् ।
अपि चतसृभिराभिः साकमेतत्पितुस्त-
न्निकटमनुवनान्तं शक्तिदेवो जगाम ॥२७९॥
स च चरणनताभिस्ताभिरावेदितार्थो
दुहितृभिरखिलाभिर्दिव्यवाक्प्रेरितश्च ।
युगपदथ ददौ ताः शक्तिदेवाय तस्मै
मुदितमतिरशेषास्तत्र विद्याधरेन्द्रः ॥२८०॥
तदनु कनकपुर्यामृद्धमस्यां स्वराज्यं
सपदि स विततार स्वाश्च विद्याः समस्ताः ।
अपि च कृतिनमेनं शक्तिवेगं स्वनाम्ना
व्यधित समुचितेन स्वेषु विद्याधरेषु ॥२८१॥
अन्यो न जेष्यति भवन्तमतिप्रभावाद्
वत्सेश्वरात् पुनरुदेष्यति चक्रवर्त्ती ।
युष्मासु योऽत्र नरवाहनदत्तनामा
भावी विभुः स तव तस्य नतिं विदध्याः ॥२८२॥
इत्यूचिवांश्च विससर्ज महाप्रभावो
विद्यधराधिपतिरात्मतपोवनात्तम् ।
सत्कृत्य सप्रियतमं निजराजधानीं
जामातरं स शशिखण्डपदाभिधानः ॥२८३॥

अपनी-अपनी ओर से चन्द्रप्रभा की सेवा में लगी हुई उसकी सेविकाओं द्वारा शक्तिदेव के आगमन पर प्रसन्नता प्रकट किये जाने के पश्चात् वह शक्तिदेव चन्द्रप्रभा के साथ उसके शयनागार में गया। वहाँ जाकर चन्द्रप्रभा ने उससे इस प्रकार कहा—'हे सौभाग्यशालिन् ! तुमने वर्द्धमान नगर में कनकरेखा नाम की जो राजकुमारी देखी थी, वह चन्द्ररेखा नाम की मेरी बहिन है ।।२७४–२७५।।

उत्स्थलद्वीप में तुमने जिस धीवर-कन्या बिन्दुमती से विवाह किया था, वह मेरी शशिरेखा नाम की बहन है ।।२७६।।

उसके पश्चात् दानव द्वारा ले जाई गई बिन्दुरेखा नाम की जिस कन्या से तुमने विवाह किया था, वह मेरी शशिप्रभा नाम की चौथी और छोटी बहिन है ।।२७७।।

शक्तिदेव का विद्याधरियों के साथ विवाह

अब तुम हमलोगों के साथ हमारे पिताजी के पास चलो और उनसे दी हुई हम चारों का विवाह अपने साथ कर लो ।।२७८।।

इस प्रकार, कामदेव की आज्ञा के समान गम्भीरतापूर्वक चन्द्रप्रभा के कहने पर उन चारों प्रियतमाओं के साथ वह शक्तिदेव शीघ्र ही वन के मध्य में स्थित उनके पिता के पास गया ।।२७९।।

उनके पिता ने, चरणों पर प्रणाम करती हुई उन चारों कन्याओं द्वारा समस्त वृत्तान्त जानकर और आकाशवाणी से प्रेरित होकर, एक साथ ही चारों कन्याओं को शक्तिदेव के लिए दे दिया ।।२८०।।

तदनन्तर, विद्याधरों के उस राजा ने कनकपुरी में सम्पन्न अपने राज्य को और अपनी सभी विद्याओं को भी उसे देकर, उस सफल वीर शक्तिदेव को अपना शक्तिवेग नाम भी देकर अपनी विद्याधर-जाति में समुचित स्थान प्रदान किया ।।२८१।।

और कहा—'तुम्हारा इतना अधिक प्रभाव होगा कि तुम्हें कोई जीत न सकेगा। वत्सराज उदयन से नरवाहनदत्त नाम का जो पुत्र होगा, वह तुम विद्याधरों का चक्रवर्त्ती राजा होगा। वह तुम्हारा भावी स्वामी है। इसलिए तुम उसे प्रणाम करना' ।।२८२।।

ऐसा कहकर उस महाप्रभावशाली शशिखण्ड नामक विद्याधरों के अधिपति ने, शक्तिवेग (शक्तिदेव) का सत्कार करके, उसकी चारों पत्नियों के साथ, उस जामाता को तपोवन से विदा करके राजधानी कनकपुरी को भेज दिया ।।२८३।।

अथ सोऽपि शक्तिवेगी राजा भूत्वा विवेश कनकपुरीम् ।
स्ववधूभिः सह् .गत्वा विद्याधरलोकवैजयन्तीं ताम् ।।२८४।।

तस्यां तिष्ठन् कनकरचनाविस्फुरन्मन्दिरायाम्-
मत्यौन्नत्यादिव पट्टुपतत्पिण्डितार्कप्रभायाम् ।
बामाक्षीभिश्चतसृभिरसौ रत्नसोपानवापी-
हृद्योद्यानेष्वलभततरां निर्वृत्ति प्रेयसीभिः ।।२८५।।

इति कथयित्वा चरितं गिजमेव विचित्रमेष तत्कालम् ।
निजगाद शक्तिवेगो वाग्मी वत्सेश्वरं भूयः ।।२८६।।

तं मां शशाङ्ककुलभूषण शक्तिवेगं
जानीह्युपागतमिमं खलु वत्सराज ।
उत्पन्नभाविनिजनूतनचक्रवर्त्ति
युष्मत्सुताङ्घ्रियुगदर्शनसाभिलाषम् ।।२८७।।

इत्थं मयेह मनुजेन सतापि लब्धा
विद्याधराधिपतिता पुरजित्प्रसादात् ।
गच्छामि चाहमधुना नृपते स्वधाम
दृष्टः प्रभुर्भवतु भद्रमभङ्गुरं वः ।।२८८।।

इत्युक्त्वा रचिताञ्जलौ च वदति प्राप्ताभ्यनुज्ञे तत-
स्तस्मिन्नुत्पतिते मृगाङ्कमहसि द्यां शक्तिवेगे क्षणात् ।
देवीभ्यां सहितः सबालतनयो वत्सेश्वरो मन्त्रिभिः
साकं काममपि तत्र सम्मदमयीं भेजे तदानीं दशाम् ।।२८९।।

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे चतुर्दारिकालम्बके तृतीयस्तरङ्गः
समाप्तोऽयं चतुर्दारिकालम्बकः पञ्चमः ।

वह शक्तिवेग भी अब राजा बनकर अपनी प्रियतमाओं के साथ विद्याधर-लोक की पताका के समान कनकपुरी में आ गया ।।२८४।।

विद्याधराधिप वह शक्तिवेग, मानों अत्यन्त ऊँची होने से सीधी गिरती हुई सूर्य-किरणों के समान, सोने की रचना से चमचमाती हुई प्रासाद-शृंखलाओंवाली कनकपुरी में उन चारों प्रियतमाओं के साथ, रत्नजटित सीढ़ियोंवाली उद्यान-बावलियों में, अत्यन्त सुख और आनन्द लेने लगा ।।२८५।।

वाक्पटु शक्तिवेग, इस प्रकार अपना विचित्र चरित्र वत्सराज को सुनाकर फिर बोला—।।२८६।।

'हे चन्द्रवंश-भूषण वत्सराज, तुम मुझे उसी शक्तिवेग के रूप में उत्पन्न हुए अपने नये चक्रवर्त्ती पुत्र के चरणकमलों के दर्शन का अभिलाषी समझो ।।२८७।।

इस प्रकार, मनुष्य होकर भी मैंने शिवजी की कृपा से विद्याधरों की प्रभुता प्राप्त की है। अब मैं अपने स्थान को जाता हूँ। अपने स्वामी का दर्शन कर लिया । आपका सर्वदा मंगल हो ।।२८८।।

इस प्रकार, प्रणाम कर, जाने की आज्ञा प्राप्त करके चन्द्रमा के सामान तेजस्वी शक्तिवेग के आकाश में उड़ जाने पर, महारानियों, मन्त्रियों और शिशु के साथ वत्सराज ने अत्यन्त आनन्द का अनुभव किया ।।२८९।।

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के चतुर्दारिकालम्बक का तृतीय तरंग समाप्त

चतुर्दारिका नामक पंचम लम्बक समाप्त ।

मदनमञ्चुका नाम षष्ठो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं, दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ॥

प्रथमस्तरङ्गः

तर्जयन्निव विघ्नौघान्नमितोन्नमितेन यः ।
मुहुर्विभाति शिरसा स पायाद् वो गजाननः ॥१॥
नमः कामाय यद्बाणपातैरिव निरन्तरम् ।
भाति कण्टकितं शम्भोरप्युमालिङ्गितं वपुः ॥२॥
इत्यादि दिव्यचरितं कृत्वात्मानं किलान्यवत् ।
प्राप्तविद्याधरैश्वर्यो यदा मूलात् स्वयं जगौ ॥३॥
नरवाहनदत्तोऽत्र सपत्नीकैर्महर्षिभिः ।
पृष्टः प्रसङ्गे कुत्रापि तदिदं शृणुताधुना ॥४॥

नरवाहनदत्तस्य युवावस्था

अथ संवर्ध्यमानोऽत्र पित्रा वत्सेश्वरेण सः ।
नरवाहनदत्तोऽभूद्व्युत्क्रान्ताष्टमवत्सरः ॥५॥
विनीयमानो विद्यासु क्रीडन्नुपवनेषु च ।
सह मन्त्रिसुतैरासीद्राजपुत्रस्तदा च सः ॥६॥
देवी वासवदत्ता च राज्ञी पद्मवती तथा ।
आस्तामेकतमस्नेहात्तदेकाग्रे दिवानिशम् ॥७॥
आरोहद्गुणनम्रेण रेजे सद्वंशजन्मना ।
शनैरापूर्यमाणेन वपुषा धनुषा च सः ॥८॥
पिता वत्सेश्वरश्चास्य विवाहादिमनोरथैः ।
आसन्नफलसम्पत्तिकान्तैः कालं निनाय तम् ॥९॥

मदनमंचुका नामक छठा लम्बक

(मंगल-श्लोक का अर्थ प्रथम लम्बक के प्रथम तरंग के प्रारम्भ में देखें ।)

प्रथम तरङ्ग

ऊपर उठते और नीचे झुकते हुए मस्तक से विघ्नों के समूह को मानों दूर करते हुए गजानन आपकी रक्षा करें ।।१।।

उस कामदेव को नमस्कार है, जिसके बाणों के प्रहार से, पार्वती द्वारा निरन्तर आलिंगित रहने पर भी शिवजी का शरीर सदा रोमांचित रहता है ।।२।।

विद्याधरों का चक्रवर्त्ती साम्राज्य प्राप्त करके अपने को एक तटस्थ व्यक्ति बनाकर नरवाहनदत्त ने वार्त्तालाप के प्रसंग में सपत्नीक महर्षियों के पूछने पर प्रारम्भ से लेकर जिस प्रकार अपना चरित्र वर्णन किया, अब उसे सुनो ।।३।।

पिता वत्सराज द्वारा पालन-पोषण किए जाते हुए नरवाहनदत्त ने अपनी बाल्यावस्था के आठ वर्ष व्यतीत किये ।।४।।

नरवाहनदत्त की युवावस्था

उस समय वह राजकुमार नरवाहनदत्त, मन्त्रियों के पुत्रों के साथ, विद्याओं की शिक्षा ग्रहण करता हुआ और उद्यानों में खेलता हुआ समय व्यतीत कर रहा था ।।५।।

रानी वासवदत्ता और रानी पद्मावती दोनों समान स्नेह से रात-दिन उसकी देख-भाल करती थीं ।।६।।

वह राजकुमार, आत्मा में प्राप्त होते हुए गुणों से नम्र, उच्च कुल में जन्म लेने के कारण तदनुरूप गौरवान्वित और धीरे-धीरे शरीर से तथा (धनुष-पक्ष में) चढ़ाई हुई प्रत्यंचा (गुण) से नम्र अच्छे बाँस से निर्मित और धीरे-धीरे चढ़ाये जाते हुए धनुष से, शोभित होने लगा ।।७-८।।

कुमार का पिता वत्सराज उदयन भी, शीघ्र ही फल देने के कारण मनोहर और आकर्षक उसके विवाह आदि मनोरथों से अपना समय व्यतीत कर रहा था ।।९।।

राज्ञः कलिङ्गदत्तस्य कथा

अत्रान्तरे कथासन्धौ यदभूत्तन्निशम्यताम् ।
आसीत्तक्षशिला[1] नाम वितस्तापुलिने पुरी ॥१०॥
तदम्भसि बभौ यस्याः प्रतिमा सौधसन्ततेः ।
पातालनगरीवाधस्तच्छोभालोकनागता ॥११॥
तस्यां कलिङ्गदत्ताख्यो राजा परमसौगतः ।
अभूत्ताराावरस्फीतजिनभक्ताखिलप्रजः[2] ॥१२॥
रराज सा पुरी यस्य चैत्यरत्नैर्निरन्तरे ।
मतुल्या नाम नास्तीति मदशृङ्गैरिवोदितैः ॥१३॥
प्रजानां न परं चक्रे यः पितेवानुपालनम् ।
यावद्गुरुरिव ज्ञानमपि स्वयमुपादिशत् ॥१४॥
तथा च तस्यां कोऽप्यासीन्नगर्यां सौगतो[3] वणिक् ।
धनी वितस्तादत्ताख्यो भिक्षुपूजैकतत्परः ॥१५॥
रत्नदत्ताभिधानश्च तस्याभूत्तनयो युवा ।
स च तं पितरं शश्वत्पाप इत्याजुगुप्सत ॥१६॥
पुत्र निन्दसि कस्मान्मामिति पित्रा च तेन सः ।
पृच्छ्यमानो वणिक्पुत्रः साभ्यसूयमभाषत ॥१७॥
तात त्यक्तत्रयी[4]धर्मस्त्वमधर्मं निषेवसे ।
यद् ब्राह्मणान् परित्यज्य श्रमणाञ्शश्वदर्चसि ॥१८॥
स्नानादियन्त्रणाहीनाः स्वकालाशनलोलुपाः ।
अपास्तसशिखाशेषकेशकौपीनसुस्थिताः ॥१९॥
विहारास्पदलोभाय सर्वेऽप्यधमजातयः ।
यमाश्रयन्ति किं तेन सौगतेन नयेन ते ॥२०॥

---

१. पश्चिमोत्तरसीमाप्रान्ते प्रसिद्धा तक्षशिला नगरी साम्प्रतं पाकिस्तानप्रदेशे स्थिता Taxila नाम्ना प्रसिद्धा । अस्या विषये परिशिष्टे विशदं विवेचितम् ।

२. तक्षशिलायां कदाचित् शैवधर्मस्य जैनधर्मस्य च प्रचुरः प्रचार आसीदित्यैतिहासिकानां मतम्, तत् परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

३. जिनधर्मानुयायीत्यर्थः ।

४. त्रयी—वेदत्रयी तत्प्रतिपादितो वैदिकधर्मः ।

राजा कलिंगदत्त की कथा

इसी बीच कथा की सन्धि में जो कुछ हुआ, उसे सुनो। वितस्ता (झेलम) नदी के किनारे तक्षशिला नाम की नगरी थी। उस नगरी के भवनों की छाया वितस्ता के जल में प्रतिबिम्बित होती थी ॥१०॥

उस प्रतिबिम्ब से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों तक्षशिला पुरी की शोभा निरखने के लिए पातालपुरी ऊपर उठकर आ रही हो ॥११॥

उस नगरी में सुगत (बुद्ध) का परम भक्त कलिंगदत्त नाम का राजा था, जिसकी सारी प्रजा जिनभक्त (जैन) थी ॥१२॥

वह नगरी, ऊँचे-ऊँचे अनेक विहारों से ऐसी प्रतीत होती थी, मानों ऊँचे शृंगों से यह घोषणा कर रही हो कि मेरे समान दूसरी नगरी संसार में नहीं है ॥१३॥

राजा कलिंगदत्त, पिता के समान प्रजा का केवल पालन ही नहीं करता था, प्रत्युत गुरु के समान स्वयं ज्ञान का उपदेश भी करता था ॥१४॥

उस नगरी में बौद्ध भिक्षुओं की पूजा में तत्पर वितस्तादत्त नाम का एक धनी वैश्य रहता था। उसका रत्नदत्त नामक एक युवा पुत्र था; जो अपने पिता को पापी कहकर उससे चिढ़ाता रहता था ॥१५–१६॥

'बेटा, मेरी निन्दा क्यों करते हो ?'—इस प्रकार पिता के पूछने पर पुत्र उसपर आक्षेप करता हुआ बोला—॥१७॥

'पिता, तुम वैदिक धर्म को छोड़कर अधर्म का सेवन करते हो। ब्राह्मणों को छोड़कर भिक्षुओं की सदा पूजा किया करते हो ॥१८॥

स्नान, शौच आदि से हीन और अपने समय पर भोजन के लोभी, शिखा और केशों को मुड़वाकर केवल कौपीन पहननेवाले तथा विहारों (मठों) में स्थान मिलने के लोभ से सभी नीच जाति के व्यक्ति जिस बौद्धधर्म का ग्रहण करते हैं, उससे हमारा क्या प्रयोजन ? ॥१९–२०॥

तच्छ्रुत्वा स वणिक्प्राह न धर्मस्यैकरूपता ।
अन्यो लोकोत्तरः पुत्र धर्मोऽन्यः सार्वलौकिकः ।।२१।।

ब्राह्मण्यमपि तत्प्राहुर्यद्रागादिविवर्जनम् ।
सत्यं दया च भूतेषु न मृषा जातिविग्रहः ।।२२।।

किं च दर्शनमेतत्त्वं सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ।
प्रायः पुरुषदोषेण न दूषयितुमर्हसि ।।२३।।

उपकारस्य धर्मत्वे विवादो नास्ति कस्यचित् ।
भूतेष्वभयदानेन नान्या चोपकृतिर्मम ।।२४।।

तदहिंसाप्रधानेऽस्मिन्वत्स मोक्षप्रदायिनि ।
दर्शनेऽतिरतिश्चेन्मे तदधर्मो ममात्र कः ।।२५।।

इति तेनोदितः पित्रा वणिक्पुत्रः प्रसह्य सः ।
न तथा प्रतिपेदे तन्निनिन्दाभ्यधिके पुनः ।।२६।।

ततः स तत्पिता खेदाद् गत्वा धर्मानुशासितुः ।
राज्ञः कलिङ्गदत्तस्य पुरतः सर्वमब्रवीत् ।।२७।।

सोऽपि राजा तमास्थाने युक्त्यानाय्य वणिक्सुतम् ।
मृषारचितकोपः सन्नेवं क्षत्तारमादिशत् ।।२८।।

श्रुतं मया वणिक्पुत्रः पापोऽयमतिदुष्कृती ।
निर्विचारं तदेषोऽद्य हन्यतां देशदूषकः ।।२९।।

इत्यूचिवांस्ततः पित्रा कृतविज्ञापनः किल ।
नृपतिर्धर्मचर्यार्थं द्वौ मासौ वधनिग्रहम् ।।३०।।

संविधार्य तदन्ते च पुनरानयनाय सः ।
तस्यैव तत्पितुर्हस्ते न्यस्तवांस्तं वणिक्सुतम् ।।३१।।

सोऽपि पित्रा गृहं नीतो वणिक्पुत्रो भयाकुलः ।
किं मयापकृतं राज्ञो भवेदिति विचिन्तयन् ।।३२।।

अकारणं द्विमासान्ते मरणं भावि भावयन् ।
अनिद्रोऽपचिताहारक्लान्तस्तस्थौ दिवानिशम् ।।३३।।

ततो मासद्वये याते राजाग्रे कृशपाण्डुरः ।
पुनः स्वपित्रा तेनासौ वणिक्सूनुरनीयत ।।३४।।

सुनकर वह कहने लगा—'बेटा ! धर्म का एक ही रूप नहीं है। सार्वलौकिक धर्म थक् है और पारलौकिक धर्म पृथक् ।।२१।।

ब्राह्मण-धर्म भी यही है कि रागद्वेषहीनता, सत्य, प्राणिमात्र पर दया करना और जाति-पाँति के झूठे झगड़ों से वह रहित हो ।।२२।।

सभी जीवों पर अभय प्रदान करनेवाले इस बौद्ध सिद्धान्त को तुम किसी एक पुरुष के दोष से दूषित नहीं कर सकते ।।२३।।

उपकार करना धर्म है, इसमें किसी का मतभेद नहीं है। प्राणियों को अभय प्रदान करने के अतिरिक्त और दूसरा कोई उपकार नहीं है, यह मेरा अपना विचार है ।।२४।।

इसलिए अहिंसा-प्रधान, मोक्षदायक इस सिद्धान्त में मेरा प्रेम है, तो यह कौन-सा अधर्म है' ।।२५।।

पिता के इस प्रकार कहने पर भी वैश्यपुत्र ने उसे स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत अधिक निन्दा करने लगा ।।२६।।

तब उसके पिता ने खिन्न होकर धर्म का उपदेश करनेवाले राजा के सामने सारी बातें कह दीं ।।२७।।

राजा ने भी किसी समय युक्ति से उस वैश्यपुत्र को सभा में बुलाकर झूठा क्रोध प्रदर्शित करते हुए आदेश दिया कि 'मैंने सुना है, यह बनिये का बालक, पापी और अति कुकर्मी है। इसलिए इस देशद्रोही को विना विचारे ही आज मार डालो' ।।२८–२९।।

ऐसा कहते हुए राजा से उसके पिता ने प्राणदान की प्रार्थना की और राजा ने दो मास तक उसे धर्माचरण के लिए निश्चित करके कहा कि 'इसके पश्चात् इसे फिर मेरे सम्मुख लाना', ऐसा कहकर उसके पिता को सौंप दिया ।।३०–३१।।

पिता से घर में लाया गया वह वैश्यपुत्र, प्राणों के भय से सोचने लगा कि 'मैंने राजा का कौन-सा अपराध किया है, जो वह मुझे दो महीनों बाद फाँसी का दण्ड देगा।' वह रात-दिन इसी सोच में नींद और भूख को भूलकर कुछ ही दिनों में अत्यन्त दुर्बल हो गया। दो महीने बीतने पर अत्यन्त दुर्बल और पीले पड़े हुए पुत्र को लेकर पिता, राजा के पास गया ।।३२–३४।।

राजा तं च तथाभूतं वीक्ष्यापन्नमभाषत ।
किमीदृक्त्वं कृशीभूतः किं रुद्धं ते मयाशनम् ।।३५।।
तच्छ्रुत्वा स वणिक्पुत्रो राजानं तमभाषत ।
आत्मापि विस्मृतो भीत्या मम का त्वशनं कथा ।।३६।।
युष्मदादिष्टनिधनश्रवणात् प्रभृति प्रभो ।
मृत्युमायान्तमायान्तमन्वहं चिन्तयाम्यहम् ।।३७।।
इत्युक्तवन्तं तं राजा स वणिक्पुत्रमब्रवीत् ।
बोधितोऽसि मया वत्स युक्त्या प्राणभयं स्वतः ।।३८।।
ईदृगेव हि सर्वस्य जन्तोर्मृत्युभयं भवेत् ।
तद्रक्षणोपकाराच्च धर्मः कोऽभ्यधिको वद ।।३९।।
तदेतत्तव धर्माय मुमुक्षायै च दर्शितम् ।
मृत्युभीतो हि यतते नरो मोक्षाय बुद्धिमान् ।।४०।।
अतो न गर्हणीयोऽयमेतद्धर्मा पिता त्वया ।
इति राजवचः श्रुत्वा प्रह्वोऽवादीद् वणिक्सुतः ।।४१।।
धर्मोपदेशाद्देवेन कृती तावदहं कृतः ।
मोक्षायेच्छा प्रजाता मे तमप्युपदिश प्रभो ।।४२।।
तच्छ्रुत्वा तं वणिक्पुत्रं प्राप्ते तत्र पुरोत्सवे ।
तैलपूर्णं करे पात्रं दत्वा राजा जगाद सः ।।४३।।
इदं पात्रं गृहीत्वा त्वमेहि भ्रान्त्वा पुरीमिमाम् ।
तैलबिन्दुनिपातश्च रक्षणीयस्त्वया सुत ।।४४।।
निपतिष्यति यद्येकस्तैलबिन्दुरितस्तव ।
सद्यो निपातयिष्यन्ति त्वामेते पुरुषास्ततः ।।४५।।
एवं किलोक्त्वा व्यसृजत्तं भ्रमाय वणिक्सुतम् ।
उत्खातखड्गान् पुरुषान् दत्वा पश्चात्स भूपतिः ।।४६।।
वणिक्पुत्रोपि स भयाद्रक्षंस्तैललवच्युतिम् ।
पुरीं तामभितो भ्रान्त्वा कृच्छ्रादागान्नृपान्तिकम् ।।४७।।
नृपोऽप्यगलितानीततैलं दृष्ट्वा तमभ्यधात् ।
कश्चित्पुरभ्रमेऽप्यद्य दृष्टोऽत्र भ्रमता त्वया ।।४८।।
तच्छ्रुत्वा स वणिक्पुत्रः प्रोवाच रचिताञ्जलिः ।
यत्सत्यं न मया देव दृष्टं किञ्चिन्न च श्रुतम् ।।४९।।

राजा ने इस प्रकार पीडित और दुर्बल वैश्यपुत्र को देखकर कहा—'तू इतना दुर्बल क्यों हो गया ? मैंने तेरा भोजन तो बन्द नहीं किया था' ।।३५।।

वैश्यपुत्र कहने लगा—'प्रभो ! आप द्वारा दी गई प्राणदण्ड की आज्ञा के समय से ही मैं भय के कारण अपनी आत्मा को भी भूल गया, भोजन की तो बात ही क्या ? प्रतिक्षण सिर पर मँडराती हुई मृत्यु को ही देखता हूँ' ।।३६-३७।।

ऐसा कहते हुए वैश्यपुत्र से राजा ने कहा—'बेटा, मैंने प्राणदण्ड का भय देकर तुझे युक्तिपूर्वक ज्ञान कराया ।।३८।।

इसी प्रकार, समस्त प्राणियों को मृत्यु का भय होता है। उसकी रक्षा के लिए उपकार से बढ़कर और धर्म क्या है ? ।।३९।।

मैंने तुझे धर्म और युक्ति का यही तत्त्व समझाने के लिए यह उपाय किया था; क्योंकि मृत्यु से डरा हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति, मुक्ति के लिए यत्न करता है ।।४०।।

इसलिए, इसी प्रकार का धर्म करनेवाले अपने पिता की तुम निन्दा न करना।' राजा की यह बात सुनकर नम्र वैश्यपुत्र ने कहा—।।४१।।

'आपने धर्म का उपदेश देकर मुझे कृतार्थ किया। अब मेरी इच्छा मुक्ति के लिए हो रही है। अतः, हे स्वामिन् उसका भी उपदेश दें' ।।४२।।

यह सुनकर राजा ने उत्सव (मेले) के दिनों में वैश्यपुत्र के हाथ में तेल से भरा एक बरतन देकर कहा—।।४३।।

'इस पात्र को लेकर तुम मेले के दिनों में सारी नगरी का भ्रमण करके आओ। लेकिन बेटा, इस बात का ध्यान रखना कि तेल की एक बूँद भी न गिरने पावे ।।४४।।

यदि इसमें से एक बूँद भी तेल गिरा, तो मेरे ये सिपाही तुम्हें मार डालेंगे' ।।४५।।

ऐसा कहकर राजा ने उसे नगरी का चक्कर लगाने के लिए छोड़ दिया और उसके पीछे नंगी तलवार लिए हुए सिपाही नियुक्त कर दिये ।।४६।।

वह वैश्यपुत्र भयपूर्वक अत्यन्त सावधानी से तेल की रक्षा करता हुआ बड़े ही कष्ट से सारी नगरी की प्रदक्षिणा करके लौट आया ।।४७।।

राजा ने भी विना एक बूँद तेल गिराये, तेलपात्र लेकर आये हुए वैश्यपुत्र से कहा—'क्या तुमने नगर में भ्रमण करते हुए किसी व्यक्ति या वस्तु को देखा ?'।।४८।।

यह सुनकर वैश्यपुत्र ने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज ! यह सच है कि भ्रमण करते हुए मैंने न किसी को देखा और न कुछ सुना ।।४९।।

अहं ह्येकावधानेन तैललेशपरिच्युतिम् ।
खड्गपातभयाद्रक्षंस्तदानीमभ्रमं पुरीम् ॥५०॥
एवं वणिक्सुतेनोक्ते स राजा निजगाद तम् ।
दृश्यतैलैकचित्तेन न त्वया किञ्चिदीक्षितम् ॥५१॥
तत्तेनैवावधानेन परानुध्यानमाचर ।
एकाग्रो हि बहिर्वृत्तिनिर्वृत्तस्तत्त्वमीक्षते ॥५२॥
दृष्टतत्त्वश्च न पुनः कर्मजालेन बध्यते ।
एष मोक्षोपदेशस्ते संक्षेपात्कथितो मया ॥५३॥
इत्युक्त्वा प्रहितो राज्ञा पतित्वा तस्य पादयोः ।
कृतार्थः स वणिक्पुत्रो हृष्टः पितृगृहं ययौ ॥५४॥
एवं कलिङ्गदत्तस्य प्रजास्तस्यानुशासतः ।
तारादत्ताभिधानाऽभूद्राज्ञी राज्ञः कुलोचिता ॥५५॥
यथा स राजा शुशुभे रीतिमत्या सुवृत्तया ।
नानादृष्टान्तरसिको भारत्या सुकविर्यथा ॥५६॥
या प्रकाशगुणश्लाघ्या ज्योत्स्नेव शशलक्ष्मणः ।
तस्यामृतमयस्याभूदविभिन्नैव भूपतेः ॥५७॥
तदा देव्या समं तत्र सुखिनस्तस्य तिष्ठतः ।
नृपस्य जग्मुर्दिवसाः शच्येव दिवि वज्रिणः ॥५८॥

सुरभिदत्ताप्सरसः कथा

अत्रान्तरे किलैतस्मिन् कथासन्धौ शतक्रतोः ।
कुतोऽपि हेतोस्त्रिदिवे वर्त्तते स्म महोत्सवः ॥५९॥
तत्राप्सरःसु सर्वासु नर्त्तितुं मिलितास्वपि ।
एका सुरभिदत्ताख्या नादृश्यत वराप्सराः ॥६०॥
प्रणिधानात्ततः शक्रस्तां ददर्श रहःस्थिताम् ।
विद्याधरेण केनापि सहितां नन्दनान्तरे ॥६१॥
तद्दृष्ट्वा जातकोपोऽन्तः स वृत्रारिरचिन्तयत् ।
अहो एतौ दुराचारौ मदनान्धावुभावपि ॥६२॥
एका यदाचरत्येव विस्मृत्यास्मान् स्वतन्त्रवत् ।
करोत्यविनयं चान्यो देवभूमौ प्रविश्य यत् ॥६३॥
अथवास्य वराकस्य दोषो विद्याधरस्य कः ।
आकृष्टो हि वशीकृत्य रूपेणायमिहानया ॥६४॥

भ्रमण करते समय मैं एकाग्र चित्त से गले पर तलवार गिरने के भय से तेल की ओर दृष्टि लगाये हुए उसे बचाने में तल्लीन था' ।।५०।।

वैश्यपुत्र के ऐसा कहने पर राजा ने कहा—'जिस प्रकार दीखते हुए भी, तेल पर दृष्टि गड़ाये हुए तुमने सारे भ्रमण में कुछ नहीं देखा, उसी प्रकार की तल्लीनता से तुम आत्मा के ध्यान में लग जाओ। आत्मा को एकाग्र वृत्ति से देखनेवाला व्यक्ति बाहरी वृत्तियों से हटकर आन्तरिक तत्त्व को देखता है ।।५१–५२।।

जिसे तत्त्व का ज्ञान हो जाता है, वह फिर कर्मजाल के बन्धन में नहीं बँधता। यह मैंने तुझे संक्षेप में मोक्ष का उपदेश कर दिया' ।।५३।।

इस प्रकार, राजा से उपदेश पाकर और उसके चरणों में गिरकर, प्रसन्नचित्त वह वैश्यपुत्र, अपने घर गया ।।५४।।

इस प्रकार, स्नेह से प्रजा का पालन करनेवाले उस राजा की तारादत्ता नाम की कुलीन रानी थी ।।५५।।

सच्चरित्र और सुन्दरी उस रानी से अनेक दृष्टान्तों का रसिक वह राजा इस प्रकार शोभित होता था, जिस प्रकार सुकवि भारती से शोभित होता है ।।५६।।

प्रकट होते हुए गुणों से सराहनीय वह रानी, अमृतमय उस राजा से उसी प्रकार अभिन्न थी, जैसे अमृतमय चन्द्रमा से चाँदनी अभिन्न होती है ।।५७।।

उस महारानी के साथ सुखपूर्वक रहते हुए उस राजा के दिन, इन्द्राणी के साथ रहते हुए इन्द्र के समान, व्यतीत होने लगे ।।५८।।

सुरभिदत्ता अप्सरा की कथा

इसी कथा की सन्धि में, स्वर्ग में इन्द्र के यहाँ एक महोत्सव हुआ। उस महोत्सव में वेश्याओं के सभी वर्गों के सम्मिलित होने पर भी, सुरभिदत्ता नाम की वेश्या वहाँ नहीं दीख पड़ी ।।५९-६०।।

इन्द्र ने योगबल द्वारा उसे किसी विद्याधर के साथ नन्दन-वन में क्रीडा करते हुए देखा ।।६१।।

यह देखकर मन में क्रुद्ध इन्द्र ने सोचा कि ये दोनों कामान्ध दुराचारी हैं। एक अप्सरा तो हमें भूलकर उद्दण्डता कर रही है, दूसरा यह विद्याधर भी इस देवभूमि में आकर यह जो अविनय कर रहा है, यह आश्चर्य है ।।६२-६३।।

अथवा इस बेचारे विद्याधर का क्या दोष है? इसे तो यही वेश्या अपने रूपजाल में फँसाकर ले आई है ।।६४।।

कान्तयान्तः किलापूर्णतुङ्गस्तनतटान्तया ।
लावण्याम्बुतरङ्गिण्या हृतः स्यादात्मनः प्रभुः ॥६५॥
चुक्षुभे किं न शर्वोऽपि पुरा दृष्ट्वा तिलोत्तमाम् ।
धात्रा गृहीत्वा रचितामुत्तमेभ्यस्तिलं तिलम् ॥६६॥
तपश्च मेनकां दृष्ट्वा विश्वामित्रो न किं जहौ ।
शर्मिष्ठा रूपलोभाच्च ययातिर्नाप्तवान् जराम् ॥६७॥
अतो विद्याधरयुवा नैवायमपराध्यति ।
त्रिजगत्क्षोभशक्तेन रूपेणाप्सरसा हृतः ॥६८॥
इयं तु स्ववधूः पापा हीनासक्तापराधिनी ।
प्रवेशितः सुरान् हित्वा ययायमिह नन्दने ॥६९॥
इत्यालोच्य विमुच्यैनं विद्याधरकुमारकम् ।
अहल्याकामुकः[1] सोऽस्यै शापमप्सरसे ददौ ॥७०॥
पापे प्रयाहि मानुष्यं प्राप्य चायोनिजां सुताम् ।
दिव्यं कृत्वा च कर्त्तव्यमेष्यसि द्यामिमामिति ॥७१॥
अत्रान्तरे च सा तस्य राज्ञः तक्षशिलापुरि ।
राज्ञी कलिङ्गदत्तस्य तारादत्ता ययावृतुम् ॥७२॥
तस्याः सुरभिदत्ता सा शक्रशापच्युताप्सराः ।
सम्बभूवोदरे देव्या देहसौन्दर्यदायिनी ॥७३॥
तदा च नभसो भ्रष्टां ज्वालां देवी ददर्श सा ।
तारादत्ता किल स्वप्ने प्रविशन्तीं निजोदरे ॥७४॥
प्रातश्चावर्णयत्स्वप्नं भर्त्रे तं सा सविस्मया ।
राज्ञे कलिङ्गदत्ताय सोऽपि प्रीतो जगाद ताम् ॥७५॥
देवि दिव्याः पतन्त्येव शापान्मानुष्ययोनिषु ।
तज्जाने देवजातीयः कोऽपि गर्भे तवार्पितः ॥७६॥
विचित्रसदसत्कर्मनिबद्धाः सञ्चरन्ति हि ।
जन्तवस्त्रिजगत्यस्मिन् शुभाशुभफलाप्तये ॥७७॥

---

१. स्वयमहल्याकामुकोऽपि सुरभिदत्तां शशापेति व्यङ्ग्यगर्भविशेषणम् ।

उभरे हुए स्तनरूपी तटोंवाली एवं लावण्य-जल से भरपूर रमणी-नदी से बहाया गया कौन व्यक्ति, अपने नियन्त्रण में रह सकता है ? ।।६५।।

क्या, पूर्व समय में तिलोत्तमा को देखकर शिवाजी क्षुब्ध नहीं हो गये थे, जिसे विधाता ने सभी सुन्दर वस्तुओं के कण-कण एकत्र करके निर्मित किया था ? ।।६६।।

क्या, मेनका को देखकर विश्वामित्र ने तप करना नहीं छोड़ दिया था ? क्या, शर्मिष्ठा के रूप के लोभ से ययाति ने वृद्धावस्था नहीं प्राप्त की थी ? ।।६७।।

इसलिए यहाँ, इस विषय में यह विद्याधर-युवक अपराधीन ही है; क्योंकि अप्सरा ने अपने तीनों लोकों को वश में करनेवाले रूप से इसे मोहित कर लिया ।।६८।।

हीन जाति में आसक्त यह स्वर्गीया रमणी पापिनी है, जिसने देवताओं का त्याग कर इस नन्दन-वन में प्रविष्ट किया ।।६९।।

ऐसा सोचने के पश्चात् विद्याधर-युवक को छोड़कर अहल्या के प्रेमी[1] (जार) इन्द्र ने उस अप्सरा को शाप दिया ।।७०।।

'पापिन् ! तू मनुष्य-योनि में जाकर, उसमें अयोनिजा कन्या को प्राप्त करके, दिव्य कर्त्तव्य करने के पश्चात् फिर स्वर्ग में आयगी' ।।७१।।

इसी समय, तक्षशिला के राजा कलिंगदत्त की रानी तारादत्त ऋतुमती हुई। उसी रानी के गर्भ में इन्द्र के शाप से पतित सुरभिदत्ता स्वर्गांगना ने प्रवेश और निवास किया ।।७२–७३।।

उस समय रानी तारादत्ता ने स्वप्न में देखा कि आकाश से एक ज्वाला उसके पेट में प्रवेश कर रही है ।।७४।।

प्रातःकाल रानी ने आश्चर्य के साथ पति को स्वप्न की घटना सुनाई, सुनने पर राजा ने प्रसन्न होकर कहा ।।७५।।

'देवि, दिव्यलोक-वासी, शाप के कारण मनुष्यलोक में गिरते हैं। इसीलिए मैं, समझता हूँ कि कोई देवजातीय प्राणी तुम्हारे गर्भ में आया है ।।७६।।

इन तीनों लोकों में अच्छे और बुरे भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी अपने कर्मों के अनुसार शुभ और अशुभ फल प्राप्त करने के लिए चलते रहते हैं' ।।७७।।

---

१. अहल्या के प्रेमी—यह विशेषण इन्द्र के लिए व्यंग्य है ।

इत्युक्ता भूभृता राज्ञी सा प्रसङ्गादुवाच तम् ।
सत्यं कर्मैव बलवद् भोगदायि शुभाशुभम् ॥७८॥
तथा चेदमुपोद्घातं श्रुतं वच्म्यत्र ते शृणु ।

राज्ञो धर्मदत्तस्य कथा

अभवद्धर्मदत्ताख्यः कौशलाधिपतिर्नृपः ॥७९॥
नागश्रीरिति तस्यासीद्राज्ञी या पतिदेवता ।
भूमावरुन्धती ख्याता रुन्धत्यपि सतीधुरम् ॥८०॥
काले गच्छति तस्यां च देव्यां तस्य च भूपतेः ।
अहमेषा समुत्पन्ना दुहिताहितसूदन ॥८१॥
ततो मय्यतिबालायां देव सा जननी मम ।
अकस्मात्पूर्वजातिं स्वां स्मृत्वा स्वपतिमब्रवीत् ॥८२॥
राजन्नकाण्ड एवाद्य पूर्वजन्म स्मृतं मया ।
अप्रीत्यै तदनाख्यातमाख्यातं मृतये च मे ॥८३॥
अशङ्कितं स्मृता जातिः स्यादाख्यातैव मृत्यवे ।
इति ह्याहुरतो देव मय्यतीव विषादिता ॥८४॥
इत्युक्तः स तया पत्न्या राजा तां प्रत्यभाषत ।
प्रिये मयापि प्राग्जन्म त्वयेव सहसा स्मृतम् ॥८५॥
तन्ममाचक्ष्व तावत्त्वं कथयिष्याम्यहं च ते ।
यदस्तु कोऽन्यथाकर्तुं शक्तो हि भवितव्यताम् ॥८६॥
इति सा प्रेरिता तेन भर्त्रा राज्ञी जगाद तम् ।
निर्बन्धो यदि ते राजन् शृणु तर्हि वदाम्यहम् ॥८७॥
इहैव देशे विप्रस्य माधवाख्यस्य कस्यचित् ।
गृहेऽहमभवं दासी सुवृत्ता पूर्वजन्मनि ॥८८॥
देवदासाभिधानश्च पतिरत्र ममाभवत् ।
कस्याप्येकस्य वणिजः साधुः कर्मकरो गृहे ॥८९॥
तावावामवसावात्र कृत्वा गेहं निजोचितम् ।
स्वस्वस्वामिगृहानीतपक्वान्नकृतवर्त्तनौ ॥९०॥
वारिधानी च कुम्भश्च मार्जनी मञ्चकस्तथा ।
अहं च मत्पतिश्चेति युग्मत्रितयमेव नौ[1] ॥९१॥

---

1. वारिधानी कुम्भश्चेति एकं युग्मम्, मार्जनी मञ्चकश्चेति द्वितीयम्, अहं पतिश्चेति तृतीयम् ।

राजा के इस प्रकार कहने पर रानी ने प्रसंगतः कहा—'क्या यह सत्य है कि शुभ या अशुभ का भोग देनेवाला कर्म ही है' ।।७८।।

इस विषय की भूमिका के रूप में रानी ने राजा से कहा, मैं इस प्रसंग की सुनी हुई एक कहानी तुम्हें सुनाती हूँ, सुनो—

राजा धर्मदत्त की कथा

कोशल-देश का एक राजा था। उसका नाम धर्मदत्त था। उसकी नागश्री नाम की पतिव्रता रानी थी। सतियों के भार को रोके हुए भी (रुन्धती) वह पृथ्वी पर अरुन्धती नाम से विख्यात हुई। कुछ समय के पश्चात् उस रानी के गर्भ से उस राजा की मैं पुत्री उत्पन्न हुई ।।७९—८१।।

एक बार जब मैं बहुत छोटी थी, तब मेरी माता ने अकस्मात् अपने पूर्वजन्म की जाति का स्मरण करके अपने पति से कहा—।।८२।।

'राजन् ! मैंने आज अकस्मात् ही पूर्वजन्म का स्मरण किया है। यदि मैं उसे आपसे न कहूँ, तो प्रेम के विरुद्ध है और यदि कहूँ, तो मेरी मृत्यु होती है ।।८३।।

कहते हैं कि यदि पूर्वजन्म की स्मृति बिना किसी शंका के हो जाय, तो उसका कहना मृत्यु के लिए होता है। इसलिए मुझे बहुत खेद है' ।।८४।।

पत्नी द्वारा इस प्रकार कहे गये राजा ने उससे कहा—'प्रिये ! मैंने भी तुम्हारे ही समान सहसा अपना पूर्वजन्म-स्मरण कर लिया है। इसलिए, तू मुझसे कह दे और मैं भी तुझसे कह देता हूँ। जो होना होगा, होगा। भवितव्यता को कौन लौटा सकता है।।८५-८६।।

इस प्रकार, पति से प्रेरित होकर रानी ने कहा—'राजन् ! सुनो, कहती हूँ—पूर्वजन्म में इसी (कोशल) देश में, मैं माधव नामक किसी ब्राह्मण की सदाचारिणी दासी थी। देवदास नाम का मेरा पति था। वह सज्जन किसी वैश्य के घर में नौकर था।।८७—८९।।

इस प्रकार, हम दोनों, अपने अनुरूप घर बनाकर, अपने-अपने स्वामियों (मालिकों) के घरों से लाये हुए पक्वान्नों से जीवन-निर्वाह किया करते थे ।।९०।।

पानी का एक मटका (घड़ा), झाड़, चारपाई, मैं और मेरा पति— ये तीन जोड़ियाँ हमारे घर में थीं ।।९१।।

अकलिप्रसरे[१] गेहे सन्तोषः सुखिनोरभूत् ।
देवपित्रतिथिप्रत्तशेषं प्रमितमश्नतोः ॥९२॥
एकैकतोऽधिकं किञ्चिद्यदाच्छादनमप्यभूत् ।
सुदुर्गताय कस्मैचित्तदावाभ्यामदीयत ॥९३॥
अथात्रोदभवत्तीव्रो दुर्भिक्षस्तेन चावयोः ।
भृत्यन्नमन्वहं प्राप्यमल्पमल्पमुपानमत् ॥९४॥
ततः क्षुत्क्षामवपुषोः शनैर्नाववसीदतोः ।
कदाचिदागादाहारकाले क्लान्तोऽतिथिर्द्विजः ॥९५॥
तस्मै निःशेषभावाभ्यां द्वाभ्यामपि निजाशनम् ।
प्राणसंशयकालेऽपि दत्तं यावच्च यच्च तत् ॥९६॥
भुक्त्वा तस्मिन्गते प्राणा भर्त्तारं मे तमत्यजन् ।
अर्थिन्यस्यादरो नास्मास्विति मन्युवशादिव ॥९७॥
ततश्चाहं समाधाय पत्ये समुचितां चिताम् ।
आरूढा चावरूढश्च विपद्भारो ममात्मनः ॥९८॥
अथ राजगृहे जाता जाताहं महिषी तव ।
अचिन्त्यं हि फलं सूते सद्यः सुकृतपादपः ॥९९॥
इत्युक्तः स तया राजा धर्मदत्तो नृपोऽब्रवीत् ।
एहि प्रिये स एवाहं पूर्वजन्मपतिस्तव ॥१००॥
वणिक्कर्मकरोऽभूवं देवदासोऽहमेव सः ।
एतदेव मयाप्यद्य प्राक्तनं जन्म हि स्मृतम् ॥१०१॥
इत्युक्त्वा स्वान्यभिज्ञानान्युदीर्य स तया सह ।
देव्या विषण्णो हृष्टश्च राजा सद्यो दिवं गतः ॥१०२॥
एवं तयोश्च मत्पित्रोर्लोकान्तरमुपेयुषोः ।
मातुः स्वसा वर्द्धयितुं माभनैषीन्निजं गृहम् ॥१०३॥
कन्यायां मयि चाभ्यागादेकस्तत्रातिथिर्मुनिः ।
मातृस्वसा च मां तस्य शुश्रूषायै समादिशत् ॥१०४॥
स च कुन्त्यैव दुर्वासा यत्नेनाराधितो मया ।
तद्वराच्च मया प्राप्तो धार्मिकस्त्वं पतिः प्रभो ॥१०५॥

---
१. परस्परकलहाविरहिते, सुखिनि ।

कलह-रहित होकर इस घर में हम दोनों अत्यन्त सुखी थे और देवता, पितर तथा अतिथि को देकर बचे हुए परिमित अन्न को हम लोग खाया करते थे ॥६२॥

हम दोनों की आवश्यकता से अधिक भोजन-आच्छादन आदि जो भी होता था; उसे हम किसी दीन-दुःखी को दे देते थे ॥६३॥

कुछ समय के अनन्तर उस देश में एक बार अकाल पड़ गया। इस कारण हम दोनों को मिलनेवाला भोजन अब कम मात्रा में मिलने लगा ॥६४॥

तब भूख-प्यास से व्याकुल और अन्न की कमी से कष्ट पाते हुए हम लोगों के भोजन के समय कोई थका हुआ ब्राह्मण अतिथि घर में आ गया ॥६५॥

फलतः, इस भीषण प्राण-संकट के समय में भी हम दोनों ने अपना भोजन उसे दे दिया ॥६६॥

उस अतिथि के खाकर चले जाने पर प्राणों ने मेरे पति को इसलिए छोड़ दिया, मानों 'उसका अतिथि के प्रति विशेष आदर था, मेरे प्रति नहीं' —अर्थात् मेरा पति क्षुधा से पीड़ित होकर परलोक सिधार गया ॥६७॥

तब मैं पति की चिता लगाकर सती होने के लिए उस पर चढ़ गई और मेरी विपत्ति का भार उतर गया ॥६८॥

तदनन्तर, मैं इस जन्म में राजा के घर महारानी होकर तुम्हारी पत्नी बनी। पुण्य का वृक्ष, तुरन्त ही अचिन्तनीय फल प्रदान करता है ॥६९॥

रानी के इस प्रकार कहने पर राजा ने कहा—आओ प्रिये! मैं वही तुम्हारे पूर्वजन्म का पति देवदास हूँ। मैंने भी आज ही अपना पूर्वजन्म स्मरण किया है ॥१००–१०१॥

ऐसा कहकर और अपने पूर्वजन्म के संस्मरण उसे बताकर प्राणहीन राजा उस देवी के साथ ही स्वर्ग को चला गया ॥१०२॥

इस प्रकार, मेरे माता-पिता द्वारा दूसरे लोक में चले जाने पर मेरी माता की बहन, मौसी मेरा पालन-पोषण करने के लिए मुझे अपने घर ले गई ॥१०३॥

जब मैं कुमारी अवस्था में ही थी, तब वहाँ एक मुनि अतिथि के रूप में आया और मेरी मौसी ने मुझे उसकी सेवा के लिए आदेश दिया ॥१०४॥

कुन्ती द्वारा दुर्वासा के समान मेरे द्वारा यत्न से सेवा करने पर, प्रसन्न मुनि के वर-प्रदान से मैंने तुम्हारे जैसे धार्मिक पति को प्राप्त किया ॥१०५॥

एवं भवन्ति भद्राणि धर्मादेव यदादरात् ।
पितृभ्यां सह सम्प्राप्य राज्यं जातिरपि स्मृता ॥१०६॥

एतत्स तारादत्ताया देव्याः श्रुत्वा वचो नृपः ।
कलिङ्गदत्तो धर्मैकसादरो निजगाद ताम् ॥१०७॥

सत्यं सम्यक्कृतोऽल्पोऽपि धर्मो भूरिफलो भवेत् ।
तथा च प्राक्तनीं देवि सप्तद्विजकथां शृणु ॥१०८॥

सप्तब्राह्मणकथा

कुण्डिनाख्ये पुरे पूर्वमुपाध्यायस्य कस्यचित् ।
ब्राह्मणस्याभवञ्छिष्याः सप्तब्राह्मणपुत्रकाः ॥१०९॥

स ताञ्शिष्यानुपाध्यायो धेनुं दुर्भिक्षदोषतः ।
गोमतः श्वशुरादेकां याचितुं प्राहिणोत्ततः ॥११०॥

ते च गत्यान्यदेशस्थं दुर्भिक्षक्षामकुक्षयः ।
तं तद्गिरा तच्छ्वशुरं तच्छिष्या गां ययाचिरे ॥१११॥

सोऽपि वृत्तिकरीमेकां धेनुं तेभ्यः समर्पयत् ।
कृपणः क्षुधितेभ्योऽपि न तु तेभ्योऽशनं ददौ ॥११२॥

ततस्ते तां गृहीत्वा गामायान्तोऽर्द्धपथे क्षुधा ।
उद्गाढपीडिताः क्लान्ता निपेतुर्धरणीतले ॥११३॥

उपाध्यायगृहं दूरं दूरे चापद्गता वयम् ।
दुर्लभं सर्वतश्चान्नं तत्प्राणैर्गतमेव नः ॥११४॥

एवं च धेनुरप्येषा निस्तोयवनमानुषे ।
अरण्येऽस्मिन्विपन्नैव गुर्वर्थोऽल्पोऽपि कस्ततः ॥११५॥

तदस्याः पिशितैः प्राणान्सन्धार्याशु गुरूनपि ।
सम्भावयामस्तच्छेषैरापत्कालो हि वर्त्तते ॥११६॥

इति सम्मन्त्र्य सप्तापि जघ्नुः सब्रह्मचारिणः ।
शास्त्रोक्तविधिना धेनुं तां पशूकृत्य तत्र ते ॥११७॥

इष्ट्वा देवान् पितृन्भुक्त्वा तन्मांसं विधिवच्च तत् ।
जग्मुरादाय तच्छेषमुपाध्यायस्य चान्तिकम् ॥११८॥

तस्मै प्रणम्य सर्वं ते शशंसुस्तद्यथाकृतम् ।
स तेभ्यः सापराधेभ्योऽप्यतुष्यत्सत्यभाषणात् ॥११९॥

इस प्रकार, धर्म का आदर करने से ऐसे शुभ फल प्राप्त होते हैं। इसीलिए, मैंने माता-पिता के साथ राज्य प्राप्त करके पूर्वजन्म का भी स्मरण किया ।।१०६।।

इस प्रकार, रानी तारादत्ता की बातें सुनकर धर्मप्राण राजा कलिंगदत्त ने कहा—'यह सच है। भली भाँति किया गया थोड़ा भी धर्म महान् फल देनेवाला होता है। इस सम्बन्ध में सात ब्राह्मणों की एक कथा सुनाता हूँ, सुनो ।।१०७-१०८।।

सात ब्राह्मणों की कथा

कुण्डिनपुर नामक नगर में किसी उपाध्याय (अध्यापक) ब्राह्मण के सात ब्राह्मणपुत्र शिष्य थे ।।१०९।।

एक बार, दुर्भिक्ष पड़ने पर, उस अध्यापक ने उन सातों शिष्यों को अनेक गायोंवाले अपने श्वशुर से एक गाय माँगने के लिए अपनी ससुराल भेजा ।।११०।।

दुर्भिक्ष से सूखे पेटवाले उन सातों शिष्यों ने गुरु के कथनानुसार उसके श्वशुर से जाकर गाय माँगी ।।१११।।

उस कृपण और बुभुक्षित श्वशुर ने अपनी जीविका की आधारभूत उस एक गाय को उन्हें दे दिया; किन्तु उन्हें भोजन के लिए नहीं पूछा ।।११२।।

वे सातों शिष्य, गाय को लेकर आते हुए मार्ग में भूख की गहरी वेदना से थककर भूमि पर गिर गये ।।११३।।

और, यह सोचने लगे, 'गुरुजी का घर दूर है, इधर हमलोग गम्भीर विपत्ति से विवश हैं। अन्न सभी ओर दुर्लभ है। अतः, अब हमारे प्राण गये ।।११४।।

'इस प्रकार, यह अकेली गाय बिना घास-पानी और मनुष्य के इस जंगल में मरती है। इसके मरने से गुरुजी का छोटा-सा कार्य भी सिद्ध न हो सकेगा ।।११५।।

इसलिए, इस गाय के मांस से अपने प्राणों को बचाकर बचे हुए मांस से गुरुजी की भी प्राण-रक्षा की जाय; क्योंकि यह आपत्ति-काल है ।।११६।।

ऐसा सोचकर उन सातों सहपाठियों ने शास्त्रविधि के अनुसार गाय को पशु बनाकर मार खाया और बचा हुआ मांस लेकर गुरुजी के समीप गये ।।११७-११८।।

गुरुजी को प्रणाम करके उन्होंने मार्ग का सारा समाचार सुनाया। अपराध करके भी सत्य बोलने के कारण गुरुजी ने उन्हें क्षमा प्रदान की ।।११९।।

दिनैः सप्तापि दुर्भिक्षदोषात्ते च विपेदिरे ।
जातिस्मराश्च भूयोऽपि तेन सत्येन जज्ञिरे ॥१२०॥
इत्थं फलति शुद्धेन सिक्तं सङ्कल्पवारिणा ।
पुण्यबीजमपि स्वल्पं पुंसां कृषिकृतामिव ॥१२१॥
तदेव दूषितं देवि दुष्टसङ्कल्पपाथसा ।
फलत्यनिष्टमत्रेदं वच्म्यन्यदपि तच्छृणु ॥१२२॥

ब्राह्मणचाण्डालयोः कथा

गङ्गायां तुल्यकालौ द्वौ तपस्यनशने जनौ ।
एको विप्रो द्वितीयश्च चण्डालस्तस्थतुः पुरा ॥१२३॥
तयोर्विप्रः क्षुधाक्रान्तो निषादान् वीक्ष्य तत्रगान् ।
मत्स्यानादाय भुञ्जानानेवं मूढो व्यचिन्तयत् ॥१२४॥
अहो दास्याः सुता एते धन्या जगति धीवराः ।
ये यथाकाममश्नन्ति प्रत्यहं शफरामिषम् ॥१२५॥
द्वितीयस्तु स चाण्डालो दृष्ट्वा तानेव धीवरान् ।
अचिन्तयद्धिगस्त्वेतान् क्रव्यादान् प्राणिघातिनः ॥१२६॥
तत्किमेवं स्थितस्येह दृष्टैरेषां मुखैर्मम ।
इति सम्मील्य नेत्रे स तत्रासीत्स्वात्मनि स्थितः ॥१२७॥
क्रमाच्चानशनेनोभौ विपन्नौ तौ द्विजान्त्यजौ ।
द्विजस्तत्र श्वभिर्भुक्तः शीर्णो गङ्गाजलेऽन्त्यजः ॥१२८॥
ततोऽकृतात्मा कैवर्त्तकुल एवात्र स द्विजः ।
अभ्यजायत तीर्थस्य गुणाज्जातिस्मरस्त्वभूत् ॥१२९॥
चण्डालोऽपि स तत्रैव गङ्गातीरे महीभुजः ।
गृहे जातिस्मरो जज्ञे धीरोऽनुपहतात्मकः ॥१३०॥
जातयोश्च तयोरेवं प्राग्जन्म स्मरतोर्द्वयोः ।
एकोऽनुतेपे दासः सन् राजा सन् मुमुदे परः ॥१३१॥
इति धर्मतरोर्मूलमशुद्धं यस्य मानसम् ।
शुद्धं यस्य च तद्रूपं फलं तस्य न संशयः ॥१३२॥
इत्येतदुक्त्वा देवीं तां तारादत्तां स भूपतिः ।
कलिङ्गदत्तः पुनरप्युवाचैनां प्रसङ्गतः ॥१३३॥

कुछ दिनों में अकाल के कारण सातों शिष्य मर गये, किन्तु सत्य-भाषण के प्रभाव से वे पूर्वजन्म का स्मरण करते थे ।।१२०।।

इसी प्रकार किसानों के समान, पुण्यात्माओं का छोटा-सा बीज भी, शुद्ध संकल्प के जल से सींचा जाकर अच्छा फल देता है ।।१२१।।

वही दुष्ट भावना से दूषित होकर अनिष्ट फल देता है। इस प्रसंग में एक कथा सुनो ।।१२२।।

एक ब्राह्मण और एक चाण्डाल की कथा

प्राचीन समय, माघ के महीने में एक ब्राह्मण और एक चाण्डाल एक साथ अनशन करके तपस्या कर रहे थे। एक बार भूखे ब्राह्मण ने गंगातट पर मछलियाँ पकड़कर खाते हुए धीवरों को देखकर सोचा कि ये दुष्ट धीवर संसार में धन्य हैं; जो प्रतिदिन ताजी-ताजी मछलियाँ निकालकर यथेष्ट भोजन करते हैं ।।१२३–१२५।।

दूसरे चाण्डाल ने, उन्हीं धीवरों को देखकर सोचा कि इन मांसाहारी प्राणिहिंसक धीवरों को धिक्कार है। इसलिए, ऐसे दुष्टों का मुँह देखसे से क्या लाभ ? ऐसा सोचकर और आँखें बन्द करके वह आत्मचिन्तन करने लगा ।।१२६–१२७।।

अनशन के कारण क्रमशः वे दोनों ब्राह्मण और चाण्डाल गलकर मर गये। उनमें ब्राह्मण को तो कुत्ते खा गये और वह चाण्डाल गंगाजल में ही मर गया ।।१२८।।

मरने पर, दुष्ट भावना के कारण वह असफल ब्राह्मण, धीवरों के कुल में ही उत्पन्न हुआ। किन्तु, तप के प्रभाव से उसे पूर्वजन्म का स्मरण रहा ।।१२९।।

धैर्यशाली तत्त्वज्ञानी चाण्डाल, राजा के घर में जन्म लेकर जातिस्मर बना रहा। अर्थात्, उसे अपने पूर्वजन्म की जाति का भी स्मरण रहा ।।१३०।।

इस प्रकार, पूर्वजन्म को स्मरण करते हुए उन दोनों में एक दास (धीवर) होकर अत्यन्त दुःखी और दूसरा राजा होकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।।१३१।।

इस प्रकार धर्मवृक्ष का मूल—मन, जिसका शुद्ध है या अशुद्ध है, उसको उसी प्रकार का फल मिलता है ।।१३२।।

राजा कलिंगदत्त रानी तारादत्ता को कथा सुनाकर इसी प्रसंग में और भी इस प्रकार कहने लगा—।।१३३।।

किञ्च सत्त्वाधिकं कर्म देवि यन्नाम यादृशम् ।
फलाय तद्यतः सत्त्वमनुधावन्ति सम्पदः ॥१३४॥
तथा च कथयाम्यत्र शृणु चित्रामिमां कथाम् ।

राज्ञो विक्रमसिंहस्य द्वयोर्ब्राह्मणयोश्च कथा

अस्तीह भुवनख्यातावन्तीषूज्जयिनी पुरी ॥१३५॥
राजते सितहर्म्यैर्या महाकालनिवासभूः ।
तत्सेवारससम्प्राप्तकैलासशिखरैरिव ॥१३६॥
सच्चक्रवर्त्तिपानीयः प्रविशद्वाहिनीशतः ।
यदाभोगोऽब्धिगम्भीरः सपक्षक्ष्माभृदाश्रितः ॥१३७॥
तस्यां विक्रमसिंहाख्यो बभूवान्वर्थयाख्यया ।
राजा वैरिमृगा यस्य नैवासन्सम्मुखाः क्वचित् ॥१३८॥
स च निष्प्रतिपक्षत्वादनाप्तसमरोत्सवः ।
अस्त्रेषु बाहुवीर्ये च सावज्ञोऽन्तरतप्यत ॥१३९॥
अथ सोऽमरगुप्तेन तदभिप्रायवेदिना ।
कथान्तरे प्रसङ्गेन मन्त्रिणा जगदे नृपः ॥१४०॥
देव दोर्दण्डदर्पेण शस्त्रविद्यामदेन च ।
आशंसतामपि रिपून् राज्ञां दोषो न दुर्लभः ॥१४१॥
तथा च पूर्वं बाणेन युद्धयोग्यमरिं हरः ।
दर्पाद् भुजसहस्रस्य तावदाराध्य याचितः ॥१४२॥
यावत्प्राप्ततथाभूततद्वरः स मुरारिणा ।
दैवेन वैरिणा संख्ये लूनबाहुवनः कृतः ॥१४३॥
तस्मात्त्वयापि कर्त्तव्यो नासन्तोषो युधं विना ।
कांक्षणीयो न चानिष्टो विपक्षोऽपि कदाचन ॥१४४॥
शस्त्रशिक्षा स्ववीर्यं च दर्शनीयं तवेह चेत् ।
योग्यभूमावटव्यां तन्मृगयायां च दर्शय ॥१४५॥
राज्ञां चाखेटकमपि व्यायामादिकृते मतम् ।
युद्धाध्वनि न शस्यन्ते राजानो ह्यकृतश्रमाः ॥१४६॥
आरण्याश्च मृगा दुष्टाः शून्यमिच्छन्ति मेदिनीम् ।
तेन ते नृपतेर्वध्या इत्यप्याखेटमिष्यते ॥१४७॥

देवि, और भी बात है। जो काम जिस प्रकार के आत्मबल से युक्त होता है, उसका फल भी उसी के अनुसार होता है; क्योंकि सम्पत्तियाँ सत्त्व (मनोबल) का अनुसरण करती हैं ॥१३४॥

इस सम्बन्ध में तुमको एक अद्भुत कथा सुनाता हूँ।

राजा विक्रमसिंह और दो ब्राह्मणों की कथा

इस देश में संसार-प्रसिद्ध उज्जयिनी नाम की एक नगरी है ॥१३५॥

वह नगरी, महाकाल की निवासभूमि है, जिसमें मानों शिवजी की सेवा के लिए आये हुए कैलास-शिखरों के समान ऊँचे-ऊँचे श्वेत भवन सुशोभित हैं ॥१३६॥

समुद्र के समान गम्भीर उस नगरी का विस्तार चक्रवर्त्ती-रूपी जल से भरा रहता है। सेना-रूपी सैकड़ों नदियाँ उसमें सदा बहती रहती हैं। अपने पक्षवाले महीधरों (पर्वतों और राजाओं) का वह आश्रय-स्थान है। उसी नगरी में विक्रमसिंह नाम का यथार्थ नामवाला राजा राज्य करता था। उसके सम्मुख कहीं भी शत्रु-रूपी मृग नहीं थे ॥१३७-१३८॥

शत्रुओं के अभाव के कारण उसे कभी युद्ध-उत्सव का अवसर नहीं मिला था। इसीलिए, अस्त्र और बाहुयुद्ध में उसकी आस्था न थी। इस कारण वह मन-ही-मन दुःखी रहता था ॥१३९॥

एक बार वार्त्तालाप के प्रसंग में राजा के मनोभाव जानने के विचार से उसके मन्त्री अमरगुप्त ने उससे कहा ॥१४०॥

महाराज ! अपनी भुजाओं के बल के घमण्ड से और शस्त्र-विद्या की जानकारी के मद से शत्रुओं की प्रशंसा करनेवाले राजाओं को दोष-दुर्लभ नहीं कहा जा सकता, अर्थात् विपत्ति आ सकती है। जिस प्रकार बाणासुर ने अपनी हजार भुजाओं के घमण्ड से, शिवजी की आराधना करके उनसे युद्ध करने योग्य शत्रु का वर माँगा था ॥१४१-१४२॥

फलतः, उसी प्रकार का वर न पाकर उसने शत्रु के रूप में विष्णु को प्राप्त किया और विष्णु ने युद्ध में उसकी सभी भुजाओं को काट डाला ॥१४३॥

इसलिए, तुम्हें भी युद्ध के विना असन्तोष नहीं करना चाहिए। अनिष्टकारी प्रबल शत्रु की आकांक्षा भी न करनी चाहिए ॥१४४॥

यदि तुम्हें युद्धविद्या और शस्त्र-चातुरी दिखानी हो, तो उसके योग्य भूमि—वन में शिकार पर दिखाओ ॥१४५॥

इसीलिए व्यायाम, लक्ष्यवेध (निशानेबाजी) और शस्त्रों के अभ्यास आदि के निमित्त ही राजाओं के लिए शिकार का विधान किया गया है। विना अभ्यास के राजा लोग युद्ध में सफल नहीं होते ॥१४६॥

जंगली हिंस्र जन्तु, पृथ्वी को प्राणियों से सूनी कर देना चाहते हैं। इसलिए, वे राजाओं द्वारा मारे जाने योग्य हैं। इसलिए भी शिकार करना आवश्यक होता है ॥१४७॥

न चाति ते निषेव्यन्ते तत्सेवाव्यसनेन हि ।
गता नृपतयः पूर्वमपि पाण्डवादयः क्षयम् ॥१४८॥

इत्युक्तोऽमरगुप्तेन मन्त्रिणा स सुमेधसा ।
राजा विक्रमसिंहोऽत्र तथेति तदमन्यत ॥१४९॥

अन्येद्युश्चाश्वपादातसारमेयमयीं भुवम् ।
विचित्रवागुरोच्छ्रायमयीश्च सकला दिशः ॥१५०॥

सहर्षमृगयुग्राममनिनादमयमम्बरम् ।
कुर्वन्स मृगयाहेतोर्नगर्या निर्ययौ नृपः ॥१५१॥

निर्गच्छन् गजपृष्ठस्थो बाह्ये शून्ये सुरालये ।
पुरुषौ द्वावपश्यच्च विजने सहितस्थितौ ॥१५२॥

स्वैरं मन्त्रयमाणौ च मिथः किमपि तावुभौ ।
दूरात्स तर्कयन् राजा जगाम मृगयावनम् ॥१५३॥

तत्र प्रोत्खातखड्गेषु वृद्धव्याघ्रेषु च व्यधात् ।
तोषं स सिंहनादेषु भूभागेषु नगेषु च ॥१५४॥

तां स विक्रमबीजाभैर्महीं तस्तार मौक्तिकैः ।
सिंहानां हस्तिहन्तॄणां निहतानां नखच्युतैः ॥१५५॥

तिर्यञ्चस्तिर्यगेवास्य पेतुर्वक्रप्लुता मृगाः ।
लघु निर्भिद्य तान्पूर्वं हर्षं प्रापदवक्रगः ॥१५६॥

कृताखेटश्च सुचिरं राजासौ श्रान्तसेवकः ।
आगाच्छिथिलितज्येन चापेनोज्जयिनीं पुनः ॥१५७॥

तस्यां देवकुले तस्मिंस्तावत्कालं तथैव तौ ।
स्थितौ ददर्श पुरुषौ निर्गच्छन्यौ स दृष्टवान् ॥१५८॥

कावेतौ मन्त्रयेते च किंस्विदेवमियच्चिरम् ।
नूनं चाराविमौ दीर्घरहस्यालापसेविनौ ॥१५९॥

इत्यालोच्य प्रतीहारं विसृज्यानाययत्स तौ ।
पुरुषौ द्वाववष्टभ्य राजा बद्धौ चकार च ॥१६०॥

द्वितीयेऽह्नि चास्थानं तावानाय्य स पृष्टवान् ।
कौ युवां सुचिरं कश्च मन्त्रस्तावान्स वामिति ॥१६१॥

ततस्तयोः स्वयं राज्ञा तत्र पर्यनुयुक्तयोः ।
याचिताभययोरेको युवा वक्तुं प्रचक्रमे ॥१६२॥

श्रूयतां वर्णयाम्येतद्यथावदधुना प्रभो ।
अभूत्करभको नाम विप्रोऽस्यामेव वः पुरि ॥१६३॥

हाँ, आखेट का अधिक सेवन भी हानिकारक होता है। इसके अधिक सेवन या व्यसन से ही पाण्डु आदि पूर्व राजाओं का विनाश हुआ है ॥१४८॥

इस प्रकार, बुद्धिमान् मन्त्री अमरगुप्त द्वारा कहे गये राजा विक्रमसिंह ने उसे स्वीकार किया ॥१४९॥

दूसरे दिन ही वह राजा पृथ्वी को घुड़सवार, पैदल सिपाही और शिकारी कुत्तों से, दिशाओं को विचित्र जालों और मचानों से एवं आकाश को प्रसन्नचित्त बहेलियों के शब्दों से भरता हुआ, शिकार के लिए नगरी (उज्जयिनी) से बाहर निकला ॥१५०-१५१॥

हाथी पर बैठकर जाते हुए उस राजा ने, नगर के बाहर सूने शिवालय में एक साथ एकान्त में खड़े दो मनुष्यों को देखा ॥१५२॥

वे दोनों आपस में कुछ मन्त्रणा करते हुए-से खड़े थे। उन पर दूर से ही सन्देह करता हुआ राजा आखेट-वन (शिकारगाह) में गया ॥१५३॥

वहाँ जाकर राजा ने तलवार से काटे हुए बूढ़े बाघों तथा सिंहों के गर्जनों से पूरित जंगली स्थानों और पहाड़ों में सन्तोष प्रकट किया ॥१५४॥

राजा ने हाथियों को मारनेवाले सिंहों के नखों से गिरे हुए पराक्रम के बीजों के समान मोतियों से सारी जंगली भूमि भर दी ॥१५५॥

टेढ़े-टेढ़े उछलनेवाले मृग, उससे तिरछे भाग रहे थे। किन्तु, राजा विना टेढ़ा हुए ही उन्हें शीघ्रता से बींधता हुआ अपनी शस्त्रविद्या पर हर्ष प्रकट करता था ॥१५६॥

बहुत समय तक आखेट करके श्रान्त सेवकों के साथ, डोरी उतार डाले गये धनुष को लेकर वह राजा उज्जयिनी को लौटा ॥१५७॥

लौटते हुए उसने उसी देवमन्दिर में इतने समय तक उसी प्रकार खड़े-खड़े बातें करते हुए उन दोनों मनुष्यों को फिर से देखा, जिन्हें जाते समय देखा था ॥१५८॥

ये दोनों कौन हैं और इतने समय तक क्या मन्त्रणा कर रहे हैं, इतनी लम्बी और गुप्त मन्त्रणा करनेवाले ये अवश्य ही कोई गुप्तचर होंगे ॥१५९॥

ऐसा सोचकर और द्वारपाल को भेजकर राजा ने दोनों को पकड़वाकर बँधवा दिया। तदनन्तर, दूसरे दिन उन्हें दरबार में बुलाकर पूछा—'तुम कौन हो। और, इतने लम्बे समय तक वहाँ क्या मन्त्रणा करते रहे?' ॥१६०-१६१॥

उन दोनों के अभय-प्रार्थना करने पर एक युवक इस प्रकार कहने लगा— 'सुनिए, महाराज! आपकी इसी नगरी में करभक नाम का एक ब्राह्मण रहता था ॥१६२-१६३॥

तस्य प्रवीरपुत्रेच्छाकृताग्न्याराधनोद्भवः ।
अहमेष महाराज वेदविद्याविदः सुतः ॥१६४॥
तस्मिश्च भार्यानुगते पितरि स्वर्गते शिशुः ।
अधीतविद्योऽप्यानाथ्यात्स्वमार्गं त्यक्तवानहम् ॥१६५॥
प्रवृत्तश्चाभवं द्यूतं शस्त्रविद्याश्च सेवितुम् ।
कस्य नोच्छृङ्खलं बाल्यं गुरुशासनवर्जितम् ॥१६६॥
तेन क्रमेण चोत्तीर्णे शैशवे जातदोर्मदः ।
अटवीमेकदा बाणानहं क्षेप्तुं गतोऽभवम् ॥१६७॥
तावत्तन पथा चैका नगर्या निर्गता वधूः ।
अगात्कर्णीरथारूढा जन्यैर्बहुभिरन्विता ॥१६८॥
अकस्माच्च तदैवात्र करी त्रोटितशृङ्खलः ।
कुतोऽप्यागत्य तामेव वधूमभ्यापतन्मदात् ॥१६९॥
तद्भयेन च सर्वेऽपि त्यक्त्वा तामनुयायिनः ।
तद्भर्त्रापि सह क्लीबाः पलाय्येतस्ततो गताः ॥१७०॥
तद्दृष्ट्वा सहसैवाहं ससम्भ्रममचिन्तयम् ।
हा कथं कातरैरेभिस्त्यक्तैकेयं तपस्विनी ॥१७१॥
तदहं वारणादस्माद्रक्षाम्यशरणामिमाम् ।
आपन्नत्राणविकलैः किं प्राणैः पौरुषेण वा ॥१७२॥
इत्यहं मुक्तनादस्तं गजेन्द्रं प्रति धावितः ।
गजोऽपि तां स्त्रियं हित्वा स मामेवाभ्यदुद्रुवत् ॥१७३॥
ततोऽहं भीतया नार्या वीक्ष्यमाणस्तया नदन् ।
पलायमानश्च गजं तं दूरमपकृष्टवान् ॥१७४॥
क्रमात्पत्रघनां भग्नां प्राप्य शाखां महातरोः ।
आत्मानं च तयाच्छाद्य तरुमध्यमगामहम् ॥१७५॥
तत्राग्रे स्थापयित्वा तां शाखां तिर्यक्सुलाघवात् ।
पलायितोऽहं हस्ती च स तां शाखामचूर्णयत् ॥१७६॥
ततोऽहं योषितस्तस्याः समीपगमनं द्रुतम् ।
शरीरकुशलं चैतामपृच्छमिह भीषिताम् ॥१७७॥
सापि मां वीक्ष्य दुःखार्त्ता सहर्षा चावदत्तदा ।
किं मे कुशलमेतस्मै दत्ता कापुरुषाय या ॥१७८॥
ईदृशे सङ्कटे यो मां त्यक्त्वा क्वापि गतः प्रभो ।
एतत्तु कुशलं यत्त्वमक्षतः पुनरीक्षितः ॥१७९॥

उसने एक महावीर पुत्र की प्राप्ति के लिए अग्नि-देवता की आराधना की। उसी वेदविद्याविशारद ब्राह्मण का मैं पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१६४॥

पत्नी के साथ मेरे पिता के स्वर्ग चले जाने पर शिशु-काल में ही मैंने विद्याध्ययन तो किया, किन्तु अनाथ होने के कारण अपना मार्ग त्याग दिया ॥१६५॥

मैं द्यूत और शस्त्र-विद्या का अभ्यास करने लगा। सच है, गुरुजनों के शासन से रहित किसकी बाल्यावस्था, उच्छृंखल नहीं हो जाती ॥१६६॥

क्रमशः बाल्यावस्था बीतने पर युवास्था में भुजबल के मद से मत्त होकर बाणों को छोड़ने के लिए मैं एक बार जंगल में गया ॥१६७॥

उस समय रथ पर बैठी हुई और बहुत-से बरातियों से घिरी हुई एक नई वधू नगरी से निकली ॥१६८॥

इतने में ही मैंने देखा, एकाएक बिगड़ा हुआ एक हाथी, सीकड़ तोड़कर कहीं से आकर उस वधू पर आक्रमण करने लगा। हाथी के डर से उसके सभी पुरुषार्थ-हीन साथी उसके पति के साथ इधर-उधर भाग गये ॥१६९॥-१७०॥

यह देखकर घबराये हुए मैंने सोचा—'ओह, इन कायरों ने इस वधू को कैसे सर्वथा असहाय और अकेले ही छोड़ दिया' ॥१७१॥

तो मैं अब इस हाथी से इस अशरणा की रक्षा करता हूँ। विपद्ग्रस्त की रक्षा से हीन प्राणों से या पराक्रम से लाभ ही क्या है ॥१७२॥

ऐसा सोचकर मैंने हाथी को ललकारा ! हाथी भी उस स्त्री को छोड़कर मेरी ओर भागता हुआ आया ॥१७३॥

उस डरी हुई वधू से देखा जाता हुआ और शब्द करता हुआ मैं हाथी को दूर तक दौड़ाता हुआ ले गया ॥१७४॥

इस प्रकार, दौड़ते हुए मुझे मार्ग में घने पत्तोंवाली टूटी हुई एक वृक्ष की शाखा मिली। मैंने अपने को उसी में छिपा लिया और धीरे-धीरे छिपकर वृक्षों और पत्तों के झुरमुट में चला गया ॥१७५॥

उस शाखा को मैंने खूब होशियारी से तिरछी करके पेड़ के आगे रख दिया और मैं भाग गया। पीछे से दौड़कर आते हुए हाथी ने उस शाखा को क्रोध से रौंद डाला ॥१७६॥

हाथी के चले जाने पर मैं उस भयभीत स्त्री के पास आया और उससे मैंने उसके शरीर का कुशल पूछा ॥१७७॥

वह मुझे देखकर दुःखित और हर्षित दोनों भाव प्रकट करती हुई बोली—'क्या कुशल पूछते हो ? मुझे ऐसे एक कायर मानव को दिया गया, जो मुझे ऐसे प्राण-संकट में छोड़कर कहीं भाग गया। कुशल यही है कि तुम्हें मैंने विना किसी क्षत (घाव) के पुनः देखा ॥१७८–१७९॥

तस्य प्रवीरपुत्रेच्छाकृताग्न्याराधनोद्भवः ।
अहमेष महाराज वेदविद्याविदः सुतः ॥१६४॥
तस्मिश्च भार्यानुगते पितरि स्वर्गते शिशुः ।
अधीतविद्योऽप्यानाथ्यात्स्वमार्गं त्यक्तवानहम् ॥१६५॥
प्रवृत्तश्चाभवं द्यूतं शस्त्रविद्याश्च सेवितुम् ।
कस्य नोच्छृङ्खलं बाल्यं गुरुशासनवर्जितम् ॥१६६॥
तेन क्रमेण चोत्तीर्णे शैशवे जातदोर्मदः ।
अटवीमेकदा बाणानहं क्षेप्तुं गतोऽभवम् ॥१६७॥
तावत्तेन पथा चैका नगर्या निर्गता वधूः ।
अगात्कर्णीरथारूढा जन्यैर्बहुभिरन्विता ॥१६८॥
अकस्माच्च तदैवात्र करी त्रोटितशृङ्खलः ।
कुतोऽप्यागत्य तामेव वधूमभ्यापतन्मदात् ॥१६९॥
तद्भयेन च सर्वेऽपि त्यक्त्वा तामनुयायिनः ।
तद्भर्त्रापि सह क्लीबाः पलाय्येतस्ततो गताः ॥१७०॥
तद्दृष्ट्वा सहसैवाहं ससम्भ्रममचिन्तयम् ।
हा कथं कातरैरेभिस्त्यक्तैकेयं तपस्विनी ॥१७१॥
तदहं वारणादस्माद्रक्षाम्यशरणामिमाम् ।
आपन्नत्राणविकलैः किं प्राणैः पौरुषेण वा ॥१७२॥
इत्यहं मुक्तनादस्तं गजेन्द्रं प्रति धावितः ।
गजोऽपि तां स्त्रियं हित्वा स मामेवाभ्यदुद्रुवत् ॥१७३॥
ततोऽहं भीतया नार्या वीक्ष्यमाणस्तया नदन् ।
पलायमानश्च गजं तं दूरमपकृष्टवान् ॥१७४॥
क्रमात्पत्रघनां भग्नां प्राप्य शाखां महातरोः ।
आत्मानं च तयाच्छाद्य तरुमध्यमगामहम् ॥१७५॥
तत्राग्रे स्थापयित्वा तां शाखां तिर्यक्सुलाघवात् ।
पलायितोऽहं हस्ती च स तां शाखामचूर्णयत् ॥१७६॥
ततोऽहं योषितस्तस्याः समीपगमनं द्रुतम् ।
शरीरकुशलं चैतामपृच्छमिह भीषिताम् ॥१७७॥
सापि मां वीक्ष्य दुःखार्त्ता सहर्षा चावदत्तदा ।
किं मे कुशलमेतस्मै दत्ता कापुरुषाय या ॥१७८॥
ईदृशे सङ्कटे यो मां त्यक्त्वा क्वापि गतः प्रभो ।
एतत्तु कुशलं यत्त्वमक्षतः पुनरीक्षितः ॥१७९॥

तन्मे स कतमो भर्त्ता त्वमिदानीं पतिर्मम ।
येनात्मनिरपेक्षेण हृता मृत्युमुखादहम् ॥१८०॥

स चैव दृश्यते भृत्यैः सहागच्छन्पतिर्मम ।
अतः स्वैरं त्वमस्माकं पश्चादागच्छ साम्प्रतम् ॥१८१॥

लब्धेऽन्तरे हि मिलिता यास्यामो यत्र कुत्रचित् ।
एवं तयोक्तस्तदहं तथेति प्रतिपन्नवान् ॥१८२॥

सुरूपाप्यर्पितात्मापि परस्त्रीयं किमेतया ।
इति धैर्यस्य मार्गोऽयं न तारुण्यस्य सङ्गिनः ॥१८३॥

क्षणादेत्य च सा भर्त्रा बाला सम्भाविता सती ।
तेन साकं सभृत्येन गन्तुं प्रावर्त्तत क्रमात् ॥१८४॥

अहं च गुप्ततद्दत्तपाथेयः परवर्त्मना ।
पश्चादलक्षितस्तस्य दूरमध्वानमभ्यगाम् ॥१८५॥

सा च हस्तिभयभ्रष्टभङ्गाङ्गजनितां रुजम् ।
पथि मिथ्या वदन्ती तं पतिं स्पर्शेऽप्यवर्जयत् ॥१८६॥

कस्य रक्तोन्मुखी गाढरूढान्तर्विषदुःसहा ।
तिष्ठेदनपकृत्य स्त्री भुजगीव विकारिता ॥१८७॥

क्रमाच्च लोहनगरं प्राप्ताः स्मस्ते पुरं वयम् ।
वणिज्याजीविनो यत्र भर्त्तुस्तस्या गृहं स्त्रियाः ॥१८८॥

स्थिताः स्मस्तदहश्चात्र सर्वे बाह्ये सुरालये ।
तत्र सम्मिलितश्चैव द्वितीयो ब्राह्मणः सखा ॥१८९॥

नवेऽपि दर्शनेऽन्योन्यमाश्वासः समभूच्च नौ ।
चित्तं जानाति जन्तूनां प्रेम जन्मान्तरार्जितम् ॥१९०॥

ततो रहस्यमात्मीयं सर्वमस्मै मयोदितम् ।
तद्बुद्ध्वैव तदा स्वैरं मामेवमयमब्रवीत् ॥१९१॥

तूष्णीं भवास्त्युपायोऽत्र यत्कृते त्वमिहागतः ।
एतस्या भर्त्तृभगिनी विद्यतेऽत्र वणिक्स्त्रियाः ॥१९२॥

गृहीतार्था मया साकमितः सा गन्तुमुद्यता ।
तत्करिष्ये तदीयेन साहाय्येन तवेप्सितम् ॥१९३॥

इसलिए वह मेरा पति नहीं हो सकता है। अब तुम्हीं मेरे भर्त्ता हो, जिसने अपने जीवन की चिन्ता न करके मुझे मृत्यु-मुख से निकाला ॥१८०॥

वह मेरा पति नौकरों के साथ आ रहा है। अब तुम भी हमारे पीछे धीरे-धीरे आओ। अवसर मिलने पर जहाँ कहीं भी चले जायगे।' उसके इस प्रस्ताव को मैंने स्वीकार कर लिया ॥१८१—१८२॥

'वह सुन्दरी है और मुझे आत्मसमर्पण कर चुकी है। फिर भी, उस परकीया स्त्री से क्या प्रयोजन ?'—यह तो धैर्य का मार्ग है, यौवन का नहीं ॥१८३॥

कुछ ही देर में आकर पति द्वारा आश्वस्त की गई वह बाला उसके और उसके भृत्यों के साथ आगे-आगे चलने लगी ॥१८४॥

उस स्त्री द्वारा गुप्त रूप से दिये गये मार्ग-भोजन को लिया हुआ म भी उसके पीछे छिप-छिपकर दूरतक चला गया ॥१८५॥

उस स्त्री ने हाथी के भय से भागने पर टूटे हुए शरीर की पीड़ा के बहाने मार्ग में उस पति को अपने शरीर पर हाथ भी नहीं रखने दिया ॥१८६॥

सच है, अनुरक्त और आकृष्ट, गाढ़ी अन्तर्वेदना के दुःख से दुःसह और बिगड़ी हुई स्त्री सर्पिणी के समान किसका अपकार किये विना रह सकती है ? ॥१८७॥

क्रमशः चलते हुए हम लोग लोहनगर नामक पुर में पहुँचे, जहाँपर व्यापार से जीविका करनेवाले उस स्त्री के पति का घर था ॥१८८॥

उस दिन हमलोग नगर के बाहर एक देव-मन्दिर में ठहर गये। वहीं पर मुझे यह दूसरा मित्र ब्राह्मण मिला ॥१८९॥

हमलोगों की उस नवीन और प्रथम परिचय में ही परस्पर परम विश्वास और प्रेम उत्पन्न हो गया। सच है, प्राणियों का चित्त पूर्वजन्म के संचित प्रेम को भली भाँति समझ लेता है ॥१९०॥

तब मैंने अपना सारा रहस्य इसे बता दिया। यह सब सुन लेने के पश्चात् इसने मुझे धीरे से कहा—'चुप रहो। जिसलिए तुम यहाँ आये हो, उसका उपाय है। इस बनिये की स्त्री की ननद यहाँ है। वह धन लेकार मेरे साथ यहाँ से भागनेवाली है। उसी की सहायता से तुम्हारा काम सिद्ध करूँगा' ॥१९१—१९३॥

इत्युक्त्वा मामयं विप्रो गत्वा तस्यास्तदा रहः ।
वणिग्वधू ननान्दुस्तद्यथावस्तु न्यवेदयत् ॥१९४॥
अन्येद्युः कृतसंविच्च सा ननान्दा समेत्य ताम् ।
प्रावेशयद् भ्रातृजायां तत्र देवगृहान्तरे ॥१९५॥
तत्रान्तःस्थितयोर्नौ च मध्यादेतं तदैव सा ।
मित्रं मे भ्रातृजायायास्तस्या वेषमकारयत् ॥१९६॥
कृततद्वेषमेनं च गृहीत्वा नगरान्तरम् ।
भ्रात्रा सहाविशद् गेहं कृत्वा नः कार्यसंविदम् ॥१९७॥
अहं च निर्गत्य ततस्तया पुरुषवेषया ।
वणिग्वध्वा समं प्राप्तः क्रमेणोज्जयिनीमिमाम् ॥१९८॥
तन्ननान्दा च सा रात्रौ तदहः सोत्सवात्ततः ।
मत्तसुप्तजनाद् गेहादनेन सह निर्गता ॥१९९॥
ततश्चायं गृहीत्वा तां विप्रच्छन्नैः प्रयाणकैः ।
आगतो नगरीमेतामथावां मिलिताविह ॥२००॥
इत्यावाभ्यामुभे भार्ये प्राप्ते प्रत्यग्रयौवने ।
ननान्दृभ्रातृजाये ते स्वानुरागसमर्पिते ॥२०१॥
अतो निवासे सर्वत्र देव शङ्कामहे वयम् ।
कस्याश्वसिति चेतो हि विहितस्वैरसाहसम् ॥२०२॥
तदवस्थानहेतोश्च वित्तार्थं च रहश्चिरम् ।
आवां मन्त्रयमाणौ ह्यो दृष्टौ देवेन दूरतः ॥२०३॥
दृष्ट्वानाय्य च संयम्य स्थापितौ चारशङ्कया ।
अद्य पृष्टौ च वृत्तान्तं स चैष कथितो मया ॥२०४॥
देवः प्रभवतीदानीमित्यनेनोदिते तदा ।
राजा विक्रमसिंहस्तौ विप्रौ द्वावप्यभाषत ॥२०५॥
तुष्टोऽस्मि वां भयं माभूदिहैव पुरि तिष्ठतम् ।
अहमेव च दास्यामि पर्याप्तं युवयोर्धनम् ॥२०६॥
इत्युक्त्वा स ददौ राजा यथेष्टं जीवनं तयोः ।
तौ च भार्यान्वितौ तस्य निकटे तस्थतुः सुखम् ॥२०७॥

इत्थं क्रियासु निवसन्त्यपि यासु तासु
पुंसां श्रियः प्रबलसत्त्वबहिष्कृतासु ।
एवं च साहसधनेष्वथ बुद्धिमत्सु
सन्तुष्य दाननिरताः क्षितिपा भवन्ति ॥२०८॥

इत्युक्त्वा मामयं विप्रो गत्वा तस्यास्तदा रहः ।
वणिग्वधू ननान्दुस्तद्यथावस्तु न्यवेदयत् ॥१९४॥
अन्येद्युः कृतसंविच्च सा ननान्दा समेत्य ताम् ।
प्रावेशयद् भ्रातृजायां तत्र देवगृहान्तरे ॥१९५॥
तत्रान्तःस्थितयोर्नौ च मध्यादेतं तदैव सा ।
मित्रं मे भ्रातृजायायास्तस्या वेषमकारयत् ॥१९६॥
कृततद्वेषमेनं च गृहीत्वा नगरान्तरम् ।
भ्रात्रा सहाविशद् गेहं कृत्वा नः कार्यसंविदम् ॥१९७॥
अहं च निर्गत्य ततस्तया पुरुषवेषया ।
वणिग्वध्वा समं प्राप्तः क्रमेणोज्जयिनीमिमाम् ॥१९८॥
तन्ननान्दा च सा रात्रौ तदहः सोत्सवात्ततः ।
मत्तसुप्तजनाद् गेहादनेन सह निर्गता ॥१९९॥
ततश्चायं गृहीत्वा तां विप्रच्छन्नैः प्रयाणकैः ।
आगतो नगरीमेतामथावां मिलिताविह ॥२००॥
इत्यावाभ्यामुभे भार्ये प्राप्ते प्रत्यग्रयौवने ।
ननान्दृभ्रातृजाये ते स्वानुरागसमर्पिते ॥२०१॥
अतो निवासे सर्वत्र देव शङ्कामहे वयम् ।
कस्याश्वसिति चेतो हि विहितस्वैरसाहसम् ॥२०२॥
तदवस्थानहेतोश्च वित्तार्थे च रहश्चिरम् ।
आवां मन्त्रयमाणौ ह्यो दृष्टौ देवेन दूरतः ॥२०३॥
दृष्ट्वानाय्य च संयम्य स्थापितौ चारशङ्कया ।
अद्य पृष्टौ च वृत्तान्तं स चैष कथितो मया ॥२०४॥
देवः प्रभवतीदानीमित्यनेनोदिते तदा ।
राजा विक्रमसिंहस्तौ विप्रौ द्वावप्यभाषत ॥२०५॥
तुष्टोऽस्मि वां भयं माभूदिहैव पुरि तिष्ठतम् ।
अहमेव च दास्यामि पर्याप्तं युवयोर्धनम् ॥२०६॥
इत्युक्त्वा स ददौ राजा यथेष्टं जीवनं तयोः ।
तौ च भार्यान्वितौ तस्य निकटे तस्थतुः सुखम् ॥२०७॥
इत्थं क्रियासु निवसन्त्यपि यासु तासु
पुंसां श्रियः प्रबलसत्त्वबहिष्कृतासु ।
एवं च साहसधनेष्वथ बुद्धिमत्सु
सन्तुष्य दाननिरताः क्षितिपा भवन्ति ॥२०८॥

ऐसा कहकर यह ब्राह्मण मुझे ले गया और बनिये की स्त्री की ननद, अर्थात् उसकी बहिन को इसने सब सच्चा समाचार सुना दिया ॥१९४॥

दूसरे दिन, सम्मति करके बनिये की उस बहिन ने अपनी भाभी (नववधू) के साथ एक देव-मन्दिर में प्रवेश किया। मन्दिर के भीतर पहले से ही प्रविष्ट हम दोनों में से उसने मेरे मित्र को भाभी का वेष धारण कराया और उसी वेष में उसे भाई के घर ले गई। मैं उस पुरुष-वेष में स्थित वणिक् की वधू के साथ मन्दिर से निकलकर क्रमशः उज्जैन आ गया ॥१९५—१९८॥

उसकी ननद भी घर में विवाहोत्सव के कारण लोगों के मद्यपान करके सो जाने पर उसके साथ रात में निकल भागी और यहाँ आने पर हम दोनों मिले ॥१९९—२००॥

इस प्रकार हम दोनों ने, नवयौवना और स्वयं प्रेम से आसक्त ननद-भाभी को प्राप्त किया ॥२०१॥

महाराज, अब हम दोनों निवास के लिए प्रत्येक स्थान पर शंका कर रहे हैं। ऐसा गुप्त साहस करने पर भला किसका चित्त शान्त रह सकता है? ॥२०२॥

अतः, रहने के स्थान और धन कमाने के उपाय सोचते हुए हम दोनों को दूर से आपने देखा ॥२०३॥

तदनन्तर, गुप्तचर के सन्देह से आपने हम दोनों को पकड़वाकर बँधवा दिया। आज आपके पूछने पर सारा समाचार हमने स्पष्ट रूप से आपसे कह दिया। अब महाराज की जो इच्छा हो। ऐसा कहने पर राजा विक्रमसिंह ने दोनों से कहा—'मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। भय मत करो। इसी नगर में रहो। मैं ही तुम को पर्याप्त धन दूँगा' ॥२०४—२०६॥

ऐसा कहकर राजा ने उनको पर्याप्त जीविका दे दी। तदनन्तर, वे दोनों अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ यहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥२०७॥

इस प्रकार उच्च महात्माओं से बहिष्कृत एवंविध क्रियाओं में भी पुरुषों को सफलता प्राप्त होती है। और, साहस करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषों पर प्रसन्न होकर राजा इस प्रकार दानी हो सकता है ॥२०८॥

इत्यैहिकेन च पुराविहितेन चापि
स्वेनैव कर्मविभवेन शुभाशुभेन ।
शश्वद् भवेत्तदनुरूपविचित्रभोगः
सर्वो हि नाम ससुरासुर एष सर्गः ॥२०९॥
तत्स्वप्नवृत्तनिभतो नभसश्च्युता या
ज्वाला त्वयान्तरुदरं विशतीह दृष्टा ।
सा कापि देवि सुरजातिरसंशयं ते
गर्भं कुतोऽपि खलु कर्मवशात्प्रपन्ना ॥२१०॥
इति निजभर्त्तुर्वदनाच्छ्रुत्वा नृपतेः कलिङ्गदत्तस्य ।
देवी तारादत्ता प्राप सगर्भा परं प्रमदम् ॥२११॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके प्रथमस्तरङ्गः ।

द्वितीयस्तरङ्गः

कलिङ्गसेनाया जन्मकथा

ततः कलिङ्गदत्तस्य राज्ञो गर्भभरालसा ।
राज्ञी तक्षशिलायां सा तारादत्ता शनैरभूत् ॥१॥
उदेष्यच्चन्द्रलेखां च प्राचीमनुचकार सा ।
आसन्नप्रसवा पाण्डुमुखी तरलतारका ॥२॥
जज्ञे च तस्या नचिरादनन्यसदृशी सुता ।
वेधसः सर्वसौन्दर्यसर्गवर्णकसन्निभा ॥३॥
ईदृक्पुत्रो न किं जात इतीव स्नेहशालिनः ।
रक्षाप्रदीपास्तत्कान्तिजिता विच्छायतां ययुः ॥४॥
पिता कलिङ्गदत्तश्च जातां तां तादृशीमपि ।
दृष्ट्वा तद्रूपपुत्राशावैफल्यविमना अभूत् ॥५॥
दिव्यां तामपि सम्भाव्य स पुत्रेच्छुरदूयत ।
शोककन्दः क्व कन्या हि क्वानन्दः कायवान्सुतः ॥६॥
ततश्चेतोविनोदाय खिन्नो निर्गत्य मन्दिरात् ।
ययौ नानाजिनाकारं विहारं स महीपतिः ॥७॥
तत्रैकदेशे शुश्राव धर्मपाठकभिक्षुणा ।
जनमध्योपविष्टेन कथ्यमानमिदं वचः ॥८॥

इस जन्म या पूर्वजन्म के किये हुए अपने ही अच्छे-बुरे कर्मों के प्रभाव से सुरों और असुरों-सहित समस्त संसार कर्मानुसार विचित्र भोगों का भोग करता है ।।२०६।।

अतः, तुमने स्वप्न में आकाश से गिरती हुई ज्वाला को जो पेट में प्रवेश करती हुई देखा है, हे रानी ! वह निस्सन्देह, कोई देव-जाति का प्राणी अपने कर्मवश कहीं से प्राप्त हुआ है ।।२१०।।

अपने पति राजा कलिंगदत्त के मुँह से यह सुनकर गर्भवती रानी तारादत्ता परम हर्षित हुई ।।२११।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-रचित कथासरित्सागर
के मदनमंचुका लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त ।

दूसरा तरंग

कलिंगसेना के जन्म की कथा

तदनन्तर, तक्षशिला नगरी में राजा कलिंगदत्त की रानी तारादत्ता गर्भ-भार से धीरे-धीरे अलसाने लगी ।।१।।

प्रसव-काल के समीप आने पर पीले मुखवाली और चंचल नेत्र-तारों (पुतलियों) से आकर्षक रानी, उदीयमान चन्द्रलेखावाली पूर्व दिशा का अनुकरण करने लगी ।।२।।

कुछ ही दिनों के पश्चात् उससे असाधारण सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई, जो समस्त सौन्दर्य-सृष्टि के मिश्रण के समान थी ।।३।।

ऐसा पुत्र क्यों नहीं उत्पन्न हुआ ? मानों इसी सोच में प्रसूति-गृह के सभी रक्षादीप मलिन कान्तिवाले हो गये ।।४।।

इतनी अलौकिक सुन्दरी कन्या के उत्पन्न होने पर भी पिता कलिंगदत्त, उसी रूप के पुत्र की आशा के विफल होने के कारण खिन्न हो गया ।।५।।

पुत्र का इच्छुक राजा, उस कन्या को दिव्य समझकर भी खिन्न ही रहा । सच है, कहाँ शोकमूलक कन्या और कहाँ मूर्त्तिमान् आनन्द पुत्र ? ।।६।।

तब मनोविनोद के लिए राजा, जिनों की अनेक मूर्त्तियोंवाले विहार में चला गया ।।७।।

उस विहार (बौद्धमठ) में एक ओर जनता के मध्य बैठे हुए धर्मोपदेशक भिक्षु द्वारा कहे जाते हुए ये वचन उसने सुने—।।८।।

अर्थप्रदानमेवाहुः संसारे सुमहत्तपः ।
अर्थदः प्राणदः प्रोक्तः प्राणा ह्यर्थेषु कीलिताः ॥९॥
बुद्धेन च परस्यार्थे करुणाकुलचेतसा ।
आत्मापि तृणवद्दत्तः का वराके धने कथा ॥१०॥
तादृशेन च धीरेण तपसा स गतस्पृहः ।
सम्प्राप्तदिव्यविज्ञानो बुद्धो बुद्धत्वमागतः ॥११॥
आ शरीरमतः सर्वेष्विष्टेष्वाशानिवर्तनात् ।
प्राज्ञः सत्त्वहितं कुर्यात्सम्यक्सम्बोधलब्धये ॥१२॥

सप्तराजकन्यानां कथा

तथा च पूर्वं कस्यापि कृतनाम्नो महीपतेः ।
अजायन्तातिसुभगाः क्रमात्सप्त कुमारिकाः ॥१३॥
बाला एव च तास्त्यक्त्वा वैराग्येण पितुर्गृहम् ।
श्मशानं शिश्रियुः पृष्टा जगदुश्च परिच्छदम् ॥१४॥
असारं विश्वमेवैतत्तत्रापीदं शरीरकम् ।
तत्राप्यभीष्टसंयोगसुखादि स्वप्नविभ्रमः ॥१५॥
एकं परहितं त्वत्र संसारे सारमुच्यते ।
तदनेनापि देहेन कुर्मः सत्त्वहितं वयम् ॥१६॥
क्षिपामो जीवदेवैतच्छरीरं पितृकानने ।
क्रव्याद्गणोपयोगाय कान्तेनापि ह्यनेन किम् ॥१७॥

विरक्तराजपुत्रस्य कथा

तथा च राजपुत्रोऽत्र विरक्तः कोऽप्यभूत्पुरा ।
स युवापि सुकान्तोऽपि परिव्रज्यामशिश्रियत् ॥१८॥
स जातु भिक्षुः कस्यापि प्रविष्टो वणिजो गृहम् ।
दुष्टस्तरुण्यास्तत्पत्न्या पद्मपत्रायतेक्षणः ॥१९॥
सा तल्लोचनलावण्यहृतचित्ता तमब्रवीत् ।
कथमात्तमिदं कष्टमीदृशेन त्वया व्रतम् ॥२०॥
सा धन्या स्त्री तवानेन चक्षुषा या निरीक्ष्यते ।
इत्युक्तः स तया भिक्षुश्चक्षुरेकमपाटयत् ॥२१॥

'संसार में धन देना ही सबसे महान् तप है। अन्न देनेवाला प्राणदाता कहा जाता है; क्योंकि प्राण धन में कीलित हैं ॥६॥

करुणा से व्याकुलचित्त बुद्ध ने अपनी आत्मा को भी तृण के समान दे डाला। तब अकिंचन धन की क्या कथा ॥१०॥

ऐसे धैर्ययुक्त तप से निरीह बुद्ध ने दिव्य ज्ञान प्राप्त कर बुद्धत्व लाभ किया ॥११॥

इसलिए, सभी प्रिय पदार्थों से आशा को हटाकर बुद्धिमान् व्यक्ति को भली भाँति ज्ञान की प्राप्ति के लिए आजीवन, प्राणियों का हित करना चाहिए' ॥१२॥

सात राजकुमारियों की कथा

पूर्व समय में कृत नाम के किसी राजा की क्रम से अति सुन्दरी सात कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥१३॥

बाल्यकाल में ही वे कन्याएँ वैराग्य से पिता का घर छोड़कर श्मशान का सेवन करने लगीं और अपने कुटुम्बियों से कहने लगीं—॥१४॥

'यह सारा विश्व असार है। उसमें भी यह तुच्छ शरीर सर्वथा असार है, उसमें भी अपनी प्रिय वस्तुओं या प्राणियों का मिलना स्वप्न का-सा भ्रम है ॥१५॥

ऐसे असार संसार में दूसरों का हित करना ही एकमात्र सार है। इसलिए, हमलोग इस शरीर से भी परहित कर रही हैं ॥१६॥

इस जीते हुए सुन्दर शरीर को हम श्मशान में फेंक देती हैं, जिससे यह मांस खानेवाले पशु-पक्षियों के उपयोग में आ सके। अन्यथा इस सुन्दर शरीर का क्या उपयोग है ?' ॥१७॥

एक विरक्त राजकुमार की कथा

और भी सुनो। पूर्व काल में एक राजपुत्र था। वह सुन्दर युवा होने पर भी परिव्राजक बन गया ॥१८॥

वह भिक्षु, किसी वैश्य के घर कभी भिक्षा लेने के लिए गया। कमलपत्र के समान बड़े-बड़े नेत्रवाले उस भिक्षुक को उस वैश्य की युवती स्त्री ने देखा और वह उसके आँखों के लावण्य पर आसक्त होकर बोली—'ऐसा सुन्दर होकर तुमने यह कष्टकर व्रत क्यों धारण किया ? ॥१९—२०॥

वह स्त्री धन्य है; जो तुम्हारे इन नयनों से देखी जाती है।' उसके इस प्रकार कहने पर भिक्षु ने अपनी आँखें फोड़ लीं[१] ॥२१॥

---

१. ऐसी ही दन्तकथा महाभक्त कवि सूरदास के सम्बन्ध में प्रचलित है। आयरलैण्ड के आरजी ब्रीजाट के सम्बन्ध में भी ऐसी दन्तकथा प्रचलित है।—अनु०

ऊचे च हस्ते कृत्वा तन्मातः पश्येदमीदृशम् ।
जुगुप्सितमसृङ्मांसं गृह्यतां यदि रोचते ।।२२।।
ईदृगेव द्वितीयं च वद रम्यं किमेतयोः ।
इत्युक्ता तेन तद्दृष्ट्वा व्यषीदत्सा वणिग्वधूः ।।२३।।
उवाच च हहा ! पापं मया कृतमभव्यया ।
यदहं हेतुतां प्राप्ता लोचनोत्पाटने तव ।।२४।।
तच्छ्रुत्वा भिक्षुरवदन्माभूदम्ब तव व्यथा ।
मम त्वया ह्युपकृतं यतः शृणु निदर्शनम् ।।२५।।

एकस्य तपस्विनः राज्ञश्च कथा

आसीत्कोऽपि पुरा कान्ते कुत्राप्युपवने यतिः ।
अनुजाह्नवि वैराग्यनिःशेषनिकषेच्छया ।।२६।।
तपस्यतश्च कोऽप्यस्य राजा तत्रैव दैवतः ।
विहर्तुमागतः साकमवरोधवधूजनैः ।।२७।।
विहृत्य पानसुप्तस्य पार्श्वादुत्थाय तस्य च ।
नृपस्य चापलाद्राज्ञ्यस्तदुद्याने किलाभ्रमन् ।।२८।।
दृष्ट्वा तत्रैकदेशे च तं समाधिस्थितं मुनिम् ।
अतिष्ठन्परिवार्यैनं किमेतदिति कौतुकात् ।।२९।।
चिरस्थितासु तास्वत्र प्रबुद्धः सोऽथ भूपतिः ।
अपश्यन् दयिताः पार्श्वे तत्र बभ्राम सर्वतः ।।३०।।
ददर्श चात्र राज्ञीस्ताः परिवार्य मुनिं स्थिताः ।
कुपितश्चेर्ष्यया तस्मिन्खड्गेन प्राहरन्मुनौ ।।३१।।
ऐश्वर्यमीर्ष्यानैर्घृण्यं क्षीबत्वं निर्विवेकिता ।
एकैकं किं न यत्कुर्यात् पञ्चाङ्गित्वे तु का कथा ।।३२।।
ततो गते नृपे तस्मिन्कृत्ताङ्गमपि तं मुनिम् ।
अक्रुद्धं प्रकटीभूय काप्युवाचात्र देवता ।।३३।।
महात्मन्येन पापेन क्रोधेनैतत्कृतं त्वयि ।
स्वशक्त्या तमहं हन्मि मन्यसे यदि तद्भवान् ।।३४।।

और, उन आँखों को हथेली में रखकर कहा—'देखो माता, यह ऐसी हैं। यह घृणित रक्त और मांस है। यदि अच्छा लगता है, तो इसे ले लो ॥२२॥

इसी प्रकार की दूसरी भी आँख है। बताओ, इनमें कौन अधिक सुन्दर है। भिक्षु के इस प्रकार कहने पर वैश्यवधू खिन्न हो गई ॥२३॥

और कहने लगी, 'हाय, हाय, अभागिन मैंने यह पाप कर डाला! मैं तुम्हारी आँखों के उखाड़ने का कारण बनी!' ॥२४॥

यह सुनकर भिक्षुक बोला—'माता, तुम्हें कष्ट न होना चाहिए। तुमने मेरा उपकार किया है। इस प्रसंग में उदाहरण सुनो ॥२५॥

एक तपस्वी और राजा की कथा

प्राचीन समय में गंगा के किसी तट पर स्थित एक सुन्दर उपवन में बैराग्य के कारण सब कुछ त्यागने की इच्छा से एक यति रहता था ॥२६॥

उसके तपस्या करते हुए कोई राजा अपने रनिवास की रानियों के साथ घूमने के लिए वहाँ आया ॥२७॥

विहार करने के पश्चात् मद्यपान करके सोए हुए उस राजा के पास से उठकर चंचल रानियाँ उद्यान में चारों ओर घूमने लगीं ॥२८॥

उस उद्यान के एक ओर समाधि में बैठे हुए मुनि को देखकर 'यह क्या है,' इस प्रका . के कौतुक से वे उसे घेरकर बैठ गईं ॥२९॥

विलम्ब हो जाने के कारण जागने पर राजा ने उन्हें देखने के लिए चारों ओर चक्कर लगाना प्रारम्भ किया ॥३०॥

ढूँढ़ते हुए उसने जब मुनि को घेरकर बैठी हुई रानियों को देखा, तब राजा ने डाह से जलती हुई तलवार निकालकर उससे मुनि पर प्रहार कर दिया ॥३१॥

ऐश्वर्य, डाह, निर्दयता, मदोन्मत्तता और विवेक-शून्यता, इनमें एक ही क्या अनर्थ नहीं कर डालता? यदि पाँचों अग्नियाँ एकत्र हों, तो क्या कहना ॥३२॥

राजा के चले जाने पर कटे हुए अंगोंवाले क्रोध-रहित मुनि के सामने प्रकट होकर किसी देवी ने कहा—॥३३॥

'हे महात्मन्! जिस पापी ने क्रोध से तुम्हारे प्रति यह अत्याचार किया है; उसे मैं अपनी शक्ति से मार देती हूं, यदि तुम चाहो तो' ॥३४॥

तच्छ्रुत्वा स जगादर्षिर्देवि मा स्मैवमादिशः ।
स हि धर्मसहायो मे न विप्रियकरः पुनः ॥३५॥
तत्प्रसादात्क्षमाधर्मं भगवत्याप्तवाहनम् ।
कस्य क्षमेय किं देवि नैवं चेत्स समाचरेत् ॥३६॥
कः कोपो नश्वरस्यास्य देहस्यार्थे मनस्विनः ।
प्रियाप्रियेषु साम्येन श्रमा हि ब्रह्मणः पदम् ॥३७॥
इत्युक्ता मुनिना साथ तपसा तस्य तोषिता ।
अङ्गानि देवता कृत्वा निर्व्रणानि तिरोदधे ॥३८॥
तद्यथा सोऽपि तस्यर्षेरुपकारी मतो नृपः ।
नेत्रोत्खननहेतोस्त्वं तपोवृद्ध्या तथाम्ब मे ॥३९॥
इत्युक्त्वा स वशी भिक्षुर्विनम्रां तां वणिग्वधूम् ।
कान्तेऽपि वपुषि स्वस्मिन्ननास्थः सिद्धये ययौ ॥४०॥
तस्माद्बालेऽपि रम्येऽपि कः काये गत्वरे ग्रहः ।
सत्त्वोपकारस्त्वेतस्मादेकः प्राज्ञस्य शस्यते ॥४१॥
तदिमा वयमेतस्मिन्निसर्गसुखसद्मनि ।
श्मशाने प्राणिनामर्थे विन्यस्याम शरीरकम् ॥४२॥
इत्युक्त्वा परिवारं ताः सप्त राजकुमारिकाः ।
तथैव चक्रुः प्रापुश्च संसिद्धिं परमां ततः ॥४३॥
एवं निजे शरीरेऽपि ममत्वं नास्ति धीमताम् ।
किं पुनः सुतदारादिपरिग्रहतृणोत्करे ॥४४॥
इत्यादि स नृपः श्रुत्वा विहारे धर्मपाठकात् ।
कलिङ्गदत्तो नीत्वा च दिनं प्रायात् स्वमन्दिरम् ॥४५॥
तत्रानुबाध्यमानश्च कन्याजन्मशुचा पुनः ।
स राजा गृहवृद्धेन केनाप्यूचे द्विजन्मना ॥४६॥
राजन् किं कन्यकारत्नजन्मना परितप्यसे ।
पुत्रेभ्योऽप्युत्तमाः कन्याः शिवाश्चेह परत्र च ॥४७॥
राज्यलुब्धेषु का तेषु पुत्रेष्वास्था महीभुजाम् ।
ये भक्षयन्ति जनकं बत मर्कटका इव ॥४८॥
नृपास्तु कुन्तिभोजाद्याः कुन्त्यादितनया गुणैः ।
तीर्णा दुःसहदुर्वासः प्रभृतिभ्यः पराभवम् ॥४९॥

यह सुनकर वह ऋषि बोला—'देवि, ऐसा न करो। वह राजा मेरे धर्म में सहायक है, विरोधी नहीं ॥३५॥

हे भगवति, उसकी कृपा से मुझे क्षमा-धर्म मिला। यदि वह ऐसा न करे, तो किस पर क्षमा की जाय ॥३६॥

मनस्वी जन, इस नश्वर शरीर के लिए कोप नहीं करते। मित्र और शत्रु पर समान रूप से क्षमा करना ही ब्राह्मण का धर्म है' ॥३७॥

इस प्रकार मुनि से कही गई और उसकी तपस्या से सन्तुष्ट वह देवी यति के अंगों को अक्षत (पूर्ण) करके अन्तर्धान हो गई ॥६८॥

'अतः, जैसे वह राजा उस ऋषि का उपकारी बना, उसी प्रकार आँखें उखाड़ लेने के कारण मेरे तप को बढ़ाकर हे माता, तुमने अभी उपकार किया है' ॥३९॥

ऐसा कहकर वह वशी भिक्षु प्रणाम करती हुई उस वैश्य-वधू के नम्र होने पर अपने सुन्दर शरीर का भी ध्यान न देकर सिद्धि के लिए चला गया ॥४०॥

यह कथा सुनकर राजकन्याएँ बोलीं—इसलिए, बाल और सुन्दर होने पर भी नष्ट होनेवाले शरीर पर क्या आग्रह ? इसलिए प्राणिमात्र के प्रति उपकार करना ही एक मात्र बुद्धिमान् के लिए प्रशंसनीय कार्य है ॥४१॥

इसलिए, हम सातों कन्याएँ स्वाभाविक सुख के घर इस श्मशान में प्राणियों के उपकार के लिए क्षुद्र शरीर को दे रही हैं ॥४२॥

अपने परिवारवालों को इस प्रकार कहकर उन सातों राजकुमारियों ने ऐसा ही किया और परमसिद्धि प्राप्त की ॥४३॥

बुद्धिमानों को अपने शरीर पर भी ममता नहीं होती। पुत्र-दारा आदि घास-फूस की तो बात ही क्या ॥४४॥

उस विहार में धर्मोपदेशक से यह सब बातें सुनकर दिन व्यतीत किया और सायंकाल अपने भवन में आकर फिर भी कन्या-जन्म के शोक में मग्न हो गया। इतने पर घर के किसी बूढ़े ब्राह्मण ने आकर राजा से कहा—'हे राजन् ! कन्यारत्न के जन्म से क्यों इतना सन्तप्त हो रहे हो। कन्याएँ तो पुत्र से भी उत्तम होती हैं और इहलोक तथा परलोक में भी कल्याण देनेवाली होती हैं ॥४५—४७॥

राज्य के लोभी पुत्रों में राजाओं का कैसा प्रेम, जो बन्दरों के समान पिता को नोच खाते हैं ॥४८॥

कुन्तिभोज आदि राजा, कुन्ती आदि कन्याओं के कारण ही दुःसह दुर्वासा आदि के क्रोध से बच गये ॥४९॥

फलं यच्च सुतादानात् कुतः पुत्रात् परत्र तत् ।
सुलोचनाकथामत्र किञ्च वच्मि निशम्यताम् ॥५०॥

सुषेणनृपतेः कथा

आसीद्राजा सुषेणाख्यश्चित्रकूटाचले युवा ।
कामोऽन्य इव यो धात्रा निर्मितस्त्र्यम्बकेर्ष्यया ॥५१॥
स चक्रे दिव्यमारामं मूले तस्य महागिरेः ।
सुराणां नन्दनोद्यानवासवैरस्यदायिनम् ॥५२॥
तन्मध्ये च चकारैकां वापीमुत्फुल्लपङ्कजाम् ।
लक्ष्मीलीलारविन्दानां नवाकरमहीमिव ॥५३॥
तस्यास्तस्थौ स सद्रत्नसोपानायास्तटे सदा ।
पत्नीनां स्वानुरूपाणामभावादवधूसखः ॥५४॥
एकदा तेन मार्गेण नभसा सुरसुन्दरी ।
रम्भा जम्भारिभवनादाजगाम यदृच्छया ॥५५॥
सा तं ददर्श राजानं तत्रोद्याने विहारिणम् ।
साक्षान्मधुमिवोत्फुल्लपुष्पकाननमध्यगम् ॥५६॥
वापिकापद्मपतितां दिवोऽनु पतितः श्रियम् ।
चन्द्रः किमेष नैतद् वा श्रीरस्य ह्यनपायिनी ॥५७॥
नूनं पुष्पेषुरुद्यानं पुष्पेच्छुः सोऽयमागतः ।
किं तु सा रतिरेतस्य क्व गता सहचारिणी ॥५८॥
इत्यौत्सुक्यकृतोल्लेखा सावतीर्य नभोऽन्तरात् ।
रम्भा मानुषरूपेण राजानं तमुपागमत् ॥५९॥
उपेतां तां च सहसा दृष्ट्वा राजा सविस्मयः ।
अचिन्तयदहो केयमसम्भाव्यवपुर्भवेत् ॥६०॥
न तावन्मानुषी येन पादौ नास्य रजःस्पृशौ ।
न चक्षुः सनिमेषं वा तस्माद्दिव्यैव काप्यसौ ॥६१॥
प्रष्टव्या तु मया नेयं पलायेत हि जातुचित् ।
रतिभेदासहाः प्रायो दिव्याः कारणसङ्गताः ॥६२॥
इति ध्यायन् स नृपतिः कृतसम्भाषणस्तया ।
तत्क्रमेणैव तत्कालं तत्कण्ठाश्लेषमाप्तवान् ॥६३॥

कन्यादान से परलोक में जो सुख मिलता है, वह पुत्रों से कहाँ मिल सकता है ?

राजा सुषेण और सुलोचना की कथा

मैं इस सम्बन्ध में सुलोचमा की कथा कहता हूँ, सुनो ।।५०।।

चित्रकूट[1] पर्वत पर सुषेण नाम का एक युवा राजा था। उसे ब्रह्मा ने मानों शिवजी की ईर्ष्या से नवीन कामदेव के समान निर्मित किया था। उस राजा ने उस विशाल पर्वत की तलहटी में एक सुन्दर उद्यान बनवाया, जो देवताओं के नन्दन वन के विहार से विरसता उत्पन्न करता था। अर्थात्, उसने अपनी सुन्दरता से नन्दन वन को भी तिरस्कृत कर दिया था ।।५१-५२।।

उस उद्यान के मध्य उस राजा ने विकसित कमलोंवाली एक सुन्दर बावली बनवाई थी, जो मानों लक्ष्मी के लीला-कमलों के लिए नये खजाने के समान थी ।।५३।।

अच्छे रत्नों से जड़ी हुई सीढ़ियोंवाली उस बावली के किनारे पत्नियों के अभाव में वह अकेला ही बैठा रहता था। एक बार उसी के आकाशमार्ग से जाती हुई रम्भा, इन्द्र-भवन से अकस्मात् वहाँ आ गई ।।५४-५५।।

रम्भा ने उद्यान में बैठे हुए राजा को इस प्रकार देखा, मानों प्रफुल्ल पुष्प-वन में मूत्तिमान् वसन्त विराजमान हो ।।५६।।

उसे देखकर रम्भा सोचने लगी, बावली के कमलों पर गिरी हुई क्या यह स्वर्ग की लक्ष्मी है ?[2] अथवा साक्षात्-चन्द्रमा है ? क्या यह इसकी स्थायी शोभा है अथवा पुष्पधन्वा कामदेव, स्वयं ही पुष्प-चयन करने यहाँ उपस्थित हुआ है। किन्तु, यदि वह है, तो उसकी सहचारिणी रति यहाँ कहाँ है ? उत्सुकता के कारण इस प्रकार तर्क-वितर्क करती हुई रम्भा, मनुष्य के रूप में राजा के समीप आई ।।५७–५९।।

समीप आई हुई उसे देखकर राजा सोचने लगा कि यह असम्भव शरीरवाली कौन स्त्री है ? यह मानुषी तो नहीं है; क्योंकि इसके चरण भूमिस्पर्श नहीं करते और आँखें भी अपलक हैं। अतः, यह अवश्य ही कोई दिव्या स्त्री है ।।६०-६१।।

पूछने पर कदाचित् यह भाग न जाय, इसलिए इससे पूछना नहीं चाहिए। कारण से संगत दिव्य स्त्रियाँ प्रायः रति का भेद (रहस्य खुलना) सहन नहीं करतीं ।।६२।।

ऐसा सोचते हुए उस राजा ने उससे बातें करते हुए क्रमशः उसी समय उसे गले से लगा लिया ।।६३।।

---

१. **किसी-किसी पुस्तक में त्रिकूटाचल पर्वत का नाम आया है। यह हिमालय का एक भाग है, जिसके शिखर, सोने, चाँदी और लोहे के बने हैं। श्रीमद्भागवत के आठवें स्कन्ध में इसका वर्णन है।**

२. **इस वाक्य में आक्षेपालंकार है।**

चिक्रीड च चिरं सोऽत्र साकमप्सरसा तया।
दिवं सापि न सस्मार रम्यं प्रेम न जन्मभूः ॥६४॥
तत्सखीयक्षिणीवृष्टैरपूरि स्वर्णराशिभिः।
सास्यभूमिर्नरेन्द्रस्य द्यौर्मेरुशिखरैरिव ॥६५॥
कालेन चास्य राज्ञः सा सुषेणस्य वराप्सराः।
असूतानन्यसदृशीं धृतगर्भा सती सुताम् ॥६६॥
प्रसूतमात्रैव च सा जगादैनं महीपतिम्।
राजशापोऽयमीदृङ्मे क्षीणो जातः स चाधुना ॥६७॥
अहं हि रम्भा नाकस्त्री त्वयि दृष्टेऽनुरागिणी।
जाते च गर्भे मुक्त्वा तं गच्छामस्तत्क्षणं वयम् ॥६८॥
समयो ह्रीदृशोऽस्माकं तद्रक्षेः कन्यकामिमाम्।
एतद्विवाहान्नाके नौ भूयो भावी समागमः ॥६९॥
एवमुक्त्वाप्सरा रम्भा विवशा सा तिरोदधे।
तद्दुःखाच्च स राजाभूत्तदा प्राणव्ययोद्यतः ॥७०॥
निरास्थेनापि किं त्यक्तं विश्वामित्रेण जीवितम्।
मेनकायां प्रयातायां प्रसूयैव शकुन्तलाम् ॥७१॥
इत्यादि सचिवैरुक्तो ज्ञातार्थः स नृपो धृतिम्।
शनैरादत्त कन्यां च पुनः सङ्गमकारणम् ॥७२॥
तां च बालां तदेकाग्रः पिता सर्वाङ्गसुन्दरीम्।
सोऽतिलोचनसौन्दर्यान्नाम्ना चक्रे सुलोचनाम् ॥७३॥
कालेन यौवनप्राप्तामुद्यानस्थां ददर्श ताम्।
युवा यदृच्छया भ्राम्यन्वत्साख्यः काश्यपो मुनिः ॥७४॥
स तपोराशिरूपोऽपि दृष्ट्वैवैतां नृपात्मजाम्।
अनुरागरसज्ञोऽभूदिति चात्र व्यचिन्तयत् ॥७५॥
अहो रूपं किमप्यस्याः कन्यायाः परमाद्भुतम्।
नेमां प्राप्नोति चेद् भार्यां किमन्यत्तपसः फलम् ॥७६॥
इति ध्यायन् मुनियुवा स सुलोचनया तया।
अदर्शि प्रज्वलत्तेजा विधूम इव पावकः ॥७७॥
तं वीक्ष्य सापि सप्रेमा साक्षसूत्रकमण्डलुम्।
शान्तश्च कमनीयश्च कोऽयं स्यादित्यचिन्तयत् ॥७८॥

तदनन्तर, वह राजा चिरकाल तक इस उद्यान में उस अप्सरा के साथ क्रीड़ा करता रहा। रम्भा भी स्वर्ग को भूल गई। सच है, प्रेम प्यारा होता है, जन्मभूमि नहीं ॥६४॥

जैसे आकाश सुमेरु के स्वर्ण-शृंगों से भर जाता है, उसी प्रकार रम्भा की सखी यक्षिणी ने राजा की वह भूमि सोने की वर्षा से भर दी ॥६५॥

कुछ समय पश्चात् सुषेण के समागम से, गर्भवती रम्भा ने असाधारण सुन्दरी कन्या उत्पन्न की ॥६६॥

कन्या प्रसव करते ही रम्भा राजा से बोली—'राजन्, मुझे इतने दिनों का ऐसा शाप था। अब वह क्षीण हो गया। मैं रम्भा नाम की स्वर्गांगना हूँ। तुम्हें देखने पर प्रेम से आकृष्ट हो गई थी। तदुपरान्त गर्भ हो जाने पर उसे यहीं छोड़कर अभी ही जा रही हूँ ॥६७-६८॥

हमारी मर्यादा ही ऐसी है। तुम इस कन्या की रक्षा करना। इसके विवाह से स्वर्ग में हम दोनों का पुनः समागम होगा' ॥६९॥

ऐसा कहकर वह विवश रम्भा अन्तर्धान हो गई। उसके वियोग-दुःख से राजा प्राण देने के लिए तैयार हो गया ॥७०॥

'इसी प्रकार, शकुन्तला को उत्पन्न करके ही स्वर्ग चली गई। मेनका के लिए क्या विश्वामित्र ने प्राण दे दिये थे?' मन्त्रियों की इस प्रकार की बातों से धीरज दिलाया गया वह राजा किसी प्रकार धीरे-धीरे धीरज रख सका और उस रम्भा से पुनर्मिलन की आशा के कारण उसने कन्या को ग्रहण किया ॥७१-७२॥

उस सर्वांगसुन्दरी कन्या का, राजा ने एकाग्रचित से पालन प्रारम्भ किया और उसके लोचनों के अत्यन्त सुन्दर होने के कारण उसका नाम सुलोचना रखा ॥७३॥

क्रमशः यौवन में आई हुई और उद्यान में विचरण करती हुई उसे अकस्मात् कश्यप ऋषि के पुत्र वत्स ने देखा ॥७४॥

तपोराशि होने पर भी वत्स मुनि, उस कन्या को देखकर प्रेमरस (ज्ञाता) रसिक होकर सोचने लगा ॥७५॥

ओह! इस बालिका का कैसा अद्भुत रूप है! यदि इसे पत्नी के रूप में प्राप्त न कर सकूँ, तो मेरे तप का और दूसरा फल ही क्या होगा ॥७६॥

इस प्रकार, सोचते हुए उस मुनि युवक को सुलोचना ने जलती हुई ज्वालावाले निर्धूम अग्नि के समान देखा ॥७७॥

उस मुनि को देखकर प्रेममयी वह कन्या भी स्फटिक-माला और कमण्डलु लिये हुए शान्त और सुन्दर यह युवक कौन है, इस प्रकार सोचने लगी ॥७८॥

वरणायैव चोपेत्य नयनोत्पलमालिकाम् ।
क्षिपन्ती तस्य वपुषि प्रणाममकरोन्मुनेः ॥७९॥
पतिं समाप्नुहीत्याशीस्तस्यास्तेनाभ्यधीयत ।
सुरासुरदुरुल्लङ्घ्यमन्मथाज्ञावशात्मना ॥८०॥
ततोऽसामान्यतद्रूपलोभलुण्ठितलज्जया ।
तयाप्यूचे स विनमद्वक्त्रया मुनिपुङ्गवः ॥८१॥
एषा यदीच्छा भवतो नर्मालापो न चेदयम् ।
तद्देव दाता नृपतिः पिता मे याच्यतामिति ॥८२॥
अथान्वयं परिजनान्मुनिस्तस्या निशम्य सः ।
गत्वा नृपं तत्पितरं सुषेणं तामयाचत ॥८३॥
सोऽपि तं वीक्ष्य तपसा वपुषा चातिभूमिगम् ।
उवाच रचितातिथ्यो राजा मुनिकुमारकम् ॥८४॥
जाताप्सरसि रम्भायां कन्यैषा भगवन्मम ।
अस्या विवाहान्नाके मे तया भावी समागमः ॥८५॥
एवं तया व्रजन्त्या द्यां रम्भयैव ममोदितम् ।
एतत्कथं महाभाग भवेदिति निरूप्यताम् ॥८६॥
तच्छ्रुत्वा मुनिपुत्रोऽसौ क्षणमेवमचिन्तयत् ।
किं पुरा मेनकोद्भूता सर्पदष्टा प्रमद्वरा ॥८७॥
दत्वायुषोऽर्द्धं मुनिना न भार्या रुरुणा कृता ।
त्रिशङ्कुः किं न नीतो द्यां विश्वामित्रेण लुब्धकः ॥८८॥
तदिदं स्वतपोभागव्ययात् किं न करोम्यहम् ।
इत्यालोच्य न भारोऽयमित्युक्त्वा सोऽब्रवीन्मुनिः ॥८९॥
हे देवतास्तपोंशेन मदीयेनैष भूपतिः ।
सशरीरो दिवं यातु रम्भासम्भोगसिद्धये ॥९०॥
इत्युक्ते तेन मुनिना शृण्वन्त्यां राजसंसदि ।
एवमस्त्विति सुव्यक्ता दिव्या वागुदभूत्ततः ॥९१॥
ततः सुलोचनां तस्मै मुनये काश्यपाय तान् ।
वत्साय दत्वा तनयां स राजा दिवमुद्ययौ ॥९२॥
तत्र दिव्यत्वमासाद्य तया शक्रनियुक्तया ।
स रेमे रम्भया साकं भूयो दिव्यानुभावया ॥९३॥

वरण करने के लिए ही मानों नेत्रकमलों की माला उसके शरीर पर डालती हुई कन्या सुलोचना ने उसे प्रणाम किया ।।७६।।

सुर और असुरों के लिए भी असह्य कामदेव की आज्ञा से वश किये गये उसने भी पति को प्राप्त करो—ऐसे आशीर्वाद से उसका अभिनन्दन किया ।।८०।।

मुनि के असाधारण सौन्दर्य में लुटी हुई अतएव लज्जा के कारण मुँह नीचे की हुई उस कन्या ने मुनि से इस प्रकार कहा—देव यदि यह आपकी सच्ची इच्छा है, हँसी या विनोद की बात नहीं है, तो आप मेरे दाता पिता से मुझे माँगें ।।८१।।

इसके पश्चात् उसका कुल, गोत्र, परिचय आदि पूछकर उस मुनि ने जाकर उसके पिता सुषेण से उसे माँगा ।।८२।।

उस राजा ने भी शरीर और तप से अत्यन्त उच्चकोटि पर पहुँचे हुए उस मुनिकुमार को देखकर उसका आतिथ्य-सत्कार करके कहा ।।८३।।

'भगवन् ! यह मेरी कन्या, रम्भा नामक अप्सरा से उत्पन्न हुई है। इसके विवाह से स्वर्ग में मेरा और रम्भा का पुनः समागम होगा ।।८४।।

स्वर्ग जाती हुई रम्भा ने ऐसा मुझसे कहा है—यह कैसे सम्भव हो, इसपर आप विचार कीजिए' ।।८५।।

यह सुनकर मुनि क्षण-भर के लिए विचारमग्न हो गया और सोचने लगा। क्या पहले समय में मेनका से उत्पन्न अप्सरा प्रमद्वरा जब साँप के काटने से मर गई, तब रुरु ऋषि ने अपने आयुष्य का आधा भाग देकर उसे जीवित नहीं कर दिया था ? तो क्या विश्वामित्र ने चाण्डाल त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग में नहीं पहुँचा दिया था ? तो मैं अपने तप के कुछ भाग का व्यय करके यह कार्य नहीं कर सकता ? ऐसा सोचकर मुनि ने राजा से कहा—'यह कोई बड़ा भार नहीं है' ।।८६–८९।।

'हे देवगण, यह राजा मेरे तप के अंश से रम्भा के साथ सम्भोग प्राप्त करने के लिए सशरीर स्वर्ग को जाय' ।।९०।।

उस मुनि के ऐसा कहने पर और सारी सभा के सुनते रहने पर आकाशवाणी हुई—'ऐसा ही हो' ।।९१।।

तब वह राजा उस सुलोचना नाम की कन्या को मुनि वत्स के लिए देकर स्वर्ग चला गया ।।९२।।

वहाँ देवत्व प्राप्त करके इन्द्र द्वारा नियुक्त की गई प्रभावशालिनी रम्भा के साथ वह रमण करने लगा ।।९३।।

इत्थं कृतार्थतां देव सुषेणः प्राप कन्यया ।
कन्या युष्मादृशां गेहेष्वीदृश्योऽवतरन्ति हि ॥९४॥
तदेषा कापि दिव्या ते जाता शापच्युता गृहे ।
कन्या नूनमतो मा गाः शुचं तज्जन्मना विभो ॥९५॥
इति श्रुत्वा कथां राजा गृहवृद्धाद्द्विजन्मनः ।
कलिङ्गदत्तं नृपतिर्जहौ चिन्तां तुतोष च ॥९६॥
तां स चक्रे निजसुतां नयनानन्ददायिनीम् ।
नाम्ना कलिङ्गसेनेति बालामिन्दुकलोपमाम् ॥९७॥
सापि तस्य पितुर्गेहे राजपुत्री ततः क्रमात् ।
कलिङ्गसेना ववृधे वयस्यामध्यवर्त्तिनी ॥९८॥
विजहार च हर्म्येषु सा गृहेषु वनेषु च ।
क्रीडारसमयस्येव लहरी शैशवाम्बुधेः ॥९९॥

कलिङ्गसेनासविधेसोमप्रभाया आगमनम्

कदाचिदथ हर्म्यस्थां केलिसक्तां ददर्श ताम् ।
मयासुरसुता यान्ती व्योम्ना सोमप्रभाभिधा ॥१००॥
सा तामालोक्य रूपेण मुनिमानसमोहिनीम् ।
सोमप्रभा नभःस्थैव जातप्रीतिरचिन्तयत् ॥१०१॥
केयं किमैन्दवी मूर्त्तिः कान्तिस्तस्या दिवा कुतः ।
रतिर्वा यदि कामः क्व कन्यका तदवैम्यहम् ॥१०२॥
अत्र राजगृहे कापि दिव्या शापच्युता भवेत् ।
जाने जन्मान्तरे चाभून्नूनं सख्यं ममैतया ॥१०३॥
एतद्धि मे वदत्यस्यामतिस्नेहाकुलं मनः ।
तद्युक्तं कर्त्तुमेतां मे स्वयंवरसखीं पुनः ॥१०४॥
इति सञ्चिन्त्य बालायास्तस्याः सन्त्रासशङ्कया ।
सोमप्रभा सा गगनादलक्षितमवातरत् ॥१०५॥
मनुष्यकन्यकाभावमाश्रित्याश्वासकारणम् ।
सास्याः कलिङ्गसेनायाः शनैरुपससर्प च ॥१०६॥
दिष्ट्या राजसुता कापि स्वयमत्यद्भुताकृतिः ।
असौ समागता पार्श्वमुचितेयं सखी मम ॥१०७॥
इति तद्दर्शनादेव विचिन्त्योत्थाय चादरात् ।
कलिङ्गसेनाप्यालिङ्गत्सा तां सोमप्रभां तदा ॥१०८॥

इसी प्रकार ये दिव्य रमणियाँ तुम्हारे समान पुरुषों के घरों में अवतार लेती हैं। 'हे देव, सुषेण इसी प्रकार कन्या के कारण ही सफल हुआ। आपके समान उच्च महापुरुषों के यहाँ ऐसी ही कन्याएँ उत्पन्न होती हैं। अतः, यह कन्या भी कोई दिव्य स्त्री है, जो शापच्युत होकर तुम्हारे घर में उत्पन्न हुई है। इसलिए हे स्वामी ! चिन्ता न करो' ॥९४-९५॥

इस प्रकार घर के वृद्ध ब्राह्मण द्वारा कही गई कथा को सुनाकर राजा कलिंगदत्त चिन्ता छोड़कर प्रसन्न हुआ ॥९६॥

उस राजा ने चन्द्रकला के समान आँखों को आनन्द देनेवाली उस कन्या का नाम कलिंगसेना रखा ॥९७॥

वह राजकुमारी कलिंगसेना अपनी सखियों के साथ क्रमशः बड़ी होने लगी ॥९८॥

क्रीड़ा करते बाल्यसमुद्र की लहरी के समान वह कन्या पिता के गृह में, भवन में, घरों में और उद्यानों में विहार करती थी ॥९९॥

कलिंगसेना के पास सोमप्रभा का आगमन

एक बार वह कलिंगसेना राजभवन की छत पर खेल रही थी। उसी समय आकाश-पथ से जाती हुई मयासुर की बेटी सोमप्रभा ने उसे उड़ते-उड़ते देखा और दूर से देखते ही उससे उसका प्रेम हो गया ॥१००-१०१॥

सोमप्रभा उसे देखकर सोचने लगी, 'क्या यह चन्द्रकला है ? किन्तु, दिन में उसकी इतनी कान्ति कहाँ ! यदि यह रति है, तो काम कहाँ है ? अतः, यह अवश्य ही अभी कुमारी है, ऐसा समझती हूँ ॥१०२॥

सम्भव है कि कोई दिव्य स्त्री, शाप से पतित होकर राजघराने में उत्पन्न हुई हो। मैं समझती हूँ कि पूर्वजन्म में इसकी और मेरी मित्रता रही है ॥१०३॥

क्योंकि, अत्यन्त स्नेह से व्याकुल मेरा मन, बरबस इसकी ओर खिंच रहा है। तो अब यह उचित है कि मैं इससे स्वयं मिलकर सखी के रूप में इसका वरण करूँ ॥१०४॥

सोमप्रभा, यह सोचकर कि बालिका भयभीत न हो, अप्रत्यक्ष रूप से नीचे उतर आई ॥१०५॥

उसके विश्वास के लिए वह मनुष्य-कन्या का रूप बनाकर धीरे-धीरे कलिंगसेना के पास पहुँची ॥१०६॥

'दैवयोग से यह कोई अद्भुत रूपवाली राजकुमारी मेरे पास आ रही है, यह मेरी सखी होने के योग्य है'—ऐसा सोचकर उसे देखते ही वह कलिंगसेना भी उठकर उससे लिपट गई ॥१०७-१०८॥

उपवेश्य च पप्रच्छ क्षणादन्वयनामनी ।
वक्ष्यामि सर्वं तिष्ठेति तां च सोमप्रभाब्रवीत् ।।१०९।।
ततः कथाक्रमेणैव वाचा सख्यमबध्यत ।
ताभ्यामुभाभ्यामन्योन्यहस्तग्रहपुरःसरम् ।।११०।।
अथ सोमप्रभावादीत्सखि त्वं राजकन्यका ।
राजपुत्रैः समं सख्यं कृच्छ्रादप्यतिवाह्यते ।।१११।।
अल्पेनाप्यपराधेन ते हि कुप्यन्त्यमात्रया ।
राजपुत्रवणिक्पुत्रकथां शृण्वत्र वच्मि ते ।।११२।।

राजपुत्रवैश्यपुत्रयोः कथा

नगर्यां पुष्करावत्यां गूढसेनाभिधो नृपः ।
आसीत्तस्य च जातोऽभूदेक एव किलात्मजः ।।११३।।
स राजपुत्रो दृप्तः सन्नेकपुत्रतया शुभम् ।
अशुभं वापि यच्चक्रे पिता तस्यासहिष्ट तत् ।।११४।।
भ्राम्यतोपवने जातु दृष्टस्तेनैकपुत्रकः ।
वणिजो ब्रह्मदत्तस्य स्वतुल्यविभवाकृतिः ।।११५।।
दृष्ट्वा च सद्यः सोऽनेन स्वयंवरसुहृत्कृतः ।
तदैव चैकरूपौ तौ जाता राजवणिक्सुतौ ।।११६।।
स्थातुं न शेकतुः क्षिप्रं तावन्योन्यमदर्शनम् ।
आशु बध्नाति हि प्रेम प्राग्जन्मान्तरसंस्तवः ।।११७।।
नोपभुङ्क्ते स्म तं भोगं राजपुत्रः कदाचन ।
वणिक्पुत्रस्य यस्तस्य नादावेवोपकल्पितः ।।११८।।
एकदा सुहृदस्तस्य निश्चित्योद्वाहमादितः ।
अहिच्छत्रं विवाहाय स प्रतस्थे नृपात्मजः ।।११९।।
मित्रेण तेन साकं च गजारूढः ससैनिकः ।
गच्छन्निक्षुमतीतीरं प्राप्य सायं समावसत् ।।१२०।।
तत्र चन्द्रोदये पानमासेव्य शयनं श्रितः ।
अर्थितो निजया धात्र्या कथां वक्तुं प्रचक्रमे ।।१२१।।
उपक्रान्तकथो जह्रे श्रान्तो मत्तश्च निद्रया ।
धात्री च तद्वत्सोऽप्यासीत् स्नेहाज्जाग्रद्वणिक्सुतः ।।१२२।।
ततः सुप्तेषु चान्येषु स्त्रीणामिव मिथः कथा ।
गगने शुश्रुवे तेन वणिक्पुत्रेण जाग्रता ।।१२३।।

तदनन्तर, उसे अपने पास बैठाकर उससे उसका कुल और नाम आदि पूछने लगी। उत्तर में सोमप्रभा ने कहा—'सब कहती हूँ, ठहरो।' एवंक्रमेण उन दोनों की बात-ही-बात में मित्रता हो गई। यह मित्रता दोनों ने परस्पर हाथ-से-हाथ मिलाकर की ।।१०९-११०।।

तब सोमप्रभा ने कहा—'सखि, तुम तो राजकुमारी हो। राजसन्तानों के साथ मित्रता करना कठिन कार्य है। वे लोग छोटे-से ही अपराध से अधिक क्रुद्ध हो जाते हैं। इस विषय में राजपुत्र और वैश्यपुत्र की कथा कहती हूँ, सुनो ।।१११-११२।।

राजपुत्र और वैश्यपुत्र की कथा

पुष्करावती नगरी में गूढसेन नाम का राजा था। उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह घमण्डी राजकुमार, जो भी भला या बुरा करता था, राजा उसे सहन करता था; क्योंकि वह उसका एकमात्र बालक था ।।११३।।

किसी समय उद्यान में भ्रमण करते हुए राजकुमार ने अपने ही समान रूप और धनवाले दत्त नामक बनिये के पुत्र को देखा। देखते ही राजकुमार नें उसे स्वयं वरण किया हुआ मित्र बना लिया। तभी से राजपुत्र और वैश्यपुत्र दोनों एकरूप (अभिन्न मित्र) हो गये ।।११४–११६।।

उन दोनों में, एक दूसरे को, देखे विना नहीं रह सकता था। पूर्वजन्म का संचित प्रेम, शीघ्र ही बाँध लेता है ।।११७।।

राजपुत्र ऐसी किसी भी वस्तु का उपभोग नहीं करता था, जिसके कि एक भाग को वैश्यपुत्र के लिए नहीं रख लेता था ।।११८।।

एक बार उस मित्र का विवाह पहले ही निश्चित करके वह राजकुमार अपने विवाह के लिए अहिच्छत्रा नगरी को चला ।।११९।।

उस मित्र के साथ हाथी पर सवार सैनिकों से युक्त राजकुमार, यात्रा करते हुए सायंकाल इक्षुमती नदी के तट पर ठहर गया ।।१२०।।

वहाँ चन्द्रोदय होने पर मद्यपान करके शय्या पर लेटा हुआ राजकुमार, अपनी सेविका से प्रार्थना किये जाने पर कहानी सुनाने लगा ।।१२१।।

नशे से आक्रान्त राजकुमार कहानी प्रारम्भ करते ही निद्रामग्न हो गया। किन्तु, सेविका और वह वैश्यपुत्र दोनों स्नेह के कारण जागते रह गये ।।१२२।।

तदनन्तर, सब के सो जाने पर वैश्यपुत्र जागता रह गया, और उसने आकाश में स्त्रियों की-सी बातें सुनीं ।।१२३।।

अनाख्याय कथां सुप्तः पापोऽयं तच्छपाम्यहम् ।
परिद्रक्ष्यत्यसौ हारं प्रातस्तं चेद् गृहीष्यति ॥१२४॥
कण्ठलग्नेन तेनैष तत्क्षणं मृत्युमाप्स्यति ।
इत्युक्त्वा विररामैका द्वितीया च ततोऽब्रवीत् ॥१२५॥
अतो यद्ययमुत्तीर्णस्तद्द्रक्ष्यत्याम्रपादपम् ।
वियोक्ष्यते फलान्यस्य ततः प्राणैर्विमोक्ष्यते ॥१२६॥
इत्युक्त्वा व्यरमत्सापि तृतीयाभिदधे ततः ।
यद्येतदपि तीर्णोऽयं तद्विवाहकृते गृहम् ॥१२७॥
प्रविष्टश्चेत्तदेवास्य हन्तुं पृष्ठे पतिष्यति ।
उक्त्वेति न्यवृतत्सापि चतुर्थी व्याहरत्ततः ॥१२८॥
अतोऽपि यदि निस्तीर्णस्तन्नक्तं वासवेश्मनि ।
प्रविष्टः शतकृत्वोऽयं क्षुतं सद्यः करिष्यति ॥१२९॥
शतकृत्वोऽपि यद्यस्य जीवेति न वदिष्यति ।
कश्चिदत्र ततश्चैष मृत्योर्वशमुपैष्यति ॥१३०॥
येन चेदं श्रुतं सोऽस्य रक्षार्थं यदि वक्ष्यति ।
तस्यापि भविता मृत्युरित्युक्त्वा सा न्यवर्त्तत ॥१३१॥
वणिक्सुतश्च तत्सर्वं श्रुत्वा निर्घातदारुणम् ।
स तस्य राजपुत्रस्य स्नेहोद्विग्नो व्यचिन्तयत् ॥१३२॥
उपक्रान्तामनाख्यातां धिक्कथां यद्यलक्षिताः ।
देवताः श्रोतुमायाताः शपन्त्यस्तु कुतूहलात् ॥१३३॥
तदेतस्मिन्मृते राजसुते कोऽर्थो ममासुभिः ।
अतोऽयं रक्षणीयो मे युक्त्या प्राणसमः सुहृत् ॥१३४॥
वृत्तान्तोऽपि न वाच्योऽस्य मा भूद्दोषो ममाप्यतः ।
इत्यालोच्य निशां निन्ये स कृच्छ्रेण वणिक्सुतः ॥१३५॥
राजपुत्रोऽपि स प्रातः प्रस्थितस्तत्सखः पथि ।
ददर्श पुरतो हारं तमादातुमियेष च ॥१३६॥
ततोऽब्रवीद् वणिक्पुत्रो हारं मास्म ग्रहीः सखे ।
मायेयमन्यथा नैते पश्येयुः सैनिकाः कथम् ॥१३७॥

'यह दुष्ट राजपुत्र, कहानी कहे विना ही सो गया। अतः, मैं इसे शाप देती हूँ कि यह प्रातःकाल एक हार देखेगा; उसे देखकर यदि ले लेगा, तो गले में डालते ही इसकी मृत्यु हो जायगी।' इतना कहकर एक स्त्री चुप हो गई और दूसरी कहने लगी ॥१२४-१२५॥

'इससे भी यदि बच जाय, तो आगे जाकर ग्राम के एक वृक्ष को देखेगा, यदि उसके फल तोड़ेगा, तो इसके प्राण निकल जायेंगे' ॥१२६॥

ऐसा कहकर जब दूसरी स्त्री चुप हो गई, तब तीसरी ने कहना प्रारम्भ किया—'यदि इससे भी बच जाय, तो जब यह विवाह के लिए घर में प्रवेश करेगा, तब घर गिर जायगा और यह दबकर मर जायगा।' तीसरी के इस प्रकार कहने पर चौथी बोली—॥१२७-१२८॥

'यदि इससे भी बच गया तो रात को शयनागार में जाकर यह सौ बार छींकेगा। उतनी ही बार हर छींक पर यदि कोई व्यक्ति 'जीओ' नहीं कहेगा, तो यह मर जायगा। और, जिसने हमारी ये बातें सुनी हों तथा जो उसकी रक्षा के लिए उससे कह देगा, उसकी भी मृत्यु हो जायगी।' इतना कह लेने पर वह भी चुप हो गई ॥१२९—१३१॥

बनिये के पुत्र ने वज्रपात के समान भीषण ये बातें सुनीं और राजकुमार के स्नेह से व्याकुल होकर वह सोचने लगा ॥१३२॥

प्रारम्भ की गई और पूरी न कही गई ऐसी कहानी को धिक्कार है, जिसे सुनने के लिए देवियाँ भी आती हैं और शाप देती हैं ॥१३३॥

तो मुझे इस राजपुत्र के मर जाने पर इन प्राणों से क्या प्रयोजन? इसलिए किसी भी उपाय से प्राणों के समान इस मित्र की रक्षा करनी चाहिए ॥१३४॥

उसे यह समाचार भी नहीं कहना है कि जिससे मेरी मृत्यु हो जाय। ऐसा सोचते-सोचते वैश्यपुत्र ने रात्रि व्यतीत की ॥१३५॥

राजपुत्र भी प्रातःकाल उठकर उसके साथ मार्ग में चला। उसने सामने पड़े हुए हार को देखा और उसे लेने की इच्छा की ॥ १३६॥

तब वैश्यपुत्र बोला—'मित्र, इसे मत लो। यह केवल मायाजाल है। नहीं तो इसे ये सैनिक क्यों नहीं देखते?' ॥१३७॥

तच्छ्रुत्वा तं परित्यज्य गच्छन्नग्रे ददर्श सः ।
आम्रवृक्षं फलान्यस्य भोक्तुं चैच्छन्नृपात्मजः ।।१३८।।
वणिक्पुत्रेण च प्राग्वत्ततोऽपि स निवारितः ।
सान्तःखेदः शनैर्गच्छन्प्राप श्वशुरवेश्म तत् ।।१३९।।
तत्रोद्वाहकृते वेश्म वशन्द्वारान्निर्वात्ततः ।
तेनैव सख्या यावच्च तावत्तत्पतितं गृहम् ।।१४०।।
ततः कथञ्चिदुत्तीर्णः किञ्चित्सप्रत्ययो निशि ।
निवासकं विवेशान्यं राजपुत्रो वधूसखः ।।१४१।।
तत्र तस्मिन्वणिक्पुत्रे प्रविश्यालक्षितस्थिते ।
शतकृत्वः क्षुतं चक्रे शयनीयाश्रितोऽथ सः ।।१४२।।
शतकृत्वोऽपि [illegible]यात्र नीचैर्जीवेत्युदीर्य सः ।
कृतकार्यो वणिक्पुत्रो हृष्टः स्वैरं बहिर्ययौ ।।१४३।।
निर्यातं तमपश्यच्च राजपुत्रो वधूसखः ।
ईर्ष्याविस्मृततत्स्नेहः क्रुद्धो द्वाःस्थानुवाच च ।।१४४।।
पापात्मायं रहःस्थस्य प्रविष्टोऽन्तःपुरं मम ।
तद्बद्ध्वा स्थाप्यतां यावत्प्रभातेऽसौ निगृह्यते ।।१४५।।
तद्बुद्ध्वा रक्षिभिर्बद्धो निशां निन्ये वणिक्सुतः ।
प्रातर्वध्यभुवं तैश्च नीयमानोऽब्रवीत्स तान् ।।१४६।।
आदौ नयत मां तावद्राजपुत्रान्तिकं यतः ।
वक्ष्यामि कारणं किञ्चित्ततः कुरुत मे वधम् ।।१४७।।
इत्युक्तैस्तेन तैर्गत्वा विज्ञप्तः स नृपात्मजः ।
सचिवैर्बोधितश्चान्यैस्तस्यानयनमादिशत् ।।१४८।।
आनीतः सोऽब्रवीत्तस्मै वृत्तान्तं राजसूनवे ।
प्रत्ययाद्गृहपातोत्थान्मेने सत्यं च सोऽपि तत् ।।१४९।।
ततस्तुष्टः समं सख्या वधमुक्तेन तेन सः ।
आययौ राजतनयः कृतदारो निजां पुरीम् ।।१५०।।
तत्र सोऽपि सुहृत्तस्य कृतदारो वणिक्सुतः ।
स्तूयमानगुणः सर्वजनैरासीद्यथासुखम् ।।१५१।।
एवमुच्छृङ्खला भूत्वा स्वनियन्तृप्रमाथिनः ।
राजपुत्रा न मन्यन्ते हितं मत्ता गजा इव ।।१५२।।

यह सुनकर आगे जाने पर उसने आम का वृक्ष देखा, और उसके फल खाने की इच्छा प्रकट की। वैश्यपुत्र ने पहले के ही समान उसे रोका। उससे मन-ही-मन खिन्न हुआ राजकुमार धीरे-धीरे श्वशुर-गृह में पहुँचा। वहाँ पर विवाह के लिए निर्मित गृह में प्रवेश करते हुए राजकुमार को वैश्यपुत्र ने रोक दिया। उसके रोकते ही वह मकान गिर गया ॥१३८—१४०॥

वहाँ से किसी प्रकार बचकर निकला और कुछ विश्वस्त हुआ राजपुत्र, रात को पत्नी के साथ दूसरे घर में गया। वहाँ भी वह वैश्यपुत्र छिपकर जा बैठा। राजकुमार पलँग पर बैठते ही छींकने लगा और सौ बार पलँग के नीचे छिपा हुआ वैश्यपुत्र, सौ बार 'जीओ, जीओ' कहता रहा। इस प्रकार, अपना कार्य समाप्त करके प्रसन्न वह वैश्यपुत्र धीरे से बाहर निकला ॥१४१—१४३॥

बाहर जाते हुए उसे, वधू के साथ राजपुत्र ने देख लिया। फलतः, ईर्ष्या से स्नेह को भुलाकर क्रोधावेश में उसने द्वारपालों से कहा ॥१४४॥

'यह पापी एकान्त में मेरे शयनागार में घुस आया। इसलिए, इसे रात भर बाँधकर रखो। प्रातःकाल इसे फाँसी दी जायगी' ॥१४५॥

यह सुनकर पहरेदारों द्वारा बाँधे हुए उस वैश्यपुत्र ने रात व्यतीत की। प्रातःकाल फाँसी पर ले जाये जाते हुए उसने सिपाहियों से कहा ॥१४६॥

'पहले मुझे उस राजपुत्र के समीप ले चलो, मैं उसे कुछ कारण बताऊँगा, तब मेरा वध करना' ॥१४७॥

उससे इस प्रकार कहे गये सिपाहियों, मन्त्रियों एवं अन्य लोगों द्वारा समझाये जाने पर राजपुत्र ने उसे लाने की आज्ञा दी ॥१४८॥

वहाँ लाये गये बनिये के पुत्र ने, राजकुमार ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। विवाह-वाले घर के गिर जाने की घटना से विश्वास करके राजपुत्र ने उसकी बात सच मान ली ॥१४९॥

तब वध से मुक्त उस वैश्यपुत्र के साथ राजपुत्र अपनी पत्नी-सहित प्रसन्न चित्त से अपनी नगरी को लौट आया। वहाँ आकर वैश्यपुत्र भी विवाह करके सभी जनों से प्रशंसा किया जाता हुआ सुखपूर्वक रहने लगा ॥१५०—१५१॥

इसी प्रकार, राजपुत्र मदोन्मत्त हाथी के समान अपने नियन्ता (महावत) की बातें न मानकर उसे भी मार डालते हैं और अपना हित नहीं समझते ॥१५२॥

वेतालैस्तैश्च का मैत्री ये विहस्य हरन्त्यसून् ।
तद्राजपुत्रि सख्यं मे मा स्म व्यभिचरः सदा ॥१५३॥
इति श्रुत्वा कथामेतां हर्म्ये सोमप्रभामुखात् ।
कलिङ्गसेना सस्नेहं तां सखीं प्रत्यभाषत ॥१५४॥
एते पिशाचा न त्वेते राजपुत्रा मताः सखि ।
पिशाचदुर्ग्रहकथामहमाख्यामि ते शृणु ॥१५५॥

पिशाचब्राह्मणयोः कथा

यज्ञस्थलाख्ये कोऽप्यासीदग्रहारे पुरा द्विजः ।
स जातु दुर्गतः काष्ठान्याहर्त्तुमटवीं ययौ ॥१५६॥
तत्र काष्ठं कुठारेण पाटयमानं विधेर्वशात् ।
आपत्य तस्य जङ्घायां भित्त्वान्तः प्रविवेश तत् ॥१५७॥
ततः स प्रस्रवद्रक्तो दृष्ट्वा केनापि मूर्च्छितः ।
उत्क्षिप्यानीयत गृहं पुंसा प्रत्यभिजानता ॥१५८॥
तत्र विह्वलया पत्न्या तस्य प्रक्षाल्य शोणितम् ।
आश्वास्य तस्य जङ्घायां निबद्धो व्रणपट्टकः ॥१५९॥
ततश्चिकित्स्यमानः सन् व्रणस्तस्य दिने दिने ।
न परं न रुरोहैव यावन्नाडीत्वमाययौ ॥१६०॥
ततो नाडीव्रणात् खिन्नो दरिद्रो मरणोद्यतः ।
अभ्येत्य सख्या विप्रेण केनापि जगदे रहः ॥१६१॥
सखा मे यज्ञदत्ताख्यश्चिरं भूत्वातिदुर्गतः ।
पिशाचसाधनं कृत्वा धनं प्राप्य सुखी स्थितः ॥१६२॥
तच्च तत्साधनं तेन ममाप्युक्तं त्वमप्यतः ।
पिशाचं साधय सखे स ते रोपयिता व्रणम् ॥१६३॥
इत्युक्त्वाख्यातमन्त्रोऽसावुवाचास्य क्रियामिमाम् ।
उत्थाय पश्चिमे यामे मुक्तकेशो दिगम्बरः ॥१६४॥
अनाचान्तश्च मुष्टी द्वौ तण्डुलानां यथाक्षमम् ।
द्वाभ्यामादाय हस्ताभ्यां जपन् गच्छेश्चतुष्पथम् ॥१६५॥
तत्र तण्डुलमुष्टी द्वौ स्थापयित्वा ततः सखे ।
मौनेनैव त्वमागच्छेर्मा वीक्षिष्ठाश्च पृष्ठतः ॥१६६॥

उन बैतालों के साथ क्या मित्रता, जो हँसते-हँसते प्राण ले लेते हैं। इसलिए, हे राजपुत्री, मेरी मित्रता में ऐसा विघ्न न करना ।।१५३।।

भवन की छत पर सोमप्रभा से इस प्रकार की कथा सुनकर कलिंगसेना, स्नेह के साथ सखी से कहने लगी ।।१५४।।

सखि, ये राजपुत्र पिशाच हैं, राजपुत्र नहीं। इनको वश में रखना कठिन कार्य है। पिशाच को कठिनता से वश में रखने की एक कथा मैं तुम्हें सुनाती हूँ, सुनो—।।१५५।।

पिशाच और ब्राह्मण की कथा

पूर्वकाल में यज्ञस्थल नामक ग्राम में एक ब्राह्मण रहता था। वह कभी दुर्दशाग्रस्त होकर लकड़ियाँ लेने जंगल में गया ।।१५६।।

वहाँ पर दैववश कुल्हाड़े से फाड़ी जाती हुई लकड़ी का एक टुकड़ा उसकी जाँघ के भीतर घुस गया। रक्त निकल जाने के कारण बेहोश पड़े हुए उसे किसी परिचित व्यक्ति ने उठाकर घर पर लाकर रख दिया ।।१५७–१५८।।

घर पर घबराई हुई उसकी पत्नी ने उसका रक्त धोकर उसकी जाँघ पर पट्टी बाँध दी। उसकी निरन्तर चिकित्सा करने पर भी वह घाव दिन-दिन बढ़ता ही गया और वह नाडी-व्रण (नासूर) बन गया ।।१५९–१६०।।

नाडी-व्रण हो जाने के कारण खिन्न वह दरिद्र ब्राह्मण मरने को तैयार हो गया। तब उसके किसी मित्र ब्राह्मण ने आकर एकान्त में उससे कहा—'यज्ञदत्त नामक मेरा मित्र अत्यन्त निर्धन होकर भी पिशाच की साधना से धन प्राप्त करके सुखी हो गया। इस साधना को उसने मुझे भी बताया है।' अतः, तुम भी पिशाच की साधना करो, वह तुम्हारे इस व्रण को भर देगा ।।१६१—१६३।।

ऐसा कहकर उसने उसे मन्त्र बता दिया और उसकी साधना-क्रिया भी इस प्रकार बताई—'रात के पिछले पहर में उठकर, केशों को खोलकर, नंगे होकर, विना स्नान किये ही, दो मुट्ठी चावल दोनों हाथों में लेकर मन्त्र का जप करते हुए चौराहे पर जाना। वहाँ पर दो मुट्ठी चावल रखकर मौन होकर लौट आना और लौटते हुए पीछे नहीं देखना ।।१६४—१६६।।

एवं कुरु सदा यावत् पिशाचो व्यक्ततां गतः ।
अहं हि हन्मि ते व्याधिमिति त्वां वक्ष्यति स्वयम् ।।१६७।।

ततोऽभिनन्देस्तं सोऽथ तव रोगं हरिष्यति ।
इत्युक्तस्तेन मित्रेण स द्विजस्तत्तथाकरोत् ।।१६८।।

ततः सिद्धः पिशाचः स तस्यार्त्तस्य महौषधीः ।
हिमाचलेन्द्रादानीय रोपयामास तं व्रणम् ।।१६९।।

जगाद च प्रहृष्टं तं सोऽथ लग्नग्रहो द्विजम् ।
देहि व्रणं द्वितीयं मे यावत्तं रोपयाम्यहम् ।।१७०।।

न चेत्सृजाम्यनर्थं ते शरीरं संहरामि वा ।
तच्छ्रुत्वा स द्विजो भीतः सद्यो मुक्त्यै तमभ्यधात् ।।१७१।।

व्रणं द्वितीयं दास्यामि सप्तभिस्ते दिनैरिति ।
ततस्तेनोज्झितः सोऽभून्निराशो जीविते द्विजः ।।१७२।।

इत्युक्त्वा विरता मध्यादश्लीलाख्यानलज्जया ।
कलिङ्गसेना भूयः सावादीत्सोमप्रभामिदम् ।।१७३।।

ततो व्रणान्तरालाभादार्त्तं विप्रमुवाच तम् ।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा च दुहिता विदग्धा मृतभर्त्तृका ।।१७४।।

वञ्चयेऽहं पिशाचं तं गच्छ त्वं ब्रूहि तं पुनः ।
नाडीव्रणो मद्दुहितुर्भवतारोप्यतामिति ।।१७५।।

तच्छ्रुत्वा मुदितो गत्वा तथैवोक्त्वा च स द्विजः ।
अनैषीद्दुहितुस्तस्याः पिशाचं तं ततोऽन्तिकम् ।।१७६।।

सा च तस्य पिशाचस्य वराङ्गं स्वमदर्शयत् ।
रोपयेमं व्रणं भद्र ममेति ब्रुवती रहः ।।१७७।।

स च मूढः पिशाचोऽस्या वराङ्गे सततं ददौ ।
पिण्डीलेपादि न त्वासीत्स तं रोपयितुं क्षमः ।।१७८।।

दिनैश्च खिन्नस्तस्याः स कृत्वा जङ्घे निजांसयोः ।
किंस्विन्न रोहतीत्येवं तद्वराङ्गं व्यलोकयत् ।।१७९।।

यावद्द्वितीयं तस्याधः स पायुव्रणमैक्षत ।
तं दृष्ट्वैव च सम्भ्रान्तः स पिशाचो व्यचिन्तयत् ।।१८०।।

जबतक पिशाच प्रकट होकर स्वयं यह न कहे कि मैं तुम्हारे घाव को अच्छा कर देता हूँ, तबतक बोलना नहीं। उसके कहने पर उसका अभिनन्दन करना वह तुम्हारा रोग अच्छा कर देगा।' मित्र के कहने पर उस ब्राह्मण ने ऐसा ही किया। फलतः, वह पिशाच सिद्ध हो गया। तदनन्तर, उसने हिमाचल से औषधि लाकर उसके उस नाडीव्रण (नासूर) को अच्छा कर दिया। घाव के अच्छे हो जाने पर ग्रह के समान लगा हुआ वह पिशाच कहने लगा—'मुझे दूसरा घाव दो, तो मैं उसे अच्छा करूँ ॥१६७–१७०॥

अन्यथा, मैं कोई अनर्थ कर डालूँगा या तुम्हें मार डालूँगा'। यह सुनकर उस भयभीत ब्राह्मण ने शीघ्र ही पीछा छुड़ाने के लिए कहा—'मैं सात दिनों में तुम्हें दूसरा घाव दूँगा'। इस प्रकार, पिशाच से मुक्त वह ब्राह्मण जीवन के प्रति निराश हो गया ॥१७१-१७२॥

इतना कहकर कलिंगसेना मध्य में ही अश्लील कथा आने के कारण लज्जा से चुप हो गई और सोमप्रभा से फिर कहने लगी ॥१७३॥

दूसरा व्रण (घाव) न मिलने से अत्यन्त पीडित अपने पिता को देखकर ब्राह्मण की चतुर और विधवा कन्या सब समाचार जानकर उससे बोली—'मैं उस पिशाच को ठग लूँगी। तुम उससे जाकर कह दो कि मेरी कन्या को नाडीव्रण (नासूर) है, उसे भर दो' ॥१७४–१७५॥

यह सुनकर प्रसन्न ब्राह्मण, पिशाच से जाकर उसी प्रकार बोला और उसे अपनी कन्या के पास ले आया ॥१७६॥

उस कन्या ने उस पिशाच को एकान्त में अपना गुप्तांग (जननेन्द्रिय) दिखाते हुए कहा, इसे भर दो ॥१७७॥

उस मूर्ख पिशाच ने, उसके गुप्तांग पर औषधि-लेप आदि अनेक प्रयोग किये; किन्तु वह उसे बन्द न कर पाया ॥१७८॥

कुछ दिनों के पश्चात् तंग आकर उसने उस कन्या के दोनों पैर कन्धे पर रखकर उसे भली भाँति देखना चाहा कि यह क्यों नहीं भर रहा है, इतने में ही उसे उसका दूसरा व्रण (मलद्वार) दिखाई पड़ा। उसे देखकर घबराया हुआ मूर्ख पिशाच सोचने लगा ॥१७९–१८०॥

एको न रोपितो यावदुत्पन्नोऽयं व्रणोऽपरः ।
सत्यः प्रवादो यच्छिद्रेष्वनर्था यान्ति भूरिताम् ॥१८१॥
प्रभवन्ति यतो लोकाः प्रलयं यान्ति येन च ।
संसारं वर्त्म विवृतं कः पिधातुं तदीश्वरः ॥१८२॥
इत्यालोच्य विरुद्धार्थसिद्ध्या बन्धनशङ्कया ।
स पिशाचस्ततो मूर्खः पलाय्यादर्शनं ययौ ॥१८३॥
एवं च वञ्चयित्वा तं पिशाचं मोचितस्तया ।
दुहित्रा स द्विजस्तस्थौ रोगोत्तीर्णो यथासुखम् ॥१८४॥
इत्थं पिशाचास्तत्तुल्या बाला राजसुताश्च ये ।
ते सिद्धा अप्यनर्थाय सखि रक्ष्यास्तु बुद्धिभिः ॥१८५॥
राजपुत्र्यः कुलीनास्तु नैतादृश्यः श्रुताः क्वचित् ।
अतोऽन्यथा न भाव्यं ते सखि मत्सङ्गतं प्रति ॥१८६॥
एवं कलिङ्गसेनाया मुखाच्छ्रुत्वा यथाक्रमम् ।
सहासचित्रमधुरं तोषं सोमप्रभा ययौ ॥१८७॥
इतो मे षष्टियोजन्यां गृहं याति च वासरः ।
चिरं स्थितास्मि तत्तन्वि यामीत्यैतामुवाच च ॥१८८॥
ततोऽस्तगिरिशेखरं व्रजति वासरेशे शनैः
सखीं पुनरुपागमत्प्रणयिनीं समापृच्छ्य ताम् ।
क्षणं जनितविस्मया गगनमार्गमुत्पत्य सा
जगाम वसतिं निजां प्रसभमेव सोमप्रभा ॥१८९॥
विलोक्य च तदद्भुतं बहुवितर्कमत्यद्भुतम्
प्रविश्य समचिन्तयत् किल कलिङ्गसेना च सा ।
न वेद्मि किमसावहो मम सखी हि सिद्धाङ्गना
भवेत्किमथवाप्सराः किमथवापि विद्याधरी ॥१९०॥
दिव्या तावदियं भवत्यवितथं व्योमाग्रसञ्चारिणी
दिव्या यान्ति च मानुषीभिरसमस्नेहाहृताः सङ्गतिम् ।
भेजे किं नृपतेः पृथोस्तनयया सख्यं न सारुन्धती
तत्प्रीत्या पृथुरानिनाय सुरभिं स्वर्गान्न किं भूतले ॥१९१॥
तत्क्षीराशनतो न किं पुनरसौ भ्रष्टोऽपि यातो दिवं
सम्भूताश्च ततः प्रभृत्यविकला गावो न किं भूतले ।
तद्धन्यास्मि शुभोदयादुपनता दिव्या सखीयं मम
प्रातश्चान्वयनामनी सुनिपुणं प्रक्ष्यामि तामागताम् ॥१९२॥

अभी तक एक घाव तो भरा नहीं, तबतक यह दूसरा घाव उत्पन्न हो गया। यह कहावत सच है कि छिद्रों में अधिक अनर्थ होते हैं। जिस संसार-मार्ग से लोग आते हैं और नष्ट होते हैं, भला, उस संसार-मार्ग को कौन बन्द कर सकता है। ऐसा सोचकर और उल्टा अपराध चढ़ने और पकड़े जाने की शंका से वह मूर्ख पिशाच भागकर अन्तर्धान हो गया ।।१८१—१८३।।

इस प्रकार, कन्या द्वारा ठगकर उस पिशाच से छुड़ाया हुआ वह नीरोग ब्राह्मण सुखपूर्वक रहने लगा ।।१८४।।

पिशाच ऐसे होते हैं। इसी प्रकार, बालक राजपुत्र भी होते हैं। वे सिद्ध होकर भी अनर्थकारी होते हैं। उनसे बचने के लिए बुद्धि द्वारा अपनी रक्षा करनी चाहिए। किन्तु, कुलीन राजपुत्रियाँ ऐसी कहीं सुनी नहीं गईं। इसलिए हे सखि, मेरी संगति (मैत्री) के सम्बन्ध में तुम ऐसी कुछ विरुद्ध बात न समझना ।।१८५–१८६।।

कलिंगसेना के मुँह से हास्य, अद्भुत और मधुर रस से पूर्ण इस प्रकार की कहानी सुनकर सोमप्रभा प्रसन्न हुई ।।१८७।।

और कहने लगी, 'सखि ! मेरा घर यहाँ से साठ योजन (२४० कोस) पर है। दिन छिप रहा है। बहुत देर तक यहाँ रुक गई। अतः, अब जाती हूँ' ।।१८८।।

धीरे-धीरे सूर्य के अस्ताचल पर्वत-शिखर की ओर जाने पर, फिर आने की उत्कण्ठा रखती हुई सखी कलिंगसेना को पूछकर क्षण-भर के लिए चकित करती हुई वह सोमप्रभा अपने घर को चली गई ।।१८९।।

इधर वह कलिंगसेना भी घर के कमरे में जाकर सोमप्रभा के आश्चर्य और विविध कौतुकपूर्ण सम्बन्ध में सोचने लगी कि मालूम नहीं, यह मेरी सखी सोमप्रभा क्या कोई सिद्ध नारी है या अप्सरा है अथवा विद्याधरी है ।।१९०।।

आकाश में संचरण करनेवाली यह अवश्य ही कोई दिव्य स्त्री है। दिव्य स्त्रियाँ भी मानव-स्त्रियों के साथ असाधारण स्नेह और मित्रता रखती हैं। क्या पूर्व समय में राजा पृथु की कन्या के साथ दिव्य अरुन्धती की मित्रता नहीं थी, उसी प्रेम से राजा पृथु कामधेनु गौ को पृथ्वी पर नहीं लाया ? ।।१९१।।

उस कामधेनु का दूध पीने से ही क्या पृथु राजा भ्रष्ट होने पर भी फिर स्वर्ग नहीं गया ? तबसे पृथ्वी पर निरन्तर गायों की सृष्टि नहीं हुई ? इसलिए, मैं धन्य हूँ। किसी भावी शुभ फल के लिए ही यह दिव्य कन्या मेरी सखी बनी है। ? अब प्रातःकाल उसके आने पर भली भाँति कुल, नाम आदि का पता मालूम करूँगी ।।१९२।।

इत्यादि राजतनया हृदि चिन्तयन्ती
तां यामिनीमनयदत्र कलिङ्गसेना ।
सोमप्रभा च निजवेश्मनि भूय एव
तद्दर्शनोत्सुकमना रजनीं निनाय ॥१९३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

कलिङ्गसेनायाः कथा (पूर्वतोऽनुवृत्ता)

ततः सोमप्रभा प्रातस्तद्विनोदोपपादिनीम् ।
न्यस्तदारुमयानेकमायासद्यन्त्रपुत्रिकाम् ॥१॥
करण्डिकां समादाय सा नभस्तलचारिणी ।
तस्याः कलिङ्गसेनाया निकटं पुनराययौ ॥२॥
कलिङ्गसेनाप्यालोक्य तामानन्दाश्रुनिर्भरा ।
उत्थाय कण्ठे जग्राह पार्श्वासीनामुवाच च ॥३॥
त्वदीयमुखपूर्णेन्दुदर्शनेन विना सखि ।
तमोमयी त्रियामाद्य शतयामेव मे गता ॥४॥
तज्जन्मान्तरसम्बन्धः कीदृशः स्यात्त्वया मम ।
यस्यायं परिणामोऽद्य त्वं देवि वेत्सि चेद् वद ॥५॥
तच्छ्रुत्वा राजपुत्रीं तामेवं सोमप्रभाब्रवीत् ।
ईदृङ् मे नास्ति विज्ञानं नहि जातिं स्मराम्यहम् ॥६॥
न चात्र मुनयोऽभिज्ञाः केचित्तु यदि जानते ।
तैः कृतं तादृशं पूर्वं परतत्त्वविदश्च ते ॥७॥
एवमुक्तवतीं भूयः प्रेमविश्रम्भपेशलम् ।
कलिङ्गसेना पप्रच्छ विजने तां स सकौतुका ॥८॥
ब्रूहि मे सखि कस्येह देवजातेः पितुस्त्वया ।
जन्मनालङ्कृतो वंशो मुक्तयेव सुवृत्तया ॥९॥
जगत्कर्णामृतं किं च तव नाम सुलक्षणे ।
करण्डिका किमर्थेयमस्यामस्ति च वस्तु किम् ॥१०॥

वह राजकुमारी कलिंगसेना, इस प्रकार की विविध बातें सोचती-सोचती कठिनाई से रात व्यतीत कर सकी। उधर सोमप्रभा ने भी राजकुमारी के पुनर्दर्शन की लालसा में उत्कण्ठित रहकर रात बिताई ॥१९३॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के मदनमंचुका लम्बक का दूसरा तरंग समाप्त।

तीसरा तरंग

कलिंगसेना का वृत्तान्त (क्रमशः)

तदनन्तर, प्रातःकाल होते ही सोमप्रभा ने सखी के मनोविनोद के लिए एक डोलची में लकड़ी की पुतलियों तथा विविध प्रकार के यन्त्रमय खिलौनों को सजाया और उसे साथ लेकर आकाश में विहार करती हुई वह राजकुमारी कलिंगसेना के घर पर पहुँची ॥१-२॥

कलिंगसेना भी उसे आती हुई देखकर आनन्द के आँसुओं में भरी हुई उठकर उसके पास गई और उसे गले लगाकर पास में बैठाकर कहने लगी– 'हे सखि ! तुम्हारे मुख-रूपी पूर्ण चन्द्रमा के दर्शन के बिना आज की मेरी काली त्रियामा (तीन प्रहरोंवाली रात) शतयामा (सौ प्रहरोंवाली रात) के समान व्यतीत हुई ॥३–४॥

न जाने तुम्हारे साथ मेरा पूर्वजन्म का कौन-सा सम्बन्ध है, जिसका कि यह परिणाम है। हे देवि, यदि जानती हो, तो कहो' ॥५॥

यह सुनकर सोमप्रभा उस राजपुत्री से इस प्रकार कहने लगी—'मुझे इतना ज्ञान नहीं है। मैं पूर्वजन्म को स्मरण करनेवाली नहीं हूँ ॥६॥

इस विषय को मुनि लोग भी नहीं जानते; जो जानते भी हैं, तो पूर्वजन्म में उनका ऐसा ही पुण्य अर्जित रहता है कि जिससे वे दूसरों के पूर्वजन्म की बात जानते हैं' ॥७॥

इस प्रकार, प्रेम और विश्वास से सोमप्रभा को मधुर वाणी कहती हुई कलिंगसेना ने, एकान्त में, कौतुक के साथ पूछा ॥८॥

'हे सुलक्षणे सखि, यह तो बता कि सुन्दर चरित्रवाली तूने अपने जन्म से किस देवजाति के वंश को मोती के समान धन्य किया है। संसार के कानों के लिए सुनने में अमृत के समान तेरा नाम क्या है ? इस बाँस की डोलची को क्यों लाई है और इसमें क्या वस्तु है ॥९–१०॥

एवं कलिङ्गसेनायाः श्रुत्वा सप्रणयं वचः ।
सोमप्रभा सा सर्वं तत्क्रमाद् वक्तुं प्रचक्रमे ॥११॥

सोमप्रभावृत्तान्तः

अस्ति त्रिजगति ख्यातो मयो नाम महासुरः ।
आसुरं भावमुत्सृज्य शौरिं[1] स शरणं श्रितः ॥१२॥
तेन दत्ताभयश्चक्रे स च वज्रभृतः सभाम् ।
दैत्याश्च देवपक्षोऽयमिति तं प्रति चुक्रुधुः ॥१३॥
तद्भयात्तेन विन्ध्याद्रौ मायाविवरमन्दिरम् ।
अगम्यमसुरेन्द्राणां बह्वाश्चर्यमयं कृतम् ॥१४॥
तस्यावां द्वे दुहितरौ मयस्य ब्रह्मचारिणी ।
ज्येष्ठा स्वयम्प्रभा नाम कुमारी तद्गृहस्थिता ॥१५॥
अहं सोमप्रभा नाम कनिष्ठा सा त्वहं सखि ।
नलकूबरसंज्ञाय दत्ता धनदसूनवे ॥१६॥
पित्रा च शिक्षितास्मीह मायायन्त्राण्यनेकधा ।
त्वत्प्रीत्या चेयमानीता पूर्णा यन्त्रकरण्डिका ॥१७॥
इत्युक्त्वादर्शयत्तस्याः प्रोद्घाट्य बहुकौतुकाः ।
सोमप्रभा काष्ठमयीः स्वमायायन्त्रपुत्रिकाः ॥१८॥
कीलिकाहतिमात्रेण काचिद् गत्वा विहायसा ।
तदाज्ञया पुष्पमालामादाय द्रुतमाययौ ॥१९॥
काचित्तथैव पानीयमानिनाय यदृच्छया ।
काचिन्ननर्त्त काचिच्च कथालापमथाकरोत् ॥२०॥
इत्यादिभिर्महाश्चर्यैः कञ्चित्कालं विनोद्य ताम् ।
सुरक्षितां स्थापयित्वा तां च यन्त्रकरण्डिकाम् ॥२१॥
कलिङ्गसेनामामन्त्र्य सोत्कां सोमप्रभा ततः ।
ययौ भर्त्तुपरायत्ता नभसा निजमन्दिरम् ॥२२॥
कलिङ्गसेनाप्याश्चर्यदर्शनध्वस्तया क्षुधा ।
प्रहृष्टास्तदहस्तस्थौ सर्वाहारपराङ्मुखी ॥२३॥

---

१. कुत्रापि पुस्तके शिवमिति पाठः । स एव सङ्गतः प्रतीयते । यतोऽयं मयासुरः परमशिवभक्त आसीदिति पुरः स्पष्टीभविष्यति ।

इस प्रकार, कलिंगसेना के स्नेह-भरे वचन सुनकर सोमप्रभा क्रम से सब कहने लगी ॥११॥

सोमप्रभा की कथा

तीनों लोक में विख्यात मय नाम का एक असुर है। उसने अपने आसुरी भाव को छोड़कर भगवान् विष्णु[१] की शरण ली ॥१२॥

विष्णु से अभयदान प्राप्त कर उसने इन्द्र की सुधर्मा नामक सभा का निर्माण किया। इसलिए, उसे देवताओं का पक्षपाती मानकर दैत्यगण उसपर क्रोध करने लगे ॥१३॥

उनके भय से उसने विन्ध्यपर्वत में एक मायामय गुहा-मन्दिर का निर्माण किया। वह बड़े-बड़े असुरों के लिए अगम्य और अनेक आश्चर्यों से भरा है ॥१४॥

उस मय नामक असुर की हम दो ब्रह्मचारिणी कन्याएँ हैं। बड़ी स्वयम्प्रभा नाम की कुमारी घर में रहती है ॥१५॥

मैं उसकी सोमप्रभा नाम की छोटी कन्या हूँ और कुबेर के पुत्र नलकूबर को दी गई हूँ। मेरे पिता ने मुझे अनेक मायामन्त्र सिखाये हैं। तुम्हारे प्रेम से लाये गये यन्त्रमय खिलौने से यह डोलची भरी है ॥१६-१७॥

ऐसा कहकर उसने डोलची को खोलकर लकड़ी की बनी हुई अनेक पुतलियाँ उसे दिखाईं ॥१८॥

कोई पुतली, कुंजी घुमाने से आकाश में उड़कर उसकी आज्ञा से फूलों की माला ले आई। कोई इसी प्रकार पानी ले आई, कोई नाचने लगी और कोई बातचीत करने लगी ॥१९-२०॥

इस प्रकार के महान् आश्चर्यों से उसने कुछ समय तक कलिंगसेना का मनोविनोद करके पुतलियों को डोलची में रख दिया। तदनन्तर, उत्कण्ठित कलिंगसेना से पूछकर, सोमप्रभा पति की सेवा के लिए आकाश-मार्ग से अपने घर चली गई ॥२१-२२॥

कलिंगसेना उन पुतलियों के आश्चर्य को देखकर इतनी हर्षित हुई कि वह अपनी भूख को भी भूल गई। उस दिन उसने भोजन नहीं किया। प्रसन्नता से निराहार रह गई ॥२३॥

---

१. किसी पुस्तक में मयासुर को शिवभक्त लिखा है। वास्तव में, यह शिवभक्त ही था।—अनु०

तद्दृष्ट्वा च ततस्तस्या जननी रोगशङ्किनी ।
आनन्दाख्येन भिषजा निरूप्याविकलोदिता ॥२४॥
कुतोऽपि हेतोर्हर्षेण नष्टास्याः क्षुन्न रोगतः ।
उत्फुल्लनेत्रं वक्त्येतदस्या हसदिवाननम् ॥२५॥
इत्युक्ता भिषजा हर्षहेतुं तज्जननी च सा ।
पप्रच्छ तां यथावृत्तं सापि तस्यै तदब्रवीत् ॥२६॥
ततः श्लाघ्यसखीसङ्गहृष्टां मत्वाभिनन्द्य च ।
आहारं कारयामास जननीं तां यथोचितम् ॥२७॥
अथान्येद्युरुपागत्य विदितार्था क्रमेण सा ।
कलिङ्गसेनां तामेवं रहः सोमप्रभाभ्यधात् ॥२८॥
मया त्वत्सख्यमावेद्य त्वत्पार्श्वागमनेऽन्वहम् ।
अनुज्ञा ज्ञानिनो भर्त्तुर्गृहीता विदितार्थतः ॥२९॥
तस्मात्त्वमप्यनुज्ञाता पितृभ्यां भव साम्प्रतम् ।
येन स्वैरं मया साकं निःशङ्का विहरिष्यसि ॥३०॥
एवमुक्तवतीं हस्ते तौ गृहीत्वैव तत्क्षणम् ।
कलिङ्गसेना स्वपितुर्मातुश्च निकटं ययौ ॥३१॥
तत्र नामान्वयाख्यानपूर्वं चैतामदर्शयत् ।
पित्रे कलिङ्गदत्ताय राज्ञे सोमप्रभां सखाम् ॥३२॥
मात्रे च तारादत्तायै तथैवैतामदर्शयत् ।
तौ च दृष्ट्वा यथाख्यानमेनामभिननन्दतुः ॥३३॥
ऊचतुश्चाकृतिप्रीतौ दम्पती तावुभौ ततः ।
सत्कृत्य दुहितृस्नेहात्तां महासुरसुन्दरीम् ॥३४॥
वत्से कलिङ्गसेनेयं हस्ते तव समर्पिता ।
तदिदानीं यथाकाममुभे विहरतां युवाम् ॥३५॥
एतत्तयोर्वचो द्वे चाप्यभिनन्द्य निरीयतुः ।
समं कलिङ्गसेना च सा च सोमप्रभा ततः ॥३६॥
जग्मतुश्च विहाराय विहारं राजनिर्मितम् ।
आनिन्यतुश्च तां तत्र मायायन्त्रकरण्डिकाम् ॥३७॥
ततो यन्त्रमयं यक्षं गृहीत्वा प्राहिणोत्तदा ।
सोमप्रभा स्वप्रयोगाद् बुद्धार्चानयनाय सा ॥३८॥
स यक्षो नभसा गत्वा दूरमध्वानमाययौ ।
आदाय मुक्तासद्रत्नहेमाम्बुरुहसञ्चयम् ॥३९॥

यह देखकर उसकी माता ने रोग की शंका से उसे आनन्द नामक वैद्य को दिखाया और आनन्द ने उसकी भली भाँति परीक्षा करके बताया—॥२४॥

'किसी अत्यन्त हर्ष के कारण इसकी भूख नष्ट हो गई; रोग से नहीं। विकसित नयनोंवाला हँसता हुआ इसका मुख भी यही बताता है' ॥२५॥

ऐसा सुनकर उसकी माता ने उससे हर्ष का कारण पूछा, तो उसने सारी घटना अपनी माता को सुना दी ॥२६॥

तदनन्तर, अच्छी सहेली की मित्रता से प्रसन्न कलिंगसेना का अभिनन्दन करके माता ने समयानुकूल भोजन कराया ॥२७॥

अनन्तर एक दिन इस घटना को जाननेवाली सोमप्रभा एकान्त में कलिंगसेना से मिलकर कहने लगी ॥२८॥

मैंने अपने सर्वज्ञ पति से तेरा सारा वृत्तान्त सुनाकर प्रतिदिन तेरे पास आने की आज्ञा ले ली ॥२९॥

इसलिए, तू भी अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर मेरे यहाँ चलने की तैयारी कर। ऐसा होने पर तू भी मेरे साथ स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण कर सकेगी ॥३०॥

ऐसा कहती हुई सोमप्रभा कलिंगसेना का हाथ पकड़कर उसे अपने माता-पिता के पास ले गई ॥३१॥

वहाँ जाकर उसने अपनी सहेली सोमप्रभा के नाम और कुल आदि का परिचय देते हुए अपने माता-पिता को दिखलाया ॥३२॥

माता तारादत्ता को भी उसे दिखाया और वे दोनों कलिंगसेना के कथनानुसार सोमप्रभा को देखकर प्रसन्न हुए ॥३३॥

सोमप्रभा की आकृति से प्रसन्न वे दोनों अत्यन्त स्नेह से सोमप्रभा का स्वागत-सत्कार करके बोले —'बेटी ! इस कलिंगसेना को हमने तुम्हारे हाथ सौंप दिया है। अब तुम दोनों अपनी इच्छानुसार खेलो' ॥३४–३५॥

उनके वचनों से प्रसन्न होकर सोमप्रभा और कलिंगसेना दोनों वहाँ से एक साथ निकलीं ॥३६॥

तदनन्तर, वह राजा द्वारा बनवाये गये विहार का विहार (सैर) करने चलीं और मायामय यन्त्रों की डोलची भी लाई। वहाँ विहार में सोमप्रभा ने यन्त्र के बने यक्ष को बुद्ध की पूजा का सामान लाने की आज्ञा दी। वह यक्ष सोमप्रभा के आज्ञानुसार लम्बा रास्ता तय करके रत्न, मोती और सोने के कमल आदि लेकर आ गया ॥३७—३९॥

तेनाभिपूज्य सुगतान्भासयाभास तत्र सा ।
सोमप्रभा सनिलयान्सर्वाश्चर्यप्रदायिना ॥४०॥
तद्बुध्वागत्य दृष्ट्वा च विस्मितो महिषीसखः ।
राजा कलिङ्गदत्तस्तामपृच्छद्यन्त्रचेष्टितम् ॥४१॥
ततः सोमप्रभावादीद्राजन्नेतान्यनेकधा ।
मायायन्त्रादिशिल्पानि पित्रा सृष्टानि मे पुरा ॥४२॥
यथा चेदं जगद्यन्त्रं पञ्चभूतात्मकं तथा ।
यन्त्राद्येतानि सर्वाणि शृणु तानि पृथक् पृथक् ॥४३॥
पृथ्वीप्रधानं यन्त्रं यद्द्वारादि विदधाति तत् ।
पिहितं तेन शक्नोति न चोद्घाटयितुं परः ॥४४॥
आकारस्तोययन्त्रोत्थः सजीव इव दृश्यते ।
तेजोमयं तु यद्यन्त्रं तज्ज्वाला परिमुञ्चति ॥४५॥
वातयन्त्रं च कुरुते चेष्टागत्यागमादिकाः ।
व्यक्तीकरोति चालापं यन्त्रमाकाशसम्भवम् ॥४६॥
मया चैतान्यवाप्तानि तातात् किं त्वमृतस्य यत् ।
रक्षकं चक्रयन्त्रं तत्तातो जानाति नापरः ॥४७॥
इति तस्या वदन्त्यास्तद्वचः श्रद्दधतामिव ।
मध्याह्ने पूर्यमाणानां शङ्खानामुदभूद्ध्वनिः ॥४८॥
ततः स्वोचितमाहारं दातुं विज्ञाप्य तं नृपम् ।
प्राप्यानुज्ञां विमाने तां सानुगां यन्त्रनिर्मिते ॥४९॥
कलिङ्गसेनामादाय प्रतस्थे गगनेन सा ।
सोमप्रभा पितृगृहं ज्येष्ठायाः स्वसुरन्तिकम् ॥५०॥
क्षणाच्च प्राप्य विन्ध्याद्रिवर्त्ति तत्पितृमन्दिरम् ।
तस्याः स्वयम्प्रभायाश्च पार्श्वं तामनयत्स्वसुः ॥५१॥
तत्रापश्यज्जटाजूटमालिनीं तां स्वयम्प्रभाम् ।
कलिङ्गसेना लम्बाक्षमालां सा ब्रह्मचारिणीम् ॥५२॥
सुसिताम्बरसंवीता हसन्तीमिव पार्वतीम् ।
कामभोगमहाभोगगृहीतोग्रतपःक्रियाम् ॥५३॥
सापि सोमप्रभाख्यातां प्रणतां तां नृपात्मजाम् ।
स्वयम्प्रभा कृतातिथ्या संविभेजे फलाशनैः ॥५४॥

उन रत्नों, मोतियों और स्वर्णकमलों से पूजा करके सोमप्रभा ने बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति को सुन्दरता से अलंकृत कर दिया, यह सुनकर राजा कलिंगदत्त अपनी रानी के साथ वहाँ आया और उसने यन्त्रों के सम्बन्ध में सोमप्रभा से पूछा ।।४०।।

तब सोमप्रभा ने राजा से कहा—'राजन् ! पहले समय में मेरे पिता ने ऐसी-ऐसी कूटयन्त्र आदि की अनेक कारीगरी की थी । उन्हीं के बनाये ये यन्त्र हैं । इनमें पंचभूतों के समुदाय से बनाया हुआ एक जगत् यन्त्र है। इसके अतिरिक्त ये और यन्त्र हैं। इनका अलग-अलग परिचय आप सुनें ।।४१—४३।।

एक यन्त्र पृथ्वी-तत्त्वप्रधान है, जो द्वार आदि को बन्द कर देता है । इस यन्त्र द्वारा बन्द किये गये द्वार किसी से भी नहीं खुल सकते ।।४४।।

दूसरे, इस जल-तत्त्वप्रधान यन्त्र का आकार सजीव-सा प्रतीत होता है। तीसरा तेजस्तत्त्व-प्रधान यन्त्र ज्वाला फेंकता है ।।४५।।

चौथा, वात-तत्त्वप्रधान यन्त्र, आने-जाने, चलने-फिरने आदि की क्रिया करता है। पाँचवाँ, आकाश-तत्त्वप्रधान यन्त्र, आकाश में होनेवाला वार्त्तालाप करता है ।।४६।।

मैंने पिता से इन यन्त्रों को प्राप्त किया है; किन्तु अमृत की रक्षा करनेवाले चक्रयन्त्र का रहस्य मेरे पिता ही केवल जानते हैं, दूसरा नहीं ।।४७।।

जब सोमप्रभा इस प्रकार राजा से यन्त्रों का विवरण कर रही थी, उसी समय मानों उसकी बातों का समर्थन करने के लिए बजाये जाते हुए शंखों की ध्वनि हुई ।।४८।।

तब भोजन के लिए राजा के पूछने पर और अपने योग्य भोजन राजा से मँगा देने के लिए कहकर तथा उससे आज्ञा लेकर सोमप्रभा कलिंगसेना को साथ लिये हुई यन्त्र-निर्मित विमान से अपने घर की ओर चली और अपनी सहेली कलिंगसेना को अपनी बड़ी बहिन स्वयंप्रभा के पास ले गई ।।४९—५१।।

कलिंगसेना ने वहाँ उस स्वयंप्रभा को जटाजूट धारण किये हुई, माला पहिने हुई, लटकती हुई स्फटिक की मालावाली और अत्यन्त स्वच्छ श्वेत वस्त्र से लिपटी हुई, मानों हँसती हुई पार्वती के समान कामभोग-रूपी महाभोग के लिए उग्र तपःक्रिया करती हुई देखा ।।५२–५३।।

स्वयंप्रभा ने भी सोमप्रभा द्वारा परिचित कराई गई राजकुमारी कलिंगसेना को फलाहार देकर उसका स्वागत-सत्कार किया ।।५४।।

सखि भुक्तैः फलैरेतैर्जरा ते न भविष्यति ।
विनाशिन्यस्य रूपस्य पद्मस्येव हिमाहतिः ॥५५॥
एतदर्थमिह स्नेहादानीता भवती मया ।
इति सोमप्रभा चैतां राजपुत्रीमभाषत ॥५६॥
ततः कलिङ्गसेनात्र तान्यभुङ्क्त फलानि सा ।
सद्योऽमृतरसासारसिक्ताङ्गीव बभूव च ॥५७॥
ददर्श च पुरोद्यानं भ्रमन्ती तत्र कौतुकात् ।
ससुवर्णाब्जवापीकं सुधास्वादुफलद्रुमम् ॥५८॥
हैमचित्रखगाकीर्णं सन्मणिस्तम्भविभ्रमम् ।
भित्तिबुद्धिकरं शून्ये भित्तौ शून्यप्रतीतिदम् ॥५९॥
जले स्थलधियं कुर्वत्स्थले च जलबुद्धिकृत् ।
लोकान्तरमिवापूर्वं मयमायाविनिर्मितम् ॥६०॥
प्रविष्टपूर्वं प्लवगैः पुरा सीतागवेषिभिः ।
स्वयम्प्रभाप्रसादेन चिरात्सम्प्राप्तनिर्गमैः ॥६१॥
ततस्तदद्भुतपुरप्रकामालोकविस्मिताम् ।
अजराभाजनीभूतां तामापृच्छ्य स्वयम्प्रभाम् ॥६२॥
कलिङ्गसेनामारोप्य यन्त्रे भूयो विहायसा ।
सोमप्रभा तक्षशिलामानिनाय स्वमन्दिरम् ॥६३॥
तत्र सा तद्यथावस्तु पित्रोः सर्वमवर्णयत् ।
कलिङ्गसेना तौ चापि परं सन्तोषमीयतुः ॥६४॥
इत्थं तयोर्द्वयोः सख्योर्गच्छत्सु दिवसेष्वथ ।
ऊचे कलिङ्गसेनां तामेवं सोमप्रभैकदा ॥६५॥
यावन्न परिणीता त्वं तावत्सख्यं मम त्वया ।
त्वद्भर्तृभवने पश्चान्मम स्यादागमः कुतः ॥६६॥
न दृश्यो हि सखीभर्त्ता नाङ्गीकार्यः कथञ्चन ।
अवेर्वृकीव स्नुषायाः श्वश्रूर्मांसानि खादति ॥६७॥
तथा च शृणु वच्म्येतां कीर्त्तिसेनाकथां तव ।
... ...[1] ॥६८॥

१. मूलपुस्तके त्रुटितोऽत्र पाठः ।

तब सोमप्रभा ने कहा—'सखी, इन फलों के खाने से, कमलिनी को नष्ट करनेवाली हिमवर्षा के समान तुम्हारे सुन्दर रूप को नष्ट करनेवाली वृद्धावस्था कभी नहीं आयगी। इसीलिए, मैं तुम्हें यहाँ लाई हूँ ॥५५-५६॥

उन फलों को खाते ही, तत्क्षण कलिंगसेना अपने शरीर को अमृत की वर्षा से सिंचित जैसा अनुभव करने लगी ॥५७॥

वहाँ कौतुक से घूमते हुए उसने उस नगर के उद्यान को देखा, जिसमें सोने के कमलों से खिली हुई बावलियाँ थीं, अमृत के समान स्वादिष्ठ फलोंवाले वृक्ष थे, हंस आदि विचित्र पक्षियों से वह उद्यान भरा था। वह उद्यान शून्य में मणियों के स्तम्भों की भ्रान्ति उत्पन्न कर रहा था और शून्य में दीवारों की तथा दीवारों में शून्यता का भ्रम उत्पन्न कर रहा था। पानी में स्थल की और स्थल में पानी की प्रतीति उत्पन्न कर कहा था। मय दानव की माया से निर्मित इस प्रकार का वह नगर एक अपूर्व नवीन संसार के समान था ॥५८—६०॥

इस नगर में किसी समय सीता को ढूँढ़ते हुए बन्दर घुस आये थे; किन्तु स्वयम्प्रभा की कृपा से चिरकाल के पश्चात् उन्हें बाहर निकलने का अवसर मिला था ॥६१॥

इसके बाद वह सोमप्रभा, स्वयम्प्रभा की आज्ञा से इस नगर को भली भाँति देखने से चकित और वृद्धावस्था भोगने के भय से मुक्त कलिंगसेना को, यन्त्रनिर्मित वायुयान पर चढ़ाकर तक्षशिला में अपने घर पर ले आई ॥६२—६३॥

वहाँ जाकर कलिंगसेना ने सब वृत्तान्त माता-पिता से ज्यों-का-त्यों कह सुनाया, इससे कलिंगसेना और उसके माता-पिता भी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए ॥६४॥

इस प्रकार, उन दोनों सखियों के मिलते-जुलते अनेक दिनों के बीतने पर एक बार सोमप्रभा ने कलिंगसेना से कहा ॥६५॥

जबतक तू विवाहित नहीं है, तभी तक मेरी-तेरी मित्रता है। फिर, तेरे पतिगृह में चले जाने पर मेरी तेरी मित्रता कैसे रहेगी। मैं वहाँ कैसे आऊँगी ॥६६॥

सहेली के पति को न देखना चाहिए और न उसे स्वीकार ही करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि भेड़ के मांस को भेड़िये के समान, सास अपनी बहू के मांस को खा जाती है। मैं इस सम्बन्ध में तुझे कीर्त्तिसेना की एक कथा सुनाती हूँ ॥६७—६८॥

कीर्त्तिसेनादेवसेनयोः कथा

पुरे पाटलिपुत्राख्ये धुर्यो धनवतां वणिक् ।
नाम्ना यथार्थेन पुरा धनपालित इत्यभूत् ॥६९॥
कीर्त्तिसेनाभिधाना च तस्याजायत कन्यका ।
रूपेणानन्यसदृशी प्राणेभ्योऽप्यधिकप्रिया ॥७०॥
सा च तेन समानाय मगधेषु महर्द्धये ।
देवसेनाभिधानाय दत्ताभूद् वणिजे सुता ॥७१॥
तस्य चातिसुवृत्तस्य देवसेनस्य दुर्जनी ।
विपन्नजनकस्यासीज्जननी स्वामिनी गृहे ॥७२॥
सा स्नुषां कीर्त्तिसेनां तां पश्यन्ती पतिसम्मताम् ।
क्रुधा ज्वलन्ती पुत्रस्य परोक्षमकदर्थयत् ॥७३॥
कीर्त्तिसेना च सा पत्युर्वक्तुं नैव शशाक तत् ।
कष्टा हि कुटिलश्वश्रूपरतन्त्रवधूस्थितिः ॥७४॥
एकदा स पतिस्तस्या देवसेनो वणिज्यया ।
गन्तुं प्रववृते बन्धुप्रेरितो वलभीं पुरीम् ॥७५॥
ततः सा कीर्त्तिसेना तं पतिमेवमभाषत ।
इयच्चिरं मया नैतदार्यपुत्र तवोदितम् ॥७६॥
कदर्थयति मामेषा तवाम्बा त्वय्यपि स्थिते ।
त्वयि तु प्रोषिते किं मे कुर्यादिति न वेद्म्यहम् ॥७७॥
तच्छ्रुत्वा स समुद्भ्रान्तस्तत्स्नेहात्सभयः शनैः ।
देवसेनस्तदा गत्वा मातरं प्रणतोऽब्रवीत् ॥७८॥
कीर्त्तिसेनाधुना हस्ते तवाम्ब प्रस्थितस्य मे ।
नास्या निःस्नेहता कार्या कुलीनतनया ह्यसौ ॥७९॥
तच्छ्रुत्वा कीर्त्तिसेनां तामाहूयोद्वर्त्तितेक्षणा ।
तं देवसेनं माता सा तत्कालं समभाषत ॥८०॥
कृतं मया किं पृच्छैतामेवं त्वां प्रेरयत्यसौ ।
गृहभेदकरी पुत्र मम तु द्वौ युवां समौ ॥८१॥
श्रुत्वैतच्छान्तचित्तोऽभूत्तत्कृते स वणिग्वरः ।
व्याजसप्रणयैर्वाक्यैर्जनन्या को न वञ्च्यते ? ॥८२॥

कीर्त्तिसेना और देवसेन की कथा

पाटलिपुत्र में धनिकों में श्रेष्ठ, यथार्थ नामवाला धनपालित नाम का एक वणिक् रहता था। उसकी कीर्त्तिसेना नाम की एक कन्या थी, जो रूप में असाधारण और बनिये को प्राणों से भी अधिक प्यारी थी ॥६९-७०॥

धनपालित ने अपने ही समान धनी मगध के वैश्य देवसेन को वह कन्या दे दी ॥७१॥

अत्यन्त सज्जन और सच्चरित्र देवसेन की माता बड़ी दुर्जन थी और देवसेन के पिता के मर जाने के कारण वही गृहस्वामिनी थी ॥७२॥

वह सास, देवसेन की पत्नी, अर्थात् अपनी बहू कीर्त्तिसेना से जलती रहती थी और पति के पीछे उसे कष्ट दिया करती थी ॥७३॥

बेचारी कीर्त्तिसेना अपनी उस दुर्दशा को अपने पति से नहीं कह पाती थी। सचमुच, दुष्ट सास के वश में पड़ी हुई बहू की स्थिति अत्यन्त दुःखद होती है ॥७४॥

एक बार उसका पति बन्धुओं की प्रेरणा से व्यापार करने के लिए वलभी नगरी को जाने के लिए उद्यत हुआ ॥७५॥

तब कीर्त्तिसेना ने पति से कहा—'आर्यपुत्र! इतने दिनों तक तो तुमसे मैंने नहीं कहा ॥७६॥

जब माता (सास) तुम्हारे यहाँ रहते हुए मेरी दुर्दशा करती है, तब तुम्हारे परदेश जाने पर मुझपर क्या-क्या अत्याचार करेगी, यह मैं नहीं जानती' ॥७७॥

यह सुनकर घबराया हुआ और उसके प्रेम से डरा हुआ वैश्य अपनी माता को प्रणाम करता हुआ कहने लगा—॥७८॥

'माता, मेरे जाने पर अब कीर्त्तिसेना तुम्हारे हाथ में है। उससे रूखा व्यवहार न करना; क्योंकि यह ऊँचे कुल की कन्या है' ॥७९॥

यह सुनते ही त्योरी चढ़ाकर उसकी माता ने कीर्त्तिसेना को सामने बुलवाया और देवसेन से बोली—॥८०॥

'तू ही इससे पूछ! मैंने इसका क्या किया है। यह मेरे विरुद्ध तुझे उभारती है और यह स्त्री मेरे घर में फूट डालनेवाली है। मेरे लिए तो तुम दोनों समान हो' ॥८१॥

यह सुनकर वह सज्जन वैश्य चुप हो गया। सच है, प्रेम और कपट से भरी हुई माता की बातों से कौन नहीं ठगा जाता? ॥८२॥

कीर्त्तिसेना तु सा तूष्णीमासीदुद्वेगसस्मिता ।
देवसेनस्तु सोऽन्येद्यु: प्रतस्थे वलभीं वणिक् ।।८३।।
ततस्तद्विरहक्लेशजुषस्तस्याः क्रमेण सा ।
तन्माता कीर्त्तिसेनाया दासीः पार्श्वान्न्यवारयत् ।।८४।।
कृत्वा च गृहचारिण्या स्वचेट्या सह संविदम् ।
आनाय्याभ्यन्तरं गुप्तं तां विवस्त्रां चकार सा ।।८५।।
पापे रहसि मे पुत्रमित्युक्त्वा सकचग्रहम् ।
पादैर्दन्तैर्नखैश्चैतां चेट्या सममपाटयत् ।।८६।।
चिक्षेप चैनां भूगेहे सपिधाने दृढार्गले ।
तत्रत्येऽभ्युद्धृताशेषपूर्वजातार्थसञ्चये ।।८७।।
न्यधाच्च तस्यास्तत्रान्तः प्रत्यहं सा दिनात्यये ।
पापा तादृगवस्थाया भक्तस्यार्द्धशरावकम् ।।८८।।
अचिन्तयच्च दूरस्थे पत्यावेवं मृता स्वयम् ।
इमां व्युत्थाप्य यातेति वक्ष्यामि दिवसैरिति ।।८९।।
इत्थं भूमिगृहे क्षिप्ता श्वश्र्वा पापकृता तया ।
सुखार्हा रुदती तत्र कीर्त्तिसेना व्यचिन्तयत् ।।९०।।
आढ्य: पतिः कुले जन्म सौभाग्यं साधुवृत्तता ।
तदप्यहो मम श्वश्रूप्रसादादीदृशी विपत् ।।९१।।
एतदर्थं च निन्दन्ति कन्यानां जन्म बान्धवाः ।
श्वश्रूननन्दृसन्त्रासमसौभाग्यादिदूषितम् ।।९२।।
इति शोचन्त्यकस्मात्सा कीर्त्तिसेना खनित्रकम् ।
लेभेऽस्माद् भूगृहाद्धात्रा मनःशल्यमिवोद्धृतम् ।।९३।।
अयोमयेन तेनात्र सुरुङ्गां निचखान सा ।
तावद्यावत्तयोत्तस्थे दैवात्स्वाद्वासवेश्मनः ।।९४।।
ददर्श च प्रदीपेन प्राक्तनेनाथ तद्गृहम् ।
अक्षीणेन कृतालोका धर्मेणेव निजेन सा ।।९५।।
आदायातश्च वस्त्राणि स्वं वर्णं च निशाक्षये ।
निर्गत्यैव ततो गुप्तं जगाम नगराद् बहिः ।।९६।।
एवंविधाया गन्तुं मे न युक्तं पितृवेश्मनि ।
किं वक्ष्ये तत्र लोकश्च प्रत्येष्यति कथं मम ।।९७।।

घबराहट से मुस्कराती हुई कीर्त्तिसेना भी उस समय चुप रही। दूसरे दिन देवसेन वलभी को चला गया ॥८३॥

उसके चले जाने के पश्चात् विरह-कष्ट से जर्जरित कीर्त्तिसेना की सास ने धीरे-धीरे उसकी दासियों को निकाल दिया ॥८४॥

और, अपने घर की पुरानी दासी के साथ सलाह करके कीर्त्तिसेना को धोखे से कोठरी के अन्दर बुलाकर नंगी कर दिया और बोली—॥८५॥

'पापिन ! मेरे लड़के को मुझसे अलग करती है'—ऐसा कहकर, उसके केश पकड़कर उस दासी की सहायता से लातों, घूसों, दाँतों और नखों से मारने, काटने और नोचने लगी ॥८६॥

और, उसे घर के उस तहखाने के अन्दर ढकेलकर बाहर से लकड़ी की दृढ अर्गला से बन्द कर दिया; जिस तहखाने से पूर्वजों का सारा संचित धन निकाल लिया गया था ॥८७॥

वह पापिन सास केवल सन्ध्या में मिट्टी के एक पात्र में आधा पात्र भात उसे खाने के लिए दिया करती थी ॥८८॥

उसे तहखाने में बन्द करके सास ने सोचा कि पति के दूर रहने पर बहू इस प्रकार स्वयं मर जायगी, तो कुछ दिनों के बाद कहूँगी कि वह भाग गई ॥८९॥

इस प्रकार, पापकर्म करनेवाली सास द्वारा तहखाने में बन्द की गई सुख की पात्री कीर्त्तिसेना रोती हुई सोचने लगी ॥९०॥

'मेरा पति धनी है और मैं स्वयं अच्छे और ऊँचे कुल में उत्पन्न हुई, सौभाग्यवती हूँ और चरित्र भी शुद्ध है। फिर भी, मुझे सास के प्रभाव से ऐसी विपत्ति भोगनी पड़ रही है ॥९१॥

ठीक है कि परिवारवाले इसीलिए कन्या के जन्म की निन्दा करते हैं; क्योंकि कन्या-जीवन सास और ननद के सन्त्रास तथा विधवापन से दूषित हो जाता है' ॥९२॥

ऐसी सोचती हुई कीर्त्तिसेना को उस तहखाने में अकस्मात् एक खुरपी (भूमि खोदने का औजार-विशेष) मिल गई, मानों वह निकाला हुआ उसके हृदय का काँटा हो ॥९३॥

उस लोहे की खुरपी से वह तबतक सुरंग खोदती रही, जबतक वह अपने रहने के भवन में न पहुँच गई ॥९४॥

तदनन्तर, उस सुरंग-पथ से अपने कमरे में पहुँची हुई कीर्त्तिसेना ने वहाँ पहले के रखे हुए दीपक के सहारे उस घर को देखा, मानों उसने अपने बढ़ते हुए धर्म के बल पर उसे आलोकित कर दिया हो ॥९५॥

वहाँ से वह अपने वस्त्र और स्वर्णाभूषण आदि लेकर निशान्त (अत्यन्त प्रभात) में गुप्त रूप से निकलकर नगर से बाहर चली गई ॥९६॥

'ऐसी स्थिति में मुझे पिता के घर न जाना चाहिए— लोग क्या कहेंगे और कैसे विश्वास करेंगे ?' ॥९७॥

अतः स्वयुक्त्या गन्तव्यं पत्युरेवान्तिकं मया ।
इहामुत्र च साध्वीनां पतिरेका गतिर्यतः ।।९८।।
इत्यालोच्य चकारात्र तडागाम्बुकृताप्लवा ।
राजपुत्रस्य वेषं सा कीर्त्तिसेना सुबृंहितम् ।।९९।।
ततो गत्वापणे दत्वा किञ्चिन्मूल्येन काञ्चनम् ।
कस्यापि वणिजो गेहे दिने तस्मिन्नुवास सा ।।१००।।
अन्येद्युस्तत्र चक्रे च वलभीं गन्तुमिच्छता ।
समुद्रसेननाम्ना सा वणिजा सह संस्तवम् ।।१०१।।
तेन साकं सभृत्येन प्राप्तुं प्राक्प्रस्थितं पतिम् ।
सद्राजपुत्रवेषा सा प्रतस्थे वलभीं प्रति ।।१०२।।
जगाद तं च वणिजं गोत्रजैरस्मि बाधितः ।
तत्त्वया सह गच्छामि वलभीं स्वजनान्तिकम् ।।१०३।।
तच्छ्रुत्वा स वणिक्पुत्रो मार्गे परिचरेच्च ताम् ।
राजपुत्रो ध्रुवं भव्यः कोऽप्यसाविति गौरवात् ।।१०४।।
ययौ च स वणिक्सार्थः पुरस्कृत्याटवीपथम् ।
बहुशुल्कभयत्यक्तमार्गान्तरजनाश्रितम् ।।१०५।।
दिनैः प्राप्याटवीद्वारं सायं सार्थे कृतस्थितौ ।
चक्रे कृतान्तदूतीव शब्दं भयकरं शिवा ।।१०६।।
तदभिज्ञे वणिग्लोके चौराद्यापातशङ्किनि ।
हस्ते गृहीतशस्त्रेषु सर्वतो रिपुरक्षिषु ।।१०७।।
ध्वान्ते धावति दस्यूनामग्रयायिबलोपमे ।
कीर्त्तिसेना तदालोक्य पुंवेषा सा व्यचिन्तयत् ।।१०८।।
अहो दुष्कृतिनां कर्म सन्तानेनैव वर्द्धते ।
पश्य श्वश्रूकृता ह्यापदिहापि फलिता मम ।।१०९।।
प्रथमं मृत्युनेवाहं श्वश्रूकोपेन भक्षिता ।
प्रविष्टा भूगृहं पश्चाद् गर्भवासमिवापरम् ।।११०।।
दैवात्ततोऽपि निष्क्रान्ता जातेव पुनरप्यहम् ।
इहाद्यागत्य सम्प्राप्ता भूयो जीवितसंशयम् ।।१११।।
चौरैर्यदि हतास्मीह तच्छ्वश्रूर्मम वैरिणी ।
अन्यासक्ता गता क्वापीत्यभिधास्यति मे पतिम् ।।११२।।

इसलिए, मुझे अपनी युक्ति से पति के पास ही जाना चाहिए; क्योंकि पतिव्रताओं के लिए पति ही इस लोक में और परलोक में गति है ।।९८।।

उसने ऐसा सोचकर वहाँ तालाब में स्नान करके पूर्णरूप से राजपुत्र का वेश बनाया और बाजार में सोना बेचकर, उसका मूल्य लेकर उस दिन उसी नगर के किसी बनिये के घर में रात्रि व्यतीत की ।।९९।।

दूसरे दिन, वलभी जाने के लिए उद्यत समुद्रसेन नामक वैश्य से उसने बात की और सेवक के साथ जाते हुए समुद्रसेन के साथ राजकुमार का वेष धारण किये हुई कीर्त्तिसेना, पहले गये हुए पति को प्राप्त करने के लिए वलभी को चल पड़ी ।।१००—१०२।।

अपना परिचय देती हुई वह वैश्य से कहने लगी कि 'कुटुम्ब के लोगों से तंग आकर तुम्हारे साथ अपने आत्मीय व्यक्ति के पास जा रहा हूँ', यह सुनकर उस वैश्यपुत्र ने भी 'यह कोई कुलीन और भद्र राजपुत्र है', ऐसा समझकर मार्ग में उसकी यथोचित सहायता की ।।१०३-१०४।।

व्यापारी वैश्यों का वह दल, मार्ग-शुल्क अथवा चुंगी-कर की अधिकता से बचने के लिए, उस मार्ग को छोड़कर अन्य जंगली मार्ग को पकड़कर चलनेवाले अधिक व्यक्तियों के मार्ग से चला ।।१०५।।

कुछ दिनों के पश्चात् वह दल घोर जंगल के मुहाने पर पहुँचकर ठहर गया । उसी समय यमराज की दूती के समान एक शृगाली ने भयंकर रूप से रोना प्रारम्भ किया ।।१०६।।

उस अपशकुन को समझनेवाले वैश्य व्यापारियों ने चोर, डाकुओं आदि के आक्रमण की शंका से सावधान होकर, रक्षकदल के सिपाहियों के शस्त्र लेकर तैयार हो जाने पर, शत्रुओं की प्रथम सेना-पंक्ति के समान अन्धकार के चारों ओर फैल जाने पर, पुरुषवेश-धारिणी कीर्त्तिसेना सोचने लगी—।।१०७-१०८।।

पापियों के कर्म सन्तान द्वारा बढ़ते हैं । अर्थात्, उनके पापों का फल सन्तान को भोगना पड़ता है । देखो, सास द्वारा लाई गई विपत्ति इस समय मेरे प्रति फलित हो रही है ।।१०९।।

मैं सबसे पहले मृत्यु के समान सास के क्रोध से खाई गई, फिर दूसरे गर्भवास के समान तहखाने में बन्द की गई ।।११०।।

दैववश पुनर्जन्म के समान वहाँ से निकली । अब आज यहाँ आकर पुनः जीवन के ही सन्देह में पड़ गई ।।१११।।

यदि मैं चोर-डाकुओं द्वारा मारी गई, तो मेरी वैरिन सास मेरे पति से कहेगी कि वह किसी पर आसक्त होकर घर से निकल गई थी ।।११२।।

स्त्रीति ज्ञातास्मि केनापि हृतवस्त्रान्तरा यदि ।
ततो मृत्युर्मम श्रेयान्न पुनः शीलविप्लवः ॥११३॥
तेन चात्मैव मे रक्ष्यो नापेक्ष्योऽयं सुहृद् वणिक् ।
सतीधर्मो हि सुस्त्रीणां चिन्त्यो न सुहृदादयः ॥११४॥
इति निश्चित्य सा प्राप चिन्वती तरुमध्यगम् ।
गर्त्तं गृहाकृति दत्तं कृपयेवान्तरं भुवा ॥११५॥
तत्र प्रविश्य चाच्छाद्य तृणपर्णादिभिस्तनुम् ।
तस्थौ सन्धार्यमाणा सा पतिसङ्गमवाञ्छया ॥११६॥
ततो निशीथे सहसा निपत्यैवोद्यतायुधा ।
चौरसेना सुमहती सार्थं वेष्टयति स्म तम् ॥११७॥
निनदद्दस्युकालाग्रं शस्त्रज्वालाचिरप्रभम् ।
ततः सरुधिरासारं तत्राभूद्युद्धदुर्दिनम् ॥११८॥
हत्वा समुद्रसेनं च सानुगं तं वणिक्पतिम् ।
बलिनोऽथ ययुश्चौरा गृहीतधनसञ्चयाः ॥११९॥
तदा च कीर्त्तिसेना सा श्रुतकोलाहला बलात् ।
यन्न मुक्तासुभिस्तत्र कारणं केवलो विधिः ॥१२०॥
ततो निशायां यातायामुदिते तिग्मतेजसि ।
निर्जगाम च सा तस्माद् गर्त्ताद् विटपमध्यतः ॥१२१॥
कामं भर्त्रेकभक्तानामविस्खलिततेजसाम् ।
देवता एव साध्वीनां त्राणमापदि कुर्वते ॥१२२॥
यत्तत्र निर्जनेऽरण्ये सिंहो दृष्ट्वापि तां जहौ ।
न परं यावदभ्येत्य कुतश्चित्कोऽपि तापसः ॥१२३॥
पृष्टोदन्तां समाश्वास्य जलपानं कमण्डलोः ।
दत्त्वोपदिश्य पन्थानं तस्याः क्वापि तिरोदधे ॥१२४॥
ततस्तृप्तामृतेनेव क्षुत्पिपासाविनाकृता ।
तापसोक्तेन मार्गेण प्रतस्थे सा पतिव्रता ॥१२५॥
अथास्तशिखरारूढं प्रसारितकरं रविम् ।
रात्रिमेकां क्षमस्वेति वदन्तमिव वीक्ष्य सा ॥१२६॥
महतोऽरण्यवृक्षस्य गृहाभं मूलकोटरम् ।
विवेश पिदधे चास्य द्वारमन्येन दारुणा ॥१२७॥

यदि वस्त्रों का हरण होने पर मेरे स्त्रीत्व का ज्ञान लोगों को हो गया, तो इससे मेरी मृत्यु अच्छी होगी। चरित्र का नाश अच्छा नहीं ॥११३॥

इसलिए, मुझे अपने चरित्र की ही रक्षा करनी चाहिए। इस वैश्यमित्र की नहीं। सतीत्व-रक्षा ही स्त्रियों का मुख्य धर्म है, मित्र आदि नहीं ॥११४॥

ऐसा निश्चय करके अपने बचने के लिए स्थान ढूँढ़ते हुए उसने एक वृक्ष के बीच बना हुआ गुफा के समान एक गड्ढा देखा; मानों कृपाकर पृथ्वी ने उसे छिपने के लिए स्थान दिया हो ॥११५॥

उसमें घुसकर और घास-पत्तों आदि से शरीर को ढककर, पति-मिलन की अभिलाषा रखती हुई वह वहाँ छिप गई ॥११६॥

तब आधी रात के समय शस्त्र-सज्जित डाकुओं की बड़ी सेना ने व्यापारियों के दल को घेर लिया ॥११७॥

फलतः, वहाँ घोर वर्षाकाल के समान घमासान युद्ध छिड़ गया, जिसमें चिल्लाते हुए डाकू काले बादलों के समान थे, शस्त्रों के संघर्ष से निकली हुई अग्नि विद्युत् का काम कर रही थी और रुधिर की घोर वर्षा हो रही थी ॥११८॥

बलवान् डाकू रक्षकों के साथ समुद्रसेन व्यापारी को मारकर उसका सारा धन और सामान लूटकर ले गये ॥११९॥

उस घमासान युद्ध के समय भीषण चीत्कार सुनकर भी कीर्त्तिसेना, जो मरी नहीं, उसमें केवल उसका भाग्य ही कारण था ॥१२०॥

अब रात बीतने और सूर्य के उदय होने पर वह कीर्त्तिसेना वृक्ष के बीच के गड्ढे से बाहर निकली ॥१२१॥

पति की एकमात्र भक्ति और अपने सतीत्व के तेज की दृढ़ता से अपनी रक्षा करनेवाली पतिव्रताओं की आपत्ति में देवता अवश्य उनकी रक्षा करते हैं ॥१२२॥

क्योंकि, उस निर्जन वन में शेर ने भी उसे देखकर छोड़ दिया, किन्तु कहीं से आते हुए किसी तपस्वी ने उसे नहीं छोड़ा ॥१२३॥

तपस्वी ने उसका वृत्तान्त जानकर और उसे धैर्य प्रदान कर कमण्डलु से जल पिलाया तथा उसे आगे जाने का मार्ग बताकर वह कहीं अलक्षित हो गया ॥१२४॥

तब मानों अमृत-पान करके तृप्त हुई-सी पतिव्रता कीर्त्तिसेना भूख और प्यास से रहित हो गई और तपस्वी द्वारा प्रदर्शित पथ से आगे बढ़ चली ॥१२५॥

कुछ मार्ग चलने पर, 'एक रात और क्षमा करो', मानों कर (हाथ और किरण) फैलाकर इस प्रकार कहते हुए सूर्य के अस्त हो जाने पर वह एक विशाल जंगली वृक्ष में घर के समान बने हुए खोखले भाग में घुस गई और दूसरी लकड़ी से उसका द्वार बन्द कर दिया ॥१२६-१२७॥

प्रदोषे च ददर्शात्र द्वारच्छिद्रान्तरेण सा ।
राक्षसीमागतां घोरां बालकैरन्वितां सुतैः ॥१२८॥
तीर्णान्यिविपदद्याहमनया भक्षितेति सा ।
त्रस्ता यावत्तरौ तावदारूढा तत्र राक्षसी ॥१२९॥
अन्वारूढाश्च तत्पुत्रास्तत्र तां किल राक्षसीम् ।
अब्रुवन्नम्ब नः किञ्चिद् भक्ष्यं देहीति तत्क्षणम् ॥१३०॥
ततः सा राक्षसी बालांस्तानुवाचाद्य पुत्रकाः ।
महाश्मशानं गत्वापि भक्ष्यं नासादितं मया ॥१३१॥
याचितो डाकिनीसङ्घोऽप्यत्र भागमदान्न मे ।
तत्खेदादथ विज्ञप्य याचितो भैरवो मया ॥१३२॥
स च नामान्वयौ पृष्ट्वा देवो मामेवमादिशत् ।
भयङ्करि कुलीनासि खरदूषणवंशजा ॥१३३॥
तदितो नातिदूरस्थं वसुदत्तपुरं व्रज ।
तत्रास्ते वसुदत्ताख्यो राजा धर्मपरो महान् ॥१३४॥
यः कृत्स्नामटवीमेतां पर्यन्तस्थोऽभिरक्षति ।
स्वयं गृह्णाति शुल्कं च निगृह्णाति च तस्करान् ॥१३५॥
तस्याटव्यां च मृगयाश्रमसुप्तस्य भूपतेः ।
अज्ञातैव प्रविष्टान्तः कर्णे शतपदी लघु ॥१३६॥
सा च कालेन बहुशः प्रसूतास्य शिरोन्तरे ।
तेन रोगेण राजासौ स्नायुशेषोऽद्य वर्त्तते ॥१३७॥
वैद्याश्चास्य न तं व्याधिं विदन्त्यन्योऽपि कोऽपि चेत् ।
न ज्ञास्यति ततश्चैष दिनैरल्पैर्विपत्स्यते ॥१३८॥
तस्य मांसानि भुञ्जीथा विपन्नस्य स्वमायया ।
भक्षितैस्तैर्हि षण्मासान्परितृप्ता भविष्यसि ॥१३९॥
इत्थं मे भैरवेणापि संविभागः ससंशयः ।
कालवांश्चाद्य विहितस्तत्पुत्राः किं करोम्यहम् ॥१४०॥
एवं तयोक्त्या राक्षस्या पुत्रास्ते तामथाब्रुवन् ।
ज्ञातापनीते रोगेऽस्मिन्किं स राजाम्ब जीवति ॥१४१॥
कथं च तादृशो रोगो वद तस्यापनीयते ।
एवमुक्तवतस्तातसा तनयान् राक्षसी जगौ ॥१४२॥
ज्ञातापनीते रोगेऽस्मिन्जीवत्येव स भूपतिः ।
श्रूयतां च यथा सोऽस्य महारोगोऽपनीयते ॥१४३॥

प्रदोषकाल में उसने द्वार के छिद्र से झाँककर देखा कि एक भीषण राक्षसी छोटे-छोटे बच्चों के साथ आई ।।१२८।।

उसे देखकर कीर्त्तिसेना जैसे ही यह सोचने लगी कि अन्यान्य सभी विपत्तियों से पार हो आज मैं इससे खाई जाऊँगी, इतने में ही वह राक्षसी वृक्ष पर चढ़ गई ।।१२९।।

उसके बच्चे भी उसके पीछे चढ़ गये और माँ से कहने लगे—'हम लोगों को कुछ भोजन दो' ।।१३०।।

तब वह राक्षसी उन छोटे बच्चों से बोली—'बेटा ! मैंने महाश्मशान में जाकर भी आज कुछ भोजन नहीं पाया । डाकिनियों के दल से भी माँगा । इस दुःख से मैंने भैरव से भी प्रार्थना की ।।१३१-१३२।।

उस भैरव ने मेरा नाम-गोत्र पूछकर यह आज्ञा दी कि 'हे भयंकरि, तू खरदूषण के वंश में उत्पन्न हुई और कुलीन है, अतः यहाँ से समीप-स्थित वसुदत्तपुर को जा । वहाँ वसुदत्त नाम का महा धार्मिक राजा है, जो इस जंगल के पास रहकर इस सारे जंगल की रक्षा करता है, मार्ग-शुल्क लेता है और चोरों को पकड़ता है ।।१३३—१३५।।

एक बार शिकार खेलने की थकावट से वह जंगल में सो गया । उस समय अज्ञात अवस्था में एक गोजर (कनखजूरा, मादा) उसके कान में शीघ्रता से घुस गया ।।१३६।।

उसने बहुत दिनों के बाद राजा के शिर के भीतर प्रसव किया । इस रोग से गलते-गलते उस राजा की केवल हड्डियाँ और नसें ही शेष रह गई हैं, अर्थात् शीघ्र ही मरने-वाला है ।।१३७।।

वैद्य उसके रोग को नहीं जानते । यदि और भी कोई उसे न जानेगा, तो राजा शीघ्र ही मर जायगा ।।१३८।।

तुम उस मरे हुए राजा का मांस अपनी माया से प्राप्त करके खाना । उसके खाने से छह महीनों तक तृप्त रहोगी, भूख न लगेगी ।।१३९।।

इस प्रकार भैरव ने भी मुझे भाग दिया । लेकिन वह लम्बी अवधि का है । तो बताओ बेटो, आज मैं क्या करूँ ?' ।।१४०।।

राक्षसी के इस प्रकार कहने पर वे बच्चे कहने लगे—'माता ! क्या उस रोग को जान लेने पर और उसके दूर हो जाने पर राजा जीवित रहेगा ? ।।१४१।।

और, यह भी बताओ कि राजा का ऐसा रोग कैसे दूर हो सकता है ।' तब वह राक्षसी बच्चों से कहने लगी—'रोग को जानकर उसे दूर कर देने पर राजा अवश्य जी जायगा । यह भी सुनो कि यह महारोग कैसे दूर होगा ।।१४२-१४३।।

शिरःपूर्वं घृताभ्यक्तं तस्य न्यस्तोष्णसर्पिषा ।
कृत्वा मध्याह्नकठिने स्थापितस्यातपे चिरम् ॥१४४॥
निवेश्य कर्णकुहरे सुषिरां वंशनाडिकाम् ।
शीताम्बुघटपृष्ठस्थशरावच्छिद्रसङ्गिनीम् ॥१४५॥
तेन स्वेदातपक्लान्ता निर्गत्यास्य शिरोन्तरात् ।
कर्णरन्ध्रेण तेनैव वंशनाडीं प्रविश्य ताम् ॥१४६॥
घटे शीताभिलाषिण्यः शतपद्यः पतन्ति ताः ।
एवं स नृपतिस्तस्मान् महारोगाद् विमुच्यते ॥१४७॥
इत्युक्त्वा राक्षसी पुत्रान् वृक्षस्थान् विरराम सा ।
कीर्त्तिसेना च तत्सर्वमशृणोत्कोटरस्थिता ॥१४८॥
श्रुत्वा च चिन्तयामास निस्तरिष्यामि चेदितः ।
तद्गत्वैवैतया युक्त्या जीवयिष्यामि तं नृपम् ॥१४९॥
एतामेवाटवीं सोऽल्पशुल्कः प्रान्तस्थितोऽवति ।
तत्सौकर्याच्च वणिजः सर्वे यान्त्यमुना पथा ॥१५०॥
एतत्समुद्रसेनोऽपि स्वर्गामी सोऽब्रवीद् वणिक् ।
तदेतेनैव मार्गेण स मे भर्त्तागमिष्यति ॥१५१॥
अतो गत्वाटवीप्रान्ते वसुदत्तपुरे नृपम् ।
रोगादुत्तार्य तत्रस्था प्रतीक्षे भर्त्तुरागमम् ॥१५२॥
एवं विचिन्तयती सा कृच्छ्रात्तामनयन्निशाम् ।
प्रातर्नष्टेषु रक्षःसु निरगात् कोटरात्ततः ॥१५३॥
क्रमात्ततोऽटवीमध्ये यान्ती पुरुषवेषभृत् ।
प्राप्तेऽपराह्णे गोपालमेकं साधुं ददर्श सा ॥१५४॥
तत्सौकुमार्यदूराध्वदर्शनार्द्रीकृतं च तम् ।
पप्रच्छोपेत्य सा कोऽयं प्रदेशः कथ्यतामिति ॥१५५॥
सोऽपि गोपालकोऽवादीद् वसुदत्तस्य भूपतेः ।
वसुदत्तपुरं नाम पुरमेतत्पुरःस्थितम् ॥१५६॥
राजापि स महात्मात्र मुमूर्षुर्व्याधितः स्थितः ।
तच्छ्रुत्वा कीर्त्तिसेना तं गोपालकमभाषत ॥१५७॥
यदि मां नयते कश्चिद्राज्ञस्तस्यान्तिकं ततः ।
अहं तं तस्य जानामि निवारयितुमामयम् ॥१५८॥
तच्छ्रुत्वैवावदद् गोपः पुरेऽत्रैव व्रजाम्यहम् ।
तदायाहि मया साकं यावद्यत्नं करोमि ते ॥१५९॥

पहले उसके शिर को गर्म घी से चुपड़कर दोपहर की कड़ी गर्मी में बहुत देर तक उसे सुलाना चाहिए। तब उसके कान में बाँस की पोली नली लगाकर और उसका दूसरा शिरा जल से भरे घड़े के ऊपर रखे हुए मिट्टी के पात्र में लगा देना चाहिए। तब पसीना और धूप की गर्मी से व्याकुल, अतएव ठण्डक चाहते हुए वे कीड़े कान के मार्ग से बाँस की नली में होकर ठण्डे घड़े में गिर जायेंगे। इस प्रकार वह राजा महारोग से छुटकारा पा जायगा' ।।१४४-१४७।।

राक्षसी बच्चों को इस प्रकार कहकर चुप हो गई और उसी वृक्ष के खोखले में बैठी हुई कीर्त्तिसेना ने सब सुन लिया ।।१४८।।

यह सुनकर वह सोचने लगी कि 'यदि मैं इस विपत्ति से बच गई, तो जाते ही इस युक्ति से राजा को बचा लूँगी' ।।१४९।।

वह इस जंगल के किनारे रहकर बहुत कम मार्ग-शुल्क लेकर जंगल से जानेवालों की रक्षा करता है। इसी सुविधा के कारण सभी व्यापारी इसी मार्ग से आते-जाते हैं ।।१५०।।

मृत समुद्रसेन ने भी कहा था कि मेरा पति इसी मार्ग से आयगा ।।१५१।।

इसलिए, जंगल के किनारे वसुदत्तपुर को जाती हूँ और वहाँ राजा को नीरोग करके पति के आगमन की प्रतीक्षा करती हूँ' ।।१५२।।

ऐसा सोचते हुए उसने कठिनता से वह रात व्यतीत की। प्रातःकाल राक्षसी के चले जाने पर वह खोखले से बाहर निकली ।।१५३।।

पुरुष-वेष धारण करके जंगल के मध्य से जाती हुई उसने अपराह्न में एक ग्वाले को देखा ।।१५४।।

एक ओर कीर्त्तिसेना की सुकुमारता और दूसरी ओर लम्बे और बीहड़ जंगली मार्ग को देखकर एक ग्वाला दयार्द्र हो उठा। उस द्रवितचित्त ग्वाले से कीर्त्तिसेना ने पूछा 'बताओ, यह कौन-सा देश है?' ।।१५५।।

ग्वाले ने कहा—'यह राजा वसुदत्त का वसुदत्तपुर है, जो सामने दीख रहा है ।।१५६।।

यहाँ का राजा भी रुग्ण है और मरणासन्न है। यह सुनकर कीर्त्तिसेना ने कहा—'यदि मुझे कोई उस राजा के पास ले जाय, तो मैं उसकी बीमारी दूर कर दूँ। मैं रोग का निवारण जानती हूँ' ।।१५७-१५८।।

यह सुनकर ग्वाला बोला—'मैं उसी नगर में जा रहा हूँ। तुम मेरे साथ आओ, मैं तुम्हारे लिए यत्न करता हूँ' ।।१५९।।

तथेत्युक्तवतीं तां च कीर्त्तिसेनां तदैव सः ।
वसुदत्तपुरं गोपः पुंवेषां नयति स्म ताम् ॥१६०॥
तच्च तत्र यथावस्तु निवेद्यार्त्ताय तत्क्षणात् ।
प्रतीहाराय कल्याणलक्षणां तां समर्पयत् ॥१६१॥
प्रतीहारोऽपि राजानं विज्ञप्यैव तदाज्ञया ।
प्रवेशयामास स तां तस्यान्तिकमनिन्दिताम् ॥१६२॥
राजा च सोऽत्र रोगार्त्तस्तां दृष्ट्वैवाद्भुताकृतिम् ।
आश्वस्तो वसुदत्तोऽभूद्वेत्त्यात्मैव हिताहितम् ॥१६३॥
उवाच चैतां पुंवेषां यदीमामपनेष्यसि ।
रुजमेतत्प्रदास्यामि राज्यार्धं ते सुलक्षण ॥१६४॥
जाने जहार पृष्ठान्मे स्वप्ने स्त्री कृष्णकम्बलम् ।
तन्निश्चितमिमं रोगं हरिष्यति भवान्मम ॥१६५॥
तच्छ्रुत्वा कीर्त्तिसेना तं जगादाद्य दिनं गतं ।
देव श्वस्तेऽपनेष्यामि रोगं मा स्माधृतिं कृथाः ॥१६६॥
इत्युक्त्वा मूर्ध्नि राज्ञोऽस्य गव्यं घृतमदापयत् ।
तेन तस्याययौ निद्रा ययौ सा चातिवेदना ॥१६७॥
भिषग्रूपेण देवोऽयं पुण्यैर्नः कोऽप्युपागतः ।
इति तत्र च तां सर्वे कीर्त्तिसेनां ततोऽस्तुवन् ॥१६८॥
महादेवी च तैस्तैस्तामुपचारैरुपाचरत् ।
नक्तं वेश्म पृथक्चास्याः सदासीकमकल्पयत् ॥१६९॥
अथापरेद्युर्मध्याह्ने मन्त्रिष्वन्तःपुरेषु च ।
पश्यत्सु तस्य भूपस्य कीर्त्तिसेना चकर्ष सा ॥१७०॥
शिरसः कर्णमार्गेण सार्धं शतपदीशतम् ।
राक्षस्युदितया पूर्वं युक्त्यात्यद्भुतया तया ॥१७१॥
स्थापयित्वा च घटके सा ताः शतपदीस्ततः ।
घृतक्षीरादिसेकेन तं नृपं समतर्पयत् ॥१७२॥
क्रमात्तस्मिन्समाश्वस्ते रोगमुक्ते महीपतौ ।
घटे तान्प्राणिनौ दृष्ट्वा को न तत्र विसिस्मये ॥१७३॥

कीर्त्तिसेना ने कहा—'ठीक है।' तब वह ग्वाला पुरुष-वेशवाली कीर्त्तिसेना को वसुदत्तपुर में ले गया ॥१६०॥

ग्वाले ने वहाँ जाकर दु:खित द्वारपाल से सब कुछ निवेदन किया और उस शुभलक्षणा को उसे सौंप दिया ॥१६१॥

द्वारपाल ने भी राजा से निवेदन किया और उसकी आज्ञा से उस सर्वांगसुन्दरी को वह राजा के पास ले गया ॥१६२॥

रोगाक्रान्त राजा वसुदत्त भी उस अद्भुत वैद्य को देखकर प्रसन्न और विश्वस्त हो गया ॥१६३॥

'यदि तुम मेरे इस रोग को दूर करोगे, तो मैं तुम्हें इस राज्य का आधा भाग दे दूँगा ॥१६४॥

स्वप्न में मैंने देखा है कि एक स्त्री मेरे शरीर पर से काला कम्बल हटा रही है। इससे समझता हूँ कि तुम निश्चय ही मेरी बीमारी दूर करोगे' ॥१६५॥

यह सुनकर कीर्त्तिसेना कहने लगी—'राजन्, आज तो दिन चला गया। अतः, कल तुम्हारा रोग दूर करूँगा, अधीर न होना' ॥१६६॥

ऐसा कहकर उसने राजा के शिर पर गाय का घी मलवाया, उससे उसे नींद आ गई और तीव्र वेदना कम हो गई ॥१६७॥

'वैद्य के रूप में यह कोई देवता आया है'—इस प्रकार कहकर सभी राजपुरुष उसकी प्रशंसा करने लगे ॥१६८॥

महारानी ने भी अनेक प्रकार से उसका स्वागत-सम्मान किया और रात को उस वैद्य के लिए पृथक् सोने का प्रबन्ध कर दिया ॥१६९॥

दूसरे दिन, मध्याह्न में, राजा के परिवारों और मन्त्रियों के सामने ही, राक्षसी से सुनी हुई उस आश्चर्यजनक युक्ति से कीर्त्तिसेना ने, कान के मार्ग से सभी गोजरों या कनखजूरों को बाहर निकाल दिया और घी-दूध आदि से राजा को हृष्ट-पुष्ट बना दिया ॥१७०—१७२॥

क्रमशः, राजा के रोगमुक्त और स्वस्थ होने पर और घड़े में उन जीवों को देखकर किसे आश्चर्य नहीं हुआ? ॥१७३॥

राजा च स विलोक्यैतान्कुकीटान्मूर्धनिर्गतान् ।
तत्रास दध्यौ मुमुदे मेने जन्म निजं पुनः ॥१७४॥
कृतोत्सवश्च स स्नातः कीर्त्तिसेनामपूजयत् ।
तामनादृतराज्यार्धां ग्रामहस्त्यश्वकाञ्चनैः ॥१७५॥
देवी च मन्त्रिणश्चैतां हेम्ना वस्त्रैरपूरयन् ।
प्रभुप्राणप्रदोऽस्माकं पूज्यो भिषगसाविति ॥१७६॥
सा च तस्यैव राज्ञस्तान् हस्तेऽर्थान्सम्प्रति न्यधात् ।
कञ्चित्कालं व्रतस्थोऽहमित्युक्त्वा भर्त्रपेक्षिणी ॥१७७॥
ततः सम्मान्यमानात्र सर्वैः कान्यप्यहानि सा ।
यावत्पुरुषवेषेण कीर्त्तिसेनावतिष्ठते ॥१७८॥
तावच्छुश्राव लोकात्तं वलभीतः समागतम् ।
सार्थवाहं तथा तेन देवसेनं निजं पतिम् ॥१७९॥
पुरि तत्राथ तं सार्थं प्राप्तं बुद्ध्वैव साभ्यगात् ।
भर्त्तारं तमपश्यच्च मयूरीव नवाम्बुदम् ॥१८०॥
चित्तेनेव चिरौत्सुक्यसन्तापप्रविलायिना ।
दत्तार्घानन्दबाष्पेण पादयोस्तस्य चापतत् ॥१८१॥
सोऽपि प्रत्यभ्यजानाच्च वेषच्छन्नां निरूप्य ताम् ।
भर्त्ता भास्वत्करालक्ष्यां दिवा मूर्त्तिमिवैन्दवीम् ॥१८२॥
तस्य तद्वदनेन्दुं च चन्द्रकान्तस्य पश्यतः ।
देवसेनस्य हृदयं चित्रं न गलति स्म यत् ॥१८३॥
अथास्यां कीर्त्तिसेनायामेवं प्रकटितात्मनि ।
किमेतदिति साश्चर्यं स्थिते तस्मिंश्च तत्पतौ ॥१८४॥
विस्मिते च वणिग्ग्रामे तद्बुद्ध्वैव सविस्मयः ।
स राजा वसुदत्तोऽत्र स्वयमेव किलाययौ ॥१८५॥
तेन पृष्टा च सा कीर्त्तिसेना पत्युः पुरोऽखिलम् ।
श्वश्रूदुश्चरितोत्पन्नं स्ववृत्तान्तमवर्णयत् ॥१८६॥
देवसेनश्च तच्छ्रुत्वा तद्भर्त्ता स स्वमातरि ।
पराङ्मुखो भवत्कोपक्षमाविस्मयहर्षवान् ॥१८७॥
भर्तृभक्तिरथारूढाः शीलसंनाहरक्षिताः ।
धर्मसारथयः साध्व्यो जयन्ति मतिहेतयः ॥१८८॥

राजा भी, अपने मस्तक से निकले हुए उन कीड़ों को देखकर त्रस्त हुआ-सा सोचने लगा और प्रसन्न हुआ। उसने अपना पुनर्जन्म माना ।।१७४।।

तदनन्तर, उत्सव करके स्नान किये हुए राजा ने कीर्त्तिसेना की पूजा की। भेंट में आधा राज्य लेने से इनकार कर देने पर कीर्त्तिसेना को राजा ने गाँव, हाथी, घोड़े और सोने आदि से सत्कृत किया ।।१७५।।

महारानी और मन्त्रियों ने अपनी-अपनी ओर से स्वर्ण और वस्त्रों के उपहारों के ढेर लगा दिये; क्योंकि वह उनके प्रभु को प्राणदान करनेवाला पूज्य वैद्य था ।।१७६।।

पति की प्रतीक्षा करती हुई कीर्त्तिसेना ने उनके दिये हुए उपहारों को उन्हें ही लौटाते हुए कहा कि मैं अभी व्रत में हूँ, इसलीए अभी न लूँगा ।।१७७।।

इस प्रकार, सभी से सम्मानित वह कीर्त्तिसेना पुरुष के वेश में कुछ समय तक वहीं ठहर गई ।।१७८।।

वहाँ ठहरे हुए उसने लोगों से सुना कि उसका पति व्यापारी देवसेन, वलभी से उसी मार्ग द्वारा आ गया ।।१७९।।

उस व्यापारिक-दल को नगरी में आया हुआ जानकार वह दल की ओर गई। मयूरी जैसे नये मेघ को देखती है, उसी प्रकार उसने उस दल में अपने पति को देखा ।।१८०।।

चिरकालीन उत्कण्ठा के सन्ताप से गलते हुए आँसुओं का अर्घ्य देकर वह पति के चरणों में गिर पड़ी ।।१८१।।

उस (पति) ने भी उसे देखा और पुरुष के वेश में छिपी हुई उसे उसी प्रकार पहचाना, जिस प्रकार चन्द्रमा दिन में सूर्य की किरणों से दृष्टिगोचर होता है ।।१८२।।

कीर्त्तिसेना के मुखचन्द्र को देखकर चन्द्रकान्त के समान देवसेन का हृदय पिघल नहीं गया, यही आश्चर्य है ।।१८३।।

तदनन्तर, कीर्त्तिसेना के इस प्रकार अपने को प्रकट कर देने पर, उसके पतिदेव देवसेन के आश्चर्य-चकित हो जाने पर और व्यापारियों के दल के भी यह जानकर विस्मित हो जाने पर चकित राजा वसुदत्त भी स्वयं वहाँ आ गया ।।१८४-१८५।।

राजा से पूछी गई कीर्त्तिसेना ने पति के सामने ही सास की दुश्चरित्रता के अपने सारे वृत्तान्त को कह सुनाया ।।१८६।।

उसका पति देवसेन, यह सब सुनकर क्रोध, आश्चर्य, क्षमा, विस्मय और हर्ष से भरा हुआ अपनी माता से विमुख हो गया ।।१८७।।

स्त्रियाँ पतिभक्ति-रूपी रथ पर चढ़ी हुई, चरित्र-रूपी कवच से सुरक्षित धर्म-रूपी सारथी के सहारे बुद्धि-रूपी शस्त्र से विजय प्राप्त करती हैं ।।१८८।।

इति तत्र स्थितोऽवादीदाकर्ण्यैव तदद्भुतम् ।
चरितं कीर्त्तिसेनायाः सानन्दः सकलो जनः ॥१८९॥
राजाप्युवाच पत्यर्थमाश्रितक्लेशयानया ।
सीतादेव्यपि रामस्य परिक्लेशवहा जिता ॥१९०॥
तदेषा धर्मभगिनी मम प्राणप्रदायिनी ।
इत्युक्तवन्तं तं भूपं कीर्त्तिसेनाथ साऽब्रवीत् ॥१९१॥
देव त्वत्प्रीतिदायो यस्तव हस्ते मम स्थितः ।
ग्रामहस्त्यश्वरत्नादिः स मे भर्त्रे समर्प्यताम् ॥१९२॥
एवमुक्तस्तया राजा दत्त्वा ग्रामादि तस्य तत् ।
तद्भर्त्तुर्देवसेनस्य प्रीतः पट्टं बबन्ध सः ॥१९३॥
अथ नरपतिदत्तैस्तैर्वणिज्यार्जितैश्च
प्रसभभरितकोषो देवसेनो धनौघैः ।
परिहृतजननीकः संस्तुवन् कीर्त्तिसेनां
कृतवसतिरमुष्मिन्नेव तस्थौ पुरे सः ॥१९४॥
सुखमपगतपापश्वश्रुकं कीर्त्तिसेना-
प्यसमचरितलब्धख्यातिरासाद्य तत्र ।
न्यवसदखिलभोगैश्वर्यभागान्तिकस्था
सुकृतफलसमृद्धिर्देहबद्धेव भर्त्तुः ॥१९५॥
एवं विषह्य विधुरस्य विधेर्नियोग-
मापत्सु रक्षितचरित्रधना हि साध्व्यः ।
गुप्ताः स्वसत्त्वविभवेन महत्तमेन
कल्याणमादधति पत्युरथात्मनश्च ॥१९६॥
इत्थं च पार्थिवकुमारि भवन्ति दोषाः
श्वश्रूननान्दृविहिता बहवो वधूनाम् ।
तद्भर्त्तृ वेश्म तव तादृशमर्थयेऽहं
श्वश्रूर्न यत्र न च यत्र शठा ननान्दा ॥१९७॥
इतीदमानन्दिकथाद्भुतं सा मुखान्निशम्यासुरराजपुत्र्याः ।
सोमप्रभाया मनुजेन्द्रपुत्री कलिङ्गसेना परितुष्यति स्म ॥१९८॥
ततो विचित्रार्थकथावसानं दृष्ट्वैव गन्तुं मिहिरे प्रवृत्ते ।
सोत्कां समालिङ्ग्य कलिङ्गसेना सोमप्रभा स्वं भवनं जगाम ॥१९९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके तृतीयस्तरङ्गः ।

वहाँ एकत्र सभी जन, कीर्त्तिसेना के इस अद्‌भुत रहस्य को जानकर आनन्द से उक्त प्रकार की बात कहने लगे ।।१८९।।

राजा ने भी कहा—'इसने पति के लिए इतना कष्ट उठानेवाली सीतादेवी को भी जीत लिया ।।१९०।।

इसलिए, मुझे प्राणदान देनेवाली यह मेरी धर्म-बहन है ।' इस प्रकार कहते हुए राजा से कीर्त्तिसेना कहने लगी—।।१९१।।

'महाराज, आप द्वारा दिया गया जो प्रेमोपहार गाँव, हाथी आदि आपके पास मेरा है, वह सब आप मेरे पति को दे दें । राजा ने भी प्रसन्न होकर देवसेन का पट्टबन्धन किया ।।१९२-१९३।।

तदनन्तर, वह देवसेन, राजा द्वारा दिये हुए और व्यापार द्वारा अर्जित धनराशि से धनी होकर, अपनी माता को छोड़कर कीर्त्तिसेना की प्रशंसा करता हुआ उसी वसुदत्तपुर में रहने लगा ।।१९४।।

कीर्त्तिसेना, अपने असाधारण चरित्र से प्रसिद्ध होकर अपने पति के पुण्यफलों की शरीरधारिणी मूर्त्ति के समान अतुल ऐश्वर्य का उपभोग करती हुई सास के दुःख से छूटकर, सुखपूर्वक रहने लगी ।।१९५।।

इस प्रकार, विधि के भीषण विधानों को सहन करके आपत्ति-काल में भी अपने चरित्र-धन की रक्षा करनेवाली सच्चरित्र स्त्रियाँ अपने आत्मबल से रक्षित होकर अपना तथा अपने पति दोनों का कल्याण करती हैं ।।१९६।।

इसलिए हे राजकुमारी, सास और ननद के कारण स्त्रियों को ऐसी-ऐसी दुर्घटनाओं का लक्ष्य (शिकार) होना पड़ता है । इसलिए, मैं तुम्हारे लिए ऐसा पतिगृह चाहती हूँ, जहाँ पापिन सास और दुष्टा ननद न हों ।।१९७।।

असुरराज मयासुर की पुत्री सोमप्रभा के मुँह से इस आनन्ददायक अद्‌भुत कथा को सुनकर मनुजेन्द्रपुत्री कलिंगसेना अत्यन्त प्रसन्न हुई ।।१९८।।

इस प्रकार, विचित्र कथा का अन्त देखकर ही मानों सूर्य भगवान् के अस्ताचल पर चले जाने पर, सोमप्रभा भी उत्कण्ठिता कलिंगसेना का आलिंगन करके अपने भवन को गई ।।१९९।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-रचित कथासरित्सागर के मदनमंचुका लम्बक का तृतीय तरंग समाप्त ।

चतुर्थस्तरङ्गः

मदनवेगनाम्नो विद्याधरस्य कथा

ततः स्वसद्म याताया: पश्चान्मार्गमवेक्षितुम् ।
सोमप्रभायाः स्नेहेन मार्गहर्म्याग्रमास्थिताम् ॥१॥
कलिङ्गसेनामारात्तां ददर्श गगनागतः ।
दैवान्मदनवेगाख्यो युवा विद्याधराधिपः ॥२॥
स तां दृष्ट्वैव रूपेण जगत्त्रितयमोहिनीम् ।
क्षोभं जगाम कामैन्द्रजालिकस्येव पिच्छिकाम् ॥३॥
अलं विद्याधरस्त्रीभिः का कथाप्सरसामपि ।
यत्रेदृगेतदेतस्या मानुष्या रूपमद्भुतम् ॥४॥
तदेषा यदि मे न स्याद् भार्या किं जीवितेन तत् ।
कथं च मानुषीसङ्गं कुर्यां विद्याधरोऽपि सन् ॥५॥
इत्यालोच्य स दध्यौ च विद्यां प्रज्ञप्तिसंज्ञिकाम् ।
सा चाविर्भूय साकारा तमेवमवदत्तदा ॥६॥
तत्त्वतो मानुषी नेयमेषा शापच्युताप्सराः ।
जाता कलिङ्गदत्तस्य गृहे सुभग भूपतेः ॥७॥
इत्युक्ते विद्यया सोऽथ हृष्टो गत्वा स्वधामनि ।
विद्याधरोऽन्यविमुखः कामार्त्तः समचिन्तयत् ॥८॥
हठाद्यदि हराम्येतां तदेतन्मे न युज्यते ।
स्त्रीणां हठोपभोगे हि मम शापोऽस्ति मृत्युदः ॥९॥
तदेतत्प्राप्तये शम्भुराराध्यस्तपसा मया ।
तपोऽधीनानि हि श्रेयांस्युपायोऽन्यो न विद्यते ॥१०॥
इति निश्चित्य चान्येद्युर्गत्वा ऋषभपर्वतम् ।
एकपादस्थितस्तेपे निराहारस्तपांसि सः ॥११॥
अथ तुष्टोऽचिरात्तीव्रैस्तपोभिदत्तदर्शनः ।
एवं मदनवेगं तमादिदेशाम्बिकापतिः ॥१२॥
एषा कलिङ्गसेनाख्या ख्याता रूपेण भूतले ।
कन्या नास्याश्च भर्त्तापि सदृशो रूपसम्पदा ॥१३॥
एकस्तु वत्सराजोऽस्ति स चैतामभिवाञ्छति ।
तु वासवदत्ताया भीत्या नार्थयते स्फुटम् ॥१४॥

चौथा तरंग

मदनवेग विद्याधार की कथा

तदनन्तर, अपने घर को गई हुई सोमप्रभा को पीछे की ओर से देखने के लिए, राजमार्ग के किनारे, अपने भवन की छत पर खड़ी कलिंगसेना को दैवयोग से समीप-स्थित मदनवेग नामक विद्याधरों के युवक सरदार ने देखा ॥१-२॥

अपने अनुपम रूप से तीनों लोकों को जीतनेवाली कामरूपी ऐन्द्रजालिक की जादुई छड़ी के समान उस कलिंगसेना के रूप को देखकर मदनवेग क्षुब्ध हो गया ॥३॥

जहाँ मानव-कन्या का ऐसा रूप है, वहाँ विद्याधरियों और अप्सराओं की क्या कथा ॥४॥

अतः, यदि यह मेरी स्त्री न हुई, तो मेरे जीवन से क्या लाभ ? किन्तु, मैं विद्याधर होकर मानवी का संग कैसे कर सकता हूँ ॥५॥

ऐसा सोचकर उसने प्रज्ञप्ति नामक विद्या का ध्यान किया। वह विद्या सजीव उपस्थित होकर मदनवेग से इस प्रकार कहने लगी—॥६॥

'वास्तव में यह कन्या मानुषी नहीं है। यह शापच्युत अप्सरा है; जो राजा कलिंगदत्त के यहाँ उत्पन्न हुई' ॥७॥

ऐसा सुनकर मदनवेग अपने घर गया और सब कार्यों से विरक्त होकर कामपीडित हो, सोचने लगा ॥८॥

यदि मैं इसका स्वेच्छापूर्वक अपहरण करूँ, तो यह मेरे लिए उचित नहीं है। हठपूर्वक स्त्रियों का उपभोग करना मुझे मृत्यु देनेवाला है, यह शाप मुझे मिला है ॥९॥

अतः, इसकी प्राप्ति के लिए मुझे शिवजी की आराधना करनी चाहिए; क्योंकि कल्याण तप के अधीन होता है और दूसरा कोई उपाय नहीं' ॥१०॥

ऐसा निश्चय करके वह दूसरे दिन ऋषभ पर्वत पर जाकर एक पैर से खड़े होकर और निराहार रहकर तप करने लगा ॥११॥

तदनन्तर, शीघ्र ही उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर और दर्शन देकर शिवजी, मदनवेग से इस प्रकार कहने लगे—॥१२॥

'यह कलिंगसेना सारी पृथ्वी में अपनी सुन्दरता के लिए विख्यात है। इसका पति भी रूप-सम्पत्ति में इससे अधिक न होगा ॥१३॥

केवल वत्स देश का एक राजा उदयन है, जो इसे चाहता है। किन्तु, वह महारानी वासवदत्ता के भय से स्पष्ट रूप से इसे नहीं माँगता ॥१४॥

एषापि रूपलुब्धा तं श्रुत्वा सोमप्रभामुखात् ।
स्वयंवराय वत्सेशं राजपुत्र्यभिवाञ्छति ॥१५॥
तत्र यावद्विवाहोऽस्या न भवेत्तावदन्तरा ।
कृत्वा कालासहस्येव रूपं वत्सेश्वरस्य तत् ॥१६॥
गत्वा गान्धर्वविधिना भार्यां कुर्याद् भवानिमाम् ।
एवं कलिङ्गसेनासौ तव सेत्स्यति सुन्दरी ॥१७॥
इत्यादिष्टः स शर्वेण प्रणिपत्याथ तं ययौ ।
गृहं मदनवेगः स्वं कालकूटगिरेस्तटम् ॥१८॥
अत्रान्तरे प्रतिनिशं गच्छन्त्या निजमन्दिरम् ।
प्रतिप्रभातमायान्त्या यन्त्रेण व्योमगामिना ॥१९॥
तया तक्षशिलापुर्यां सा सोमप्रभया सह ।
कलिङ्गसेना क्रीडन्ती तां जगादैकदा रहः ॥२०॥

कलिङ्गसेनाविवाहकथा

सखि वाच्यं न कस्यापि त्वया यत्ते ब्रवीम्यहम् ।
विवाहो मम सम्प्राप्त इति जाने यतः शृणु ॥२१॥
इह मां याचितुं दूताः प्रेषिता बहुभिर्नृपैः ।
ते च तातेन संवृत्य तथैव प्रेषिता इतः ॥२२॥
यस्तु प्रसेनजिन्नाम श्रावस्त्यामस्ति भूपतिः ।
तदीयः केवलं दूतः सादरं तेन सत्कृतः ॥२३॥
मन्त्रितं चाम्बयाप्येतत्तन्मन्ये मद्वरो नृपः ।
स तातस्य तथाम्बायाः कुलीन इति सम्मतः ॥२४॥
स हि तत्र कुले जातो यत्राम्बाम्बालिकादिकाः ।
पितामह्यः कुरूणां च पाण्डवानां च जज्ञिरे ॥२५॥
तत्प्रसेनजिते तस्मै सखि दत्तास्मि साम्प्रतम् ।
तातेन राज्ञे श्रावस्त्यां नगर्यामिति निश्चयः ॥२६॥
एतत्कलिङ्गसेनातः श्रुत्वा सोमप्रभा शुचा ।
सृजन्तीवापरं हारं सद्यो धाराश्रुणाऽरुदत् ॥२७॥
जगाद चैतां पृच्छन्तीं वयस्यामश्रुकारणम् ।
दृष्टनिःशेषभूलोका सा मयासुरपुत्रिका ॥२८॥
वयो रूपं कुलं शीलं वित्तं चेति वरस्य यत् ।
मृग्यते सखि तत्राद्यं वयोवंशादिकं ततः ॥२९॥

सौन्दर्य के लोभ में पड़ी यह कलिंगसेना भी, सोमप्रभा के मुख से वत्सराज की रूप-प्रशंसा सुनकर उसे स्वयं वरण करना चाहती है ।।१५।।

इसलिए, जबतक इसका विवाह नहीं होता, इसी बीच शीघ्रता करते हुए तुम वत्सराज का रूप बनाकर इससे गान्धर्व-विवाह कर लो । इस प्रकार, सुन्दरी कलिंगसेना तुम्हारी हो जायगी' ।।१६-१७।।

शिवजी से ऐसा आदेश पाकर और उन्हें प्रणाम करके मदनवेग, कालकूट पर्वत पर, अपने घर, चला गया ।।१८।।

इसी बीच प्रतिदिन यन्त्रचालित वायुयान से रात को अपने घर आती हुई और प्रातःकाल तक्षशिला जाती और खेलती हुई सोमप्रभा से कलिंगसेना ने एक बार कहा ।।१९-२०।।

कलिंगसेना के विवाह की कथा

सखी, मैं तुमसे जो कहती हूँ, वह किसी से कहना नहीं । मैंने सुना है कि मेरे विवाह का समय आ गया है । मुझे माँगने के लिए अनेक राजाओं ने दूत भेजे हैं । किन्तु, मेरे पिता ने उन्हें यहाँ से लौटा दिया है ।।२१-२२।।

किन्तु श्रावस्ती नगरी का राजा प्रसेनजित् है । केवल उसी के दूत को मेरे पिता ने विशेष रूप से सत्कृत किया ।।२३।।

मेरी माता से भी सम्मति कर ली है । कुलीन होने के कारण वह मेरे माता-पिता को सम्मत है ।।२४।।

वह उस कुल में उत्पन्न हुआ है, जिसमें कौरवों और पाण्डवों की अम्बा, अम्बालिका आदि दासियाँ उत्पन्न हुईं ।।२५।।

हे सखी, इस समय मुझे पिता ने श्रावस्ती नगरी में उस प्रसेनजित् को ही दे दिया है ।।२६।।

कलिंगसेना से यह सुनकर सोमप्रभा शोक से आँसुओं का हार बनाती हुई जार-जार रोने लगी ।।२७।।

सखी के रोने का कारण पूछने पर समस्त भूलोक को देखी हुई सोमप्रभा कहने लगी—।।२८।।

अवस्था, रूप, कुल, चरित्र आदि जो वर में ढूँढ़े जाते हैं, उनमें सर्वप्रथम अवस्था ही है । वंश आदि उसके बाद की गिनती में लिये जाते हैं ।।२९।।

प्रसेनजिच्च प्रवयाः स दृष्टो नृपतिर्मया ।
जातीपुष्पस्य जात्येव जीर्णस्यास्य कुलेन किम् ॥३०॥
हिमशुभ्रेण तेन त्वं हेमन्तेनेव पद्मिनी ।
परिम्लानाम्बुजमुखी युक्त्या शोच्या भविष्यसि ॥३१॥
अतो जातो विषादो मे प्रहर्षस्तु भवेन्मम ।
यदि स्याद् वत्सराजस्ते कल्याण्युदयनः पतिः ॥३२॥
तस्य नास्ति हि रूपेण लावण्येन कुलेन च ।
शौर्येण च विभूत्या च तुल्योऽन्यो नृपतिर्भुवि ॥३३॥
तेन चेद्युज्यसे भर्त्रा सदृशेन कृशोदरि ।
धातुः फलति लावण्यनिर्माणं तदिदं त्वयि ॥३४॥
इति सोमप्रभाक्लृप्तैर्वाक्यैर्यन्त्रैरिवेरितम् ।
ययौ कलिङ्गसेनाया मनो वत्सेश्वरं प्रति ॥३५॥
ततश्च सा तां पप्रच्छ राजकन्या मयात्मजाम् ।
कथं स वत्सराजाख्यः सखि किं वंशसम्भवः ॥३६॥
कथं चोदयनो नाम्ना त्वया मे कथ्यतामिति ।
साथ सोमप्रभावादीच्छृणु तत्सखि वच्मि ते ॥३७॥
वत्स इत्यस्ति विख्यातो देशो भूमेर्विभूषणम् ।
पुरी तत्रास्ति कौशाम्बी द्वितीयेवामरावती ॥३८॥
तस्यां स कुरुते राज्यं यतो वत्सेश्वरस्ततः ।
वंशं च तस्य कल्याणि कीर्त्यमानं मया शृणु ॥३९॥
पाण्डवस्यार्जुनस्याभूदभिमन्युः किलात्मजः ।
चक्रव्यूहभिदा येन नीता कुरुचमूः क्षयम् ॥४०॥
तस्मात्परीक्षिदभवद्राजा भरतवंशभृत् ।
सर्पसत्रप्रणेताभूत्ततोऽपि जनमेजयः ॥४१॥
ततोऽभवच्छतानीकः कौशाम्बीमध्युवास सः ।
यश्च देवासुररणे दैत्यान्हत्वा व्यपद्यत ॥४२॥
तस्माद्राजा जगच्छ्लाघ्यः सहस्रानीक इत्यभूत् ।
यः शक्रप्रेषितरथो दिवि चक्रे गतागतम् ॥४३॥
तस्य देव्यां मृगावत्यामसावुदयनोऽजनि ।
भूषणं शशिनो वंशे जगन्नेत्रोत्सवो नृपः ॥४४॥

राजा प्रसेनजित् को मैंने देखा है। वह वृद्ध है। मुरझाये हुए जाती (मालती) के पुष्प के समान उस वृद्ध की जाति या कुल से क्या करना है ।।३०।।

हिम के समान शुभ्र उस वृद्ध के समक्ष मलिन मुखवाली तू ऐसी लगेगी; जैसे हेमन्त में हिम से मारी हुई कमलिनी शोचनीय हो जाती है ।।३१।।

इसलिए, मुझे खेद हुआ। प्रसन्नता तो तब हो, जब हे कल्याणि, वत्सराज उदयन तेरा पति हो ।।३२।।

रूप से, लावण्य से, कुल से, शौर्य से और ऐश्वर्य से उसके समान पृथ्वी पर दूसरा राजा नहीं है ।।३३।।

हे पतली कमरवाली, यदि तू अपने समान उस पति से युक्त हो जाय, तो विधाता का तुझमें सौन्दर्य उत्पन्न करना सफल हो जाय' ।।३४।।

इस प्रकार, सोमप्रभा के यन्त्रों के समान वाक्यों से प्रेरित कलिंगसेना का मन, वत्सेश्वर पर चला गया ।।३५।।

तब राजकन्या ने सोमप्रभा से पूछा—'सखि, वह वत्सराज किस वंश में उत्पन्न हुआ है और उसका नाम उदयन कैसे हुआ ?' तब सोमप्रभा बोली—'सखि, कहती हूँ, सुनो' ।।३६-३७।।

वत्सराज की संक्षिप्त कथा

इस भूमि का भूषण वत्स नाम का देश है। उसमें दूसरी इन्द्रपुरी के समान कौशाम्बी नाम की नगरी है ।।३८।।

उस नगरी में वत्सेश्वर राज्य करता है। अब मैं उसके वंश का वर्णन करती हूँ, सुनो ।।३९।।

पाण्डु के पुत्र अर्जुन का लड़का अभिमन्यु हुआ। चक्रव्यूह का भेदन करनेवाले जिस अभिमन्यु ने कौरवों की सेना का संहार किया था ।।४०।।

उस अभिमन्यु द्वारा भरत-वंश को चलानेवाला परीक्षित नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। परीक्षित से सर्पसत्र (नागयज्ञ) करनेवाला पुत्र राजा जनमेजय हुआ। जनमेजय से शतानीक नाम का राजा हुआ, जिसने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया और जो देवासुर-संग्राम में दैत्यों को मारता हुआ स्वयं भी मारा गया ।।४१-४२।।

उस शतानीक से संसार में प्रशंसनीय सहस्रानीक नाम का राजा हुआ, जो इन्द्र के रथ भेजने पर भूमि से स्वर्ग में यातायात किया करता था ।।४३।।

उस सहस्रानीक की रानी मृगावती के गर्भ से उदयन नाम का कुलभूषण और संसार की आँखों को आनन्द देनेवाला राजा हुआ ।।४४।।

नाम्नो निमित्तमप्यस्य शृणु सा हि मृगावती ।
अन्तर्वत्नी सती राज्ञो जनन्यस्य सुजन्मनः ॥४५॥
उत्पन्नरुधिरस्नानदोहदा पापभीरुणा ।
भर्त्रा रचितलाक्षादिरसवापीकृताप्लवा ॥४६॥
पक्षिणा तार्क्ष्यवंश्येन निपत्यामिषशङ्कया ।
नीत्वा विधिवशात्त्यक्ता जीवन्त्येवोदयाचले ॥४७॥
तत्र चाश्वासिता भूयो भर्तृसङ्गमवादिना ।
जमदग्न्यर्षिणा दृष्टा स्थितासौ तत्र चाश्रमे ॥४८॥
अवज्ञाजनितेर्ष्यायाः कञ्चित्कालं हि तादृशः ।
शापस्तिलोत्तमातोऽभूत्तद्भर्त्तुस्तद्वियोगदः ॥४९॥
दिवसैः सा च तत्रैव जमदग्न्याश्रमे सुतम् ।
उदयाद्रौ प्रसूते स्म द्यौरिन्दुमिव नूतनम् ॥५०॥
'असावुदयनो जातः सार्वभौमो महीपतिः ।
जनिष्यते च पुत्रोऽस्य सर्वविद्याधराधिपः' ॥५१॥
इत्युच्चार्याम्बराद् वाणीमशरीरां तदा कृतम् ।
नामोदयन इत्यस्य देवैरुदयजन्मतः ॥५२॥
सोऽपि शापान्तबद्धाशः कालं मातलिबोधितः ।
कृच्छ्रात् सहस्रानीकस्तां विनानैषीन्मृगावतीम् ॥५३॥
प्राप्ते शापावसाने तु शबराद् विधियोगतः ।
उदयाद्रेरुपायातात् प्राप्याभिज्ञानमात्मनः ॥५४॥
आवेदितार्थस्तत्कालं गगनोद्गतया गिरा ।
शबरं तं पुरस्कृत्य जगामैवोदयाचलम् ॥५५॥
तत्र वाञ्छितसंसिद्धिमिव प्राप्य मृगावतीम् ।
भार्यामुदयनं तं च मनोराज्यमिवात्मजम् ॥५६॥
तौ गृहीत्वाथ कौशाम्बीमागत्यैवाभिषिक्तवान् ।
यौवराज्ये तनूजं तं तद्गुणोत्कर्षतोषितः ॥५७॥
यौगन्धरायणादींश्च तस्मै मन्त्रिसुतान् ददौ ।
तेनात्तभारो बुभुजे भोगान्भार्यासखश्चिरम् ॥५८॥
कालेनारोप्य राज्ये च तमेवोदयनं सुतम् ।
वृद्धः स भार्यासचिवो ययौ राजा महापथम् ॥५९॥

अब इसके उदयन नाम का कारण भी सुनो—एक बार सहस्रानीक की रानी और उदयन की माता मृगावती, गर्भवती हुई। गर्भावस्था में उसे रुधिर से भरी बावली में स्नान करने की इच्छा हुई, तो पाप से भीरु राजा सहस्रानीक ने लाख आदि के लाल रंग से बावली भरवा दी। उसमें स्नान की हुई रानी में मांस के टुकड़े का भ्रम करके, गरुड-वंश के पक्षी ने उसे उठा लिया और ले जाकर उदयाचल पर्वत पर उसे जीवित ही छोड़ दिया ॥४५—४७॥

वहाँ पर पुनः पति-मिलन की आशा दिलानेवाले जामदग्न्य ऋषि ने रानी को धैर्य प्रदान किया और उसे अपने आश्रम में ले गये ॥४८॥

दिन पूरे होने पर रानी ने उसी आश्रम में पुत्र को इस प्रकार उत्पन्न किया, जैसे आकाश नवीन चन्द्र को उत्पन्न करता है ॥४९॥

अपमान से क्रुद्ध तिलोत्तमा ने उसके पति को शाप दिया था, जो इस रूप में दोनों को वियोग-दुःख देनेवाला हुआ ॥५०॥

'वह उदयन, सारी पृथ्वी का चक्रवर्त्ती राजा हुआ और इसका पुत्र समस्त विद्याधरों का चक्रवर्त्ती राजा होगा' ॥५१॥

इस प्रकार की आकाशवाणी के कारण और उदयपर्वत पर जन्म लेने के कारण इसका नाम उदयन हुआ ॥५२॥

मातलि (इन्द्र के सारथी) द्वारा परिचय कराया गया और शाप का अन्त होने की आशा बाँधे हुए राजा सहस्रानीक ने मृगावती के विना बारह वर्ष वियोग में व्यतीत किये ॥५३॥

शाप का अन्त होने पर, दैववश उदयाचल से आये हुए एक भील से परिचय पाकर और आकाशवाणी से प्रेरित होकर सहस्रानीक, उसी भील को पथ-प्रदर्शक बनाकर उदयाचल पर गया ॥५४-५५॥

वहाँ पर मूर्त्तिमती वांछित सिद्धि के समान मृगावती पत्नी तथा मनोराज्य के समान पुत्र उदयन को पाकर और उन्हें लेकर राजा कौशाम्बी आया। और, कौशाम्बी आते ही उदयन के गुणों से सन्तुष्ट होकर उसे युवराज-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया ॥५६-५७॥

और, यौगन्धरायण आदि अपने मन्त्रियों के पुत्रों को उसके मन्त्रिमण्डल में प्रतिष्ठित कर दिया। उदयन के राज्य-भार सँभाल लेने पर राजा, महारानी के साथ संसारिक सुख का उपभोग करता रहा और वृद्धावस्था में समस्त राज्य-भार उदयन को देकर राजा महाप्रस्थान क चला गया ॥५८-५९॥

एवं स पित्र्यं राज्यं तत्प्राप्य जित्वा ततोऽखिलाम् ।
यौगन्धरायणसखः प्रशास्त्युदयनो महीम् ॥६०॥
इत्याशु कथयित्वा सा कथां सोमप्रभा रहः ।
सखीं कलिङ्गसेनां तां पुनरेवमभाषत ॥६१॥
एवं वत्सेषु, राजत्वाद् वत्सराजः सुगात्रि सः ।
पाण्डवान्वयसम्भूत्या सोमवंशोद्भवस्तथा ॥६२॥
नाम्नाप्युदयनः प्रोक्तो देवैरुदयजन्मना ।
रूपेण चात्र संसारे कन्दर्पोऽपि न तादृशः ॥६३॥
स एकस्तव तुल्योऽस्ति पतिस्त्रैलोक्यसुन्दरि ।
स च वाञ्छति लावण्यलुब्धस्त्वां प्रार्थितां ध्रुवम् ॥६४॥
किं तु चण्डमहासेनमहीपतितनूद्भवा ।
अस्ति वासवदत्ताख्या तस्याग्रमहिषी सखि ॥६५॥
तथा स च वृतस्त्यक्त्वा बान्धवानतिरिक्तया ।
उषाशकुन्तलादीनां कन्यानां हृतलज्जया ॥६६॥
नरवाहनदत्ताख्यस्तस्यां जातोऽस्य चात्मजः ।
आदिष्टः किल देवैर्यो भावी विद्याधराधिपः ॥६७॥
अतस्तस्याः स वत्सेशो बिभ्यत्त्वां नेह याचते ।
सा च दृष्टा मया न त्वां स्पर्धते रूपसम्पदा ॥६८॥
एवमुक्तवतीं तां च सखीं सोमप्रभां सदा ।
कलिङ्गसेना वत्सेशसोत्सुका निजगाद सा ॥६९॥
जानेऽहमेतदवश्यायाः पित्रोः शक्यं तु किं मम ।
सर्वज्ञा सप्रभावा च तत्त्वमेवात्र मे गतिः ॥७०॥
दैवायत्तमिदं कार्यं तथा चात्र कथां शृणु ।
सोमप्रभा तामित्युक्त्वा शशंसास्यै कथामिमाम् ॥७१॥

तेजस्वत्याः कथा

राजा विक्रमसेनाख्य उज्जयिन्यामभूत्पुरा ।
तस्य तेजस्वतीत्यासीद्रूपेणाप्रतिमा सुता ॥७२॥
तस्याश्चाभिमतः कश्चित्प्रायो नाभूद्वरो नृपः ।
एकदा च ददर्शैकं पुरुषं सा स्वहर्म्यगा ॥७३॥

पिता के राज्य को पाकर और फिर सारी पृथ्वी को जीतकर उदयन यौगन्धरायण के साथ पृथ्वी का शासन कर रहा है ॥६०॥

इस प्रकार, शीघ्र ही उदयन की . कथा, कलिंगसेना को, एकान्त में सुनाकर सखी सोमप्रभा फिर कहने लगी—'इस प्रकार, वत्सदेशों में राज्य करने के कारण वह वत्सराज कहा जाता है और पाण्डवों के वंश में उत्पन्न होने के कारण सोमवंशोद्भव भी वह कहा जाता है ॥६१–६२॥

उदयाचल पर जन्म होने से देवताओं ने उनका नाम उदयन रखा है। इस समय संसार में उसके समान सुन्दर कामदेव भी नहीं है ॥६३॥

हे त्रैलोक्यसुन्दरी, वही एक तेरे समान उपयुक्त पति है। उसकी बड़ी महारानी वासवदत्ता है; जो चण्डमहासेन की कन्या है। उसने अपने बन्धुओं को छोड़कर स्वतन्त्रता से उदयन का वरण किया है। इस प्रकार, उस (वासवदत्ता) ने उषा, शकुन्तला आदि कन्याओं की लज्जा का अपहरण कर लिया है ॥६४–६६॥

उदयन से, वासवदत्ता में, नरवाहनदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ है; जिसे देवताओं ने भावी विद्याधर-चक्रवर्त्ती होने का आदेश दिया है। इसीलिए, वासवदत्ता से डरता हुआ उदयन, तुम्हारी माँग नहीं करता। वह वासवदत्ता मैंने देखी है। वह तुम्हारी रूप-सम्पत्ति की तुलना नहीं कर सकती' ॥६७–६८॥

ऐसा कहती हुई सखी सोमप्रभा को वत्सराज उदयन के प्रति उत्सुक कलिंगसेना बोली ॥६९॥

'माता-पिता से विवश मैं क्या कर सकती हूँ। सबको जाननेवाली और प्रभाव-शालिनी तू ही एकमात्र मेरी गति है ॥७०॥

यह कार्य तो दैव के अधीन है। इस सम्बन्ध में एक कथा कहती हूँ, सुनो!' ऐसा कहकर सोमप्रभा ने उसे यह कथा सुनाई ॥७१॥

तेजस्वती की कथा

पूर्वकाल में उज्जयिनी में विक्रमसेन नाम का एक राजा हुआ। उसकी एक असाधारण रूपवती तेजस्वती नाम की कन्या थी ॥७२॥

उसे कोई भी राजा वरण के लिए अभिमत नहीं हुआ। एक बार उसने अपने भवन पर बैठे हुए एक पुरुष को देखा ॥७३॥

तेन स्वाकृतिना दैवात् सङ्गतिं वाञ्छति स्म सा ।
स्वाभिप्रायं च सन्दिश्य तस्मै स्वां व्यसृजत्सखीम् ॥७४॥
सा गत्वा तत्सखी तस्य पुंसः साहसशङ्किनः ।
अनिच्छतोऽपि प्रार्थ्यैवं यत्नात् सङ्केतकं व्यधात् ॥७५॥
एतद्देवकुलं भद्र विविक्तं पश्यसीह यम् ।
अत्र रात्रौ प्रतीक्षेथा राजपुत्र्यास्त्वमागमम् ॥७६॥
इत्युक्त्वा सा तमामन्त्र्य गत्वा तस्यै तदभ्यधात् ।
तेजस्वत्यै ततः सापि तस्थौ सूर्यावलोकिनी ॥७७॥
पुमांश्च सोऽनुमान्यापि भयात्क्वाप्यन्यतो ययौ ।
न भेकः कोकनदिनीकिञ्जल्कास्वादकोविदः ॥७८॥
अत्रान्तरे च कोऽप्यत्र राजपुत्रः कुलोद्गतः ।
मृते पितरि तन्मित्रं राजानं द्रष्टुमाययौ ॥७९॥
स चात्र सायं सम्प्राप्तः सोमदत्ताभिधो युवा ।
दायादहृतराज्यादिरेकाकी कान्तदर्शनः ॥८०॥
विवेश दैवात्तत्रैव नेतुं देवकुले निशाम् ।
राजपुत्र्याः सखी यत्र पुंसः सङ्केतमादिशत् ॥८१॥
तं तत्र स्थितमभ्येत्य राजपुत्र्यविभाव्य सा ।
निशायामनुरागान्धा स्वयंवरपतिं व्यधात् ॥८२॥
सोऽप्यभ्यनन्दत् तूष्णीं तां प्राज्ञो विधिसमर्पिताम् ।
संसूचयन्तीं भाविन्या राजलक्ष्म्या समागमम् ॥८३॥
ततः क्षणाद्राजसुता सा विलोक्यैवमेव तम् ।
कमनीयतमं मेने धात्रात्मानमवञ्चितम् ॥८४॥
अनन्तरं कथां कृत्वा यथास्वं संविदा तयोः ।
एका स्वमन्दिरमगादन्यस्तत्रानयन्निशाम् ॥८५॥
प्रातर्गत्वा प्रतीहारमुखेनावेद्य नाम सः ।
राजपुत्रः परिज्ञातो राज्ञः प्राविशदन्तिकम् ॥८६॥
तत्रोक्तराज्यहारादिदुःखस्य स कृतादरः ।
अङ्गीचक्रे सहायत्वं राजा तस्यारिमर्दने ॥८७॥
मतिं चक्रे च तां तस्मै दातुं प्राग्दित्सितां सुताम् ।
मन्त्रिभ्यश्च तदैवैतमभिप्रायं शशंस सः ॥८८॥
अथैतस्मै च राज्ञे तं सुतावृत्तान्तमभ्यधात् ।
देवी स्वाबोधिता पूर्वं तयैवाप्तसखीमुखैः ॥८९॥

दैवयोग से वह उसके साथ अपने रूप की संगति चाहने लगी, अर्थात् उसपर अनुरक्त हो गई। तदनन्तर, उसने अपने मनोभाव को सन्देश-रूप में सखी द्वारा उसके पास भेजा। सन्देश सुनकर साहस की शंका करते हुए और न चाहते हुए भी राजपुत्री की सखी ने उससे संकेत कर दिया ॥७४-७५॥

हे भद्र, यह सामने जो एकान्त मन्दिर देख रहे हो, इसमें तुम रात को राजकुमारी के आने की प्रतीक्षा करना। इस प्रकार का उससे निश्चय करके सखी ने राजपुत्री तेजस्वती से कह दिया। तेजस्वती भी सूर्य को देखती हुई बैठी रही, अर्थात् रात्रि-आगमन की प्रतीक्षा करने लगी ॥७६-७७॥

वह पुरुष, सखी से निश्चय करके भी भय से कहीं भाग गया। सच है, मेढक, कमलिनी के केसर का स्वाद नहीं जान सकता ॥७८॥

राजवंश में उत्पन्न सोमदत्त नामक एक युवा राजकुमार पिता के मर जाने पर पिता के मित्र विक्रमसिंह के पास दैवयोग से इसी सायंकाल वहाँ (उज्जैन में) आया ॥७९॥

वह सुन्दर युवा, भाई-बन्धुओं द्वारा राज्य-हरण कर लेने के कारण दुःखित और अकेला उज्जैन पहुँचा था। उस समय (सायंकाल) राजा से मिलना उचित न जानकर वह उसी सूने या एकान्त मन्दिर में ठहर गया; जिसमें राजकुमारी की सखी ने उसके प्रेमी को आने का संकेत दिया था ॥८०-८१॥

रात्रि में प्रेम से अन्धी राजकुमारी ने, उस मन्दिर में बैठे हुए राजपुत्र को धोखे से अपना पति बना लिया ॥८२॥

उस बुद्धिमान् राजकुमार ने भी चुपचाप उसका प्रेमाभिनन्दन किया; क्योंकि वह उसकी भावी राजलक्ष्मी की सूचना दे रही थी ॥८३॥

तब राजकुमारी ने उसे भ्रम से प्राप्त होने पर भी अत्यन्त सुन्दर देखकर अपने को दैववंचित (ठगाई हुई) नहीं समझा ॥८४॥

तदनन्तर, इधर-उधर की बातें और आवश्यक परामर्श करके राजपुत्री अपने भवन को गई और राजपुत्र ने वहीं रात्रि व्यतीत की ॥८५॥

प्रातःकाल राजपुत्र, राजभवन में जाकर, द्वारपाल से सूचना दिलाकर राजा के समीप पहुँचा और उससे परिचित हुआ ॥८६॥

राजपुत्र के राज्यापहरण आदि दुःखों को सुनकर राजा ने उसके शत्रुदमन के लिए सहायता करना स्वीकार किया। साथ ही, पहले से ही देने के लिए तैयार उस अपनी कन्या को उसे देने के लिए भी राजा ने विचार किया और मन्त्रियों से अपना विचार कहा ॥८७-८८॥

अनन्तर, राजकुमारी की अन्तरंग सखियों से भली भाँति परिचित कराई गई रानी ने भी राजा से कन्या का सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥८९॥

असिद्धानिष्टसिद्धेष्टकाकतालीयविस्मितम् ।
ततस्तं तत्र राजानमेको मन्त्री तदाब्रवीत् ॥९०॥
विधिरेव हि जागर्त्ति भव्यानामर्थसिद्धिषु ।
असञ्चेतयमानानां सद्भृत्यः स्वामिनामिव ॥९१॥
तथा च कथयाम्येतां राजन्नत्र कथां शृणु ।

हरिशर्मणो ब्राह्मणस्य कथा

बभूव हरिशर्माख्यः कोऽपि ग्रामे क्वचिद्द्विजः ॥९२॥
स दरिद्रश्च मूर्खश्च वृत्त्यभावेन दुःस्थितः ।
पूर्वदुष्कृतभोगाय जातोऽतिबहुबालकः ॥९३॥
सकुटुम्बो भ्रमन् भिक्षां प्राप्यैकं नगरं क्रमात् ।
शिश्रिये स्थूलदत्ताख्यं गृहस्थं स महाधमम् ॥९४॥
गवादिरक्षकान् पुत्रान् भार्यां कर्मकरीं निजाम् ।
तस्य कृत्वा गृहाभ्यर्णे प्रैष्यं कुर्वन्नुवास सः ॥९५॥
एकदा स्थूलदत्तस्य सुतापरिणयोत्सवः ।
तस्याभूदागतानेकजन्ययात्राजनाकुलः ॥९६॥
तदा च हरिशर्मात्र तद्गृहे सकुटुम्बकः ।
आकण्ठघृतमांसादिभोजनास्थां बबन्ध सः ॥९७॥
तद्वेलां वीक्षमाणोऽथ स्मृतः केनापि नात्र सः ।
ततोऽनाहारनिर्विण्णो भार्यामित्यब्रवीन्निशि ॥९८॥
दारिद्र्यादिह मौर्ख्याच्च ममेदृशमगौरवम् ।
तदत्र कृत्रिमं युक्त्या विज्ञानं प्रयुनज्म्यहम् ॥९९॥
येनास्य स्थूलदत्तस्य भवेयं गौरवास्पदम् ।
त्वं प्राप्तेऽवसरे चास्मै ज्ञानिनं मां निवेदय ॥१००॥
इत्युक्त्वा तां विचिन्त्यात्र धिया सुप्ते जने हयः ।
स्थूलदत्तगृहात्तेन जह्रे जामातृवाहनः ॥१०१॥
दूरे प्रच्छन्नमेतेन स्थापितं प्रातरत्र तम् ।
इतस्ततो विचिन्वन्तोऽप्यश्वं जन्या न लेभिरे ॥१०२॥
अथामङ्गलवित्रस्तं हयचौरगवेषिणम् ।
हरिशर्मवधूरेत्य स्थूलदत्तमुवाच सा ॥१०३॥
भर्त्ता मदीयो विज्ञानी ज्योतिर्विद्यादिकोविदः ।
अश्वं वो लम्भयत्येनं किमर्थं स न पृच्छ्यते ॥१०४॥

अनिष्ट की असिद्धि और इष्ट के काकतालीय न्याय से चकित राजा को उसी समय एक मन्त्री ने कहा—॥९०॥

'जैसे लापरवाह मालिक की कार्यसिद्धि के लिए अच्छे सेवक सावधान रहते हैं; उसी प्रकार भाग्यवान् व्यक्तियों की कार्य-सिद्धि के लिए दैव ही जागरूक (सावधान) रहता है ॥९१॥

हे राजन् ! मैं इस सम्बन्ध में तुम्हें एक कथा सुनाता हुँ, सुनो'।

हरिशर्मा ब्राह्मण की कथा

किसी गाँव में हरिशर्मा नामक ब्राह्मण रहता था ॥९२॥

वह दरिद्र, मूर्ख और जीविका के न मिलने से दुःखी रहता था। मानों पूर्वजन्म के पापों को भोगने के लिए उसके अत्यधिक बालक उत्पन्न हो गये थे ॥९३॥

वह अपने कुटुम्ब के साथ भीख माँगता हुआ एक नगर में जाकर महाधनी स्थूलदत्त नामक गृहस्थ की सेवा करने लगा ॥९४॥

वह उसका सेवक बनकर उसके बच्चों की रक्षा, गाय की सँभाल और घर का सारा काम करने में स्वयं और अपनी स्त्री को लेकर उसके घर के पास ही रहने लगा ॥९५॥

एक बार उस स्थूलदत्त की कन्या का विवाहोत्सव हुआ, जिसमें अनेक बरातियों के आने की बहुत बड़ी धूमधाम थी ॥९६॥

तब हरिशर्मा ने उसके घर में अपने कुटुम्ब के साथ भरपेट घी, मांस आदि खाने की आशा बाँधी ॥९७॥

वह भोजन के समय की प्रतीक्षा कर रहा था, किन्तु उसे किसी ने भी स्मरण नहीं किया। निराहार रह जाने से दुःखी होकर उसने रात में अपनी स्त्री से कहा—'देखो दरिद्रता और मूर्खता के कारण मेरा ऐसा अपमान हुआ। इसलिए, मैं अब बनावटी पण्डिताई का प्रयोग करता हूँ और मैं उस स्थूलदत्त का गौरव-पात्र बन सकूँ, इसलिए तुम समय पाकर मेरी पण्डिताई के बारे में उससे कह देना' ॥९८—१००॥

ऐसा कहकर और बुद्धि से कुछ सोचकर तथा सभी लोगों के सो जाने पर उसने वर (दुलहे) का घोड़ा स्थूलदत्त के घर से चुरा लिया ॥१०१॥

और दूर ले जाकर कहीं जंगल में बाँध दिया। प्रातःकाल, बराती इधर-उधर ढूँढ़ते हुए भी घोड़े को न पा सके ॥१०२॥

तदनन्तर, इस अमंगल घटना से व्याकुल और उस घोड़े के चोर को ढूँढ़ने में व्यस्त स्थूलदत्त को हरिशर्मा की स्त्री ने आकर कहा—'मेरा पति ज्योतिष आदि विद्याओं क विद्वान् है। वह तुम्हारा घोड़ा बता देगा, उससे क्यों नहीं पूछते ?' ॥१०३–१०४॥

तच्छ्रुत्वा स्थूलदत्तस्तं हरिशर्माणमाह्वयत् ।
ह्यो विस्मृतो हृतेऽश्वे तु स्मृतोस्म्यद्येति वादिनम् ॥१०५॥
विस्मृतं नः क्षमस्वेति प्रार्थितं ब्राह्मणं च सः ।
पप्रच्छ केनापहृतो हयो नः कथ्यतामिति ॥१०६॥
हरिशर्मा ततो मिथ्या रेखाः कुर्वन्नुवाच सः ।
इतो दक्षिणसीमान्ते चोरैः संस्थापितो हयः ॥१०७॥
प्रच्छन्नस्थो दिनान्ते च दूरं यावन्न नीयते ।
तावदानीयतां गत्वा त्वरितं स तुरङ्गमः ॥१०८॥
तच्छ्रुत्वा धावितैः प्राप्य क्षणात्स बहुभिर्नरैः ।
आनिन्येऽश्वः प्रशंसद्भिर्विज्ञानं हरिशर्मणः ॥१०९॥
ततो ज्ञानीति सर्वेण पूज्यमानो जनेन सः ।
उवास हरिशर्मात्र स्थूलदत्तार्चितः सुखम् ॥११०॥
अथ गच्छत्सु दिवसेष्वत्र राजगृहान्तरात् ।
हेमरत्नादि चौरेण भूरि केनाप्यनीयत ॥१११॥
नाज्ञायत यदा चौरस्तदा ज्ञानिप्रसिद्धितः ।
आनाययामास नृपो हरिशर्माणमाशु तम् ॥११२॥
स चानीतः क्षिपन् कालं वक्ष्ये प्रातरिति ब्रुवन् ।
वासके स्थापितो ज्ञानविग्नो राज्ञासुरक्षितः ॥११३॥
तत्र राजकुले चासीन्नाम्ना जिह्वेति चेटिका ।
यया भ्रात्रा समं तच्च नीतमभ्यन्तराद्धनम् ॥११४॥
सा गत्वा निशि तत्रास्य वासके हरिशर्मणः ।
जिज्ञासया ददौ द्वारि कर्णं तज्ज्ञानशङ्किता ॥११५॥
हरिशर्मा च तत्कालमेककोऽभ्यन्तरे स्थितः ।
निजां जिह्वां निनिन्दैवं मृषाविज्ञानवादिनीम् ॥११६॥
भोगलम्पटया जिह्वे किमिदं विहितं त्वया ।
दुराचारे सहस्व त्वमिदानीमिह निग्रहम् ॥११७॥
तच्छ्रुत्वा ज्ञानिनानेन ज्ञातास्मीति भयेन सा ।
जिह्वाख्या चेटिका युक्त्या प्रविवेश तदन्तिकम् ॥११८॥
पतित्वा पादयोस्तस्य ज्ञानिव्यञ्जनमब्रवीत् ।
ब्रह्मन्नियं सा जिह्वाहं त्वया ज्ञातार्थहारिणी ॥११९॥

यह सुनकर स्थूलदत्त ने उस हरिशर्मा को बुलवाया। हरिशर्मा ने कहा—'कल से भूले हुए मुझे आपने आज घोड़ा खोने पर याद किया?'।।१०५।।

तब 'हमारी भूल को क्षमा करना', ऐसा कहते हुए स्थूलदत्त ने पूछा—'हमारा घोड़ा किसने चुराया, यह बताओ' ।।१०६।।

उसके पूछने पर हरिशर्मा, भूमि पर झूठी रेखाएँ खींचता हुआ बताने लगा कि यहाँ से दक्षिणी सीमा के पास चोरों ने घोड़ा रखा है ।।१०७।।

वह छिपा हुआ है, सायंकाल होने पर चोर उसे दूर ले जायेंगे, इसलिए उसे जल्द ही मँगवा लीजिए ।।१०८।।

यह सुनकर उधर दौड़कर ढूँढ़ते हुए बहुत-से लोगों ने घोड़ा पा लिया और हरि शर्मा के विज्ञान की प्रशंसा करते हुए उसे घर ले आये ।।१०६।।

तभी से 'विद्वान् है'— ऐसा समझकर स्थूलदत्त से सम्मानित हरिशर्मा जनता में भी सम्मानित हुआ और सुखपूर्वक वहाँ रहने लगा ।।११०।।

कुछ दिनों के पश्चात् उस नगर के राजा के यहाँ सोना, रत्न आदि की चोरी हो गई। जब चोरों का पता न लगा, तब ज्योतिषी के नाम से प्रसिद्ध हरिशर्मा को राजा ने बुलवाया ।।१११–११२।।

बुलवाये हुए हरिशर्मा ने व्यर्थ समय व्यतीत करके कहा कि 'सवेरे बताऊँगा'। तब राजा ने सुरक्षा के साथ उसे किसी कमरे में ठहरा दिया ।।११३।।

राजा के यहाँ जिह्वा नाम की एक सेविका थी, जिसने अपने भाई की सहायता से राजमहल में चोरी कराकर धन का अपहरण किया था ।।११४।।

वह जिह्वा चोरी के कारण शंकितहृदय होकर रात को हरिशर्मा के निवास पर जाकर द्वार में कान लगाकर सुनने लगी। उस समय हरिशर्मा कमरे में अकेला बैठा हुआ झूठा विज्ञानवाली अपनी जिह्वा (जीभ) की निन्दा कर रहा था ।।११५–११६।।

'हे जिह्वा, भोग की लम्पट, तूने यह क्या किया? दुराचारिणी, अब उसका दण्ड सहन कर' ।।११७।।

यह सुनकर भयभीत सेविका 'इसने मुझे जान लिया', ऐसा सोचकर प्राणदण्ड के भय से व्याकुल होकर किसी उपाय से हरिशर्मा के पास पहुँची ।।११८।।

और, उस बनावटी ज्योतिषी के चरणों में गिरकर कहने लगी—'हे ब्राह्मण, मैं ही वह जिह्वा हूँ, जिस धनहारिणी को तुमने जान लिया है ।।११६।।

नीत्वा तच्च मयास्यैव मन्दिरस्येह पृष्ठतः ।
उद्याने दाडिमस्याधो निखातं भूतले धनम् ॥१२०॥
तद्रक्ष मां गृहाणेमं किञ्चिन्मे हेम हस्तगम् ।
एतच्छ्रुत्वा सगर्वं स हरिशर्मा जगाद ताम् ॥१२१॥
गच्छ जानाम्यहं सर्वं भूतं भव्यं भवत्तथा ।
त्वां तु नोद्घाटयिष्यामि कृपणा शरणागताम् ॥१२२॥
यच्च हस्तगतं तेऽस्ति तद्दास्यसि पुनर्मम ।
इत्युक्त्वा तेन सा चेटी तथेत्याशु ततो ययौ ॥१२३॥
हरिशर्मा च स ततो विस्मयादित्यचिन्तयत् ।
असाध्यं साधयत्यर्थं हेलयाभिमुखो विधिः ॥१२४॥
यदिहोपस्थितेऽनर्थे सिद्धोऽर्थोऽशङ्कितं मम ।
स्वजिह्वां निन्दतो जिह्वा चौरी मे पतिता पुरः ॥१२५॥
शङ्कयैव प्रकाशन्ते बत प्रच्छन्नपातकाः ।
इत्याद्याकलयन्सोऽत्र हृष्टो रात्रिं निनाय ताम् ॥१२६॥
प्रातश्चालीकविज्ञानयुक्त्या नीत्वा स तं नृपम् ।
तत्रोद्याने निखातस्थं प्रापयामास तद्धनम् ॥१२७॥
चौरं चाप्यपनीतांशं शशंस प्रपलायितम् ।
ततस्तुष्टो नृपस्तस्मै ग्रामान्दातुं प्रचक्रमे ॥१२८॥
कथं स्यान्मानुषागम्यं ज्ञानं शास्त्रं विनेदृशम् ।
तन्नूनं चौरसङ्केतकृतेयं धूर्तजीविका ॥१२९॥
तस्मादेषोऽन्यया युक्त्या वारमेकं परीक्ष्यताम् ।
देव ज्ञानीति कर्णे तं मन्त्री राजानमभ्यधात् ॥१३०॥
ततोऽन्तः क्षिप्तमण्डूकं सपिधानं नवं घटम् ।
स्वैरमानाय्य राजा तं हरिशर्माणमब्रवीत् ॥१३१॥
ब्रह्मन् यदस्मिन् घटके स्थितं जानाति तद्यदि ।
तदद्य ते करिष्यामि पूजां सुमहतीमहम् ॥१३२॥
तच्छ्रुत्वा नाशकालं तं मत्वा स्मृत्वा ततो निजम् ।
पित्रा क्रीडाकृतं बाल्ये मण्डूक इति नाम सः ॥१३३॥
विधातृप्रेरितः कुर्वंस्तेनात्र परिदेवनम् ।
ब्राह्मणो हरिशर्मात्र सहसैवेवमब्रवीत् ॥१३४॥

मैंने धन ले जाकर इसी भवन के पीछे उद्यान में अनार के पेड़ के नीचे की भूमि में गाड़ दिया है ॥१२०॥

तो अब मेरी रक्षा करो और मेरे हाथ में जो सोना है, उसे ले लो।' यह सुनकर हरिशर्मा गर्व के साथ कहने लगा ॥१२१॥

'तू जा, मैं भूत-भविष्य सब जानता हूँ। दीन और शरण में आई हुई तुझे प्रकट न करूँगा। जो तेरे हाथ में धन है, उसे मुझे दे देगी, तब ऐसा करूँगा' ॥१२२॥

हरिशर्मा से इस प्रकार कही गई दासी उसकी बात मानकर शीघ्र चली गई ॥१२३॥

तदनन्तर, स्वयं चकित हरिशर्मा ने आश्चर्य से सोचा कि अनुकूल दैव असाध्य बात को भी सरलता से ही सिद्ध कर देता है ॥१२४॥

देखो, मेरे सामने अनर्थ उपस्थित था, किन्तु अब निःसन्देह मेरा कार्य सिद्ध हो गया। अपनी जिह्वा की निन्दा करते हुए चोरिणी जिह्वा सामने आ गई ॥१२५॥

आश्चर्य है, छिपे हुए पाप, शंका से ही प्रकाशित हो जाते हैं, इत्यादि बातें सोचते हुए प्रसन्न हरिशर्मा ने रात्रि व्यतीत की ॥१२६॥

प्रातःकाल, झूठी रेखा आदि खींचकर, राजा को, उस उद्यान में ले गया और गड़ा हुआ धन निकलवा दिया ॥१२७॥

और कह दिया कि चोर कुछ हिस्सा लेकर भाग गया है। इस बात पर सन्तुष्ट राजा उसे गाँव आदि पुरस्कार में देने को उद्यत हुआ ॥१२८॥

तब एक मन्त्री ने राजा के कान में कहा—'ऐसा ज्ञान, शास्त्र के विना मनुष्य के लिए अगम्य है। अतः, यह अवश्य ही चोर से बताई हुई धूर्त्ततापूर्ण जीविका है। इसीलिए, किसी अन्य उपाय से भी इस ज्योतिषी की एक बार फिर परीक्षा करनी चाहिए' ॥१३०॥

तब राजा ने एक नया घड़ा मँगवाकर, उसमें एक मेढक डालकर बन्द कर दिया और हरिशर्मा से कहा—॥१३१॥

'ब्राह्मण, इस घड़े के अन्दर क्या है? यदि बता दो, तो तुम्हारी पूजा विशेष रूप से करूँगा' ॥१३२॥

यह सुनकर और अपना विनाश-काल मानकर, अपने पिता द्वारा हँसी-हँसी में रखे हुए अपने मण्डूक नाम को स्मरण कर विलाप करता हुआ दैवप्रेरित हरिशर्मा इस प्रकार बोल उठा—॥१३३-१३४॥

साधोरेव तु मण्डूक तवाकाण्डे घटोऽधुना ।
अवशस्य विनाशाय सञ्जातोऽयं हठादिह ॥१३५॥
तच्छ्रुत्वाहो महाज्ञानी भेकोऽपि विदितोऽमुना ।
इति जल्पन्ननन्दात्र प्रस्तुतार्थान्वयाज्जनः ॥१३६॥
ततस्तत्प्रातिभज्ञानं मन्वानो हरिशर्मणे ।
तुष्टो राजा ददौ ग्रामान् सहेमच्छत्रवाहनान् ॥१३७॥
क्षणाच्च हरिशर्मा स जज्ञे सामन्तसन्निभः ।[1]
इत्थं दैवेन साध्यन्ते सदर्थाः शुभकर्मणाम् ॥१३८॥
तत्सोमदत्तं सदृशं दैवेनैवाभिसारिता ।
निवार्यासदृशं राजंस्तव तेजस्वती सुता ॥१३९॥
इति मन्त्रिमुखाच्छ्रुत्वा तस्मै राजसुताय ताम् ।
राजा विक्रमसेनोऽथ ददौ लक्ष्मीमिवात्मजम् ॥१४०॥
ततः श्वशुरसैन्येन गत्वा जित्वा रिपूंश्च सः ।
सोमदत्तः स्वराज्यस्थस्तस्थौ भार्यासखः सुखम् ॥१४१॥
एवं विधेर्भवति सर्वमिदं विशेषा-
स्त्वामीदृशीं घटयितुं क इह क्षमेत ।
वत्सेश्वरेण सदृशेन विनैव दैवं
कुर्यामहं सखि किमत्र कलिङ्गसेने ॥१४२॥
इत्थं कथां रहसि राजसुता निशम्य
सोमप्रभावदनतोऽत्र कलिङ्गसेना ।
तत्प्रार्थिनी शिथिलबन्धुभयत्रपा सा
वत्सेशसङ्गमसमुत्कमना बभूव ॥१४३॥
अथास्तमुपयास्यति त्रिभुवनैकदीपे रवौ
प्रभातसमयागमावधि कथञ्चिदामन्त्र्य ताम् ।
सखीमभिमतोद्यमस्थितमतिं खमार्गेण सा
मयासुरसुता ययौ निजगृहाय सोमप्रभा ॥१४४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके चतुर्थस्तरङ्गः ।

---

१. पाश्चात्यकथास्वपीदृश्यः कथाः समालोक्यन्ते । ग्रीम्सरचित 'चतुर्णामप्सरसां कथा' नाम्नि पुस्तकेऽप्पीदृशी कथा समायाति । सर्वासां मूलं कथासरित्सागर एव।

'हे मण्डूक, भोले-भाले और विवश तेरे असमय विनाश के लिए यहाँ घड़ा ही अचानक कारण बन गया' ।।१३५।।

यह सुनकर प्रसंग की ओर अर्थ लगाकर वहाँ उपस्थित पुरुषों ने कहा—'ओह ! यह तो महान् ज्योतिषी है। इसने मेढक को भी जान लिया' ।।१३६।।

तब प्रसन्न राजा ने उसके वचन को प्रतिभा-प्रसूत ज्ञान समझकर सोने के छत्र, हाथी, घोड़े आदि के साथ ग्राम भी भेंट किये ।।१३७।।

क्षण-भर में वह हरिशर्मा सामन्त राजा के समान हो गया।[1] दैव अच्छे भाग्यवालों के कार्य स्वयं ऐसे ही सिद्ध कर देता है ।।१३८।।

इसलिए, दैव ने इस कन्या को सोमदत्त के पास उचित ही अभिसरण करा दिया और अयोग्य व्यक्ति को भी हटा दिया ।।१३९।।

मन्त्री के मुँह से इस प्रकार कथा सुनकर विक्रमसेन ने लक्ष्मी के समान अपनी कन्या राजपुत्र सोमदत्त को दे दी ।।१४०।।

तदनन्तर, सोमदत्त भी श्वशुर की सेना के बल से शत्रुओं पर चढ़ाई करके और उन्हें जीतकर अपने राज्य में अपनी पत्नी के साथ सुखपूर्वक रहने लगा ।।१४१।।

हे कलिंगसेने, दैवगति की विशेषता से ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं। अतः, ऐसी सुन्दरी तुझे वत्सेश्वर से मिलाने में दैव के सिवा और कौन समर्थ है। मैं इस विषय में क्या कर सकती हूँ ।।१४२।।

इस प्रकार, सोमप्रभा के मुख से एकान्त में कथा सुनकर बन्धुओं के भय और लज्जा को छोड़कर कलिंगसेना वत्सराज के संगम के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो गई ।।१४३।।

तदनन्तर, त्रिभुवन के एकमात्र दीपक सूर्य के अस्त हो जाने पर, प्रातःकाल पुनः आने की अवधि प्रदान करके मयासुर की पुत्री सोमप्रभा, अभीष्ट-सिद्धि के लिए उद्यत सखी कलिंगसेना से पूछकर आकाश-मार्ग से घर को चली गई ।।१४४।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-रचित कथासरित्सागर के
मदनमंचुका लम्बक का चतुर्थ तरंग समाप्त।

---

१. इस कथा से मिलती-जुलती कहानी, ग्रीम्स की 'परियों की कहानी' में भी है। बेनफी का कथन है कि योरोप में प्रचलित ऐसी कहानियों का मूल स्रोत कथासरित्सागर ही है। —अनु०

पञ्चमस्तरङ्गः

कलिङ्गसेनायाः सोमप्रभायाश्च कथा (पूर्वानुवृत्ता)

ततोऽन्येद्युरुपेतां तां प्रातः सोमप्रभां सखीम् ।
कलिङ्गसेना विश्रम्भात् कथां कुर्वत्युवाच सा ॥१॥
मां प्रसेनजिते राज्ञे तातो दास्यति निश्चितम् ।
एतच्छ्रुतं मयाम्बातो दृष्टो वृद्धः स च त्वया ॥२॥
वत्सेशस्तु यथा रूपे त्वयैव कथितस्तथा ।
श्रुतिमार्गप्रविष्टेन हृतं तेन यथा मनः ॥३॥
तत्प्रसेनजितं पूर्वं प्रदर्श्य नय तत्र माम् ।
आस्ते वत्सेश्वरो यत्र किं तातेन किमम्बया ॥४॥
एवमुक्तवतीं तां च सोत्कां सोमप्रभाब्रवीत् ।
गन्तव्यं यदि तद्यामो यन्त्रेण व्योमगामिना ॥५॥
किं तु सर्वं गृहाण त्वं निजं परिकरं यतः ।
दृष्ट्वा वत्सेश्वरं भूयो नागन्तुमिह शक्ष्यसि ॥६॥
न च त्वं द्रक्ष्यसि पुनः पितरौ न स्मरिष्यसि ।
दूरस्थां प्राप्तदयिता विस्मरिष्यसि मामपि ॥७॥
नह्येवमहमेष्यामि भर्त्तृवेश्मनि ते सखि ।
तच्छ्रुत्वा राजकन्या सा रुदती तामभाषत ॥८॥
तर्हि वत्सेश्वरं तं त्वमिहैवानय मे सखि ।
नोत्सहे तत्र हि स्थातुं क्षणमेकं त्वया विना ॥९॥
नानिन्ये चानिरुद्धः किमुपायाच्चित्रलेखया ।
जानत्यपि तथा चैतां मत्तस्त्वं तत्कथां शृणु ॥१०॥
बाणासुरस्य तनया बभूवोषेति विश्रुता ।
तस्याश्चाराधिता गौरी पतिप्राप्त्यै वरं ददौ ॥११॥
स्वप्ने प्राप्स्यसि यत्सङ्गं स ते भर्त्ता भवेदिति ।
ततो देवकुमाराभं कञ्चित्स्वप्ने ददर्श सा ॥१२॥
गान्धर्वविधिना तेन परिणीता तथैव च ।
प्राप्ततत्सत्यसम्भोगा प्राबुध्यत निशाक्षये ॥१३॥
अदृष्ट्वा तं पतिं दृष्टं दृष्ट्वा सम्भोगलक्षणम् ।
स्मृत्वा गौरीवरं साभूत्साशङ्कभयविस्मया ॥१४॥

पंचम तरंग

कलिंगसेना और सोमप्रभा की कथा (क्रमशः)

तदनन्तर, दूसरे दिन, प्रातःकाल आई हुई सहेली सोमप्रभा से विश्वस्त बातें करती हुई कलिंगसेना कहने लगी ।।१।।

मेरा पिता, मुझे प्रसेनजित् को अवश्य दे देगा, यह निश्चित है। यह मैंने अपनी माता से सुना है और तूने उस वृद्ध प्रसेनजित् को देखा है ।।२।।

वत्सराज को तो रूप (सुन्दरता) में जैसा तूने वर्णित किया है कि उसने कानों के मार्ग से प्रवेश करके मेरा हृदय हरण कर लिया है ।।३।।

इसलिए, पहले मुझे प्रसेनजित् को दिखाओ। और, मुझे वहाँ भी ले चलो, जहाँ वत्सराज है। पिता से क्या प्रयोजन और माता से भी क्या करना है ।।४।।

इस प्रकार कहती हुई उत्कण्ठित कलिंगसेना से सोमप्रभा ने कहा—'यदि चलना है, तो यन्त्रचालित आकाशयान से चलें ।।५।।

किन्तु, तुम अपने वस्त्र, आभूषण और सेवकों को साथ ले लो; क्योंकि वत्सराज को देखकर फिर तुम लौट न सकोगी ।।६।।

फिर, तुम माता-पिता को न देखोगी और न उन्हें स्मरण ही करोगी, अर्थात् सब भूल जाओगी ।।७।।

और, हे सखी, न मैं ही तुम्हारे पति के घर आऊँगी'। यह सुनकर आँसू बहाती हुई राजकुमारी सखी से बोली ।।८।।

'मेरी प्यारी सखी, यदि ऐसा है, तो तुम वत्सराज को ही यहाँ ले आओ। मैं तेरे विना वहाँ एक क्षण भी न ठहर सकूँगी ।।९।।

क्या, चित्रलेखा ने उपाय करके अनिरुद्ध को उषा के पास नहीं ला दिया था ? इस कथा को जानती हुई भी तुम मुझसे सुनो' ।।१०।।

उषा और अनिरुद्ध की कथा

उषा के नाम से प्रसिद्ध बाणासुर की कन्या थी। उसने गौरी की आराधना की और गौरी ने उसे पति-प्राप्ति का वरदान दिया ।।११।।

कि 'स्वप्न में तुम जिसका संग प्राप्त करोगी, वही तुम्हारा पति होगा' ।।१२।।

तब उसने एकबार देवकुमार के समान किसी को स्वप्न में देखा। गान्धर्व विधि से उसके साथ विवाह आदि किया और प्रातःकाल उठी ।।१३।।

उठने पर स्वप्न में देखे हुए उस पति को न देखकर और सम्भोग के लक्षणों को देखकर गौरी के वर का स्मरण करके वह आतंक और भय से व्याकुल हो गई ।।१४।।

ताम्यन्ती च ततः सा तं स्वप्ने दृष्टं प्रियं विना ।
पृच्छन्त्यै चित्रलेखायै सख्यै सर्वं शशंस तत् ॥१५॥
सापि नामाद्यभिज्ञानं नं किञ्चित्तस्य जानती ।
योगेश्वरी चित्रलेखा तामुषामेवमब्रवीत् ॥१६॥
सखि देवीवरस्यायं प्रभावोऽत्र किमुच्यते ।
किं त्वभिज्ञानशून्यस्ते सोऽन्वेष्टव्यः प्रियः कथम् ॥१७॥
परिजानासि चेत्तं ते ससुरासुरमानुषम् ।
जगल्लिखामि तन्मध्ये तं मे दर्शय येन सः ॥१८॥
आनीयते मयेत्युक्ता सा तथेत्युदिते तया ।
चित्रलेखा क्रमाद् विश्वमलिखद् वर्णवर्त्तिभिः ॥१९॥
तत्रोषा सोऽयमित्यस्या हृष्टाङ्गुल्या सकम्पया ।
द्वारवत्यां यदुकुलादनिरुद्धमदर्शयत् ॥२०॥
चित्रलेखा ततोऽवादीत् सखि धन्यासि यत्त्वया ।
भर्त्तानिरुद्धः प्राप्तोऽयं पौत्री भगवतो हरेः ॥२१॥
योजनानां सहस्रेषु षष्टौ वसति स त्वितः ।
तच्छ्रुत्वा साधिकौत्सुक्यवशात्तामब्रवीदुषा ॥२२॥
नाद्य चेत्सखि तस्याङ्कं श्रये श्रीखण्डशीतलम् ।
तदत्युद्दामकामाग्निनिर्दग्धां विद्धि मां मृताम् ॥२३॥
श्रुत्वैतच्चित्रलेखा सा तामाश्वास्य प्रियां सखीम् ।
तदैवोत्पत्य नभसा ययौ द्वारवतीं पुरीम् ॥२४॥
ददर्श च पृथूत्तुङ्गैर्मन्दिरैरब्धिमध्यगाम् ।
कुर्वती तं पुनः क्षिप्तमन्थाद्रिशिखरभ्रमम् ॥२५॥
तस्यां सुप्तं निशि प्राप्य सानिरुद्धं विबोध्य च ।
उषानुरागं तं तस्मै शशंस स्वप्नदर्शनात्[1] ॥२६॥
आदाय चात्ततद्रूपस्वप्नवृत्तान्तमेव तम् ।
सोत्कं सिद्धिप्रभावेण क्षणेनैवाययौ ततः ॥२७॥
एत्य चावेक्षमाणायास्तस्याः सख्याः खवर्त्मना ।
प्रावेशयदुषायास्तं गुप्तमन्तःपुरं प्रियम् ॥२८॥

---

१. स्वपन्तमेवानिरुद्धं तत्रानयत् चित्रलेखेति भागवते ।

और, स्वप्न में देखे हुए पति को न पाकर व्याकुल हुई, इसीलिए पूछती हुई सखी से चित्रलेखा ने सब समाचार कह दिया ।।१५।।

योगेश्वरी चित्रलेखा भी उसके नाम-धाम आदि का परिचय न जानती हुई उषा से इस प्रकार कहने लगी ।।१६।।

'हे सखी, यह देवी पार्वती के वर का प्रभाव है। इसमें क्या कहा जा सकता है। किन्तु, परिचय से रहित वह तेरा प्रियतम कैसे खोजा जा सकता है ?' ।।१७।।

'यदि तू उसे नहीं पहचानती है, तो मैं संसार के सुन्दर देवताओं, असुरों और मनुष्यों के चित्र बनाती हूँ, उनमें तू उसे पहचान कर मुझे दिखा' ।।१८।।

'मैं उसे लाती हूँ।' ऐसा कहने पर चित्रलेखा ने, क्रमशः रंग की कूचियों से सभी सुन्दर व्यक्तियों के चित्र लिखे ।।१९।।

तब उषा ने काँपती हुई अँगुली से द्वारकापुरी के यदुवंशीय अनिरुद्ध को पहचान कर दिखाया ।।२०।।

यह देखकर चित्रलेखा बोली—'सखी, तू धन्य है, जो तूने भगवान् कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध को अपना पति प्राप्त किया ।।२१।।

वह यहाँ से साठ हजार योजन (२,४०,००० कोस) की दूरी पर है।' यह सुनकर अधिक उत्कण्ठा के वश होकर उषा बोली ।।२२।।

'सखी, यदि आज मैं उसकी चन्दन के समान शीतल गोद में न बैठी, तो अति प्रचण्ड कामाग्नि से मुझे दग्ध समझो। अर्थात्, मर जाऊँगी' ।।२३।।

यह सुनकर चित्रलेखा सखी उषा को धैर्य देकर आकाश में उड़कर द्वारावती नगरी में पहुँची ।।२४।।

उसने समुद्र के मध्य ऊँचे-ऊँचे भवनों से शोभित द्वारकापुरी को देखा, जो पर्वत-शिखरों के समान ऊँचे भवनों से समुद्र-मन्थन करने के लिए पुनः समुद्र में फेंके हुए मन्दराचल के शिखर का भ्रम उत्पन्न कर रही थी ।।२५।।

उस चित्रलेखा ने वहाँ रात में शयन करते हुए अनिरुद्ध को जगाकर, उसके प्रति स्वप्न देखने से उत्पन्न उषा के गाढ अनुराग का परिचय दिया[1] ।।२६।।

उसी प्रकार के ही स्वप्न देखने से उत्कण्ठित अनिरुद्ध को लेकर वह योगेश्वरी चित्रलेखा, सिद्धि के प्रभाव से क्षण-भर में बाण-नगरी में आ गई ।।२७।।

वहाँ आकर अनिरुद्ध को, उसका पथ निहारती हुई उषा के महल में युक्ति द्वारा पहुँचा दिया ।।२८।।'

---

१. भागवत के अनुसार, चित्रलेखा सोये अनिरुद्ध को योगबल से उड़ा ले गई थी।

सा दृष्ट्वैवानिरुद्धं तमुषा साक्षादुपागतम् ।
अमृतांशुमिवाम्भोधिवेला नाङ्गेष्ववर्त्तत ॥२९॥
ततस्तेन समं तस्थौ सखीदत्तेन तत्र सा ।
जीवितेनेव मूर्त्तेन वल्लभेन यथासुखम् ॥३०॥
तज्ज्ञानात् पितरं चास्याः क्रुद्धं बाणं जिगाय सः ।
अनिरुद्धः स्ववीर्येण पितामहबलेन च ॥३१॥
ततो द्वारवतीं गत्वा तावभिन्नतनू उभौ ।
उषानिरुद्धौ जज्ञाते गिरिजाशङ्कराविव ॥३२॥
इत्युषायाः प्रियोऽह्नैव मेलितश्चित्रलेखया ।
त्वं सप्रभावाप्यधिका ततोऽपि सखि मे मता ॥३३॥
तन्ममानय वत्सेशमिह मास्म चिरं कृथाः ।
एवं कलिङ्गसेनातः श्रुत्वा सोमप्रभाब्रवीत् ॥३४॥
चित्रलेखा सुरस्त्री सा समुत्क्षिप्यानयत्परम् ।
मादृशी किं विदध्यात्तु परस्पर्शाद्य कुर्वती ॥३५॥
तत्त्वां नयामि तत्रैव तत्र वत्सेश्वरः सखि ।
प्राक्प्रसेनजितं तं ते दर्शयित्वा त्वदर्थिनम् ॥३६॥
इति सोमप्रभोक्ता सा तथेत्युक्त्वा तया सह ।

कलिङ्गसेनायाः कौशाम्बीयात्रा

कलिङ्गसेना तत्क्लृप्तं मायायन्त्रविमानकम् ॥३७॥
तदैवारुह्य नभसा सकोषा सपरिच्छदा ।
कृतप्रास्थानिका प्रायात् पित्रोरविदिता ततः ॥३८॥
न हि पश्यति तुङ्गं वा श्वभ्रं वा स्त्रीजनोऽग्रतः ।
स्मरेण नीतः परमां धारां वाजीव सादिना ॥३९॥
श्रावस्तीं प्राप्य पूर्वं च तं प्रसेनजितं नृपम् ।
मृगयानिर्गतं दूराज्जरा पाण्डु ददर्श सा ॥४०॥
वृद्धाद् व्रजास्मादिति तां दूरादिव निषेधता ।
उद्धूयमानेन मुहुश्चामरेणोपलक्षितम् ॥४१॥
सोऽयं प्रसेनजिद्राजा पित्रास्मै त्वां प्रदित्सिता ।
पश्येति सोमप्रभया दर्शितं सोपहासया ॥४२॥

उषा, साक्षात् आते हुए अनिरुद्ध को देखकर इस प्रकार अपने अंगों से बाहर हो गई, जिस प्रकार चन्द्र-दर्शन से समुद्र की वेला अपनी सीमा से बाहर हो जाती है ॥२६॥

तदनन्तर, उषा, सखी द्वारा दिये गये मूर्त्तिमान् जीवन के समान उस प्राणप्यारे अनिरुद्ध के साथ सुखपूर्वक रहने लगी ॥३०॥

इस बात को जानकर क्रुद्ध बाणासुर को अनिरुद्ध ने, अपने तथा अपने पितामह श्रीकृष्ण के बल से जीत लिया ॥३१॥

तदनन्तर, अभिन्नशरीर वे दोनों द्वारकापुरी में जाकर पार्वती और शंकर के समान प्रसिद्ध हुए ॥३२॥

इस प्रकार, उषा की सखी चित्रलेखा ने शीघ्र ही उसके प्रियतम से उसे मिला दिया था। 'हे सखि, मैं तुम्हें चित्रलेखा से भी अधिक प्रभावशालिनी समझती हूँ ॥३३॥

इसलिए, उस वत्सराज को यहाँ ले आओ। विलम्ब न करो।' कलिंगसेना से ऐसा सुनकर सोमप्रभा बोली—॥३४॥

'वह चित्रलेखा देवस्त्री थी, इसलिए दूसरे पुरुष को उठा लाई; किन्तु पर-पुरुष का स्पर्श भी न करनेवाली मैं यह कार्य कैसे कर सकती हूँ ॥३५॥

इसलिए, तुझे ही वहाँ ले जाती हूँ, जहाँ वत्सराज है। उससे पहले मैं तुम्हें माँगनेवाले प्रसेनजित् को भी दिखा दूँगी' ॥३६॥

कलिंगसेना की कौशाम्बी-यात्रा

इस प्रकार, सोमप्रभा से कही गई कलिंगसेना उसकी बात को मानकर उसके साथ मायायन्त्र-चालित आकाशयान से अपने सामानों और अन्तरंग सेवकों के साथ माता-पिता से छिपकर चली गई ॥३७-३८॥

सच है, कामदेव द्वारा वेगवती धारा में पहुँचाई गई स्त्रियाँ, ऊँचा-नीचा नहीं देखतीं, जिस प्रकार सरपट चाल से चलते हुए घोड़े का सारथी ऊँचा-नीचा नहीं देख पाता ॥३९॥

पहले, श्रावस्ती नगरी में पहुँचकर शिकार के लिए निकले हुए और वृद्धावस्था से पीले पड़े हुए प्रसेनजित् को उसने दूर से ही देखा ॥४०॥

उस राजा के दोनों ओर डुलाये जाते हुए चँवर, मानों सोमप्रभा को 'इस वृद्ध से दूर रहो'—इस प्रकार कहकर दूर से ही निषेध कर रहे थे ॥४१॥

हँसती हुई सोमप्रभा ने कलिंगसेना से, उस राजा को दिखाते हुए, कहा—'देखो यही वह वृद्ध प्रसेनजित् राजा है, जिनके निमित्त तुम्हारा पिता तुम्हें दे रहा है ॥४२॥

जरयायं वृतो राजा का वृणीतेऽपरा त्वमुम् ।
तदितः सखि शीघ्रं मां नय वत्सेश्वरं प्रति ॥४३॥
इति सोमप्रभां चोक्त्वा तत्क्षण सा तया सह ।
कलिङ्गसेना व्योम्नैव कौशाम्बीं नगरीं ययौ ॥४४॥
तत्रोद्यानगतं सा तं वत्सेशं सख्युदीरितम् ।
ददर्श दूरात् सोत्कण्ठा चकोरीवामृतत्विषम् ॥४५॥
सा तदुत्फुल्लया दृष्ट्या हृन्न्यस्तेन च पाणिना ।
प्रविष्टोऽयं पथानेन माममत्रेत्यब्रवीदिव ॥४६॥
सखि सङ्गमयाद्यैव वत्सराजेन मामिह ।
एनं विलोक्य हि स्थातुं न शक्ता क्षणमप्यहम् ॥४७॥
इति चोक्तवतीं तां सा सखी सोमप्रभाब्रवीत् ।
अद्याशुभं मया किञ्चिन्निमित्तमुपलक्षितम् ॥४८॥
तदिदं दिवसं तूष्णीमुद्यानेऽस्मिन्नलक्षिता ।
अधितिष्ठस्व मा कार्षीः सखि दूरं गतागतम् ॥४९॥
प्रातरागत्य युक्तिं वा घटयिष्यामि सङ्गमे ।
अधुना गन्तुमिच्छामि भर्त्तुश्चित्तगृहे गृहम् ॥५०॥
इत्युक्त्वा तामवस्थाप्य ययौ सोमप्रभा ततः ।
वत्सराजोऽपि चोद्यानात् स्वमन्दिरमथाविशत् ॥५१॥
ततः कलिङ्गसेना सा तत्रस्था स्वमहत्तरम् ।
यथातत्त्वं स्वसन्देशं गत्वा वत्सेश्वरं प्रति ॥५२॥
प्राहिणोत्प्राङनिषिद्धापि स्वसख्या शकुनज्ञया ।
स्वतन्त्रोऽभिनवारूढो युवतीनां मनोभवः ॥५३॥
स च गत्वा प्रतीहारमुखेनावेद्य तत्क्षणम् ।
महत्तरः प्रविश्यैवं वत्सराजं व्यजिज्ञपत् ॥५४॥
राजन्कलिङ्गदत्तस्य राज्ञस्तक्षशिलापतेः ।
सुता कलिङ्गसेनाख्या श्रुत्वा त्वां रूपवत्तरम् ॥५५॥
स्वयंवरार्थमिह ते सम्प्राप्ता त्यक्तबान्धवा ।
मायायन्त्रविमानेन सानुगा व्योमगामिना ॥५६॥
अनीता गुह्यचारिण्या सख्या सोमप्रभाख्यया ।
मयासुरस्यात्मजया नलकूबरभार्यया ॥५७॥
तया विज्ञापनायाहं प्रेषितः स्वीकुरुष्व ताम् ।
युवयोरस्तु योगोऽयं कौमुदीचन्द्रयोरिव ॥५८॥

'यह राजा जराक्रान्त (वृद्धावस्था से घिरा हुआ) है। अब इसे कौन दूसरी स्त्री वरेगी ? इसलिए सखी, मुझे यहाँ से शीघ्र वत्सराज की ओर ले चल' ।।४३।।

सोमप्रभा से इस प्रकार कहकर कलिंगसेना उसी समय उसके साथ आकाशमार्ग से कौशाम्बी नगरी को गई ।।४४।।

वहाँ पर उद्यान में बैठे हुए और सोमप्रभा द्वारा दिखाये गये वत्सराज को उसने ऐसे देखा, जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखती है ।।४५।।

कलिंगसेना, खिली हुई आँखों से उसे देखती हुई हृदय पर हाथ रखकर मानों यह कहने लगी कि 'यह आँखों के मार्ग से यहाँ कैसे घुस गया है ?' ।।४६।।

'सखी, आज ही तू मुझे इससे मिला दो। मैं इसे देखकर अब एक क्षण भी नहीं ठहर सकती' ।।४७।।

कलिंगसेना के ऐसा कहने पर सोमप्रभा बोली—'आज मैंने कुछ अशुभसूचक शकुन देखा है' ।।४८।।

इसलिए, आज के दिन तुम इस उद्यान में छिपकर रहो। सखी, दूर तक आना-जाना न करना। एक ही स्थान पर चुपचाप बैठी रहो ।।४९।।

प्रातःकाल आकर तुम दोनों को मिलाने का कोई उपाय करूँगी। अपने स्वामी के हृदयरूपी घर में बसी हुई हे सखी ! मैं तो अभी अपना घर जाना चाहती हूँ ।।५०।।

ऐसा कहकर और उसे उद्यान के एकान्त स्थान में ठहराकर सोमप्रभा चली गई। और, वत्सराज भी उद्यान से भवन को चला गया ।।५१।।

तब शकुन जाननेवाली सखी सोमप्रभा से मना कर दिये जाने पर भी कलिंगसेना ने, अपने प्रतीहार को, वास्तविक बातें बताकर वत्सराज के पास सन्देश लेकर भेजा। युवतियों का हृदयस्थित कामदेव स्वतन्त्र और उद्दाम होता है। कलिंगसेना के प्रतीहार ने, वत्सराज के प्रतीहार के द्वारा प्रवेश पाकर, वत्सराज के समक्ष निवेदन किया—।।५२–५४।।

'हे राजन् ! तक्षशिला के राजा कलिंगदत्त की कन्या कलिंगसेना, आपको अत्यधिक सुन्दर सुनकर, अपने बन्धु-बान्धवों को छोड़कर, यन्त्रचालित विमान से अपने अनुचरों के साथ आपका स्वयं वरण करने के लिए आई है। उसे मयासुर की आकाशचारिणी कन्या और नल-कबूर की स्त्री सोमप्रभा ने यहाँ पहुँचाया है। उस राजकुमारी ने मुझे आपसे यह निवेदन करने के लिए भेजा है कि आप उसे स्वीकार करें। चन्द्र और चन्द्रिका के समान आप दोनों का सुन्दर समागम हो' ।।५५—५८।।

एवं महत्तराच्छ्रुत्वा तं तथेत्यभिनन्द्य च ।
प्रहृष्टो हेमवस्त्राद्यैर्वत्सराजोऽभ्यपूजयत् ॥५९॥
आहूय चाब्रवीन्मन्त्रिमुख्यं यौगन्धरायणम् ।
राज्ञः कलिङ्गदत्तस्य ख्यातरूपा क्षितौ सुता ॥६०॥
स्वयं कलिङ्गसेनाख्या वरणाय ममागता ।
तद्ब्रूहि शीघ्रमत्याज्यां कदा परिणयामि ताम् ॥६१॥

महामन्त्रिणो यौगन्धरायणस्य कूटनीतिचक्रम्

इत्युक्तो वत्सराजेन मन्त्री यौगन्धरायणः ।
अस्यायतिहितापेक्षी क्षणमेवमचिन्तयत् ॥६२॥
कलिङ्गसेना सा तावत्ख्यातरूपा जगत्त्रये ।
नास्त्यन्या तादृशी यस्यै स्पृहयन्ति सुरा अपि ॥६३॥
तां लब्ध्वा वत्सराजोऽयं सर्वमन्यत्परित्यजेत् ।
देवी वासवदत्ता च ततः प्राणैर्वियुज्यते ॥६४॥
नरवाहनदत्तोऽपि नश्येद्राजसुतस्ततः ।
पद्मावत्यपि तत्स्नेहाद्देवी जीवति दुष्करम् ॥६५॥
ततश्चण्डमहासेनप्रद्योतौ पितरौ द्वयोः ।
देव्योर्विमुञ्चतः प्राणान् विकृतिं वापि गच्छतः ॥६६॥
एवं च सर्वनाशः स्यान्न च युक्तं निषेधनम् ।
राज्ञोऽस्य व्यसनं यस्माद् वारितस्याधिको भवेत् ॥६७॥
तस्मादनुप्रवेशस्य सिद्ध्यै कालं हराम्यहम् ।
इत्यालोच्य स वत्सेशं प्राह यौगन्धरायणः ॥६८॥
देव धन्योऽसि यस्यैषा स्वयं ते गृहमागता ।
कलिङ्गसेना भृत्यत्वं प्राप्तश्चैतत्पिता नृपः ॥६९॥
तत्त्वया गणकान् पृष्ट्वा सुलग्नेऽस्या यथाविधि ।
कार्यः पाणिग्रहो राज्ञो बृहतो दुहिता ह्यसौ ॥७०॥
अद्यास्या दीयतां तावद्योग्यं वासगृहं पृथक् ।
दासीदासा विसृज्यन्तां वस्त्राण्याभरणानि च ॥७१॥
इत्युक्तो मन्त्रिमुख्येण वत्सराजस्तथेति तत् ।
प्रहृष्टहृदयः सर्वं सविशेषं चकार सः ॥७२॥

कलिंगसेना क प्रतीहार से यह सुनकर और 'अच्छा' कहकर वत्सराज ने उसका अभिनन्दन किया और बहुमूल्य वस्त्राभरण आदि अलंकारों से उसका स्वागत-सत्कार किया ॥५६॥

और, मुख्यमन्त्री यौगन्धरायण को बुलाकार कहा—'पृथ्वी में अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध राजा कलिंगदत्त की कलिंगसेना नाम की कन्या, स्वयं ही मेरा वरण करने के लिए आई है। इसलिए, शीघ्र बताओ कि इस अत्याज्य (ग्रहण करने योग्य) कन्या का परिणय कब करूँ ॥६०-६१॥

यौगन्धरायण की कूटनीति

राजा से इस प्रकार कहा गया यौगन्धरायण राजा के भावी कल्याण की अपेक्षा करता हुआ क्षण-भर के लिए सोचने लगा—॥६२॥

'कलिंगसेना, तीनों लोकों में अपने सौन्दर्य के लिए विख्यात है। इस समय विश्व में उसके समान दूसरी सुन्दरी नहीं है। उसे देवता भी चाहते हैं ॥६३॥

उसे प्राप्त करके यह वत्सराज और सब कुछ छोड़ देगा। इस कारण रानी बासवदत्ता भी अपने प्राण दे देगी, और राजकुमार नरवाहनदत्त भी नष्ट हो जायगा। दूसरी रानी पद्मावती का जीवन भी दूभर हो जायगा। इन दोनों रानियों के पिता चण्डमहासेन और मगध नरेश प्रद्योत भी रानियों के मरते ही विरुद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार, इसका सर्वनाश हो जायगा। किन्तु, इतने पर भी इस समय विवाह का निषेध करना भी उचित नहीं है; क्योंकि राजा व्यसनी है। रोकने से उसका व्यसन और बढ़ जायगा। इसलिए, गम्भीरता-पूर्वक सोचने के लिए समय लगाना ठीक होगा।' ऐसा सोचकर यौगन्धरायण ने वत्सराज से कहा—'महाराज आप धन्य हैं, जिसे घर बैठे ही ऐसी त्रैलोक्यसुन्दरी कलिंग-सेना स्वयं उपस्थित होकर प्राप्त हुई है। इसके कारण इसका पिता राजा कलिंगदत्त भी अपना सेवक बन गया ॥६४—६९॥

इसलिए, आपको ज्योतिषियों को बुलाकर शुभ मुहूर्त्त में उसका पाणिग्रहण करना चाहिए; क्योंकि यह एक महान् राजा की कन्या है ॥७०॥

इस समय इसे योग्य निवास-भवन दीजिए। इसके लिए दास-दासियाँ नियुक्त कीजिए और उसे वस्त्रालंकार आदि से सत्कृत कीजिए' ॥७१॥

मुख्यमन्त्री से इस प्रकार कहे गये राजा ने प्रसन्न होकर उसकी बात स्वीकार की और कलिंगसेना के सत्कार का सारा प्रबन्ध उत्साह के साथ करा दिया ॥७२॥

कलिङ्गसेना च ततः प्रविष्टा वासवेश्म तत् ।
स्वमनोरथमासन्नं मत्वा प्राप परां मुदम् ॥७३॥
यौगन्धरायणः सोऽपि क्षणाद्राजकुलात्ततः ।
निर्गत्य स्वगृहं गत्वा धीमानेवमचिन्तयत् ॥७४॥
प्रायोऽशुभस्य कार्यस्य कालहारः प्रतिक्रिया ।
तथा च वृत्रशत्रौ प्राग्ब्रह्महत्यापलायिते ॥७५॥
देवराज्यमवाप्तेन नहुषेणाभिवाञ्छिता ।
रक्षिता देवगुरुणा शची शरणमाश्रिता ॥७६॥
अद्य प्रातरुपैति त्वामित्युक्त्वा कालहारतः ।
यावत्स नष्टो नहुषो हुङ्काराद् ब्रह्मशापतः ॥७७॥
प्राप्तश्च पूर्ववच्छक्रः स पुनर्देवराजताम् ।
एवं कलिङ्गसेनार्थे कालः क्षेप्यो मया प्रभोः ॥७८॥
इति सञ्चिन्त्य सर्वेषां गणकानां स संविदम् ।
दूरलग्नप्रदानाय मन्त्री गुप्तं व्यधात्तदा ॥७९॥
अथ विज्ञाय वृत्तान्तं देव्या वासवदत्तया ।
आहूय स महामन्त्री स्वमन्दिरमनीयत ॥८०॥
तत्र प्रविष्टं प्रणतं रुदती सा जगाद तम् ।
आर्य पूर्वं त्वयोक्तं मे यथा देवि मयि स्थिते ॥८१॥
पद्मावत्या ऋते नान्या सपत्नी ते भविष्यति ।
कलिङ्गसेनाप्यद्यैषा पश्येह परिणेष्यते ॥८२॥
सा च रूपवती तस्यामार्यपुत्रश्च रज्यति ।
अतो वितथवादी त्वं जातोऽहं च मृताधुना ॥८३॥
तच्छ्रुत्वा तामवोचत्स मन्त्री यौगन्धरायणः ।
धीरा भव कथं ह्येतद्देवि स्यान्मम जीवतः ॥८४॥
त्वया तु नात्र कर्त्तव्या राज्ञोऽस्य प्रतिकूलता ।
प्रत्युतालम्ब्य धीरत्वं दर्शनीयानुकूलता ॥८५॥
नातुरः प्रतिकूलोक्तैर्वशे वैद्यस्य वर्त्तते ।
वर्त्तते त्वनुकूलोक्तैः साम्नैवाचरतः क्रियाम् ॥८६॥
प्रतीपं कृष्यमाणो हि नोत्तरेदुत्तरेन्नरः ।
वाह्यमानोऽनुकूलं तु नोद्योगाद् व्यसनात्तथा ॥८७॥
अतः समीपमायान्तं राजानं त्वमविक्रिया ।
उपचारैरुपचरेः संवृत्याकारमात्मनः ॥८८॥

कलिंगसेना भी नये वास-भवन में जाकर अपना मनोरथ सिद्ध समझकर अत्यन्त प्रसन्न हुई ।।७३।।

बुद्धिमान् यौगन्धरायण भी, राजभवन से तुरत अपने घर जाकर इस प्रकार सोचने लगा। समय की प्रतीक्षा करना ही अशुभ कार्य का प्रतिकार है। पुराकाल में ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र के भाग जाने पर देवराज्य प्राप्त करके नहुष राजा ने, इन्द्राणी को प्राप्त करना चाहा था। तब देवगुरु बृहस्पति ने शरण में आई हुई इन्द्राणी की यही कहकर नहुष से रक्षा की थी कि 'आज आवेगी, कल आवेगी'। इसी बीच राजा नहुष, ब्राह्मणों के शाप से नष्ट हो गया और इन्द्र पुनः देवराज बन गया। इसी प्रकार, मुझे भी कलिंगसेना के लिए राजा का समय टालते रहना चाहिए ।।७४––७८।।

ऐसा सोचकर सभी गणितज्ञों से सम्मति करके उसने एक लम्बी अवधि के पश्चात् लग्न निकालने का गुप्त परामर्श किया ।।७९।।

तदनन्तर, महारानी वासवदत्ता ने आई हुई कलिंगसेना का समाचार जानकर मन्त्री यौगन्धरायण को अपने भवन में बुलवाया ।।८०।।

वासवदत्ता के घर में उपस्थित होकर प्रणाम करते हुए यौगन्धरायण से रोती हुई वासवदत्ता कहने लगी—'आर्य ! तुमने पहले ही मुझसे कहा था कि देवी, मेरे रहते हुए पद्मावती के सिवा दूसरी सौत तुम्हारी नहीं होगी। अब देखो, यह कलिंगसेना भी आज विवाहित हो जायगी। वह अत्यन्त रूपवती है और राजा उसके प्रति अत्यन्त आसक्त है। अतः, तुम अब झूठे बने और मैं मरी; अर्थात् आत्महत्या करूँगी' ।।८१––८३।।

यह सुनकर मन्त्री यौगन्धरायण वासवदत्ता से कहने लगा—'देवि, धैर्य रखो। मेरे जीते-जी यह कैसे हो सकता है? किन्तु, तुम्हें इस सम्बन्ध में राजा का विरोध न करना चाहिए। प्रत्युत धैर्य के साथ अनुकूलता ही प्रकट करनी चाहिए ।।८४–८५।।

प्रतिकूल चलने से रोगी, वैद्य के वश में नहीं आता। शान्तिपूर्वक रोगी की अनुकल चिकित्सा करने पर ही वह उसके वश में आता है ।।८७।।

मनुष्य, विपरीत क्रिया द्वारा अपने उद्योग या व्यसन से दूर नहीं होता। इसलिए, पास आये हुए राजा को तुम सरल भाव से अपनी भावना को छिपाकर विविध प्रकार से सेवा करती रहो ।।८७–८८।।

कलिङ्गसेनास्वीकारं श्रद्दध्यास्तस्य साम्प्रतम् ।
वृद्धिं ब्रुवाणा राज्यस्य सहाये तत्पितर्यपि ॥८९॥
एवं कृते च माहात्म्यगुणं दृष्ट्वा परं तव ।
प्रवृद्धस्नेहदाक्षिण्यो राजासौ भवति त्वयि ॥९०॥
मत्वा कलिङ्गसेनां च स्वाधीनां नोत्सुको भवेत् ।
वार्यमाणस्य वाञ्छा हि विषयेष्वभिवर्द्धते ॥९१॥
देवी पद्मावती चैतच्छिक्षणीया त्वयानघे ।
एवं स राजा कार्येऽस्मिन्कालक्षेपं सहेत नः ॥९२॥
अतः परं च जानेऽहं पश्येर्युक्तिबलं मम ।
सङ्कटे हि परीक्ष्यन्ते प्राज्ञाः शूराश्च सङ्गरे ॥९३॥
तद्देवि मा विषण्णा भूरिति देवीं प्रबोध्य ताम् ।
तयादृतोक्तिः स ययौ ततो यौगन्धरायणः ॥९४॥
वत्सेश्वरश्च तदहर्न दिवा न रात्रौ
देव्योर्द्वयोरपि स वासगृहं जगाम ।
तादृक्स्वयंवररसोपनमत्कलिङ्ग-
सेनासमाननवसङ्गमसोत्कचेताः ॥९५॥
रात्रिं च दुर्लभरसोत्सुकतातिगाढ-
चिन्तामहोत्सवमयीमिव तां ततस्ते ।
निन्युः स्वसद्मसु पृथक्पृथगेव देवी
वत्सेशतत्सचिवमुख्यकलिङ्गसेनाः ॥९६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे मदनमञ्चुका लम्बके पञ्चमस्तरङ्गः ।

षष्ठस्तरङ्गः

कलिङ्गसेनायाः कथा

यौगन्धरायणस्य कूटनीतिप्रपञ्चः

ततः प्रतीक्षमाणं तं वत्सराजमुपेत्य सः ।
यौगन्धरायणो धूर्त्तः प्रातर्मन्त्री व्यजिज्ञपत् ॥१॥
: कलिङ्गसेनाया देवस्य च शुभावहः ।
विवाहमङ्गलायेह किं नाद्यैव विलोक्यते ॥२॥

---

१. प्राचीनपुस्तकेऽस्माच्छलोकात्पूर्वं 'राजन् कलिङ्गदत्तस्य राज्ञस्तक्षशिलापतेः' इत्यधिकः पाठः समुपलभ्यते ।

इस समय कलिंगसेना की स्वीकृति को भी सादर मानकर तुम यह भी कहना कि उसके पिता कलिंगदत्त राजा की सहायता से राज्य की वृद्धि ही होगी ॥८९॥

ऐसा करने पर तुम्हारे हृदय की उदारता और महत्ता से बढ़े हुए स्नेहवाला राजा तुम्हारी ओर आ जायगा ॥९०॥

और, कलिंगसेना को स्वाधीन (स्वतन्त्र) समझकर उसके प्रति वह उत्सुक न होगा। विषयों से रोके जाते हुए व्यक्ति की इच्छा विषयों की ओर ही अधिक दौड़ती है ॥९१॥

रानी पद्मावती को भी इसी प्रकार शिक्षा देना। इस प्रकार, तुम लोगों से सँभाला हुआ राजा हमारे द्वारा किये जाते हुए विलम्ब को सहन कर लेगा ॥९२॥

इससे अधिक मैं नहीं जानता। अब मेरी बुद्धि का बल देखो। संकट-काल में बुद्धिमान् और युद्ध-काल में शूरवीर की परीक्षा होती है ॥९३॥

इसलिए हे देवी, खिन्न न होओ।' इस प्रकार, रानी को समझाकर और अपनी बातों का समर्थन प्राप्त कर यौगन्धरायण चला गया ॥९४॥

स्वयंवर के रस से अभिभूत होकर आनेवाली ऐसी कलिंगसेना के प्रथम समागम के लिए उत्कण्ठित चित्तवाला वत्सराज, उस दिन, न दिन में और न रात में ही, किसी भी रानी के भवन में गया ॥९५॥

और उधर, कलिंगसेना ने भी वह रात दुर्लभ रस प्राप्त करने की उत्सुकता, गम्भीर चिन्ता और महोत्सव के स्मरण में व्यतीत की ॥९६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-रचित कथासरित्सागर के मदनमंचुका लम्बक का पंचम तरंग समाप्त।

षष्ठ तरंग

कलिंगसेना की कथा (क्रमशः)

मन्त्री यौगन्धरायण का कूटनीतिक प्रपंच

तदनन्तर, दूसरे दिन प्रातःकाल प्रतीक्षा करते हुए वत्सराज से धूर्त (चतुर) मन्त्री यौगन्धरायण ने आकर निवेदन किया—'महाराज, आपके लिए कल्याणदायक कलिंगसेना का विवाह-महोत्सव, आज ही क्यों न देख लिया जाय' ॥१-२॥

तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्राजा ममाप्येवं हृदि स्थितम् ।
तां विना हि मुहूर्त्तं मे स्थातुं न सहते मनः ॥३॥

इत्युक्त्वैव स तत्कालं प्रतीहारं पुरःस्थितम् ।
आदिश्यानाययामास गणकान् सरलाशयः ॥४॥

तेन पृष्टा महामन्त्रिपूर्वस्थापितसंविदः ।
ऊचुर्लग्नोऽनुकूलोऽस्ति राज्ञो मासेषु षट्स्वितः ॥५॥

तच्छ्रुत्वैव मृषा कोपं कृत्वा यौगन्धरायणः ।
अज्ञा इमे धिगित्युक्त्वा राजानं निपुणोऽब्रवीत् ॥६॥

योऽसौ ज्ञानीति देवेन पूजितो गणकः पुरा ।
स नागतोऽद्य तं पृष्ट्वा यथायुक्तं विधीयताम् ॥७॥

एतन्मन्त्रिवचः श्रुत्वा वत्सेशो गणकं तदा ।
तमप्यानाययामास दोलारूढेन चेतसा ॥८॥

सोऽप्यस्य कालहाराय स्थितसंवित्तथैव तम् ।
लग्नं पृष्टोऽब्रवीद्ध्यात्वा षण्मासान्ते व्यवस्थितम् ॥९॥

ततो राजानमुद्विग्न इव यौगन्धरायणः ।
जगाद देव कर्त्तव्यं किमत्रादिश्यतामिति ॥१०॥

राजाप्युक्तः सुलग्नैषी स विमृश्य ततोऽभ्यधात् ।
कलिङ्गसेना प्रष्टव्या सा किमाहेत्यवेक्ष्यताम् ॥११॥

तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा गृहीत्वा गणकद्वयम् ।
पार्श्वं कलिङ्गसेनाया ययौ यौगन्धरायणः ॥१२॥

तया कृतादरो दृष्ट्वा तद्रूपं स व्यचिन्तयत् ।
प्राप्येमां व्यसनाद्राजा सर्वं राज्यं त्यजेदिति ॥१३॥

उवाच चैनामुद्वाहलग्नं ते गणकैः सह ।
निश्चेतुमागतोऽस्म्यैतैर्जन्मर्क्षं तन्निवेद्यताम् ॥१४॥

तच्छ्रुत्वा जन्मनक्षत्रं तस्याः परिजनोदितम् ।
गणकास्ते मृषा कृत्वा विचारं मन्त्रिसंविदा ॥१५॥

लग्नं तमेव तत्रापि मासषट्कान्तर्वर्त्तिनम् ।
नार्वागतः पुरोऽस्तीति वदन्तः पुनरभ्यधुः ॥१६॥

यह सुनकर राजा ने कहा—'मेरे मन में भी यही है। उसके विना मैं घड़ी-भर भी नहीं रह सकता' ॥३॥

ऐसा कहकर उस सरल स्वभाववाले राजा ने सामने खड़े हुए प्रधान द्वारपाल को आज्ञा देकर गणकों (ज्योतिषियों) को बुलवाया ॥४॥

महामन्त्री द्वारा पहले से ही सिद्ध किये गये उन गणकों ने राजा के पूछने पर कहा कि 'महाराज के लिए, आज से छह महीने के बाद (पश्चात्) अनुकूल लग्न आता है' ॥५॥

यह सुनकर कृत्रिम क्रोध प्रकट करता हुआ मन्त्री यौगन्धरायण 'ये मूर्ख हैं' ऐसा कहकर राजा से बोला—"जिस गणक को महाराज ने 'ज्ञानी है' ऐसा कहकर सम्मानित किया था; वह आज नहीं आया। महाराज उसे बुलाकर पूछें" ॥६–७॥

तब मन्त्री की बात सुनकर वत्सराज ने, संशय-भरे चित्त से, उस ज्योतिषी को बुलवाया ॥८॥

समय टालने के षड्यन्त्र में, मन्त्री यौगन्धरायण उसे भी पहले ही सम्मिलित कर चुका था, अतः उसने भी राजा के लग्न पूछने पर छह मास के पश्चात् का समय ही बतलाया ॥९॥

तब व्याकुल भाव प्रकट करते हुए यौगन्धरायण ने राजा से कहा—'महाराज, अब आदेश दीजिए कि क्या किया जाय?' ॥१०॥

उत्कण्ठित होने पर भी शुभ लग्न को चाहनेवाला राजा कुछ सोचकर कहने लगा—'कलिंगसेना से भी पूछना चाहिए, वह क्या कहती है, देखो' ॥११॥

'जो आज्ञा' ऐसा कहकर और गणकों को साथ लेकर मन्त्री यौगन्धरायण कलिंगसेना के पास गया ॥१२॥

उसके द्वारा स्वागत-सत्कार किया गया यौगन्धरायण उसके रूप को देखकर सोचने लगा कि इसे प्राप्त कर राजा इसके व्यसन में सब कुछ छोड़ देगा ॥१३॥

फिर, उससे बोला—मैं तुम्हारा विवाह-लग्न स्थिर करने के लिए गणकों के साथ आया हूँ। अतः, तुम अपना जन्म-नक्षत्र बताओ' ॥१४॥

कलिंगसेना के परिजनों द्वारा जन्म-नक्षत्र बताने पर पहले से ही समझाये हुए गणकों ने झूठा विचार करके कहा कि 'लग्न छह महीने के पश्चात् मिलता है, इसके पूर्व नहीं'। और, यही बात उन्होंने बार-बार कही ॥१५–१६॥

श्रुत्वा दूरतरं तं च लग्नमाविग्नचेतसि ।
ततः कलिङ्गसेनायां तन्महत्तरकोऽभ्यधात् ॥१७॥
प्रेक्ष्यो लग्नोऽनुकूलः प्राग्येन स्यादेतयोः शुभम् ।
यावत्कालं हि दम्पत्योः किं चिरेणाचिरेण वा ॥१८॥
एतन्महत्तरवचः श्रुत्वा सर्वेऽपि तत्क्षणम् ।
सदुक्तमेवमेवैतदिति तत्र बभाषिरे ॥१९॥
यौगन्धरायणोऽप्याह हा कुलग्ने कृते च नः ।
कलिङ्गदत्तः सम्बन्धी राजा खेदं व्रजेदिति ॥२०॥
ततः कलिङ्गसेनापि सर्वांस्तानवशा सती ।
यथा भवन्तो जानन्तीत्युक्त्वा तूष्णीं बभूव सा ॥२१॥
तदेव च वचस्तस्या गृहीत्वामन्त्र्य तां ततः ।
यौगन्धरायणो राज्ञः पार्श्वं सगणको ययौ ॥२२॥
तत्र तस्मै तदावेद्य वत्सेशाय तथैव सः ।
युक्त्या च तमवस्थाप्य स जगाम निजं गृहम् ॥२३॥
सिद्धकालातिपातश्च कार्यशेषाय तत्र सः ।
योगेश्वराख्यं सुहृदं सस्मार ब्रह्मराक्षसम् ॥२४॥
स पूर्वप्रतिपन्नस्तं स्वैरं ध्यानादुपस्थितः ।
राक्षसो मन्त्रिणं नत्वा किं स्मृतोऽस्मीत्यवोचत ॥२५॥
ततः स मन्त्री तस्मै तं कृत्स्नं व्यसनदं प्रभोः ।
कलिङ्गसेनावृत्तान्तमुक्त्वा भूयो जगाद तम् ॥२६॥
कालो मया हृतो मित्र तन्मध्ये त्वं स्वयुक्तितः ।
वृत्तं कलिङ्गसेनायाः प्रच्छन्नोऽस्या निरूपयेः ॥२७॥
विद्याधरादयस्तां हि छन्नं वाञ्छन्ति निश्चितम् ।
यतोऽन्या तादृशी नास्ति रूपेणास्मिञ्जगत्त्रये ॥२८॥
अतः केनापि सिद्धेन सङ्गं विद्याधरेण वा ।
गच्छेत्सा यदि तच्च त्वं पश्येस्तद्भद्रकं भवेत् ॥२९॥
अन्यरूपागतश्चात्र लक्ष्यस्ते दिव्यकामुकः ।
स्वापकाले यतो दिव्याः सुप्ताः स्वे रूप आसते ॥३०॥
एवं त्वद्दृष्टितस्तस्या दोषोऽस्माभिर्विलोक्यते ।
तस्यां राजा विरज्येच्च तत्कार्यं निर्वहेच्च नः ॥३१॥

कलिंगसेना के बहुत लम्बे समय आगे का लग्न सुन व्याकुल होने पर उसके प्रतीहार ने कहा—॥१७॥

'सबसे पहले शुभ लग्न देखना चाहिए, जिससे कि इन दोनों (दम्पति) का कल्याण हो। विलम्ब और शीघ्रता का उतना महत्त्व नहीं' ॥१८॥

वृद्ध प्रतीहार के वचन सुनकर सभी उपस्थित लोगों ने उसकी बात का समर्थन करते हुए कहा कि इन्होंने ठीक ही तो कहा है ॥१९॥

यौगन्धरायण ने भी कहा कि 'यदि अशुभ लग्न में विवाह हुआ, तो हमारे सम्बन्धी कलिंगदत्त को भी खेद होगा' ॥२०॥

तब कलिंगसेना भी विवश होकर बोली—'जैसा आप सब लोग उचित समझें, करें'—इतना कहकर वह चुप हो गई ॥२१॥

कलिंगसेना की इस बात को लेकर और उससे जाने की आज्ञा प्राप्त कर मन्त्री यौगन्धरायण गणकों के साथ राजा के पास गया ॥२२॥

वहाँ जाकर वत्सराज से उसी प्रकार सब निवेदन करके और उसे युक्तिपूर्वक समझा-बुझाकर वह अपने घर गया ॥२३॥

समय व्यतीत करने की उसकी योजना सफल होने पर और अवशिष्ट कार्य की सिद्धि के लिए उसने अपने मित्र योगेश्वर नामक ब्रह्मराक्षस को बुलाया ॥२४॥

वह ब्रह्मराक्षस पहले से ही सिद्ध था, अतः उसके ध्यान करते ही उपस्थित हो गया ॥२५॥

राक्षस ने मन्त्री को प्रणाम करते हुए पूछा कि 'मुझे क्यों स्मरण किया है?' ॥२६॥

तब मन्त्री यौगन्धरायण ने राजा को विपत्ति देनेवाले कलिंगसेना के समस्त वृत्तान्त को कहकर फिर बताया—'मित्र, मैंने समय तो टाल दिया है। अभी छह महीने हैं। इस बीच छिपे-छिपे कलिंगसेना का हाल-चाल देखो' ॥२७॥

विद्याधर, सिद्ध आदि भी उसे निश्चित रूप से चाहते हैं। कारण यह कि तीनों लोकों में उसके समान सुन्दरी दूसरी नहीं है ॥२८॥

यदि वह किसी सिद्ध या विद्याधर के साथ संगम करे, तो तुम देखना इससे हमारा शुभ होगा ॥२९॥

रूप परिवर्त्तित कर आये हुए दिव्य कामियों का भी ध्यान रखना; क्योंकि दिव्य व्यक्ति, रूप परिवर्त्तित करने पर भी, शयन करने के समय अपने वास्तविक रूप में आ जाते हैं ॥३०॥

इस प्रकार, तुम्हारी आँखों से हम उसके दोष देख सकेंगे। इससे राजा को उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जायगा और हमारा कार्य सिद्ध हो जायगा ॥३१॥

इत्युक्तो मन्त्रिणा तेन सोऽब्रवीद् ब्रह्मराक्षसः ।
युक्त्याहमेव किं नैतां ध्वंसयामि निहन्मि वा ॥३२॥
तच्छ्रुत्वैव महामन्त्री तं स यौगन्धरायणः ।
उवाच नैतत्कर्त्तव्यमधर्मो हि महान् भवेत् ॥३३॥
यश्च धर्ममबाधित्वा स्वेन संसरते पथा ।
तस्योपयाति साहाय्यं स एवाभीष्टसिद्धिषु ॥३४॥
तत्तस्याः स्वोत्थितो दोषः प्रेक्षणीयस्त्वया सखे ।
येनास्मामिर्भवन्मैत्र्या राजकार्यं कृतं भवेत् ॥३५॥
इति मन्त्रिवरादिष्टः स गत्वा ब्रह्मराक्षसः ।
गृहं कलिङ्गसेनाया योगच्छन्नः प्रविष्टवान् ॥३६॥
अत्रान्तरे सखी तस्याः सा मयासुरपुत्रिका ।
आगात्कलिङ्गसेनायाः पार्श्वं सोमप्रभा पुनः ॥३७॥
सा पृष्ट्वा रात्रिवार्त्तां तां युक्तबन्धुं मयात्मजा ।
राजपुत्रीमुवाचैवं तस्मिन् शृण्वति राक्षसे ॥३८॥
अद्य पूर्वाह्ण एवाहं विचिन्त्य त्वामिहागता ।
छन्ना त्वतिष्ठं त्वत्पार्श्वे दृष्ट्वा यौगन्धरायणम् ॥३९॥
श्रुतश्च युष्मदालापः सर्वं चावगतं मया ।
तत्किं त्वया ह्य एवैतदारब्धं मन्त्रिषिद्धया ॥४०॥
अव्यपोह्यानिमित्तं हि कार्यं यत्क्रियते सखि ।
तदनिष्टाय कल्पेत तथा चेमां कथां शृणु ॥४१॥

विष्णुदत्तस्य तत्सप्तसहयात्रिणाञ्च कथा

अन्तर्वेद्या[1]मभूत्पूर्वं वसुदत्त इति द्विजः ।
विष्णुदत्ताभिधानश्च पुत्रस्तस्योदपद्यत ॥४२॥
स विष्णुदत्तो वयसा पूर्णषोडशवत्सरः ।
गन्तुं प्रववृते विद्याप्राप्तये वलभीं पुरीम् ॥४३॥
मिलन्ति स्म च तस्यान्ये सप्त विप्रसुताः समाः ।
सप्तापि ते पुनर्मूर्खाः स विद्वान् सत्कुलोद्गतः ॥४४॥

---

१. अन्तर्वेदी ।

मन्त्री के इस प्रकार कहने पर, वह ब्रह्मराक्षस बोला--'मैं किसी उपाय से उसे क्यों न नष्ट कर दूँ या मार डालूँ ?' ।।३२।।

यह सुनकर महामन्त्री यौगन्धरायण बोला—'ऐसा न करना चाहिए; क्योंकि इससे महान् अधर्म होगा' ।।३३।।

जहाँ धर्म की रक्षा करते हुए मनुष्य अपने इच्छानुसार चलता है, या कार्य करता है, वहाँ धर्म ही उसकी सहायता करता है ।।३४।।

इसलिए मित्र, तुम केवल उसके निजी दोष को देखो, जिससे कि मैं तुम्हारी मित्रता के कारण राजा का कल्याण-कार्य सिद्ध कर सकूँ ।।३५।।

मन्त्री द्वारा इस प्रकार आदेश देने पर ब्रह्मराक्षस कलिंगसेना के भवन में जाकर छिपकर बैठ गया ।।३६।।

इसी बीच कलिंगसेना की सखी मयासुर की पुत्री सोमप्रभा उसके पास फिर आई ।।३७।।

उसके द्वारा कलिंगसेना से रात की बात पूछे जाने पर ब्रह्मराक्षस के सुनते हुए कलिंग-सेना ने सारा वृत्तान्त मयासुर की पुत्री को सुनाया, जिसे ब्रह्मराक्षस सुन रहा था ।।३८।।

तब सोमप्रभा बोली—'आज मैं दिन के प्रथम प्रहर में ही तेरे पास आ गई थी, किन्तु तुम्हारे पास यौगन्धरायण को देखकर छिपी रही ।।३९।।

तब तुम्हारी बातचीत तथा और सब कुछ मैंने जान लिया। मेरे मना करने पर भी तूने कल ही यह कार्य क्यों कर डाला ? ।।४०।।

विना समझे-बूझे और विना कारण जो कार्य किया जाता है, उससे अनिष्ट ही होता है। उदाहरण के लिए इस प्रसंग की एक कथा सुनो' ।।४१।।

विष्णुदत्त और उसके सात साथियों की कथा

प्राचीन समय में अन्तर्वेदी देश में वसुदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके पुत्र का नाम विष्णुदत्त था ।।४२।।

वह विष्णुदत्त जब पूरे सोलह वर्ष की अवस्था का था, तब विद्या-प्राप्ति के लिए वलभीपुरी जाने के लिए तैयार हुआ। साथ जाने के लिए उसे और भी सात ब्राह्मण-पुत्र मिले। वे सातों मूर्ख थे। केवल विष्णुदत्त ही उनमें बुद्धिमान् और सत्कुलोत्पन्न बालक था ।।४३-४४।।

कृत्वान्योन्यपरित्यागशपथं तैः समं ततः ।
विष्णुदत्तः प्रतस्थे स पित्रोरविदितो निशि ।।४५।।
प्रस्थितश्चाग्रतोऽकस्मादनिमित्तमुपस्थितम् ।
दृष्ट्वा सोऽत्र वयस्यांस्तान् सहप्रस्थायिनोऽभ्यधात् ।।४६।।
अनिमित्तमिदं हन्त युक्तमद्य निर्वर्त्तितुम् ।
पुनरेव प्रयास्यामः सिद्धये शकुनान्विताः ।।४७।।
तच्छ्रुत्वैव सखायस्तं मूर्खाः सप्तापि तेऽब्रुवन् ।
मृषा माजीगणः शङ्कां नह्यतो बिभिमो वयम् ।।४८।।
त्वं चेद्बिभेषि तन्मा गा वयं यामोऽधुनैव तु ।
प्रातर्विदितवृत्तान्ता नास्मांस्त्यक्ष्यन्ति बान्धवाः ।।४९।।
इत्युक्तवद्भिरज्ञैस्तैः साकं शपथयन्त्रितः ।
विष्णुदत्तो ययावेव स स्मृत्वाघहरं हरिम् ।।५०।।
रात्र्यन्ते विलोक्यान्यदनिमित्तं पुनर्वदन् ।
मूर्खैस्तैः सखिभिः सर्वैः स एवं निरभत्स्यंत ।।५१।।
एतदेवानिमित्तं नः किमन्येनाध्वभीलुक ।
यत्त्वमस्माभिरानीतः काकशङ्की पदे पदे ।।५२।।
इत्यादि भर्त्सनां कृत्वा गच्छद्भिस्तैः समं च सः ।
विवशः प्रययौ विष्णुदत्तस्तूष्णीं बभूव च ।।५३।।
नोपदेशो विधातव्यो मूर्खस्य स्वाभिचारिणः ।
संस्कारोऽवस्करस्येव तिरस्कारकरो हि सः ।।५४।।
एकी बहूनां मूर्खाणां मध्ये निपतितो बुधः ।
पद्मः पाथस्तरङ्गाणामिव विप्लवते ध्रुवम् ।।५५।।
तस्मादेषां न वक्तव्यं मया भूयो हिताहितम् ।
तूष्णीमेव प्रयातव्यं विधिः श्रेयो विधास्यति ।।५६।।
इत्याद्याकलयन्मूर्खैः प्रक्रमंस्तैः समं पथि ।
विष्णुदत्तो दिनस्यान्ते शबरग्राममाप सः ।।५७।।
तत्र भ्रान्त्वा निशि प्राप तरुण्याधिष्ठितं स्त्रिया ।
गृहमेकं ययाचे च निवासं सोऽथ तां स्त्रियम् ।।५८।।
तया दत्तेऽपवरके सहान्यैस्तैर्विवेश सः ।
सखिभिस्त च सप्तापि तत्र निद्रां क्षणं ययुः ।।५९।।

तब वे आपस में एक-दूसरे का साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा करके माता-पिता से छिपकर रात में एक साथ ही निकले। चलते ही उनके सामने अकस्मात् अपशकुन हुआ। उसे देखकर विष्णुदत्त ने अपने साथी मित्रों से कहा—'यह अपशकुन है अतः लौट जाना उचित है। फिर कभी शुभ शकुन मिलने पर कार्यसिद्धि के लिए चलेंगे' ॥४५—४७॥

यह सुनकर उसके सातों मूर्ख साथी उससे कहने लगे—'व्यर्थ चिन्ता न करो। हमलोग ऐसे अपशकुनों से नहीं डरते ॥४८॥

यदि तू डरता है, तो मत जा, हमलोग अभी जायेंगे। प्रातःकाल हमारा समाचार जानकर घरवाले हमें नहीं छोड़ेंगे' ॥४९॥

ऐसा कहते हुए उन मूर्ख मित्रों के साथ प्रतिज्ञाबद्ध बेचारा विष्णुदत्त, पापहारी भगवान् का ध्यान करके उनके साथ चल पड़ा ॥५०॥

रात बीतने पर, प्रातःकाल ही उसने और अपशकुन देखे। फिर, उसने उन मित्रों से कहा, किन्तु उन हठीले मित्रों द्वारा वह फिर फटकारा गया ॥५१॥

वे कहने लगे कि सबसे बड़ा अपशकुन तो यही है कि मार्ग के डरपोक कौवे के समान तुझे हमलोग साथ लाये ॥५२॥

ऐसी-ऐसी फटकारों को सुनता हुआ विष्णुदत्त, जाते हुए उनके साथ चलने को विवश हो गया। सच है, मनमानी करनेवाले मूर्ख को उपदेश देना ऐसा ही है, जैसे कूड़ा-करकट साफ करता हुआ व्यक्ति, उसकी धूल-मिट्टी से अपने शरीर को गन्दा करके अपना ही तिरस्कार कराता है ॥५३—५४॥

एक बुद्धिमान् व्यक्ति, बहुत-से मूर्खों की संगति में पड़कर उसी प्रकार की स्थिति में आ जाता है; जैसे सरोवर में खिला हुआ एक कमल, तरंगों के थपेड़ों से आहत होकर हिलता ही रहता है ॥५५॥

अतः, अब मुझे इनसे हित या अहित कुछ न कहकर चुप ही रहना चाहिए। भाग्य भला करेगा—॥५६॥

ऐसा सोचकर उन मूर्खों के साथ जाते हुए सायंकाल विष्णुदत्त को भीलों का एक गाँव मिला। वहाँ घूम-फिरकर उसे एक युवती स्त्रीवाला घर मिला। तब उसने उस स्त्री से रहने के लिए स्थान माँगा ॥५७—५८॥

उसने एक स्थान उसे दे दिया और उसमें वह अपने सातों मित्रों के साथ ठहर गया। कुछ ही समय में वे सातों मित्र मार्ग की श्रान्ति के कारण सो गये ॥५९॥

स एको जाग्रदेवासीदिमनुष्यगृहाश्रयात् ।
स्वपन्त्यज्ञा हि निश्चेष्टाः कुतो निद्रा विवेकिनाम् ।।६०।।
तावच्च तत्र पुरुषः कोऽप्येको निभृतं युवा ।
अभ्यन्तरगृहं तस्याः प्रविवेशान्तिकं स्त्रियाः ।।६१।।
तेन साकं च सा रेमे चिरं गुप्ताभिभाषिणी ।
रतिश्रान्तौ च तौ दैवान्निद्रां द्वावपि जग्मतुः ।।६२।।
तच्च दीपप्रकाशेन सर्वं द्वारान्तरेण सः ।
विष्णुदत्तो विलोक्यैवं सनिर्वेदमचिन्तयत् ।।६३।।
कष्टं कथं प्रविष्टाः स्मो दुश्चारिण्याः स्त्रिया गृहम् ।
ध्रुवं ज्ञातोऽयमेतस्या न कौमारः पतिः पुनः ।।६४।।
नान्यथा हि भवत्येषा सशङ्कनिभृता गतिः ।
मया चपलचित्तेयमादावेव च लक्षिता ।।६५।।
अन्यालाभात् प्रविष्टाः स्मः किं त्वत्रान्योन्यसाक्षिणः ।
इत्येवं चिन्तयन् शब्दं जनानां सोऽशृणोद् बहिः ।।६६।।
ददर्श प्रविशन्तं च स्वस्वस्थानस्थितानुगम् ।
युवानमभिपश्यन्तं सखड्गं शबराधिपम् ।।६७।।
के यूयमिति पृच्छन्तं मत्वा गृहपतिं स तम् ।
भीतः पान्थाः स्म इत्याह विष्णुदत्तः पुलिन्दकम् ।।६८।।
स चान्तः शबरो गत्वा दृष्ट्वा भार्यां तथास्थिताम् ।
चिच्छेद तस्य सुप्तस्य तज्जारस्यासिना शिरः ।।६९।।
भार्या तु निगृहीता न तेन सा नापि बोधिता ।
भुवि न्यस्तासिनान्यत्र पर्यङ्के सुप्तमेव तु ।।७०।।
तद्दृष्ट्वा सप्रदीपेऽत्र विष्णुदत्तो व्यचिन्तयत् ।
युक्तं स्त्रीति न यद्भार्या हता दारहरो हतः ।।७१।।
किं तु कृत्वेदृशं कर्म यदनेनात्र सुप्यते ।
विस्रब्धं तदहो चित्रं वीर्यमुद्रिक्तचेतसाम् ।।७२।।
इत्यत्र चिन्तयत्येव विष्णुदत्ते प्रबुध्य सा ।
कुस्त्री ददर्श जारं स्वं हतं सुप्तं च तं पतिम् ।।७३।।
उत्थाय च गृहीत्वा तत्स्कन्धे जारकबन्धकम् ।
हस्तेनैकेन चादाय तच्छिरः सा विनिर्ययौ ।।७४।।

एक वही विष्णुदत्त अकेला जागता रहा; क्योंकि जिस घर में वह ठहरा था, उसमें एक उस युवती के अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष न था। मूर्ख जन निश्चेष्ट होकर सो जाते हैं, किन्तु विचारशीलों को नींद कहाँ ? ॥६०॥

इसी बीच कोई एक युवा व्यक्ति, छिपे तौर से उस स्त्री की कोठरी में स्त्री के पास गया ॥६१॥

गुप्त रूप से बातें करती हुई वह स्त्री उस पुरुष के साथ रमण करने लगी। कुछ समय पश्चात् रति की श्रान्ति एवं घोर नींद से विवश होकर वे दोनों सो गये ॥६२॥

विष्णुदत्त, दरवाजे की दरार से, दीपक की ज्योति से प्रकाशित उस कोठरी में यह सब देखता रहा, और दुःखी होकर सोचने लगा—॥६३॥

खेद है कि हमलोग इस दुराचारिणी स्त्री के घर में आ गये। निश्चय है कि यह इसका विवाहित पति नहीं है। यदि विवाहित पति होता, तो इसकी गति इस प्रकार सशंक और छिपी न होती। मैंने पहले ही समझ लिया था कि यह स्त्री चंचला है। इस प्रकार, सोचते-सोचते उसने घर के बाहर कुछ मनुष्यों के शब्द सुने ॥६४—६६॥

उसने, अपनी-अपनी जगहों पर तैनात अनुचरों के साथ तलवार लेकर आते हुए भीलों के युवा सरदार को देखा ॥६७॥

'तुमलोग कौन हो'—ऐसा पूछते हुए भीलराज से विष्णुदत्त ने कहा—'हमलोग पथिक (बटोही) हैं' ॥६८॥

तदनन्तर, अन्दर जाकर और उस प्रकार प्रेमी (जार) के साथ सोई हुई पत्नी को देखकर भीलराज ने पत्नी के उस प्रेमी का सिर तलवार से काट डाला ॥६९॥

किन्तु, पत्नी को न मारा और न जगाया। वह तलवार को भूमि पर रखकर पलंग पर सो गया ॥७०॥

दीप से प्रकाशित घर में इस घटना को देखकर विष्णुदत्त ने सोचा, इसने उचित ही किया कि स्त्री समझकर पत्नी को नहीं मारा और उसका हरण करनेवाले को मार डाला ॥७१॥

किन्तु, यह आश्चर्य है कि ऐसा कर्म करके भी वह विश्वासपूर्वक सो रहा है। बढ़े हुए मनवालों का ऐसा पराक्रम अवश्य आश्चर्यजनक होता है ॥७२॥

विष्णुदत्त यह सोच ही रहा था कि उस दुष्टा स्त्री ने जगकर यार को मरा हुआ और पति को सोया हुआ देखा ॥७३॥

और, पलंग से उठकर वह अपने यार के शव को कन्धे पर रखकर और एक हाथ से उसके सिर को लेकर घर से बाहर निकल पड़ी ॥७४॥

गत्वा बहिश्च निक्षिप्य भस्मकूटान्तरें द्रुतम् ।
कबन्धं सशिरस्कं तमाययौ निभृतं ततः ॥७५॥
विष्णुदत्तश्च निर्गत्य सर्वं दूराद् विलोक्य तत् ।
मध्ये सखीनां सुप्तानां प्रविश्यासीत्तथैव सः ॥७६॥
स चागत्य प्रविश्यान्तः पत्युः सुप्तस्य दुर्जनी ।
तेनैव तत्कृपाणेन तस्य मूर्धानमच्छिनत् ॥७७॥
निर्गत्य श्रावयन्ती च भृत्याञ्शब्दं चकार सा ।
हा हतास्मि हतो भर्त्ता ममैभिः पथिकैरिति ॥७८॥
ततः परिजनः श्रुत्वा प्रधाव्यालोक्य तं प्रभुम् ।
हतं तान्विष्णुदत्तादीनभ्यधावन्नुदायुधाः ॥७९॥
एतैश्चाहन्यमानेषु तेषु त्रस्तोत्थितेष्वथ ।
अन्येषु तत्सहायेषु विष्णुदत्तोऽब्रुवीद्द्रुतम् ॥८०॥
अलं वो ब्रह्महत्याभिर्नैवास्माभिरिदं कृतम् ।
एतयैव कृतं ह्येतत्कुस्त्रियान्यप्रसक्तया ॥८१॥
मया चापावृतद्वारमार्गेणामूलमीक्षितम् ।
निर्गत्य च बहिर्दृष्टं क्षमध्वं यदि वच्मि तत् ॥८२॥
इत्युक्त्वा तान् स शबरान्विष्णुदत्तो निवार्य च ।
तेभ्यो निःशेषमामूलाद् वृत्तान्तं तमवर्णयत् ॥८३॥
नीत्वा चादर्शयत्तेषां कबन्धं तं शिरोऽन्वितम् ।
सद्यो हतं तया क्षिप्तं स्त्रिया तस्मिन्नवस्करें ॥८४॥
ततः स्वेन विवर्णेन मुखेनाङ्गीकृते तया ।
कुलटां तां तिरस्कृत्य सर्वे तत्रैवमब्रुवन् ॥८५॥
स्मराकृष्टा तनोत्येव या साहसमशङ्किता ।
सा परस्वीकृता कुस्त्री कृपाणीव न हन्ति कम् ॥८६॥
इत्युक्त्वा विष्णुदत्तादीन्सर्वास्ते मुमुचुस्ततः ।
विष्णुदत्तं च सप्तान्ये सहायास्तेऽथ तुष्टुवुः ॥८७॥
रक्षारत्नप्रदीपस्त्वं जातो नः स्वपतां निशि ।
त्वत्प्रसादेन तीर्णाः स्मो मृत्युमद्यानिमित्तजम् ॥८८॥
स्तुत्वैवं विष्णुदत्तं तं शमयित्वा च दुर्वचः ।
प्रणतास्ते ययुः प्रातः स्वकार्यायैव तद्युताः ॥८९॥

बाहर निकलकर राख के ढेर में उसके सिर और शरीर को फेंककर चुपचाप वह लौट आई ॥७५॥

विष्णुदत्त भी, उसके पीछे निकलकर और दूर से यह सब देखकर, अपने सोये हुए मित्रों के साथ पड़ गया ॥७६॥

उधर, उस दुष्टा स्त्री ने, घर में जाकर उसी तलवार से सोये हुए पति का सिर काट डाला और बाहर निकलकर सेवकों को सुनाकर चिल्लाने लगी—'हाय ! मैं मारी गई, इन पथिकों ने मेरे पति को मार डाला' ॥७७–७८॥

यह सुनकर उसके सेवक दौड़कर आये और अपने सरदार को कटा हुआ देखकर वे तलवारें खींचकर विष्णुदत्त आदि पथिकों पर टूट पड़े ॥७९॥

'ठहरो, तुमलोग ब्रह्महत्या न करो। यह सब काण्ड, यार से फँसी हुई इसी दुष्टा स्त्री ने किया है ॥८०॥

मैंने प्रारम्भ से अबतक द्वार की खुली हुई दरारों से सब कुछ अपनी आँखों देखा है और बाहर निकलकर भी सब स्वयं देखा है। आपलोग क्षमा करें, तो मैं सब कुछ बताऊँ ॥८१–८२॥

ऐसा कहते हुए विष्णुदत्त ने, सारी बातें बताकर, कूड़े और राख के ढेर में पड़े हुए उस यार के मृत शरीर और शिर को दिखाया ॥८३–८४॥

तब उतरे हुए मुँह से उस स्त्री के यह सब स्वीकार कर लेने पर वे सब, उस दुराचारिणी को डाँटते-फटकारते चले गये ॥८५॥

काम के वशीभूत होकर जो स्त्री निर्भय होकर साहस कर बैठती है, वह दूसरों से स्त्रीकृत होकर तलवार के समान किसका विनाश नहीं कर डालती ॥८६॥

ऐसा कहते हुए उन भीलों ने विष्णुदत्त आदि सातों ब्राह्मणों को छोड़ दिया और वे सातों साथी विष्णुदत्त की प्रशंसा करने लगे ॥८७॥

उन्होंने कहा—'सोये हुए हमलोगों की रक्षा के लिए तुम रत्नदीप के समान सिद्ध हुए। आज अपशकुन से होनेवाली मृत्यु को तुम्हारी कृपा से हमलोग पार कर सके' ॥८८॥

इस प्रकार, विष्णुदत्त की प्रशंसा करके और अपने कहे हुए दुर्वचनों के लिए क्षमा-प्रार्थना-पूर्वक उसे प्रणाम करके वे प्रातःकाल अपने काम में लग गये ॥८९॥

इत्थं कलिङ्गसेनायाः कथयित्वा कथां मिथः ।
सोमप्रभा सा कौशाम्ब्यां सखीं पुनरुवाच ताम् ।।९०।।
एवं कार्यप्रवृत्तानामनिमित्तमुपस्थितम् ।
विलम्बाद्यप्रतिहतं सख्यनिष्टं प्रयच्छति ।।९१।।
ततश्चात्रानुतप्यन्ते प्राज्ञवाक्यावमानिनः ।
प्रवर्त्तमाना रभसात्पर्यन्ते मन्दबुद्धयः ।।९२।।
अतोऽशुभे निमित्ते ह्यो वत्सेशं प्रति यत्त्वया ।
आत्मग्रहाय प्रहितो दूतो युक्तं न तत्कृतम् ।।९३।।
तदविघ्नं विवाहं च विदधातु विधिस्तव ।
कुलग्नेनागता गेहाद् विवाहस्तेन दूरतः ।।९४।।
देवा अपि च लुभ्यन्ति त्वयि रक्ष्यमिदं ततः ।
चिन्त्यश्च नीतिनिपुणो मन्त्री यौगन्धरायणः ।।९५।।
राजव्यसनशङ्की सन्सोऽत्र विघ्नं समाचरेत् ।
विहितेऽपि विवाहे वा दोषमुत्पादयेत्तव ।।९६।।
धार्मिकः सन्न कुर्याद्वा दोषं तदपि ते सखि ।
सपत्नी सर्वथा चिन्त्या कथां वच्म्यत्र ते शृणु ।।९७।।

ऋषिकन्यायाः कदलीगर्भायाः कथा

अस्तीहेक्षुमती नाम पुरी तस्याश्च पार्श्वतः ।
नदी तदभिधानैव विश्वामित्रकृते उभे ।।९८।।
तत्समीपे महच्चास्ति वनं तत्र कृताश्रमः ।
ऊर्ध्वपादस्तपश्चक्रे मुनिर्मङ्कणकाभिधः ।।९९।।
तपस्यता च तेनात्र गगनेनागताप्सराः ।
अदर्शि मेनकां नाम वातेन चलिताम्बरा ।।१००।।
ततो लब्धावकाशेन कामेन क्षोभितात्मनः ।
नूतने कदलीगर्भे वीर्यं तस्यापतन्मुनेः ।।१०१।।
जज्ञे ततश्च कन्या सा सद्यः सर्वाङ्गसुन्दरी ।
अमोघं हि महर्षीणां वीर्यं फलति तत्क्षणम् ।।१०२।।

सोमप्रभा ने, कौशाम्बी में इस प्रकार कथा सुनाकर कलिंगसेना से पुनः कहा—'हे सखी, इस प्रकार काम में लगे हुए लोगों को आनेवाले अपशकुन कार्यों में व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं। इस कारण बुद्धिमानों की बातों को न माननेवाले मन्दबुद्धिवाले व्यक्ति, आवेश में आकर कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं और पीछे पश्चात्ताप करते हैं। इसलिए, कल अपशकुन में वत्सराज के प्रति तुमने अपने ग्रहण करने के लिए, जो दूत भेजा, वह अच्छा नहीं किया। तू घर से कुलग्न में आई है; इसलिए तेरा विवाह टल गया है। अब दैव ही उसे निर्विघ्न पूर्ण करे ॥६०—६४॥

तुझपर देवता भी रीझते हैं। इसलिए, तुम्हें उनसे अपनी रक्षा करनी चाहिए और नीतिनिपुण मन्त्री यौगन्धरायण की भी चिन्ता करनी चाहिए। राज्य पर विपत्ति की आशंका से वह विवाह में विघ्न उपस्थित करेगा। विवाह हो जाने पर भी वह तुझमें दोष उत्पन्न करेगा। धार्मिक होने पर यह सम्भव है कि वह तुम्हें लांछित न करे, तो भी तुम्हारी सौतें चिन्तनीय हैं। मैं इस प्रसंग में तुम्हें कथा सुनाती हूँ, सुनो' ॥६५—६७॥

ऋषिकन्या कदलीगर्भा की कथा

इस देश में इक्षुमती नाम की नगरी है। उसके पास ही इक्षुमती नाम की नदी है। ये दोनों नगरी और नदी—मुनि विश्वामित्र-निर्मित हैं ॥६८॥

उसके तट पर एक महान् वन है, जिसमें मंकणक नाम का ऋषि, ऊपर पैर करके तपस्या करता था ॥६९॥

तपस्या करते हुए उसने एक बार आकाश-मार्ग से जाती हुई मेनका नाम की अप्सरा को देखा। आकाश-मार्ग से जाती हुई उस मेनका की साड़ी हवा से उड़ रही थी। अतः, उसे नग्न देखने के कारण काम-वासना से ऋषि का मन क्षुब्ध हो उठा। फलतः, उस ऋषि का वीर्य एक नवीन कदली-वृक्ष के मध्य जा गिरा। और, उस कदली-गर्भ से सर्वांगसुन्दरी एक कन्या उत्पन्न हुई; क्योंकि ऋषियों का अमोघ (सफल) वीर्य, शीघ्र ही फलीभूत होता है ॥१००—१०२॥

सम्भूता कदलीगर्भे यस्मात्तस्माच्चकार ताम् ।
नाम्ना स कदलीगर्भां पिता मङ्कणको मुनिः ॥१०३॥
तस्याश्रमे सा ववृधे गौतमस्य कृपी यथा ।
द्रोणभार्या पुरा रम्भादर्शनच्युतवीर्यजा ॥१०४॥
एकदा च विवेशैतमाश्रमं मृगया रसात् ।
दृढवर्मा हृतोऽश्वेन मध्यदेशभवो नृपः ॥१०५॥
स तां ददर्श कदलीगर्भां प्रावृतवल्कलाम् ।
मुनिकन्योचितेनात्र वेषेणात्यन्तशोभिताम् ॥१०६॥
सा च दृष्ट्वास्य नृपतेः स्वीचक्रे हृदयं तथा ।
यथावकाशोऽपि हृतस्तत्रान्तःपुरयोषिताम् ॥१०७॥
अपीमां प्राप्नुयां भार्यां कस्यापीह सुतामृषेः ।
दुष्यन्त इव कण्वस्य मुनेः कन्यां शकुन्तलाम् ॥१०८॥
इति सञ्चिन्तयन्नेव संगृहीतसमित्कुशम् ।
सोऽत्रापश्यत्तमायान्तं मुनिं मङ्कणकं नृपः ॥१०९॥
ववन्दे चैनमभ्येत्य पादयोर्मुक्तवाहनः ।
पृष्टश्चात्मानमेतस्मै मुनये स न्यवेदयत् ॥११०॥
ततः स कदलीगर्भां मुनिरादिशति स्म ताम् ।
वत्से राज्ञोऽतिथेरस्य त्वयार्घ्यं कल्प्यतामिति ॥१११॥
तथेति कल्पितातिथ्यस्तया राजा स नम्रया ।
ईदृक्कुतस्ते कन्येयमिति पप्रच्छ तं मुनिम् ॥११२॥
मुनिश्च स ततस्तस्यास्तामुत्पत्तिं च नाम च ।
अन्वर्थं कदलीगर्भेत्यस्मै राज्ञे न्यवेदयत् ॥११३॥
ततस्तां स मुनेः कन्यां मेनकाभावनोद्भवम् ।
मत्वाप्सरसमत्युत्को राजा तस्मादयाचत ॥११४॥
सोऽप्येतां कदलीगर्भां ददौ तस्मै सुतामृषिः ।
दिव्यानुभावं पूर्वेषामविचार्यं हि चेष्टितम् ॥११५॥
तच्च बुद्ध्वा प्रभावेण तत्राभ्येत्य सुराङ्गनाः ।
मेनकाप्रीतितस्तस्याश्चक्रुरुद्वाहमण्डनम् ॥११६॥
दत्वा च सर्षपान्हस्ते जगदुस्तां तदैव ताः ।
यान्ती मार्गे वपस्वैतांस्त्वमभिज्ञानसिद्धये ॥११७॥

उस कन्या के पिता ऋषि ने उसका नाम 'कदलीगर्भा' रख दिया। वह कन्या, कदलीगर्भा अपने पिता मंकणक ऋषि के आश्रम में उसी प्रकार पलने और बढ़ने लगी, जैसे रम्भा के दर्शन से वीर्यच्युत होने पर गौतम ऋषि की कन्या और द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी पल रही थी ।।१०३-१०४।।

एक बार मध्यदेश[1] का राजा दृढवर्मा शिकार के प्रसंग में घोड़े द्वारा उसी आश्रम में ले जाया गया ।।१०५।।

उस राजा ने वहाँ वल्कल ओढ़े हुए उस कदलीगर्भा को देखा। वह कन्या मुनिजनों के आश्रमोचित वेश में अत्यन्त सुन्दरी लग रही थी ।।१०६।।

उसके देखते ही राजा दृढवर्मा का हृदय उसी प्रकार आकृष्ट हो गया, जिस प्रकार कण्व के आश्रम में शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त का हृदय आकृष्ट हो गया था। राजा सोचने लगा कि क्या मैं दुष्यन्त की शकुन्तला के समान इस कन्या को प्राप्त कर सकूँगा? ।।१०७-१०८।।

इस प्रकार, सोचते हुए, राजा ने नित्यकर्म के लिए समिधा और कुशा लेकर आते हुए मंकणक ऋषि को देखा ।।१०९।।

उसे देखकर घोड़े से उतरे हुए राजा ने ऋषि के समीप जाकर उसके चरणों में प्रणाम किया और प्रश्न करने पर उसे अपना परिचय दिया ।।११०।।

तब ऋषि ने, कन्या कदलीगर्भा को आज्ञा दी कि बेटी, इस अतिथि राजा के लिए तुम अर्घ्य[2] दो ।।१११।।

इस प्रकार, उस विनम्र कन्या से सत्कृत राजा ने उस मुनि से पूछा कि यह ऐसी कन्या तुम्हें कहाँ से और कैसे प्राप्त हुई? ।।११२।।

तब मुनि ने उसकी उत्पत्ति और उसके नाम का अनुकूल अर्थ कदलीगर्भा[3] बताया ।।११३।।

तब राजा ने उस कन्या को मेनका अप्सरा की सन्तान समझकर अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ ऋषि से उस कन्या को माँगा ।।११४।।

राजा के माँगने पर उस ऋषि ने भी उसे कन्या दे दी; क्योंकि प्राचीन व्यक्तियों के दिव्य और प्रभावशाली चरितों पर विचार न करना चाहिए ।।११५।।

अपने दिव्य प्रभाव से स्वर्ग की अप्सराओं ने यह जानकर और मेनका के प्रेम से वहाँ आकर उस कन्या को विवाह के वेश से अलंकृत किया और, उसके हाथ में सरसों देते हुए कहा—'तू पति के घर जाती हुई मार्ग में इसे बोती हुई जाना; जिससे लौटते समय के लिए मार्ग का परिचय बना रहे' ।।११६-११७।।

---

१. उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व में प्रयाग और पश्चिम में मारवाड़ के मध्य में आया हुआ देश, मध्यदेश कहा जाता है।

२. विशेष अतिथि के स्वागत के लिए उसे अक्षत, दूब और फल डालकर जल देना आर्घ है, जो सम्मान का चिह्न है।

३. अर्थात्, केले के वृक्ष के मध्य से उत्पन्न।

यदि भर्त्रा कृतावज्ञा कदाचित्त्वमिहैष्यसि ।
तज्जातैरेभिरायान्ती पन्थानं पुत्रि वेत्स्यसि ॥११८॥
इत्युक्तां ताभिरारोप्य कृतोद्वाहां स्ववाजिनि ।
स राजा कदलीगर्भां दृढवर्मा ययौ ततः ॥११९॥
प्राप्तान्वागतसैन्योऽथ वपन्त्या सर्षपान्पथि ।
वध्वा तया सह प्राप राजधानीं निजां च सः ॥१२०॥
तत्रान्यपत्नीविमुखः कदलीगर्भया तया ।
समं स तस्थावाख्याततद्वृत्तान्तः स्वमन्त्रिषु ॥१२१॥
ततस्तस्य महादेवी तदीयं मन्त्रिणं रहः ।
स्मारयित्वोपकारान् स्वान् जगादात्यन्तदुःखिता ॥१२२॥
राज्ञा नूतनभार्यैकसक्तेनाद्याहमुज्झिता ।
तत्तथा कुरु येनैषा सपत्नी मे निवर्त्तते ॥१२३॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीन्मन्त्री देवि कर्त्तुं न युज्यते ।
मादृशानां प्रभोः पत्न्या विनाशोऽथ वियोजनम् ॥१२४॥
एष प्रव्राजकस्त्रीणां विषयः कुहकादिषु ।
प्रयोगेष्वभियुक्तानां सङ्गतानां तथाविधैः ॥१२५॥
ता हि कैतवतापस्यः प्रविश्यैवानिवारिताः ।
गृहेषु मायाकुशलाः कर्म किं किं न कुर्वते ॥१२६॥
इत्युक्ता तेन सा देवी विनतेवाह तं ह्रिया ।
अलं तर्हि ममानेन गर्हितेन सतामिति ॥१२७॥
तद्वचो हृदि कृत्वा तु तं विसृज्य च मन्त्रिणम् ।
काञ्चित्प्रव्राजिकां चेटीमुखेनानयति स्म सा ॥१२८॥
तस्याः शशस चामूलात्तत्सर्वं स्वमनीषितम् ।
अङ्गीचकार दातुं च सिद्धे कार्ये धनं महत् ॥१२९॥
साप्यर्थलोभादार्त्तां तामित्युवाच कुतापसी ।
देवि किं नाम वस्त्वेतदहं ते साधयाम्यदः ॥१३०॥
नानाविधान्हि जानामि प्रयोगान् सुबहूनहम् ।
एवमाश्वास्य तां देवीं साथ प्रव्राजिका ययौ ॥१३१॥
मठिकां प्राप्य च निजां भीतेवेत्थमचिन्तयत् ।
अहो अतीव भोगाशा कं नाम न विडम्बयेत् ॥१३२॥

'और बेटी, कभी पति के अपमान करने पर तू यदि पिता के आश्रम को लौटेगी, तो इन्हीं सरसों के पौधों से मार्ग का पता लग जायगा' ।।११८।।

उनसे इस प्रकार कही गई कन्या कदलीगर्भा को घोड़े पर बैठाकर राजा दृढवर्मा अपने नगर को लौटा ।।११९।।

राजा के पीछे सेना भी आ रही थी। इस प्रकार, सरसों बोती हुई उस कन्या को लिये हुए वह राजा अपनी राजधानी में आ गया ।।१२०।।

वहाँ आकर राजा ने मन्त्रियों से अपना सारा विवाह-वृत्तान्त प्रकट कर दिया और अन्य रानियों से विरक्त होकर वह एकमात्र कदलीगर्भा के ही प्रेम में मग्न हो गया ।।१२१।।

तदनन्तर, उसकी महारानी ने राजा के मन्त्री को बुलाकर अपने किये हुए उपकारों का स्मरण दिलाकर, उससे एकान्त में कहा—'ऐसा उपाय करो कि जिससे मेरी यह सौत चली जाय; क्योंकि वह (राजा) एकमात्र उसी में आसक्त है' ।।१२२-१२३।।

यह सुनकर मन्त्री कहने लगा—'महारानी, स्वामी की पत्नी का इस प्रकार विनाश या वियोग मेरे जैसे व्यक्ति नहीं कर सकते' ।।१२४।।

यह तो साधुनी स्त्रियों या जादू-टोना करनेवाले ऐसे-वैसे व्यक्तियों का काम है ।।१२५।।

वे मायाकुशल नकली साधुनियाँ, अपनी अप्रतिहत गति से घरों में घुसकर यह सब मायाजाल रचा करती हैं। वे क्या-क्या नहीं करतीं? ।।१२६।।

मन्त्री के इस प्रकार कहने पर रानी अत्यन्त लज्जा से विनम्र होकर कहने लगी—'तो इस प्रकार के सज्जनों द्वारा निन्दित कार्य से मुझे क्या प्रयोजन' ।।१२७।।

इस प्रकार, मन्त्री को विदा कर और उसकी बात को मानकर रानी ने दासी द्वारा किसी साधुनी को बुलवाया ।।१२८।।

रानी ने, उसे अपनी सारी कामना बता दी और कार्य सिद्ध होने पर उसे पर्याप्त धन देने का आश्वासन भी दिया ।।१२९।।

वह दुष्टा परिव्राजिका (साधुनी) भी धन के लोभ से उस व्याकुल रानी से बोली—'महारानी, यह कौन-सी बात है, इसे तुरन्त सिद्ध करती हूँ ।।१३०।।

'मैं विविध प्रकार के प्रयोगों को जानती हूँ।' इस प्रकार, रानी को धीरज बँधाकर वह परिव्राजिका चली गई और अपनी मठिया में जाकर डरी हुई-सी इस प्रकार सोचने लगी—मुझे भाग्य से ही यह प्राप्ति का अवसर मिला है। भोगों की अत्यन्त तृष्णा किसकी दुर्दशा नहीं करतीं? आश्चर्य है! ।।१३१-१३२।।

यन्मया सहसा देव्याः प्रतिज्ञा पुरतः कृता ।
विज्ञानं चात्र तादृङ्मे सम्यक्किञ्चिन्न विद्यते ॥१३३॥
अन्यत्रैव च न व्याजं कर्त्तुं राजगृहे क्षमम् ।
ज्ञात्वा जातु हि कुर्वीरन्निग्रहं प्रभविष्णवः ॥१३४॥
एकस्तत्राभ्युपायः स्याद्यत्सुहृन्मेऽस्ति नापितः ।
ईदृग्विज्ञानकुशलः स चेत्कुर्यादिहोद्यमम् ॥१३५॥
इत्यालोच्यैव सा तस्य नापितस्यान्तिकं ययौ ।
तस्मै मनीषितं सर्वं तच्छशंसार्थसिद्धिदम् ॥१३६॥
ततः स नापितो वृद्धो धूर्त्तश्चैवमचिन्तयत् ।
उपस्थितमिदं दिष्ट्या लाभस्थानं ममाधुना ॥१३७॥
तत्र बाध्या नवा राजवधू रक्ष्या तु सा यतः ।
दिव्यदृष्टिः पिता तस्य सर्वं प्रख्यापयेदिदम् ॥१३८॥
विश्लिष्यैतां तु नृपतेर्देवीं सम्प्रति भुञ्ज्महे ।
कुरहस्यसहाये हि भृते भृत्यायते प्रभुः ॥१३९॥
संश्लेष्य काले राज्ञे च वाच्यमेतत्तथा मया ।
यथा स्यादुपजीव्यो मे राजा सा चर्षिकन्यका ॥१४०॥
एवं च नातिपापं स्याद् भवेद्दीर्घा च जीविका ।
इत्यालोच्य स तां प्राह नापितः कूटतापसीम् ॥१४१॥
अम्ब सर्वं करोम्येतत्किं तु योगबलेन चेत् ।
एषा राज्ञो नवा भार्या हन्यते तत्र युज्यते ॥१४२॥
बुद्ध्वा कदाचिद्राजा हि सर्वानस्मान् विनाशयेत् ।
स्त्रीहत्या पातकं च स्यात्तत्पिता च मुनिः शपेत् ॥१४३॥
तस्माद् बुद्धिबलेनैषा राज्ञो विश्लेष्यते परम् ।
येन देवी सुखं तिष्ठेदर्थप्राप्तिर्भवेच्च नः ॥१४४॥
एतच्च मे कियत्किं हि न बुद्ध्या साधयाम्यहम् ।
प्रज्ञानं मामकीनं च श्रूयतां वर्णयामि ते ॥१४५॥
अभूदस्य पिता राज्ञो दुःशीलो दृढवर्मणः ।
अहं च दासस्तस्येह राज्ञः स्वोचितकर्मकृत् ॥१४६॥
स कदाचिदिह भ्राम्यन्भार्यामैक्षत मामकीम् ।
तस्यां तस्य सुरूपायां तरुण्यां च मनो ययौ ॥१४७॥

मैंने महारानी के आगे एकाएक लम्बी-चौड़ी डींग तो हाँक दी, किन्तु ऐसा विज्ञान तो मैं जानती नहीं ।।१३३।।

अन्य साधारण स्थानों के समान राजा के घर में ऐसा छल-कपट करना उचित नहीं; क्योंकि रहस्य खुलने पर शक्तिशाली राजा, प्राणदण्ड दे सकते हैं ।।१३४।।

हाँ, एक उपाय सूझ रहा है । मेरा मित्र एक नापित (नाई) है, वह ऐसे कामों में चतुर है । वह कुछ उपाय कर सकता है' ।।१३५।।

ऐसा सोचकर वह भिक्षुणी नापित के पास गई और उसे अपना अर्थलाभ करानेवाली सारी योजनाएँ बताईं ।।१३६।।

तब वह वृद्ध और धूर्त्त नापित सोचने लगा—'मेरे भाग्य से ही लाभ का यह अवसर मिला है ।।१३७।।

इसलिए, नई राजवधू को मारना न चाहिए; प्रत्युत उसकी रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि उस रानी का पिता दिव्य दृष्टिवाला है । वह योगबल से सब जानकर प्रकट कर देगा ।।१३८।।

इस समय तो उसे राजा से पृथक् करके महारानी का धन खाते हैं; क्योंकि रहस्य में सहायता करनेवाले सेवक के सामने स्वामी, स्वयं सेवक बन जाता है ।।१३९।।

राजा और नई रानी दोनों को अलग-अलग कराकर यथासमय राजा को ऐसा समझा दूँगा कि जिससे राजा और ऋषिकन्या दोनों ही सदा के लिए मेरी जीविका के स्रोत बन जायेंगे । इस प्रकार, भारी पाप भी न होगा और मेरे लिए स्थायी जीविका भी बन जायगी' ऐसा सोचकर वह धूर्त्त नापित उस कपटी तपस्विनी से कहने लगा—'माता, मैं यह सब तो कर दूँगा, किन्तु किसी उपाय से यदि राजा की नई रानी को मार दिया जाय, तो यह उचित न होगा ।।१४०—१४२।।

रहस्य फूट पड़ने पर, राजा हमलोगों को फाँसी दे सकता है । स्त्री-हत्या करना पाप भी होगा और रानी का पिता मुनि भी हमें शाप देगा ।।१४३।।

इसलिए, केवल बुद्धि के बल से ही उसे राजा से पृथक् कर दिया जाय, तो महारानी भी सुख से रहेगी और हमें भी धन मिलेगा ।।१४४।।

यह बात तो क्या है ? बुद्धि से मैं क्या नहीं कर सकता । मेरी बुद्धि का वैभव सुनो, मैं कहता हूँ' ।।१४५।।

नाई और राजा की कथा

इस राजा दृढवर्मा का पिता बहुत ही दुश्चरित्र था । मैं उसका दास था और उसका क्षौर कर्म किया करता था ।।१४६।।

किसी समय इस ओर घूमते हुए उसने मेरी स्त्री को देख लिया । उस सुन्दरी युवती की ओर उसका मन खिंच गया ।।१४७।।

नापितस्त्रीति चाबोधि पृष्ट्वा परिजनं स ताम्।
किं नापितः करोतीति प्रविश्यैव स मे गृहम् ॥१४८॥
उपभुज्यैव तां स्वेच्छं मद्भार्यां कुनृपो ययौ।
अहं च तदहर्दैवाद् गृहादासं बहिः क्वचित् ॥१४९॥
अन्येद्युश्च प्रविष्टेन दृष्टा सान्यादृशी मया।
पृष्टा भार्या यथावृत्तं साभिमानेव मेऽभ्यधात् ॥१५०॥
तत्क्रमेणैव तां भार्यामशक्तस्य निषेधने।
नित्यमेवोपभुञ्जानः स ममोत्तब्धवान्नृपः ॥१५१॥
कुतो गम्यमगम्यं वा कुशीलोन्मादिनः प्रभोः।
वातोद्धतस्य दावाग्नेः किं तृणं किं च काननम् ॥१५२॥
ततो यावद्गतिर्मेऽस्ति न काचित्तन्निवारणे।
तावत्स्वल्पाशनक्षामो मान्द्यव्याजमशिश्रियम् ॥१५३॥
तादृशश्चं गतोऽभूवं राज्ञस्तस्याहमन्तिकम्।
स्वव्यापारोपसेवार्थं निःश्वसन् कृशपाण्डुरः ॥१५४॥
तत्र मन्दमिवालोक्य साभिप्रायं स मां नृपः।
पप्रच्छ रे किमीदृक्त्वं सञ्जातः कथ्यतामिति ॥१५५॥
निर्बन्धपृष्टस्तं चाहं विजने याचिताभयः।
प्रत्यवोचं नृपं देव भार्यास्ति मम डाकिनी ॥१५६॥
सा च सुप्तस्य मेऽन्त्राणि गुदेनाकृष्य चूषति।
तथैव चान्तः क्षिपति तेनाहं क्षामतां गतः ॥१५७॥
पोषणाय च मे नित्यं बृंहणं भोजनं कुतः।
इत्युक्तः स मया राजा जाताशङ्को व्यचिन्तयत् ॥१५८॥
किं सत्यं डाकिनी सा स्यात्तेनाहं किं हृतस्तया।
किंस्विदाहारपुष्टस्य चूषेदन्त्रं ममापि सा ॥१५९॥
तदद्य तामहं युक्त्या जिज्ञासिष्ये स्वयं निशि।
इति सञ्चिन्त्य राजा मे सोऽन्नाहारमदापयत् ॥१६०॥
ततो गत्वा गृहं तस्या भार्यायाः सन्निधावहम्।
अश्रूण्यमुञ्चं पृष्टश्च तया तामेवमब्रवम् ॥१६१॥
प्रिये न वाच्यं कस्यापि त्वया शृणु वदामि ते।
अस्य राज्ञो गुदे जाता दन्ता वज्रास्थिसन्निभाः ॥१६२॥

उसने अपने सेवकों से यह जान लिया कि यह नापित की स्त्री है। 'नापित मेरा क्या करेगा'—यह जानकर वह मेरे घर में घुस आया और स्वतन्त्रतापूर्वक मेरी स्त्री को भ्रष्टा करके वह दुष्ट राजा चला गया। मैं दैवयोग से उस दिन घर से कहीं बाहर गया हुआ था ॥१४८-१४९॥

दूसरे दिन, घर आते ही मैंने उसे (अपनी स्त्री को) दूसरी स्थिति में देखा और पूछने पर उसने अभिमान से सारा वृत्तान्त कह दिया ॥१५०॥

तबसे मुझे रोकने में असमर्थ जानकर, मेरी परवाह न कर, वह राजा नित्य ही मेरी स्त्री का उपभोग करता रहा ॥१५१॥

दुश्चरित्रता के कारण पागल स्वामी (राजा) के लिए गम्य और अगम्य क्या है? वायु से फैलाई गई आग के लिए तिनके और जंगल समान हैं ॥१५२॥

जब मैंने देखा कि राजा को रोकने के लिए मेरी कोई गति नहीं है, तब स्वल्पाहार से दुर्बल होकर मैंने माँदगी (रोग) का बहाना किया ॥१५३॥

इस प्रकार, दुबला-पतला रोगी का-सा मुँह लिये मैं, दुःख-भरी लम्बी साँस लेता हुआ क्षौर कर्म की सेवा के लिए, राजा के पास गया ॥१५४॥

मुझे इस प्रकार माँदा (रोगी) देखकर राजा ने अभिप्राय से पूछा—'क्यों रे! बता, तू इतना दुर्बल क्यों हो गया?' ॥१५५॥

उसके बार-बार आग्रहपूर्वक पूछने पर मैंने अभय-याचना करके उससे एकान्त में कहा—'महाराज, क्या कहूँ, मेरी स्त्री डाकिनी है। वह सोये हुए में मेरी आँतों को मलद्वार से बाहर खींचकर चूस लेती है और फिर उसी प्रकार रख देती है। इसी कारण मैं दुर्बल हो गया हूँ ॥१५६-१५७॥

शरीर को पुष्ट रखने के लिए मेरे पास पौष्टिक भोजन कहाँ से आवे?' मेरे ऐसा कहने पर राजा सोचने लगा—'क्या वह सचमुच डाकिनी है? तभी उसने मुझे आकृष्ट कर रखा है। तो अब उपाय से आज रात को उसका पता लगाऊँगा। क्या आहार से परिपुष्ट मेरी आँतों को भी वह चूसेगी?' तब मैं राजा के द्वारा आहार प्राप्त कर अपने घर आकर आँसू बहाने लगा और अपनी स्त्री द्वारा कारण पूछे जाने पर मैंने कहा—'प्यारी, किसी से कहना मत। सुनो, तुम्हें बताता हूँ। उस राजा के मलद्वार में वज्र के समान दाँत निकल आये हैं ॥१५८—१६२॥

तच्च भग्नोऽद्य जात्योऽपि क्षुरो मे कर्म कुर्वतः ।
एवं चात्र ममेदानीं क्षुरस्त्रुट्येत्पदे पदे ॥१६३॥
तन्नवं नवमानेष्ये कुतो नित्यमहं क्षुरम् ।
अतो रोदिमि नष्टा हि जीविकेयं गृहे मम ॥१६४॥
इत्युक्ता सा मया भार्या मतिमान्द्यदुर्पैष्यतः ।
रात्रौ राज्ञोऽस्य सुप्तस्य गददन्ताद्भुतेक्षणे ॥१६५॥
आ संसाराददृष्टं तदसत्यं न त्ववबोधि सा ।
विदग्धा अपि वञ्च्यन्ते विदग्धवर्णनया स्त्रियः ॥१६६॥
अथैत्य तां निशि स्वैरं मद्भार्यामुपभुज्य सः ।
राजा श्रमादिवालीकं सुप्तवान्मद्वचः स्मरन् ॥१६७॥
मद्भार्याप्यथ तं सुप्तं मत्वा तस्य शनैः शनैः ।
हस्तं प्रसारयामास गुदे दन्तोपलब्धये ॥१६८॥
गुदप्राप्ते च तत्पाणावुत्थाय सहसैव सः ।
डाकिनी डाकिनीत्युक्त्वा त्रस्तो राजा ततो ययौ ॥१६९॥
ततः प्रभृति सा तेन भीत्या त्यक्ता नृपेण मे ।
भार्या गृहीतसन्तोषा मदेकायत्ततां गता ॥१७०॥
एवं पूर्वं नृपाद् बुद्ध्या गृहिणी मोचिता मया ।
इति तां तापसीमुक्त्वा नापितः सोऽब्रवीत्पुनः ॥१७१॥
तदेतत्प्रज्ञया कार्यमार्ये युष्मन्मनीषितम् ।
यथा च क्रियते मातस्तदिदं वच्मि ते शृणु ॥१७२॥
कोऽप्यन्तःपुरवृद्धोऽत्र स्वीकार्यो योऽब्रवीत्यमुम् ।
जाया ते कदलीगर्भा डाकिनीति नृपं रहः ॥१७३॥
आरण्यकाया नह्यस्याः कश्चित्परिजनः स्वकः ।
सर्वः परो भेदसहो लोभात्कुर्वीत किं न यत् ॥१७४॥
ततोऽस्मिन्राज्ञि साशङ्के श्रवणान्निशि यत्नतः ।
हस्तपादादि कदलीगर्भाधाम्नि निधीयते ॥१७५॥
तत्प्रभाते विलोक्यैव राजा सत्यमवेत्य तत् ।
वृद्धोक्तं कदलीगर्भा भीतस्तां त्यक्ष्यति स्वयम् ॥१७६॥
एवं सपत्नीविरहाद्देवी सुखमवाप्नुयात् ।
त्वां च सा बहु मन्येत लाभः कश्चिद् भवेच्च नः ॥१७७॥

इस कारण क्षौरकर्म करते समय सुदृढ़ और अच्छे लोहे का बना हुआ मेरा उस्तरा भी उन दाँतों में टकराकर टूट गया ।।१६३।।

इस प्रकार, यदि मेरा उस्तरा पग-पग पर टूटता रहेगा, तो मैं प्रतिदिन नया उस्तरा कहाँ से लाऊँगा ? इसलिए, अब राजा के घर से मेरी जीविका नष्ट हो गई—यही कारण मेरे रोने का है ।।१६४।।

मेरे इस प्रकार, कहने पर मेरी पत्नी ने मूर्खतावश रात को सोये हुए राजा के मलद्वार में लगे हुए दातों के आश्चर्य को देखने का विचार किया ।।१६५।।

किन्तु, संसार के प्रारम्भ से ही निश्चित इस असत्य को मेरी पत्नी ने नहीं समझा । धूर्तों की बातों से चतुर स्त्रियाँ भी ठगी जाती हैं ।।१६६।।

तदनन्तर, राजा रात को आकर और मेरी पत्नी का निःशंक उपभोग करके मेरी डाइनवाली बात का स्मरण करता झूठे ही सो गया ।।१६७।।

तदनन्तर, मेरी पत्नी ने उसे सोया हुआ जानकर, दाँतों को देखने के लिए धीरे-धीरे उसके मलद्वार की ओर हाथ बढ़ाया ।।१६८।।

उसका हाथ मलद्वार पर पहुँचते ही सोने का बहाना करनेवाला राजा एकाएक उठकर 'डाइन ! डाइन !' चिल्लाता हुआ भागा ।।१६९।।

तबसे राजा ने डर से मेरी स्त्री को त्याग दिया और मेरी स्त्री एकमात्र मेरे अधीन होकर सुखपूर्वक रहने लगी ।।१७०।।

इस प्रकार, पहले मैंने अपनी बुद्धि के बल पर अपनी स्त्री को राजा से छुड़ाया था । उस कपट-तपस्विनी से ऐसा कहकर वह नापित फिर बोला—'इसलिए, हे आर्ये, यह तुम्हारा कार्य बुद्धि से किये जाने योग्य है । इसे जिस प्रकार करना है, वह भी सुनो' ।।१७१-१७२।।

रनिवास के किसी वृद्ध नौकर को ठीक करना चाहिए; जो राजा से एकान्त में यह कहे कि तेरी यह पत्नी कदलीगर्भा डाइन है ।।१७३।।

यह जंगली स्त्री है, इसका अपना सगा-सम्बन्धी कोई नहीं है । इसी प्रकार, अन्यान्य नौकर, सेवक आदि भी धन आदि के लोभ से फोड़े जा सकते हैं । कौन ऐसा काम है, जो प्रलोभन में फँसकर न किया जा सके ? ।।१७४।।

तदनन्तर, जब राजा के मन में शंका हो जाय, तब रात के समय किसी शव के कटे हाथ-पैर आदि कदलीगर्भा के शयनागार में रखवा दिये जायँ । प्रातःकाल यह सब देखकर राजा भय से स्वयं उसे छोड़ देगा ।।१७५-१७६।।

इस प्रकार, सौत के न रहने से महारानी सुखी हो जायगी । तुम्हें बहुत मानने लगेगी और हमें भी धन मिलेगा ।।१७७।।

इत्युक्ता तापसी तेन नापितेन तथेति सा।
गत्वा राज्ञो महादेव्यै यथावस्तु न्यवेदयत् ॥१७८॥
देवी च तद्यथा चक्रे सा तद्युक्त्या नृपोऽपि ताम्।
प्रत्यक्षं वीक्ष्य कदलीगर्भा तुष्टेति तां जहौ ॥१७९॥
तुष्टया च ततो देव्या तया गुप्तमदायि यत्।
प्रव्राजिका तद्बुभुजे सा यथेष्टं सनापिता ॥१८०॥
त्यक्ता च कदलीगर्भा सा तेन दृढवर्मणा।
राज्ञाभिशापसन्तप्ता निर्ययौ राजमन्दिरात् ॥१८१॥
येनाजगाम तेनैव प्रययौ पितुराश्रमम्।
पूर्वोप्तजातसिद्धार्थसाभिज्ञानेन सा पथा ॥१८२॥
तत्र तामागतां दृष्ट्वा सोऽकस्मात्तत्पिता मुनिः।
तस्या दुश्चरिताशङ्की तस्थौ मङ्कणकः क्षणम् ॥१८३॥
प्रणिधानाच्च तं कृत्स्नं तद्वृत्तान्तमवेत्य सः।
आश्वास्य च स्वयं स्नेहात्तामादाय ययौ ततः ॥१८४॥
एत्य तस्मै तदाचख्यौ स्वयं प्रह्वय भूभृते।
देव्या सपत्नीदोषेण कृतं कपटनाटकम् ॥१८५॥
तत्कालं स्वयमभ्येत्य राज्ञे तस्मै स नापितः।
यथावृत्तं तदाचष्ट पुनरेवमुवाच च ॥१८६॥
इत्थं विश्लेष्य कदलीगर्भा राज्ञी मया प्रभो।
अभिचारवशाद्युक्त्या देवीं सन्तोष्य रक्षिता ॥१८७॥
तच्छ्रुत्वा निश्चयं दृष्ट्वा मुनीन्द्रवचनस्य सः।
जग्राह कदलीगर्भां सञ्जातप्रत्ययो नृपः ॥१८८॥
अनुव्रज्य मुनिं तं च संविभेजे स नापितम्।
भक्तो ममायमित्यर्थैर्धूर्त्तैर्भोज्या बतेश्वराः ॥१८९॥
ततस्तया समं तस्थौ कदलीगर्भयैव सः।
राजा स्वदेवीविमुखो दृढवर्मा सुनिर्वृतः ॥१९०॥
एवं विधान्विदधते सुबहून्सपत्न्यो।
दोषान्मृषाप्यनवमाङ्गि कलिङ्गसेने
त्वं कन्यका च चिरभाविविवाहलग्ना
वाञ्छन्त्यचिन्त्यगतयश्च सुरा अपि त्वाम् ॥१९१॥

उस नाई के इस प्रकार कहने पर वह कपट-तपस्विनी, उसकी बात को स्वीकार करके चली गई और महारानी को सब ठीक-ठीक बता दिया ।।१७८।।

महारानी ने भी ऐसा ही किया और परिणाम-स्वरूप राजा ने भी वह सब कुछ आँखों से देखकर कदलीगर्भा को डाइन समझकर त्याग दिया ।।१७९।।

इससे प्रसन्न होकर महारानी ने उस दुष्ट भिक्षुणी को जो गुप्त धन दिया, उस धन पभोग उसने नाई से मिलकर किया ।।१८०।।

वह कदलीगर्भा भी राजा के अभिशाप से सन्तप्त होकर राजमहल से निकल गई । और जिस मार्ग से आई थी, उसी मार्ग से पहले बोई हुई सरसों के पौधों की पहचान के सहारे वह अपने पिता के आश्रम में चली गई ।।१८१–१८२।।

ऋषि मंकणक, इस प्रकार आई हुई कन्या को देखकर उसकी दुश्चरित्रता पर सन्देह करता हुआ कुछ समय के लिए ध्यानावस्थित हो गया ।।१८३।।

तदनन्तर, समाधि में योगबल द्वारा समस्त वृत्तान्त जानकर स्नेहपूर्वक कन्या को स्वयं लेकर आश्रम से राजमहल में आ गया । आकर उसने प्रणाम करते हुए राजा से कहा—'राजन्, सौत के दोष से यह सारा कपट-नाटक रचा गया है ।।१८४–१८५।।

उसी समय उस नापित ने जो कुछ हुआ था; सब स्वयं आकर राजा को बता दिया । और फिर बोला 'हे स्वामी, मैंने इस प्रकार कदलीगर्भा को आपसे पृथक् करके उसकी रक्षा की और महारानी को सन्तुष्ट किया' ।।१८६–१८७।।

इस प्रकार, मुनिवर की बातों की सत्यता से विश्वस्त राजा ने कदलीगर्भा को स्वीकार कर लिया और ऋषि को कुछ दूर तक पहुँचाकर उन्हें विदा करने के पश्चात् नापित को 'यह मेरा भक्त है', यह सोचकर उसने (राजा ने) उसे पर्याप्त धन दिया । खेद है कि राजा भी धूर्तों के भोग-भाजन होते हैं ।।१८८–१८९।।

तब से राजा दृढवर्मा, अपनी महारानी से विमुख हो, उस कदलीगर्भा के साथ ही निश्चिन्त होकर रहने लगा ।।१९०।।

हे सुन्दर अंगोंवाली कलिंगसेने, सौतें इस प्रकार के अनेक उपद्रव और दोष उत्पन्न कर देती हैं । तू बालिका है, तेरे विवाह का लग्न अभी दूर है और अचिन्तनीय प्रभाववाले देवता भी तुझे चाहते हैं ।।१९१।।

तत्सर्वतः साम्प्रतमात्मना त्व-
मात्मानमेकं जगदेकरत्नम् !
वत्सेश्वरैकार्पितमत्ररक्षे ।
वैरं तवायं हि निजः प्रकर्षः ॥१६२॥
अहं हि नेष्यामि सखि त्वदन्तिकं
स्थिताधुना त्वं पतिमन्दिरे यतः ।
सखीपतेः सद्म न यान्ति सत्स्त्रियः
सुगात्रि भर्त्राद्य निवारितास्मि च ॥१६३॥
न च गुप्तमिहागमः क्षमो मे त्वदतिस्नेहवशात्स दिव्यदृष्टिः ।
तदवैति हि मत्पतिः कथञ्चित्तमनुज्ञाप्य किलागताहमद्य ॥१६४॥
इह नास्त्यधुना हि मामकीनं
सखि कार्यं तव यामि तद्गृहाय ।
यदि मामनुमंस्यते च भर्ता
तदिहैष्यामि पुनर्विलङ्घ्य लज्जाम् ॥१६५॥
इत्थं सबाष्पमभिधाय कलिङ्गसेनां
तामश्रुधौतवदनां मनुजेन्द्रपुत्रीम् ।
आश्वास्य चाह्नि विगलत्यसुरेन्द्रपुत्री
सोमप्रभा स्वभवनं नभसा जगाम ॥१६६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके षष्ठस्तरङ्गः ।

सप्तमस्तरङ्गः

वत्सराजस्य कलिङ्गसेनायाश्च कथा (पूर्वानुवृत्ता)

ततः सोमप्रभां याता स्मरन्ती तां सखीं प्रियाम् ।
कलिङ्गसेना सन्त्यक्तनिजदेशस्वबान्धवा ॥१॥
सा विलम्बितवत्सेशपाणिग्रहमहोत्सवा ।
नरेन्द्रकन्या कौशाम्ब्यां मृगीवासीद् वनच्युता ॥२॥
कलिङ्गसेना वीवाहविलम्बनविचक्षणान् ।
गणकान् प्रति सासूय इव वत्सेश्वरोऽपि च ॥३॥

इसलिए, तू समस्त विश्व के रत्न-स्वरूप एकमात्र वत्सराज को समर्पित अपनी आत्मा की रक्षा कर। यह तेरी निजी उन्नति है ।।१६२।।

हे सखी, अब मैं तेरे पास नहीं आऊँगी; क्योंकि अब तू पति के घर में आ गई है। अच्छी स्त्रियाँ सहेलियों के पतियों के घरों में नहीं जातीं और मेरे पति ने आज मुझे रोक भी दिया है ।।१६३।।

तेरे अत्यन्त स्नेह के कारण मेरा गुप्त रूप से आना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि मेरा पति दिव्यदृष्टि है, इसलिए वह सब जान जायगा। आज तो मैं किसी प्रकार उसकी आज्ञा लेकर आई हूँ ।।१६४।।

यदि मुझे पति की आज्ञा प्राप्त हुई, तो फिर लज्जा को त्यागकर भी तुम्हारे पास आऊँगी ।।१६५।।

असुरराज की पुत्री सोमप्रभा, आँसुओं से धुलते मुँहवाली राजपुत्री कलिंगसेना को रोती हुई इस प्रकार कहकर सायंकाल होने पर आकाश-मार्ग से अपने घर चली गई ।।१६६।।

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-रचित कथासरित्सागर के मदनमंचुका लम्बक का छठा तरंग समाप्त।

सातवाँ तरंग

वत्सराज उदयन और कलिंगसेना की कथा (क्रमशः)

अपने देश और बन्धु-बान्धव आदि को छोड़कर आई हुई कलिंगसेना, गई हुई सखी सोमप्रभा को स्मरण करती हुई उदास होकर बैठी रही ।।१।।

नरेन्द्रकन्या कलिंगसेना, कौशाम्बी में वत्सराज के पाणिग्रहण-महोत्सव में, विलम्ब होने के कारण जंगल से बाहर आकर व्याकुल हरिणी के समान हो रही थी ।।२।।

इधर कलिंगसेना के विवाह में विलम्ब करनेवाले वत्सराज भी ज्योतिषियों के प्रति कुछ रुष्ट-से रहे ।।३।।

औत्सुक्यविमनास्तस्मिन्दिने चेतो विनोदयन् ।
देव्या वासवदत्ताया निवासभवनं ययौ ॥४॥
तत्र सा तं पतिं देवी निर्विकारा विशेषतः ।
उपाचरत् स्वोपचारैः प्राङ्मन्त्रिवरशिक्षिता ॥५॥
कलिङ्गसेनावृत्तान्ते ख्यातेऽप्यविकृता कथम् ।
देवीयमिति स ध्यात्वा राज्ञा जिज्ञासुराह ताम् ॥६॥
कच्चिद्देवि त्वया ज्ञातं स्वयंवरकृते मम ।
कलिङ्गसेना नामैषा राजपुत्री यदागता ॥७॥
तच्छ्रुत्वैवाविभिन्नेन मुखरागेण साब्रवीत् ।
ज्ञातं मयातिहर्षो मे लक्ष्मीः सा ह्यागतेह नः ॥८॥
वशगे हि महाराजे तत्प्राप्त्या तत्पितर्यपि ।
कलिङ्गदत्ते पृथ्वी ते सुतरां वर्त्तते वशे ॥९॥
अहं च त्वद्विभूत्यैव सुखिता त्वत्सुखेन च ।
आर्यपुत्र तवैतच्च विदितं प्रागपि स्थितम् ॥१०॥
तन्न धन्यास्मि किं यस्या मम भर्त्ता त्वमीदृशः ।
यं राजकन्या वाञ्छन्ति वाञ्छ्यमाना नृपान्तरैः ॥११॥
एवं वत्सेश्वरः प्रोक्तो देव्या वासवदत्तया ।
यौगन्धरायणप्रत्तशिक्षयान्तस्तुतोष सः ॥१२॥
तयैव च सहासेव्य पानं तद्वासके निशि ।
तस्यां सुष्वाप मध्ये च प्रबुद्धः समचिन्तयत् ॥१३॥
किंस्विन्महानुभावेत्थं देवी मामनुवर्त्तते ।
कलिङ्गसेनामपि यत्सपत्नीमनुमन्यते ॥१४॥
कथं वा शक्नुयादेतां सोढुं सैषा तपस्विनी ।
पद्मावती विवाहेऽपि या दैवान्न जहावसून् ॥१५॥
तदस्याश्चेदनिष्टं स्यात्सर्वनाशस्ततो भवेत् ।
एतदालम्बनाः पुत्रश्वाशुर्यश्वशुराश्च मे ॥१६॥
पद्मावती च राज्यं च किमभ्यधिकमुच्यते ।
अतः कलिङ्गसेनैषा परिणेया कथं मया ॥१७॥
एवमालोच्य वत्सेशो निशान्ते निर्गतस्ततः ।
अपराह्णे ययौ देव्या पद्मावत्याः स मन्दिरम् ॥१८॥

उस दिन, उत्सुकता से व्याकुल राजा उदयन, मनोविनोद के लिए महारानी वासवदत्ता के महल में गया ।।४।।

वहाँ पर मन्त्री यौगन्धरायण द्वारा शिक्षित महारानी ने, किसी भी प्रकार का विकार न प्रकट करते हुए, सदा की भाँति उचित उपचारों से राजा का स्वागत-सत्कार किया ।।५।।

'कलिंगसेना का वृत्तान्त प्रसिद्ध हो जाने पर भी, महारानी पूर्व की ही भाँति कैसे प्रकृतिस्थ है ?'—ऐसा सोते हुए राजा ने जानने के लिए रानी से कहा—'देवि, मेरे स्वयंवर के विषय में तुम्हें कुछ ज्ञात है, जिसलिए कि राजपुत्री कलिंगसेना यहाँ आई हुई है ?' ।।६–७।।

यह सुनकर मुँह के भाव को तनिक भी विकृत किये विना, रानी बोली—'मुझे ज्ञात है, यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। वह तो हमारे यहाँ साक्षात् लक्ष्मी आई है ।।८।।

उसकी प्राप्ति से उसके पिता महाराज कलिंगदत्त के भी वश में आ जाने पर, सारी पृथ्वी तुम्हारे वश में है। क्या मैं भी धन्य नहीं हूँ कि जिसके पति तुम समान हो, जिसे अन्य राजाओं से चाही जाती हुई राजकन्याएँ स्वयं चाहती हैं' ।।९—११।।

यौगन्धरायण से शिक्षित महारानी द्वारा इस प्रकार कहा गया राजा मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।।१२।।

और, वहीं वासवदत्ता के साथ भोजन, आसव-पान आदि करके सो गया। किन्तु, बीच में ही उठकर सोचने लगा—।।१३।।

'क्या सचमुच महारानी इतनी उदार है कि वह मेरी बात का और सपत्नी (सौत) कलिंगसेना का भी उतना समर्थन करती है। यह बेचारी उस कलिंगसेना को कैसे सहन कर सकती है, जिसने पद्मावती के विवाह पर दैवयोग से प्राणों का ही त्याग नहीं किया ? ।।१४–१५।।

यदि इसका कुछ भी अनिष्ट हुआ, तो अनर्थ हो जायगा; क्योंकि मेरे पुत्र, श्वसुर, साले आदि सब इसी के सहारे हैं ।।१६।।

साथ ही, पद्मावती और सारा राज्य इसी के सहारे है। अधिक क्या कहूँ। इसलिए, मैं कलिंगसेना से विवाह करूँ, तो कैसे ?' ।।१७।।

ऐसा सोचकर वत्सराज प्रातःकाल वासवदत्ता के भवन से निकला और उसी दिन अपराह्ण में रानी पद्मावती के महल में गया ।।१८।।

साप्येनमागतं दत्तशिक्षा वासवदत्तया ।
तथैवोपाचरत्तद्वत्पृष्टावोचत्तथैव च ॥१९॥
ततोऽन्येद्युस्तयोर्देव्योरेकं चित्तं वचश्च तत् ।
यौगन्धरायणायासौ शशंस विमृशन्नृपः ॥२०॥
सोऽपि तं वीक्ष्य राजानं विचारपतितं शनैः ।
कालवेदी जगादैवं मन्त्री यौगन्धरायणः ॥२१॥
जानेऽहं नैतदेतावदभिप्रायोऽत्र दारुणः ।
देवीभ्यां जीवितत्यागदाढ्र्यादुक्तं हि तत्तथा ॥२२॥
अन्यासक्ते गते चाद्यां स्त्रियो मरणनिश्चिताः ।
भवन्त्यदैन्यगम्भीराः साध्व्यः सर्वत्र निःस्पृहाः ॥२३॥
असह्यं हि पुरन्ध्रीणां प्रेम्णो गाढस्य खण्डनम् ।
तथा च राजंस्तत्रैतां श्रुतसेनकथां शृणु ॥२४॥

श्रुतसेननृपतेः कथा

अभूद्दक्षिणभूमौ प्राग्गोकर्णाख्ये पुरे नृपः ।
श्रुतसेन इति ख्यातः कुलभूषाश्रुतान्वितः ॥२५॥
तस्य चैकाऽभवच्चिन्ता राज्ञः सम्पूर्णसम्पदः ।
आत्मानुरूपां भार्यां यत्स न तावदवाप्तवान् ॥२६॥
एकदा च नृपः कुर्वंश्चिन्तां तां तत्कथान्तरे ।
अग्निशर्माभिधानेन जगदे सोऽग्रजन्मना ॥२७॥
आश्चर्ये द्वे मया दृष्टे ते राजन्वर्णये शृणु ।
तीर्थयात्रागतः पञ्चतीर्थी तामहमाप्तवान् ॥२८॥
यस्यामप्सरसः पञ्च ग्राहत्वमृषिशापतः ।
प्राप्ताः सतीरुदहरत्तीर्थयात्रागतोऽर्जुनः ॥२९॥
तत्र तीर्थवरे स्नात्वा पञ्चरात्रोपवासिनाम् ।
नारायणानुचरतादायिनी स्नायिनां नृणाम् ॥३०॥

कर्षककथा

यावद् व्रजामि तावच्च लाङ्गलोल्लिखितावनिम् ।
गायन्तं कञ्चिदद्राक्षं कार्षिकं क्षेत्रमध्यगम् ॥३१॥
स पृष्टः कार्षिको मार्गं मार्गायातेन केनचित् ।
प्रव्राजकेन तद्वाक्यं नाशृणोद् गीततत्परः ॥३२॥

वासवदत्ता से पूर्वशिक्षित रानी पद्मावती ने भी, उसी प्रकार विना कोई विकार प्रकट किये राजा का स्वागत किया और पूछने पर उसी प्रकार का उत्तर दिया ॥१९॥

तब आगामी दिन दोनों रानियों के एक समान व्यवहार, एक समान हृदय और वचनों पर विचार करते हुए राजा ने सब कुछ मन्त्री यौगन्धरायण से कहा ॥२०॥

यौगन्धरायण ने भी राजा को धीरे-धीरे विचार में पड़े हुए देखकर और अवसर समझ कर इस प्रकार कहा—॥२१॥

'मैं समझता हूँ कि यह इतना ही नहीं है। दोनों रानियों ने जो इस प्रकार कहा है, उसका आधार प्राणत्याग की दृढ भावना है ॥२२॥

सच्चरित्र स्त्रियाँ, पति के दूसरी स्त्री पर आसक्त हो जाने पर या उसके स्वर्ग चले जाने पर, मरने का निश्चय करके दैन्यरहित एवं स्पृहाहीन हो जाती हैं ॥२३॥

सती स्त्रियों के लिए गहरे प्रेम का टूटना असह्य हो जाता है। हे राजन्, इस सम्बन्ध में एक कथा सुनाता हूँ, सुनें' ॥२४॥

राजा श्रुतसेन की कथा

प्राचीनकाल में दक्षिणभूमि के गोकर्ण नामक नगर में कुल का भषण और विद्वान् श्रुतसेन नामक राजा था ॥२५॥

सभी प्रकार के वैभवों से परिपूर्ण उस राजा को बस एक ही चिन्ता थी कि उसे अपने अनुरूप भार्या नहीं मिली थी ॥२६॥

एक बार राजा किसी विषय की चर्चा कर रहा था कि उसी समय अग्निशर्मा नामक ब्राह्मण ने उससे कहा—॥२७॥

'महाराज, मैंने अपने जीवन में दो आश्चर्य देखे, उनका वर्णन करता हूँ, सुनें—मैं तीर्थयात्रा के प्रसंग में उस पंचतीर्थ में गया, जिसमें पाँच अप्सराएँ ऋषि के शाप से ग्राह (मगर) बनकर रहती थीं; वहाँ पर तीर्थयात्रा के प्रसंग से आये हुए अर्जु ने (पाण्डव) ने उन अप्सराओं का उद्धार किया था ॥२८–२९॥

उस तीर्थ में स्नान करके पाँच रातों तक उपवास करनेवाले मनुष्य नारायण के पार्षद (अनुचर) बन जाते हैं ॥३०॥

किसान की कथा

जब मैं उस तीर्थ की ओर गया, तब मैंने हल से जोती हुई भूमि को देखा और खेत के बीच में बैठे हुए एक किसान को गाते हुए देखा ॥३१॥

उस मार्ग में चलते हुए किसी संन्यासी ने उससे मार्ग पूछा; किन्तु गाने में तल्लीन कृषक ने उसे सुना नहीं ॥३२॥

ततः स तस्मै चुक्रोध परिव्राड्विधुरं ब्रुवन् ।
सोऽपि गीतं विमुच्याथ कार्षिकस्तमभाषत ।।३३।।
अहो प्रव्राजकोऽसि त्वं धर्मस्यांशं न वेत्स्यति ।
मूर्खेणापि मय ज्ञातं सारं धर्मस्य यत्पुनः ।।३४।।
तच्छ्रुत्वा किं त्वय ज्ञातमिति तेन च कौतुकात् ।
प्रव्राजकेन पृष्टः सन्कार्षिकः स जगाद तम् ।।३५।।
इहोपविश प्रच्छाये शृणु यावद् वदामि ते ।
अस्मिन्प्रदेशे विद्यन्ते ब्राह्मणा भ्रातरस्त्रयः ।।३६।।
ब्रह्मदत्तः सोमदत्तो विष्णुदत्तश्च पुण्यकृत् ।
तेषां ज्येष्ठौ दारवन्तौ कनिष्ठस्त्वपरिग्रहः ।।३७।।
स तयोर्ज्येष्ठयोराज्ञां कुर्वन् कर्मकरौ यथा ।
मया सहासीदक्रुध्यन्नहं तेषां हि कार्षिकः ।।३८।।
तौ च ज्येष्ठावबुध्यैतां मृदुं तं बुद्धिवर्जितम् ।
साधुमत्यक्तसन्मार्गमृजुमायासवर्जितम् ।।३९।।
एकदा भ्रातृजायाभ्यां सकामाभ्यां रहोऽर्थितः ।
कनिष्ठो विश्वदत्तोऽथ मातृवत्ते निराकरोत् ।।४०।।
ततस्ते निजयोर्भर्त्रोरुभे गत्वा मृषोचतुः ।
वाञ्छत्यावां रहस्येष कनीयान्युवयोरिति ।।४१।।
तेन तं प्रति तौ ज्येष्ठौ सान्तःकोपौ बभूवतुः ।
सदसद् वा न विदतुः कुस्त्रीवचनमोहितौ ।।४२।।
अथैतौ भ्रातरौ जातु विश्वदत्तं तमूचतुः ।
गच्छा त्वं क्षेत्रमध्यस्थं वल्मीकं तं समीकुरु ।।४३।।
तथेत्यागत्य वल्मीकं कुद्दालेनाखनत् स तम् ।
मा मैवं कृष्णसर्पोऽत्र वसतीत्युदितो मया ।।४४।।
तच्छ्रुत्वापि स वल्मीकमखनद्यद्भवत्विति ।
पापैषिणोरप्यादेशं ज्येष्ठभ्रात्रोरलङ्घयन् ।।४५।।
खन्यमानात्ततः प्राप कलशं हेमपूरितम् ।
न कृष्णसर्पं धर्मो हि सान्निध्यं कुरुते सताम् ।।४६।।
तं च नीत्वा स कलशं भ्रातृभ्यां सर्वमर्पयत् ।
निवार्यमाणोऽपि मया ज्येष्ठाभ्यां दृढभक्तितः ।।४७।।

तब व्यर्थ अपशब्द का प्रयोग करते हुए उस साधु ने उस किसान पर क्रोध किया। यह देखकर वह किसाने गाना बन्द करके संन्यासी से कहने लगा ।।३३।।

'आश्चर्य है कि तुम संन्यासी हो, धर्म को नहीं जानते और मूर्ख होकर भी मैंने धर्म का सार जान लिया है' ।।३४।।

यह सुनकर साधु कौतुक से बोला—'तुमने क्या जाना ?' उत्तर देते हुए किसान ने कहा—'यहाँ छाया में बैठो और सुनो। मैं तुम्हें बताता हूँ। इस प्रदेश में तीन ब्राह्मण भाई थे—ब्रह्मदत्त, सोमदत्त और पुण्यात्मा विष्णुदत्त। उनमें दो बड़े विवाहित थे और तीसरा अविवाहित था, ।।३५–३७।।

वह तीसरा छोटा भाई, राजाओं के समान दोनों बड़े भाइयों का काम, नौकरों के समान, करता था। मैं उन्हीं लोगों का किसान हूँ ।।३८।।

अत्यन्त मृदु, सीधे-सादे, सन्मार्गगामी, सरल-हृदय और श्रम-रहित उस छोटे भाई को वे दोनों बड़े भाई मूर्ख और बुद्धिहीन समझते थे ।।३९।।

एक बार, उसकी दोनों बड़ी भाभियाँ उस पर आसक्त हो गईं और उन्होंने उससे प्रार्थना की, किन्तु छोटे भाई विष्णुदत्त ने उन्हें माता के समान समझते हुए छोड़ दिया ।।४०।।

तब उन दोनों ने अपने पतियों के पास जाकर मिथ्या भाषण करते हुए कहा कि 'तुम दोनों का छोटा भाई हमलोगों को एकान्त में चाहता है' ।।४१।।

यह सुनकर वे दोनों बड़े भाई, छोटे भाई के प्रति मन-ही-मन जल-भुन गये। दुष्ट स्त्री के वचन से मोहित दोनों बड़े भाइयों ने सच और झूठ पर विचार नहीं किया ।।४२।।

एक बार वे दोनों भाई विष्णुदत्त से बोले—'तुम जाओ। खेत के बीच वल्मीक (बाँबी) को खोदकर बराबर करो' ।।४३।।

'अच्छा', कहकर वह जाकर कुदाल से मिट्टी के ढेर को बराबर करने लगा, तो मैंने उसे रोका कि 'इसमें काला साँप है' ।।४४।।

यह सुनकर भी वह खोदने से न हटा; क्योंकि वह उन पापी बड़े भाइयों की भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहता था ।।४५।।

खोदे जाते हुए वल्मीक से उसने सोने के मुक्ताहारों से भरा हुआ घड़ा प्राप्त किया, किन्तु काला साँप नहीं मिला; क्योंकि धर्म, सद्व्यक्तियों का साथ देता है ।।४६।।

मेरे रोकने पर भी उसने गहरी भक्ति (प्रेम) के कारण उस घड़े को ले जाकर बड़े भाइयों को सौंप दिया ।।४७।।

तौ पुनस्तत एवांशं दत्वा प्रेर्यं च घातकान् ।
तस्याच्छेदयतां पाणिपादं धनजिहीर्षया ॥४८॥
तथापि न स चुक्रोध निर्मन्युर्भ्रातरौ प्रति ।
तेन सत्येन तस्यात्र हस्तपादमजायत ॥४९॥
तदा प्रभृति तद्दृष्ट्वा त्यक्तः क्रोधोऽखिलो मया ।
त्वया तु तापसेनापि क्रोधोऽद्यापि न मुच्यते ॥५०॥
अक्रोधेन जितः स्वर्गः पश्यैतदधुनैव भोः ।
इत्युक्त्वैव तनुं त्यक्त्वा कार्षिकः स दिवं गतः ॥५१॥
इत्याश्चर्यं मया दृष्टं द्वितीयं शृणु भूपते ।
इत्युक्त्वा श्रुतसेनं स नृपं विप्रोऽब्रवीत्पुनः ॥५२॥

विद्युद्द्योतायाः श्रुतसेननृपतेश्च कथा

ततोऽपि तीर्थयात्रार्थं पर्यटन्नम्बुधेस्तटे ।
अहं वसन्तसेनस्य राज्ञो राष्ट्रमवाप्तवान् ॥५३॥
तत्र भोक्तुं प्रविष्टं मां राजसत्रेऽब्रुवन् द्विजाः ।
ब्रह्मन् पथामुना मा गाः स्थिता ह्यत्र नृपात्मजा ॥५४॥
विद्युद्द्योताभिधाना तां पश्येदपि मुनिर्यदि ।
स कामशरनिर्भिन्नः प्राप्योन्मादं न जीवति ॥५५॥
ततोऽहं प्रत्यवोचं तान्नैतच्चित्रं सदा ह्यहम् ।
पश्याम्यपरकन्दर्पं श्रुतसेनमहीपतिम् ॥५६॥
यात्रादौ निर्गते यस्मिन्रक्षिभिर्दृष्टिगोचरात् ।
उत्सार्यन्ते सतीवृत्तभङ्गभीत्या कुलाङ्गनाः ॥५७॥
इत्युक्तवन्तं विज्ञाय भावत्कं भोजनाय माम् ।
नृपान्तिकं नीतवन्तौ सत्राधिपपुरोहितौ ॥५८॥
तत्र सा राजतनया विद्युद्द्योता मयेक्षिता ।
कामस्येव जगन्मोहमन्त्रविद्या शरीरिणी ॥५९॥
चिरात्तद्दर्शनक्षोभं नियम्याहमचिन्तयम् ।
अस्मत्प्रभोश्चेद् भार्येयं भवेद्राज्यं स विस्मरेत् ॥६०॥
तथापि कथनीयोऽयमुदन्तः स्वामिने मया ।
उन्मादिनीदेवसनवृत्तान्तो ह्यन्यथा भवेत् ॥६१॥

उन दोनों ने उस धन को लेकर और कुछ भाग उसे देकर कुछ हत्यारों को उभारा और उस धन को भी लेने की इच्छा से उसके हाथ-पैर कटवा दिये ॥४८॥

इतने अत्याचार करने पर भी वह अपने बड़े भाइयों पर क्रुद्ध नहीं हुआ। फलतः, इस सत्य-भावना के प्रभाव से उसके हाथ-पैर ठीक हो गये ॥४९॥

उसे देखकर तबसे मैंने सारा क्रोध छोड़ दिया। पर तुमने तपस्वी होकर भी अभी तक क्रोध नहीं छोड़ा ॥५०॥

इस अक्रोध के कारण ही मैंने स्वर्ग पर विजय पाई है। अभी देखो'—ऐसा कहकर वह किसान अपना चोला (शरीर) त्यागकर उसी समय स्वर्ग को चला गया ॥५१॥

एक आश्चर्य तो मैंने यह देखा। 'हे राजन्, अब दूसरा सुनें'—ऐसा कहकर वह ब्राह्मण राजा श्रुतसेन से यह कहने लगा ॥५२॥

वहाँ से मैं तीर्थयात्रा के लिए समुद्र-तट पर भ्रमण करते हुए राजा वसन्तसेन के राज्य में गया ॥५३॥

विद्युद्द्योता और राजा श्रुतसेन की कथा (क्रमशः)

वहाँ पर राजा के भोजन-क्षेत्र में प्रवेश करने पर ब्राह्मण लोग मुझसे कहने लगे—'ब्राह्मण, इस मार्ग से न जाओ। आगे मार्ग में राजा की कन्या बैठी है ॥५४॥

उसका नाम विद्युद्द्योता है। उसे यदि कोई संयमी मुनि भी देख ले, तो वह कामबाण से आहत हुए बिना बच नहीं सकता' ॥५५॥

तब मैंने उन्हें कहा 'कि यह कोई आश्चर्य नहीं है। मैं दूसरे कामदेव के समान समान श्रुतसेन राजा को प्रतिदिन देखता हूँ। जिस राजा के बाहर निकलने पर सैनिक गण, कुलस्त्रियों को, उनका सतीत्व भंग होने के भय से मार्ग से हटा देते हैं' ॥५६-५७॥

ऐसा कहते हुए मुझे आपका कृपापात्र समझकर क्षेत्र के व्यवस्थापक और पुरोहित राजा के समीप ले गये ॥५८॥

वहाँ मैंने राजपुत्री विद्युद्द्योता को देखा है। वह मानों काम की शरीरधारिणी जगन्मोहिनी मन्त्रविद्या है। उसके दर्शन से होनेवाले क्षोभ को बहुत विलम्ब के पश्चात् नियन्त्रित करके मैंने यह सोचा— 'यदि यह हमारे स्वामी की पत्नी हो जाय, तो वह सारा राज्यकार्य भूल जायँ' ॥५९-६०॥

फिर भी, मुझे यह समाचार तो प्रभु (आप) से कहना ही चाहिए, अन्यथा देवसेन और उन्मादिनी की-सी गति हो जायगी ॥६१॥

उन्मादिन्याः देवसेननृपतेश्च कथा

देवसेनस्य नृपतेः पुरा राष्ट्रे वणिक्सुता ।
उन्मादिनीत्यभूत्कन्या जगदुन्मादकारिणी ॥६२॥
आवेदितापि सा पित्रा न तेनात्ता महीभृता ।
विप्रैः कुलक्षणेत्युक्ता तस्य व्यसनरक्षिभिः ॥६३॥
परिणीता तदीयेन मन्त्रिमुख्येन सा ततः ।
वातायनाग्रादात्मानं राज्ञेऽस्मै जात्वदर्शयत् ॥६४॥
तया भुजङ्ग्या राजेन्द्रो दूराद्दृष्टिविषाहतः ।
मुहुर्मुमूर्च्छ न रतिं लेभे नाहारमाहरत् ॥६५॥
प्रार्थितोऽपि च तद्भर्तृप्रमुखैः सोऽथ मन्त्रिभिः ।
धार्मिकस्तां न जग्राह तत्सक्तश्च जहावसून् ॥६६॥
तदीदृशे प्रमादेऽत्र वृत्ते द्रोहः कृतो भवेत् ।
इत्यालोच्य मयोक्तं ते चित्रमेत्य ततोऽद्य तत् ॥६७॥
श्रुत्वैतत्स द्विजात्तस्मान्मदनाज्ञानिभं वचः ।
विद्युद्द्योताहृतमनाः श्रुतसेननृपोऽभवत् ॥६८॥
तत्क्षणं च विसृज्यैव तत्र विप्रं तमेव सः ।
तथाकरोद्यथानीय शीघ्रं तां परिणीतवान् ॥६९॥
ततः सा नृपतेस्तस्य विद्युद्द्योता नृपात्मजा ।
शरीराव्यतिरिक्तासीद् भास्करस्य प्रभा यथा ॥७०॥
अद्य स्वयंवरायागात्तं नृपं रूपगर्विता ।
कन्यका मातृदत्ताख्या महाधनवणिक्सुता ॥७१॥
अधर्मभीत्या जग्राह स राजा तां वणिक्सुताम् ।
विद्युद्द्योताथ तद्बुद्ध्वा हृत्स्फोटेन व्यपद्यत ॥७२॥
राजाप्यागत्य तां कान्तां पश्यन्नेव तथागताम् ।
अङ्के कृत्वा स विलपन् सद्यः प्राणैर्वियुज्यत ॥७३॥
ततो वणिक्सुता वह्निं मातृदत्ता विवेश सा ।
इत्थं प्रणष्टं सर्वं तदपि राष्ट्रं सराजकम् ॥७४॥
अतो राजन् प्रकृष्टस्य भङ्गः प्रेम्णः सुदुःसहः ।
विशेषेण मनस्विन्या देव्या वासवदत्तया ॥७५॥

उन्मादिनी और राजा देवसेन की कथा

प्राचीन काल में राजा देवसेन के राष्ट्र में समस्त संसार को उन्मत्त बनानेवाली उन्मादिनी नाम की एक वैश्यकन्या थी ।।६२।।

उसके पिता की प्रार्थना पर भी राजा ने, ब्राह्मणों के उसे कुलक्षणा बताने के कारण, ग्रहण नहीं किया ।।६३।।

उस कन्या को राजा के प्रधान मन्त्री ने ब्याह लिया । किसी समय उन्मादिनी ने खिड़की से अपना स्वरूप राजा को दिखा दिया । उसकी दृष्टि के विष से राजा बार-बार मूर्च्छित होने लगा और उसका मन भोजन, पान तथा शयन आदि किसी कार्य में नहीं लगा ।।६४–६५।।

तदनन्तर, उन्मादिनी के पति प्रधान मन्त्री द्वारा, राजा से उसे ग्रहण करने की प्रार्थना किये जाने पर भी, राजा ने धार्मिक प्रवृत्ति के कारण उसे स्वीकार न किया और उसकी आसक्ति में अपने प्राण दे दिये ।।६६।।

इस प्रकार के प्रमाद के यहाँ होने पर स्वामी-द्रोह हो सकता है, यही सोचकर यह आश्चर्य मैंने आपसे कह दिया ।।६७।।

वह राजा श्रुतसेन, कामदेव की आज्ञा के समान उस ब्राह्मण से यह वृत्तान्त सुनकर विद्युद्द्योता पर हृदय से आसक्त हो गया ।।६८।।

तदनन्तर, उस राजा ने, उसी क्षण ब्राह्मण को विदा करके ऐसा प्रबन्ध किया कि विद्युद्द्योता से उसका विवाह हो गया । विवाह हो जाने पर वह राजपुत्री विद्युद्द्योता, राजा श्रुतसेन से उसी प्रकार अभिन्न थी, जैसे सूर्य की प्रभा, सूर्य से अभिन्न होती है ।।६९–७०।।

कुछ समय के पश्चात् राजा श्रुतसेन के पास किसी महाधनी वैश्य की रूपगर्विता कन्या मातृदत्ता स्वयंवर के लिए आई ।।७१।।

अधर्म के भय से राजा ने वैश्यकन्या को ग्रहण कर लिया । यह जानकर राजा की पहली रानी विद्युद्द्योता का हृदय विदीर्ण हो गया और वह मर गई ।।७२।।

राजा ने आकर जब अपनी पहली रानी को मरा हुआ देखा, तब उसने उसे अपनी गोद में रख लिया और शोक में रोता हुआ वह भी उसी क्षण मर गया । उसके बाद वैश्य-कन्या मातृदत्ता भी आग में कूदकर जल मरी । इस प्रकार, सारे राज्य का ही सत्यानाश हो गया ।।७३–७४।।

इसलिए, महाराज, उच्च कोटि के गहरे प्रेम, खासकर मानिनी रानी वासवदत्ता के प्रेम का भंग अत्यन्त असह्य है' ।।७५।।

महामन्त्रिणो यौगन्धरायणस्य राजनीतिकः प्रपञ्चः (पूर्वानुवर्त्ती)

तस्मात्कलिङ्गसेनषा परिणीता यदि त्वया।
देवी वासवदत्ता तत्प्राणाञ्जह्यान्न संशयः ॥७६॥
देवी पद्मावती तद्वत्तयोरेकं हि जीवितम्।
नरवाहनदत्तश्च पुत्रस्ते स्यात्कथं ततः ॥७७॥
देवस्य हृदयं सोढुं जाने न शक्नुयात्।
एवमेकपदे सर्वमिदं नश्येन्महीपते ॥७८॥
देव्योर्यच्चोक्तिगाम्भीर्यं तदेव कथयत्यलम्।
हृदयं जीवितत्यागगाढनिश्चितनिःस्पृहम् ॥७९॥
तत्स्वार्थो रक्षणीयस्ते तिर्यञ्चोऽपि हि जानते।
स्वरक्षां किं पुनर्देव बुद्धिमन्तो भवादृशाः ॥८०॥
इति मन्त्रिवराच्छ्रुत्वा स्वैरं यौगन्धरायणात्।
सम्यग्विवेकपदवीं प्राप्य वत्सेश्वरोऽब्रवीत् ॥८१॥
एवमेतन्न सन्देहो नश्येत्सर्वमिदं मम।
तस्मात्कलिङ्गसेनायाः कोऽर्थः परिणयेन मे ॥८२॥
उक्तो लग्नश्च दूरे यत्तद्युक्तं गणकैः कृतम्।
स्वयंवरागतात्यागादधर्मो वा कियान्भवेत् ॥८३॥
इत्युक्तो वत्सराजेन हृष्टो यौगन्धरायणः।
चिन्तयामास कार्यं नः सिद्धप्रायं यथेप्सितम् ॥८४॥
उपायरससंसिक्ता देशकालोपबृंहिता।
सेयं नीतिमहावल्ली किं नाम न फलेत्फलम् ॥८५॥
इति सञ्चिन्त्य स ध्यायन् देशकालौ प्रणम्य तम्।
राजानं प्रययौ मन्त्री गृहं यौगन्धरायणः ॥८६॥
राजापि रचितातिथ्यगूढकाराभुपेत्य सः।
देवी वासवदत्तां ता सान्त्वयन्नेवमब्रवीत् ॥८७॥
किमर्थं वच्मि जानासि त्वमेव हरिणाक्षि यत्।
वारि वारिरुहस्येव त्वत्प्रेम मम जीवितम् ॥८८॥
नामापि हि किमन्यस्या ग्रहीतुमहमुत्सहे।
कलिङ्गसेना तु हठादुपायाता गृहं मम ॥८९॥

मन्त्री यौगन्धरायण का राजनीतिक प्रपंच (क्रमशः)

अतः, यदि तुमने कलिंगसेना का परिणय किया, तो वासवदत्ता, अवश्य प्राण-त्याग कर देगी, इसमें सन्देह नहीं ।।७६।।

रानी पद्मावती भी इसी प्रकार प्राण त्याग देगी; क्योंकि दोनों एकप्राण हैं। ऐसी स्थिति में तुम्हारे पुत्र नरवाहनदत्त की क्या स्थिति होगी ? ।।७७।।

यह सब अनर्थ आपका हृदय सहन कर सकेगा या नहीं, यह मैं नहीं जानता; किन्तु यह सब एक बार में ही नष्ट हो जायगा ।।७८।।

दोनों रानियों की बातों में जो गम्भीरता है, वही इस बात की ओर स्पष्ट इंगित करती है कि उनका जीवन प्राण-त्याग के दृढ निश्चय से निःस्पृह है। जो भी हो, तुम्हें अपने स्वार्थ की रक्षा करनी चाहिए, यह बात तो पशु-पक्षी भी जानते हैं; फिर आपके जैसे बुद्धिमानों की बात ही क्या है ।।७९-८०।।

मन्त्रिश्रेष्ठ यौगन्धरायण से इस प्रकार सुनकर, भली भाँति विचार-विमर्श करके वत्सेश्वर ने कहा—।।८१।।

'ठीक है, इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार मेरा सारा संसार ही नष्ट हो जायगा। इसलिए, अब कलिंगसेना के परिणय से मेरा कोई प्रयोजन नहीं ।।८२।।

गणकों (ज्योतिषियों) ने भी लग्न का दूरवर्त्ती समय देकर अच्छा ही किया। स्वयंवर स्त्री का त्याग करने से ही कितना अधर्म होगा ।।८३।।

वत्सराज के इस प्रकार कहने पर प्रसन्न हुए यौगन्धरायण ने सोचा कि कार्य तो जैसा हम चाहते थे, वैसा सिद्ध हो गया। उपाय-रूपी जल से सींची हुई और देश-काल के अनुसार बढ़ी हुई नीति-रूपी यह लता समय पर फल क्यों न देगी ? ।।८४-८५।।

ऐसा सोचकर और देश-काल का ध्यान करता हुआ मन्त्री राजा को प्रणाम करता हुआ घर चला गया ।।८६।।

राजा भी, कृत्रिम शिष्टाचार से अपने भाव को छिपाई हुई रानी वासवदत्ता को सान्त्वना देता हुआ कहने लगा—।।८७।।

'हे मृगनयने, मैं किसलिए कह रहा हूँ, यह तुम जानती हो ? कमल के लिए जल के समान तुम्हारा प्रेम ही मेरा जीवन है ।।८८।।

मैं किसी दूसरी स्त्री का नाम लेने का भी साहस नहीं करता। किन्तु, कलिंगसेना तो हठपूर्वक मेरे घर आ गई ।।८९।।

प्रसिद्धं चात्र यद्रम्भा तपःस्थेन निराकृता ।
पार्थेन षण्ढताशापं ददौ तस्यै हठागता ॥९०॥
स शापस्तिष्ठता तेन वर्षं वैराटवेश्मनि ।
स्त्रीवेषेण महाश्चर्यरूपेणाप्यतिवाहितः ॥९१॥
अतः कलिङ्गसेनैषा निषिद्धा न तदा मया ।
विना त्वदिच्छयाहं तु न किञ्चद् वक्तुमुत्सहे ॥९२॥
इत्याश्वास्योपलभ्याथ हृदयेनेव रागिणा ।
मुखार्पितेन मद्येन सत्यं क्रूरं तदाशयम् ॥९३॥
तयैव सह रात्रिं तां राज्ञा वासवदत्तया ।
मन्त्रिमुख्यमतिप्रौढितुष्टो वत्सेश्वरोऽवसत् ॥९४॥
अत्रान्तरे च यं पूर्वं दिवारात्रौ प्रयुक्तवान् ।
कलिङ्गसेनावृत्तान्तज्ञप्त्यै यौगन्धरायणः ॥९५॥
स ब्रह्मराक्षसोऽभ्येत्य सुहृद्योगेश्वराभिधः ।
तस्यामेव निशि स्वैरं तं मन्त्रिवरमभ्यधात् ॥९६॥
कलिङ्गसेनासदने स्थितोऽस्म्यन्तर्बहिः सदा ।
दिव्यानां मानुषाणां वा पश्यामि न तथागमम् ॥९७॥
अद्याव्यक्तो मया शब्दः श्रुतोऽकस्मान्नभस्तले ।
प्रच्छन्नेनात्र हर्म्याग्रसन्निकर्षे निशामुखे ॥९८॥
प्रभावं तस्य विज्ञातुं प्रयुक्तापि ततो मम ।
विद्या न प्राभवत्तेन विमृश्याहमचिन्तयम् ॥९९॥
अयं दिव्यप्रभावस्य शब्दः कस्यापि निश्चितम् ।
कलिङ्गसेनालावण्यलुब्धस्य भ्रमतोऽम्बरे ॥१००॥
येन न क्रमते विद्या तद्वीक्षे किञ्चिदन्तरम् ।
न दुष्प्रापं परिच्छद्रं जाग्रद्भिर्निपुणैर्यतः ॥१०१॥
दिव्यानां वाञ्छितैषेति प्रोक्तं मन्त्रिवरेण च ।
सोमप्रभा सखी चास्या वदन्त्येतन्मया श्रुता ॥१०२॥
इति निश्चित्य तत्तुभ्यमिहाहं वक्तुमागतः ।
इदं प्रसङ्गात्पृच्छामि तन्मे तावत्त्वयोच्यताम् ॥१०३॥
तिर्यञ्चोऽपि हि रक्षन्ति स्वात्मानमिति यत्त्वया ।
उक्तो राजा तदश्रौषं योगादहमलक्षितः ॥१०४॥

यह बात प्रसिद्ध है कि तपस्या में बैठे हुए अर्जुन ने हठपूर्वक आई हुई रम्भा को दूर कर दिया था और उसने अर्जुन को षण्ढ (नपुंसक) होने का शाप दिया था ॥९०॥

उस शाप के समय को अर्जुन ने आश्चर्यमय रूप से स्त्रीवेष धारण करके विराट के भवन में व्यतीत किया था ॥९१॥

इसीलिए, मैंने उसी समय कलिंगसेना का निषेध नहीं किया; क्योंकि तुम्हारी इच्छा के विना कुछ भी कहने का साहस नहीं कर सकता' ॥९२॥

इस प्रकार, आश्वासन देकर, मानों प्रेमपूर्ण हृदय के समान उसके मुँह में लगाये हुए मद्य से उसके रुष्ट भाव को समझकर, मुख्यमन्त्री की प्रौढ बुद्धि से सन्तुष्ट राजा, उस दिन, रात को वासवदत्ता के साथ वहीं रह गया ॥९३-९४॥

इसी बीच, यौगन्धरायण ने कलिंगसेना का समाचार जानने के लिए जिसे दिन-रात के लिए नियुक्त किया था, वह योगेश्वर नाम का ब्रह्मराक्षस, उसी रात को यौगन्धरायण के पास आया और कहने लगा—'मैं कलिंगसेना के भवन में बाहर और भीतर सदा उपस्थित रहता हूँ, किन्तु वहाँ दिव्य या मानव किसी भी व्यक्ति का आगमन, मैंने नहीं देखा ॥९५–९७॥

आज छिपे हुए मैंने भवन की ऊपरी छत के पास सायकाल के समय आकाश में अकस्मात् शब्द सुना ॥९८॥

उस शब्द की उत्पत्ति का स्थान जानने के लिए मैंने अपनी विद्या का प्रयोग भी किया, किन्तु विद्या का कुछ प्रभाव न देखकर मैंने सोचा कि निश्चय ही कलिंगसेना के लावण्यलोभी किसी दिव्य प्रभाववाले आकाशचारी व्यक्ति का यह शब्द है ॥९९-१००॥

इसीलिए मेरी विद्या काम नहीं कर रही है; क्योंकि सावधान और चतुर व्यक्ति के लिए दूसरे का छिद्र दुष्प्राप्य नहीं होता ॥१०१॥

यह कलिंगसेना, दिव्य व्यक्तियों से चाही जा रही है, यह बात (मन्त्रिवर) आपने भी कही थी और मैंने भी उसकी सखी सोमप्रभा को ऐसा कहते हुए सुना है ॥१०२॥

ऐसा निश्चय करके मैं आपको कहने के लिए यहाँ आया हूँ और प्रसंगवश मैं यह पूछता हूँ, बताइए ॥१०३॥

आपको राजा से यह कहते हुए मैंने छिपकर सुन लिया कि पशु-पक्षी भी अपनी रक्षा करते हैं ॥१०४॥

निदर्शनं चेदत्रास्ति तन्मे कथय सन्मते ।
इति योगेश्वरेणोक्तः स्माह यौगन्धरायणः ।।१०५।।

उलूक-नकुल-मूषक-मार्जाराणां कथा

अस्ति मित्र तथा चात्र कथामाख्यामि ते शृणु ।
विदिशानगरीबाह्ये न्यग्रोधोऽभूत्पुरा महान् ।।१०६।।
चत्वारः प्राणिनस्तत्र वसन्ति स्म महातरौ ।
नकुलोलूकमार्जारमूषकाः पृथगालयाः ।।१०७।।
भिन्ने भिन्ने बिले मूल आस्तां नकुलमूषकौ ।
मार्जारो मध्यभागस्थे तरोर्महति कोटरे ।।१०८।।
उलूकस्तु शिरोभागे नान्यलभ्ये लतालये ।
मूषकोऽत्र त्रिभिर्वध्यो मार्जारेण त्रयोऽपरे ।।१०९।।
अन्नाय मार्जारभयान्मूषको नकुलस्तथा ।
स्वभावेनाप्युलूकश्च परिभ्रेमुर्निशि त्रयः ।।११०।।
मार्जारश्च दिवारात्रौ निर्भयः प्रभ्रमत्यसौ ।
तत्रासन्ने यवक्षेत्रे सदा मूषकलिप्सया ।।१११।।
येऽन्येऽपि युक्त्या जग्मुस्तत्स्वकालेऽन्नाभिवाञ्छया ।
एकदा लुब्धकस्तत्र चण्डालः कश्चिदाययौ ।।११२।।
स मार्जारपदश्रेणिं दृष्ट्वा तत्क्षेत्रगामिनीम् ।
तद्वधायाभितः क्षेत्रं पाशान् दत्वा ततो ययौ ।।११३।।
तत्र रात्रौ च मार्जारः स मूषकजिघांसया ।
एत्य प्रविष्टस्तत्पाशैः क्षेत्रे तस्मिन्नबध्यत ।।११४।।
मूषकोऽपि ततोऽन्नार्थी स तत्र निभृतागतः ।
बद्धं तं वीक्ष्य मार्जारं जहर्ष च ननर्त्त च ।।११५।।
यावद् विशति तत्क्षेत्रं दूरादेकेन वर्त्मना ।
तत्र तौ तावदायातावुलूकनकुलावपि ।।११६।।
दृष्टमार्जारबन्धौ च मूषकं लब्धुमैच्छताम् ।
मूषकोऽपि च तद्दृष्ट्वा दूराद् विग्नो व्यचिन्तयत् ।।११७।।
नकुलोलूकभयदं मार्जारं संश्रये यदि ।
बद्धोऽप्येकप्रहारेण शत्रुर्मामेष मारयेत् ।।११८।।

इस विषय में कोई उदाहरण है, तो मुझे बताइए ।' योगेश्वर के इस प्रकार, कहने पर यौगन्धरायण ने कहा—॥१०५॥

'मित्र, इसका उदाहरण है । सुनो, इस विषय की एक कथा कहता हूँ' ।

उल्लू, नेवला, बिल्ली और चूहे की कथा

प्राचीन समय में विदिशा नगरी के बाहर बहुत विशाल एक वटवृक्ष था ॥१०६॥

उस वृक्ष में नेवला, उल्लू, बिल्ली और चूहा ये चार प्राणी, अपना पृथक्-पृथक् स्थान बनाकर रहते थे । वृक्ष की जड़ में पृथक्-पृथक् बिलों में चूहा और नेवला रहा करते तथा बिल्ली वृक्ष के बीच के कोटर (खोखले) में और उल्लू सबसे ऊपर लता से घिरी हुई डाली पर रहता था, जहाँ किसी की पहुँच न थी । इनमें चूहा तीनों के लिए वध्य था और शेष तीनों बिल्ली के लिए वध्य थे ॥१०७—१०९॥

उनमें चूहा और नेवला बिल्ली से भयभीत होकर अन्न के लिए तथा उल्लू स्वभाव से भोजन के लिए, ये तीनों ही घूमा करते थे ॥११०॥

और बिल्ली, निर्भय होकर दिन-रात चूहे की खोज में जौ के खेत में चक्कर लगाया करती थी ॥१११॥

एक बार जबकि भोजन की खोज में अन्य जानवर भी इधर-उधर गये हुए थे, तब इसी ओर वहाँ एक बहेलिया चाण्डाल आ गया ॥११२॥

वह वहाँ पर बिलाव (बिल्ली) के पैरों के चिह्नों को खेत की ओर जाते देखकर, खेत में चारों ओर जाल फैलाकर चला गया ॥११३॥

उस खेत में बिलाव, चूहे को मारने की इच्छा से घुसा और वहीं वह जाल में फँस गया ॥११४॥

अन्न खाने के लालच से धीरे-धीरे और चुपचाप चूहा भी उस खेत में आया और वहाँ बिलाव को बँधा देखकर प्रसन्न होकर नाचने लगा ॥११५॥

जब चूहा, एक मार्ग से उस खेत में घुसा, तभी नेवला और उल्लू भी दूसरे मार्ग से उसी स्थान पर आ गये ॥११६॥

बिलाव को बँधा देखकर वे दोनों चूहे को ढूँढ़ने लगे । चूहा दूर से ही उनकी गतिविधि को देखकर घबराकर सोचने लगा—॥११७॥

'यदि मैं नेवले और उल्लू को भय देनेवाला बिलाव का आश्रय (शरण) लूँ, तो जाल में बँधा हुआ भी यह शत्रु मुझे एक ही प्रहार में मार देगा ॥११८॥

मार्जाराद्दूरगं हन्यादुलूको नकुलश्च माम् ।
तच्छत्रुसङ्कटगतः क्व गच्छामि करोमि किम् ॥११९॥
हन्त मार्जारमेवेह श्रयाम्यापद्गतो ह्ययम् ।
आत्मत्राणाय मां रक्षेत्पाशच्छेदोपयोगिनम् ॥१२०॥
इत्यालोच्य शनैर्गत्वा मार्जारं मूषकोऽब्रवीत् ।
बद्धे त्वय्यतिदुःखं मे तत्ते पाशं छिनद्म्यहम् ॥१२१॥
ऋजूनां जायते स्नेहः सहवासाद्रिपुष्वपि ।
किं तु मे नास्ति विश्वासस्तव चित्तमजानतः ॥१२२॥
तच्छ्रुत्वोवाच मार्जारो भद्र विश्वस्यतां त्वया ।
अद्य प्रभृति मे मित्रं भवान् प्राणप्रदायकः ॥१२३॥
इति श्रुत्वैव मार्जारात्तस्योत्सङ्गं स शिश्रिये ।
तद्दृष्ट्वा नकुलोलूकौ निराशौ ययतुस्ततः ॥१२४॥
ततो जगाद मार्जारो मूषकं पाशपीडितः ।
गतप्राया निशा मित्र तत्पाशांश्छिन्धि मे द्रुतम् ॥१२५॥
मूषकोऽपि शनैश्छिन्दंल्लुब्धकागमनोन्मुखः ।
मृषा कटकटायद्भिर्दशनैरकरोच्चिरम् ॥१२६॥
क्षणाद्रात्रौ प्रभातायां लुब्धके निकटागते ।
मार्जारेऽर्थ्यमाने द्राक्पाशांश्चिच्छेद मूषकः ॥१२७॥
छिन्नपाशेऽथ मार्जारे लुब्धकत्रासविद्रुते ।
मूषको मृत्युमुक्तः सन्पलाय्य प्राविशद् बिलम् ॥१२८॥
नाश्वसत् पुनराहूतो मार्जारेण जगाद च ।
कालयुक्त्या ह्यरिर्मित्रं जायते न च सर्वदा ॥१२९॥
एवं बहुभ्यः शत्रुभ्यः प्रज्ञयात्माभिरक्षितः[1] ।
मूषकेन तिरश्चापि किं पुनर्मानुषेषु यत् ॥१३०॥
एतदुक्तस्तदा राजा मया यत्त्वया श्रुतम् ।
बुद्ध्या कार्यं निजं रक्षेद्देवीसंरक्षणादिति ॥१३१॥
बुद्धिर्नाम च सर्वत्र मुख्यं मित्रं न पौरुषम् ।
योगेश्वर तथा चैतामत्रापि त्वं कथां शृणु ॥१३२॥

---

१. इयं कथा महाभारतस्य द्वादशे पर्वणि पञ्चतन्त्रे चोपलभ्यते ।

बिलाव से दूर रहने पर तो उल्लू और नेवला दोनों ही मुझे मार देंगे। इसलिए, इस प्रकार शत्रुओं के संकट में पड़ा हुआ मैं कहाँ जाऊँ ॥११६॥

अच्छा हो कि विपत्ति में पड़ा हुआ मैं बिलाव की ही शरण में जाऊँ। मुझे जाल काटने में उपयोगी जानकर सम्भव है, वह अपनी रक्षा के लिए मेरी भी रक्षा करे' ॥१२०॥

ऐसा सोचकर और धीरे-से उसके पास जाकर चूहा उससे कहने लगा—'तुम्हारे बन्धन से मुझे अत्यन्त दुःख है। इसलिए, मैं तुम्हारा जाल काटता हूँ ॥१२१॥

सरल व्यक्तियों का, साथ रहने के कारण, शत्रुओं पर भी प्रेम हो जाता है। किन्तु, तुम्हारे प्रेम को न जाननेवाले मुझे तुम पर विश्वास नहीं है' ॥१२२॥

यह सुनकर बिलाव कहने लगा, 'भद्र ! तुम्हें मुझपर विश्वास करना चाहिए। आज से मेरे प्राण बचानेवाले तुम मेरे मित्र हुए' ॥१२३॥

बिलाव से ऐसा सुनकर चूहा उसकी गोद में जा छिपा। यह देखकर उल्लू और नेवला दोनों निराश होकर वहाँ से चले गये ॥१२४॥

तब जाल से बँधा हुआ बिलाव चूहे से कहने लगा, 'मित्र ! रात बीत-सी गई है। इसलिए मेरे बन्धनों को शीघ्र काटो ॥१२५॥

बहेलिये के आने की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता हुआ चूहा झूठे ही दाँत कटकटाता हुआ बन्धनों को काटने में बिलम्ब करने लगा ॥१२६॥

प्रातःकाल होने और बहेलिये के निकट आ जाने पर और बिलाव के दीनतापूर्वक प्रार्थना करने पर, चूहे ने तुरन्त जाल के बन्धन काट डाले ॥१२७॥

जाल काटने के पश्चात् बहेलिये के भय से बिल्ली के भाग जाने पर, मृत्यु से छूटा हुआ चूहा भी भागकर बिल में घुस गया ॥१२८॥

बिलाव द्वारा फिर विश्वास दिलाकर बुलाने पर भी उसने उसका विश्वास नहीं किया और कहने लगा—'समय आने पर ही शत्रु मित्र बनता है, सदा नहीं' ॥१२९॥

इस प्रकार, चूहे ने, और भी बहुत-से पशुओं ने अपने शत्रुओं से बुद्धिमानी के साथ आत्मरक्षा की[1], मनुष्यों की तो बात ही क्या है ॥१३०॥

जो तुमने मुझसे सुना है, यही मुझसे कहा गया राजा अपनी बुद्धि से महारानी की रक्षा करते हुए अपने कार्य की भी रक्षा कर सकता है ॥१३१॥

बुद्धि ही सर्वत्र प्रधान मित्र है, पुरुषार्थ नहीं। हे योगेश्वर ! इस कथा को भी सुनो ॥१३२॥

---

१. यह कथा महाभारत के १२वें पर्व में तथा पंचतन्त्र में भी मिलती है।—अनु०

प्रसेनजिद्राज्ञः कथा

श्रावस्तीत्यस्ति नगरी तस्यां पूर्वं प्रसेनजित् ।
राजाभूत्तत्र चाभ्यागात्कोऽप्यपूर्वो द्विजः पुरि ॥१३३॥
सोऽशूद्रान्नभुगेकेन वणिजा गुणवानिति ।
ब्राह्मणस्य गृहे तत्र कस्यचित्स्थापितो द्विजः ॥१३४॥
तत्रैव तेन शुष्कान्नदक्षिणादिभिरन्वहम् ।
आपूर्यत ततोऽन्यैश्च शनैर्बुद्ध्वा वणिग्वरैः ॥१३५॥
तेनासौ हेमदीनारसहस्रं कृपणः क्रमात् ।
सञ्चित्य गत्वारण्ये तन्निहत्य क्षिप्तवान् भुवि ॥१३६॥
एकाकी प्रत्यहं गत्वा तच्च स्थानमवैक्षत ।
एकदा हेमशून्यं तत्खातं व्यात्तं च दृष्टवान् ॥१३७॥
शून्यं तत्खातकं तस्य पश्यतो हतचेतसः ।
न परं हृदि संक्रान्ता चित्रं दिक्ष्वपि शून्यता ॥१३८॥
अथोपागाच्च विलपंस्तं विप्रं यद्गृहे स्थितः ।
पृष्टस्तं च स्ववृत्तान्तं तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ॥१३९॥
गत्वा तीर्थमभुञ्जानः प्राणांस्त्यक्तुमियेष च ।
बुद्ध्वा च सोऽन्नदातास्य वणिगन्यैः सहाययौ ॥१४०॥
स तं जगाद किं ब्रह्मन् वित्तहेतोर्मुमूर्षसि ।
अकालमेघवद् वित्तमकस्मादेति याति च ॥१४१॥
इत्याद्युक्तोऽपि तेनासौ न जहौ मरणग्रहम् ।
प्राणेभ्योऽप्यर्थमात्रा हि कृपणस्य गरीयसी ॥१४२॥
ततश्च मृत्यवे तीर्थं गच्छतोऽस्य द्विजन्मनः ।
स्वयं प्रसेनजिद्राजा तद्बुद्ध्वान्तिकमाययौ ॥१४३॥
पप्रच्छ चैनं किं किञ्चिदस्ति तत्रोपलक्षणम् ।
यत्र भूमौ निखातस्ते दीनारा ब्राह्मण त्वया ॥१४४॥
तच्छ्रुत्वा स द्विजोऽवादीदस्ति क्षुद्रोऽत्र पादपः ।
अटव्यां देव तन्मूले निखातं तन्मया धनम् ॥१४५॥
इत्याकर्ण्याब्रवीद्राजा दास्याम्यन्विष्य तत्तव ।
धनं स्वकोषादथवा मा त्याक्षीर्जीवितं द्विज ॥१४६॥
इत्युक्त्वा मरणोद्योगान्निवार्य विनिधाय च ।
द्विजं तं वणिजो हस्ते स राजाभ्यन्तरं गतः ॥१४७॥

राजा प्रसेनजित् की कथा

श्रावस्ती नाम की एक नगरी है। उसमें पहले प्रसेनजित् नाम का राजा राज्य करता था। वहाँ एक बार, कोई अद्भुत ब्राह्मण आया ॥१३३॥

वह शूद्र का अन्न नहीं खाता था। इसलिए, एक वैश्य ने उसे तपस्वी समझकर किसी ब्राह्मण के घर ठहरा दिया ॥१३४॥

धीरे-धीरे उसकी प्रसिद्धि होने पर उस ब्राह्मण के घर को अन्यान्य वैश्यों ने सूखे अन्न और धन से भरपूर कर दिया ॥१३५॥

संगृहीत धन से उस कंजूस ब्राह्मण ने एक सहस्र मुद्राएँ एकत्र कर लीं और जंगल में जाकर भूमि खोदकर उन्हें गाड़ दिया ॥१३६॥

और, प्रतिदिन वहाँ अकेला जाकर उस स्थान को वह देख आता था। एक दिन उसने उस स्थान को खुदा हुआ और मुद्राशून्य पाया ॥१३७॥

उस गड्ढे को मुद्रा-रहित देखकर हताश उस ब्राह्मण के हृदय में ही नहीं, प्रत्युत दिशाओं में भी शून्यता फैल गई, अर्थात् उसे सभी ओर अँधेरा दीखने लगा ॥१३८॥

तदनन्तर, रोता-कलपता हुआ वह ब्राह्मण वहाँ आया, जहाँ ठहरा हुआ था। वहाँ के गृहस्वामी ब्राह्मण द्वारा पूछे जाने पर उसने अपना सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया ॥१३९॥

और, वह अनशन करके तीर्थ में प्राण देने की इच्छा प्रकट करने लगा। यह जानकर उसका अन्नदाता वैश्य भी अन्य बनियों के साथ वहाँ आया ॥१४०॥

आकर उस ब्राह्मण से वह कहने लगा, 'हे ब्रह्मदेव, धन के लिए क्या मरना चाहते हो? अकाल मेघ के समान धन आता है और चला जाता है' ॥१४१॥

इस प्रकार, अनेक बातों से सान्त्वना देने पर भी, उस ब्राह्मण ने, मरने का आग्रह न छोड़ा; क्योंकि कंजूस के लिए धन की मात्रा प्राणों से भी प्यारी और भारी होती है ॥१४२॥

तदनन्तर, मरने के लिए तीर्थयात्रा करनेवाले उस ब्राह्मण को सुनकर प्रसेनजित् स्वयं उसके पास आया ॥१४३॥

और उससे पूछा कि 'जहाँ पर तुमने मुहरें गाड़ी थीं, वहाँ पर कोई चिह्न भी है?' १४४॥

यह सुनकर उस ब्राह्मण ने कहा—'जंगल में वहाँ पर एक छोटा-सा क्षुप (पेड़) है महाराज, उसी की जड़ में मैंने वह धन गाड़ दिया था' ॥१४५॥

यह सुनकर राजा ने उससे कहा—'मैं उसे ढुँढ़वाकर तुम्हें दे दूँगा अथवा अपने कोष से तुम्हें दूँगा। इसलिए तुम प्राण न छोड़ो' ॥१४६॥

ऐसा कहकर ब्राह्मण को मरने के प्रयत्न से रोककर और उसे वैश्य के हाथ सौंपकर राजा अपने भवन को चला गया ॥१४७॥

तत्रादिश्य प्रतीहारं शिरोर्त्तिव्यपदेशतः ।
वैद्यानानाययत्सर्वान् दत्वा पटहघोषणाम् ॥१४८॥
आतुरास्ते कियन्तोऽत्र कस्यादाः किं त्वमौषधम् ।
इत्युपानीय पप्रच्छ तानेकैकं विविक्तगः ॥१४९॥
तेऽपि तस्मै तदैकैकः सर्वमूचुर्महीपतेः ।
एकोऽथ वैद्यस्तन्मध्यात् क्रमपृष्टोऽब्रवीदिदम् ॥१५०॥
वणिजो मातृदत्तस्य देव नागबला मया ।
अस्वस्थस्योपदिष्टाद्य द्वितीयं दिनमोषधिः ॥१५१॥
तच्छ्रुत्वा स तमाहूय राजा वणिजमभ्यधात् ।
ननु नागबला केन तवानीतोच्यतामिति ॥१५२॥
देव कर्मकरेणेति तेनोक्ते वणिजा तदा ।
क्षिप्रमानाय्य तं राजा स कर्मकरमब्रवीत् ॥१५३॥
त्वया नागबलाहेतोः खनता शाखिनस्तलम् ।
दीनारजातं यल्लब्धं ब्रह्मस्वं तत्समर्पय ॥१५४॥
इत्युक्तो भूभृता भीतः प्रतिपद्यैव तत्क्षणम् ।
स तानानीय दीनारांस्तत्र कर्मकरो जहौ ॥१५५॥
राजाऽप्युपोषितायास्मै द्विजायाहूय तान् ददौ ।
दीनारान् हारितप्राप्तान् प्राणानिव बहिश्चरान् ॥१५६॥
एवं स लब्धवान् बुद्ध्या नीतं मूलतलात्तरोः ।
द्विजार्थं भूपतिर्जानन्नोषधिं तां तदुद्भवाम् ।१५७॥
तदेवं सर्वदा बुद्धेः प्राधान्यं जितपौरुषम् ।
ईदृशेषु च कार्येषु किं विदध्यात् पराक्रमः ॥१५८॥
तद्योगेश्वर कुर्वीथास्त्वमपि प्रज्ञया तथा ।
यथा कलिङ्गसेनाया दोषो ज्ञायेत कश्चन ॥१५९॥
अस्ति चैतद्यथा तस्यां लुभ्यन्तीह सुरासुराः ।
तथा च दिवि कस्यापि निशि शब्दः श्रुतस्त्वया ॥१६०॥
लब्धेऽथ दोषे तस्याश्च भवेदकुशलं न नः ।
नोपयच्छेत तां राजा न चाधर्मः कृतो भवेत् ॥१६१॥
इत्युदारधियः श्रुत्वा सर्वं यौगन्धरायणात् ।
योगेश्वरस्तं सन्तुष्य जगदा ब्रह्मराक्षसः ॥१६२॥

वहाँ जाकर सिर-दर्द का बहाना करके द्वारपाल द्वारा नगाड़े पर घोषणा कराकर राजा ने नगर के सभी वैद्यों को बुलवाया ।।१४८।।

और, एक-एक वैद्य को अलग-अलग बुलवाकर पूछने लगा कि तुम्हारे कितने रोगी हैं और तुमने किसे-किसे कौन-कौन-सी दवा दी है ? ।।१४९।।

उन वैद्यों ने भी, एक-एक करके अपना-अपना विवरण राजा को सुनाया । उनमें से एक वैद्य ने, क्रमशः अपनी बारी आने पर राजा से यह कहा ।।१५०।।

'महाराज, रोगी मातृदत्त नामक वैश्य को मैंने नागबला नाम की ओषधि बताई थी, आज दूसरा दिन है । यह सुनकर राजा ने मातृदत्त वैश्य को बुलवाकर कहा—'तुम्हारे लिए नागबला कौन लाया था ? बताओ' ।।१५१-१५२।।

'महाराज, मेरा भृत्य (नौकर) लाया था ।' बनिये के ऐसा उत्तर देने पर राजा ने उस भृत्य को बुलवाकर कहा, 'तूने नागबला के लिए भूमि खोदते हुए जो मुहरों की राशि प्राप्त की है, वह ब्राह्मण का धन है, उसे दे दे' ।।१५३-१५४।।

राजा के ऐसा कहने पर भयभीत नौकर ने, उसी समय मुहरें लाकर वहाँ रख दीं ।।१५५।।

तदनन्तर, राजा ने अनशन करते हुए ब्राह्मण को बुलवाकर, उस कंजूस ब्राह्मण के बाहरी प्राणों के समान चोरी होकर मिली हुई मुहरें उसे दे दीं ।।१५६।।

इस प्रकार, राजा ने वृक्ष के नीचे से ले जाये गये धन को बुद्धिबल से ब्राह्मण को प्राप्त करा दिया; क्योंकि वहाँ उत्पन्न हुई ओषधि को वह जानता था ।।१५७।।

अतएव, पुरुषार्थ के ऊपर सदा बुद्धि की प्रधानता रहती है । ऐसे कार्यों में पौरुष क्या कर सकता है ? ।।१५८।।

इसलिए, हे योगेश्वर ! तुम भी बुद्धिबल से कुछ ऐसा करना, जिससे कलिंगसेना का कोई दोष जाना जा सके ।।१५९।।

यह बात तो है कि उस कलिंगसेना पर देवता और असुर सभी ललचा रहे हैं और रात में तुमने ऐसा कुछ शब्द भी सुना है ।।१६०।।

उसका दोष मिलने पर उसका और हमारा अकल्याण न होगा । राजा उससे विवाह न करेगा, इसलिए अधर्म भी न होगा ।।१६१।।

उदार बुद्धिवाले यौगन्धरायण से यह सुनकर ब्रह्मराक्षस योगेश्वर प्रसन्न होकर बोला—।।१६२।।

कस्त्वया सदृशो नीतावन्यो देवाद् बृहस्पतेः ।
अयं त्वमृतसेकोऽस्य त्वन्मन्त्रो राज्यशाखिनः ॥१६३॥
सोऽहं कलिङ्गसेनाया जिज्ञासिष्ये गतिं सदा ।
बुद्ध्या शक्त्यापि चेत्युक्त्वा ततो योगेश्वरो ययौ ॥१६४॥
तत्कालं सा च हर्म्यादौ पर्यटन्तं स्वहर्म्यगा ।
कलिङ्गसेना वत्सेशं दृष्ट्वा दृष्ट्वा स्म ताम्यति ॥१६५॥
तन्मनाः स्मरसन्तप्ता मृणालाङ्गदहारिणी ।
सा श्रीखण्डाङ्गरागा च न लेभे निर्वृतिं क्वचित् ॥१६६॥
अत्रान्तरे स तां पूर्वं दृष्ट्वा विद्याधराधिपः ।
तस्थौ मदनवेगाख्यो गाढानङ्गशरार्दितः ॥१६७॥
तत्प्राप्तये तपः कृत्वा वरे लब्धेऽपि शङ्करात् ।
सान्यासक्तान्यदेशस्था सुखं प्राप्यास्य नाभवत् ॥१६८॥
यतस्तेनान्तरं लब्धुमसौ विद्याधराधिपः ।
रजनीषु दिवि भ्राम्यन्नासीत्तन्मन्दिरोपरि ॥१६९॥
संस्मृत्य तु तमादेशं तपस्तुष्टस्य धूर्जटेः ।
एकस्यां निशि वत्सेशरूपं चक्रे स्वविद्यया ॥१७०॥
तद्रूपश्च विवेशास्य मन्दिरं द्वाःस्थवन्दितः ।
कालक्षेपाक्षमो गुप्तं मन्त्रिणां स इवागतः ॥१७१॥
कलिङ्गसेनाप्युत्तस्थौ तं दृष्ट्वोत्कम्पविक्लवा ।
न सोऽयमिति सा रावैर्वार्यमाणेव भूषणैः ॥१७२॥
ततो वत्सेशरूपेण क्रमाद् विश्वास्य तेन सा ।
भार्या मदनवेगेन गान्धर्वविधिना कृता ॥१७३॥
तत्कालं च प्रविष्टस्तद्दृष्ट्वा योगादलक्षितः ।
योगेश्वरो विषण्णोऽभूद् वत्सेशालोकनभ्रमात् ॥१७४॥
यौगन्धरायणायैतद् गत्वोक्त्वा तन्निदेशतः ।
युक्त्या वासवदत्ताया वत्सेशं वीक्ष्य पार्श्वगम् ॥१७५॥
दृष्टो मन्त्रिवरोक्त्यैव रूपं सुप्तस्य वेदितुम् ।
कलिङ्गसेना प्रच्छन्नकामिनः सोऽगमत्पुनः ॥१७६॥
गत्वा कलिङ्गसेनायाः सुप्तायाः शयनीयके ।
सुप्तं मदनवेगं तं स्वरूपे स्थितमैक्षत ॥१७७॥

'नीति में बृहस्पति के सिवा तुम्हारे समान और कौन है। तुम्हारी सम्मति, राज्य-रूपी वृक्ष के लिए अमृत-सिंचन के समान है' ॥१६३॥

अब मैं, कलिंगसेना की गतिविधि को बुद्धि और शक्ति दोनों से ही जानने का प्रयत्न करूँगा। ऐसा कहकर योगेश्वर चला गया ॥१६४॥

उस समय, अपने भवन में बैठी हुई कलिंगसेना, राजमहल, उद्यान आदि में भ्रमण करते हुए वत्सराज को देख-देखकर तड़प रही थी ॥१६५॥

वत्सेशमय हृदयवाली कलिंगसेना मृणाल (कमलनाल) के अंगद (भुजा के आभूषण) से मनोहर लग रही थी और चन्दन का लेप करने पर भी विरहाग्नि से शान्ति नहीं प्राप्त कर पा रही थी ॥१६६॥

इसी बीच मदनवेग नाम का विद्याधरों का राजा पहले से ही कलिंगसेना को देखकर कामबाणों की गम्भीर वेदना का अनुभव कर रहा था ॥१६७॥

उसकी प्राप्ति के लिए तप करके शिवजी से वर लाभ कर लेने पर भी दूसरे पर आसक्त और दूसरे देश में गई हुई कलिंगसेना अब उसके लिए सहज में ही पाने योग्य नहीं रह गई थी ॥१६८॥

इसीलिए, अवसर की प्रतीक्षा में विद्याधरों का वह राजा, रात्रियों में, आकाश में विचरण करता हुआ एक बार कलिंगसेना के निवास-भवन के ऊपर आया ॥१६९॥

और, तपस्या से सन्तुष्ट शिवजी के उस आदेश का स्मरण करके एक बार रात के समय, अपनी विद्या के बल से वत्सराज का रूप और वेष बनाकर द्वारपाल से प्रणाम किया जाता हुआ कलिंगसेना के मन्दिर में गया। मानों मन्त्रियों द्वारा किये गये कालक्षेप को सहन न करके राजा, गुप्त रूप से स्वयं ही आ गया हो ॥१७०–१७१॥

उसे देखकर कम्पन से व्याकुल कलिंगसेना उठी। उसके उठने पर झनझनाते उसके आभूषण मानों यह कह रहे थे कि यह वह (वत्सराज) नहीं हैं ॥१७२॥

तदनन्तर, वत्सराज का रूप धारण किये हुए उस विद्याधर ने धीरे-धीरे उसे विश्वास दिलाकर गान्धर्व विधान से अपनी पत्नी बना लिया ॥१७३॥

उसी समय अन्दर घुसा हुआ और अपनी विद्या के प्रभाव से अलक्षित योगेश्वर वत्सराज को देखकर भ्रम से चकित रह गया ॥१७४॥

और, वत्सराज को यौगन्धरायण के पास बैठा हुआ देखकर उसके आदेश से उसे यह सब वृत्तान्त कहने के लिए उससे पास गया ॥१७५॥

मन्त्री के कहने से कलिंगसेना के गुप्त प्रेमी का वास्तविक रूप देखने के लिए वह पुनः लौट आया ॥१७६॥

और, सोई हुई कलिंगसेना के पास जाकर उसके बिछावन पर सोये हुए मदनवेग के वास्तविक रूप को उसने देखा ॥१७७॥

छत्रध्वजाङ्कनिर्धूलिपादाब्जं दिव्यमानुषम् ।
स्वापान्तर्हिततद्विद्यावीतरूपविवर्तनम् ॥१७८॥
तत्र गत्वा यथादृष्टं निवेद्य परितोषवान् ।
योगेश्वरो जगादासौ हृष्टो यौगन्धरायणम् ॥१७९॥
न वेत्ति मादृशः किञ्चिद् वेत्सि त्वं नीतिचक्षुषा ।
तव मन्त्रेण दुःसाध्यं सिद्धं कार्यमिदं प्रभोः ॥१८०॥
किं वा व्योम विनार्केण किं तोयेन विना सरः ।
किं मन्त्रेण विना राज्यं किं सत्येन विना वचः ॥१८१॥
इत्युक्तवन्तमामन्त्र्य प्रीतो योगेश्वरं ततः ।
प्रातर्वत्सेश्वरं द्रष्टुमगाद्यौगन्धरायणः ॥१८२॥
तमुपेत्य यथावच्च कथा प्रस्तावतोऽब्रवीत् ।
नृपं कलिङ्गसेनार्थं पृष्टकार्यविनिश्चयम् ॥१८३॥
स्वच्छन्दासौ न ते राजन् पाणिस्पर्शमिहार्हति ।
एषा हि स्वेच्छया द्रष्टुं प्रसेनजितमागता ॥१८४॥
विरक्ता वीक्ष्य तं वृद्धं त्वा प्राप्ता रूपलोभतः ।
तदन्यपुरुषासङ्गमपि स्वेच्छं करोत्यसौ ॥१८५॥
तच्छ्रुत्वा कुलकन्येयं कथमेवं समाचरेत् ।
शक्तिः कस्य प्रवेष्टुं वा मदीयान्तःपुरान्तरे ॥१८६॥
इति राज्ञोदितेऽवादीद्धीमान्यौगन्धरायणः ।
अद्यैव दर्शयाम्येतत्प्रत्यक्षं निशि देव ते ॥१८७॥
दिव्यास्तामभिवाञ्छन्ति सिद्धाद्या मानुषोऽत्र कः ।
दिव्यानां च गती रोद्धुं राजन्केनेह शक्यते ॥१८८॥
तदेहि साक्षात्पश्येति वादिना तेन मन्त्रिणा ।
सह गन्तुं मतिं चक्रे तत्र रात्रौ स भूपतिः ॥१८९॥
पद्मावत्या ऋते राज्ञ्या न विवाह्यापरेति यत् ।
प्रोक्तं देवि प्रतिज्ञातं मया निर्व्यूढमद्य तत् ॥१९०॥
इत्यथाभ्येत्य तां देवीमुक्त्वा यौगन्धरायणः ।
कलिङ्गसेना वृत्तान्तं तं तस्यै सर्वमुक्तवान् ॥१९१॥
त्वदीयशिक्षानुष्ठानफलमेतन्ममेति सा ।
देवी वासवदत्तापि प्रणताभिनन्द तम् ॥१९२॥

उस दिव्य मनुष्य के कोमल चरणकमल छत्र और ध्वजा से चिह्नित तथा निष्पंक थे। सो जाने पर छिपी हुई विद्या के कारण उसका बदला हुआ रूप समाप्त हो गया और वह स्पष्टतया अपने वास्तविक रूप में दीख रहा था ।।१७८।।

इस स्थिति को देखकर परम सन्तुष्ट योगेश्वर ने जो कुछ देखा, उसे मन्त्री यौगन्धरायण को बताते हुए उसने कहा—।।१७९।।

'हे स्वामी ! मैं कुछ भी नहीं जानता, तुम नीति की आँखों से सब कुछ जानते हो। तुम्हारे ही उपाय से यह दुःसाध्य कार्य भी सिद्ध हो गया ।।१८०।।

विना सूर्य के आकाश क्या है और विना जल के सरोवर क्या है ? विना मन्त्री के राज्य क्या है और विना सत्य के वचन क्या है ?' ।।१८१।।

इस प्रकार, कहते हुए योगेश्वर को विदा करके यौगन्धरायण प्रातःकाल ही वत्सराज से मिलने गया ।।१८२।।

उसके पास जाकर वार्त्तालाप के प्रसंग में अवसर पाकर राजा से कलिंगसेना-सम्बन्धी कार्य के लिए सम्मति पूछता हुआ मन्त्री यौगन्धरायण कहने लगा ।।१८३।।

'यह कलिंगसेना स्वैरिणी (स्वतन्त्र स्त्री) है। यह आपके हाथों से स्पर्श करने योग्य नहीं है। अपनी इच्छा से यह प्रसेनजित् राजा को देखने आई थी, किन्तु उसे वृद्ध देखकर रूप के लोभ से तुम्हारे पास आ गयी। यह दूसरे पुरुष का संग भी अपनी इच्छा से करती है' ।।१८४-१८५।।

यौगन्धरायण से ऐसा सुनकर राजा ने पूछा—'एक अच्छे कुल की कन्या, ऐसा कैसे कर सकती है और मेरे रनिवास में पर-पुरुष को घुसने की शक्ति कैसे हुई ?' ।।१८६।।

राजा के इस प्रकार प्रश्न करने पर बुद्धिमान् यौगन्धरायण कहने लगा–'महाराज ! आज ही रात में आपको सब प्रत्यक्ष दिखा दूँगा' ।।१८७।।

सिद्ध, विद्याधर आदि देवता उसे चाहते हैं, तो मनुष्यों की कथा ही क्या है। और, राजन्, दिव्य व्यक्तियों की गति को कौन रोक सकता है ? ।।१८८।।

अतः, आइए और प्रत्यक्ष देखिए। ऐसा कहते हुए मन्त्री के साथ राजा ने रात्रि के समय कलिंगसेना के रनिवास में जाने की इच्छा प्रकट की ।।१८९।।

'पद्मावती के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री का विवाह राजा से नहीं होगा, यह जो मैंने तुमसे प्रतिज्ञा की थी, उसे आज मैंने पूर्ण कर दिया' ।।१९०।।

यौगन्धरायण ने रानी वासवदत्ता के पास जाकर ऐसा कहा और कलिंगसेना का सारा वृत्तान्त उसे विस्तारपूर्वक सुना दिया ।।१९१।।

प्रणाम करती हुई वासवदत्ता ने भी 'तुम्हारी अपनी शिक्षा के अनुसार कार्य करने का यह परिणाम है'—ऐसा कहकर मन्त्री का अभिनन्दन किया ।।१९२।।

ततो निशीथे संसुप्ते जने वत्सेश्वरो ययौ ।
अहं कलिङ्गसेनायाः स च यौगन्धरायणः ॥१९३॥

अदृष्टश्च प्रविष्टोऽत्र तस्या निद्राजुषोऽन्तिके ।
सुप्तं मदनवेगं तं स्वरूपस्थं ददर्श सः ॥१९४॥

हन्तुमिच्छति यावच्च स तं साहसिकं नृपः ।
तावत्स विद्यया विद्याधरोऽभूत्प्रतिबोधितः ॥१९५॥

प्रबुद्धश्च स निर्गत्य झगित्युदपतन्नभः ।
क्षणात्कलिङ्गसेनाऽपि सा प्रबुद्धाभवत्ततः ॥१९६॥

शून्यं शयनमालोक्य जगाद च कथं हि माम् ।
पूर्वं प्रबुध्य वत्सेशः सुप्तां मुक्त्वैव गच्छति ॥१९७॥

तदाकर्ण्य स वत्सेशमाह यौगन्धरायणः ।
एषा विध्वंसितानेन शृणु त्वद्रूपधारिणा ॥१९८॥

सैष योगबलाज्ज्ञात्वा साक्षात्ते दर्शितो मया ।
किं तु दिव्यप्रभावत्वादसौ हन्तुं न शक्यते ॥१९९॥

इत्युक्त्वा स च राजा च सह तामुपजग्मतुः ।
कलिङ्गसेना साप्येतौ दृष्ट्वा तस्थौ कृतादरा ॥२००॥

अधुनैव क्व गत्वा त्वं राजन् प्राप्तः समन्त्रिकः ।
इति ब्रुवाणामवदत्तां स यौगन्धरायणः ॥२०१॥

कलिङ्गसेने केनापि मायावत्सेशरूपिणी ।
संमोह्य परिणीतासि न त्वं मत्स्वामिनाधुना ॥२०२॥

तच्छ्रुत्वा सातिसम्भ्रान्ता विद्धेव हृदि पत्रिणा ।
कलिङ्गसेना वत्सेशं जगादोदश्रुलोचना ॥२०३॥

गान्धर्वविधिनाहं ते परिणीतापि विस्मृता ।
किंस्विद्राजन् यथापूर्वं दुष्यन्तस्य शकुन्तला ॥२०४॥

इत्युक्तः स तया राजा तामुवाचाननताननः ।
सत्यं न परिणीतासि मयाद्यैवागतो ह्यहम् ॥२०५॥

इत्युक्तवन्तं वत्सेशं मन्त्री यौगन्धरायणः ।
एह्रीत्युक्त्वा ततः स्वैरामनैषीद्राजमन्दिरम् ॥२०६॥

तदनन्तर, रात में सभी मनुष्यों के सो जाने पर वत्सराज और यौगन्धरायण कलिंगसेन के निवास-भवन में गये। और, अलक्षित रूप से सोए हुए मदनवेग के वास्तविक स्वरूप को उन्होंने देखा ॥१९३-१९४॥

जबतक राजा उस साहसी मदनवेग को मारने के लिए तलवार खींचता है, तबतक वह जगकर अपनी विद्या के प्रभाव से विद्याधर बन गया ॥१९५॥

और, शीघ्र ही उठकर एवं भवन से बाहर निकलकर आकाश में उड़ गया। इतने में ही कलिंगसेना भी सहसा उठ गई ॥१९६॥

वह अपने पर्यंक को सूना देखकर बोली—'मुझे विना जगाये ही स्वयं पहले जगकर आज वत्सराज क्यों चले गये ?' ॥१९७॥

यह सुनकर यौगन्धरायण ने वत्सराज से कहा—'सुनो ! इस विद्याधर ने तुम्हारा रूप धारण करके इसे भ्रष्ट कर दिया है। यह मैंने योगबल से जानकर तुम्हें प्रत्यक्ष दिखा दिया। किन्तु, वह दिव्यशक्तिशाली है। तुम उसे मार नहीं सकते।' यौगन्धरायण के ऐसा कहने पर राजा और मन्त्री दोनों प्रत्यक्ष होकर कलिंगसेना के पास पहुँचे। कलिंगसेना भी उन्हें देखकर उनका समुचित सत्कार करती हुई उठ खड़ी हुई ॥१९८–२००॥

और कहने लगी–'राजन् ! अभी ही जाकर फिर आप मन्त्री के साथ कैसे पधारे !' ऐसा कहती हुई कलिंगसेना से मन्त्री यौगन्धरायण बोला—॥२०१॥

'हे कलिंगसेना ! तुझे किसी झूठे व्यक्ति ने, वत्सराज का रूप धारण करके भ्रम में डालकर विवाहित कर लिया। मेरे इस स्वामी से तू विवाहित नहीं हुई है' ॥२०२॥

यह सुनते ही मानों तीर से विदीर्ण हृदय के समान अत्यन्त व्याकुल कलिंगसेना आँसू बहाती हुई वत्सराज से कहने लगी–॥२०३॥

'गान्धर्व विधि से विवाहित कर लेने पर आपने मुझे वैसे ही भुला दिया, जैसे दुष्यन्त ने शकुन्तला को भुला दिया था। यह क्या आश्चर्य है ? ॥२०४॥

कलिंगसेना के इस प्रकार कहने पर राजा ने नीचे मुँह किये हुए कहा—'सत्य है, मैंने तुझसे विवाह नहीं किया। मैं तो आज ही यहाँ आया हूँ' ॥२०५॥

ऐसा कहते हुए राजा को मन्त्री यौगन्धरायण 'आइए' ऐसा कहकर राजभवन में ले गया ॥२०६॥

ततः समन्त्रिके राज्ञि गते सात्र विदेशगा ।
मृगीव यूथविभ्रष्टा परित्यक्तस्वबान्धवा ॥२०७॥

सम्भोगविदलत्पत्रमुखाब्जा गजपीडिता ।
पद्मिनीव परिक्षिप्तकबरीभ्रमरावलिः ॥२०८॥

विनष्टकन्यकाभावा निरुपायक्रमा सती ।
कलिङ्गसेना गगनं वीक्षमाणेदमब्रवीत् ॥२०९॥

वत्सेशरूपिणा येन परिणीतास्मि केनचित् ।
प्रकाशः सोऽस्तु कौमारः स एव हि पतिर्मम ॥२१०॥

एवं तयोक्ते गगनात्सोऽत्र विद्याधराधिपः ।
अवातरद्दिव्यरूपो हारकेयूरराजितः ॥२११॥

को भवानिति पृष्टश्च तयैवं स जगाद ताम् ।
अहं मदनवेगाख्यस्तन्वि विद्याधराधिपः ॥२१२॥

मया च प्राग्विलोक्य त्वां पुरा पितृगृहे स्थिताम् ।
त्वत्प्राप्तिदस्तपः कृत्वा वरः प्राप्तो महेश्वरात् ॥२१३॥

वत्सेश्वरानुरक्ता च तद्रूपेण मया द्रुतम् ।
अवृत्ततद्विवाहैव परिणीतासि युक्तितः ॥२१४॥

इति वाक्सुधया तस्य श्रुतिमार्गप्रविष्टया ।
किञ्चित्कलिङ्गसेनाभूदुच्छ्वासितहृदम्बुजा ॥२१५॥

अथ स मदनवेगस्तां समाश्वास्य कान्तां
विहितधृतिवितीर्णस्वर्णराशिः स तस्यै ।
उचित इति तयान्तर्बद्धसद्भर्तृभक्तिः
पुनरुपगमनाय द्यां तदैवोत्पपात ॥२१६॥

दिव्यास्पदं स्वपतिसद्म न मर्त्यगम्यं
कामात्पितुर्भवनमुज्झितमित्यवेक्ष्य ।
तत्रैव वस्तुमथ सापि कलिङ्गसेना
चक्रे धृतिं मदनवेगकृताभ्यनुज्ञा ॥२१७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके सप्तमस्तरङ्गः ।

इस प्रकार, मन्त्री के साथ राजा के चले जाने पर अपने बन्धु-बान्धवों से छूटी हुई और विदेश में पड़ी हुई कलिंगसेना झुण्ड से बिछुड़ी हुई हरिणी के समान, हाथी के पैरों से रौंदी हुई कमलिनी के समान विवर्ण मुखवाली, भ्रमरों से घिरी हुई पद्मिनी के समान बिखरे हुए केशोंवाली और कौमार के नष्ट होने से मलिन एवं निरुपाय कलिंगसेना आकाश की ओर देखती हुई यह कहने लगी—॥२०७–२०६॥

'वत्सराज का रूप धारण करके जिसने मुझे विवाहित किया है, वह मेरे कौमार का हरण करनेवाला प्रकट हो। वही मेरा पति है' ॥२१०॥

उसके ऐसा कहते ही वह विद्याधरों का राजा मदनवेग हार और केयूर पहने हुए दिव्य रूप से उतरकर आया ॥२११॥

'तुम कौन हो ?' कलिंगसेना के इस प्रकार पूछने पर मदनवेग ने उससे कहा—'हे सुन्दरी ! मैं मदनवेग नाम का विद्याधरों का राजा हूँ। मैंने तुझे पहले ही तेरे पिता के घर में देखा था और तपस्या करके तुझे प्राप्त करने वाला वर शिवजी से प्राप्त किया है ॥२१२-२१३॥

तू वत्सराज पर आसक्त थी, इसलिए मैंने शीघ्र ही उससे विवाह होने के पूर्व उपाय करके तुझे विवाहित कर लिया है' ॥२१४॥

मदनवेग की ऐसी वाणी-रूपी अमृतधारा ने कानों के मार्ग से कलिंगसेना के हृदय में प्रवेश कर उसके हृदय-कमल को प्रफुल्लित और विकसित कर दिया ॥२१५॥

तदनन्तर, वह मदनवेग, उस अपनी प्यारी पत्नी को धीरज बँधाकर और उसे स्वर्ण की प्रचुर राशि प्रदान कर, 'यह भी अच्छा ही हुआ' ऐसा सोचती हुई और हृदय में पति-भक्ति को प्रतिष्ठित करती हुई कलिंगसेना को फिर आने का आश्वासन देकर आकाश में उड़ गया ॥२१६॥

'अपने पति का स्थान दैवी है, मनुष्य द्वारा जानने योग्य नहीं है और अपने पिता का घर कामवश छोड़ दिया'—ऐसा सोचकर कलिंगसेना ने मदनवेग के द्वारा दिये आश्वासन के प्रति विश्वस्त होकर धीरज बाँधा ॥२१७॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-रचित कथासरित्सागर के मदनमंचुका लम्बक का सप्तम तरंग समाप्त।

अष्टमस्तरङ्गः

वत्सराजस्य कथा (पूर्वानुवृत्ता)

तत कलिङ्गसेनायाः स्मरन्ननुपमं वपुः ।
एकदा मन्मथाविष्टो निशि वत्सेश्वरोऽभवत् ।।१।।
उत्थाय खड्गहस्तः सन् गत्वैव प्रविवेश सः ।
एकाकी मन्दिरं तस्याः कृतातिथ्यादरस्तया ।।२।।
तत्र प्रार्थयमानस्तां भार्यार्थे स महीपतिः ।
परपत्न्यहमस्मीति प्रत्याख्यातस्तयाब्रवीत् ।।३।।
तृतीयं पुरुषं प्राप्ता यतस्त्वमसि बन्धकी ।
परदारगतो दोषो न मे त्वद्गमने ततः ।।४।।
एवं कलिङ्गसेना सा राज्ञोक्ता प्रत्युवाच तम् ।
त्वदर्थमागता राजन्नहं विद्याधरेण हि ।।५।।-
व्यूढा मदनवेगेन स्वैरं त्वद्रूपधारिणा ।
स एवैकश्च भर्त्ता मे तत्कस्मादस्मि बन्धकी ।।६।।
किं वातिक्रान्तबन्धूनां स्वेच्छाचारहतात्मनाम् ।
इमास्ता विपदः स्त्रीणां कुमारीणां कथैव का ।।७।।
दृष्टाशकुनया सख्या निषिद्धापि व्यसर्जयम् ।
त्वत्पार्श्वं यदहं दूतं तस्य चेदं फलं मम ।।८।।
तत्स्पृश्यसि बलान्मां चेत् प्राणांस्त्यक्ष्याम्यहं ततः ।
का नाम कुलजा हि स्त्री भर्तृद्रोहं करिष्यति ।।९।।

पतिव्रताया वैश्यपत्न्याः कथा

तथा च कथयाम्यत्र तव राजन्कथां शृणु ।
पुराभूदिन्द्रदत्ताख्यश्चेदिदेशमहीपतिः ।।१०।।
स पापशोधने तीर्थे कीर्त्यै देवकुलं महत् ।
चक्रे यशःशरीरार्थी शरीरं वीक्ष्य भङ्गुरम् ।।११।।
तच्च भक्तिरसाच्छश्वद् वीक्षितुं स ययौ नृपः ।
सर्वश्च तीर्थस्नानाय सदा तत्राययौ जनः ।।१२।।
एकदा च ददर्शैकां तीर्थस्नानार्थमागताम् ।
स राजात्र वणिग्भार्यां प्रवासस्थितभर्तृकाम् ।।१३।।

अष्टम तरंग

वत्सराज की कथा (अनुक्रमशः)

एक बार रात के समय वत्सराज उदयन, कलिंगसेना के अनुपम सौन्दर्य का स्मरण करके कामावेश से क्षुब्ध (उत्तेजित) हो गया ॥१॥

और, उठकर हाथ में नंगी तलवार लिये अकेले ही उसके भवन में गया। कलिंगसेना ने आदर-सत्कार के साथ उसका स्वागत किया ॥२॥

तब राजा ने उससे पत्नी बनने की प्रार्थना की। उत्तर में कलिंगसेनां ने कहा—'अब मैं दूसरे की पत्नी हो गई हूँ'—ऐसा कहकर उसे रोक दिया ॥३॥

'तू तीसरे पुरुष के पास चली गई, इसलिए व्यभिचारिणी हो गई। अतः, तेरा समागम करने में कोई दोष नहीं', वत्सराज ने कहा ॥४॥

राजा के इस प्रकार कहने पर कलिंगसेना ने कहा—'हे राजन्! मैं तुम्हारे लिए यहाँ आ गई, किन्तु तुम्हारा रूप धारण करनेवाले मदनवेग नामक विद्याधर ने गुप्त रूप से मेरे साथ विवाह कर लिया। वही मेरा एक पति है, अब मैं व्यभिचारिणी कैसे हुई ॥५–६॥

अपने सम्बन्धियों का परित्याग कर स्वेच्छाचार से आत्मपतन करनेवाली स्त्रियों के लिए यदि ये विपत्तियाँ हैं, तो कुमारी कन्याओं की तो बात ही क्या? ॥७॥

अशकुन को जाननेवाली सहेली द्वारा रोके जाने पर भी मैंने तुम्हारे पास जो दूत भेजा, उसी का यह परिणाम है ॥८॥

इसलिए, यदि बलपूर्वक मेरा स्पर्श करोगे, तो मैं अपने प्राण त्याग दूँगी। कौन कुलीन स्त्री पति के साथ द्रोह (विश्वासघात) करेगी' ॥९॥

पतिव्रता वैश्यपत्नी की कथा

इस विषय में तुमसे एक कथा कहती हूँ, सुनो—पहले समय में चेदि-देश का राजा इन्द्रदत्त था ॥१०॥

उस राजा ने शरीर को क्षणभंगुर समझकर यश-रूपी शरीर की रक्षा के लिए पापशोधन नामक तीर्थ में एक बहुत बड़ा देव-मन्दिर बनवाया ॥११॥

एक बार वह राजा भक्ति से प्रेरित हो, उस मन्दिर को देखने के लिए वहाँ गया। वहाँ पर तीर्थस्नान के लिए प्रायः सभी मनुष्य आये हुए थे ॥१२॥

एक बार राजा ने तीर्थस्नान के लिए आई हुई एक वैश्यवधू को देखा, जिसका पति व्यापार के निमित्त प्रवास (यात्रा) में था ॥१३॥

स्वच्छकान्तिसुधासिक्तां चित्ररूपविभूषणाम् ।
जङ्गमामिव कन्दर्पराजधानीं मनोरमाम् ।।१४।।
त्वयाहं विजये विश्वमिति प्रीत्येव पादयोः ।
आश्लिष्टां पञ्चबाणस्य तूणीरद्वयशोभया ।।१५।।
सा दृष्ट्वैव मनस्तस्य जहार नृपतेस्तथा ।
यथान्विष्य गृहं तस्याः स ययौ विवशो निशि ।।१६।।
तां च प्रार्थयमानः सन् जगदे स तया नृपः ।
रक्षिता त्वं न युक्तं ते परदाराभिमर्षणम् ।।१७।।
हठात्स्पृशसि वा मां चेदधर्मस्ते महान्भवेत् ।
मरिष्यामि च सद्योऽहं न सहिष्ये च दूषणम् ।।१८।।
इत्युक्तोऽपि तया तस्मिन् बलं राज्ञि चिकीर्षति ।
शीलभ्रंशभयात्तस्याः सद्यो हृदयमस्फुटत् ।।१९।।
यद्दृष्ट्वा सपदि ह्रीतः स गत्वैव यथागतम् ।
दिनैस्तेनानुतापेन राजा पञ्चत्वमाययौ ।।२०।।
इत्याख्याय कथामेतां सभयप्रश्रयानता ।
भूयः कलिङ्गसेना सा वत्सेश्वरमभाषत ।।२१।।
तस्मादधर्मे मत्प्राणहरणे मा मतिं कृथाः ।
इहाश्रितताया वस्तुं मे देहि याम्यन्यतोऽन्यथा ।।२२।।
एतत्कलिङ्गसेनातः श्रुत्वा वत्सेश्वरोऽथ सः ।
विचार्य विरतो भूत्वा धर्मज्ञस्तामभाषत ।।२३।।
राजपुत्रि वस स्वेच्छं भर्त्रा सममिहामुना ।
नाहं वक्ष्यामि ते किञ्चिदिदानीं मा भयं कृथाः ।।२४।।
इत्युक्त्वैव गते तस्मिन् स्वैरं राज्ञि स्वमन्दिरम् ।
श्रुत्वा मदनवेगस्तन्नभसोऽवततार सः ।।२५।।
प्रिये साधु कृतं नैवमकरिष्यः शुभे यदि ।
नाभविष्यच्छुभं यस्मान्नासहिष्यत तन्मया ।।२६।।
इत्युक्त्वा सान्त्वयित्वा तां निशां नीत्वा तया सह ।
तत्रैव गच्छन्नागच्छन्नासीद् विद्याधरोऽथ सः ।।२७।।
कलिङ्गसेनापि च सा पत्यौ विद्याधरेश्वरे ।
तत्रास्त मर्त्यभावेऽपि दिव्यभोगसुखान्विता ।।२८।।

स्वच्छ लावण्यमय सुधा से सींची हुई आश्चर्यमय रूपराशि, आभूषणों से अलंकृत और मन को आकृष्ट करनेवाली कामदेव की राजधानी के समान वह स्त्री थी, और वह स्त्री 'तेरे द्वारा मैं विश्व-विजय करूँगा'—मानों इस प्रकार कहनेवाले कामदेव के तरकस-रूपी दोनों (पिंडलियों) से युक्त थी ।।१४-१५।।

देखते ही उस स्त्री ने राजा के मन को ऐसा हर लिया कि विवश होकर वह राजा उसके घर का पता लगाकर रात में वहाँ गया ।।१६।।

प्रार्थना करते हुए राजा से उसने कहा—'तुम तो प्रजा के रक्षक हो। तुम्हें परस्त्री का धर्म नहीं बिगाड़ना चाहिए ।।१७।।

यदि बलपूर्वक मुझे छुओगे, तो तुम्हें पाप लगेगा। मैं भी तुरन्त मर जाऊँगी। इस कलंक का कदापि सहन न करूँगी' ।।१८।।

ऐसा कहने पर भी राजा के बलात्कार करने की चेष्टा करने पर शील नाश होने के भय से उस वैश्य-वधू का हृदय तुरन्त फट गया। यह देखकर लज्जित राजा लौट गया और उसी पश्चात्ताप से वह भी मर गया ।।१९-२०।।

इस प्रकार, इस कथा को कहकर भय और नम्रता से भरी हुई कलिंगसेना ने वत्सराज से कहा—'इसलिए मेरे प्राण हरण करनेवाले अधर्म में मन को न लगाओ। मैं तुम्हारी आश्रित हूँ। तुम मुझे यहाँ रहने दो अथवा मैं यहाँ से चली जाऊँ' ।।२१-२२।।

कलिंगसेना की ऐसी बातें सुनकर धर्मात्मा वत्सराज पापकर्म से विरत होकर उससे कहने लगा—'हे राजकुमारी ! तुम अपने पति के साथ अपनी इच्छा से यहाँ रहो। मैं तुम्हें कुछ न कहूँगा। अब भय न करो' ।।२३-२४।।

ऐसा कहकर राजा के अपने भवन में चले जाने पर, यह सब समाचार सुननेवाला मदनवेग आकाश से उतरा ।।२५।।

और, अपनी पत्नी कलिंगसेना से बोला—'तूने बहुत अच्छा किया। यदि इसके विपरीत करती, तो मैं कदापि सहन न करता' ।।२६।।

ऐसा कहकर कलिंगसेना को धीरज बँधाकर और उसके साथ रात बिताकर मदनवेग, उसी भवन में आना-जाना करने लगा ।।२७।।

वह कलिंगसेना भी अपने पति विद्याधर के साथ मनुष्य-शरीर से भी दिव्य भोगों का उपभोग करती हुई वहाँ रहने लगी ।।२८।।

वत्सराजोऽपि तच्चिन्तां मुक्त्वा मन्त्रिवच: स्मरन् ।
ननन्द लब्धं मन्वानो देवीं राज्यं सुतं तथा ।।२९।।
देवी वासवदत्ता च मन्त्री यौगन्धरायण: ।
अभूतां निर्वृतौ सिद्धे नीतिकल्पलताफले ।।३०।।

मदनमञ्चुकाजन्मकथा

अथ गच्छत्सु दिवसेष्वापाण्डुमुखपङ्कजा ।
दध्रे कलिङ्गसेना सा गर्भमुत्पन्नदोहदा ।।३१।।
तुङ्गौ विरेजतुस्तस्या: स्तनावाश्यामचूचुकौ ।
निधानकुम्भौ कामस्य मदमुद्राङ्किताविव ।।३२।।
ततो मदनवेगस्तामुपेत्य पतिरभ्यधात् ।
कलिङ्गसेने दिव्यानामस्माकं समयोऽस्त्ययन् ।।३३।।
जातं मानुषगर्भं यन्मुक्त्वा यामो विदूरत: ।
कण्वाश्रमे न तत्याज मेनका किं शकुन्तलाम् ।।३४।।
त्वं यद्यप्यप्सरा: पूर्वं तदप्यविनयान्निजात् ।
शक्रशापेन सम्प्राप्ता मानुष्यं देवि साम्प्रतम् ।।३५।।
तेनैव बन्धकीशब्दो जातो साध्व्या अपीह ते ।
तस्मादपत्यं रक्षेस्त्वं स्थानं यास्याम्यहं निजम् ।।३६।।
स्मरिष्यसि यदा मां च सन्निधास्ये तदा तव ।
एवं कलिङ्गसेनां तामुक्त्वा साश्रुविलोचनाम् ।।३७।।
समाश्वास्य च दत्त्वा च तस्यै सद्रत्नसञ्चयम् ।
तच्चित्त: समयाकृष्टो ययौ विद्याधरेश्वर: ।।३८।।
कलिङ्गसेनाप्यत्रासीदपत्याशां सखीमिव ।
आलम्ब्य वत्सराजस्य भुजच्छायामुपाश्रिता ।।३९।।
अत्रान्तरे कृतवतीं साङ्गभर्त्राप्तये तप: ।
आदिदेश रतिं भार्यामनङ्गस्याम्बिकापति: ।।४०।।
वत्सराजगृहे जातो दग्धपूर्व: स ते पति: ।
नरवाहनदत्ताख्यो योनिजो मद्विलङ्घनात् ।।४१।।
मदाराधनतस्त्वं तु मर्त्यलोकेऽप्ययोनिजा ।
जनिष्यसे ततस्तेन भर्त्रा साङ्गेन योक्ष्यसे ।।४२।।
एवमुक्त्वा रतिं शम्भु: प्रजापतिमथादिशत् ।
कलिङ्गसेना तनयं सोष्यते दिव्यसम्भवम् ।।४३।।

वत्सराज भी कलिंगसेना की चिन्ता छोड़कर मन्त्री यौगन्धरायण की बात सोचता हुआ महारानी, राज्य और पुत्र को मानों पुनः प्राप्त कर प्रसन्न रहने लगा ॥२९॥

नीति-रूपी कल्पलता के फलने-पकने पर रानी वासवदत्ता और मन्त्री यौगन्धरायण भी निश्चिन्त हो गये ॥३०॥

मदनमञ्चुका के जन्म की कथा

कुछ दिनों के व्यतीत होने पर हल्के पीले और कमल की तरह मुँहवाली तथा विविध प्रकार की इच्छाएँ रखनेवाली कलिंगसेना ने गर्भ धारण किया ॥३१॥

कालिमा लिये हुए उसके उत्तुंग स्तनों के अग्रभाग, कामदेव की मद-मुद्रा से अंकित उसके कोष (खजाने) के घड़ों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३२॥

तब उसके पति मदनवेग ने एक बार उससे कहा—'हे कलिंगसेना, दिव्य व्यक्तियों का यह नियम है कि मनुष्य-योनि में उत्पन्न अपने गर्भ को छोड़कर वे दूर चले जाते हैं। क्या मेनका ने कण्व के आश्रम में शकुन्तला को नहीं छोड़ दिया था ? ॥३३-३४॥

यद्यपि तू भी पूर्वजन्म की अप्सरा है, किन्तु अपने ही अविनय (उद्दण्डता) के कारण इन्द्र के शाप से मानव-योनि को प्राप्त हुई है ॥३५॥

इसी कारण पतिव्रता होने पर भी तूने 'बन्धकी' (व्यभिचारिणी) यह विशेषण प्राप्त किया। इसलिए, तू अपनी सन्तान की रक्षा करना और मैं अपने स्थान को चला जाऊँगा ॥३६॥

जब तू मुझे स्मरण करेगी, तभी तेरे समीप आ जाऊँगा।' विद्याधर ने आँसू बहाती हुई कलिंगसेना से इस प्रकार कहा ॥३७॥

और, उसे धीरज बँधाकर तथा अच्छे-अच्छे रत्न देकर, उसी में मन लगाया हुआ और समय हो जाने के कारण खिंचा हुआ विद्याधरराज चला गया ॥३८॥

कलिंगसेना भी सखी के समान सन्तान की आशा को लिये हुई वत्सराज की छत्रच्छाया के सहारे वहीं रहने लगी ॥३९॥

इसी बीच कामदेव की पत्नी रति ने सम्पूर्ण शरीरयुक्त पति (कामदेव) की प्राप्ति के लिए शिवजी की तपस्या की और शिवजी ने उसे आज्ञा दी कि 'मेरे द्वारा पहले भस्म किया गया वह तेरा पति (कामदेव) वत्सराज के घर में उत्पन्न हुआ है ? उसका नाम नरवाहनदत्त है। मेरे साथ उद्दण्डता करने के कारण वह देवता होकर भी योनिज है। मेरी आराधना के फलस्वरूप तू भी मर्त्यलोक में अयोनिज होकर सम्पूर्ण शरीरवाले पति से मिलेगी' ॥४०-४२॥

रति से ऐसा कहकर शिवजी ने प्रजापति से कहा—'कलिंगसेना दिव्य वीर्य से उत्पन्न पुत्र का प्रसव करेगी ॥४३॥

तं हृत्वा मायया तस्यास्तत्स्थाने त्वमिमां रतिम् ।
निर्माय मानुषीं कन्यां त्यक्तदिव्यतनुं क्षिपेः ॥४४॥
इतीश्वराज्ञामादाय मूर्ध्नि वेधस्यथो गते ।
कलिङ्गसेना प्रसवं प्राप्ते काले चकार सा ॥४५॥
जातमात्रं सुतं तस्या हृत्वैवात्र स्वमायया ।
रतिं तां कन्यकां कृत्वा न्यधाद् विधिरलक्षितम् ॥४६॥
सर्वश्च तत्र तामेव कन्यां जातामलक्षत ।
दिवाप्यकाण्डप्रतिपच्चन्द्रलेखामिवोदिताम् ॥४७॥
कान्तिद्योतिततद्वासगृहां निर्जित्य कुर्वतीम् ।
रत्नदीपशिखाश्रेणिर्लज्जिता इव निष्प्रभाः ॥४८॥
कलिङ्गसेना तां दृष्ट्वा जातामसदृशीं सुताम् ।
पुत्रजन्माधिकं तोषादुत्सवं विततान सा ॥४९॥
अथ वत्सेश्वरो राजा सदेवीकः समन्त्रिकः ।
कन्यां कलिङ्गसेनाया जातां शुश्राव तादृशीम् ॥५०॥
श्रुत्वा च स नृपोऽकस्मादुवाचेश्वरचोदितः ।
देवीं वासवदत्तां तां स्थिते यौगन्धरायणे ॥५१॥
जाने कलिङ्गसेनैषा दिव्या स्त्री शापतश्च्युता ।
अस्यां जाता च कन्येयं दिव्यैवाश्चर्यरूपधृक् ॥५२॥
तदसौ कन्यका तुल्या रूपेण तनयस्य मे ।
नरवाहनदत्तस्य महादेवीत्वमर्हति ॥५३॥
तच्छ्रुत्वा जगदे राजा देव्या वासवदत्तया ।
महाराज किमेवं त्वमकस्मादद्य भाषसे ॥५४॥
कुलद्वयविशुद्धोऽयं क्व पुत्रस्ते बत क्व सा ।
कलिङ्गसेनातनया बन्धकीगर्भसम्भवा ॥५५॥
श्रुत्वैतद् विमृशन् राजा सोऽब्रवीन्नह्यहं स्वतः ।
वदाम्येतत्प्रविश्यान्तः कोऽपि जल्पयतीव माम् ॥५६॥
नरवाहनदत्तस्य कन्येयं पूर्वनिर्मिता ।
भार्येत्येवं वदन्तीं च शृणोमीव गिरं दिवः ॥५७॥
कलिङ्गसेना किं चासावेकपत्नी कुलोद्गता ।
पूर्वकर्मवशात्त्वस्या बन्धकीशब्दसम्भवः ॥५८॥

तुम उसका अपहरण करके उसके स्थान पर इस रति को मनुष्य बनाकर रख देना' ।।४४।।

इस प्रकार, ईश्वर (शिव) की आज्ञा को शिर से स्वीकार करके ब्रह्मा के चले जाने के पश्चात् समय आने पर कलिंगसेना ने प्रसव किया ।।४५।।

इतने में ही प्रजापति ने अपनी माया के प्रभाव से उसके पुत्र का अपहरण करके रति को मानुषी कन्या बनाकर अलक्षित रूप से उसके समीप रख दिया ।।४६।।

दिन में भी अचानक प्रतिपदा की चन्द्रलेखा के समान उदित उस कन्या की उत्पत्ति को वहाँ रहनेवाले सभी लोगों ने सत्य समझा ।।४७।।

वह कन्या, अपने शरीर की कान्ति से, रत्नों की प्रभा को निस्तेज करती हुई प्रसूति-गृह को आलोकित कर रही थी ।।४८।।

कलिंगसेना ने अनन्यसदृशी (अद्भुत) कन्या को देखकर पुत्रजन्म से भी अधिक हर्ष और प्रसन्नता के साथ व्यापक उत्सव मनाया ।।४६।।

तदनन्तर, वत्सराज उदयन ने अपनी रानियों और मन्त्रियों के साथ कलिंगसेना द्वारा उत्पन्न हुई अनुपम कन्या का वृत्तान्त सुना ।।५०।।

सुनते ही भगवत्प्रेरित राजा ने रानी और यौगन्धरायण के सामने ही इस प्रकार कहा—'मैं समझता हूँ कि यह कलिंगसेना शाप से पतित कोई स्वर्गीय स्त्री है। इससे उत्पन्न हुई यह कन्या भी दिव्य ही है; क्योंकि इसका रूप आश्चर्यमय है ।।५१-५२।।

इसलिए, यह कन्या रूप से मेरे बालक के समान है। यह नरवाहनदत्त की महारानी होने के लायक है ।।५३।।

राजा के ऐसा कहने पर वासवदत्ता ने राजा से कहा—'महाराज, आज तुम यह क्या कह रहे हो ? कहाँ मातृकुल और पितृकुल दोनों से शुद्ध यह तुम्हारा पुत्र और कहाँ व्यभिचारिणी से उत्पन्न कलिंगसेना की कन्या ?'।।५४-५५।।

यह सुनकर सोचते हुए राजा ने कहा–'यह मैं स्वयं नहीं कह रहा हूँ, बल्कि मेरे अन्तर में बैठा हुआ कोई मुझसे कहलवा रहा है ।।५६।।

और, ऐसी आकाशवाणी भी सुन रहा हूँ कि यह कन्या नरवाहनदत्त की पूर्वजन्म की पत्नी है। साथ ही, उच्चकुलप्रसूता कलिंगसेना भी एक पतिव्रता स्त्री है। पूर्वजन्म-कृत कर्म के कारण उसके लिए 'बन्धकी' शब्द का प्रयोग हुआ है ।।५७-५८।।

इति राज्ञोदिते प्राह मन्त्री यौगन्धरायणः ।
श्रूयते देव यच्चक्रे रतिर्दग्धे स्मरे तपः ॥५९॥
मर्त्यलोकावतीर्णेन सशरीरेण सङ्गमः ।
मर्त्यभावगतायास्ते स्वेन भर्त्रा भविष्यति ॥६०॥
इति चादाद् वरं शर्वो रत्यै स्वपतिमीप्सवे ।
कामावतारश्चोक्तः प्राग्दिव्यवाचा सुतस्तव ॥६१॥
रत्यावतरणीयं च मर्त्यभावे हराज्ञया ।
गर्भग्राहिकया चाद्य ममैवं वर्णितं रहः ॥६२॥
मया कलिङ्गसेनाया गर्भः प्राग्गर्भशय्यया ।
युक्तो दृष्टस्तदैवान्यदपश्यं तद्विवर्जितम् ॥६३॥
तदाश्चर्यं विलोक्याहं तवाख्यातुमिहागता ।
इति स्त्रिया तयोक्तं मे जातैवा प्रतिभाति ते ॥६४॥
तज्जाने मायया देवैः सैषा रतिरयोनिजा ।
कलिङ्गसेनातनया गर्भचौर्येण निर्मिता ॥६५॥
भार्या कामावतारस्य पुत्रस्य तव भूपते ।
तथा चात्र कथामेतां यक्षसम्बन्धिनीं शृणु ॥६६॥
भृत्यो वैश्रवणस्याभूद्विरूपाक्ष इति श्रुतः ।
यक्षो निधानलक्षाणां प्रधानाध्यक्षतां गतः ॥६७॥
मथुरायां बहिःसंस्थं निधानं स च रक्षितुम् ।
यक्षं नियुक्तवानेकं शिलास्तम्भमिवाचलम् ॥६८॥
तत्र तन्नगरीवासी कश्चित्पाशुपतो द्विजः ।
निधानान्वेषणायागात् खन्यवादी कदाचन ॥६९॥
स मानुषवसादीपहस्तो यावत्परीक्षते ।
स्थानं तावत्तदस्यात्र कराद्दीपः पपात सः ॥७०॥
लक्षणेन च तेनात्र स्थितं निधिमवेत्य सः ।
उद्घाटयितुमारेभे सहान्यैः सखिभिर्द्विजैः ॥७१॥
अथ योऽसौ नियुक्तोऽभूद्यक्षो रक्षाविधौ स तत् ।
दृष्ट्वा गत्वा यथावस्तु विरूपाक्षं व्यजिज्ञपत् ॥७२॥
गच्छ व्यापादय क्षिप्रं क्षुद्रांस्तान्खन्यवादिनः ।
इत्यादिदेश तं यक्षं विरूपाक्षः स कोपनः ॥७३॥

राजा के इस प्रकार कहने पर मन्त्री यौगन्धरायण ने कहा—'महाराज, सुना जाता है कि कामदेव के दग्ध हो जाने पर उसकी पत्नी रति ने तपस्या की कि मर्त्यलोक में अवतीर्ण सशरीर कामदेव से मेरा समागम हो। तपस्या से प्रसन्न होकर अपने पति को चाहती हुई रति को वर मिला कि तू भी मनुष्य-योनि में जन्म लेकर अपने पति से मिलेगी ॥५९–६०॥

पहले ही दिव्यवाणी ने तुम्हारे पुत्र को कामदेव का अवतार घोषित किया है। यह कन्या भी शिवजी की आज्ञा से रति के अवतार-रूप में उत्पन्न हुई है। यह बात प्रसव करानेवाली धात्री ने एकान्त में मुझसे कही है ॥६१–६२॥

उसने बताया कि मैंने कलिंगसेना के गर्भ को पहले शय्या पर देखा था, उसी समय उसे परिवर्त्तित रूप में देखा ॥६३॥

उस आश्चर्य को देखकर ही मैं तुम्हें कहने आई हूँ। इस प्रकार, उस स्त्री ने मुझसे कहा और मेरी बुद्धि भी यही कहती है। अतः, मैं समझता हूँ कि देवताओं ने अपनी माया के प्रभाव से उस अयोनिजा रति को कन्या बनाकर वहाँ रख दिया और वास्तविक गर्भ को तिरोहित कर दिया है ॥६४-६५॥

यही कन्या, कामदेव के अवतार तुम्हारे पुत्र नरवाहनदत्त की पत्नी है। इस सम्बन्ध में मैं एक यक्ष की कथा कहता हूँ, सुनो'—॥६६॥

विरूपाक्ष नामक एक यक्ष, कुबेर का भृत्य था। वह लाखों खजानों का प्रधानाध्यक्ष बन गया ॥६७॥

उसने मथुरा नगरी के बाहरी भाग में स्थित एक खजाने की रक्षा के लिए पत्थर के स्तम्भ के समान एक यक्ष को नियुक्त किया ॥६८॥

किसी समय उस नगरी का निवासी, खजाने को जाननेवाला एक ब्राह्मण खजाना खोजने के लिए वहाँ आकर भूमि की परीक्षा करने लगा। परीक्षा करते हुए, उसके हाथ का मनुष्य की चरबी से जलता हुआ दीपक एक स्थान पर गिर पड़ा ॥६९-७०॥

इस लक्षण से ब्राह्मण ने उसी स्थान पर खजाने का होना निश्चित करके अपने अन्य ब्राह्मण-मित्रों के साथ खजाना खोदना आरम्भ किया ॥७१॥

तब उस यक्ष ने, जो उसकी रक्षा के लिए नियुक्त था, अपने अधिकारी विरूपाक्ष से यह समाचार कहा ॥७२॥

क्रोधी विरूपाक्ष ने उस यक्ष को आदेश दिया—'जाओ, उन खजाना खोदनेवाले दुष्टों का खजाना मिलने के पहले ही मार डालो' ॥७३॥

ततः स यक्षो गत्वैव स्वयुक्त्या निजघान तान् ।
निधानवादिनो विप्रानसम्प्राप्तमनोरथाम् ॥७४॥
तद्बुद्ध्वा धनदः क्रुद्धो विरूपाक्षमुवाच तम् ।
ब्रह्महत्या कथं पाप कारिता सहसा त्वया ॥७५॥
दुर्गतो वार्त्तिकजनो लोभात्किं नाम नाचरेत् ।
निवार्यते स वित्रास्य विघ्नैस्तैस्तैर्न हन्यते ॥७६॥
इत्युक्त्वाथ शशापैनं विरूपाक्षं धनाधिपः ।
मर्त्ययोनौ प्रजायस्व दुष्कृताचरणादिति ॥७७॥
प्राप्तशापोऽथ कस्यापि भूतले ब्राह्मणस्य सः ।
विरूपाक्षः सुतो जातो ब्राह्मणस्याग्रहारिणः ॥७८॥
ततोऽस्य यक्षिणी पत्नी धनाध्यक्षं व्यजिज्ञपत् ।
देव यत्र स भर्त्ता मे क्षिप्तस्तत्रैव मां क्षिप ॥७९॥
प्रसीद नहि शक्नोमि वियुक्ता तेन जीवितुम् ।
एवं तया स विज्ञप्तः साध्व्या वैश्रवणोऽभ्यधात् ॥८०॥
तस्य विप्रस्य सदने जातो भर्त्ता स तेऽनघे ।
तस्यैव दास्या गेहे त्वं निपतिष्यस्ययोनिजा ॥८१॥
तत्र तेन समं भर्त्रा सङ्गमस्ते भविष्यति ।
त्वत्प्रसादात्स शापं च तीर्त्वा मत्पार्श्वमेष्यति ॥८२॥
इति वैश्रवणादेशात्सा साध्वी पतिता ततः ।
दास्यास्तस्या गृहद्वारि कन्या भूत्वैव मानुषी ॥८३॥
अकस्माच्च तया दास्या कन्या दृष्टाद्भुताकृतिः ।
गृहीत्वा दर्शिता चास्य स्वामिनोऽत्र द्विजन्मनः ॥८४॥
दिव्येयं कन्यका क्वापि निःसन्देहमयोनिजा ।
इत्यात्मा मम वक्तीहानय तां त्वमशङ्कितम् ॥८५॥
इयं हि मम पुत्रस्य मन्ये भार्यात्वमर्हति ।
इति सोऽपि द्विजो दासीं तामुवाच ननन्द च ॥८६॥
क्रमादत्र विवृद्धा सा कन्या विप्रात्मजश्च सः ।
अन्योन्यदर्शनाबद्धगाढस्नेहौ बभूवतुः ॥८७॥
ततः कृतविवाहौ तौ तेन विप्रेण दम्पती ।
अजातिस्मरणेऽप्यास्तामुत्तीर्णविरहाविव ॥८८॥

उस यक्ष ने आकर अपनी युक्ति से उन निधानवादी असफल मनोरथ ब्राह्मणों को मार डाला ।।७४।।

यह सब जानकर, कुबेर विरूपाक्ष पर क्रोध करके बोले—'अरे पापी, तूने सहसा यह ब्रह्महत्या क्यों करा दी । खजाना खोजनेवाले दरिद्र क्या नहीं करते ? उन्हें विघ्न करके और त्रास आदि दिखाकर दूर किया जाता है, जान से नहीं मारा जाता' ।।७५–७६।।

ऐसा कहकर कुबेर ने उस यक्ष को शाप दिया कि तू इस पाप को करने से मनुष्य-योनि में उत्पन्न होगा ।।७७।।

तदनन्तर, वह अभिशप्त विरूपाक्ष मनुष्य-योनि में किसी ब्राह्मण के यहाँ उत्पन्न हुआ । तब उस यक्ष विरूपाक्ष की पतिव्रता पत्नी ने कुबेर से प्रार्थना की–'हे स्वामी ! मुझे भी वहीं फेंक दो, जहाँ तुमने मेरे पति को फेंका है । मैं उससे वियुक्त होकर जीवित नहीं रह सकती' । उस पतिव्रता की प्रार्थना पर कुबेर ने कहा—।।७८–८०।।

'तेरा पति जिस ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुआ है, तू उसी ब्राह्मण की दासी के घर में गिरेगी और योनि से उत्पन्न नहीं होगी । वहाँ पर पति के साथ तेरा समागम होगा और तेरी कृपा से वह शाप से मुक्त होकर पुनः मेरे पास आ जायगा' ।।८१–८२।।

इस प्रकार, कुबेर के आदेश से वह सती यक्षिणी मानुषी कन्या बनकर उसी ब्राह्मण की दासी के द्वार पर जा गिरी ।।८३।।

दासी ने उस अद्भुत कन्या को अकस्मात् देखा और उसे अपने स्वामी उस ब्राह्मण के पास ले गई ।।८४।।

'यह कन्या कोई दिव्य स्त्री है और इसीलिए अवश्य अयोनिजा है । मेरी आत्मा ऐसा कहती है । तू इसे विना किसी शंका के ले आ ।।८५।।

यह मेरे पुत्र की पत्नी होने योग्य है' । ब्राह्मण, अपनी दासी को ऐसा कहकर प्रसन्न हुआ ।।८६।।

क्रमशः वह कन्या और ब्राह्मणकुमार दोनों बड़े हो गये और परस्पर देखने से ही घनिष्ठ प्रेमी बन गये ।।८७।।

तदनन्तर, ब्राह्मण ने उन दोनों का विवाह करके उन्हें दम्पति बना दिया । वे दोनों पूवजन्म का स्मरण न करते हुए भी ऐसा अनुभव करते थे, मानों वे परस्पर चिरकालीन वियोग के पश्चात् मिले हों ।।८८।।

अथ कालेन देहान्ते तया सोऽनुगतः पतिः ।
तत्तपः क्षतपापः सन्यज्ञः स्वं प्राप्तवान्पदम् ॥८९॥
इतीहावतरन्त्येव निरागस्त्वादयोनिजाः ।
भूतले कारणवशाद्दिव्या दैवतनिर्मिताः ॥९०॥

मदनमञ्चुकानरवाहनदत्तयोः बाल्यविलासः

कुलं किं नृपते तेऽस्यास्तस्माद् भार्या सुतस्य ते ।
कलिङ्गसेनापुत्रीयं यथोक्तं दैवनिर्मिता ॥९१॥
यौगन्धरायणेनैवमुक्ते वत्सेश्वरश्च तत् ।
देवी वासवदत्ता च तथेति हृदि चक्रतुः ॥९२॥
ततस्तस्मिन्गृहं याते मन्त्रिमुख्ये स भूपतिः ।
पानादिक्रीडया निन्ये सभार्यस्तद्दिनं सुखी ॥९३॥
ततो दिनेषु गच्छत्सु मोहभ्रष्टस्वकस्मृतिः ।
कलिङ्गसेनातनया सा समं रूपसम्पदा ॥९४॥
क्रमेण ववृधे नाम्ना कृता मदनमञ्चुका ।
सुता मदनवेगस्येत्यतो मात्रा जनेन च ॥९५॥
नूनं सा शिश्रिये रूपं सर्वान्यवरयोषिताम् ।
अन्यथा ताः पुरस्तस्या विरूपा जज्ञिरे कथम् ॥९६॥
श्रुत्वा रूपवतीं तां च कौतुकात् स्वयमेकदा ।
देवी वासवदत्ता तामानिनायात्मनोऽन्तिकम् ॥९७॥
तत्र धात्र्या मुखासक्तां वत्सराजो ददर्श ताम् ।
यौगन्धरायणाद्याश्च वर्तेर्दीपशिखामिव ॥९८॥
दृष्ट्वा चादृष्टपूर्वं ततस्या नेत्रामृतं वपुः ।
रतिरेवावतीर्णेयमिति मेने न तत्र कः ॥९९॥
ततश्चानाययाञ्चक्रे देव्या वासवदत्तया ।
नरवाहनदत्तोऽत्र जगन्नेत्रोत्सवः सुतः ॥१००॥
सोऽत्र फुल्लमुखाम्भोजो दीप्तां मदनमञ्चुकाम् ।
तामपश्यन्नवां सौरीमिव पद्माकरः प्रभाम् ॥१०१॥
सापि तं लोचनानन्दं पश्यन्ती विकचानना ।
न तृप्तिमाययौ बाला चकोरी वामृतत्विषम् ॥१०२॥

कुछ समय के अनन्तर उस यक्ष पति के मरने पर वह स्त्री भी सती हो गई और उसी के तप के प्रभाव से वह यक्ष पुनः विरूपाक्ष होकर अपने पूर्व पद को प्राप्त कर सका ।।८९।।

इस प्रकार, निरपराध देवता, अयोनिज होकर कारणवश दैवमाया से भूतल पर अवतार लेते हैं ।।९०।।

नरवाहनदत्त और मदनमंचुका का बाल्य-विलास

'हे राजन् ! तेरा और इसका कुल क्या । कलिंगसेना की यह देवताओं द्वारा निर्मित पुत्री तेरे पुत्र की पत्नी है ।' यौगन्धरायण के ऐसा कहने पर राजा उदयन तथा वासवदत्ता ने इस बात को हृदय में स्थान दिया ।।९१—९२।।

तदनन्तर, मुख्यमन्त्री के चले जाने पर राजा उदयन तथा वासवदत्ता ने पान (मद्यपान) आदि मनोविनोदों से उस दिन को सुखपूर्वक व्यतीत किया ।।९३।।

कुछ दिनों के व्यतीत होने पर मोह से अपने पूर्वजन्म की स्मृति को भूली हुई कलिंगसेना की कन्या अपनी रूप-सम्पत्ति के साथ बड़ी होने लगी ।।९४।।

मदनवेग नामक विद्याधर की कन्या होने के कारण माता तथा अन्य लोगों ने उसका नाम मदनमंचुका रख दिया ।।९५।।

उस कन्या ने संसार की सभी सुन्दरी कन्याओं के रूप को ले लिया था; अन्यथा उसके सामने वे सब विरूप कैसे हो जातीं ? ।।९६।।

उसे अत्यन्त रूपवती सुनकर कौतुक के कारण रानी वासवदत्ता ने एक बार अपने पास बुलवाया । वहाँ पर धात्री (दाई) के मुँह से चिपकी हुई उसे राजा और मन्त्री यौगन्धरायण आदि ने भी जलते दीपक की बत्ती की शिखा (लौ) के समान देखा ।।९७-९८।।

उसके अपूर्व रूप और आँखों में अमृत-वर्षा करनेवाले शरीर को देखकर, यह रति ही अवतीर्ण हुई है, ऐसा सभी ने माना ।।९९।।

तब रानी ने संसार के नेत्रों के उत्सव देनेवाले अपने पुत्र नरवाहनदत्त को बुलवाया ।।१००।।

खिले हुए मुख-कमलवाले बालक नरवाहनदत्त ने उस कन्या को इस प्रकार देखा, जैसे सरोवर, प्रातःकालीन नवीन सूर्य-रश्मियों को निहारता है ।।१०१।।

वह कन्या मदनमंचुका भी आँखों को आनन्द देनेवाले नरवाहनदत्त को देखती हुई उसी प्रकार अतृप्त रह गई, जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखते रहने पर भी तृप्त नहीं होती ।।१०२।।

ततः प्रभृति तौ बालावपि स्थातुं न शेकतुः ।
दृष्टिपाशैरिवाबद्धौ पृथग्भूतावपि क्षमम् ॥१०३॥
दिनैर्निश्चित्य सम्बन्धं देवनिर्मितमेव तु ।
विवाहविषये बुद्धिं व्यधाद्वत्सेश्वरस्तयोः ॥१०४॥
कलिङ्गसेना तद्बुद्ध्वा ननन्द च बबन्ध च ।
नरवाहनदत्तेऽस्मिञ्जामातृप्रीतितो धृतिम् ॥१०५॥
सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिः सार्धं ततश्चाकारयत् पृथक् ।
वत्सराजः स्वपुत्रस्य तस्य स्वमिव मन्दिरम् ॥१०६॥

नरवाहनदत्तस्य यौवराज्याभिषेकः

ततः सम्भृत्य सम्भारान्पुत्रं राजा स कालवित् ।
यौवराज्येऽभ्यषिञ्चत्तं दृष्टश्लाघ्यगुणग्रहम् ॥१०७॥
पूर्वं तस्यापतन्मूर्ध्नि पित्रोरानन्दबाष्पजम् ।
ततः श्रौतमहामन्त्रपूतं सत्तीर्थजं पयः ॥१०८॥
अभिषेकाम्बुभिस्तस्य धौते वदनपङ्कजे ।
चित्रं निर्मलतां प्रापुर्मुखानि ककुभामपि ॥१०९॥
मङ्गल्यमाल्यपुष्पेषु तस्य क्षिप्तेषु मातृभिः ।
मुमोच दिव्यमाल्यौघवर्षं द्यौरपि तत्क्षणम् ॥११०॥
देवदुन्दुभिनिर्ह्लादस्पर्धयेव जजृम्भिरे ।
आनन्दतूर्यनिर्घोषप्रतिशब्दा नभस्तले ॥१११॥
प्रणनामाभिषिक्तं तं युवराजं न तत्र कः ।
स्वप्रभावादृते तेनैवोन्ननाम तदा हि सः ॥११२॥
ततो वत्सेश्वरस्तस्य सूनोर्बालसखीन् सतः ।
स्वमन्त्रिपुत्रानाहूय सचिवत्वे समादिशत् ॥११३॥
यौगन्धरायणसुतं मन्त्रित्वे मरुभूतिकम् ।
सेनापत्ये हरिशिखं रुमण्वत्तनयं ततः ॥११४॥
वसन्तकसुतं क्रीडासखीत्वे तु तपन्तकम् ।
गोमुखं च प्रतीहारधुरायामित्यकात्मजम् ॥११५॥
पौरोहित्ये च पूर्वोक्तावुभौ पिङ्गलिकासुतौ ।
वैश्वानरं शान्तिसोमं भ्रातुःपुत्रौ पुरोधसः ॥११६॥

परस्पर दर्शन के अनन्तर वे दोनों बालक होने पर भी स्थिर न रह सके। यद्यपि वे दोनों अलग-अलग थे, किन्तु दृष्टिपाश में बंधे हुए, अतएव एक थे ॥१०३॥

यह देखकर वत्सराज ने उन दोनों के सम्बन्ध को देवताओं द्वारा निश्चित किया हुआ समझकर विवाह करने की इच्छा की ॥१०४॥

कलिंगसेना यह जानकर प्रसन्न हुई और नरवाहनदत्त को जामाता के भाव से देखने लगी ॥१०५॥

तब वत्सराज ने मन्त्रियों से सम्मति करके अपने पुत्र के लिए अपने ही राजभवन के समान भवन का निर्माण कराया ॥१०६॥

नरवाहनदत्त का यौवराज्याभिषेक

समयज्ञ राजा ने सब सामान एकत्र करके प्रशंसनीय गुणोंवाले कुमार नरवाहनदत्त का यौवराज्य (युवराज के) पद पर अभिषेक कर दिया ॥१०७॥

अभिषेक के समय उस युवराज के शिर पर पहले माता-पिता के आनन्दाश्रु गिरे, तदनन्तर वेद-मन्त्रों से पवित्र तीर्थों का जल गिरा ॥१०८॥

अभिषेक के जल से उसके मुख-कमल के धुल जाने पर, दिशाओं के मुंह भी धुल गये, यह आश्चर्य है! ॥१०९॥

माताओं द्वारा उसके गले में मंगल-मालाएँ पहनाने पर, आकाश ने भी उसी क्षण दिव्य पुष्पों और मालाओं का वर्षा की ॥११०॥

हर्ष से बजनेवाले देवताओं के वाद्यों की स्पर्द्धा में मानों आनन्द-वाद्यों के शब्द आकाश में गूंजने लगे ॥१११॥

अभिषेक किये हुए उस युवराज को किसने प्रणाम नहीं किया? फलतः, अपने प्रभाव के अतिरिक्त इसी कारण वह ऊँचा उठा ॥१११॥

तब वत्सराज उदयन ने, युवराज के बालमित्र अपने मन्त्रियों के पुत्रों को बुलाकर उन्हें युवराज के मन्त्रियों का पद दे दिया ॥११३॥

यौगन्धरायण के पुत्र मरुभूति को मुख्य मन्त्री, रुमण्वान् के पुत्र हरिशिख को प्रधान सेनापति, वसन्तक के पुत्र तपन्तक का विनोद-मन्त्री और इत्यक के पुत्र गोमुख को प्रधान द्वारपाल बना दिया ॥११४–११५॥

और, पिंगलिका के पुत्र तथा पुरोहित के भतीजे वैश्वानर तथा शान्तिसोम को युवराज का पुरोहित नियुक्त किया ॥११६॥

इत्याज्ञप्तेषु पुत्रस्य साचिव्ये तेषु भूभृता ।
गगनादुदभूद् वाणी पुष्पवृष्टिपुरःसरा ॥११७॥
सर्वार्थसाधका एते भविष्यन्त्यस्य मन्त्रिणः ।
शरीरादविभिन्नोऽस्य गोमुखस्तु भविष्यति ॥११८॥
इत्युक्तो दिव्यया वाचा हृष्टो वत्सेश्वरश्च सः ।
सर्वान्सम्मानयामास वस्त्रैराभरणैश्च तान् ॥११९॥
अनुजीविषु तस्मिंश्च वसु वर्षति राजनि ।
दरिद्रशब्दस्यैकस्य नासीत्तत्रार्थसङ्गतिः ॥१२०॥
पवनोल्लासिताक्षिप्तपताकपटपङ्क्तिभिः ।
आहूतैरिव सापूरि नर्त्तकीचारणैः पुरी ॥१२१॥
आगाद् वैद्याधरी साक्षाल्लक्ष्मीस्तस्यैव भाविनी ।
कलिङ्गसेना जामातुरुत्सवेऽत्र भविष्यति ॥१२२॥
ततो वासवदत्ता च सा च पद्मावती तथा ।
हर्षेण ननृतुस्तिस्रो मिलिता इव शक्तयः ॥१२३॥
मारुतान्दोलितलताः प्रनृत्यन्निव सर्वतः ।
उद्यानतरवोऽप्यत्र चेतनेषु कथैव का ॥१२४॥
ततः कृताभिषेकः सन्नारुह्य जयकुञ्जरम् ।
नरवाहनदत्तः स स युवराजो विनिर्ययौ ॥१२५॥
अवाकीर्यत चोत्क्षिप्तैर्नेत्रैर्नीलसितारुणैः ।
पौरस्त्रीभिः स नीलाब्जलाजपद्माञ्जलिप्रभैः ॥१२६॥
दृष्ट्वा च तत्पुरोपूज्यदेवता बन्दिमागधैः ।
स्तूयमानः ससचिवः स विवेश स्वमन्दिरम् ॥१२७॥
तत्र दिव्यानि भोज्यानि तथा पानान्युपाहरत् ।
कलिङ्गसेना तस्यादौ स्वविभूत्यधिकानि सा ॥१२८॥
ददौ तस्मै सुवस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
समन्त्रिसखिभृत्याय जामातृस्नेहकातरा ॥१२९॥
एवं महोत्सवेनासावमृतास्वादसुन्दरः ।
एषां वत्सेश्वरादीनां सर्वेषां वासरो ययौ ॥१३०॥
ततो निशायां प्राप्तायां सुतोद्वाहविमर्शिनी ।
कलिङ्गसेना सस्मार तां सा सोमप्रभां सखीम् ॥१३१॥

राजा द्वारा इस प्रकार युवराज के मन्त्रियों के नियुक्त किये जाने पर आकाश से पुष्पवृष्टि के साथ दिव्यवाणी हुई कि 'ये सभी मन्त्री इसके अभिन्नहृदय मित्र होंगे, किन्तु गोमुख इसके शरीर से भी भिन्न न होगा ।।११७-११८।।

इस प्रकार दिव्यवाणी से कहा गया वत्सराज अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वस्त्र-आभूषण आदि से उसने सबका सम्मान किया ।।११९।।

उस राजा उदयन के, सेवकों पर धन की वर्षा करने पर दरिद्र शब्द के केवल अर्थ की ही संगति नहीं रही[1] ।।१२०।।

वायु द्वारा आन्दोलित अतएव फहराती हुई पताकाओं के वस्त्रों की पंक्ति से मानों वह नगरी निमन्त्रित नर्त्तकियों और चारणों से भर गई थी ।।१२१।।

कलिंगसेना के होनेवाले जामाता के इस महोत्सव में मानों विद्याधरों की राजलक्ष्मी स्वयं आ गई ।।१२२।।

तदनन्तर, रानी वासवदत्ता, पद्मावती तथा कलिंगसेना ये तीनों मिलकर सम्मिलित शक्तियों के समान नाचने लगीं ।।१२३।।

वायु द्वारा आन्दोलित लताएँ चारों ओर नृत्य कर रही थीं और उद्यानों के वृक्ष इस नृत्य में भाग ले रहे थे । चेतन प्राणियों की तो बात ही क्या है ? ।।१२४।।

अभिषिक्त युवराज नरवाहनदत्त जयकुंजर पर चढ़कर बाहर निकला और नागरिक स्त्रियों के नीलकमल-रूपी लावे (धान के खीलों) की अंजलियों के समान नील, श्वेत और लाल नेत्रों से छा दिया गया ।।१२५-१२६।।

युवराज सवारी से नगर-देवता का दर्शन करता हुआ एवं बन्दियों और सूतों से स्तुति किया जाता हुआ अपने मन्त्रियों के साथ युवराज-भवन में गया ।।१२७।।

वहाँ पर सबसे पहले कलिंगसेना ने अपने वैभव से भी बढ़कर भोजन-पान की दिव्य वस्तुओं से उसका स्वागत किया और जामाता के स्नेह से गद्‌गद होकर विविध प्रकार के वस्त्र और आभूषण मन्त्रियों-सहित युवराज को दिये ।।१२८-१२९।।

इस प्रकार, अमृतास्वाद के समान सुन्दर महोत्सव का यह दिवस, वत्सराज आदि सबने सुख के साथ व्यतीत किया ।।१३०।।

रात होने पर कन्या के विवाह के लिए विचार-विमर्श करने के लिए कलिंगसेना ने अपनी प्राणप्यारी सखी सोमप्रभा का स्मरण किया ।।१३१।।

---

१. अर्थात्, राज्य में कोई दरिद्र न रह गया ।—अनु०

एतया स्मृतमात्रां ता मयासुरसुतां तदा ।
भव्यां भर्त्ता महाज्ञानी जगाद नलकूबरः ॥१३२॥
कलिङ्गसेना त्वामद्य सोत्सुका स्मरति प्रिये ।
तद्गच्छ दिव्यमुद्यानं कुरु चैतत्सुताकृते ॥१३३॥
इत्युक्त्वा भावि भूतं च कथयित्वा च तद्गतम् ।
तदैव प्रेषयामास पत्नीं सोमप्रभां पतिः ॥१३४॥
सा चागत्य चिरोत्कण्ठाकृतकण्ठग्रहां सखीम् ।
कलिङ्गसेनां कुशलं पृष्ट्वा सोमप्रभाब्रवीत् ॥१३५॥
विद्याधरेण तावत्त्वं परिणीता महर्द्धिना ।
अवतीर्णा रतिस्ते च सुता शर्वादनुग्रहात् ॥१३६॥
कामावतारस्यैषा च वत्सेशाल्लब्धजन्मनः ।
नरवाहनदत्तस्य पूर्वभार्या विनिर्मिता ॥१३७॥
विद्याधराधिराज्यं स दिव्यं कल्पं करिष्यति ।
तस्यैषान्यावरोधानां मूर्ध्नि मान्या भविष्यति ॥१३८॥
त्वं चावतीर्णा भूलोके शक्रशापच्युताप्सराः ।
निष्पन्नकार्यशेषा च शप्पमुक्तिमवाप्स्यसि ॥१३९॥
एतन्मे सर्वमाख्यातं भर्त्रा ज्ञानवता सखि ।
तस्माच्चिन्ता न ते कार्या भावि सर्वं शुभं तव ॥१४०॥
अहं चेह करोम्येषा दिव्यं त्वत्तनयाकृते ।
उद्यानं नास्ति पाताले न भूमौ यत्र वा दिवि ॥१४१॥
इत्युक्त्वा दिव्यमुद्यानं सा निर्माय स्वमायया ।
कलिङ्गसेनामामन्त्र्य सोत्कां सोमप्रभा ययौ ॥१४२॥
ततो निशि प्रभातायामकस्मान्नन्दनं दिवः ।
भूमाविव च्युतं लोको ददर्शोद्यानमत्र तत् ॥१४३॥
बुद्ध्वाथ राजा वत्सेशः सभार्यः सचिवैः सहः ।
नरवाहनदत्तश्च सानुगोऽत्र समाययौ ॥१४४॥
ददृशुस्ते तमुद्यानं सदा पुष्पफलद्रुमम् ।
नानामणिमयस्तम्भभित्तिभूभागवापिकम् ॥१४५॥
सुवर्णवर्णविहगं दिव्यसौरभमारुतम् ।
देवादेशावतीर्णं तत्स्वर्गान्तरमिव क्षितौ ॥१४६॥

कलिंगसेना द्वारा स्मरण की गई मयासुर की कन्या सोमप्रभा को उसके महाज्ञानी पति नलकूबर ने कहा—।।१३२।।

'प्यारी, आज कलिंगसेना अत्यन्त उत्कण्ठा से तेरा स्मरण कर रही है, इसलिए जाओ और उसके लिए दिव्य उद्यान बनाओ' ।।१३३।।

ऐसा कहकर और कलिंगसेना के सम्बन्ध में भूत और भविष्य का वर्णन करके सोमप्रभा को उसके पति ने तुरन्त भेज दिया ।।१३४।।

वह सोमप्रभा भी आकर चिर-उत्कण्ठा से गले मिलती हुई कलिंगसेना से कुशल-समाचार पूछने के बाद कहने लगी—।।१३५।।

'तू अत्यन्त धनी विद्याधर के साथ विवाहित हुई है और शिवजी की कृपा से तेरे यहाँ रति ने अवतार लिया है ।।१३६।।

तेरी यह कन्या, वत्सराज के यहाँ उत्पन्न हुए कामदेव के अवतार नरवाहनदत्त की पूर्वजन्म की पत्नी है।।१३७।।

वह नरवाहनदत्त, दिव्य कल्प वर्षों तक, विद्याधरों पर राज्य करेगा और तुम्हारी कन्या उसके यहाँ के स्त्री-समाज में सर्वमान्य और सम्राज्ञी बनी रहेगी ।।१३८।।

तू भी इन्द्र के शाप से भूलोक में पतित पूर्वजन्म की अप्सरा है और कुछ शेष कार्यों को समाप्त करके मुक्ति प्राप्त करेगी ।।१३९।।

हे सखी, यह सब मेरे ज्ञानी पति ने मुझे बताया है । और, मैं तुम्हारी कन्या के लिए एक उद्यान बना देती हूँ । ऐसा उद्यान पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग में कहीं भी नहीं होगा' ।।१४०-१४१।।

ऐसा कहकर और अपनी माया से दिव्य उद्यान का निर्माण करके उत्कण्ठित कलिंगसेना से पूछकर सोमप्रभा चली गई ।।१४२।।

तदनन्तर, प्रातःकाल होते ही लोगों ने उस उद्यान को इस प्रकार देखा, मानों स्वर्ग का नन्दन-वन अकस्मात् वहाँ उतर पड़ा हो ।।१४३।।

इस समाचार को सुनकर वत्सराज अपनी पत्नियों और मन्त्रियों-सहित वहाँ आया । युवराज नरवाहनदत्त भी अपने साथियों के साथ वहाँ गया ।।१४४।।

राजा ने वहाँ उस उद्यान को देखा, जिसमें सदा फल और फूल देनेवाले वृक्ष लगे हुए थे । विविध प्रकार के माणिक्य-स्तम्भों, दीवारों, चबूतरों और बावलियों से वह शोभित था । उसमें स्वर्णिम पक्षी विहार कर रहे थे । दिव्य सुगन्धिवाली वायु बह रही थी । यह सब देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानों देवताओं की आज्ञा से पृथ्वी पर दूसरे स्वर्ग का निर्माण किया गया हो ।।१४५-१४६।।

दृष्ट्वा तदद्भुतं राजा किमेतदिति पृष्टवान् ।
कलिङ्गसेनामातिथ्यव्यग्रां वत्सेश्वरस्तदा ॥१४७॥
सा प्रत्युवाच सर्वेषु शृण्वत्सु नृपतिं च तम् ।
विश्वकर्मावतारोऽस्ति मयो नाम महासुरः ॥१४८॥
युधिष्ठिरस्य यश्चक्रे पुरं रम्यं च वज्रिणः ।
तस्य सोमप्रभा नाम तनयास्ति सखी मम ॥१४९॥
तया रात्राविहागत्य मत्समीपं स्वमायया ।
प्रीत्या कृतमिदं दिव्यमुद्यानं मत्सुताकृते ॥१५०॥
इत्युक्त्वा यच्च सख्यास्या भूतं भाव्युदितं तया ।
तत्तयैवोक्तमित्युक्त्वा यदा सर्वं शशंस सा ॥१५१॥
ततः कलिङ्गसेनोक्ति ससंवादामवेक्ष्य ताम् ।
निरस्तसंशयाः सर्वे तोषं तत्रातुलं ययुः ॥१५२॥
कलिङ्गसेनातिथ्येन निनाय दिवसं च तत् ।
उद्यानेनैव वत्सेशो भार्या पुत्रादिभिः सह ॥१५३॥
अन्येद्युर्निर्गतो द्रष्टुं देवं देवकुले च सः ।
ददर्श नृपतिर्बह्वीः सुवस्त्राभरणाः स्त्रियः ॥१५४॥
का यूयमिति पृष्टाश्च तेन तास्तं बभाषिरे ।
वयं विद्याः कलाश्चैतास्त्वत्पुत्रार्थमिहागताः ॥१५५॥
गत्वा विशाम खस्तान्तरित्युक्त्वा तास्तिरोऽभवन् ।
सविस्मयः स राजापि वत्सेशोऽभ्यन्तरं ययौ ॥१५६॥
तत्र वासवदत्तायै देव्यै मन्त्रिगणाय च ।
तच्छशंसाभ्यनन्दंस्ते देवतानुग्रहं च तम् ॥१५७॥
ततो राजनिदेशेन वीणा वासवदत्तया ।
नरवाहनदत्तेऽत्र प्रविष्टे जगृहे क्षणात् ॥१५८॥
वादयन्ती ततस्तां च मातरं विनयेन सः ।
राजपुत्रोऽब्रवीद् वीणा च्युता स्थानादसाविति ॥१५९॥
त्वं वादय गृहाणैतामिति पित्रोदितेऽथ सः ।
वीणामवादयत् कुर्वन् गन्धर्वानपि विस्मितान् ॥१६०॥
एवं सर्वासु विद्यासु कलासु च परीक्षितः ।
पित्रा यावद् वृतस्ताभिः स्वयं सर्वं विवेद सः ॥१६१॥

उस अद्भुत उद्यान को देखकर वत्सराज ने स्वागतातिथ्य में व्यग्र कलिंगसेना से पूछा कि 'यह सब क्या है ?' ।।१४७।।

तब कलिंगसेना सबके सामने राजा से बोली--'महाराज ! विश्वकर्मा का अवतार मयासुर नाम का एक महान् असुर है, जिसने इन्द्र की आज्ञा से युधिष्ठिर का सुन्दर नगर बनाया था। सोमप्रभा नाम की उसी की कन्या मेरी सखी है। उसने रात में मेरे पास आकर अपनी माया से और अपने ही प्रेम से मेरी कन्या के लिए यह उद्यान बनाया है' ।।१४८-१५०।।

ऐसा कहकर, उसकी सहेली ने भूत एवं भविष्य की और भी जो बातें बताई थीं, राजा को उसी प्रकार सुना दीं ।।१५१।।

तब सभी ने कलिंगसेना की बात को प्रामाणिक मानकर, संशय-रहित होकर परम हर्ष और विश्वास प्रकट किया ।।१५२।।

वत्सराज ने वह समस्त दिन अपनी स्त्री और पुत्र आदि के साथ कलिंगसेना के स्वागत में ही व्यतीत किया ।।१५३।।

दूसरे दिन, देव-मन्दिर में दर्शन के लिए गए हुए राजा ने सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्राभरणों से अलंकृत स्त्रियों को देखा ।।१५४।।

'तुम सब कौन हो'– राजा के इस प्रकार पूछने पर वे स्त्रियाँ कहने लगीं—'हम सब विद्याएँ और कलाएँ हैं और तुम्हारे पुत्र के लिए यहाँ आई हैं' ।।१५५।।

अब जाकर हम उसी में प्रवेश करती हैं, इतना कहने के बाद वे सब अन्तर्धान हो गईं और आश्चर्यचकित राजा भी मन्दिर के भीतर गया ।।१५६।।

उसने वहाँ जाकर यह वृत्तान्त अपनी रानियों और मन्त्रियों को सुनाया। सब उसे देवता का अनुग्रह समझकर उसका अभिनन्दन करने लगे ।।१५७।।

तदनन्तर, राजा की आज्ञा से वासवदत्ता ने भी वीणा उठाई और राजकुमार नरवाहनदत्त ने मन्दिर में प्रवेश किया ।।१५८।।

वीणा बजाती हुई माता से राजकुमार ने नम्रतापूर्वक कहा—'तुम्हारी वीणा स्थान (स्वर-स्पन्दन की मात्रा) से भ्रष्ट हो रही है ।।१५९।।

तदनन्तर, 'तू इसे ले और बजा', पिता की आज्ञा पाकर वीणा बजाते हुए राजकुमार ने गन्धर्वों को भी विस्मित कर दिया ।।१६०।।

इस प्रकार, सभी विद्याओं और कलाओं में पिता द्वारा परीक्षित राजकुमार ने उत्तीर्णता प्राप्त की। क्योंकि वह स्वयं ही सब कुछ जान गया था ।।१६१।।

वीक्ष्य तं सगुणं पुत्रं वत्सेशस्तामशिक्षयत् ।
कलिङ्गसेनातनयां नृत्तं मदनमञ्चुकाम् ॥१६२॥
यथा यथा पूर्णकला साभूत्तनुरिवैन्दवी ।
नरवाहनदत्ताब्धिश्चुक्षुभे स तथा तथा ॥१६३॥
अरंस्त तां च गायन्तीं नृत्यन्तीं च विलोकयन् ।
पठन्तीमिव कामाज्ञामङ्गाद्यभिनयैर्वृताम् ॥१६४॥
सापि क्षणमपश्यन्ती तमुदश्रुः सुधामयम् ।
कान्तमासीदुषःकाले जलार्द्रेव कुमुद्वती ॥१६५॥
सततं चासहः स्थातुं तन्मुखालोकनं विना ।
नरवाहनदत्तोऽसौ तत्तदुद्यानमाययौ ॥१६६॥
तत्र पार्श्वं तयानीय सुतां मदनमञ्चुकाम् ।
कलिङ्गसेनया प्रीत्या रज्यमानः स तस्थिवान् ॥१६७॥
गोमुखश्चास्य चित्तज्ञः स्वामिनोऽत्र चिरस्थितिम् ।
इच्छन्कलिङ्गसेनायै तां तामकथयत्कथाम् ॥१६८॥
चित्तग्रहेण तेनास्या राजपुत्रस्तुतोष सः ।
हृदयानुप्रवेशो हि प्रभोः संवननं परम् ॥१६९॥
नृत्तादियोग्यां कुरुते तस्मिन्मदनमञ्चुकाम् ।
तत्र स्वयं च सङ्गीतवेश्मन्युद्यानवर्त्तिनि १७०॥
नरवाहनदत्तः स क्लेपयन्वरचारणान् ।
तस्यां प्रियायां नृत्यन्त्यां सर्वतोद्यान्यवादयत् ॥१७१॥
जिगाय चागतान् दिग्भ्यो विविधान् पण्डितांस्तथा ।
गजाश्वरथशस्त्रास्त्रचित्रपुस्तादिकोविदः ॥१७२॥
एवं विहरतो विद्यास्वयंवरवृतस्य ते ।
नरवाहनदत्तस्य शैशवे वासरा ययुः ॥१७३॥
एकदा चात्र यात्रायामुद्यानं स प्रियासखः ।
ययौ नागवनं नाम राजपुत्रः समन्त्रिकः ॥१७४॥
तत्राभिलाषिणी काचिद् वणिग्भार्या निराकृता ।
इयेष गोमुखं हन्तुं सविषाहृतपानका ॥१७५॥
तद्विवेद च तत्सख्या मुखादत्र स गोमुखः ।
नाददे पानकं तच्च स्त्रिय एवं निनिन्द च ॥१७६॥

राजकुमार को सभी विद्याओं और कलाओं में प्रवीण जानकर वत्सराज ने कलिंग-सेना की कन्या मदनमंचुका को नृत्तविद्या (वह नाच, जिसमें केवल अंगों का विक्षेप किया जाता है) सिखा दी ।।१६२।।

जैसे-जैसे चन्द्रमा के समान शरीरवाली वह मदनमंचुका कलापूर्ण होने लगी, वैसे-ही-वैसे नरवाहनदत्त-रूपी समुद्र क्षुब्ध और उद्वेलित होने लगा ।।१६३।।

वह (नरवाहनदत्त) उस (मदनमंचुका) को नाचती और गाती देखकर प्रसन्न होता था; क्योंकि वह मदनमंचुका अपने अंग आदि के अभिनय से मानों कामदेव की आज्ञा का पाठ करती थी ।।१६४।।

वह मदनमंचुका भी अमृतमय उस सुन्दर पति को न देखकर रोने लगती, तो ऐसा प्रतीत होता था, जैसे प्रभातकालीन तुषार-बिन्दुओं से परिपूर्ण कुमुद्वती हो ।।१६५।।

उसे देखे विना बेचैन नरवाहनदत्त निरन्तर और बार-बार उसके उद्यान में घूमता रहता था ।।१६६।।

वहाँ पर कलिंगसेना, अपनी कन्या मदनमंचुका द्वारा सन्तुष्ट किये जाते हुए नरवाहनदत्त को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती थी ।।१६७।।

नरवाहनदत्त के हृदय को जाननेवाला उसका नम्र सचिव गोमुख, उस स्थान पर दीर्घकालीन स्थिति की कामना से कलिंगसेना को विविध प्रकार की कथाएँ सुनाया करता था ।।१६८।।

इस प्रकार, उसके हृदय को आकृष्ट करने से वह राजकुमार सन्तुष्ट होता था। सच है, स्वामी के हृदय में प्रवेश करना, अर्थात् उसके हृदय को समझकर कार्य करना ही स्वामी की सबसे बड़ी सेवा है ।।१६९।।

उस उद्यान की रंगशाला में नरवाहनदत्त मदनमंचुका को स्वयं ही समुचित शिक्षा दिया करता था ।।१७०।।

नरवाहनदत्त मदनमंचुका के गाने पर सभी प्रकार के वाद्यों को स्वयं बजाया करता था, जिससे वादक चारण भी देखकर लज्जित होते थे ।।१७१।।

उस नरवाहनदत्त ने बाहर के देशों से आनेवाले विविध शास्त्रों और कलाओं के मर्मज्ञ विद्वानों और कलाकारों को प्रतियोगिता में जीत लिया था ।।१७२।।

स्वयं ही विद्याओं द्वारा वरण किये गये नरवाहनदत्त के बाल्यकाल के दिन इसी प्रकार से विनोद में व्यतीत हुए ।।१७३।।

एक बार नरवाहनदत्त ने अपनी पत्नी मदनमंचुका के साथ विहार (भ्रमण) करने की इच्छा से मित्रों और मन्त्रियों को साथ लेकर नागवन की यात्रा की ।।१७४।।

वहाँ पर किसी बनिये की कामुकी स्त्री को गोमुख ने तिरस्कृत कर दिया था, फलतः उस स्त्री ने क्रोध में आकर विष मिला हुआ शर्बत पिलाकर गोमुख को मार डालना चाहा ।।१७५।।

गोमुख ने उस स्त्री की सहेली से यह सब जान लिया और उसने उसका दिया हुआ शर्बत नहीं लिया, प्रत्युत स्त्रियों की ही निन्दा की ।।१७६।।

अहो धात्रा पुरः सृष्टं साहसं तदनु स्त्रियः ।
नैतासां दुष्करं किञ्चिन्निसर्गादिह विद्यते ॥१७७॥
नूनं स्त्री नाम सृष्टेयममृतेन विषेण च ।
अनुरक्तामृतं सा हि विरक्ता विषमेव च ॥१७८॥
ज्ञायते कान्तवदना केन प्रच्छन्नपातका ।
कुस्त्री प्रफुल्लकमला गूढनक्रेव पद्मिनी ॥१७९॥
दिवः पतति काचित्तु गुणचक्रप्रचोदिनी ।
भर्तृश्लाघासहा सुस्त्री प्रभा भानोरिवामला ॥१८०॥
हन्त्येवाशु गृहीतान्या पररक्ता गतस्पृहा ।
पापा विरागविषभृद् भर्त्तारं भुजगीव सा ॥१८१॥

शत्रुघ्नस्य दुष्टायास्तत्पत्न्याश्च कथा

तथा हि कुत्रचिद् ग्रामे शत्रुघ्न इति कोऽप्यभूत् ।
पुरुषस्तस्य भार्या च बभूव व्यभिचारिणी ॥१८२॥
स ददर्श कदा सायं भार्यां तां जारसङ्गताम् ।
जघान तं च तज्जारं खड्गेनान्तर्गृहस्थितम् ॥१८३॥
रात्र्यपेक्षी च तस्थौ स द्वारि भार्यां निरुध्य ताम् ।
तत्कालं च निवासार्थी तमत्र पथिकोऽभ्यगात् ॥१८४॥
दत्त्वा तस्याश्रयं युक्त्या तेनैव सह तं हतम् ।
पारदारिकमादाय रात्रौ तत्राटवीं ययौ ॥१८५॥
तत्रान्धकूपे यावत्स शवं क्षिपति तं तया ।
तावदागतया पश्चात्क्षिप्तः सोऽप्यत्र भार्यया ॥१८६॥
एवं कुयोषित्कुरुते किं किं नाम न साहसम् ।
इति स्त्रीचरितं बालोऽप्यनिन्दत्सोऽत्र गोमुखः ॥१८७॥
ततो नागवने तत्र नागानभ्यर्च्य स स्वयम् ।
नरवाहनदत्तोऽगात् स्वावासं सपरिच्छदः ॥१८८॥

राजनीतिसारः[1]

तत्र जिज्ञासुरन्येद्युः सचिवान् गोमुखादिकान् ।
जानन्नपि स पप्रच्छ राजनीतेः समुच्चयम् ॥१८९॥

---

१. अत्र समुपवर्णिता राजनीतिः कामन्दकशुक्रमनुयाज्ञवल्क्यादिमतानुसारिणी प्रतीयते ।

आश्चर्य है कि ब्रह्मा ने पहले साहस को उत्पन्न किया और उसके पश्चात् ही स्त्रियों को। इन स्त्रियों के लिए स्वभावतः कुछ भी कर डालना कठिन नहीं है। स्त्री की सृष्टि अवश्य ही अमृत और विष दोनों से की गई है; क्योंकि वही स्त्री अनुरक्त होने पर अमृत के समान और विरक्त होने पर विष के समान हो जाती है ॥१७७-१७८॥

बाहर से देखने में सुन्दर और गुप्त रूप से पाप करनेवाली स्त्री उस बावली के समान है, जिसमें जल के ऊपर तो कमल खिले हों और भीतर भीषण मगर तथा हिंस्रक जन्तुओं से पूर्ण हो ॥१७९॥

कोई ही गुणवती और सुस्त्री सूर्य की निर्मल प्रभा के समान स्वर्ग से आती है, जो पति का गुणगान करनेवाली होती है ॥१८०॥

पति के प्रति विरक्त और पर-पुरुषों पर आसक्त एवं वैराग्य-रूपी विष से भरी हुई स्त्री नागिन के समान अपने पति का विनाश कर देती है ॥१८१॥

शत्रुघ्न और उसकी दुष्टा स्त्री की कथा

इसी प्रकार, किसी गाँव में शत्रुघ्न नाम का एक पुरुष रहता था और उसकी स्त्री व्यभिचारिणी थी ॥१८२॥

उसने एक बार सन्ध्या के समय अपनी स्त्री को उसके प्रेमी से मिलते देखा और देखकर उसने घर के भीतर बैठे हुए उस स्त्री के यार को तलवार से मार डाला और रात की प्रतीक्षा में वह अपनी पत्नी को रोककर बैठा रहा। इतने ही में निवास-स्थान का इच्छुक कोई बटोही वहाँ उसके पास आया ॥१८३-१८४॥

शत्रुघ्न उस पथिक को स्थान देकर और युक्तिपूर्वक उसे भी मारकर, उस व्यभिचारिणी को लेकर जंगल में चला गया ॥१८५॥

जंगल में जाकर जब वह उस शव को एक अँधेरे कुएँ में फेंकने लगा, इतने ही में पीछे से आती हुई उसकी स्त्री ने उसे भी उसी कुएँ में ढकेल दिया ॥१८६॥

इस प्रकार, दुष्टा स्त्री कौन-सा साहसिक कार्य नहीं कर सकती। गोमुख ने बालक होते हुए भी इस प्रकार स्त्री-चरित्र की निन्दा की ॥१८७॥

तदनन्तर, वह नरवाहनदत्त वहाँ पर नागों की पूजा करके अपने परिवार और साथियों-सहित अपने निवास-स्थान पर लौट आया ॥१८८॥

राजनीति का सार[1]

एक दिन जिज्ञासु नरवाहनदत्त ने जानते हुए भी, अपने मन्त्रियों से राजनीति का सार पूछा ॥१८९॥

---

१. यह नीति-वर्णन कामन्दकनीति, शुक्रनीति, मनु, याज्ञवल्क्य आदि ग्रन्थों के अनुसार है। विशेष विवरण संस्कृत-टिप्पणी में देखिए।—अनु०

सर्वज्ञस्त्वं तथाप्येतद् ब्रूमः पृष्टा वयं त्वया ।
इत्युक्त्वा सारमन्योन्यं ते निश्चित्यैवमब्रुवन् ॥१९०॥

आरुह्य नृपतिः पूर्वमिन्द्रियाश्वान् वशीकृतान् ।
कामक्रोधादिकान् जित्वा रिपूनाभ्यन्तरांश्च तान् ॥१९१॥

जयेदात्मानमेवादौ विजयायान्यविद्विषाम् ।
अजितात्मा हि विवशो वशीकुर्यात्कथं परम् ॥१९२॥

ततो जानपदत्वादिगुणयुक्तांश्च मन्त्रिणः ।
पुरोहितं चाथर्वज्ञं कुर्याद्दक्षं तपोन्वितम् ॥१९३॥

उपाधिभिर्भये लोभे धर्मे कामे परीक्षितान्[1] ।
योग्येष्वमात्यान् कार्येषु युञ्जीतान्तरवित्तमः ॥१९४॥

सत्यं द्वेषप्रयुक्तं वा स्नेहोक्तं स्वार्थसंहतम् ।
वचस्तेषां परीक्षेत[2] मिथः कार्येषु जल्पताम् ॥१९५॥

सत्ये तुष्येदसत्ये तु यथार्हं दण्डमाचरेत् ।
जिज्ञासेत पृथक् चैषां चारैराचरितं तदा ॥१९६॥

इत्यनावृतदृक्पश्यन् कार्याण्युत्खाय कण्टकान् ।
उपार्ज्य कोषदण्डादि साधयेद् बद्धमूलताम् ॥१९७॥

उत्साहप्रभुतामन्त्रशक्तित्रययुतस्ततः ।
परदेशजिगीषुः स्याद् विचार्य स्वपरान्तरम् ॥१९८॥

आप्तैः श्रुतान्वितैः प्राज्ञैर्मन्त्रं कुर्यादनायतम् ।
तैर्निश्चितं स्वबुद्ध्या तत्सर्वाङ्गं परिशोधयेत् ॥१९९॥

सामदानाद्युपायज्ञो योगक्षेमं प्रसाधयेत् ।
प्रयुञ्जीत ततः सन्धिविग्रहादीन् गुणांश्च[3] षट् ॥२००॥

एवं वितन्द्रो विदधत्स्वदेशपरदेशयोः ।
चिन्तां राजा जयत्येव न पुनर्जातु जीयते ॥२०१॥

---

१. अयं परीक्षाप्रकारः कामन्दके चतुर्थे सर्गे पञ्चत्रिंशत्तमे श्लोके समुट्टङ्कितः ।
२. याज्ञवल्क्यस्मृतौ प्रथमाध्याये ३३८ संख्याकः श्लोको द्रष्टव्यः ।
३. कामन्दके नवमे सर्गे षोडशधा सन्धिः प्रतिपादिता ।

'आप तो सब कुछ जानते हैं, फिर भी आपके पूछने पर हमलोग कहते हैं'—इस प्रकार कहकर मन्त्रियों ने परस्पर निर्णय करके कहा—।।१९०।।

"युवराज, राजा को चाहिए कि वह सबसे पहले इन्द्रिय-रूपी घोड़ों पर चढ़कर काम, क्रोध, लोभ आदि भीतरी शत्रुओं को जीतकर, अन्य बाहरी शत्रुओं को जीतने के पहले सब प्रकार से अपनी आत्मा पर ही विजय प्राप्त करे।।१९१।।

जो आत्मविजय ही नहीं कर पाया, वह स्वयं विवश या पराधीन रहकर दूसरों पर क्या विजय प्राप्त कर सकेगा ? ।।१९२।।

आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके जनपद, देश आदि की उन्नति करनेवाले मन्त्रियों तथा अथर्ववेद को जाननेवाले चतुर एवं तपस्वी पुरोहित की नियुक्ति करे। तदनन्तर, राजा को भय, क्रोध, लोभ और धर्म में उन लोगों की कपट-परीक्षा करके उनके हृदयों को भली भाँति जानकर उन्हें योग्य कार्यों पर नियुक्त करना चाहिए ।।१९३-१९४।।

इस प्रकार, उनकी बातों की भी परीक्षा करनी चाहिए कि वे आन्तरिक स्नेह से बात करते हैं या स्वार्थ अथवा द्वेषपूर्ण होकर। पारस्परिक वार्त्तालाप से उनकी यह परीक्षा करनी चाहिए। सत्य बात पर प्रसन्न होना और असत्य बात पर दण्ड देना चाहिए। उनके चरित्रों का पता भी अलग-अलग गुप्तचरों द्वारा लगाना चाहिए। इस प्रकार, आँखें खोलकर, चौकन्ने रहकर राज्य के कार्यों को देखते हुए, विरोधियों को उखाड़कर, क्रोध और सेना का बल संग्रह करके अपनी सत्ता सुदृढ कर लेनी चाहिए ।।१९५–१९७।।

तदनन्तर, प्रभाव, उत्साह और मन्त्र—इन तीनों शक्तियों से युक्त होकर अपने और शत्रु के बलाबल को भली भाँति समझकर दूसरे देशों को जीतने की इच्छा करनी चाहिए ।।१९८।।

अत्यन्त विश्वासी, नीति आदि शास्त्रों को जाननेवाले प्रतिभाशाली मन्त्रियों से मन्त्रणा करनी चाहिए। उनके निर्णयों को अपनी बुद्धि द्वारा कार्यान्वित करके राज्य के सभी अंगों को शुद्ध करना चाहिए ।।१९९।।

साम, दाम आदि उपायों से योग और क्षेम की साधना करनी चाहिए और सन्धि, विग्रह आदि छह गुणों का प्रयोग करना चाहिए ।।२००।।

इस प्रकार, आलस्य और प्रमाद-रहित होकर जो राजा अपने और पराये देश की चिन्ता करता है, वह सदा विजयी रहता है और किसी से जीता नहीं जा सकता ।।२०१।।

अज्ञस्तु कामलोभान्धो[1] वृथा मार्गप्रदर्शिभिः ।
नीत्वा श्वभ्रेषु निक्षिप्य मुष्यते धूर्त्तचेटकैः ।।२०२।।
नैवावकाशं लभते राज्ञस्तस्यान्तिके परः ।
धूर्त्तैर्निबद्धवाटस्य शालेरिव कृषीबलैः ।।२०३।।
अन्तर्भूय रहस्येषु तैर्वशीक्रियते हि सः ।
ततः श्रीरविशेषज्ञात् खिन्ना तस्मात् पलायते ।।२०४।।
तस्माज्जितात्मा राजा स्याद्युक्तदण्डो विशेषवित् ।
प्रजानुरागादेवं हि स भवेद् भाजनं श्रियः ।।२०५।।

शूरसेननृपतेः तन्मत्रिणाञ्च कथा

पूर्वं च शूरसेनाख्यो भृत्यैकप्रत्ययो नृपः ।
सचिवैः पेटकं कृत्वा भुज्यते स्म वशीकृतः ।।२०६।।
यस्तस्य सेवको राज्ञस्तस्मै तन्मन्त्रिणोऽत्र ते ।
दातुं नैच्छंस्तृणमपि दित्सत्यपि च भूपतौ ।।२०७।।
तेषां तु सेवको योऽत्र ददुस्तस्मै स्वयं च ते ।
ते च विज्ञप्य राजानमनर्हायाप्यदापयन् ।।२०८।।
तद्दृष्ट्वा स नृपं बुद्ध्वा शनैस्तद्धूर्त्तपेटकम् ।
अन्योन्यं प्रज्ञया युक्त्या सचिवांस्तानभेदयत् ।।२०९।।
भिन्नेषु तेषु नष्टेषु मिथः पैशुन्यकारिषु ।
सम्यक्छशास राज्यं तत्स राजान्यैरवञ्चितः ।।२१०।।
हरिसिंहश्च राजाभूत्सामान्यो नीतितत्त्ववित् ।
कृतभक्तबुधामात्यः सदुर्गः सार्थसञ्चयः ।।२११।।
अनुरक्ताः प्रजाः कृत्वा चेष्टते स्म यथा तथा ।
चक्रवर्त्यभियुक्तोऽपि न जगाम पराभवम् ।।२१२।।
एवं विचारश्चिन्ता च सारं राज्येऽधिकं नु किम् ।
इत्याद्युक्त्वा यथास्वं ते विरेमुर्गोमुखादयः ।।२१३।।
नरवाहनदत्तश्च तेषां श्रद्धाय तद्वचः ।
चिन्त्ये पुरुषकर्त्तव्येऽप्यचिन्त्यं दैवमभ्यधात् ।।२१४।।

१. 'आप्तस्तचक्षुर्नृपतिरन्ध इत्यभिधीयते ।'—कामन्दके ।

मूर्ख, कामान्ध और लोभी राजा, झूठे और अनुचित मार्ग प्रदर्शित करनेवाले धूर्त्तों और दलालों द्वारा गड्ढे में गिर-गिराकर नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार के स्वार्थियों से घिरे हुए मूर्ख राजा के पास बुद्धिमान् और श्रेष्ठ व्यक्ति उसी प्रकार नहीं जा सकते, जिस प्रकार निपुण किसान द्वारा लगाई गई बाड़ को पारकर धान के खेत नहीं पहुँचा जा सकता ।।२०२-२०३।।

ऐसा राजा धूर्त्तों का अन्तरंग बन जाता है और अपना रहस्य प्रकट कर बैठता है। फलतः, वह उनके वश में हो जाता है। और, ऐसे मूर्ख अनभिज्ञ राजा से खिन्न होकर राज्यलक्ष्मी भाग जाती है ।।२०४।।

इसलिए, राजा को आत्मविजयी, उचित दण्ड देनेवाला और राजनीति आदि में विशेषज्ञ होना चाहिए। ऐसा होने पर प्रजा के प्रेम से वह राजा, लक्ष्मी का निवास-स्थान (पात्र) बन जाता है ।।२०५।।

राजा शूरसेन और उसके मन्त्रियों की कथा

प्राचीन समय में शूरसेन नाम का एक राजा था, जो एकमात्र सेवकों पर विश्वास किया करता था। वे सेवक एक दल बनाकर राजा को वश में करके उसे चूसा करते थे ।।२०६।।

जिस योग्य सेवक को राजा कुछ देना भी चाहता था, मन्त्रिगण उसे एक तिनका भी नहीं देने देते थे और जो उनके निजी चापलस नौकर थे, उन्हें वे स्वयं भी देते और राजा द्वारा भी दिलाते थे ।।२०७-२०८।।

यह सब देखकर और उन धूर्त्तों के दल को समझकर राजा ने अपनी बुद्धि से उनमें परस्पर फूट उत्पन्न करा दी ।।२०९।।

फूट के कारण उन चुगलखोर सेवकों के पृथक् हो जाने पर अन्य अच्छे और गुणी व्यक्तियों से युक्त वह राजा भली भाँति शासन करने लगा ।।२१०।।

हरिसिंह नाम का एक नीतिज्ञ और साधारण राजा था, उसने अपने भक्त मन्त्री रखे थे। सुदृढ किले बनवाये थे और धन का पर्याप्त संग्रह भी किया था। वह प्रजा को अपने प्रति अनुरक्त करके जैसा चाहता था, वैसा करता था। इसी कारण वह एक बार चक्रवर्त्ती राजा के आक्रमण करने पर भी पराजित न हो सका ।।२११-२१२।।

इसलिए, विचार और चिन्तन के अतिरिक्त राज्य (राजनीति) का सार और क्या हो सकता है?" इतना कहकर और अपनी-अपनी सम्मति देकर गोमुख आदि मन्त्री चुप हो गये ।।२१३।।

नरवाहनदत्त ने उनके विचारों पर श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा—'पुरुष का कर्त्तव्य चिन्तनीय होने पर भी दैवगति अचिन्तनीय है'।।२१४।।

ततश्चोत्थाय तैरेव साकं तां प्रेक्षितुं ययौ ।
स विलम्बकृतोत्कण्ठां प्रियां मदनमञ्चुकाम् ॥२१५॥
प्राप्ते तन्मन्दिरं तस्मिन्नासनस्थे कृतादरा ।
क्षणं कलिङ्गसेनात्र गोमुखं विस्मिताब्रवीत् ॥२१६॥
नरवाहनदत्तेऽत्र राजसूतावनागते ।
उत्सुका पदवीमस्य द्रष्टुं मदनमञ्चुका ॥२१७॥
हर्म्याग्रभूमिमारूढा गोमुखानुगता मया ।
यावत्तावत्पुमानेको नभसोऽत्रावतीर्णवान् ॥२१८॥
स किरीटी च खड्गी च मां दिव्याकृतिरब्रवीत् ।
अहं मानसवेगाख्यो राजा विद्याधरेश्वरः ॥२१९॥
स्वःस्त्री सुरभिदत्ताख्या त्वं च शापच्युता भुवि ।
सुता च तव दिव्येयमेतन्मे विदितं किल ॥२२०॥
तद्देहि मे सुतामेतां सम्बन्धः सदृशो ह्ययम् ।
इत्युक्ते तेन सहसा विहस्याहं तमब्रवम् ॥२२१॥
नरवाहनदत्तोऽस्या भर्त्ता देवैर्विनिर्मितः ।
सर्वेषां योऽत्र युष्माकं चक्रवर्त्ती भविष्यति ॥२२२॥
इत्युक्तः स मयोत्पत्य व्योम विद्याधरो गतः ।
मत्पुत्रीनयनोद्वेगाकाण्डविद्युल्लतोपमः ॥२२३॥
तच्छ्रुत्वा गोमुखोऽवादीज्जातेऽस्मिन्स्वामिनीह नः ।
राजपुत्रेऽन्तरिक्षोक्तेर्बुद्ध्वामुं भाविनं प्रभुम् ॥२२४॥
पापं विधातुमप्यैच्छन्सद्यो विद्याधरा हि ते ।
उच्छृङ्खलो नियन्तारं क इच्छेद् बलिनं प्रभुम् ॥२२५॥
ततोऽयं रक्षितः साक्षाद् गणानादिश्य शम्भुना ।
नारदोक्तिरियं तातेनोच्यमाना श्रुता मया ॥२२६॥
अतो विद्याधराः सम्प्रत्यकेऽस्माकं विरोधिनः ।
श्रुत्वा कलिङ्गसेनैतत् स्ववृत्तान्तभियाब्रवीत् ॥२२७॥
मायया तर्हि नो यावन् मद्वन्मदनमञ्चुका ।
वञ्च्यते राजपुत्रेण किं न तावद् विवाह्यते ॥२२८॥
एतत्कलिङ्गसेनातः श्रुत्वा तां गोमुखादयः ।
ऊचुस्त्वयैवं कार्येऽस्मिन् वत्सेशः प्रेर्यतामिति ॥२२९॥

तब नरवाहनदत्त अपने उन साथियों के साथ चिरकाल से उत्कण्ठित प्रिया मदन-मंचुका को देखने के लिए गया ।।२१५।।

उसके निवास-स्थान पर पहुँचते ही आसन पर बैठाकर स्वागत-सत्कार करती हुई विस्मित कलिंगसेना गोमुख से कहने लगी—।।२१६।।

"हे गोमुख, राजकुमार नरवाहनदत्त के यहाँ न आने पर, अर्थात् उसके आने के पूव, उसके आने की प्रतीक्षा में उत्कण्ठिता मदनमंचुका, भवन के ऊपर की छत पर चढ़ी और उसके पीछे मैं भी गई। इतने में ही एक दिव्य मुकुटधारी पुरुष आकाश से उतरा ।।२१७-२१८।।

उसके हाथ में तलवार थी और सिर पर किरीट था। उस दिव्य पुरुष ने मुझसे कहा—'मैं मानसवेग नामक विद्याधरों का राजा हूँ ।।२१९।।

तू शाप से पतित सुरभिदत्ता नाम की स्वर्गीय स्त्री है। तुम्हारी कन्या भी दिव्य स्त्री है। यह मुझे ज्ञात है ।।२२०।।

इसलिए तू इस कन्या को मुझे दे दे। उसका और मेरा यह सम्बन्ध योग्य है।' उसके इस प्रकार कहने पर मैंने हँसकर कहा—।।२२१।।

"देवताओं द्वारा पहले से ही निश्चित किया गया नरवाहनदत्त इसका पति हो चुका है। वह तुम सब विद्याधरों का चक्रवर्त्ती होगा ।।२२२।।

मेरे द्वारा इस प्रकार कहने पर मेरी कन्या को ले जाने के लिए उत्सुक आकस्मिक उद्वेग-रूपी बिजली के समान वह विद्याधर आकाश में उड़ गया" ।।२२३।।

यह सुनकर गोमुख बोला—'हमारा राजा राजकुमार नरवाहनदत्त, जब उत्पन्न हुआ था, तभी आकाशवाणी ने सूचना दी थी कि वह विद्याधरों का चक्रवर्त्ती राजा होगा। इसलिए, उसे अपना भावी राजा समझकर विद्याधर लोग उसे नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु कोई भी दुष्ट, बलवान् विधि के विधान के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। भगवान् शंकर ने उसकी रक्षा के लिए गण को नियुक्त किया है, ऐसा नारद मुनि ने मेरे पिता से कहा है और उनसे मैंने सुना है।।२२४–२२६।।

इसीलिए, ये विद्याधर इस समय हमारे विरोधी बने हुए हैं।' इतना सुनकर कलिंगसेना अपने देखे हुए वृत्तान्त के भय से बोली—'मेरे ही समान मदनमंचुका विद्याधरों से वंचित नहीं की जाती या ठगी नहीं जाती, उसके पहले ही राजपुत्र द्वारा उसके साथ विवाह क्यों नहीं कर लिया जाता' ।।२२७–२२८।।

कलिंगसेना की बातें सुनकर गोमुख आदि कहने लगे कि 'इस कार्य के लिए तुम ही वत्सराज को प्रेरित करो' ।।२२९।।

ततस्तद्गतधीस्तस्मिन्नुद्याने व्यहरद्दिनम् ।
नरवाहनदत्तस्तां पश्यन् मदनमञ्चुकाम् ॥२३०॥
उत्फुल्लपद्मवदनां दलत्कुवलयेक्षणाम् ।
बन्धूककमनीयौष्ठीं मन्दारस्तबकस्तनीम् ॥२३१॥
शिरीषसुकुमाराङ्गीं पञ्चपुष्पमयीमिव ।
एकामेव जगज्जैत्रीं स्मरेण विहितामिषुम् ॥२३२॥
कलिङ्गसेनाऽप्यन्येद्युर्गत्वा वत्सेश्वरं स्वयम् ।
सुताविवाहहेतोस्तद्यथाभीष्टं व्यजिज्ञपत् ॥२३३॥
वत्सेशोऽपि विसृज्यैतामाहूय निजमन्त्रिणः ।
देव्यां वासवदत्तायां स्थितायां निजगाद तान् ॥२३४॥
कलिङ्गसेना त्वरते सुतोद्वाहाय तत्कथम् ।
कुर्मो यद्बन्धकीत्येतां लोको वक्त्युत्तमामिति ॥२३५॥
लोकश्च सर्वदा रक्ष्यस्तत्प्रवादेन किं पुरा ।
रामभद्रेण शुद्धापि त्यक्ता देवी न जानकी ॥२३६॥
अम्बा हृतापि भीष्मेण यत्नाद् भ्रातुः कृते तथा ।
प्रतीपं किं न वा त्यक्ता वृतपूर्वान्यभर्तृका ॥२३७॥
एवं कलिङ्गसेनैषा स्वयंवरवृते मयि ।
व्यूढा मदनवेगेन तेनैतां गर्हते जनः ॥२३८॥
अतोऽस्यास्तनयामेतां गान्धर्वविधिना स्वयम् ।
नरवाहनदत्तोऽसावुद्वहत्वनुरूपिकाम् ॥२३९॥
इत्युक्ते वत्सराजेन स्माह यौगन्धरायणः ।
इच्छेत्कलिङ्गसेनैतदनौचित्यं कथं प्रभो ॥२४०॥
दिव्यैषा हि न सामान्या ससुतेत्यसकृद्गतम् ।
मित्रेण चैतदुक्तं मे ज्ञानिना ब्रह्मरक्षसा ॥२४१॥
इत्यादि तत्र ते यावद् विमृशन्ति परस्परम् ।
एवं माहेश्वरी वाणी तावत् प्रादुरभूद्दिवः ॥२४२॥
मन्नेत्रानलदग्धस्य सृष्टस्यात्र मनोभुवः ।
नरवाहनदत्तस्य मयैवैषा विनिर्मिता ॥२४३॥
तपस्तुष्टेन भार्यास्य रतिर्मदनमञ्चुका ।
एतया सहितश्चायं सर्वान्तःपुरमुख्यया ॥२४४॥
विद्याधराधिराज्यं स दिव्यं कल्पं करिष्यति ।
मत्प्रसादाद् विजित्यारीनित्युक्त्वा विरराम वाक् ॥२४५॥

तब नरवाहनदत्त, उस दिन, मन्दारगुच्छ के समान स्तनोंवाली, शिरीष-सुमन के समान सुकोमल, विकसित कमल के समान मुखवाली और प्रफुल्ल कुमुदों के समान नेत्रोंवाली, दुपहरिया फूल की भाँति लाल होठोंवाली, मानों जगद्विजय के लिए निर्मित कामदेव के एक बाण के समान उस मदनमंचुका के साथ, उद्यान में विहार करता रहा ।।२३०—२३२।।

दूसरे दिन, कलिंगसेना ने भी स्वयं वत्सराज के पास जाकर अपना अभिलषित प्रस्ताव निवेदित किया, जो कन्या-विवाह के सम्बन्ध में था ।।२३३।।

वत्सराज ने भी कलिंगसेना को विदा करके अपने मन्त्रियों को बुलाकर रानी वासवदत्ता की उपस्थिति में उनसे कहा—।।२३४।।

'कलिंगसेना कन्या के विवाह के लिए शीघ्रता कर रही है। अतः, हम यह विवाह कैसे करें; क्योंकि उस साध्वी को भी लोग व्यभिचारिणी कहते हैं ।।२३५।।

जनापवाद से तो सदा बचना ही चाहिए। प्राचीन काल में श्रीरामचन्द्रजी ने जनापवाद के ही कारण क्या जानकी को नहीं त्याग दिया था ? ।।२३६।।

भीष्म ने अपने भाई के लिए अपहरण की गई पूर्व-विवाहित अम्बा को क्या नहीं छोड़ दिया था ? ।।२३७।।

इसी प्रकार कलिंगसेना स्वयंवर द्वारा मेरा वरण कर लेने पर भी मदनवेग से विवाहित हुई। यही कारण है कि लोग इसकी निन्दा करते हैं ।।२३८।।

इसलिए, नरवाहनदत्त अपने अनुरूप इसकी कन्या को गान्धर्व-विधि से विवाहित कर ले' ।।२३९।।

वत्सराज के ऐसा कहने पर यौगन्धरायण ने कहा—'स्वामिन् ! यदि कलिंगसेना ऐसा चाहती है, तो यह अनुचित कैसे हो सकता है ? वह साधारण नहीं, दिव्य स्त्री है। इसलिए इसकी कन्या भी दिव्य है। यह बात मेरे मित्र ब्रह्मराक्षस ने मुझसे बार-बार कही है' ।।२४०-२४१।।

इस प्रकार, जब वे परस्पर विचार कर ही रहे थे, इतने ही में आकाश से दिव्य-वाणी सुनाई पड़ी—।।२४२।।

'मेरे नेत्रानल से दग्ध कामदेव के अवतार नरवाहनदत्त के लिए मैंने ही, कामदेव की भार्या रति के तप से सन्तुष्ट होकर इस मदनमंचुका की सृष्टि की है। यह नरवाहनदत्त की प्रधान महिषी होकर, मेरी कृपा से शत्रुओं को जीतकर दिव्य कल्प-पर्यन्त विद्याधरों की सम्राज्ञी बनी रहेगी'—इतना कहकर दिव्यवाणी मौन हो गई ।।२४३—२४५।।

नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्चुकायाश्च विवाहः

श्रुत्वैतां भगवद्वाणीं वत्सेशः सपरिच्छदः ।
तं प्रणम्य सुतोद्वाहे सानन्दो निश्चयं व्यधात् ।।२४६।।

अथ स सचिवमुख्यं पूर्वविज्ञाततत्त्व
नरपतिरभिनन्द्याहूय मौहूर्त्तिकांश्च ।
शुभफलदमपृच्छल्लग्नमूचुस्तु ते तं
कतिपयदिनमध्ये भाविनं प्राप्तपूजाः ।।२४७।।

कालं मनागनुभविष्यति कञ्चिदत्र
पुत्रो वियोगमनया सह भार्यया ते ।
जानीमहे वयमिदं निजशास्त्रदृष्ट्या
वत्सेश्वरेति जगदुर्गणकाः पुनस्ते ।।२४८।।

ततः स सूनोर्निजवैभवोचितं विवाहसम्भारविधिं व्यधान्नृपः ।
तथा यथास्य स्वपुरी न केवलं पृथिव्यपि क्षोभमगात्तदुद्यमात् ।।२४९।।

प्राप्ते विवाहदिवसेऽथ कलिङ्गसेना
पित्रा निसृष्टनिजदिव्यविभूषणायाः ।
तस्याः प्रसाधनविधिं दुहितुश्चकार
सोमप्रभा पतिनिदेशवशागता च ।।२५०।

कृतदिव्यकौतुका सा सुतरामथ मदनमञ्चुका विबभौ ।
नन्वेवमेव कान्ता चन्द्रतनुः कार्त्तिकानुगता ।।२५१।।

दिव्याङ्गनाश्च तस्या हराज्ञया श्रूयमाणगीतरवाः ।
तद्रूपजिताच्छन्ना ह्रीता इव मङ्गलं विदधुः ।।२५२।।

भक्तानुकम्पिनि जयाद्रिसुते त्वयाद्य
रत्यास्तपः स्वयमुपेत्य कृतं कृतार्थम् ।
इत्यादि दिव्यवरचारणवाद्यमिश्र—
वाक्यानुमेयमपि सन्दधतेऽत्र गौर्याः ।।२५३।।

अथ नरवाहनदत्तः प्रविवेश मदनमञ्चुकाध्युषितम् ।
कृतवरकौतुकशोभी विविधमहातोद्यभृद्विवाहगृहम् ।।२५४।।

निर्वर्त्यं तत्र बहलोद्यतविप्रमत्तवीवाहमङ्गलविधिं च वधूवरौ तौ ।
वेदीं समारुरुहतुर्ज्वलिताग्निमुच्चै राज्ञां शिरोभुवमिवामलरत्नदीपाम् ।।२५५।।

नरवाहनदत्त और मदनमंचुका का विवाह

वत्सराज ने अपने साथियों-सहित इस प्रकार भगवद्वाणी को सुनकर उसे प्रणाम किया और आनन्द के साथ पुत्र के विवाह का निर्णय किया ।।२४६।।

तदनन्तर, वत्सराज ने सारी वास्तविक स्थिति को समझनेवाले मुख्यमन्त्री यौगन्धरायण का अभिनन्दन करके और ज्योतिषियों को बुलाकर शुभफल देनेवाला विवाह-लग्न पूछा और समुचित दक्षिणा आदि से पुरस्कृत ज्योतिषियों ने कुछ ही दिनों में विवाह-लग्न निश्चित कर दिया ।।२४७।।

ज्योतिषियों ने कहा—'महाराज, आपका यह पुत्र कुछ दिनों तक इस पत्नी के वियोग का कष्ट झेलेगा, यह हमलोग शास्त्र की दृष्टि से जानते हैं ।।२४८।।

तदनन्तर, राजा ने अपने वैभव के अनुसार पुत्र के विवाह की तैयारी आरम्भ की। उसकी तैयारी के उद्योग से केवल कौशाम्बी नगरी में ही नहीं, प्रत्युत सारी पृथ्वी में हलचल मच गई ।।२४९।।

विवाह का दिन आने पर कन्या के पिता मदनवेग द्वारा दिये गये वस्त्र और अलंकारों से माता कलिंगसेना ने और पति की आज्ञा से आई हुई कलिंगसेना की सखी सोमप्रभा ने कन्या मदनमंचुका को विवाहोचित वेष में सुसज्जित कर दिया ।।२५०।।

दिव्य सामग्री से अलंकृत मदनमंचुका इतनी सुन्दर लग रही थी, जैसे कार्त्तिक मास (शरद्ऋतु) में चन्द्रमा शोभित होता है।।२५१।।

शिवजी की आज्ञा से गाती हुई दिव्यस्त्रियाँ, मदनमंचुका के रूप से पराजित होकर, अतएव लाज से छिपकर मानों, मंगल-गान कर रही थीं।।२५२।।

'भक्तों पर दया करनेवाली हे पार्वती ! तुम्हारी जय हो। तुमने आज स्वयं उपस्थित होकर रति के तप को सफल किया'—इत्यादि वाक्यों से देवी की स्तुति करने लगीं और गन्धर्वगण वाद्य-ध्वनि करने लगा ।।२५३।।

वर के वेष में सुसज्जित, अतएव शोभित, नरवाहनदत्त वाद्यों की ध्वनि से मुखरित और मदनमंचुका से अलंकृत विवाह-मण्डप में प्रविष्ट हुआ ।।२५४।।

बड़े-बड़े विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा विवाह-विधि सम्पन्न करने के बाद वर और वधू राजा के किरीट-स्थित निर्मल रत्नदीपों के समान देदीप्यमान अग्नि की प्रदक्षिणा के लिए वेदी के निकट गये ।।२५५।।

यदि युगपदिहेन्दुमूर्त्तिभानू कनकगिरिं भ्रमतोऽभितः कदाचित् ।
भवति तदुपमा तयोस्तदानीं जगति वधूवरयोः प्रदक्षिणेऽग्नेः ।।२५६।।

यथा विवाहोत्सवतूर्यनादा-
नपोथयन्दुन्दुभयोऽन्तरिक्षे ।
तथा वधूत्सारितहोमलाजाः
सुरोज्झिताः कौसुमवृष्टयोऽत्र ।।२५७।।

ततः कनकराशिभिर्मणिमयैश्च जामातरं
समर्चयदुदारधीः किल कलिङ्गसेना तथा ।
यथात्र बुबुधे जनैरपि सुदुर्गतोऽस्याः पुरः
स काममलकापतिः कृपणभूभृतोऽन्ये तु के ।।२५८।।

निष्पन्नतादृशचिराभिमतानुरूप—
पाणिग्रहोत्सवविधी च वधूवरौ तौ ।
अभ्यन्तरं विविशतुः प्रमदोपरुद्धं
लोकस्य मानसमिवामलचित्रभक्ति ।।२५९।।

सद्वाहिनीपरिगतैरपि विश्ववन्द्य-
शौर्याश्रितैरपि जितावनतैर्नरेन्द्रैः ।
सा वारिराशिभिरिवाशु पुरी पुपूरे
वत्सेश्वरस्य सदुपायनरत्नहस्तैः ।।२६०।।

अनुजीविजनाय सोऽपि राजा व्यकिरद्धेम तथा महोत्सवेऽस्मिन् ।
यदि परमभवन्न जातरूपा जननीगर्भगता यथास्य राष्ट्रे ।।२६१।।

वरचारणनर्त्तकीसमूहैर्विविधदिगन्तसमागतैस्तदात्र
परितः स्तवनृत्तगीतवाद्यैर्बुबुधे तन्मय एव जीवलोकः ।।२६२।।

वातोद्धूतपताकाबाहुलता चोत्सवेऽत्र कौशाम्बी ।
सापि ननर्त्तेव पुरी पौरस्त्रीरचितमण्डनाभरणा ।।२६३।।

अग्नि-प्रदक्षिणा के समय वर और वधू की शोभा कुछ इस प्रकार थी कि यदि सूर्य और चन्द्रमा दोनों एक साथ मिलकर सुमेरु पर्वत के चारों ओर भ्रमण करें, तो उस समय की शोभा की उपमा दी जा सकती है ॥२५६॥

आकाश में विवाहोत्सव में बजनेवाले वाद्यों के शब्द गूँजने लगे और नगरी में वधू द्वारा अग्नि में हवन किये गये धान के लावों का धुआँ और देवताओं द्वारा बरसाये गये पुष्प फैल गये ॥२५७॥

उदार चित्तवाली कलिंगसेना ने रत्नों, मणियों और सुवर्ण की राशि से जामाता नरवाहनदत्त को इस प्रकार सम्पन्न कर दिया, जिससे प्रजा ने उसके आगे कुबेर को भी तुच्छ समझा। अन्यान्य बेचारे राजाओं की तो गणना ही क्या? ॥२५८॥

इस प्रकार चिरकाल से अभिलषित इस योग्य पाणिग्रहण-संस्कार के भली भाँति सम्पन्न हो जाने पर वे वर-वधू दोनों निर्मल लोक-हृदय में चित्रित भक्ति के समान सुन्दरी रमणियों से भरे हुए कौतुकागार में गये ॥२५९॥

इस अवसर पर कौशाम्बी नगरी, विशाल वाहिनियों (सेना और नदियों) के पति, विश्ववन्द्य वीरताशाली, पहले पराजित होने के कारण नम्र हुए और विविध प्रकार की बहुमूल्य सामग्री को उपहार-स्वरूप हाथों में लिये हुए राजाओं से इस प्रकार भर गई थी, मानों चारों ओर रत्नाकर (समुद्र) ही लहरा रहा हो ॥२६०॥

पुत्र-विवाह के इस अवसर पर वत्सराज उदयन ने प्रसन्नता के कारण इतना सोना और धन वितरित किया कि केवल माताओं के गर्भ में स्थित कन्याएँ ही अलंकार-हीन रह गईं ॥२६१॥

इस अवसर पर भिन्न-भिन्न और दूर-दूर देशों से आई हुई वेश्याओं और नर्त्तकियों, बन्दियों और भाटों के गीतों और स्तुतियों से उस नगरी का समस्त वातावरण मानों संगीत और उत्सवमय हो रहा था। नागरिक स्त्रियों द्वारा सजाई-सँवारी गई, अतएव अलंकार-युक्त एवं वायु से आन्दोलित पताकाओं-रूपी हाथोंवाली कौशाम्बी नगरी, नृत्य करती हुई रमणी के समान लग रही थी ॥२६२-२६३॥

एवं च स प्रतिदिनं परिवर्धमानो
निर्वर्त्यते स्म सुचिरेण महोत्सवोऽत्र ।
सर्वः सदैव च सुहृत्स्वजनो जनश्च
हृष्टस्ततः किमपि पूर्णमनोरथोऽभूत् ॥२६४॥

स च नरवाहनदत्तो युवराजो मदनमञ्चुकासहितः ।
भजते स्म सुचिरकाङ्क्षितमुदयैषी जीवलोकसुखम् ॥२६५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बकेऽष्टमस्तरङ्गः ।
समाप्तश्चायं मदनमञ्चुकालम्बकः षष्ठः ।

इस नगरी के महोत्सव दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगे और अनेक दिनों तक उत्सव निरन्तर चलते रहने पर समाप्त हुए। सभी कुटुम्बी और मित्र परस्पर प्रेम और आनन्दपूर्वक रहने लगे, उनके मनोरथ सफल और पूर्ण हुए ॥२६४॥

विवाह के पश्चात् युवराज नरवाहनदत्त, अभ्युदय की आशा रखता हुआ, चिर अभिलषित सांसारिक भोगों को मदनमंचुका के साथ आनन्दपूर्वक भोगने लगा ॥२६५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के छठे लम्बक का आठवाँ तरंग समाप्त

मदनमंचुका नामक छठा लम्बक भी समाप्त